॥ श्री ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमा

१२४

बौद्ध-न्याय

मूल लेखक

एफ० टी० शेरबात्स्की

हिन्दी अनुवादक

डा० रामकुमार राय

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

124

BUDDHIST-LOGIC

By

F Th STCHERBATSKY

Hindi Translation by

Dr RAMKUMAR RAI

Vol I

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1969

पूज्य माता

की

पुण्य स्मृति में

विषय-सूची

संक्षेप-सूची

अजय०	Anekanta-jaya-pataka of Haribhadra (Jain)
अज्ञु०	Erkenntnisstheorie der Buddhisten, (Munchen, 1924)
अभिको०	Abhidharmakosa
अभिया०	Abhidharmakosabhasya
अलॉ०	Erkenntnisstheorie u Logik (Munchen, 1924)
इहि०	Indian Historical Quarterly (Calcutta)
उका०	Ueber die Phasen der kantischen Lehre vom Dinge an sich (Viertelyabrasschrift f. Philosophie, 1877)
ऊमे०	Uber die dialectische Methode
एइ०	Encyclopedia of Religion and Ethics
काफि०	Kant u die alt Indische Philosophie in "Zur Erinnerung an Emanuel Kant" (Halle, 1904)
क्रिरी०	Critique of Pure Reason by Kant, transl by Max Muller
खण्ड०	Khandana-khanda khadya by Sriharsa
गोना०	Gottinger Gelehrte Nachrichten
जएसो०	Journal of the Royal Asiatic Society
जबओसो०	Journal of the Bihar and Orissa Research Society
टिप्प०	Nyayabindutika-tippani by unknown author edited by me in the BB and erroneously ascribed to Mallavadi q c
डवी०	Der eleatische Satz vom Widerspruch (Kopenhagen, 1924)
तसं०	Tattva-samgraha
तसंप०	Tattvasamgraha-panjika
ताटी०	cp NVTT
त्सुफिल०	Zur Fruhgeschichte der ind Phil (Preuss Ak 1911)
नप्ले०	Natrop Platon's Ideinlehre
नाटी०	Nyaya-vartika-tatparya-tika (Vizian)
न्याकण्ड०	Nyaya-kandali by Sridhara (Vizian)
न्याकणि०	Nyaya-kanika (Reprint fom the Pandita)

न्याबि०	Nyayabındu by Dharmakırtı
न्याबिटीटि०	Nyayabındutıka-tıppanı ed by me ın the BB and erroneously ascrıbed to Mallavadı, g c.
न्याभा०	Nyayabhasya
न्यामु०	Nyaya-mukha by Dıgnaga, transl by Tuccı
न्यावा०	Nyaya-vartıka (BI)
न्यासिटी०	Nyayabındutıka by Dharmottara
न्यासू०	Nyava-sutra
परिशुद्धि०	Nyaya-vartıka-tatparya-tıka-parısuddhı (DI)
पल०	Palagyı Neve Theorıe d Ravm u Zeıt
प्रवा०	Pramana-vartıka by Dharmakırtı
प्रविनि०	Pramana-vınıscaya by the same author
प्रसमु०	Pramana-samuccaya by Dıgnaga
बिइ०	Bıblıotheca Indıca
बिबु०	Bıblıotheca Buddhıca
बु०	Bulletın de l' Acad Scıences de L' URSS
बुनि०	The Conceptıon of Buddhıst Nırvana (Lenıngrad, 1927)
मल्लवादि०	Nyaya-bındu-tıka-tıppanı by thıs author, dıfferent from the Tıppanı printed by me ın the BB
मावृ०	Mula- Madhyamıka-karıka-vrttı by Chandrakırtı
रोओ०	Rocznık Orıentalystyczny
लेब्रु०	Levy-Bruhl Les fonctıons mentales dans les socıetes ınferıeures (Parıs, 1910)
वैसू०	Vaısesıka-sutra
शादी०	Sastra-dıpıka by Parthasarathımısra
सदस०	Sarvadarsanasamgraha (Poona, 1924)
सेक०	The Central Conceptıon of Buddhısm and the Meanıng of the term Dharma (London 1923, R A S)
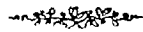
प्रसिद्ध रूसी विद्वान

अकादमिक थियोडर शेरबात्स्की (१८६६–१९४२)

जीवन और कृतित्व

थियोडर शेरबात्स्की प्राच्यविदों की पुरानी पीढ़ी के विद्वानों की श्रेणी में आते हैं। गंभीर विद्वान, भारत एवं सुदूर पूर्व की बौद्ध-संस्कृति के पूर्ण ज्ञाता और भारतीय दर्शन एवं तिब्बत के साहित्य के क्षेत्र के आज सर्वमान्य अधिकारी विद्वान के रूप में वे माने जाते हैं। शेरबात्स्की सोवियत संघ के विज्ञान-अकादमी के सदस्य और लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर थे। उनकी मृत्यु (१८ मार्च १९४२) लेनिनग्राद से दूर, उत्तरी कजाखस्तान के बोरावाद के उस अस्पताल में हुई जहाँ महान् स्वतंत्रता संग्राम के पूर्व वे अन्य विद्वानों के साथ भेज दिये गये थे। मृत्यु के समय उनकी आयु ७६ वर्ष की थी।

शेरबात्स्की की मृत्यु के अब लगभग पचीस वर्ष गुजर चुके हैं पर उनके नाम एवं कृतित्व की ओर सोवियत और दूसरे देश के अधिकारी विद्वान् बार बार मुड़ने देखे जाते हैं और ऐसा लगता है जैसे भारतीय दर्शन एवं बौद्ध संस्कृति के अध्ययन की एक ज्वलन्त परम्परा ही उनके नाम के साथ सम्बद्ध है। हमारे मित्र भारत के सरकारी नेता और वहाँ के उच्चकोटि के विद्वान उनका नाम अत्यन्त आदर के साथ लेते हैं। उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों का अनुवाद पूर्व और पश्चिम दोनों ही देशों में किया जा रहा है। शेरबात्स्की की रचनायें विश्व प्रसिद्ध हैं जो उनकी उज्ज्वल कीर्ति के स्तम्भ के रूप में आज भी मान्य हैं।

थियोडर शेरबात्स्की का जन्म पोलैण्ड के किलेल्स नामक स्थान पर १९ सितम्बर १८६६ को हुआ जहाँ उनके माता पिता नौकरी करते थे। अत्यन्त सभ्य एवं धनी परिवार से आने के कारण शेरबात्स्की की शिक्षा-दीक्षा, समय को देखते हुए, अत्यन्त उच्चस्तर की हुई। बचपन में ही उन्होंने पश्चिमी तीनों भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन, में पूर्ण दक्षता पा ली थी।

१८८४ में लेनिनग्राद के निकट पुश्किन नामक जार के गाँव से उन्होंने माध्यमिक शिक्षा प्राप्त की और उसके बाद पेत्रबुर्ग विश्वविद्यालय के इतिहास भाषा विभाग में उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिए उन्होंने अपना नाम लिखाया। शेरबात्स्की की अपनी शिक्षाभिरुचि शीघ्र ही भाषा शास्त्र के क्षेत्र में बँध गई। भाषाशास्त्र और संस्कृत भाषा पर प्रो० मिनायेव. के हो रहे भाषणों को ध्यानपूर्वक सुना और बाद में ओल्डेनबर्ग के साथ रहकर उन्होंने संस्कृत भाषा की शिक्षा ली। जर्मन भाषा के पण्डित ब्राउन से गॉथिक (Gothic),

ऍंग्लो सैक्सन और प्राचीन उत्तर जर्मनी की भाषाओं को उन्होंने सीखा, साथ ही प्रो० यागीच के पास बैठकर उन्होंने उसी समय में चर्च-स्लाविक और सर्बो-क्रोएशिअन (Serbo-croatian) भाषाओं में दक्षता प्राप्त की।

शेरबात्स्की को विशेष रूप से सस्कृत भाषा में रुचि उत्पन्न हुई। सस्कृत भाषा के समृद्ध रूप और रग ने उन्हें अपनी ओर खींचा। सस्कृत भाषा में उनकी रुचि के निर्माण करने में उनके शिक्षक प्रो० मिनायेव का बहुत बडा हाथ माना जा सकता है जिनका सबसे अधिक प्रभाव उन पर पडा।

प्रो० मिनायेव, रूस में भारतीय विद्या को वैज्ञानिक स्तर पर प्रतिस्थापित करने वालों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। भारतीय सस्कृति के वैज्ञानिक इतिहास के रूप में अपनी रुचि जागृत कर उन्होंने भारतीय विद्या एव भाषा को रूस में 'भविष्य' प्रदान किया। यदि शेरबात्स्की ने विभाग में प्रो० मिनायेव के दिए गये तुलनात्मक भाषाविज्ञान के भाषणों को अपने छात्र-जीवन के प्रथम कुछ वर्षों में न सुना होता, तब भी उनकी अभिरुचि भारतीय भाषा शास्त्र और भारतीय दर्शन में बनी ही रहती—निश्चित रूप से यह कहना कठिन है। शिक्षक के रूप में मिनायेव और छात्र के रूप में शेरबात्स्की, दोनों जीवन-पर्यन्त एक दूसरे के प्रति आन्तरिक झुकाव का अनुभव करते रहे। कान्दिदात की उपाधि (भारत—पी० एच-डी०) के लिए परीक्षा देकर, १८८९ में शेरबात्स्की ने विश्वविद्यालय की अपनी शिक्षा समाप्त की। उनकी उज्ज्वल सफलता ने विभाग का ध्यान आकर्षित किया और वे भारतीय विद्या में प्रोफेसर पद के लिए उचित शिक्षित दीक्षित होने के कारण रख लिए गये। इसी लक्ष्य से सम्बद्ध होकर, आगे की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए शेरबात्स्की को विदेश भेजने का प्रश्न भी उठा।

उस समय प्राच्य-विद्या में दीक्षित करने वाले योरप में तीन प्रमुख प्राच्यविद् थे जो अपने ज्ञान का प्रसार कर रहे थे और भारत में प्रारम किए गये विलियम जोन्स (William Jones) के कार्य को आगे बढा रहे थे, फ्रांस में ब्यूरनूफ (E Burnouf), इग्लैण्ड में कोलब्रूक्स (H Colebrooke) और जर्मनी में बेनफेइ (Th Benfey)। इन लोगों ने भी अपनी दीर्घ शिष्यपरम्परा की नींव डाली जो इनके कार्यों को आगे बढाने में सफल सिद्ध हुई। फ्रांस में—बार्थ (A Barth), सेनार (E Senart), फाउशे (A Foucher) और फिनों (L Finot) और विशेषकर सिल्विया लेवी (Sylvain Le'vi), इग्लैण्ड में राइस डैविड्स (T Rhys Davids), बेन्डाल (C Bendall) और बर्गस (J Burgess), थामस (F Thomas) आदि, जर्मनी में बूहलर (Goerge Buhler), याकोबी (Hermann Jacobi), लेवमान (E Leumann) और ल्यूडर्स (H. Luders), रूस में—बॉटलिंक (Otto Böhtlingk) और मिनायेव (J P Minayev)। इनमें से एक—प्रो० जार्ज ब्यूहलर, प्रो० बेनफेइ के अन्य सभी छात्रों में सर्वाधिक मेधावी शिष्य सिद्ध हुए। भारतवर्ष में उन्होंने १७ वर्ष बिताया था और शेरबात्स्की की विदेश-यात्रा के समय वे वियना में सस्कृत भाषा और साहित्य पर

अपना भाषण दे रहे थे। बूहलर ने सस्कृत भाषा के शिक्षण को एक नये स्तर पर प्रस्थापित किया। उन्होंने सस्कृत को सामान्य भाषा शास्त्र के अग के रूप में मान्यता न दी जैसा कि उनके पूर्ववर्ती विद्वानों ने स्वीकार किया था। उनसे अलग हट कर उन्होंने सस्कृत को शिक्षग का एक स्वतत्र विषय ही वनाया। इसी पद्धति से विशिष्ट शास्त्रों का अध्ययन होता आया था, अर्थात् पहले की पद्धति भी यही थी कि किसी भी क्षेत्र विशेष का अध्ययन, उस क्षेत्र विशेष को स्वतत्र मानकर उसका वैज्ञानिक रीति से परीक्षण था। इन सभी के मूल में भारतीय वैज्ञानिक कृतियों के मुख्य उपकरण (Instrument) और उसकी भाषा अर्थात् सस्कृत, का ज्ञान निहित रहता है, जिसके ऊपर भारतीय शिक्षण-पद्धति अपना विशेष वल देता रहा है। भारतीय विद्वान यह मानते रहे हैं कि सस्कृत के गहरे, विशेष ज्ञान के विना भारतीय भाषाशास्त्र का अध्ययन प्राय असभव है।

वियना पहुँचकर शेरवात्स्की ने प्रो० ब्यूहलर के पास वैठकर भारतीय अलकारशास्त्र का अध्ययन किया। अलकार-शास्त्र के इस अध्ययन को शेरवात्स्की ने अपने आगे के भारतीय दर्शन के अनुसन्धान के लिये मूलाधार वनाया। उनका यह ज्ञान उनकी दो कृतियों के रूप में सामने आया ऐतिहासिक काव्य 'हैहयेन्द्र चरित' की व्याख्या से जर्मन अनुवाद के साथ सम्पादन और 'भारत के अलकारशास्त्र का सिद्धान्त' (१९०२) जो इस क्षेत्र के उन निबन्धों में पहला मौलिक निवन्ध माना जा सकता है जो रेनो (P Regnaurd), टैगोर (S Tagore) और कुछ मास पश्चात् उनके गुरु हर्मन याकोवी के 'ध्वन्यालोक' के जर्मन अनुवाद के साथ लिखे गये थे। ये दोनों कृतियाँ ब्यूहलर की मृत्यु के पहले ही लिखी जा चुकी थीं। भारतीय अलकारशास्त्र के अतिरिक्त शेरवात्स्की ने प्राचीन भारत के प्रसिद्ध भाषा शास्त्री पाणिनि के व्याकरण का गहन अध्ययन किया था। साथ में धर्मशास्त्र और भारतीय शिलालेखों को भी गहराई के साथ समझा। शिलालेखों के ज्ञान का ही परिणाम था कि शेरवात्स्की सम्राट् शिलादत्त के शिलालेख के ऊपर निवन्ध लिखने में समर्थ सिद्ध हुए।

प्रो० ब्यूहलर के पास शास्त्रों का अध्ययन करते समय शेरवात्स्की ने भाषा शास्त्र में दिलचस्पी लेनी छोड नहीं दी। इस समय तक भाषा शास्त्र और सस्कृत दोनों ही विषय स्वतन्त्र क्षेत्र के रूप में काफी विकसित हो चुके थे और दोनों ही अध्ययन के स्वतन्त्र विषय वन चुके थे। फलस्वरूप एक साथ दोनों में सफलता एव गहराई के साथ कार्य करना सभव न था। अत इन दोनों में से किसी एक के चुनाव का प्रश्न भी उनके सामने आया। मिनचेफ और ब्यूहलर का गहरा प्रभाव, इस चुनाव में निर्णायक सिद्ध हुआ और शेरवात्स्की ने अन्त में सस्कृत के विशेष क्षत्र को ही चुना। अगर अकादमिक ओल्डेनबुर्ग के शब्दों में कहें तो उनका अन्त तक अप्रतिहत भाव से यह लक्ष्य वना रहा—'पूर्ण एव मूल रूप में भाषा के उस रूप का अध्ययन करना, जिसके माध्यम से जटिल एव विशिष्ट ससार का ज्ञान प्राप्त होने की सभावना बँधती थी और जिसके समझने की कुजी मात्र सस्कृत भाषा थी।'

भारतीय अलंकारशास्त्र के क्षेत्र को चुनकर शेरबात्स्की संस्कृत में लिखे काव्य-शास्त्रों के गहराई के साथ अध्ययन की ओर उन्मुख हुए। लेकिन काव्यशास्त्र के गहरे अध्ययन के बावजूद शेरबात्स्की भारतीय 'आत्मा' और भारतीय 'चिन्तन' के उस रूप को न पा सके जिसकी उन्हें खोज थी और जिसको पाने के लिए ब्यूलहर हमेशा अपने शिष्यों को प्रेरित करते रहते थे। उनकी बुद्धि सदा व्यापक और गहरे साधारणीकरण की ओर उन्मुख होती रही। बाद में उनकी यह मान्यता बन गई कि मात्र भारतीय दर्शन, विशेषकर भारतीय तर्क एवं न्यायशास्त्र की गहरी दृष्टि ही उन्हें भारतीय चिन्तन के विशिष्ट पक्ष का सही परिचय दे सकती है। सन्देह नहीं कि केवल शेरबात्स्की के द्वारा प्रतिपादित दर्शन में ही भारतीय संस्कृति के वे गहन विचार देखने में मिलते हैं जिन्हें ज्ञान के क्षेत्र में 'चिन्तन की सर्वाधिक उच्च उपलब्धि' का केन्द्र माना जा सकता है।

कुछ वर्ष पश्चात्, सन् १८९९ में शेरबात्स्की बान (Bonn) चले गये जो उस समय प्राच्य विद्या के क्षेत्र में 'रेयन का बनारस' माना जाता था। बाद में वे प्रो० हर्मन याकोबी से शिक्षा पाने के लिए गये जिनके पास रहकर उन्होंने शास्त्रों के दर्शन को बारीकी के साथ समझने की कोशिश की। प्रोफेसर के रूप में याकोबी में शेरबात्स्की ने उस पाण्डित्य एवं ज्ञान सम्पन्न व्यक्तित्व का परिचय पाया जैसा वह स्वयं बनना चाहते थे। भारतीय काव्य शास्त्र के अध्ययन की याकोबी और ब्यूहलर की दृष्टि एवं मान्यता आपस में काफी भिन्न थी। ब्यूहलर के लिए भारतीय विज्ञान ऐतिहासिक एवं साहित्यिक अनुसन्धान का मात्र साधन था और याकोबी के लिए ज्ञान का वह क्षेत्र स्वयं अपने अनुसन्धान एवं मनन का विषय था। याकोबी के लिए संस्कृत शास्त्र के वस्तुपक्ष का समृद्ध अंश स्वयं अपने अध्ययन का एक विषय था। अतः उनके लिए विषय वस्तु में गहरी पैठ मूलतः ज्ञान क्षेत्र की अपनी उपलब्धि थी। प्रो० याकोबी के साथ अपने अध्ययन काल में शेरबात्स्की ने भारतीय दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में अपनी मूल स्थापनाओं को रखा। इसके बाद वे अन्त तक 'दर्शन' पर ही काम करते रहे जिसे उन्होंने भारतीय संस्कृत की 'आत्मा' को ढूँढने के समर्थ माध्यम के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार शेरबात्स्की की शिक्षा की भूमिका अपने क्षेत्र के सौभाग्यशाली उज्ज्वल 'नक्षत्र समूहों' के बीच से गुजर कर बनी।

सन् १९०० से पिटर्सबुर्ग के प्राच्य भाषाओं को Faculty के संस्कृत साहित्य विभाग में शेरबात्स्की ने कक्षायें लेनी शुरू कीं। चालीस वर्ष तक वे इस विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर आसीन रहे जहाँ उन्होंने संस्कृत, पाली और तिब्बत की भाषाओं को पढाया। विश्वविद्यालय के इस विषय को उन्होंने प्राच्य जीवित भाषाओं के लेनिनग्राद 'इन्स्टिट्यूट' में भी पढाया।

एक शिक्षक के रूप में शेरबात्स्की, शिक्षा के नाम पर अपना सर्वस्व देने में समर्थ सिद्ध रहे। उनकी शिक्षा की मुख्य पद्धति इसमें थी कि अपनी कक्षा में पहले ही दिन से वे इस बात पर ध्यान केन्द्रित कर देते कि किस प्रकार छात्र स्वयं स्वतन्त्र रूप में 'पाठ' को पढ़ और समझ सकें। गंभीर भाव से किये गये शिक्षा के इस रूप का अन्त में ठोस

परिणाम निकलता था। अपने शिक्षक–ब्यूह्लर और याकोवी, की पद्धति के प्रति श्रद्धावनत होकर शेरवात्स्की अपने छात्रों से केवल विषय वस्तु के ज्ञान की ही माँग नहीं करते थे वरन् वे भारतीय चिन्तन की 'विशिष्टता' और चिन्तन की विशिष्ट भारतीय तर्क विधि के ज्ञान की भी अपेक्षा रखते थे। भारतीय परम्परा में मान्य किसी वस्तु विशेष के ज्ञान के तीनों स्तर एव पक्ष—'चर्वण, धारणा और चिन्तन' पर वे बल देते थे और इन तीनों को विशेष रूप से 'भावन' प्रक्रिया के लिए उपयोग में लाने का प्रयास करते थे। शेरवात्स्की को मधुर हास्य रस की सही पहचान थी अत उनकी कक्षायें शुरू से आखिर तक 'जीवित' वातावरण में चलती था। यहीं पर यह भी सकेत दे देना आवश्यक है कि शेरवात्स्की अपने मे पुरानी पीढी के मानकों की महानता—विशेषकर अपने गुरुजनों की देन—को हमेशा स्वीकार करते रहे और उनके और उनकी कृतियों के प्रति अन्त तक श्रद्धावनत बने रहे।

शेरवात्स्की के शिष्यों ने उनके कार्य को आगे बढाया। उनमें से एक समूह ने बौद्ध सस्कृति और भारतीय दर्शन को मुख्य रूप से अपना क्षेत्र चुना। दूसरे समूह ने प्राच्य-भाषाशास्त्र के विविध पक्षों पर काम किया और कुछ अब भी काम करते जा रहे हैं। पहले समूह के व्यक्तियों में रोजेनवर्ग (Otto Rosenberg), ओवरमिलर (Eugene Obermiller), तुब्यान्स्की (M I Tubyansky) और वास्त्रिकोव (A I. Vostrikov) का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने अत्यन्त गम्भीरता के साथ बौद्ध दर्शन और तिब्बत के साहित्य के इतिहास और उसकी प्रमुख महान कृतियों का अध्ययन सम्पन्न किया। यहाँ पर अकादमिक वलादिमिरत्सोव का नाम भी ले लेना चाहिए जिन्होंने मगोलियन भाषाशास्त्र और मगोल जाति के इतिहास तथा सस्कृति पर क्लासिकल कार्य किया। ये सभी विद्वान अब 'अमरता' को प्राप्त हो चुके हैं।

दूसरा प्रवृत्ति के विद्वानों में कालातीत सदा स्मरणीय अका० लारिन हैं, (Member of Litvonian SSR Academy of Sciences & Professor to the University of Leningrad) जिन्होंने तुलनात्मक ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान और इण्डोयूरोपियन सस्कृति को अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाया था, सोवियत सघ के विज्ञान-अकादमी के सदस्य येर्नश्टेड (Corresponding member of the USSR Academy of Sciences, P V Yernshtedt) जिन्होंने क्लासिकल भाषाओं को अपने अध्ययन का विषय चुना था, शिर्यायेव (M A Shiryayev) जो नव्य भारतीय भाषाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किए हुए है, द्रागुनोव (A A Dragunov) जो चीनी और तिब्बती भाषा और सुदूरपूर्व के भाषा-शास्त्र के अध्ययन की ओर प्रवृत्त थे, और पान्क्रोतोव (B I Pankrotov) जो सुदूर पूर्व भाषा-शास्त्र एव सस्कृति के विशिष्ट अधिकारी विद्वान के रूप में मान्य हैं। शेरवात्स्की के पुरानी पीढी के पहले योग्य शिष्य सोवियत सघ के विज्ञान अकादमी के सदस्य फ्रेयमान (Corresponding member of the USSR Academy of Sciences A A. Freimann) हैं।

इण्डोईरानियन भाषाशास्त्र के क्षेत्र में आपकी कृतियों की महानता सिद्ध है। शेरबात्स्की की नयी पीढी में प्रस्तुत पक्तियों का लेखक भी है जो उनका शिष्य रहा है।

शेरबात्स्की की दिलचस्पी बाद में चलकर पूरी तरह से बौद्ध धर्म, विशेषकर बौद्ध दर्शन एव उसके न्याय, की ओर मुडी जिसे वे सस्कृत एव तिब्बती भाषा में लिखित साहित्यिक रचनाओं के स्रोत से ग्रहण करते रहे। आगे चलकर तो उनकी दृष्टि व्यापक रूप से बौद्ध सस्कृति पर केन्द्रित हो गई। इसी के चलते शेरबात्स्की को तिब्बती साहित्य के परीक्षण की आवश्यकता पडी। इस लक्ष्य को लेकर उन्होने १९०५ में मगोल की यात्रा की जहाँ लामा लोगों के निर्देशन में उन्होंने तिब्बती भाषा एव उसमें निहित ज्ञान को गहराई के साथ समझा और जहाँ मठों में सग्रहीत बौद्ध साहित्य का अपने बौद्ध दर्शन के अनुसन्धान के लिए पूरी तरह उपयोग किया।

उर्ग में शेरबात्स्की को अनेक बार दलाई लामा से मिलने का अवसर मिला। बौद्ध दर्शन पर विशेषकर उनकी आपस में बातचीत हुई। दलाई लामा के अनुरोध पर शेरबात्सकी ने उनके लिए तिब्बत भाषा में लिखी कई कविताओं का अनुवाद सस्कृत में किया। दलाई लामा ने इन अनुवादों को प्रशसात्मक दृष्टि से देखा। दलाई लामा के ही अनुरोध पर शेरबात्स्की को अग्रेजी चीनी भाषा के सभी प्रमुख पत्रों में तिब्बत सम्बन्धी सामग्री का अनुवाद करना पडा। दूसरी ओर दलाई लामा के पास एकत्रित प्राय सभी तिब्बती पत्रों (कागजों) को रूसी भाषा में भी अनुवाद करना पडा। फलस्वरूप शेरबात्स्की को समसामयिक बोलचाल की तिब्बती भाषा का पूर्णरूपेण जानकारी प्राप्त हुई, जिसमें उस समय हमारे यहाँ किसी की पूरी तरह गति न थी।

बौद्ध दर्शन में अपना अनुसन्धान शेरबात्स्की ने उस समय प्रारभ किया जब कि विद्वान, बौद्ध दर्शन का अध्ययन सस्कृत भाषा में लिखित उसके साहित्य के आधार पर सम्पन्न करने के अभ्यस्त थे। विशेषकर प्रसिद्ध बौद्ध-दर्शन के ज्ञाता और भारतीय न्यायशास्त्र के पण्डित धर्मकीर्ति की पुस्तक ही उस समय मान्य थी। यहाँ इस तथ्य की ओर सकेत दे देना आवश्यक है कि शेरबात्स्की के परम मित्र प्रसिद्ध भारतीय विद्वान महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने, जो उस समय सोवियत सघ में थे और लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य कर रहे थे, कुछ ही समय पहले तिब्बत में उन्हें मिले, धर्मकीर्ति की सस्कृत में लिखे लेखों के चार सग्रह प्रकाशित किया था। चीनी, तिब्बती और भारतीय भाषाओं में उपलब्ध सामग्री के स्रोत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति इस युग के ७वीं शताब्दी के व्यक्ति थे और अपने अन्य परवर्ती विद्वानों—नागार्जुन, आर्यदेव, आर्यसघ वसुबन्धु और दिङ्नाग के साथ, वे महायान युग के 'छ अलकृत' विद्वानों में माने जाते हैं।

धर्मकीर्ति की तर्कशास्त्र सम्बन्धी पुस्तक को पढने के बाद शेरबात्स्की इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनकी रचनाओं में वर्णित तर्क, ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों से सम्बद्ध है और जिसकी परिणति उच्चतम ज्ञान के स्तर पर वहाँ हुई है। यूरोप की दार्शनिक पद्धति से तुलना

करने के बाद उन्होंने पाया कि धर्मकीर्ति और कान्त के दर्शन में बहुत कुछ समानता है अत धर्मकीर्ति को उन्होंने 'भारतीय कान्त' के रूप में स्वीकार किया।

इस क्षेत्र में किए गये अपने अनुसन्धान कार्यों को उन्होंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूल दो खण्डों में रचित कृति 'परवर्ती बौद्धों के ज्ञान और तर्कशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त' में प्रतिस्थापित किया जिसका बाद में फ्रेंच और जर्मन भाषाओं में अनुवाद भी हुआ। १९०९ में प्रकाशित इसका दूसरा खण्ड उनके डाक्टरेट की उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध के रूप में था। शेरबात्स्की का सम्बन्ध पूरे जीवन भर धर्मकीर्ति से बना रहा। उन्होंने लिखा कि 'भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में धर्मकीर्ति के महत्त्व के पूर्ण आकलन का अर्थ ही है भारतीय दर्शन का इतिहास-लेखन।' न्यायबिन्दु के पाठ की आलोचनात्मक टिप्पणी के साथ सम्पादन के अतिरिक्त शेरबात्स्की द्वारा धर्मकीर्ति की रचनाओं की व्याख्या पाँच विशद खण्डों में की गई है।

शेरबात्स्की के वैज्ञानिक नेतृत्व ने विज्ञान अकादमी में भी अपना प्रसार पाया। 'मौलिक एव अनूदित बौद्ध पाठों के सकलन' नामक अन्तर्राष्ट्रीय वृहद् कार्य में जो 'Bibliotheca Buddhica' नाम से प्रकाशित हुआ और जिसका सम्पादन मुख्य रूप से अकादमिक ओल्डेनबुर्ग ने सन् १८९७ में सम्पन्न किया, शेरबात्स्की ने सक्रिय भाग लिया। यह सकलन बाद में चलकर विश्व प्रसिद्ध हुआ। प्राच्य विद्या में अपने ख्यातिप्राप्त कार्य के उपलक्ष्य में शेरबात्स्की को रूस के विज्ञान अकादमी का १९०४ से सदस्य बना लिया गया।

शेरबात्सकी की यह दृढ मान्यता रही कि यथार्थ भारत से बौद्ध धर्म का अब लोप हो चुका है पर उसका प्रभाव परवर्ती ब्राह्मण सभ्यता एव सस्कृति में स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है। समस्या के इस पक्ष से अभी परिचित होना शेष है। इस लक्ष्य को लेकर शेरबात्स्की ने भारत की यात्रा की और वहाँ १९१०-११ में अपना समय व्यतीत किया। अपने प्रवास का अधिकांश समय उन्होंने बम्बई में बिताया जहाँ उन्हें एक ज्ञानी ब्राह्मण पण्डित को ढूँढने में सफलता मिली और जिससे शास्त्रों के दर्शन का उन्होंने ज्ञान पाया। विशेषकर सस्कृत भाषा का भी उसके ही साथ अध्ययन किया। शेरबात्स्की ने लिखा—"वह दूर्भाङ्ग का रहने वाला था और बम्बई में भाग्यवश आ पहुँचा था। उसके मातृप्रदेश में अकाल पड़ने से लगभग वहाँ की जनता के आधे अश को ही अपना स्थान छोड़ना पड़ा था। अन्य स्थानीय भारतीयों के बीच उसकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि जात पाँत के प्रश्न की बिना चिन्ता किए हुए स्वच्छन्द भाव से मेरे साथ वह रहा। हम लोग पूरी तरह से भारतीय वातावरण में रहे जहाँ पर एक भी दूसरा विदेशी नहीं था, जहाँ पर बोलचाल की एकमात्र भाषा सस्कृत थी। हम सुबह से सन्ध्या तक दार्शनिक वाद विवाद में लगे रहते और मास में मात्र दो दिन ही ऐसा था जिसे अवकाश का दिन कहना चाहिये—एक नये चाँद और दूसरा पूर्णिमा का दिन।"

इस प्रकार भारतीय शास्त्रों के दर्शन के गहरे ज्ञान के साथ साथ शेरबात्स्की को भारत

आकर संस्कृत भाषा में स्वच्छन्द मन से बोलने का अभ्यास मिला, विशेषकर भारत के विद्वान पण्डितों से बातचीत और बहस ने उनके भाषा-ज्ञान को और भी प्रौढता प्रदान की। वे संस्कृत भाषा के उच्चारण को अपनी मातृ-भाषा रूसी के प्रभाव से मुक्त करने में सफल सिद्ध हुए। स्मरण आता है जब शेरबात्स्की ने भारत के पण्डितों से हुई कुछ वार्तो की चर्चा करते हुए अपने शिष्यों को यह बताया था—'जब मैं भारत में था और वहाँ ब्राह्मणों से संस्कृत भाषा में बातचीत शुरू की तो सभी आश्चर्यचकित होकर मुझसे यह पूछने लगे—'क्या आप के यहाँ भी संस्कृत भाषा में ही बातचीत की जाती है ?' शेरबात्स्की का यश भारत में भी फैल चुका था और जब वह कलकत्ता पधारे तब उनके सम्मान में राजा विनयकृष्ण देव बहादुर ने २३ नवम्बर १९१० को अपने दरबार में उनके स्वागत का भव्य आयोजन किया। उस अवसर पर शेरबात्स्की ने जो अपना भाषण दिया वह संस्कृत भाषा में लिखी कविता के रूप में था। पण्डितों ने 'तर्कभूषण' की उपाधि से उन्हें अलंकृत किया। सम्मान में आयोजित भव्य समारोह, राजा कृष्ण राय लिखित 'लैला मजनू' शीर्षक नाटक के साथ समाप्त हुआ।

कलकत्ता में शेरबात्स्की के साथ हुई भेंट के बारे में प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान एडवर्ड डेनिसन रास (Edward Denison Ross) ने अपनी आत्मकथा—'दिये के दोनों कोर' (Both Ends of the Candle) में लिखा है —We saw, of course, and entertained scores of travellers and scholars sojourning briefly in Calcutta Among these were Orange, Theodor Morrison, Archbold, Gertude Lowthian Bell, and Professor Stcherbatsky from St Petersburg To meet that last named I would invite Indian scholars deep in Sanskrit, as Haraprasad Shastri, leaving the Indian presently alone with the Russian, that they might be the more free to converse I would leave them speaking to each other in Sanskrit Only once, it was when the Indian was Satishchandra Vidyabhusan were they still conversing in Sanskrit when I returned" (Both Ends of the Candle The Autobiography of Sir Edward Denison Ross, 3rd ed 1943 pp 152 f.)

और यथार्थ में, यूरोपीय व्यक्तियों में शेरबात्स्की उन कुछ व्यक्तियों में एक थे जिन्होंने युगों से चली आ रही समृद्ध भारतीय संस्कृति को अपने में समाहित करने वाली संस्कृत भाषा में निहित विचार एवं उसकी आत्मा को इतनी गहराई से समझा और अनुभव किया था। वह इस क्षेत्र में सर्वमान्य अधिकारी व्यक्ति थे। भारतवर्ष के प्रवास काल में शेरबात्स्की ने बनारस, महाबालेश्वर एवं अन्य स्थानों की भी यात्रा की जहाँ पर भारतीय दर्शन सम्बन्धी अनेक हस्तलेखों की उन्होंने फोटो कापी ली। 'न्याय' सम्बन्धी अनेक बहुमूल्य निबन्धों का रूसी में अनुवाद कर उन्होंने रूस के ज्ञान-भण्डार को समृद्ध

भी बनाया। दार्जलिंग में दलाई लामा ऐसे उन्हें श्रोता मिले जिन्होंने तिब्वत की हस्तलिखित सामग्री एव बौद्ध विद्वानों की अनेक बहुमूल्य ज्ञान सामग्री की प्रामाणिक सूचनायें दीं। भारत से तिब्बत जाने के उनके प्रयत्न को सफलता इस लिए नहीं मिली की चीनी सरकार ने उन्हें जाने की अनुमति देने से इनकार कर दिया।

सस्कृत ज्ञान को ग्रहण करने के समस्त उपकरणों से युक्त और परम्परा सम्पन्न भारतीय शिक्षा में पूर्ण दीक्षित शेरवात्स्की भारत से रूस लौटे। और इसीलिए यह आश्चर्य की बात नहीं जब भारतीय दर्शन एव शास्त्रों के सिद्धान्त को समझने और उस पर परामर्श लेने के लिए बाद में भारतीय पण्डित भी लेनिनग्राद आने लगे। शेरवात्स्की के नाम और उनकी कृतियों को भारत में अत्यन्त प्यार एव आदर के साथ स्मरण किया जाता है और वह आज भी भारतीयों के स्मृति भण्डार में जीवित है। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान प्रो० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, जो कुछ वर्ष पहले सोवियत सघ में आये थे और जिन्होंने हिन्दी में लिखित अपनी पुस्तक "भारतीय दर्शनशास्त्र, न्याय वैशेषिक—१९५३) को अकादमिक शेरवात्स्की की पुण्यस्मृति में समर्पित किया है, लिखते हैं—"शेरवात्स्की को आधुनिक बौद्ध दर्शन का सर्वश्रेष्ठ विद्वान कहा जा सकता है।"

भारत के प्रवास और भारतीय विद्वान् पण्डितों से विचार विनिमय ने शेरवात्स्की की इस धारणा को पक्का बना दिया था जैसा अकादमिक ओल्डेनबुर्ग लिखते हैं—"कि वहाँ के विद्वानों के विचार में यह भ्रामक मान्यता भली भाँति अनुभव की जा सकती है कि भारतीय सस्कृति वस्तुत ऐतिहासिक कारणों से मुक्त कुछेक महान चिन्तकों के योगदान से निर्मित सत्य है। अपनी सभी कृतियों में अत्यन्त सटीक ढग से शेरवात्स्की ने यह दिखलाया कि किस प्रकार अपने देश के इतिहास के विभिन्न युगों के सामाजिक वर्गों के अन्तर्सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करते हुए भारतीय विद्वान तर्कपूर्ण एव वैज्ञानिक रीति से चिन्तन करते रहे हैं।"

भारत से लौटकर शेरवात्स्की ने एक निश्चित पद्धति के साथ प्रसिद्ध "द्वितीय बुद्ध", बौद्ध वसुबन्धु के "अभिधर्मकोश" और उसकी यशोमित्र की "व्याख्या" का अध्ययन प्रारम्भ किया। मध्य एशिया में म० अ० स्टेयन द्वारा पाये गये उइगुर (Uigur) भाषा में इनकी अनुवाद-कृतियों ने इस दिशा में कार्य करने के लिए उन्हें विशेष रूप से प्रेरित किया। इस वैज्ञानिक कार्य में कई एक देशों के विद्वान एक साथ कार्य करने के लिए जुटे—फ्रांस की ओर से प्रो० Silvain Le'vy, इग्लैन्ड की ओर से Dr. Denison Ross, बेल्जियम की ओर से Prof L de la Valle'e Poussin, जापान की ओर से—Prof. Wogihara, रूस की ओर से शेरवात्स्की और आटो रोजेनबर्ग। इसकी चर्चा करते हुए औल्डेनबुर्ग ने लिखा—"रूसी विद्वानों द्वारा इस प्रकार इस पर कार्य करते हुए और उसे अन्तर्राष्ट्रीय रूप देते हुए, बौद्ध-दर्शन और अपने में बौद्ध सम्प्रदाय के निश्चित प्रणाली के साथ अध्ययन के एक निश्चित स्तर की स्थापना हुई • मात्र शेरवात्स्की और उनके सहयोगी बन्धुओं द्वारा हाथ में लिए गये इस महत्त्वपूर्ण

कार्य से उस बौद्ध धर्म का वैज्ञानिक एव निश्चित प्रणाली द्वारा विश्लेषण प्रारम्भ हुआ जो इतनी देर तक विश्लेषित होने की प्रतीक्षा में टाला जाता रहा।"

बौद्ध सस्कृति के क्षेत्र में किये गये अपने कार्यों से शेरबात्स्की ने विश्व ज्ञान के मध्य अनेक में एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। हमारे देश के प्रकाण्ड विद्वान—अका० ओल्डेनबुर्ग, काकान्त्सोव, मार, बर्टोल्ड आदि ने शेरबात्स्की को विज्ञान अकादमी के सदस्य पद पर आसीन करने का सफल प्रयास किया। २ नवम्बर १९१८ को वे अकादमिक पद से विभूषित किये गये। परवर्ती सभी उनके वैज्ञानिक कार्यों ने मुख्य रूप से Bibliotheca Buddhica के सकलन में स्थान पाया। १९२८ वर्ष से उन्होंने बौद्ध-सस्कृति के इन्स्टीट्यूट के प्रधान के पद को सभाला और १९३० में प्राच्य विद्याओं के इन्स्टिट्यूट के अन्य प्राच्यविद्या विभागों के साथ इसका अन्य ढग से नया रूप दिया। यहाँ पर शेरबात्स्की जीवन के अन्त तक भारतीय-तिब्बत उपविभाग का प्रधानपद सँभाले रहे।

शेरबात्स्की की प्रतिभा और कुशल क्षमता सोवियत काल में अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हुई जबकि उन्होंने सर्वोत्तम कृति—वृहत्काय रचना-त्रयी की रचना की जो बौद्ध दर्शन एव सस्कृति को व्यापक रूप से व्यक्त करने में सफल है। इसके अग्रेजी सस्करण, पूर्व और पश्चिम दोनों ही क्षेत्रों में 'क्लासिकल' रचना के रूप में मान्य हुये। इसमें बौद्ध दर्शन एव चिन्तन का शेरबात्स्की द्वारा जो वर्णन किया गया है वह लगभग साढे सोलह सौ वर्ष की अवधि को पृष्ठभूमि के रूप में समेटता है—अर्थात ईसा पूर्व छठीं शताब्दी, जब कि बौद्ध धर्म अपना जन्म पाता है—से लेकर ईसापश्चात १०वीं शताब्दी के अन्त तक जब बौद्ध धर्म भारत से निष्कासित हो जाता है। यह सम्पूर्ण अवधि तीन विकास विन्दुओं में विभक्त है जो बहुत कुछ बौद्ध परम्परा के 'त्रिचक्र' की विकास धारणा से सम्बद्ध है।

इस रचना त्रयी का पहला भाग है—The Central Conception of Buddhism and the Meaning of the word "dharma" (London, 1923)। यह कृति बौद्ध दर्शन के मूल एव जटिल प्रश्न—"धार्मिक सिद्धान्त पर विचार करता है" अर्थात उन मूलतत्वों पर विचार करता है जो सचेत जीवन को अनुप्राणित करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह उन अणुओं की गति पर ध्यान केन्द्रित करता है जो सभी जीवन प्रक्रिया को संचालित करता है। इसका प्रसार आत्मा के स्तर पर भी अपनी अभिव्यक्ति पाता है जो अपनी स्थापना में 'आत्मा' की नकारात्मक स्थिति के सिद्धान्त पर आधारित है। शेरबात्स्की की हस्तलिखित कापियों में एक पर अत यह नोट लिखा मिलता है—"क्राइस्ट का यह विश्वास था कि शरीर को पुनर्जन्म मिलता है, बुद्ध दार्शनिक थे अत अगर उन्होंने यह विश्वास नहीं किया कि शरीर का पुनर्जन्म होता है तो यह मान्यता सामने अवश्य रखा कि आत्मा का पुनर्जन्म होता है और वह परम्पराजन्य एव अनात्मपूर्ण जीवन से सम्बद्ध रहता है।" धर्म के प्रति लेखक की धारणा बौद्ध-दर्शन की व्याख्या के मूल विन्दु के रूप में है जो हीनयान युग के विकास के सर्वास्तिवाद

में देखा जा सकता है। तिब्बती, चीनी और उइगुर्स्की भाषाओं में हुए 'अभिधर्म कोष' के अनुवादों के आधार पर शेरबात्स्की ने यह दिखलाने की चेष्टा की कि 'सर्वास्तिवाद' के सिद्धान्त में धर्म की धारणा, आचार का मूल विशेष है जो उस पाली स्कूल के धर्म की धारणा से बिलकुल भिन्न है जो बौद्ध-धर्म में मात्र नैतिक मूल्यों को मान्य रूप में ग्रहण करता है।

दूसरी कृति "The Conception of Buddhist Nirvana" (Leningrad, 1927) लेखक के ही शब्दों में पहली कृति की बहन का रूप है और जिसका दूसरा नाम "The Central Conception of Mahayana" दिया जा सकता है। इसमें बौद्ध धर्म के विकास के उस रूप का विश्लेषण है जो ईसापूर्व २री शताब्दी में उस प्रसिद्ध दार्शनिक नागार्जुन के प्रभाव के फलस्वरूप अपना नया रूप ग्रहण करता है जो महायान सम्प्रदाय का संस्थापक है और जिसने बौद्ध दर्शन में पहली बार तर्कशास्त्र की सटीक शैली का उपयोग किया। उसने बौद्ध धर्म को वह रूप दिया जो आज तिब्बत, मंगोल, चीन, कोरिया और हमारे यहाँ—बुर्यातो और काल्मीक में मिलता है। शेरबात्स्की के शब्दों में 'नागार्जुन' मानव-दर्शन के उच्च दार्शनिकों की श्रेणी के एक व्यक्ति हैं।" शेरबात्स्की के पूर्व न तो योरप में और न भारतवर्ष में ही निर्वाण के विषय में इतनी स्पष्ट धारणा उभरकर सामने आई थी। दूसरे विद्वानों की मान्यता के विपरीत, विशेषकर दे ल वाले पुसेन की इस धारणा के कि निर्वाण आत्मा की परमानन्द की स्थिति है और जो योग की साधना द्वारा उपलब्ध हो सकती है—, शेरबात्स्की ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि निर्वाण मूल रूप में निर्विकार यथार्थ की आत्यन्तिक स्थिति है जिसकी कुछ समानता हेगेल के एकतन्त्र-स्वरूप भाववाचक आत्मा की स्थिति के साथ देखी जा सकती है। योरप के अन्य दार्शनिकों के साथ तुलना करते हुए वे लिखते हैं—"We may perhaps find a still greater family likeness between the dialectical method of Hegel and Nagarjuna's dialectics" (p 53)

लेखक, निर्वाण के रूप में महायान की मूल धारणा को देखता है। इस कृति ने बहुतों का ध्यान आकृष्ट किया और यह बौद्ध जगत में चर्चा का विशेष विषय बन गई।

शेरबात्स्की की सबसे बड़ी और सबसे अधिक महत्वपूर्ण कृति है—दो खण्डों में रचित-Buddhist Logic (Leningrad, 1930-32)। रचना त्रयी की यह अन्तिम कृति है जिसमें लेखक की २५ वर्ष की साधना का फल निहित है। तीन पक्षों के अध्ययन का दावा यह कृति करती है—पहला, एशियाई संस्कृति के इतिहास-लेखक का पक्ष, दूसरा, संस्कृत के भाषाशास्त्रज्ञ का पक्ष और तीसरा सामान्य दार्शनिक का पक्ष। अत इतिहास, दर्शन और एशियाई जनसमूह की आन्तरिक संस्कृति किसी भी एक को छोड़कर इसका अध्ययन संभव नहीं। इसका दूसरा खण्ड धर्मकीर्ति के निबन्ध "न्यायबिन्दु" और उनकी धर्मोत्तरी व्याख्या की तर्क प्रणाली के सन्दर्भ में तिब्बती स्रोत से मिले साहित्य और संस्कृत से लिए गये व्याख्या सहित अनुवाद को हमारे सामने लाता है। इस वृहद् कृति में शेरबात्स्की ने बौद्ध धर्म के उस रूप पर प्रकाश डाला है जो भारत में प्रसिद्ध दार्शनिक

दिङ्नाग के प्रभाव के कारण अपना नया रूप ग्रहण करता है। धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर के साथ दिङ्नाग, बौद्ध धर्म के तीन प्रकाशस्तभ के रूप में माने जा सकते हैं। पहले स्तभ ने बौद्ध तर्कशास्त्र का निर्माण किया, दूसरे स्तम ने उसकी सूक्ष्म एव वृहत व्याख्या का कार्य सम्पादित किया और तीसरे स्तभ ने उसके अन्तिम रूप का निर्माण किया। दिङ्नाग के सम्प्रदाय का अध्ययन पाश्चात्य दार्शनिक स्कूलों के साथ किये गये सभी भारतीय दार्शनिक पद्धतियों के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में लेखक ने प्रस्तुत किया है। लेखकीय समीक्षात्मक वक्तव्य में शेरबात्स्की ने लिखा है—"इस रचना में मैंने भारतीय तर्कशास्त्र के क्षेत्र में उसकी एक महत्त्वपूर्ण बौद्ध शाखा को उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ देने का प्रयास किया है। मेरी चेष्टा तुलनात्मक पद्धति के आधार पर भारतीय सिद्धान्त के परीक्षण की रही है अर्थात् उसके समानान्तर मान्य पाश्चात्य यूरोपीय सिद्धान्तों के सन्दर्भ में मैंने उसका मूल्यांकन करने की कोशिश की है"। इस प्रकार यह कृति परवर्ती बौद्ध सम्प्रदाय के ज्ञान एव तर्क सम्बन्धी सिद्धान्तों का उसके ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ के साथ मूल्यांकन के रूप में है। लेखक का कहना है—"Buddhist Logic reveals itself as the culminating point of a long course of Indian philosophic history Its birth, its growth and its decline run parallel with the birth, the growth and the decline of Indian civilisation" जब कभी भी लेखक धर्मकीर्ति के रूप में 'भारतीय कान्ट' को देखना है वह अपने विश्लेषण में बौद्ध तर्क से कुछ हट कर उसका विश्लेषण करता है। बौद्ध तर्कशास्त्र की मूल पद्धति पर विचार करते हुए वे लिखते हैं "It is a logic, but it is not Aristotelian It is epistemological, but not Kantian"

शेरबात्स्की की यह कृति पूर्व और पश्चिम दोनों ही देशों में समान रूप से मान्य हुई है। धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने इसे शेरबात्स्की की अन्यतम (masterpiece) रचना की सज्ञा दी है। अपनी पुस्तक "Contribution of Th. Stcherbatsky to Indian Philosophy (1953)" में उन्होंने लिखा—"It may be claimed that his Buddhist Logic is, perhaps, the greatest work of Indian Philosophy of the last 250 years"

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के मतानुसार शेरबात्स्की ऐसी महान कृति की रचना में समर्थ रहे क्योंकि वे रूढिवादी हिन्दू की भाँति सस्कृत के ज्ञाता थे और दूसरी ओर न्याय वैशेषिक की विशेष पदावली से भी पूर्णरूपेण परिचित थे। वे संस्कृत भाषा में स्वच्छन्द भाव से बातचीत कर सकते थे और जब वे बनारस में थे तो कई दिनों तक शास्त्रार्थ करते रहे, जिसका माध्यम सस्कृत भाषा थी। वैशेषिक के विभिन्न पक्षों पर इसी प्रकार उनका वाद-विवाद रामचन्द्र भट्टाचार्य से हुआ। शेरबात्स्की के न्याय-वैशेषिक के प्राचीन ग्रन्थों की पूर्ण जानकारी को देखकर भट्टाचार्य जी अप्रतिभ रह गये थे।

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने लिखा है—"While he brings to bear upon problems of Indian philosophy a highly critical method of a

western thinker, he at the same time approaches them with the faith and devotion of an orthodox Indian scholar When sometimes we come across flashes of his originality, we are reminded of the genius of Dinnaga, and when we look to his stupendous learning and critical profundity, we feel as if he were an incarnation of Vacaspati Misra himself We must acknowledge our deep debt of gratitude to this great savant and to the Soviet Land from which he hailed, for his inestimable contribution to Indian philosophical thought"

शेरबात्स्की की अन्तिम कृति है—"Madhyanta-Vibhanga, Discourse on Discrimination between Middle and Extremes" इस कृति में वे उत्तरी बौद्ध सम्प्रदाय के योगाचार के स्कूल के निबन्धों के प्रथम खण्ड के संस्कृत अनुवाद के साथ इस स्कूल के उस प्रश्न पर विचार करते हैं कि किस प्रकार विचार के हर क्षेत्र में 'अति' को छोड़कर 'मध्यवर्ती' स्थिति को स्वीकार करना चाहिए। सन् १९३६ में प्रकाशित "Bibliotheca Budhica" के ३०वें खण्ड में यह कृति प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त अपने गुरु ई० ई० ओबेर्मिलर के सह-सम्पादकत्व में उन्होंने बु स्टोन के तिब्बती लेखों का अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशन किया जो "History of Buddhism in India and Tibet" (Heidelberg 1931-32, Bibliotheca Buddhica, XXIX) नाम से छपा। इसका भी अपना विशेष महत्त्व इसलिए है क्योंकि इस संकलन में तिब्बत में उपलब्ध प्राय सभी बौद्ध सामग्री एकत्रित कर दी गई है।

शेरबात्स्की की महत्त्वपूर्ण देन इसमें भी है कि रूसी और सोवियत विद्वानों के बीच वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय दर्शन के भौतिकवादी सिद्धान्त का अपने लेख—"भारत में भौतिकवाद का इतिहास" (लेनिनग्राद, १९२७) में सर्वप्रथम उल्लेख और उस पर गहन विचार किया। इसमें भारतीय भौतिकवाद के मूलभूत तत्त्वों पर विचार तो है ही पर साथ में उसके मूल संस्कृत स्रोत और इस प्रश्न सम्बन्धी यूरोपीय शोधपूर्ण कार्यों की भी जानकारी दी गई है।

शेरबात्स्की की मुख्य देन इसमें विदित है कि उन्होंने धर्म के रूप में मान्य बौद्ध-सम्प्रदाय और उसकी दार्शनिक महत्ता के बीच अन्तर को स्पष्ट करके ही उसके विवेचन को आगे बढ़ाया है। उन्होंने ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में भारतीय चिन्तन पद्धति का विश्लेषण किया है और वह भी इसलिए कि दार्शनिक तत्वों को स्पष्ट करें और विश्व के दार्शनिक विचारधाराओं के मध्य उसके उचित स्थान को दिला सकें।

इसके साथ पाश्चात्य योरोपीय दर्शन के ठीक विरोध में भारतीय दर्शन को प्रति स्थापित करने के अपने समय के फैशन का भी उन्होंने तीव्र विरोध किया। अपनी अन्तिम रचना में उन्होंने लिखा—"In my opinion, in Madhyanta-Vibhanga

(Leningrad, 1936), Indian philosophy has reached a very high standard of development and the principle lines of this development run parallel with those which are familiar to the students of European philosophy "

शेरवात्स्की की अधिकाश रचनायें अंग्रेजी भाषा में लिखित और प्रकाशित हैं। क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि (भारत में रहते समय जिसे और भी वल मिला) भारतीय और बौद्ध-धर्म सम्बन्धी लेख उस भाषा में लिखे जाने चाहिए जिसमें पढकर भारतीय विद्वान उसका सही मूल्याकन कर सकने में सक्षम हों। इसी वजह से न केवल उनकी कृतियों का व्यापक प्रचार सभव हो सका वरन् हमारे अपने ज्ञान और महिमापूर्ण रूसी सस्कृति की परम्परा की भी पूर्व एव पश्चिम के देशों में जानकारी सभव हो सकी। जेल के समय में लिखी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक—'Discovery of India' में भारत के स्वर्गीय प्रधान मत्री जवाहरलाल नेहरू ने अत्यत सम्मानपूर्ण शब्दों में "सोवियत लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्रोफेसर शेरवात्स्की" को स्मरण किया है। पं० नेहरू की उस समय सहानुभूति सोवियत सघ के प्रति थी। उस समय अपने राष्ट्रीय स्वातत्र्य सग्राम में भारत लगा हुआ था और सोवियत सघ मानवता के जानी दुश्मनों से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने में जी जान से जुटा था। और इसी लिए सोवियत सघ की जनता द्वारा हो रहे साहसिक युद्ध, विशेषकर लेनिनग्राद की सीमा रक्षा की बेमिसाल कोशिश ने प्राय इस धरती के सभी न्यायनिष्ठ व्यक्तियों के हृदय को द्रवित एव मुग्ध कर लिया था।

भारत के दर्शन और उसकी अन्तश्चेतना में सतत प्रवाहित सस्कृति के अध्ययन में शेरवात्स्की जीवन पर्यन्त लगे रहे लेकिन इसके अतिरिक्त 'भारतीय ज्ञान' के अन्य क्षेत्रों में भी उन्होंने कार्य किया। उदाहरण के लिए, उन्होंने ब्यूहलर की सस्कृत पाठ्य-पुस्तक का रूसी में अनुवाद किया (स्टाकहोम–१९२३)। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'तिब्बती व्याकरण' लिखा और इसी भाँति वरदराज द्वारा लिखित लोकप्रिय सस्कृत व्याकरण 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' का भी रूसी अनुवाद किया। इसी प्रकार उन्होंने दण्डी द्वारा लिखित साहित्यिक उपन्यास 'दशकुमार चरित' का भी अनुवाद किया (पूर्ण रूप में जिसका प्रकाशन १९६४ में हुआ)। इनके अतिरिक्त जो विद्वान-समूह कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का अनुवाद कर रहा था उसका नेतृत्व भी उन्होंने ही सँभाला था और उसमें उन्होंने सक्रिय भाग लिया (पुस्तक १९५९ में प्रकाशित हुई)।

शेरवात्स्की कई प्राचीन और अधिकारी विद्या परिषदों के सम्मानित सदस्य थे। उदाहरण के लिए इग्लैंड के Royal Asiatic Society (London) फ्रांस के Societe Asiatique (Paris), जर्मनी के Morgenländische Gesellschaft (Berlin), और उसी प्रकार Gesellschaft der Wissenschaften zu Gottingen के Correspondent सदस्य थे। इसी प्रकार वे अन्य देशों के कई विद्या-परिषद के माननीय सदस्य बना लिये गए थे।

शेरबात्स्की पूर्ण रूप से 'मनुष्य' थे। सबसे ऊपर उन्होंने 'ज्ञान' को स्थान दिया था और उसमें उनकी दिलचस्पी उनके जीवन का मूल सार था यद्यपि उनके जीवन का एक अंश सन्यासी का जीवन था और उसे वे सुख सौभाग्य के साथ ग्रहण भी न कर सके थे। उनकी चेतना की गहराई में अपने देश से बहुत दूर के भारत और सुदूरपूर्व देशों के 'संसार' ने अपना स्थान बनाया। वे अंधविश्वासों से बहुत ऊपर उठ चुके थे और सुदूर देशों के प्रति उनकी आस्था, प्रेम और सहानुभूति की भावना कम न थी। उन्होंने भारत-वासियों में भी उसी 'मनुष्य' को पाया जो उन्हें अन्य देशवासियों में देखने को मिला था और उनकी विचार-पद्धति को मानवजाति की चिन्ता के एक पक्ष के रूप में स्वीकार किया।

कब्रिस्तान में शेरबात्स्की के समाधिस्थल पर एक शिला रखी है जिस पर ये सरल शब्द अंकित हैं "प्राचीन भारत के चिन्तकों की बुद्धि चेतना को अपने देश के लिए व्याख्या करने के विषय में।"

В.И.Кальянов (Ленинград)

17–5–1965 V.I.Kalyanov (Leningrad)

भूमिका

अनुवाद सामने है। एक तो बौद्धन्याय जैसा क्लिष्ट विषय, दूसरे पाश्चात्य तर्कशास्त्रों और दर्शनों का तुलनात्मक प्रस्तुतीकरण, और सबसे ऊपर एक अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण शैली में रचना—इन सब के कारण इस ग्रन्थ का अनुवाद करने का साहस ही नहीं होता था। किन्तु ग्रन्थ का अद्वितीय महत्त्व तथा इसके ग्रन्थकार श्री शेरबात्स्की की विद्वत्ता के प्रति मेरी श्रद्धा इस अनुवाद को पूरा करने में सदैव प्रेरणा देती रही। फिर भी इस पर सन्तोष तो तब होगा जब यह पाठकों के लिये कुछ लाभकर सिद्ध हो सकेगा।

पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद के लिये मैंने भारत सरकार के विभिन्न पारिभाषिक कोशों, तथा आप्टे और मॉनियर विलियम्स के अंग्रेजी-संस्कृत कोशों का उपयोग किया है। अतः अनुवाद में कहीं भी शंका की दशा में इन कोशों को देखा जा सकता है।

यों तो मैंने अनुवाद को सन्तोषजनक बनाने में यथाशक्ति सभी सम्भव सतर्कतायें रखी हैं, फिर भी अज्ञानता के कारण जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनके लिये पाठकों से क्षमा चाहता हूँ।

—अनुवादक

शब्दावली के आवरण के नीचे से वह उन विशिष्टताओं को ढूँढ सकता है जिन्हें वह एक भिन्न रूप से विवेचित, भिन्न रूप से व्यवस्थित, तर्कशास्त्रीय पद्धति में एक भिन्न स्थान पर तथा एक सर्वथा भिन्न सन्दर्भ में रक्खे गये होने के रूप में देखने का अभ्यस्त है। दार्शनिक, यदि वह संस्कृत रचनाओं की शैली से परिचित हो जाता है तो, भारतीय विचारों का न केवल योरोपीय शब्दावली में विवेचन करने के लिये उत्सुक होगा, वरन् प्रक्रिया को उलट कर योरोपीय विचारो की भारतीय शब्दावली में व्याख्या करना भी चाहेगा।

मेरा प्रमुख उद्देश्य इन समानताओं की ओर संकेत करना तो रहा है किन्तु दोनों तर्कशास्त्रों के तुलनात्मक महत्त्व का मूल्यांकन प्रस्तुत करना नहीं। इस विषय पर पहले मैं उन दक्ष दार्शनिकों का मत सुनना चाहूँगा जो ज्ञान के इस विशेष क्षेत्र में उससे कहीं अधिक विशिष्ट अनुभव रखते हैं जितना मेरा हो सकता है। यदि मैं दार्शनिकों के ध्यान को जागृत कर सका तथा यदि उनके द्वारा भारतीय विध्यात्मक दार्शनिकों को उनके योरोपीय भ्रातृसंघ में परिचित करा सका तो मुझे पर्याप्त सन्तोष होगा।

बौद्ध-न्याय

(प्रथम भाग)

प्रस्तावना

§ १. बौद्ध तर्कशास्त्र क्या है

बौद्ध तर्कशास्त्र के अन्तर्गत हमारा तात्पर्य भारत मे छठी और सातवी शताब्दी मे बौद्धविज्ञान की दो जाज्वल्यमान विभूतियो, आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति द्वारा रचित तर्कशास्त्र तथा ज्ञानमीमासा की एक पद्धति के बोध मे होता है। इन लोगो के पूर्व के समय के अत्यन्त अपर्याप्त रूप मे ज्ञात बौद्ध तर्कशास्त्रीय साहित्य को, जिसने इनकी रचनाओ के लिये मार्ग प्रशस्त किया, तथा उत्तरी बौद्ध देशो मे उपलब्ध भाष्यो और टीकाओ के प्रचुर साहित्य को जो इन लोगो के बाद रचित हुआ, इसी वर्ग की रचनाओ के अन्तर्गत रखा जाना चाहिये। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम तो परार्थ-अनुमान के स्वरूपो से सम्बद्ध सिद्धान्त आते है, और अकेले इसी आधार पर इसके लिये 'तर्कशास्त्र' की सज्ञा उचित है। अध्यवसाय (= निश्चय = विकल्प), अपोहवाद, और स्वार्थ-अनुमान सम्बन्धी सिद्धान्त, योरप की ही भाँति भारत मे भी परार्थ-अनुमान के सिद्धान्त के ही स्वाभाविक उपसिद्धान्त हैं।

किन्तु बौद्धो के तर्कशास्त्र के अन्तर्गत कुछ और भी आता है। इसमे हमारे ज्ञान के सम्पूर्ण विषयवस्तु से सम्बद्ध ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष, अथवा अधिक उपयुक्त निर्विकल्प प्रत्यक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त, प्रामाण्यवाद तथा बाह्यार्थ-अनुमेयत्ववाद भी आते है। इन समस्याओ का सामान्यतया ज्ञानमीमासा के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। अत बौद्धपद्धति को ज्ञानमीमासात्मक तर्कशास्त्रीय पद्धति कहना उचित ही होगा। यह बाह्य ससार के अस्तित्व को सर्वाधिक असन्दिग्ध रूप से प्रमाणित करनेवाले 'प्रत्यक्ष' के सिद्धान्त से आरम्भ होता है। तदुपरान्त यह बाह्यससार तथा हमारे अनुमान द्वारा निर्मित प्रतिमाओ और धारणाओ के रूप मे उसके (बाह्यससार) प्रतिरूप के बीच सारूप्य के सिद्धान्त पर आता है। इसके बाद अध्यवसाय (= निश्चय), स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के सिद्धान्त आते हैं। अन्तत दार्शनिक विषयो मे सम्बद्ध वाद-विवाद के सचालन की कला का विषय या वादविधि (= चोदना प्रकरण) आता है। इस प्रकार, इसके अन्तर्गत मानव ज्ञान का समस्त क्षेत्र आ जाता है जो प्रत्यक्ष जैसे साधारण विषय से आरम्भ होकर सार्वजनिक वाद-विवाद की जटिल प्रक्रिया मे समाप्त होता है।

बौद्ध स्वय अपने इस शास्त्र को हेतु-विद्या, अथवा प्रमाण-विद्या, अथवा केवल सम्यग्-ज्ञान-व्युत्पादन मात्र कहते है। यह सत्य और मिथ्या के विमर्श का सिद्धान्त है।

इसके प्रवर्तको की दृष्टि मे इस पद्धति का एक धर्म, अर्थात् निर्वाण के मार्ग के उपदेशक के रूप मे बौद्धधर्म के साथ प्रत्यक्षत कोई विशेष सम्बन्ध नही है। यह अपने को मनुष्य की समझ से सम्बद्ध स्वाभाविक और सामान्य तर्कशास्त्र मानता है।[1] फिर भी, यह अपने को आलोचनात्मक भी मानता है। ऐसे तत्त्वो का निर्ममतापूर्वक प्रतिवाद किया गया है जिनके अस्तित्व की तर्कशास्त्र के नियमो के अन्तर्गत पर्याप्त वाञ्छनीयता सिद्ध नही होती, और इस दृष्टि से बौद्ध तर्कशास्त्र केवल उन्ही विचारो के प्रति निष्ठावान है जिनसे बौद्धमत आरम्भ हुआ था। अत इसने ईश्वर को अस्वीकृत किया, आत्मा को अस्वीकृत किया, और नित्यता को अस्वीकृत किया। इसने तिरोधेय घटनाओ के क्षणभगुर प्रवाह तथा निर्वाण मे ही उनकी चरम और नित्य शान्ति के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार नही किया। बौद्धो के अनुसार वास्तविकता गतिशील है स्थिर नही, किन्तु दूसरी ओर, तर्कशास्त्र धारणाओ और नामो के रूप मे वास्तविकता के स्थिरीकरण की कल्पना करता है। बौद्ध तर्कशास्त्र का चरम उद्देश्य गतिशील वास्तविकता और विचारो की स्थिर रचनाओ के सम्बन्ध की व्याख्या करना है।[2] यह वास्तविकतावादियो के तर्कशास्त्र, न्याय, वैशेषिक और मीमासा वादियो के तर्कशास्त्र का विरोधी है जिनके लिये वास्तविकता स्थिर और हमारे ज्ञान की धारणाओ के लिए पर्याप्त है। भारत के अन्य सभी प्रतिष्ठित धर्मो के प्रवर्तक बौद्धो को सामान्य रूप से अहङ्कारी अनस्तित्ववादी मानते हैं, जब कि बौद्ध स्वय भी अपने विरोधियो को 'बाह्य' और 'तीर्थिक' कहते है। केवल इस आशय मे ही बौद्धो द्वारा सृजित तर्कशास्त्रीय प्रणाली बौद्ध न्याय है।

§ २ बौद्धमत के इतिहास मे तर्कशास्त्र का स्थान

भारत मे बौद्धमत के इतिहास मे बौद्ध तर्कशास्त्र का तो स्थान है ही, भारतीय तर्कशास्त्र और दर्शन के सामान्य इतिहास मे भी इसका अपना महत्त्व है। भारतीय तर्कशास्त्र के विस्तृत क्षेत्र के अन्तर्गत यह एक माध्यमिक बौद्धकाल

---

[1] लौकिक विद्या, तुकी माध्य० वृत्ति, पृ० ५८ १४ और मेरा 'निर्वाण', पृ० १४०।

[2] तुकी० TSP, पृ० २५९ २१ 'न क्वचिद् अर्थे परमार्थतो विवक्षा अस्ति, अन्वयिनोऽर्थस्य अभावात्।' (सर्वेपु इति पक्षेसु समानम् दूषणम्)।

का निर्माण करता है। जब कि बौद्धदर्शन के क्षेत्र मे तर्कशास्त्र भारतीय बौद्धमत के अन्तिम, तृतीय चरण, की एक उल्लेखनीय विशेषता है।[1]

भारत मे बौद्धमत के इतिहास को तीन कालो[2] मे विभाजित किया जा सकता है। स्वय बौद्धो ने भी ऐसा ही किया है, और इन तीन कालो को ये धर्म के तीन चक्र[3] कहते है। इन सभी मे बौद्धमत अस्तित्व के गतिशील और निर्लिप्त प्रवाह की केन्द्रीय धारणा के प्रति निष्ठावान् है। किन्तु अपने इतिहास मे दो बार—ईसा की प्रथम और पञ्चम शताब्दियो मे—इस धारणा की व्याख्या मे इतना स्पष्ट परिवर्तन हुआ कि प्रत्येक काल की अब अपनी-अपनी नवीन केन्द्रीय धारणा बन गई है। ५०० ई० पू० से आरम्भ होकर, यदि मोटे रूप से हम यह मान लें कि अपनी जन्मभूमि मे बौद्धधर्म का लगभग १५०० वर्षों तक वास्तविक अस्तित्व रहा, तो इस अवधि को तीन कालो मे विभाजित कर देने पर प्रत्येक की अवधि पाँच-पाँच सौ वर्ष की होगी।

पहले हम यहाँ प्रथम और द्वितीय काल-विभाजनो से सम्बद्ध दो पूर्ववर्ती कृतियो के परिणामो की सक्षिप्त परीक्षा करेंगे।[4] प्रस्तुत कृति को, जो कि तृतीय और अन्तिम अवधि मे सम्बन्धित है, उक्त कृतियो का अग्रक्रम मानना चाहिये।

§ ३. बौद्धदर्शन का प्रथम काल

बुद्ध के समय मे भारत दार्शनिक चिन्तन की प्रचुरता और मोक्ष के आदर्श की पिपासा से ओत-प्रोत था।

बौद्धदर्शन का आरम्भ पुद्‌गल (मानव व्यक्तित्व) का उसका निर्माण करनेवाले विभिन्न धर्मो के रूप मे सूक्ष्म विश्लेषण से हुआ। इस विश्लेषण का प्रमुख विचार नैतिक था। सर्वप्रथम पुद्‌गल के धर्मों का सास्रव-अनास्रव,

---

[1] आन्त्य-धर्म-चक्र-प्रवर्तन।

[2] विशुद्ध दृष्टिकोण यह है कि स्वय बुद्ध ने अपने सिद्धान्तो का तीन अलग-अलग रूपो मे उपदेश किया था—एक सर्वसाधारण के लिये, दूसरा मध्यम वर्ग के लिये, और तीसरा तीक्ष्ण बुद्धिवालो के लिये। किन्तु यह स्पष्टत एक पश्चात्-विचार है।

[3] त्रिचक्र।

[4] The Central Conception of Buddhism and the Meaning of the word "Dharma", London, 1923 (R A. S), and The Conception of Buddhist Nirvana, Leningrad, 1927 (Ac. of Sciences)

प्रेरक व्यक्तित्व (पुद्गल) या आत्मा नही वरन् हेतु-प्रत्यय व्यवस्था थी। इसका उद्दिष्ट अभीष्ट निर्वाण[1] था जिसका आशय जीवन के प्रत्येक लक्षण की चिरन्तन शान्ति, विश्व या धर्मकाय की सर्वथा निष्क्रिय अवस्था था जिसमे समस्त धर्म या सह-सस्कृत धर्म अपनी समस्त सस्कारगत शक्ति से रहित हो कर चिरशान्त हो जाते हैं। धर्म और सस्कार के रूप मे इस विश्लेषण[2] का उद्देश्य उनकी क्रियाशीलता की अवस्था के अनुसन्धान, अथवा इन क्रियाओ को कम करने या रोकने[3] के मार्ग का निर्धारण करने के अतिरिक्त और कुछ नही था जिससे चरम शान्ति या निर्वाण की अवस्था तक पहुँचा या उसमे प्रवेश किया जा सके। धर्म्य पूर्णता और चरम मोक्ष के मार्ग-सम्वन्धी सिद्धान्त का पथ प्रशस्त करने के लिये, आर्यत्व की, और 'बुद्ध' की चरम अवस्था की प्राप्ति के लिये पय-प्रशस्त करने के उद्देश्य से ही इस सत्त्वमीमासात्मक विश्लेषण का प्रतिपादन किया गया। इसमे हमे बौद्धदर्शन की एक अन्य विशेषता लक्षित होती है, ऐसी विशेषता जो सर्वथा भौतिकवादियो के अपवाद के अतिरिक्त भारत के अन्य सभी दर्शनो मे समान रूप से उपलब्ध है। यह विशेषता है मोक्षवाद। इस अभीष्ट के मार्ग की शिक्षा देने मे बौद्धो का पूर्वगामी आरम्भिक भारतीय योग है। बुद्ध के समय मे समस्त भारत योग के समर्थको और विरोधियो मे, ब्राह्मणो के अनुयायियो और श्रमणो के अनुयायियो मे, या यह कहिये कि खुले उच्च धार्मिक सम्प्रदाय और योग के प्रति तीव्र झुकाववाले जनप्रिय मतवादियो मे विभक्त था। इस योग की प्रमुख धारणा इस विश्वास मे निहित थी कि अभ्यास और केन्द्रित ध्यान[4] द्वारा समाधि की एक ऐसी अवस्था प्राप्त की जा सकती है जो ध्यान करने वाले को असाधारण शक्तियाँ प्रदान करती है और उसे एक अतिमानव के रूप मे परिणत कर देती है। बौद्धदर्शन ने अपनी सत्त्वमीमासा मे इस शिक्षा का समन्वय कर लिया। यह समाधिस्थ ध्यान शान्ति के मार्ग का चरम सदस्य, एक ऐसा माध्यम वन गया जिसके द्वारा सर्वप्रथम मिथ्या दृष्टिकोणो और दुष्ट प्रवृत्तियो को समाप्त करके उच्चतम यौगिक अवस्थायें प्राप्त की जा सकती थी। अतिमानव या योगी, आर्य,[5] एक ऐसा मनुष्य, या अधिक उपयुक्तत धर्मों का ऐसा सङ्घात वन गया जहाँ 'प्रज्ञा अमला' ही पवित्र जीवन

---

[1] निरोध।

[2] धर्म-प्रविचय।

[3] विहान-प्रहान।

[4] ध्यान = समाधि = योग।

[5] आर्य = अर्हत् = योगिन्।

का केन्द्रीय और प्रमुख सिद्धान्त बन जाता है। यह पुरातन बौद्धदर्शन की अन्तिम विशेषता, आर्य या अर्हतवाद है।

तदनुसार इस सम्पूर्ण मतवाद को तथाकथित चार 'सत्यों' अथवा चार आर्य-सत्यों[1] के सूत्र के रूप मे सक्षिप्त कर दिया गया है, यथा (१) जीवन एक अशान्त सघर्ष है, (२) इसकी उत्पत्ति पापपूर्ण वासनाओ मे होती है, (३) चिरन्तन शान्ति ही चरम अभीष्ट है, और (४) एक ऐसा मार्ग है जहाँ जीवन के निर्माण मे सहायक समस्त सस्कार क्रमश लुप्त हो जाते है।

बौद्धदर्शन के इतिहास के प्रथम काल, धर्मचक्र के प्रथम प्रवर्तन के यही प्रमुख विचार है। इसे कदाचित् ही किसी धर्म का प्रतिनिधित्व करनेवाला कहा जा सकता है। इसका अधिक धार्मिक पक्ष, एक मार्ग की शिक्षा, सर्वथा मानवोचित है। मनुष्य स्वय अपने ही प्रयासो से, नैतिक और बौद्धिक पूर्णता मे, मोक्ष प्राप्त करता है। और जो कुछ हम जानते हैं उसके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उस समय बौद्धदर्शन मे उपासना भी बहुत अधिक नही था। वह परिवार और सम्पत्ति से रहित विरक्तो का ऐसा समुदाय था जो अपने पापो को खुले रूप से अङ्गीकार करने के लिये मास मे दो बार एकत्र होते थे और तपस्या, ध्यान तथा दार्शनिक वाद-विवाद मे रत रहते थे।

इस काल का, अर्थात् अशोक के बाद का बौद्धदर्शन साधारण महत्त्व की बातो पर १८ सम्प्रदायो मे विभक्त था। वत्सीपुत्रियो के सम्प्रदाय द्वारा एक छायात्मक, अर्ध-वास्तविक व्यक्तित्व की स्वीकृति ही इस दर्शन की मौलिक रूप-रेखा से एकमात्र महत्त्वपूर्ण विचलन था।

§ ४. बौद्धदर्शन का द्वितीय काल

बौद्धदर्शन के इतिहास की पाँचवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे इसमे, इसके दर्शन मे, और धर्म के रूप मे इसकी प्रकृति मे, एक मौलिक परिवर्तन हुआ। इसने उस मानव बुद्ध के आदर्श का परित्याग कर दिया जो एक निर्जीव निर्वाण मे सर्वथा विलीन हो जाते हैं और उनके स्थान पर जीवन से परिपूर्ण निर्वाण मे अधिष्ठित एक दिव्य बुद्ध के आदर्श को प्रतिष्ठित किया। इसने वैयक्तिक मोक्ष के एक स्वार्थपरक आदर्श को प्रत्येक जीव के एक सार्वभौमिक मोक्ष द्वारा स्थानान्तरित किया। साथ ही साथ, इसने अपने दर्शन को एक मौलिक बहुत्ववाद से मौलिक एकतत्त्ववाद मे परिवर्तित कर

---

[1] चत्वारि आर्य-सत्यानि=आर्यस्य बुद्धस्य तत्त्वानि।

प्रेरक व्यक्तित्व (पुद्गल) या आत्मा नहीं वरन् हेतु-प्रत्यय व्यवस्था थी। इसका उद्दिष्ट अभीष्ट निर्वाण[1] था जिसका आशय जीवन के प्रत्येक लक्षण की चिरन्तन शान्ति, विश्व या धर्मकाय की सर्वथा निष्क्रिय अवस्था था जिसमें समस्त धर्म या सह-सम्कृत धर्म अपनी समस्त संस्कारगत शक्ति से रहित हो कर चिरशान्त हो जाते हैं। धर्म और संस्कार के रूप में इस विश्लेषण[2] का उद्देश्य उनकी क्रियाशीलता की अवस्था के अनुसन्धान, अथवा इन क्रियाओं को कम करने या रोकने[3] के मार्ग का निर्धारण करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था जिससे चरम शान्ति या निर्वाण की अवस्था तक पहुँचा या उसमें प्रवेश किया जा सके। धर्म्य पूर्णता और चरम मोक्ष के मार्ग-सम्बन्धी सिद्धान्त का पथ प्रशस्त करने के लिये, आर्यत्व की, और 'बुद्ध' की चरम अवस्था की प्राप्ति के लिये पथ-प्रशस्त करने के उद्देश्य से ही इस सत्त्वमीमांसात्मक विश्लेषण का प्रतिपादन किया गया। इसमें हमें बौद्धदर्शन की एक अन्य विशेषता लक्षित होती है, ऐसी विशेषता जो सर्वथा भौतिकवादियों के अपवाद के अतिरिक्त भारत के अन्य सभी दर्शनों में समान रूप से उपलब्ध है। यह विशेषता है मोक्षवाद। इस अभीष्ट के मार्ग की शिक्षा देने में बौद्धों का पूर्वगामी आरम्भिक भारतीय योग है। बुद्ध के समय में समस्त भारत योग के समर्थकों और विरोधियों में, ब्राह्मणों के अनुयायियों और श्रमणों के अनुयायियों में, या यह कहिये कि खुले उच्च धार्मिक सम्प्रदाय और योग के प्रति तीव्र झुकाववाले जनप्रिय मतवादियों में विभक्त था। इस योग की प्रमुख धारणा इस विश्वास में निहित थी कि अभ्यास और केन्द्रित ध्यान[4] द्वारा समाधि की एक ऐसी अवस्था प्राप्त की जा सकती है जो ध्यान करने वाले को असाधारण शक्तियाँ प्रदान करती है और उसे एक अतिमानव के रूप में परिणत कर देती है। बौद्धदर्शन ने अपनी सत्त्वमीमांसा में इस शिक्षा का समन्वय कर लिया। यह समाधिस्थ ध्यान शान्ति के मार्ग का चरम सदस्य, एक ऐसा माध्यम बन गया जिसके द्वारा सर्वप्रथम मिथ्या दृष्टिकोणों और दुष्ट प्रवृत्तियों को समाप्त करके उच्चतम यौगिक अवस्थायें प्राप्त की जा सकती थीं। अतिमानव या योगी, आर्य,[5] एक ऐसा मनुष्य, या अधिक उपयुक्तत धर्मों का ऐसा सङ्घात बन गया जहाँ 'प्रज्ञा अमला' ही पवित्र जीवन

---

[1] निरोध।

[2] धर्म-प्रविचय।

[3] विहान-प्रहान।

[4] ध्यान = समाधि = योग।

[5] आर्य = अर्हत् = योगिन्।

का केन्द्रीय और प्रमुख सिद्धान्त बन जाता है। यह पुरातन बौद्धदर्शन की अन्तिम विशेषता, आर्य या अर्हतवाद है।

तदनुसार इस सम्पूर्ण मतवाद को तथाकथित चार 'सत्यों' अथवा चार आर्य-सत्यो[1] के सूत्र के रूप मे सक्षिप्त कर दिया गया है, यथा (१) जीवन एक अशान्त सघर्ष है, (२) इसकी उत्पत्ति पापपूर्ण वासनाओ मे होती है, (३) चिरन्तन शान्ति ही चरम अभीष्ट है, और (४) एक ऐसा मार्ग है जहाँ जीवन के निर्माण मे सहायक समस्त सस्कार क्रमश लुप्त हो जाते है।

बौद्धदर्शन के इतिहास के प्रथम काल, धर्मचक्र के प्रथम प्रवर्तन के यही प्रमुख विचार है। इसे कदाचित् ही किसी धर्म का प्रतिनिधित्व करनेवाला कहा जा सकता है। इसका अधिक धार्मिक पक्ष, एक मार्ग की शिक्षा, सर्वथा मानवोचित है। मनुष्य स्वय अपने ही प्रयासो से, नैतिक और बौद्धिक पूर्णता से, मोक्ष प्राप्त करता है। और जो कुछ हम जानते है उसके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उस समय बौद्धदर्शन मे उपासना भी बहुत अधिक नही था। वह परिवार और सम्पत्ति से रहित विरक्तो का ऐसा समुदाय था जो अपने पापो को खुले रूप से अङ्गीकार करने के लिये मास मे दो बार एकत्र होते थे और तपस्या, ध्यान तथा दार्शनिक वाद-विवाद मे रत रहते थे।

इस काल का, अर्थात् अशोक के बाद का बौद्धदर्शन साधारण महत्त्व की बातो पर १८ सम्प्रदायो मे विभक्त था। वत्सीपुत्रियो के सम्प्रदाय द्वारा एक छायात्मक, अर्ध-वास्तविक व्यक्तित्व की स्वीकृति ही इस दर्शन की मौलिक रूप-रेखा से एकमात्र महत्त्वपूर्ण विचलन था।

§ ४. बौद्धदर्शन का द्वितीय काल

बौद्धदर्शन के इतिहास की पाँचवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे इसमे, इसके दर्शन मे, और धर्म के रूप मे इसकी प्रकृति मे, एक मौलिक परिवर्तन हुआ। इसने उस मानव बुद्ध के आदर्श का परित्याग कर दिया जो एक निर्जीव निर्वाण मे सर्वथा विलीन हो जाते है और उनके स्थान पर जीवन से परिपूर्ण निर्वाण मे अधिष्ठित एक दिव्य बुद्ध के आदर्श को प्रतिष्ठित किया। इसने वैयक्तिक मोक्ष के एक स्वार्थपरक आदर्श को प्रत्येक जीव के एक सार्वभौमिक मोक्ष द्वारा स्थानान्तरित किया। साथ ही साथ, इसने अपने दर्शन को एक मौलिक बहुत्ववाद से मौलिक एकतत्त्ववाद मे परिवर्तित कर

---

[1] चत्वारि आर्य-सत्यानि = आर्यस्य बुद्धस्य तत्त्वानि।

दिया गया है। चरम वास्तविकता की दृष्टि से जगत् एक ऐसी गतिरहित पूर्णता है जिसमे न तो कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ विलीन होता है। न कोई वस्तु उसी वस्तु से उत्पन्न होती है, जैसा कि सांख्यो का विचार है, न वस्तुये अन्य वस्तुओ से उत्पन्न होती है जैसा वैशेषिक मानते है और न क्षणिक धर्म क्षणमात्र के लिये ही अस्तित्व प्राप्त करते हैं जैसा कि आरम्भिक बौद्धो का विचार था। यहाँ कोई उत्पादन होता ही नही।[1] नवीन बौद्धदर्शन की यह द्वितीय विशेषता है जो एक गतिरहित सम्पूर्णता मे विलीन करके वास्तविक हेतुवाद का सर्वथा निराकरण करती है।

फिर भी, नवीन बौद्धदर्शन ने अनुभूत जगत् की वास्तविकता का सर्वथा प्रतिवाद नही किया। इसने केवल यही माना कि अनुभूत वास्तविकता चरम वास्तविकता नही है। इस प्रकार दो वास्तविकताये हो गई—एक संवृति सत्य और दूसरा सावृत सत्य(=परमार्थ सत्य)। एक वास्तविकता का भ्रान्तिमय पक्ष है, और दूसरा वास्तविक जो उसका चरम स्वरूप है। नवीन बौद्धदर्शन की इन दो वास्तविकताओ या 'दो सत्यो' ने पहले के मतवाद के 'चार सत्यो' का अधिक्रमण कर दिया।

नवीन बौद्धदर्शन की एक अन्य विशिष्टता अनुभूत जगत् और निरपेक्ष के बीच, ससार और निर्वाण के बीच पूर्णरूपेण समानशक्तित्व के सम्बन्ध का सिद्धान्त है।[2] आरम्भिक बौद्धदर्शन के समस्त धर्मो को, जिन्हे केवल निर्वाण मे ही प्रसुप्त किन्तु साधारण जीवन मे सक्रिय सस्कार माना गया था यहाँ चिर-प्रसुप्त और उनकी सक्रियता को केवल एक भ्रम माना गया। इस प्रकार यत यह अनुभूत जगत् केवल एक भ्रमात्मक प्रतीति है जिसके नीचे साधारण मनुष्यो के सीमित बोध के लिये निरपेक्ष अपने को अभिव्यक्त करता है, अत दोनो के तल मे कोई सारवान अन्तर नही है। निरपेक्ष या निर्वाण चिरत्व के रूप मे दृष्ट जगत् (स्वभावकाय) के अतिरिक्त और कुछ नही। निरपेक्ष सत्य के इस पक्ष का साधारण अनुभवात्मक आयतनो के द्वारा बोध भी नही हो सकता। अत निरपेक्ष या चरम बोध के लिये अनवस्थित विचार की विधियो या उनके परिणामो की सर्वथा निष्प्रयोजन होने के रूप मे भर्त्सना की गई है। इसलिये समस्त न्यायशास्त्र तथा साथ ही साथ आरम्भिक बौद्धदर्शनकी समस्त धारणाओ उनके बुद्धत्व उनके निर्वाण उनके चार सत्यो इत्यादि की कृत्रिम और परस्पर

---

[1] देखिये वही पृ० ४० नोट २।

[2] तुकी० वही, पृ० २०५।

विरोधी होने के रूप मे निःसङ्कोच भर्त्सना की गई है।[1] सत्य ज्ञान का एकमात्र स्रोत अर्हत् का योगिक ज्ञान और उन नवीन बौद्ध धर्मग्रन्थो द्वारा उद्घाटित ज्ञान है जिनमे जगत् का एकतत्त्वात्मक दृष्टिकोण ही उसका अद्वितीय विषयवस्तु है। यह नवीन बौद्धदर्शन की एक अन्य उल्लेखनीय विशिष्टता है, अर्थात् इसके द्वारा समस्त न्यायशास्त्र की निर्मम भर्त्सना और योग तथा सत्योद्घाटन का प्रामुख्य।

बाद मे, अपेक्षाकृत उदारपन्थियो का तथाकथित स्वातन्त्रिक सम्प्रदाय इन सापेक्षतावादियो के प्रमुख वर्ग से पृथक हो गया। इसने अपने पक्ष के तार्किक समर्थन के लिये एक प्रकार के न्याय को स्वीकार किय। जिसमे, फिर भी, उन सभी आधारभूत सिद्धान्तो के आन्वीक्षिकी विनाश निहित थे जिन पर ज्ञान आधारित है।

मोक्ष के मार्ग को इस आशय से महायान के रूप मे परिणत कर दिया गया कि पूर्वकाल के, हीनयान के, आदर्श को स्वार्थपरक बनाया गया और एक अन्य आदर्श, वैयक्ति मोक्ष को नही वरन् समस्त मानव जाति और उससे भी आगे समस्त प्राणिजगत के मोक्ष की परिकल्पना की एकतत्त्वात्मक प्रवृत्ति के अनुकूल बताया गया। अनुभूत जगत् को इस आशय से एक छायात्मक वास्तविकता स्वीकार किया गया कि पारमिता और महाकरुणा के अभ्यास के क्षेत्र के रूप मे यह धर्मकाय[2] की प्राप्ति के लिये एक तैयारी मात्र है। असली प्रज्ञा को, जो अर्हत के धर्मो मे से एक थी, अब प्रज्ञा-पारमिता के नाम से ज्ञानकाय के एक पक्ष के साथ समीकृत कर दिया गया, जिसका दूसरा पक्ष स्वभावकाय था। बुद्ध अब मानव नही रहे। सम्भोग काय के नाम से वे एक वास्तविक ईश्वर बन गये। फिर भी, वे ससार के स्रष्टा नही थे। नवीन बौद्धदर्शन ने इस अपनी पूर्वकाल की विशेषता को सुरक्षित रक्खा। नवीन व्याख्या के अनुसार वह अब भी हेतुवाद के, सवृत्ति के, अधीन थे। अपने द्विपक्षी रूप मे केवल ज्ञानकाय ही हेतु और माया से परे था। इस काल मे बौद्धमत एक धर्म बन गया। हिन्दूधर्म की भाँति ही यह एक प्रकार के लौकिक बहुदेवत्ववाद के पीछे अलौकिक विश्वदेवैक्यवाद की अभिव्यक्ति करने लगा। पूजा के स्वरूप के लिये इसने प्रचलित अद्भुत कृत्यों, अथवा तथाकथित

---

[1] वही, पृ० १८३।

[2] निर्वाण = धर्म-काय।

तान्त्रिक सस्कारो को ग्रहण किया। अपने मूर्तिविषयक आदर्शों की पूर्ति के लिये इसने, आरम्भ मे, यूनानी कलाकारो की कुशलता का प्रयोग किया।

बौद्धदर्शन के इतिहास के इस द्वितीय काल मे, इस प्रकार, गम्भीर परिवर्तनो ने प्रवेश किया।

इस नवीन अथवा उच्च धर्म-सघ का अर्थ, फिर भी, पहले से अथवा निम्न धर्म-सघ मे सर्वथा पृथक्त्व नही है। इसमे इस सिद्धान्त का विकास किया गया है कि अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियो के अनुसार, अपने हृदय मे स्थिर बुद्धत्व के बीज[1] के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्वाण के लिये महायान या हीनयान मे से किसी का वरण कर सकता है। अत एक ही विहार के अन्तर्गत दोनो ही 'यान' एक साथ बने रहे।

§ ५ बौद्धदर्शन का तृतीय काल

दूसरी पाँच शताब्दियो के बाद, भारत मे बौद्धदर्शन के इतिहास की प्रथम सहस्राब्दी के अन्त मे, इसके दर्शन के स्वरूप मे एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। यह विकास भारतीय सभ्यता के स्वर्णयुग का समकालीन था, जब भारत का अधिकाश भाग गुप्तो के राष्ट्रीय वश के समृद्धिशाली शासन के अन्तर्गत था। इस काल मे कला और विज्ञान ने अपनी चरम सीमा प्राप्त की और बौद्धो ने इस पुनर्जागरण मे महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। अन्तत बौद्धदर्शन को महान व्यक्तियो, पेशावर के निवासी दो भ्राताओ, अर्हत् असङ्ग और आचार्य वसुबन्धु ने एक नवीन दिशा प्रदान की। प्रत्यक्षत नवीन युग की भावना के अनुरूप ही, समस्त न्याय की भर्त्सना का, जो पिछले काल की विशिष्टता थी, परित्याग कर दिया गया और बौद्धो ने नैय्यायिक विषयो मे गहन अभिरुचि प्रकट करना आरम्भ किया। इस काल की यह प्रथम उल्लेखनीय विशेषता है, अर्थात् न्यायशास्त्र मे गहन अभिरुचि, जो इस काल के अन्त तक सर्वव्यापी हो गई और इसने बौद्धदर्शन के पिछले सभी सैद्धान्तिक रूपो का अधिक्रमण किया।

इस नवीन परिवर्तन का आरम्भबिन्दु बहुत कुछ 'Cogito ergo Sum' ('मैं विचार करता हूँ, इसलिये मैं हूँ स्वसवेदना[2]) का एक भारतीय रूप था।

---

[1] बीज = प्रकृति-स्थम् गोत्रम्।

[2] सदस० ने प्रत्यक्षत इस सूत्र को प्रविनि० से दिया है, तुकी० न्याय-कणिका, पृ० २६१। अधिक ठीक अर्थो मे व्यक्त करने पर भारतीय सूत्र इस प्रकार होगा Cogitantem me sentio, ne sit caecus mundus omnis=

पूर्ण मायावादी सम्प्रदाय के विरुद्ध बौद्धो ने अब घोषणा की कि 'हम स्वसवेदना की वैधता को अस्वीकार नही कर सकते, क्योंकि यदि हम स्वसवेदना को अस्वीकार करते है तो हमे स्वय चेतना को ही अस्वीकार करना होगा, और तब सम्पूर्ण जगत् सर्वथा अन्धत्व की अवस्था मे परिणत हो जायगा।' 'यदि हम वास्तव मे यह नही जानते कि हम एक नील-पट देख रहे है, तो स्वय नीलेपन को हम कभी नही जान सकते। अत स्वसवेदना को ज्ञान के एक सार्थक स्रोत के रूप मे अवश्य स्वीकार करना चाहिये।' स्वसवेदना की समस्या ने सम्पूर्ण भारत, तथा साथ ही साथ बौद्धो को भी दो दलो—इसके समर्थको और इसके विरोधियो[1]—मे विभक्त कर दिया, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मूलत इस सिद्धान्त का उद्देश्य माध्यमिको के अतिसशयवाद का प्रतिकार करना था। बौद्धदर्शन के इस तृतीय काल की यह द्वितीय विशिष्टता है।

एक अन्य विशिष्टता, ऐसी विशिष्टता जिसने इस सम्पूर्ण काल पर अपनी छाप छोडी है, इस तथ्य मे निहित है कि बाह्य-ससार के अस्तित्व-सम्बन्धी पिछले काल के सशयवाद को पूर्णतया सुरक्षित रखा गया। इस समय बौद्ध-दर्शन आदर्शवादी बन गया। इसने यह माना कि हर प्रकार का अस्तित्व अनिवार्यत मानसिक ही है,[2] और यह कि हमारे विचारो की तदनुरूप बाह्य वास्तविकता की परिकल्पना मे पुष्टि नही होती।[3] फिर भी, सभी विचारो को समान रूप मे वास्तविक नही माना गया बल्कि वास्तविकता की मात्राये नियत की गई। विचारो का परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न के रूप मे विभाजन किया गया, जिनमे से द्वितीय और तृतीय वर्गो को वास्तविक माना गया। दो वास्तविकताओ—सापेक्ष और निरपेक्ष वास्तविकताओ—को स्वीकार किया गया, जब कि पिछले काल मे समस्त विचारो को अवास्तविक या शून्य माना गया था क्योकि वे परस्पर अपेक्ष्य थे। बौद्धदर्शन के अन्तिम चरण की यह तृतीय विशिष्टता है अर्थात् यह आदर्शवादी बन गया।

'स्वसवेदनम् अङ्गीकार्यम्, अन्यथा जगद्-आन्ध्यम् प्रसज्येत'।' प्रोफेसर सिलवेन लेवी 'cogito ergo sum' की पहले ही 'स्वसवेदना' से तुलना कर चुके है, तुकी० महायान सूत्रालङ्कार, २, पृ० २०।

[1] तुकी० भाग २, पृ० २९, नोट ४,

[2] विज्ञान-मात्र-वाद = Sems-tsam-pa.

[3] निरालम्बन-वाद।

अन्तत, नवीन बौद्धदर्शन की एक प्रमुख विशिष्टता उसका 'आलय विज्ञान' भी है, जो इस काल के पूर्वार्द्ध मे तो प्रमुख रहा परन्तु उत्तरार्द्ध मे छोड दिया गया। कोई बाह्य जगत् नही और उसका ज्ञान प्राप्त करनेवाली कोई संवेदना नही, केवल एक ही संवेदना है जो स्वसंवेदनात्मक अर्थात् वह है जो केवल अपने ही स्वत्व का ज्ञान प्राप्त करती है। अत जगत् या वास्तविक संसार को ऐसे सम्भाव्य विचारो के अपार विस्तार द्वारा निर्मित माना गया जो चेतना के संग्रहालय मे प्रसुप्त पडे रहते है। इस प्रकार वास्तविकता चिन्तापरक बन जाती है। एक अनादि-वासना को संग्रहीत चेतना का एक अनिवार्य पूरक माना गया। यही वह शक्ति है जो यथार्थ वास्तविकता की तथ्य-शृङ्खला को कार्यक्षम अस्तित्व की ओर प्रेरित करती है। जिस प्रकार योरप के तर्कवादियो ने यह माना कि सम्भाव्य वस्तुओ के अपार विस्तार ईश्वर की बुद्धि मे सम्मिलित है जिनमे से वह उन्ही वस्तुओ को चुनता और अस्तित्व प्रदान करता है जो सब समग्र रूप मे अधिकतम सहसम्भाव्य वास्तविकता का निर्माण करती है, उसी प्रकार बौद्धदर्शन मे भी है। अन्तर केवल इतना ही है कि 'ईश्वर की बुद्धि' के स्थान पर आलय-विज्ञान' को, और उसकी इच्छा के स्थान पर 'अनादिवासना' को स्थापित कर दिया गया। बौद्धदर्शन के अन्तिम काल की यह अन्तिम उल्लेखनीय विशिष्टता है।

विगत दो कालो की भाति यह काल भी उग्र[1] और अनुग्रवादी[2] सम्प्रदायो मे विभक्त है। जैसा कि प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय भाग मे स्पष्ट होगा, बादवाले सम्प्रदाय ने आरम्भ[3] के उग्र आदर्शवाद को छोड दिया और एक गुणागुण विचारयुक्त अथवा बोधातिरिक्त वास्तविकता को स्वीकार किया। इसने आलय-विज्ञान को भी, यह मान कर कि यह प्रच्छन्न आत्मा ही है, छोड दिया।

एक धर्म के रूप इस काल मे बौद्धदर्शन बहुत कुछ वैसा ही रहा जैसा कि विगत काल मे था। इस पद्धति को आदर्शवादी सिद्धान्तो के अनुकूल बनाने के लिये निर्वाण, बुद्ध, और निरपेक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तो मे कुछ परिवर्तन अवश्य किये गये। इस काल के महानतम व्यक्ति मुक्त विचारक प्रतीत होते है। प्रस्तुत कृति का उद्देश्य इन्ही की दर्शन-पद्धति का उद्घाटन और विवेचन करना है।

---

[1] आगम-अनुसारिन्।

[2] न्याय-वादिन्।

[3] तुकी० भाग दो, पृ० ४२८, नोट।

बौद्धदर्शन की तीन प्रमुख अवस्थाओं की रूप रेखा

काल	प्रथम		मध्य		अन्तिम	
केन्द्रीय धारणायें	बहुत्ववाद (पुद्गल-शून्यता)		एकतत्त्ववाद (सर्व-धर्म-शून्यता)		आदर्शवाद (बाह्य-अर्थ-शून्यता)	
	उग्र	अनुग्र	उग्र	अनुग्र	उग्र	अनुग्र
सम्प्रदाय	सर्वास्तिवादी	वात्सीपुत्रीय	प्रासङ्गिक	स्वातन्त्रिक	आगम-अनुसारी	न्यायवादी
			माध्यमिक			
प्रमुख प्रवर्तक			नागार्जुन और देव	भव्य	असङ्ग और वसुबन्धु	दिङ्नाग और धर्मकीर्ति

§ ६. भारतीय दर्शन के इतिहास मे बौद्ध न्याय का स्थान

जब प्रथम बौद्ध नैय्यायिको ने सर्वप्रथम न्यायशास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया तो बुद्ध के उनके अपने घर मे ही उक्त परिस्थितियाँ विद्यमान मिली। उन्हे तीन भिन्न प्रणालियाँ मिली। किन्तु अधिक विस्तृत अखिल भारतीय दृष्टि से दार्शनिक मतवादो के प्रकार और भी अधिक थे। वास्तव मे ये असीम थे। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि इन असीम प्रकारो मे से सात दार्शनिक मतो ने ही बौद्धदर्शन की विभिन्न अवस्थाओ[१] के निर्माण पर कुछ स्थिरगत समर्थक या निषेधात्मक प्रभाव डाला। ये थे (१) भौतिकवाद (चार्वाक-बार्हस्पत्य), (२) अपने सार्वभौमिक चैतन्यता के सिद्धान्त-सहित जैन-दर्शन, (३) साख्य का सृष्टिवाद, (४) योग का रहस्यवाद, (५) औपनिषद-वेदान्त का एकतत्त्ववाद, (६) आस्तिक मीमासको का यथार्थवाद, और (७) न्याय-वैशेषिक का यथार्थवाद।

१. भौतिकवादी

भारतीय भौतिकवादियो[२] ने, जैसा कि वास्तव मे सभी भौतिकवादी कर रहे हैं, किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक तत्त्व को अस्वीकार किया, अत अनात्मता, अनीश्वरता। आत्मा केवल कुछ भौतिक पदार्थो से ही उत्पन्न होता है, जैसे मदिरा अभिषवण से उत्पन्न होती है।[3] अत, सर्वप्रथम इन लोगो ने ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त ज्ञान के किसी अन्य स्रोत को स्वीकार नही किया।[४] यदि कहा जाय तो इन लोगो के लिये ज्ञान दैहिक सहज क्रियाओ से निर्मित होता है।

---

[१] मैंने केवल उन्ही सम्प्रदायो पर विचार किया है जो साहित्य मे आज भी वर्तमान हैं। बुद्ध के ऐसे समकालीनो का प्रभाव, जिनकी कृतियाँ अब उपलब्ध नही, और भी अधिक रहा हो सकता है। जैन और बौद्ध मतो पर पाँच नास्तिक आचार्यों के प्रभाव के सम्बन्ध मे तुकी० बी० सी० ला द्वारा सग्रहीत विवरण, हिस्टॉरिकल ग्लीनिङ्गस्, पृ० २१ और बाद (कलकत्ता, १९२२)।

[२] भारतीय भौतिकवाद के तर्कों के ज्ञान के लिये माधव के सदस० का विवरण ही अब तक हमारा प्रमुख स्रोत रहा है। इसमे अभी हाल मे जे० टुच्ची ने पर्याप्त सवर्द्धन किया है। प्रोफेसर एम० लुबियान्सकी इस समय इस विषय पर तिब्बती स्रोतो से सामग्री एकत्र कर रहे हैं।

[३] सदस० पृ० ७।

[४] वही पृ० ३

इसके बाद इन लोगो ने एक अस्तव्यस्त व्यवस्था के अतिरिक्त जगत मे किसी अन्य प्रतिष्ठित व्यवस्था को अस्वीकार किया। ये किसी भी पूर्वस्थित, बाध्यकर, चिरन्तन नैतिक नियम को ग्रहण नही करते थे। इनका कथन था कि 'डण्डा' अर्थात् दण्ड-विधान ही कानून है। अत इन लोगो ने सासारिक शक्ति द्वारा एक अस्त-व्यस्त प्रतिफल के अतिरिक्त अन्य किसी प्रतिफल को अस्वीकार कर दिया। भारतीय भाषा मे कहे तो इन लोगो ने कर्मवाद को अस्वीकार किया। यह एक द्रष्टव्य तथ्य है कि भारत मे भौतिकवाद का प्रवर्तन और अध्ययन विशेषत राजनीतिक विचार-सम्प्रदायो द्वारा किया गया।[1] राजनीतिक व्यक्तियो ने, इस प्रकार अपनी अन्तरात्मा को हर प्रकार के नैतिक बन्धन से मुक्त करके, राजनीति मे एक व्यावसायिकतापूर्ण 'मैकिविली' नीति का उपदेश देना आरम्भ किया। इन लोगो ने स्वय अपने को धार्मिक बनाये बिना भी उन प्रतिष्ठित प्रचलनो की और उस धर्म की पुष्टि की जिन पर ये आधारित थे।[2] परन्तु भौतिकवाद न केवल हिन्दू समाज के शासक-वर्ग मे ही फूलता-फलता रहा, वरन् सार्वजनिक क्षेत्रो मे भी इसके समर्थक थे। बुद्ध के जीवनकाल मे ही भारत के ग्रामो मे विचरण करनेवाले छ सफल और लोकप्रिय उपदेशको मे से कम से कम दो भौतिकवादी थे।

भारतीय भौतिकवाद की एक अन्य विशेषता, जो यद्यपि पिछली का ही परिणाम है, यह है कि इसने व्यक्तिगत स्वार्थ के अतिरिक्त जीवन के अन्य किसी भी उच्च उद्देश्य को अस्वीकार किया। आत्मत्याग का विचार, उच्चादर्शों के लिये अपने स्वाथ या अपने जीवन तक के त्याग का विचार, जो बौद्धमत मे इतना प्रमुख है, इन लोगो को हास्यास्पद प्रतीत हुआ। यदि भारतीय भाषा मे कहे तो इन लोगो ने निर्वाण को अस्वीकार किया और कहा[3] कि 'तुम्हारी मत्यु ही तुम्हारा निर्वाण है', इसके अतिरिक्त और कुछ नही।

आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करने मे बौद्धमत भी भौनिकवादियो के ही समकक्ष है। परन्तु कर्म और निर्वाण की स्वीकृति की दृष्टि से इसका (बौद्धमत का) भौतिकवादियो से अन्तर है।

२. जैनमत

दूसरी ओर, जैनमत मे बौद्धमत को साक्लेश-व्यावदानिक धर्म के एक

---

[1] जैसे बार्हस्पत्यो, औशनसो, इत्यादि द्वारा।

[2] तुकी० कौटिल्य, १ ३९–४०।

[3] सदस० पृ० ७।

अवस्था से आरम्भ होनेवाला माना गया है। तदनन्तर एक उद्भवात्मक 'परिणाम' आरम्भ होता है। तव प्रधान या मूलप्रकृति कभी शान्त नही रहती, उसमे सतत, प्रतिक्षण,[१] परिवर्तन होता रहता है, किन्तु अन्त मे वह पुन एक शान्त और साम्यावस्था को प्राप्त होती है। इस प्रधान के अन्तर्गत न केवल मानव शरीर ही, वरन् समस्त बौद्धिक अवस्थाये भी आ जाती है क्योकि इन्हे भी जडमूलक ही माना गया है। आत्माये केवल एक विशुद्ध अपरिवर्तनशील प्रकाश को व्यक्त करती हैं जो उद्भवात्मक परिणाम, और साथ ही साथ, बुद्धि-व्यापार को प्रकाशित करती है। इस सतत परिवर्तन-शील प्रधान या प्रकृति, और सर्वथा साम्यावस्था मे स्थित प्रधान का परस्पर सम्बन्ध इस मत का सर्वाधिक क्षीण पक्ष है। बौद्धो ने इस कृत्रिम रूप से स्थापित सम्बन्ध को ध्वस्त करते हुए इसका उपहास किया है।[२] इस सृष्टि-क्रम का आरम्भ और अन्त भी अव्याख्येय रह जाता है, क्योकि जो व्याख्या दी गई है वह अत्यन्त अशक्त है। परन्तु एक ऐसे शाश्वत प्रधान का विचार जो कभी निष्क्रिय नही रहता और एक रूप से दूसरे मे उद्भूत होता रहता है, इस मत का अत्यन्त शक्तिशाली पक्ष है। इस मत के दार्शनिको के लिये यह प्रशसनीय है कि मानव चिन्तन के इतिहास के इतने आरम्भिक समय मे भी इन लोगो ने ऐसे शाश्वत तत्त्व के विचार का इतनी स्पष्टता से प्रति-पादन किया जो कभी भी निष्क्रिय नही रहता।

इस दृष्टि से बौद्ध, साख्यो के अत्यन्त निकट थे। ये लोग भी इस बात का उपदेश दे रहे थे कि जिस भी वस्तु का अस्तित्व है वह कभी निष्क्रिय नही रहती और इसलिये ये लोग इस बात के लिये सदैव सतर्क[३] रहे कि दोनो मतो के आधारभूत अन्तर दृष्टि से ओझल न हो, क्योकि इस विशिष्टता ने दोनो को परस्पर बहुत निकट ला दिया था। क्षणिकवाद[४] सम्बन्धी विचार को ग्रहण करने मे इन दोनो ही मतो मे निर्धारण योग्य अन्यान्य प्रभाव लक्षित होते है। बौद्धो के सर्वक्षणिकवाद सम्बन्धी सिद्धान्त का विश्लेषण करते समय हम पुन इस विषय पर लौटेंगे। परन्तु यहाँ हमे यह उल्लेख कर देना चाहिये कि बौद्धो ने प्रधान या प्रकृति के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार किया है। इन लोगो के अनुसार सतत क्षणो से ही गति का निर्माण होता है।

---

[१] प्रतिक्षण परिणाम

[२] तुकी० न्यावि० और न्याबिटी० का अनुवाद, नीचे, भाग २,

[३] तुकी० अभिभा०, ५ २५ और बाद, तथा सेक०, पृ० ८०।

[४] तुकी० सेक० पृ० ४२ और बाद

अर्थात् गति क्षिप्रस्पष्ट होती है, शक्ति या सस्कृत धर्म के प्रवाह के क्षण-क्षण का सातत्य होती है। साख्यों की दृष्टि से गति सुसहत होती है। यह एक ऐसी स्पष्ट प्रवाहमान गति होती है जिसमे क्षणिक परिवर्तन उस निरन्तर गतिशील प्रधान के परिवर्तन होते है जिसके साथ इसका तादात्म्य होता है। बौद्ध कहते हैं कि 'सब कुछ अनित्य[1] है' क्योकि किसी भी वस्तु का अस्तित्व नही। साख्य कहते हैं कि 'सब कुछ नित्य है'[2] क्योकि कभी भी निष्क्रिय न होते हुये भी यह आधारभूत रूप से एक ही और उसी वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है।[3]

दोनो मतो मे एक समान प्रवृत्ति किसी भी अस्तित्व के विश्लेषण को उसके ऐसे सूक्ष्मतम, अन्तिम धर्म तक ले जाना है जिसकी निरपेक्ष गुण के रूप मे अथवा केवल एक अद्वितीय गुण से युक्त वस्तु के रूप मे कल्पना की गई है। इन्हे दोनो ही मतो मे एक निरपेक्ष गुण के आशय मे 'गुण-धर्म' कहा गया है जो एक प्रकार की ऐसी परमाणविक या अन्त आणविक शक्ति है जिससे समस्त अनुभूत वस्तुये निर्मित है। अत दोनो ही मत प्रधान और गुण[4] के वर्गो की वस्तुनिष्ठ यथार्थता और उन्हे सयुक्त करनेवाले अन्तर्वर्त्ती सम्बन्ध को अस्वीकार करते है। साख्यदर्शन मे गुणों का पृथक् अस्तित्व नही है। जिसे हम गुण कहते हैं वह एक सूक्ष्म तत्त्व का विशेष प्राकट्य मात्र होता है। गुण की प्रत्येक नूतन इकाई उस पदार्थ के एक सूक्ष्म परिमाण के अनुरूप होती है जिसे 'गुण' कहते है किन्तु यह एक सूक्ष्म द्रव्य को व्यक्त करती है। आरम्भिक बौद्धदर्शन के लिये भी ऐसा ही कहा जा सकता है जहाँ सभी गुण विद्यमान द्रव्य[5], अथवा अधिक उपयुक्तत गत्यात्मक तत्त्व है, यद्यपि इन्हे 'धर्म' भी कहा गया है।

---

[1] 'सर्वम् अनित्यम्', तुकी० न्यासू० ४ १,२५ और बाद।

[2] 'सर्वम् नित्यम्', तुकी० वही ४ १,२९ और बाद, इस विभेद के विपरीत भी दोनो मत 'क्षणिकत्व' का प्रतिपादन करते है।

[3] कारण और परिणाम दोनो ही एक ही वस्तु होते है 'सत्-कार्य-वाद'।

[4] तुकी० एस० एन० दास गुप्ता हिस्ट्री, १, पृ० २४३–४ आप साख्यो के 'गुण' की हरबार्ट के 'रीयल्स' के साथ तुलना करते है, जो तुलना मेरी दृष्टि मे बहुत कुछ समीचीन है। 'गुण' तथा 'धर्म' दोनो ही वास्तव मे 'Dinge mit absolut einfacher Qualitat' है।

[5] तुकी० यशोमित्र की टिप्पणी 'विद्यमानम् द्रव्यम्' (सेक०, पृ० २६, नोट), किन्तु 'द्रव्यम्' यहाँ 'क्षणिकम्' है।

इस प्रकार हम साख्यदर्शन को भारतीय चिन्तन के सरल यथार्थवाद के विरुद्ध प्रथम गम्भीर प्रयास मान सकते है। अतियथार्थवादी पद्धतियो के विरुद्ध अपने सघर्ष मे यह बौद्धदर्शन का सहयोगी बन गया।

४. योगदर्शन

ध्यानस्थ समाधि के लिये योगाभ्यास प्राचीन भारत के धार्मिक जीवन की एक अत्यन्त लोकप्रिय विशेषता थी, और मीमासको तथा भौतिकवादियो को छोडकर सभी दार्शनिक सम्प्रदाय अपने मे रहस्यवादिता लाने के लिये इसके सिद्धान्तो को ग्रहण करने के लिये प्राय विवश थे। कुछ विद्वानो ने उन विशिष्टताओ के महत्त्व को अतिरञ्जित कर दिया है जो बौद्धदर्शन तथा योगदर्शन के विभिन्न सम्प्रदायो मे समान रूप से वर्तमान हैं। इन दोनो ही मतो का व्यावहारिक पक्ष, अर्थात् तपस्या और समाधिस्थ ध्यान का अभ्यास, इनकी नैतिक शिक्षायें, कर्मवाद, साक्लेशक और व्यावदानिक धर्म, अनेक दृष्टियो से समान हैं, परन्तु जैनो तथा अनेक अन्य मतो के साथ भी यह साम्य लक्षित होता है। पातञ्जल योग की सत्त्वमीमासा प्राय सम्पूर्ण रूप से साख्य से गृहीत है। किन्तु प्राचीन योग-सम्प्रदाय, स्वायम्भुव योग[१], ने अपने अस्थायी किन्तु यथार्थ गुणा सहित एक स्थायी पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इसने द्रव्य से गुण के सम्बन्ध की यथार्थता को, और प्रत्यक्षत, अपने सत्त्वमीमासा, मनोविज्ञान तथा धर्मदर्शन के लिये इस आधारभूत सिद्धान्त का जो परिणाम हुआ होग उसको, स्वीकार किया है। इसने बिना विरोधाभास के ही योगो को प्राचीन भारत मे एकेश्वरवाद का प्रवर्तक बना दिया। ये एक व्यक्तिगत, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, और अनुग्रही इश्वर मे विश्वास करते थे। केवल यही विशिष्टता इन्हे न केवल बौद्धो से, वरन् समान रूप से नास्तिक साख्यो[२] से भी पृथक् करती है। एक अनेकान्त पद्धति के रूप मे वास्तविक प्राचीन योग-सम्प्रदाय का इन दो एकान्त सम्प्रदायो के साथ कदाचित ही

---

[१] ये स्वायम्भुव योगी सभी सत्कार्यवादी नही थे, अथवा यदि थे भी तो अनेकान्तत और उसी मात्रा मे जितना कि सभी यथार्थवादियो को कहा जा सकता है। तुकी० न्याकणि० पृ० ३२, और ताटी० ४२८ २० और वाद। इस निष्कर्ष की लेशमात्र भी आवश्यकता नही कि न्यासू० मे वात्स्यायन द्वारा उल्लिखित योग पातञ्जल योग ही था जैसा कि श्री के० चट्टोपाध्याय, जएसो० १९२७ पृ० ८५४ और बाद, प्रत्यक्षत मानते हैं।

[२] उन सभी विरोधाभासो के आधार पर जो एक व्यक्तिगत ईश्वर को मानने से पातञ्जलो मे आ गये हैं, तुकी० तुक्सेन योग, पृ० ६२ और वाद।

कोई साम्य हो सकता है। किन्तु उनका व्यावहारिक योग तथा कर्मवाद अधिकांश भारतीय मतों की समान निधि है। यहां तक कि बाद के बौद्ध नैय्यायिक, आलोचनात्मक विचार-पद्धति के प्रति अपनी पराङ्मुखता के विपरीत भी पूर्ण योग-रहस्यवाद के प्रवेश के लिये कुछ छिद्र छोड देने के लिये, और इस प्रकार, अर्हत या बुद्ध-सम्बन्धी धार्मिक सिद्धान्त की पुष्टि के लिये विवश थे। यह छिद्र एक प्रकार का योगि-प्रत्यक्ष था जिसका प्रत्यक्ष ध्यान के लिये एक उपहार के रूप में वर्णन किया गया है। यह मानो इन्द्रियों के सम्मुख जगत् की उस अवस्था को उपस्थित कर देना है जो, अमूर्त और अस्पष्ट रूप से, दार्शनिक के लिये न्यायशास्त्र का एक अनिवार्य परिणाम है। बाद के आदर्शवादी बौद्धदर्शन में भूतार्थ का यह योगि-प्रत्यक्ष ही प्राचीन रहस्यवाद का प्रमुख अवशेष रह गया। आरम्भिक बौद्ध दर्शन में यह निर्वाण के पथ का अन्तिम और सार्वधिक शक्तिशाली स्तर था जिसका उद्देश्य अलौकिक परिणाम प्राप्त करना था।

५ वेदान्त

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हेतुत्व, जो पृथक् पृथक् धर्मों की एकमात्र शृङ्खला है, द्रव्यीभूत हो जाता है, यह जगत का वह अद्वितीय द्रव्य बन जाता है जिसमे पूर्व समय के समस्त पृथक्-पृथक् धर्म विलीन होकर स्वय अपनी किसी यथार्थता से 'शून्य' हो जाते हैं। अत्यन्त बहुत्ववाद की एक सर्वाधिक मनोरञ्जक पद्धति को उत्पन्न करने के बाद, एकत्ववाद के विरुद्ध विद्रोह की भावना जीवित नही रह सकी। यह भारतीय एकत्ववाद को नष्ट नहीं कर सकी जिससे वह अचल रहा, क्योकि उसकी जडे ब्राह्मण धर्म की सुदृढ भूमि मे गहरी धँसी थी। दूसरी ओर, एकत्ववाद ने आक्रामक प्रवृत्ति अपनाया और अन्त मे बौद्ध दर्शन के हृदय मे ही अपने को सफलतापूर्वक स्थापित कर लिया। नवीन भूमि पर स्थापित होकर, प्राचीन एकत्वाद ने अनेक मतो के शक्तिशाली विकासो को प्रोत्साहित किया। नागार्जुन और देव के सम्प्रदायो मे इसने एक प्रकार से अन्य सभी सम्प्रदायो के तार्किक विनाश के रूप मे एक तार्किक आधार प्राप्त किया। असङ्ग तथा वसुवन्धु के सम्प्रदायो मे यह आदर्शवाद की एक पद्धति के रूप मे स्थापित हो गया और अन्त मे दिङ्नाग तथा धमकीर्ति के सम्प्रदायो मे इसकी न्याय और ज्ञानमीमासा की आलोचनात्मक पद्धति के रूप मे स्थापना हुई। तार्किक प्रतिवाद के इस प्रचुर विकास ने अपनी ओर से स्वभावत प्राचीन एकत्ववादी वर्ग को भी प्रभावित किया, और हम गौडपाद को बौद्धदर्शन को अपने अनुगामी के रूप मे स्वीकार करते हुये, तथा वेदान्त के एक नवीम सम्प्रदाय की स्थापना करते हुये देखते है।[1] उचित स्वीकृति की इस भावना का शङ्कराचार्य के व्यक्तित्व मे, एक साम्प्रदायिक द्वेष तथा यहाँ तक कि अत्यन्त घृणा की भावना से, अधिक्रमण हो गया, तथापि बाद मे, हम इसी सम्प्रदाय मे श्रीहर्ष[2] जैसे एक व्यक्ति को उदारतापूर्वक यह स्वीकार करते हुये पाते है कि उनके तथा मध्यमिको के दृष्टिकोणो मे नगण्य-सा ही विभेद है।

अत इस प्रकार, बौद्धदर्शन और वेदान्त भारतीय दर्शन के इतिहास मे परस्पर ऋणी प्रतीत होते हैं।

६. मीमासा

मीमासक प्राचीन ब्राह्मणवादी यज्ञीय-धर्म के सर्वाधिक परम्परानिष्ठ आस्तिक दार्शनिक थे। ये लोग यज्ञनिष्ठ चिन्तन के अतिरिक्त अन्य किसी

[1] तुकी० माण्डूक्योपनिषद्-कारिका, ४, तुकी० एस० एन० दासगुप्ता 'हिस्ट्री, भाग १, पृ० ४२२ और बाद।

[2] तुकी० खण्डन-खण्ड-खाद्य, पृ० १९ और २९ (चौखम्बा)। 'माध्यमिकादि-वाग्-व्यहाराणाम् स्वरूपापलापो न शक्यत इति।'

भी प्रकार के विचार के विरुद्ध थे। श्रुति अथवा वेद इनके लिये यज्ञ-सम्बन्धी लगभग ७० उत्पत्ति-विधियो और उनके द्वारा प्राप्त फल-विधियो के सग्रह मात्र है। इस दर्शन मे कोई धार्मिक सवेग नही, कोई नैतिक उत्कर्ष नही, सब कुछ केवल इस सिद्धान्त पर आधारित है ब्राह्मण को उसकी दक्षिण दो और तुम्हे फल मिलेगा। फिर भी, इस व्यवमायवत् धर्म की सुरक्षा के लिये ये आवश्यकतावश ही प्रेरित हुये, और वेद के प्रामाण्य को शक्तिशाली बनाने के लिये इन लोगो ने वाणीरुपी ध्वनि की नित्यता के सिद्धान्त की कल्पना की। 'गकारादि', जिनसे हमारी वाणी निर्मित है, इस सिद्धान्त के अनुसार उस प्रकार की ध्वनियाँ नही है जैसी अन्य ध्वनियाँ या निनाद होते है।[1] ये स्वय अपनी विशिष्टता से युक्त, नित्य और सर्ववर्ती द्रव्य है, किन्तु प्रासगिक प्राकट्य के अतिरिक्त साधारण व्यक्तियो के लिये अगोचर रहती है। जिस प्रकार प्रकाश किसी वस्तु को उत्पन्न नही करता वरन् जिस वस्तु पर पडता है उसे केवल प्रकाशित मात्र कर देता है, उसी प्रकार हमारी वाणी भी वेद की ध्वनि को उत्पन्न नही वरन् केवल उसे प्रकट मात्र करती है। इस अनुपपन्न विचार का, जिसपर अन्य सभी शास्त्रीय और अशास्त्रीय सम्प्रदायों ने आक्रमण किया है, मीमासको ने आसाधारण तर्कसूक्ष्मतापूर्ण युक्तियो और उपपत्याभासो द्वारा समर्थन किया है। इसने प्रत्यक्षत इनके समस्त विचार-कौशल को क्षीण कर दिया, क्योकि अन्य सभी समस्याओ के प्रति इन लोगो ने सर्वाधिक निश्चित यथार्थवादी, तात्विकता-विरुद्ध और नकारात्मक स्थिति का अनुसरण किया है। कोई ईश्वर कर्त्ता नही, कोई सर्वज्ञ परमात्मा नही, कोई अर्हत नही, किसी भी प्रकार का योग नही, जगत् केवल वही है जो हमारी ज्ञानेन्द्रियो को प्रतीत होता है, उसके अतिरिक्त कुछ और नही। इसलिये, कोई अन्तर्जात विचार नही, कोई रचनात्मक ज्ञान नही, कोई मानसिक चित्र नही, कोई स्वसवेदना नही, केवल एक निराकार विज्ञान है, सवेदना और स्मृति का एक अलिखित पटल जो समस्त वाह्य अनुभवो को ग्रहण करके उन्हे सुरक्षित रखता है। अतियथार्थवाद की यही भावना, जो नित्य व्यक्त-ध्वनि के सिद्धान्त के रूप मे प्रगट हुई है, परिगणित फलो के सिद्धान्त के रूप मे भी सामने आती है। किसी भी जटिल यज्ञ के प्रत्येक आशिक कृत्य केवल आशिक फल[2] ही प्रदान करते है, और तब ये प्रत्येक

---

[1] भाट्ट-मीमासको के लिये 'ध्वनि' आकाश का गुण है। जैसे कि वैशेषिकों के लिये भी, किन्तु 'वर्ण' एक द्रव्य और नित्य है।

[2] भाग-अपूर्व।

फल एक साथ सयुक्त होकर वह समाहार-अपूर्व[1] या सम्मिलित फल प्रदान करते है जिसके लिये यज्ञ उद्दिष्ट होता है। अपने यथार्थवाद तथा अपने न्याय मे मीमासक, न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय से कदाचित ही विशेषणीय थे, परन्तु व्यक्त नित्य-ध्वनि की समस्या दोनो के बीच विवाद का विषय थी। उनके सर्वाधिक निश्चित विरोधी बौद्ध थे। दर्शन का कदाचित ही कोई ऐसा विषय है जिस पर इन दोनो सम्प्रदायो ने एक दूसरे के ठीक विपरीत मत न व्यक्त किया हो।

इन सभी दर्शन-सम्प्रदाओ मे, चाहे अपनी सत्त्वमीमासा मे ये कितने ही भिन्न रहे हो, एक विशेषता समान रूप से वर्तमान है, और वह यह कि इनका प्रत्यक्ष या ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त सामान्यत सरल यथार्थवाद के स्तर पर बना रहता है। यहाँ तक कि वेदान्त ने, अपने समस्त आध्यात्मिक एकत्ववाद के विपरीत भी, अनुभवात्मक स्तर पर, हमारे ज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक यथार्थवादी सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है। हम देखते हैं कि एक ही प्रकाश-किरण किसी वस्तु तक जाती है, और उसके स्वरूप को ग्रहण करके उसे पुन वैयक्तिक आत्मा के पास लाती है। यह तथ्य कि यह प्रकाश-किरण, यह आत्मा, और यह वैयक्तिक आत्मा एक ही तत्व है, इन दार्शनिको के विचार के यथार्थवादी अभ्यासो को अस्तव्यस्त नही करता।

इस यथार्थवादी ज्ञानमीमासा के सिद्धान्त का न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय ने विकास और समर्थन किया।

७. न्याय-वैशेषिक दर्शन

इन्ही यथार्थवादियो के न्याय का निर्णायक विरोध करने की भावना से बौद्ध न्याय का सृजन हुआ, और यत अपने अध्ययन के अन्तर्गत हमे इनके सम्प्रदाय का अक्सर उल्लेख करना होगा, अत इनके प्रमुख सिद्धान्तो का विवेचन यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

भारतीय यथार्थवादी यह मानते है कि हमे बाह्य ससार का उसकी वास्तविक यथार्थता के रूप मे ज्ञान होता है। न तो कोई निराकार विज्ञान है और न कोई प्राञ्च-प्रत्यय[2]। बोध करनेवाले व्यक्ति मे सभी कुछ बाह्य जगत से आता है। समस्त ज्ञान हमारी इन्द्रियो[3] द्वारा बोध करनेवाली आत्मा मे पहुँचाये गये अनुभव होते है, जहाँ पहुँचने पर ये समाकलित होकर पूर्व अनुभव

---

[1] तुकी० गोल्डस्टूकर की डिक्शनरी मे 'अपूर्व'।

[2] 'प्राञ्च प्रत्यया, न प्रत्यञ्च', न्याकणि० पृ० २६७।

[3] त्रिविध-सन्निकर्ष।

के चिह्नो के रूप मे सुरक्षित रहते है। ये प्रसुप्त चिह्न या सस्कार (= स्मृति जनक सामग्री) अनुकूल परिस्थियो मे पुनर्जागृत होने तथा स्मृति उत्पन्न करने की क्षमता रखते है, और नवीन अनुभवो के साथ मिश्रित होकर सविकल्पक प्रत्यक्षो का सृजन करते है। चेतना या विज्ञान विशुद्ध चेतना या निराकार विज्ञान होता है। इसमे किसी प्रकार की प्रतिमाये नही होती, किन्तु यह ज्ञान के प्रकाश द्वारा बाह्य वास्तविकता का मनन करता है या उसको प्रत्यक्ष रूप मे प्रकाशित करता है। यह चक्षु-विषयक वस्तु पर चेतना का एक विशुद्ध प्रकाश डालता है। इन्द्रियेन्द्रिय प्रकाश की एक ऐसी किरण होती है जो वस्तु तक पहुँच कर[1] उसके रूप को ग्रहण करती है और उसे बोध करनेवाली आत्मा तक सचरित कर देती है। बाह्य वास्तविकता तथा उसके बोध के बीच मे किसी प्रकार की प्रतिमाये नही होती। अत बोध स्वसवेदना नही[2], यह प्रतिमाओ का बोध नही करता बल्कि बाह्य वास्तविकता, या स्वय वास्तविकता का बोध करता है। आत्मचेतना की किसी व्यक्ति मे ज्ञान की ज्ञाततावशात्[3] उपस्थिति के रूप मे, अथवा अनुव्यवसाय के रूप मे व्याख्या की गई है। बाह्य ससार का आकार उसके हमारे ज्ञान मे और हमारी भाषा के पदार्थो मे उपलब्ध स्वरूप के सर्वथा अनुरूप होता है। वह ऐसे द्रव्यो और इन्द्रियगोचर गुणो से निर्मित होता है जिन्हे हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ग्रहण कर सकती है। गुण वास्तविक द्रव्यो मे व्याप्त होते है। इसी प्रकार समस्त कर्म भी स्वयमेव वास्तविकताये होते है जो तत्सम्बन्धी द्रव्यो मे व्याप्त होते है। सामान्यता भी बाह्य वास्तविकता, एक ऐसी वास्तविकता होती है जो समवाय सज्ञक विशेष प्रकार के सम्बन्ध के आधार पर उन वस्तुओ से सम्बद्ध होती है जिनमे वह निवास करती है। समवाय का यह सम्बन्ध द्रव्यीभूत और एक विशेष बाह्य वास्तविकता भी है। अन्य समस्त सम्बन्धो को तो गुणो के अन्तर्गत पदार्थो की सूची मे रक्खा गया है परन्तु समवाय एक ऐसा पदार्थ है जो सम्बद्ध वस्तुओ से भिन्न एक बाह्य वास्तविकता है। इस प्रकार ये सब मिलकर छ प्रकार के पदार्थ होते है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय। इनमे बाद मे एक सातवे पदार्थ, अभाव[4], को भी सम्मिलित कर दिया गया जो एक वास्तविक पदार्थ है

---

[1] प्राप्य-कारिन्।

[2] स्वसवेदनम् नास्ति।

[3] 'ज्ञातता-वशात्', तुकी० न्याकणि० पृ० २६७ १२।

[4] 'अभाव =अभाव इन्द्रियेण गृह्यते', तुकी० तर्कभाषा पृ० ३०, प्राचीन,

और विशेष प्रकार के ससर्ग से इन्द्रियग्राह्य होता है। हेतुत्व सृजनात्मक होता है, अर्थात् समवायि कारण और निमित्त कारण दोनो मिलकर किसी नवीन वास्तविकता का सृजन करते हैं जो एक नवीन अवयवी होता है, अर्थात् अपने पदार्थ की स्थायी उपस्थिति के विपरीत भी ऐसी वस्तु होता हैं जिसका पूर्व-अस्तित्व[1] नही था। यह अवयवी एक अन्य वास्तविक सत्ता और उन अवयवो से भिन्न होता है जो उसको निर्मित करते हैं। वाह्य ससार की यह सम्पूर्ण बनावट, इसका सम्बन्ध और हेतुत्व, सभी इन्द्रियो द्वारा वोधगम्य होता है। बुद्धि, अथवा विवेक विशेप माध्यमो द्वारा आत्मा मे उत्पन्न एक गुण है, आत्मा का सार या तत्त्व नही। अनुमान के द्वारा यह उन्ही वस्तुओ का वोध करता है जिनका इन्द्रियो द्वारा बोध हो चुका होता है, किन्तु उनका यह स्पष्टता और विशिष्टता की उच्च मात्रा के द्वारा ही वोध करता है। यह सम्पूर्ण पद्धति, परिणामस्वरूप, व्यवहृत यथार्थवादी सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नही। यदि द्रव्य यथार्थ हैं, तो उनमे व्याप्त सामान्यता भी यथार्थ हैं। और उनके सम्बन्ध भी वाह्य वास्तविकता है। यदि यह सव कुछ यथार्थ या वास्तविक है, तो इसे समान रूप से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के भी वश्य होना चाहिये। इस सिद्धन्त की स्थापना की गई हैं कि जो इन्द्रिय किसी इन्द्रियगोचर वस्तु की उपस्थिति को ग्रहण करती है, वही उसमे समवेत गुण-क्रिया-सामान्यादि को और कभी-कभी वस्तु के अभाव को भी ग्रहण करती है।[2]

अनुमान सम्बन्धी सिद्धान्त और हेत्वानुमान का स्वरूप, दोनो ही, इन यथार्थवादी पद्धतियो मे इनके आधारभूत सम्पूर्ण यथार्थवाद के सर्वथा अनुकूल थे। कोई प्रागनुभव नही, कोई अनिवार्य सत्य नही, निगमन की कोई आवश्यकता नही। प्रत्येक निगमन पूर्व-अनुभव पर आधारित है और समस्त ज्ञान सामयिक है। पूर्व-अनुभव का परिणाम होने के कारण समस्त निश्चल समन्वय केवल वही तक पहुँचते है जहाँ तक अनुभव जाता है। तार्किक युक्ति और उसके परिणाम[3] के बीच कोई प्रागनुभवात्मक सम्बन्ध नही। अत

साख्य ने भी इसे ही स्वीकार किया है, तुकी० चक्रपाणि और चरक, ४ १, २८, यह एक 'विशेष्य-विशेषण-भाव-सन्निकर्ष' है।

[1] असत्-कार्यम् = पूर्वम् असत् कार्यम् = पूर्वम् असद् अवयवि।

[2] 'येन इन्द्रियेण वस्तुगृह्यते, तेन तत्—समवेत-गुण-क्रिया-सामान्यादि गृह्यते, तद्- अभावश् च', वही।

[3] योग्यता-सम्बन्ध = स्वभाव सम्बन्ध।

समस्त निश्चित समन्वय अनुभव पर, इन्द्रिय-ज्ञान पर, स्थापित होता है, अर्थात् यह किसी अनुभव के उपसंहार के रूप में स्थापित होता है।

परार्थानुमान पञ्चावयवी होता है। यह एक विशेष स्थिति से दूसरी विशेष स्थिति का निगमनिक सोपान होता है। अतः दृष्टान्त एक पृथक् अवयव की भूमिका सम्पन्न करता है। सामान्य व्याप्ति को, जिसका दृष्टान्त को एक निदर्शक होना चाहिए, दृष्टान्त में उसके ही अधीनस्थ अंग के रूप में सम्मिलित रक्खा जाता है। परार्थानुमान में पाँच अवयव होते हैं क्योंकि यह आगमनात्मक-निगमनात्मक होता है। ये अवयव यह हैं: प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण (व्याप्ति सहित), उपनय (=पक्षधर्मता), और निगमन (=अनुमिति), जैसे:

१ प्रतिज्ञा: पर्वत अग्निमान है।
२ हेतु: क्योंकि यह धूम से युक्त है।
३ उदाहरण: जैसा कि रसोई घर में होता, जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है।
४ उपनय: पर्वत धूम से युक्त है।
५ निगमन: अतः पर्वत अग्निमान है।

बाद में, सम्भवतः बौद्ध तत्त्वपरीक्षा से प्रभावित होकर मीमांसकों ने यह भी मान लिया कि या तो प्रथम तीन अवयव, अथवा अन्तिम तीन अवयव ही निगमन की स्थापना के लिये पर्याप्त हैं। अन्तिम तीन में से यदि हम उदाहरण को निकाल दें तो हमें बिल्कुल अरस्तू के परार्थानुमान का उदाहरण मिलेगा।

ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष के सिद्धान्त, तथा परार्थानुमान के सिद्धान्त और उसके उपलक्ष्य हेत्वाभास के सिद्धान्त के अतिरिक्त, आरम्भिक न्याय के ग्रन्थों में वाद-विवाद के लिये विस्तृत नियम, अर्थात् वाद-विधि के उपदेश भी मिलते हैं।

जब बौद्धों ने न्याय-विषयक समस्याओं में अपनी तीव्र रुचि को व्यक्त करना आरम्भ किया, तो उसके पहले ही न्याय-दर्शन में तर्कशास्त्रीय पद्धति विकसित हो चुकी थी। तदनन्तर बौद्ध मत ने अपने को आरम्भिक बौद्ध-पूर्व सामग्री में गूँथने का प्रयास किया। परन्तु तत्काल ही इन दोनों सर्वथा असंगत दृष्टिकोणों के बीच संघर्ष छिड़ गया। ब्राह्मणवादी न्याय औपचारिक और सरल यथार्थवाद के आधार पर निर्मित था। उस समय बौद्ध आलोचनात्मक आदर्शवादी बन गये और न्याय में उनकी रुचि भी औपचारिक नहीं वरन् दार्शनिक, अर्थात् ज्ञान-मीमांसात्मक हो गई। अतः न्यायशास्त्र में परिष्कार आवश्यक हो गया। यह कार्य दिङ्नाग ने किया।

§ ७ दिङ्नाग के पूर्व बौद्ध न्याय[1]

न्याय सम्प्रदाय के आधारभूत ग्रन्थ, गोतम के न्याय सूत्र मे कुछ शिथिल रूप से मिश्रित, वाद और तर्कशास्त्र सम्बन्धी नियम दिये गये हैं। इसका तर्कशास्त्रीय अश, वह अश जो अनुमान और परार्थानुमान से सम्बद्ध है, अपेक्षतया नगण्य है। यथार्थवादी सत्वमीमासा-पद्धति वैशेपिको जैसे सहयोगी सम्प्रदाय के सूत्रो मे निहित थी। प्रथम ग्रन्थ का अधिकाश भाग सार्वजनिक वाद की विभिन्न विधियो के वर्णन से सम्बद्ध है। वाद, छल, वितण्डा, जाति, हेत्वाभास, और अन्त मे उन समस्त स्थितियो का वर्णन है जहाँ निर्णायक को वादी के निग्रहस्थान का सकेत करना चाहिये। यह तो केवल परिष्कृत ब्राह्मणवादी न्याय मे ही इस अश का सर्वथा परित्याग कर दिया गया है और परार्थानुमान ने केन्द्रीय भूमिका प्राप्त कर ली है।

न्याय सूत्रो का समय या उनकी उत्पत्ति इस प्रकार ज्ञात नही कि उसे बिल्कुल निश्चित कहा जा सके।[2] अपने व्यवस्थित रूप मे न्यायशास्त्र अन्य भारतीय अभिजात दर्शनो की अपेक्षा बाद का है। किन्तु यह असम्भव नही कि वाद-कला की नियम-पुस्तिका के रूप मे बहुत आरम्भिक समय मे भी इसका अस्तित्व रहा हो। हीनयान बौद्ध सम्प्रदाय ने इस प्रकार की किसी नियमपुस्तिका को सुरक्षित नही रक्खा है, किन्तु इस प्रकार की पुस्तिकाओ का होना अत्यन्त सम्भाव्य है। आत्मा की यथार्थता से सम्बद्ध कथावत्थु के आरम्भिक वाद का कृत्रिमता तथा प्रत्येक प्रकार की तर्क-प्रणालियो की इतनी अधिक मात्रा के साथ सचालन किया गया है कि उससे ऐसी नियम-

---

[1] तुकी० इस विषय पर प्रोफेसर जे० टुची (जबसो०, जुलाई, १९२९, पृ० ४५१ और बाद) का उत्कृष्ट लेख। यह असङ्ग के, तथा अन्य कृतियो के न्याय-विषयक अशो से सम्बद्ध विवरणो से परिपूर्ण है। फिर भी, तर्कशास्त्र की विषय-सूची से सम्बद्ध इनकी सूचनाये ए० वोस्त्रिकोव और वी० वास्सीलेव द्वारा सग्रहीत सूचनाओ से मेल नही खाती।

[2] न्यायशास्त्र के पूर्व-इतिहास के लिये तुकी० एच० याकोबी० त्सु-फिल०, एस० सी० विद्याभूषण हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक, पृ० १-५०, और टुची प्री-दिङ्नाग टेक्स्ट्स, इन्ट्रो० पृ० XXVII। गौतम-अक्षपाद के न्याय सूत्र की सम्भाव्य तिथि के सम्बन्ध मे तुकी० एच० याकोबी. जअसो०, १९११, पृ० २९, एच० उइ दि वैशेषिक फिलासफी, पृ० १६ (रासो०), एल० सुआली फिलोसोफिया इण्डियाना, पृ० १४, डब्लू० रूवेन डी न्यायसूत्राज़, पृ० XII, एस० एन० दासगुप्ता हिस्ट्री, भाग १, पृ० २७७ और बाद, और मेरा अलॉ० २।

पुस्तिकाओं के अस्तित्व की सम्भावना व्यक्त होती है जिनसे वाद-कला की शिक्षा दी गई थी।[1] प्रतिज्ञा का परार्थानुमानात्मक प्रस्तुतीकरण उस समय सर्वथा अज्ञात था, किन्तु हर प्रकार की तार्किक कुशलताओं की प्रचुरता उपलब्ध थी।

वाद-कला सम्बन्धी जो दो प्राचीनतम बौद्ध ग्रन्थ तिब्बती अनुवाद के रूप में हम लोगों तक पहुँच सके हैं, वह है नागार्जुन के दो प्रबन्ध, 'विग्रह व्यावर्तिनी'[2] तथा 'वैदल्य-सूत्र और प्रकरण'।[3] ये दोनों ही प्रबन्ध उस अद्वितीय वाद-विधि की व्याख्या और समर्थन करते हैं जिसके द्वारा कुछ निश्चित सिद्ध करने का नहीं वरन् प्रतिपक्षी की प्रत्येक समर्थक प्रतिज्ञा की सापेक्षिकता के परीक्षण को व्यवहृत करके उसका तार्किक विध्वंस कर देने का प्रयास किया जाता है। ऐसी किसी भी वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं जो किसी न किसी प्रकार सापेक्षिक न हो, अत तार्किक प्रकृति का उद्घाटन करने पर प्रत्येक वस्तु की चरम यथार्थता को अस्वीकृत किया जा सकता है। इनमे से प्रथम प्रबन्ध न्याय सम्प्रदाय में प्रचलित प्रमाण की चार विधियों का उल्लेख करता है, और द्वितीय गौतम के प्रथम सूत्र का उद्धरण देता है जिसमें उस ग्रन्थ (न्याय सूत्र) में विवेचित १६ विषयों की गणना कराई गई है। अपनी आलोचनात्मक कुठार के प्रयोग द्वारा नागार्जुन इस बात की स्थापना करते हैं कि ये सभी १६ विषय सापेक्षिक और इसलिये अन्तत अयथार्थ हैं। ये तथ्य हमें यह मानने का अवसर प्रदान करते हैं कि न्याय-सम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ किसी न किसी रूप मे नागार्जुन के समय में वर्तमान था। ये इस परिकल्पना को भी प्रोत्साहित करते हैं कि इस प्रकार के प्रबन्ध हीनयान के आरम्भिक सम्प्रदायों में भी वर्तमान रहे होंगे, तथा नागार्जुन,

---

[1] श्रीमती सी० ए० एफ० रिज डेविड्स (एरिइ० मे बौद्धन्याय पर लेख) का भी यही विचार है। तुकी० विद्याभूषण हिस्ट्री, पृ० २२५-२५० (पालि वैदिक साहित्य मे न्यायिक ग्रन्थों के चिह्न के लिये), और पृ० १५७-१६३ (जैन वैधिक साहित्य मे भी ऐसे ग्रन्थों के लिये)।

[2] विग्रह-व्यावर्तिनी, तुकी० तञ्जूर, त्स भाग, चन्द्रकीर्ति द्वारा अनेक बार उद्धृत। विद्याभूषण द्वारा सारांश, उपु० पृ० २५०। विग्रह-व्यावर्तिनी अब टूची द्वारा उनके प्री-दिङ्नाग टेक्स्ट्स मे सस्कृत अनुवाद मे भी उपलब्ध है।

[3] वैदल्य सूत्र और प्रकरण, वही। प्रकरणो मे १६ पदार्थों की मीमांसा की गई है। इस कृति को 'प्रमाण-विहेठन' और 'प्रमाण-विध्वंसन' भी कहते हैं, तुकी० विद्याभूषण, उपु०, पृ० २५७। नागार्जुन की एक तृतीय कृति—तुकी० वही—सम्भवत कृत्रिम है।

सम्भवत इनकी रचना करनेवाले प्रथम बौद्ध नही थे। स्थिति जैसी भी रही हो, इतना तो स्पष्ट है कि नागार्जुन ने बौद्ध लेखको के तर्कशास्त्र को विशेष और पृथक लघु-पुस्तको मे प्रस्तुत करने की आदत को या तो आरम्भ अथवा उसका अनुसरण किया। इस समय के बाद से हम देखते हैं कि कुछ भी प्रसिद्धि वाला प्रत्येक लेखक वाद-विधि सम्बन्धी निर्देशो से युक्त अपनी तार्किक लघु-पुस्तिका की रचना करता है।

इसके बाद की शताब्दियो मे, बौद्धो ने न्याय की दिशा मे कोई प्रगति नही की। और यह सर्वथा स्वाभाविक भी है। जब तक नागार्जुन के विचारो का प्रामुख्य रहा, स्थिति इसके विपरीत हो भी कैसे सकती थी? परमसत्ता के ज्ञान के लिये समस्त न्याय की भर्त्सना की गई। अनुभवात्मक क्षेत्र मे व्यावहारिक उद्देश्यो के लिये नैयायिको के यथार्थवादी न्याय को सर्वथा सतोपजनक होने के रूप मे ग्रहण कर लिया गया।[1] इसकी तत्त्वपरीक्षा तथा इसमे सुधार की आवश्यकता का इस समय के बौद्धो पर उदय नही हुआ था। परन्तु एक नवीन युग के आरम्भ के साथ, जब नागार्जुन के अतिसापेक्षिकतापूर्ण दृष्टिकोण का परित्याग कर दिया गया, तब दो भ्राताओ, असङ्ग और वसुबन्धु ने न्याय के अध्ययन तथा इसे अपने दर्शन के आदर्शवादी आधारो के अनुकूल बनाने के कार्य का आरम्भ किया।

असङ्ग, सम्भवत वह प्रथम बौद्ध लेखक थे जिन्होने नैयायिको के पञ्चावयवी परार्थानुमान को बौद्ध क्षेत्र मे व्यवहारत प्रचलित किया। इन्होने वादकला के सम्बन्ध मे कुछ नियमो की भी स्थापना की जो न्याय सम्प्रदाय द्वारा निर्धारित नियमो से वस्तुत भिन्न नही थे। अत ये न्याय और तर्क के क्षेत्र मे बहुत मौलिक रहे नही प्रतीत होते।[2]

---

[1] गौतम और नागार्जुन के बीच वैसा ही सम्बन्ध प्रतीत होता है जैसा जैमिनि तथा बादरायण के बीच था जो परस्पर एक दूसरे को उद्धृत करते हैं, तुकी० विद्याभूषण, पृ० ४६–४७। साथ ही साथ, न्यायसूत्र १ १, १ मे 'वितण्डा' शब्द को हमे सम्भवत वाद की माध्यमिक-प्रासङ्गिक विधि के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ मे ग्रहण नही करना चाहिये। श्रीहर्ष, खण्डन० उत्था०, 'वैतडिक' शब्द का माध्यमिक के पर्याय के रूप मे प्रयोग करते हैं। यह निष्कर्ष निकलता है कि न्यायिक और माध्यमिक दोनो सम्प्रदाय प्रत्यक्षत गौतम और नागार्जुन से कही अधिक प्राचीन हैं।

[2] तुकी० विद्याभूषण इतिहास, पृ० २६२–२६६। इन्होने सप्तदशभूमिशास्त्र को मैत्रेय की रचना बताया है। तुकी० जे० टुची उपु०।

वसुवन्धु न्याय के एक प्रसिद्ध आचार्य थे। इन्होंने स्वयं तीन न्याय-ग्रन्थो की रचना की थी। इनका अनुवाद तिव्वती भाषा मे तो नही हुआ, परन्तु इनमे से एक का अपूर्ण चीनी अनुवाद उपलब्ध है।[१] इसके नाम, वाद-विधि, का अर्थ 'वाद की कला' है। इसके वर्तमान अशो को देखने पर नैयायिको के आधारभूत ग्रन्थ के साथ इसका घनिष्ट साम्य लक्षित होता है। महत्वपूर्ण विषय, ऐन्द्रिक-प्रत्यक्ष, तथा अनुमान की परिभाषाये और ध्वनि सम्वन्धी सिद्धान्त चीनी अनुवाद के सुरक्षित अशो मे नही मिलते, परन्तु इनका दिङ्नाग[२] ने उद्धरण दिया है। ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष की परिभाषा मे यह कह गया है कि ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष द्वारा उस ज्ञान को ग्रहण किया जाता है जो 'स्वय वस्तु से प्राप्त होता है'[3]। 'स्वय' पर इस जोर से अन्तिम यथार्थ वस्तु, उसकी नैमित्तिक यथार्थता, का वोध होता है। इसका वस्तु के उस स्वरूप मे अन्तर है जैसी की उसकी कल्पना-चित्र मे रचना होती है क्योकि ऐसी वस्तु मे केवल सवृत्ति-सत्य ही होता है। यह परिभाषा, जिसका शव्द-विन्यास उससे थोडा ही भिन्न है जो न्याय-सम्प्रदाय[४] मे प्रचलित है, फिर भी, वहुत

---

[१] इस जटिल समस्या पर तुकी० सुगिउरा, उपु० पृ० ३२, विद्याभूषण, उपु० २६७, आयङ्गर जवउसो० १२, पृ० ५८७–९१ और इहि०, भाग ५, पृ० ८१–८६, कीथ इहि० भाग ४, पृ० २२१–२२७, जे टुची जएसो० १९२८, पृ० ३६८, १९२९, पृ० ४५१, और इहि० भाग ४, पृ० ६३०। टुची का विचार है कि तर्कशास्त्र का वादविधि से कोई सम्वन्ध नही है। परन्तु बुद्धिस्ट रिसर्च इन्स्टीटयूट, लेनिनग्राड, मे पढे गये एक शोधनिवन्ध मे (जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा) श्री वोरिस वस्सीलेव ने यह स्थापना की है कि 'तर्कशास्त्र' मूलत' तर्कविद्या का एक तीन भागो का ग्रन्थ था (जु-शिह-लुन-तर्क-शास्त्र), जो अपनी वर्तमान अवस्था मे केवल एक खण्ड मे सग्रहीत अशो को ही व्यक्त करता है। उसी वैठक मे एक अन्य शोध-निवन्ध मे श्री ऐण्ड्-वोस्त्रिकोव यह स्थापना करते है कि (१) 'जु-शिह-लुन' सग्रह मे अव दो या तीन भिन्न कृतियो के अशो का सग्रह है जिनमे से एक वसुवन्धु की 'वादविधि' है, और (२) यह कि वसुवन्धु ने वादविधि, वाद-विधान, और वाद-हृदय नामक तीन ग्रन्थो की रचना की थी, जिनमे से द्वितीय ग्रन्थ प्रथम का संशोधित रूप है।

[२] प्रनमु०, १ १५ इत्यादि।

[3] तुकी० वाचस्पति की ताटी० पृ०, ९९ और वाद।

[४] 'ततोऽर्थाद् तत्पन्नम् = अर्थन्द्रिय-सन्निकर्ष-उत्पन्नम्' वही।

कुछ बौद्ध है। तथापि इसकी, अशुद्ध रूप से व्यक्त किये गये होने के रूप मे आलोचना करते हुये दिङ्नाग कहते हैं कि यह परिभाषा आचार्य वसुबन्धु की नही है। इस टिप्पणी ने समस्त परवर्ती व्याख्याओ को सभ्रमित कर दिया है। अपने विशालामलवती[1] मे जिनेन्द्रबुद्धि का विचार है कि इसका अर्थ है कि यह परिभाषा वैसी नही है जैसी वसुबन्धु ने अपनी प्रौढावस्था मे की होती जब उनकी आलोचनात्मक योग्यता मे पूर्णता आ चुकी थी, अर्थात् उन्होने इसकी उस समय रचना की थी जब अभी वह एक वैभाषिक थे। रग्यल-त्शब[2] का विचार है कि इस परिभाषा की इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है कि इससे वे परमाणु अभिप्रेत हैं जिनसे वस्तु निर्मित होती है, और यह वसुबन्धु के मौलिक आदर्शवाद के अनुकूल नही है। इस प्रकार दिङ्नाग की टिप्पणी का यह अर्थ होगा कि यह परिभाषा वैसी नही है जो आनुषगिक यथार्थवाद की दृष्टि से वसुबन्धु को करनी चाहिये थी। एक अन्य कृति—वाद विधान—मे, जिसके नाम का भी अर्थ तो वही है परन्तु स्वरूप मे कुछ भिन्नता है, यह माना गया है कि वसुबन्धु ने अपने नियम मे सशोधन किये हैं। किसी भी दशा मे, ऐन्द्रिक-प्रत्यक्ष की यह परिभाषा अनेक ब्राह्मणवादी न्याय-ग्रन्थो[3] मे सचरित हो गई है जहाँ इसे वसुबन्धु की मान कर इसकी आलोचना की गई है। परार्थानुमान, जिससे वसुबन्धु वाद-सचालन करते हैं, न्याय सम्प्रदाय का पञ्चावयवी परार्थानुमान ही है, यद्यपि जैसा कि अभिधर्मकोश के एक स्थल से प्रतीत होता है, ये कभी-कभी तीन-अवयवो वाले सक्षिप्त रूप का भी प्रयोग करते हैं।[4] नैयायिक हेतु का तीन पक्ष, निरपवाद सहचार के निर्धारण की यह बौद्ध-विधि, वसुबन्धु के ग्रन्थ मे भी वर्तमान है। हेतु और हेत्वाभास का वर्गीकरण उससे भिन्न है जिसे न्याय-सम्प्रदाय मे ग्रहण किया गया है, और सिद्धान्तत उसके अनुकूल है जिसे दिङ्नाग ने प्रवर्तित और धर्मकीर्ति ने विकसित किया है। यदि हम इतना और जोड दे कि विशुद्ध सवेदना के रूप

---

[1] तन्जूर म्दो, भाग ११५।

[2] प्रसमु० पर अपनी टीका मे, त्शद-म-न्तुस-दर-टिक, f २० a ५ और बाद

[3] न्यावा०, पृ० ४२, ताटी० पृ० ९९, परिशुद्धि पृ० ६४०—६५०, प्रो० बी० कीथ का विचार है कि यह परिभाषा वसुबन्धु के एक प्रखर तार्किक होने को असिद्ध नही करती (?), तुकी० इहि० भाग ४। सक्षेपोक्ति के समस्त तात्पर्य प्रत्यक्षत इनके ध्यान मे नही आ सके हैं।

[4] तुकी० मेरी 'सोल थ्योरी ऑफ दि बुद्धिस्ट्स', पृ० ९५२।

मे ऐन्द्रिक-प्रत्यक्ष की परिभाषा, जो दिङ्नाग का प्रणाली की इतनी स्वाभाविक विशिष्टता है, असङ्ग[1] की कृति मे पहले से मिलती है, तो हम इस निष्कर्ष से बच नहीं सकते कि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के महान तार्किक परिष्कार का आदर्शवादी पद्धति की आवश्यकताओ के अनुरूप यथार्थवादी औपचारिक न्यायशास्त्र के कार्य के अनुकूलन द्वारा मार्ग प्रशस्त किया गया था, और अनुकूलन के इस कार्य का आरम्भ असङ्ग और वसुबन्धु के सम्प्रदायो मे, या सम्भवत काफी पहले आरम्भ हुआ था।

§ ८ दिङ्नाग का जीवन

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के जीवन, जैसा कि तिब्बती इतिहासकार तारानाथ, बु-स्टोन, तथा अन्य ने अकित किया है, सर्वथा अविश्वसनीय पुराकथाशास्त्रीय विवरणो से इतने परिपूर्ण है कि इनसे सत्य के थोडे से अंशो का भी निर्धारण एक कठिन कार्य हो जाता है। फिर भी, कुछ ऐसे तथ्य हैं जिन्हे बहुत सम्भवत सत्य मान लेना चाहिए। सर्वप्रथम, इनमे इन आचार्यों की परम्परा, जाति तथा जन्मस्थान का तात्पर्य है। वसुबन्धु, दिङ्नाग के गुरु थे, परन्तु जब इनसे पाठ ग्रहण करने आये तो ये सम्भवत वृद्ध और एक प्रख्यात व्यक्ति हो चुके थे। धर्मकीर्ति सीधे दिङ्नाग के शिष्य नहीं थे। इन दोनो के बीच एक अन्य व्यक्ति, ईश्वरसेन भी हैं जो दिङ्नाग के शिष्य और धर्मकीर्ति के गुरु थे। अपने सम्प्रदाय के साहित्यिक इतिहास मे ईश्वर-सेन ने अपना कोई चिह्न नहीं छोडा है, यद्यपि धर्मकीर्ति ने इन्हे उद्धृत किया है और यह आक्षेप भी किया है कि इन्होने दिङ्नाग का मिथ्याग्रहण किया था। इस प्रकार हमे आचार्यों की यह परम्परा उपलब्ध होती है: वसुबन्धु-दिङ्नाग—ईश्वरसेन—धर्मकीर्ति।[2] यत धर्मकीर्ति ईसा की सातवी शताब्दी के मध्य मे हुये थे, अत वसुबन्धु चौथी शताब्दी[3] के अन्त मे पहले हुये नहीं हो सकते।

दोनो, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति, दक्षिण भारत के निवासी और ब्राह्मण माता-पिता की सन्तान थे। दिङ्नाग का जन्म काञ्ची के निकट हुआ था। ये

[1] टुची, इहि० भाग ४, पृ० ५५० मे। उत्तरतन्त्र, ४ ८६ मे 'स्वभाव-हेतु' का पहले से प्रयोग है।

[2] तुकी० तारानाथ का इतिहास।

[3] एम० नोएल पेरी ने वसुबन्धु की तीथि मे सम्बद्ध अपने उत्कृष्ट शोध-निबन्ध मे इनकी तिथि और पहले निर्धारित की है, परन्तु यह महान वसुबन्धु के नाम के साथ अभिको० मे उद्धृत और बोधिसत्त्व वसु के नाम से भी ज्ञात एक अन्य व्यक्ति इस वृद्धाचार्य-वसुबन्धु की अस्तव्यस्तता पर आधारित है जो शतशास्त्र के रचयिता और एक शताब्दी पूर्व हो चुके थे।

एक अल्प आयु मे ही वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय के एक आचार्य के द्वारा बौद्धधर्म मे परिवर्तित हो गये और उनसे दीक्षा ली। यह सम्प्रदाय पुद्गल का निर्माण करनेवाले धर्मों से भिन्न एक वास्तविक पुद्गल के अस्तित्व मे विश्वास करता था। दिङ्नाग ने अपने आचार्य से इस विषय पर असहमति प्रकट की और विहार छोडकर चले गये।[1] तदनन्तर इन्होने मगध मे वसुबन्धु के शिष्यत्व मे, जिनकी उस समय अत्यधिक प्रसिद्धि थी, अपना अध्ययन जारी रखने के लिये उत्तर की यात्रा की। बाद के बौद्धदर्शन के महान नामो मे वसुबन्धु का नाम एक असाधारण स्थान रखता है—ये महानो मे महानतम है। यही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्हे द्वितीय बुद्ध की उपाधि प्रदान की गई है। इनके उपदेश सर्वज्ञानसम्पन्न थे, जिनके अन्तर्गत इनके समय में भारत के समस्त शास्त्र सम्मिलित थे। इनके अनेक शिष्य थे परन्तु उनमे से चार ने ही प्रसिद्धि प्राप्त की। ये सब स्वतन्त्र पण्डित[2] हो गये, अर्थात् इन सब ने अपने आचार्य के प्रभाव से अपने को मुक्त कर लिया और प्रत्येक ने अध्ययन के अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र प्रगति की। इनके नाम ये हैं आचार्य स्थिरमति—आरम्भिक १८ सम्प्रदायो (अभिधर्म) की पद्धतियो के ज्ञान के क्षेत्र मे, अर्हत् विमुक्त-सेन—प्रज्ञापारमिता के क्षेत्र मे, आचार्य गुणप्रभ—विनय के क्षेत्र मे, और आचार्य दिङ्नाग—तर्कशास्त्र (प्रमाण) के क्षेत्र मे। इन सभी पण्डितो की कृतियाँ तिब्बती अनुवादो मे सुरक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि दिङ्नाग ने न्याय के विषयो पर उसी प्रकार अपने आचार्य से असहमति प्रगट की, जिस प्रकार ये पुद्गल की यथार्थता के विषय पर अपने प्रथम आचार्य से असहमति प्रगट कर चुके थे।[3]

---

[1] मणिमेखलै के विद्वान अनुवादक का विचार है कि काञ्ची प्रदेश के बौद्धो ने दिङ्नाग के पूर्व ही न्याय का अध्ययन किया हो सकता है। यत वात्सीपुत्रियो के सम्प्रदाय का वैशेषिको से कुछ साम्य है (तुकी० कमलशील, पृ० १३२ ६) अत यह असम्भाव्य नही कि दो प्रमाणो का सिद्धान्त, और प्रत्यक्ष की निर्विकल्प के रूप मे परिभाषा का अस्तित्व दिङ्नाग के बहुत पहले से कुछ हीनयान अथवा महायान सम्प्रदायो मे निश्चित रूप से रहा होगा। दिङ्नाग ने इन सूत्रो को नवीन व्याख्या प्रदान की, किन्तु ये अपनी पुष्टि मे स्वय ही सर्वास्तिवादियो के अभिधर्म के एक अश का उद्धरण देते है।

[2] रङ्-लस्-म्खस्-प।

[3] वसुबन्धु की ऐन्द्रिक-प्रत्यक्ष की परिभाषा पर इनकी टिप्पणी, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, सम्भवत इस तथ्य को व्यक्त करने की एक विनम्र विधि है कि ये अपने आचार्य से असहमत थे।

दो आरम्भिक कृतियाँ, छात्रोपयोगी दो लघु-पुस्तिकाये, सम्भवत इनके शिष्यत्व काल की ही हैं। इनमे से एक इनके आचार्य की प्रधान कृति का 'अभिधर्मकोश-मर्म-प्रदीप'[1] के नाम से एक साराश है। दूसरा स्मृत्युपकारक श्लोको मे अष्ट-साहस्रिक-प्रज्ञा-पारमिता सूत्र[2] के समस्त प्रसगो का पिण्डार्थ या सक्षेप है। प्रथम कृति आरम्भिक बौद्ध-दर्शन (अभिधम) की कक्षाओ के लिये रचित लघु पुस्तिका है, और दूसरी एकत्ववादी दर्शन (पारमिता) की कक्षा के लिये। दिङ्नाग की शेष सभी कृतियाँ न्याय से सम्बद्ध है।[3] सर्वप्रथम इन्होने छोटे-छोटे प्रबन्धो की शृङ्खला द्वारा उसके विचार को व्यक्त किया, जिनमे से कुछ तिब्बती और चीनी अनुवादो[4] मे सुरक्षित है। तदनन्तर इन सबको स्वय लेखक की टिप्पणी के साथ ६ अध्यायो के स्मृत्युपकारक श्लोको मे एक विशाल सग्रह, प्रमाण-समुच्चय, के रूप मे सश्लिष्ट कर दिया। फिर भी, टीका अत्यन्त सक्षिप्त है और उसका प्रयोजन, प्रत्यक्षत, अध्यापक का मार्ग-दर्शन करना है।[5] जिनेन्द्रबुद्धि की अत्यन्त विस्तृत, स्पष्ट और गम्भीर टीका के विना इसे कदाचित ही समझा जा सकता है। न्याय-विषयक पिछले सब छोटे-छोटे प्रबन्धो को इस महान कृति मे एक सश्लिष्ट रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

अध्ययन समाप्त कर चुकने के पश्चात दिङ्नाग का जीवन उसी सामान्य रूप मे व्यतीत हुआ जैसे उस समय के भारत मे सभी प्रसिद्ध आचार्यों का व्यतीत होता था। इन्होने एक शक्तिशाली नैयायिक के रूप मे अपनी प्रसिद्धि नालन्दा विहार मे सुदुर्जय नामक ब्राह्मण के साथ एक प्रसिद्ध वाद-विवाद मे

---

[1] तञ्जूर, म्दो, भाग ७०।

[2] तञ्जूर, म्दो, भा० १४।

[3] ये हैं आलम्बन-परीक्षा, त्रिकाल-परीक्षा, हेतु-चक्र-समर्थन (हेतु-चक्र-ड्रमरु ?), न्यायमुख (= न्याय-द्वार), प्रमाण-समुच्चय (वृत्ति सहित), और हेतुमुख (टी० एस० पी०, पृ० ३३९ १५)।

[4] यह उल्लेखनीय है कि इनकी प्रमुख कृति, प्रमाण-समुच्चय, चीन और जापान मे अज्ञात रही। इसे शङ्कर-स्वामी की एक कृति, न्याय-प्रवेश, ने स्थानान्तरित कर दिया जिसके लेखक के सम्बन्ध मे तुकी० एम० तुवियान्सकी। न्याय-प्रवेश के लेखक और टुची के लिये तुकी० उपु०। श्री वोरिस वस्सिल्येव ने उपरोल्लिखित अपने शोध-प्रवन्ध मे यह स्थापना की है कि चीनी तर्कशास्त्री केवल किंवदन्ती के आधार पर प्रमाण-समुच्चय से परिचित थे।

[5] जिसे विशालामलवती कहते हैं, तुकी० तञ्जूर, म्दो, भा० ११५। इसके एक नमूने का परिशिष्ट ४ मे अनुवाद दिया गया है।

प्राप्त की। इसके बाद ये एक विहार से दूसरे विहार की यात्रा और समय-समय पर इन्ही मे से एक मे निवास करते रहे। यहाँ ये उपदेश देते, ग्रन्थ-रचना करते, और वाद-विवादो मे भाग लेते रहे। इस प्रकार के वाद-विवाद प्राचीन भारत के सार्वजनिक जीवन की एक महत्वपूर्ण विशिष्टता थे। अक्सर इनका राजा, उसकी सभा और भिक्षुओ तथा दर्शको की उपस्थिति मे अत्यन्त तडक-भडक के साथ आयोजन होता था। इनमे किसी विहार का अस्तित्व और उसकी समृद्धि दाँव पर होती थी। आधिकारिक विजेता अपने सम्प्रदाय के लिये राजा और उसके शासक-वर्ग का समर्थन प्राप्त करता था, अनेक का धर्म-परिवर्तन कर दिया जाता था, तथा नवीन विहारो की स्थापना होती थी। आज भी तिब्बत और मगोलिया मे प्रत्येक प्रख्यात आचार्य अनेक मे से एक न एक विहार का सस्थापक होता है, तथा प्रत्येक विहार गहन विद्वत्ता और कभी-कभी महान पाण्डित्य का अधिष्ठान होता है।

वादो मे जो प्रसिद्धि प्राप्त हुई उसके कारण दिङ्नाग बौद्धमत के सर्वाधिक शक्तिशाली प्रचारको मे से एक हो गये। इन्हे दिग्विजय कर चुके होने का श्रेय दिया गया है। जिस प्रकार एक चक्रवर्ती सम्राट सम्पूर्ण भारत को अपने अधीनस्थ कर लेता है, उसी प्रकार सफल वाद-विजेता भी भारतीय उप-महाद्वीप के सम्पूर्ण क्षेत्र मे अपने मत का प्रचारक बन जाता है। काश्मीर ही भारत का एक ऐसा भाग प्रतीत होता है जहाँ ये नही गये, किन्तु इस देश के प्रतिनिधि भी इनके पास आये थे जिन्होने बाद मे वहाँ लौटकर इनके सम्प्रदायो की स्थापना की। ये सम्प्रदाय इनकी कृतियो के अध्ययन का कार्य करते रहे और इन्होने अनेक प्रख्यात नैयायिको को उत्पन्न किया।

§ ९ धर्मकीर्त्ति का जीवन

धर्मकीर्ति का जन्म दक्षिण मे, त्रिमलय (तिरुमल्ल ?) मे एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था और इन्होने ब्राह्मण धर्म की शिक्षा प्राप्त की। तदनन्तर इनकी बौद्धमत के प्रति रुचि हुई और आरम्भ मे ये एक साधारण व्यक्ति की भाँति ही इस धर्म का अनुसरण करते रहे। वसुबन्धु के किसी प्रत्यक्ष शिष्य से शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा से ये बौद्धमत के प्रख्यात पीठ, नालन्दा, आये जहाँ वसुबन्धु के एक शिष्य, धर्मपाल निवास करते थे। यद्यपि धर्मपाल अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे तथापि इन्होने उनसे दीक्षा ली। न्याय के विषयो मे अपनी अभिरुचि जाग्रत हो जाने और दिङ्नाग के जीवित न होने के कारण ये ईश्वर-सेन के पास आये जो उस महान नैयायिक के शिष्य थे। ये दिङ्नाग की पद्धति को समझने मे शीघ्र ही अपने गुरु से आगे निकल गये। ईश्वरसेन ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि धर्मकीर्ति स्वय उनकी अपेक्षा दिङ्नाग को

समझने मे अधिक सफल रहे। अपने गुरु की आज्ञा से धर्मकीर्ति ने तव स्मृत्युपकारक श्लोको मे दिङ्नाग की प्रमुख कृति पर एक वृहद् और विस्तृत टीका के रूप मे एक महान कृति की रचना आरम्भ की।

सदैव की भाँति इनका भी शेष जीवन ग्रन्थ-रचना, शिक्षा, वाद तथा सक्रिय धर्म प्रचार मे व्यतीत हुआ। कलिङ्ग मे इन्ही के द्वारा स्थापित एक विहार मे अपने शिष्यो के वीच इनकी मृत्यु हुई।

अपने प्रचार की विस्तृत परिधि तथा सफलता के विपरीत भी ये अपनी उद्गम-भूमि मे वौद्ध धर्म के आच्छन्न पतन की प्रक्रिया को केवल कुछ अवरुद्ध मात्र कर सके उसे सर्वथा रोकने मे असफल रहे। भारत मे वौद्धमत विनष्ट हो गया। यह सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न प्रचारक भी इतिहास की गति को परिवर्तित नही कर सका। ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के महान प्रवर्तक और वौद्धमत के विरोधी, कुमारिल और शङ्कराचार्य, का समय आ रहा था। परम्परा का कथन है कि धर्मकीर्ति ने इन लोगो से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त की थी। परन्तु यह केवल एक पश्चात-विचार और इनके शिष्यो की पवित्र भावना मात्र का द्योतक है। साथ ही साथ, यह इस वात की एक अप्रत्यक्ष स्वीकृति भी है कि इन महान ब्राह्मण आचार्यो का किसी भी ऐसे धर्मकीर्ति से सामना नही हुआ जो उनका विरोध करता। कदाचित् हम इस वात को कभी भी पूर्णरूपेण नही जान सकते कि वौद्धमत के भारत मे पतन तथा सीमावर्ती देशो मे प्रचलन के गहनतम कारण क्या है, परन्तु इतिहासकार हमे यह वताने मे सर्वसम्मत है कि धर्मकीर्ति के समय मे वौद्धमत अपने उत्थान पर नही था। वह उस समृद्धि की अवस्था मे नही था जैसा कि दोनो भ्राताओ, असङ्ग और वसुवन्धु के समय मे था। सर्वसामान्य लोगो ने इस दार्शनिक, आलोचनात्मक और निराशावादी धर्म की ओर से पराङ्मुख होना आरम्भ कर दिया और पुन महान ब्राह्मण देवताओ की उपासना करने लगे। इस वौद्धमत का उत्तर की ओर देशान्तरण आरम्भ हुआ जहाँ इसने तिव्वत, मगोलिया तथा अन्य देशो मे एक नवीन आवास प्राप्त किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति को उनके धर्म के भारत मे होनवाले दुर्भाग्य का कुछ पूर्वाभास मिल गया था। उन्हे ऐसे शिष्यो के अभाव से भी दु ख था जो उनके सिद्धान्तो को समझ सकते और जिन्हे वे अपने कार्य को आगे चलाते रहने का उत्तरदायित्व दे सकते। जिस प्रकार दिङ्नाग का कोई प्रसिद्ध शिष्य नही था और उनके कार्य को आगे वढानेवाले का एक पीढी के वाद आविर्भाव हुआ, उसी प्रकार धर्मकीर्ति के वास्तविक उत्तराधिकारी के रूप मे धर्मोत्तर जैसे व्यक्तित्व का भी एक पीढी के वाद आविर्भाव हुआ।

सीधे इनके (धर्मकीर्ति के) शिष्य देवेन्द्रबुद्धि यद्यपि एक परिश्रमी तथा भक्ति रखनेवाले अनुयायी थे, तथापि वोधातिरिक्त ज्ञानमीमासा विषयक दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति की पद्धतियो के समस्त पक्षो को पूर्णतया हृदयगम कर सकने के लिये इनकी मानसिक क्षमता अपर्याप्त थी। कुछ श्लोक, जिनमे धर्मकीर्ति ने अपने हृदय के गहन भावो की अभिव्यक्ति की है, उनकी इस दिशा मे निराशा की भावना को व्यक्त करते हैं।

इनकी महान कृति के द्वितीय प्रास्ताविक श्लोक को किसी आलोचक के उत्तर के रूप मे बाद मे जोड दिया गया माना जाता है। यहां ये यह कहते हैं "मनुष्य अधिकाशत नीरसताओ मे ही लिप्त हैं, वे नैपुण्य की इच्छा नहीं करते। इतना ही नही कि वे गूढोक्तियो की कोई परवाह नही करते, वल्कि वे घृणा और ईर्ष्या के मालिन्य से भी पूर्ण है। इसीलिये मैं भी उनके हित के लिये कुछ लिखने की चिन्ता नही करता। फिर भी, मेरे हृदय को मेरी इस कृति मे सतोष मिला है, क्योकि इसके द्वारा भली-भाँति उच्चरित प्रत्येक शब्द पर गहन और दीर्घ मनन का मेरा प्रेम तृप्त हुआ है।"

और, इसी कृति के अन्तिम से एक पहले के श्लोक मे ये, पुन, यह कहते है "मेरी कृति को ससार मे कोई भी व्यक्ति नही मिलेगा जो इसकी गूढोक्तियो को सरलतापूर्वक समझ सकने के योग्य हो। इसको मैं ही आत्म-सात करूँगा और यह मेरे ही व्यक्तित्व मे उसी प्रकार विलीन हो जायगी जिस प्रकार एक नदी[१] सागर मे हो जाती है। ऐसे व्यक्ति भी, जो विवेकशक्ति की पर्याप्त प्रतिभा से सम्पन्न है, इसकी गहनता का पार नही पा सकते। ऐसे लोग भी जिनमे विचारो का आसाधारण धैर्य है उन्हे भी इसके उच्चतम सत्यो का प्रत्यक्ष नही हो सकता।"[२]

एक अन्य श्लोक भी सग्रहो मे मिलता है जिसे अनुमान के आधार पर धर्मकीर्ति की रचना बताया गया है क्योकि इसमे भी वही भाव है। कवि

---

[१] तिब्बती अवनुाद 'पय इव' के स्थान पर 'सरिद् इव' पाठ की ओर सकेत करता प्रतीत होता है।

[२] अभिनवगुप्त ने इन शब्दो मे जो श्लेष देखा है, वह लेखक द्वारा उद्दिष्ट नही प्रतीत होता। भाष्यकारो ने इसका उल्लेख नही किया है। तु० की ध्वन्यालोक टीका, पृ० २१७। यमारि की व्याख्या के अनुसार 'अनल्प-धी-शक्तिभि' शब्द का 'अ-धी' और 'अल्प-धी-शक्तिभि' के रूप मे विश्लेषण किया जाना चाहिये। अर्थ यह होगा "इस गहराई का ऐसे व्यक्ति किस प्रकार पता लगा सकते हैं जिनकी समझ थोडी या नही के बराबर है?", और इससे देवेन्द्रबुद्धि की ही अक्षमता का सन्दर्भ होगा।

अपनी कृति की एक ऐसी सुन्दरी से तुलना करता है जो उचित वर नही प्राप्त कर सकी। "जब कर्त्ता ने इस सुन्दरी के शरीर की रचना की तो वह क्या सोच रहा था! उसने सौन्दर्य-साधनो का उदारतापूर्वक उपयोग किया है! उसने परिश्रम मे भी कोई कसर उठा नही रक्खी! उसने ऐसे लोगो के हृदयो मे एक मानसिक व्यथा का भी सचार कर दिया जो अब तक नीरस जीवन व्यतीत कर रहे थे! और वह सुन्दरी भी अत्यन्त दुखी है क्योकि उसे कभी योग्य वर नही मिलेगा।"

व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से धर्मकीर्ति को अत्यन्त अभिमानी, आत्मावलम्बी, साधारण मनुष्यो के प्रति अनादर की भावना से पूर्ण, और पाण्डित्य-प्रदर्शक व्यक्ति कहा गया है।[1] तारानाथ यह बताते है कि जब इन्होने अपनी महान् कृति को समाप्त कर लिया तो उसे पण्डितो को दिखाया, परन्तु इन्हे कोई प्रशसा तथा सद्भावना नही मिली। फलत इन्होने उन लोगो की मन्दबुद्धि तथा ईर्ष्या की तीव्र भर्त्सना की। ऐसा कहा जाता है कि इनके शत्रुओ ने, तब इनकी कृति के पन्नो को एक कुत्ते के पूछ मे बाँध कर उसे सडको पर दौडा दिया जिससे वे पन्ने इधर-उधर सडको पर बिखर गये। परन्तु धर्मकीर्ति ने कहा "जिस प्रकार यह कुत्ता सभी सडको पर दौड रहा है, उसी प्रकार मेरी कृति भी समस्त ससार मे फैलेगी।

§ १०. धर्मकीर्ति की कृतियाँ

धर्मकीर्ति ने सात न्याय-ग्रथो, प्रख्यात 'सप्त-प्रबन्धो', की रचना की जो तिब्बत मे बौद्धो द्वारा न्याय के अध्ययन के मूल ग्रन्थ हैं। यद्यपि मूलत इन ग्रन्थो की रचना दिङ्नाग की विस्तृत टीका के रूप मे की गई थी, तथापि ये दिङ्नाग की कृति से आगे निकल गये हैं। इन सात ग्रन्थो मे से एक, प्रमाणवार्तिक, सर्वप्रमुख है और इसमे समस्त सिद्धान्त निहित हैं। शेष छ गौण तथा इसके 'छ पाद'[2] हैं। यह सात की सख्या कुछ ससूचनात्मक है, क्योकि सर्वास्तिवादियो का अभिधर्म भी सात ग्रन्थो से मिल कर बना है जिनमे से एक प्रमुख और शेष छ उसके 'छ पाद' है। प्रत्यक्षत

---

[1] तुकी ध्वन्यालोक, पृ० २१७ मे आनन्दवर्धन के शब्द। एक ऐसे श्लोक का, जिसमे धर्मकीर्ति ने व्याकरण के ज्ञान मे चन्द्रगोमिन् को और काव्य के ज्ञान मे शूर को पराजित करने की गर्वोक्तियाँ की हैं, तारानाथ ने उल्लेख किया है, और यह बोरोबदर मे उत्कीर्ण है, तुकी० क्रोम, पृ० ७५६।

[2] एक अन्य व्याख्या के अनुसार प्रथम तीन ग्रन्थ शरीर हैं और शेप उसके चार पाद, तुकी० वस्टन हिस्ट्री, पृ० ४४, ४५।

धर्मकीर्ति का विचार था कि न्याय के अध्ययन द्वारा प्राचीन और प्रारम्भिक बौद्ध-दर्शन को स्थानान्तिरत करना है। प्रमाणवार्तिक मे चार परिच्छेद है, जिनमे क्रमश स्वार्थानुमान, प्रामाण्यवाद, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और परार्थानुमान का वर्णन है। इसकी स्मृत्युपकारी पद्य मे रचना की गयी है और इनमे श्लोको की सख्या लगभग २,००० है। दूसरा ग्रन्थ, प्रमाणविनिश्चय, प्रथम का ही एक सक्षेप है। इसकी रचना श्लोको और गद्य मे हुई है। इनके आधे से अधिक श्लोक प्रमुख ग्रन्थ से ही गृहीत है। न्याय बिन्दु इसी विषय का और सक्षिप्त रूप है। बाद वाले इन दोनो ग्रन्थो मे तीन-तीन परिच्छेद है जिनमे क्रमश इन्द्रिय-प्रत्यक्ष,स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का वर्णन है। शेष चार ग्रन्थ विशेष समस्याओ मे सम्बद्ध हैं। हेतुबिन्दु न्याय के हेतुओ का एक सक्षिप्त वर्गीकरण है, सम्बन्ध-परीक्षा स्वय लेखक की टीका से युक्त श्लोको मे रचित एक लघु प्रबन्ध है, चोदना–प्रकरण वादकला पर एक प्रबन्ध है, और सन्तानान्तर सिद्धि सर्वथा अहवाद के विरोध मे अन्य मननो की सत्यता से सम्बद्ध प्रबन्ध है। न्याय-बिन्दु को छोड कर अन्य कोई भी ग्रन्थ अभी तक अपने मूल सस्कृत रूप मे खोजा नही जा सका है।[१] किन्तु तञ्जूर के अन्तर्गत इन सब का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। तिब्बती सग्रह मे कुछ अन्य ग्रन्थ भी है जिन्हे धर्मकीर्ति द्वारा रचित बताया गया है, यथा शूर-जातक-माला तथा विनय सूत्र पर टीका के रूप मे श्लोको के सग्रह, परन्तु ये वास्तव मे इनके ही है यह निश्चित नही।[२]

§ ११. प्रमाणवार्तिक मे परिच्छेदो का क्रम

धर्मकीर्ति को अपनी महान कृति के प्रथम परिच्छेद, स्वार्थानुमान के परिच्छेद, के स्मृत्युप्रकारक श्लोको पर ही टीका लिखने का समय मिल सका। शेष तीन परिच्छेदो पर टीका लिखने का कार्य उन्होने अपने शिष्य, देवेन्द्र-बुद्धि, को सौंप दिया। फिर भी, यह शिष्य इस कार्य को अपने आचार्य के पूर्ण सतोष के अनुरूप सम्पन्न करने मे असमर्थ रहा। तारानाथ के अनुसार इसके

---

[१] अब हेतुबिन्दु और प्रमाणवार्तिक भी सस्कृत मे उपलब्ध हैं। अनुवादक।

[२] तारानाथ के अनुसार इन्होने तान्त्रिक सस्कारो पर भी एक ग्रन्थ लिखा था, और जावा के तान्त्रिक इन्हे अपने सम्प्रदाय का एक आचार्य मानते थे। परन्तु यह सम्भवत अपने सम्प्रदाय मे एक प्रख्यात नाम सम्मिलित रखने की इच्छा से उत्पन्न उन लोगो का एक विश्वास मात्र है। यह ग्रन्थ भी तञ्जूर मे मिलता है।

दो प्रयानो की भर्त्सना की गई, और तीसरे वार भी इसे केवल अर्व-मान्यता मिल सकी। तव धर्मकीर्ति ने कहा कि देवेन्द्रबुद्धि ने मूल के समस्त आशयो का उद्घाटन नही वरन् केवल शब्दार्थों को ही ठीक-ठीक व्यक्त किया है।[1]

प्रमाणवार्तिक के परिच्छेदो का क्रम एक विचित्र प्रभाव उत्पन्न करता है। जहाँ दोनो सक्षिप्त प्रवन्धो, प्रमाण-विनिश्चय और न्यायविन्दु, मे क्रम स्वाभाविक है—प्रत्यक्ष सवसे पहले आता है, और उसके वाद स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, और यही क्रम दिड्नाग के भी अनुरूप है जिन्होने प्रत्यक्ष और स्वार्थानुमान से ही आरम्भ किया है—वही प्रमाणवार्तिक का क्रम इसके विपरीत है। यह स्वार्थानुमान से प्रारम्भ होता है उसके वाद प्रामाण्य-वाद है, तव प्रत्यक्ष आता है और उसके वाद अन्त मे परार्थानुमान है। स्वाभाविक क्रम प्रामाण्यवाद के परिच्छेद से आरम्भ करना और उसके वाद प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान को रखना होता। इसको इसलिये भी ऐसा ही होना चाहिये था क्योकि प्रामाण्यवाद के सम्पूर्ण परिच्छेद को केवल दिड्नाग के ग्रन्थ के आरम्भिक श्लोक की टीका माना गया है। इस श्लोक मे बुद्ध की स्तुति है, जिन्हे यहाँ अन्य प्रचलित उपाधियो के साथ-साथ 'प्रमाणभूत'[2] उपाधि से भी विभूपित किया गया है। सम्पूर्ण महायान बुद्धवाद, तथा परम और सर्वज्ञ सत्ता के अस्तित्व के समस्त प्रमाणो की इस शीर्पक के अन्तर्गत विवेचना की गई है।

अत हम स्वभावत प्रमाणवाद और सर्वज्ञ सत्ता के अस्तित्व-विपयक इसी परिच्छेद मे ग्रन्थारम्भ की आशा करते है, और इसके वाद प्रत्यक्ष, स्वार्था-नुमान तथा परार्थानुमान के विवेचन की, क्योकि स्वय विपय-वस्तु इसी क्रम की अपेक्षा रखता है, और समस्त वौद्ध तथा ब्राह्मणवादी न्याय ग्रन्थो मे इसी क्रम का अनुसरण किया गया है। स्वार्थानुमान से आरम्भ करना, प्रामाण्यवाद के परिच्छेद को स्वार्थानुमान और प्रत्यक्ष के वीच रखना, प्रत्यक्ष का तीसरे स्थान पर विवेचन करना, तथा स्वार्थानुमान और परा-र्थानुमान को दो अन्य परिच्छेदो के द्वारा पृथक् रखना, विपयो की प्रकृति के भी विरुद्ध है।

यह अत्यन्त विचित्र स्थिति उन भारतीय और तिव्वती नैयायिको का ध्यान आकर्पित करने मे असफल नही रही जिन्होंने धर्मकीर्ति पर टीकाये

[1] तुकी तारानाथ का इतिहास।

[2] 'प्रमाणभूताय जगद्धितैपिरो' इत्यादि, तुकी० दत्त न्याय प्रवेश, प्रस्तावना।

की है, और इनमे प्रमाणवार्तिक के परिच्छेदो के क्रम की समस्या पर अत्यन्त सघर्ष छिड गया । इस क्रम को एक स्वाभाविक रूप मे परिवर्तित कर देने या परम्परागत क्रम को ही सुरक्षित रखने के तर्कों का हाल ही मे श्री ए० वोस्त्रिकोव ने परीक्षण किया है। हम इनके शोध-प्रबन्ध[1] ने ये विवरण लेते है परम्परागत क्रम को सुरक्षित रखने के लिये प्रमुख तर्क का तथ्य यह है कि धर्मकीर्ति के तात्कालिक शिष्य देवेन्द्रबुद्धि ने इसकी पुष्टि की है। और यह कि स्वय धर्मकीर्ति ने केवल स्वार्थानुमान के परिच्छेद पर ही टीका लिखी है। यह मानना स्वाभाविक है कि उन्होने प्रथम परिच्छेद पर टीका लिखना आरम्भ किया होगा और मृत्यु के कारण शेष परिच्छेदो पर टीका लिखने से वचित रह गये होगे। एक और उल्लेखनीय तथ्य यह है कि बुद्धवाद-सम्बन्धी परिच्छेद अर्थात् ग्रन्थ के धार्मिक अश को अन्य सब प्रबन्धो मे न केवल छोड ही दिया गया है, वरन् धर्मकीर्ति ने अत्यन्त स्पष्टता के साथ और बल देकर इस विषय पर अपना यह मत प्रकट किया है कि परम, सर्वज्ञ बुद्ध, काल, स्थान और अनुभव से परे एक तात्विक सत्ता है, और यह कि इसलिये हमारे न्याय-सम्बन्धी ज्ञान के अनुभव तक सीमित होने के कारण हम न तो उनके सम्बन्ध मे कुछ सोच सकते है और न कुछ कह ही सकते है,[2] हम न तो उनके अस्तित्व की स्थापना कर सकते है और न उसे अस्वीकार ही। यत स्वाभाविक क्रम मे बुद्धवाद-विषयक परिच्छेद धर्मकीर्ति का सबसे आरम्भिक कार्य रहा होगा, जिसे उन्होने उस समय आरम्भ किया होगा। जब वे ईश्वरसेन के शिष्य के रूप मे अध्ययन कर रहे थे, अत श्री ए० वोस्त्रिकोव उनके विचारो के बाद के विकास मे परिवर्तन को स्वीकार करते है ऐसा परिवर्तन जो चाहे उनके धार्मिक विश्वासो मे न भी हुआ हो किन्तु उनके द्वारा गृहीत विधियो मे अवश्य हुआ। तब, अपनी वृद्धावस्था मे धर्मकीर्ति ने प्रथम परिच्छेद पर टीका करने के अपने विचार का त्याग कर दिया, और प्रत्यक्ष विषयक परिच्छेद का कार्य देवेन्द्रबुद्धि को सौंप कर, सर्वाधिक क्लिष्ट स्वार्थानुमान के परिच्छेद की टीका स्वय लिखी।

§ १२ टीकाकारो का भाषाशास्त्रीय सम्प्रदाय

स्थिति जैसी भी रही हो, धर्मकीर्ति के न्याय-शास्त्रीय ग्रन्थ प्रचुर भाष्य-साहित्य के आरम्भबिन्दु बन गये। तिब्बती अनुवादो मे सुरक्षित ग्रन्थो को हम

---

[1] इनका यह शोध-प्रबन्ध लेनिनग्राड मे इन्स्टीटयूट फॉर बुद्धिस्ट रिसर्च की एक बैठक मे पढा गया था, और शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

[2] तुकी० सन्तानान्तरसिद्धि का अन्तिम स्थल, और न्याबि० ३-९७।

उन प्रमुख सिद्धान्तों के आधार पर, जिनसे व्याख्या-कार्य निर्देशित हुआ, तीन समूहों में विभक्त कर सकते हैं। देवेन्द्रबुद्धि ने उस सम्प्रदाय का सूत्रपात किया जिसे हम शब्दार्थ का सम्प्रदाय कह सकते हैं। यदि कहें तो यह 'भाषाशास्त्रीय' व्याख्या का सम्प्रदाय था। गहन आशयों में अपने को खो देने की अपेक्षा इसका उद्देश्य विवेच्य मूल का प्रत्यक्ष या सीधा अर्थ करना था। देवेन्द्रबुद्धि के बाद उनके शिष्य और अनुयायी, शाक्यबुद्धि, जिनका ग्रन्थ तिब्बती[1] भाषा में उपलब्ध है, तथा सम्भवतः प्रभाबुद्धि जिनका ग्रन्थ लुप्त हो गया है, इसी सम्प्रदाय में आते हैं। इन सबने प्रमाणवार्तिक पर टीकायें लिखीं तथा प्रमाण-विनिश्चय और न्यायबिन्दु को छोड़ दिया। इन दोनों बाद के ग्रन्थों पर विनीतदेव ने टीकायें लिखीं जिन्होंने अपने ग्रन्थों में इसी सरल और शब्दार्थ वाली विधि का अनुसरण किया। तिब्बती लेखकों के अन्तर्गत चोङ्-खप के शिष्य ग्याल्-छब का तिब्बत[2] में इस सम्प्रदाय के संचालक के रूप में अवश्य उल्लेख किया जाना चाहिये।

§ १३. टीकाकारों का कश्मीरी अथवा दार्शनिक सम्प्रदाय

टीकाकारों के अन्य दो सम्प्रदाय धर्मकीर्ति के मूल ग्रन्थ के शब्दार्थ की स्थापना मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं वरन् उसके दर्शन के और गहन अनुसन्धान का प्रयास करते हैं। द्वितीय सम्प्रदाय को उसकी सक्रियता के क्षेत्र के आधार पर काश्मीरी सम्प्रदाय, अथवा उसके दर्शन की प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर आलोचनात्मक सम्प्रदाय की संज्ञा दी जा सकती है। इस सम्प्रदाय के अनुसार परम सत्ता और परम ज्ञान के मनुष्यत्वारोपण के रूप में बुद्ध, अर्थात् महायान के बुद्ध, एक तात्विक सत्ता है, अत वे अस्तित्व के समर्थन की दृष्टि से अथवा उसकी अस्वीकृति की ही दृष्टि से हमलोगों के लिये बोधगम्य नहीं हैं।[3] प्रमाणवार्तिक भी दिङ्नाग के विशुद्ध न्यायग्रन्थ, प्रमाणसमुच्चय, की एक विस्तृत टीका के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। यह सत्य है कि प्रमाण-समुच्चय का आरम्भिक स्तुति-श्लोक महायान बुद्ध के महान गुणों का उल्लेख और उन्हें विशुद्ध न्याय से समीकृत करता है, परन्तु यह केवल भक्ति-भावना की एक परम्परागत अभिव्यक्ति मात्र है, इसका कोई सैद्धान्तिक महत्त्व नहीं है।

---

[1] तन्जूर, म्दो, भा० ९३ और ९८।

[2] ग्याल्-छब (ग्यल्-छब) ने दो भागों में प्रमाणवार्तिक की विस्तृत टीका तथा न्याय-विषयक दो छोटे स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की।

[3] 'देश-काल-स्वभाव-विप्रकृष्ट', तुल० न्यायबि० ३ ९७

इस सम्प्रदाय का उद्देश्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की कृतियो को न्याय और ज्ञानमीमासा की एक आलोचनात्मक पद्धति मानकर उनके गहन दार्शनिक विषयो का उद्घाटन करना है। इस सम्प्रदाय ने इस पद्धति को विकसित, परिष्कृत और पूर्ण बनाने का प्रयास किया है।

इस सम्प्रदाय के सस्थापक धर्मोत्तर, इसका स्थान काश्मीर, और इसके सक्रिय सदस्य अक्सर ब्राह्मण थे। धर्मोत्तर को तिब्बती अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे और इनकी एक अत्यन्त तीक्ष्णबुद्धि व्यक्ति के रूप मे ख्याति थी। यद्यपि ये धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष शिष्य नही थे, तथापि ये वैसे ही शिष्य थे जिनकी उस महान आचार्य को प्रतीक्षा थी, क्योंकि इन्होने अपनी टीकाओ को स्वय अपने गहन विवेचनो से ही युक्त नही किया वरन् महत्त्वपूर्ण विषयो पर स्वतन्त्र दृष्टिकोण और सफल नवीन परिभाषायें भी दी। तारानाथ के इतिहास मे इनका जीवन-चरित्र नही है, जो सम्भवत इसलिये कि इनका कार्य-क्षेत्र काश्मीर था। फिर भी, ये मूलत काश्मीर के निवासी नही थे। जैसा कि काश्मीरी इतिहास मे उल्लिखित है, राजा जयापीड ने एक स्वप्न मे यह देखकर कि 'पश्चिम मे एक सूर्योदय हो रहा है', इन्हे काश्मीर आने के लिये निमन्त्रित किया था। यह घटना लगभग ८०० ई०[1] मे घटित हुई होगी। इस समय तक धर्मोत्तर अवश्य एक प्रख्यात व्यक्ति बन चुके होगे। नवी शताब्दी मे हुये वाचस्पति मिश्र ने इनका अनेक बार उद्धरण दिया है।[2]

इन्होने धर्मकीर्ति की प्रथम और प्रमुख कृति, प्रमाणवार्तिक, पर टीका न लिखकर प्रमाणविनिश्चय और न्यायबिन्दु पर विस्तृत टीकायें लिखी, जिनमे से प्रथम को महाभाष्य और द्वितीय को लघुभाष्य कहा गया है।[3] प्रमाणवार्तिक पर टीका लिखने की इनकी इच्छा भी थी या नही यह अनिश्चित है। इस ग्रन्थ के परिच्छेदो के क्रम का भी इन्होने कोई विवेचन नही किया है। इन्होने न्याय-

[1] तुकी० राजतरङ्गिणी, ४४९८ "उन्होने (राजा ने) आचार्य धर्मोत्तर के अपने देश मे आगमन को एक अनुकूल घटना माना क्योकि उन्होने स्वप्न मे देखा कि पश्चिम (भारत) मे एक सूर्योदय हुआ है।" सर ए० स्टीन के इस श्लोक के अनुवाद को शुद्ध कर दिया जाना चाहिये, क्योकि यह तथ्य कि 'आचार्य धर्मोत्तर' एक व्यक्तिवाचक नाम है, उनके ध्यान से ओझल हो गया है। काश्मीरी इतिहास के परम्परागत कालक्रम मे लगभग २० वर्ष की शुद्धि कर देने पर हम धर्मोत्तर के इस देश मे आकर रहने और शिक्षा देने के समय को ८०० ई० निश्चित कर सकते हैं।

[2] ताटी०, पृ० १०९, १३९।

[3] तन्जूर, म्दो, भा० १०९ और ११०।

न्यायबिन्दु की टीका लिखनेवाले अपने पूर्ववर्ती और प्रथम सम्प्रदाय, अर्थात् शाब्दिक व्याख्यावाले सम्प्रदाय के सदस्य, विनीतदेव, पर प्रबल आक्षेप किये हैं। उक्त दो कृतियो के अतिरिक्त धर्मोत्तर ने न्याय और ज्ञानमीमासा की विशेष समस्यायो मे सम्बद्ध चार अन्य लघु-ग्रन्थो की भी रचना की।[1]

काव्यकला के प्रख्यात काश्मीरी लेखक, ब्राह्मण आनन्दवर्धन ने धर्मोत्तर के प्रमाणविनिश्चय-टीका पर एक विवृत्ति की रचना की। यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नही हो सका है।[2]

इस ग्रन्थ पर एक अन्य विवृत्ति की रचना काश्मीरी ब्राह्मण ज्ञानश्री[3] ने की है। इसका तिब्बती अनुवाद तन्जूर-सग्रह में सुरक्षित है। और, अन्त मे, ब्राह्मण शङ्करानन्द ने, जिन्हे महान ब्राह्मण कहा गया है, प्रमाणवार्तिक पर एक विस्तृत टीका का कार्य आरम्भ किया, जिसकी रूपरेखा की एक बड़े पैमाने पर कल्पना की गई थी। दुर्भाग्यवश ये इस कार्य को समाप्त नही कर सके। उपलब्ध अंश केवल प्रथम परिच्छेद (परम्परागत क्रम के अनुसार) पर ही टीका है, और वह भी सर्वथा पूर्ण नही है। फिर भी, इसका तिब्बती

---

[1] प्रमाण-परीक्षा, अपोह-प्रकरण, परलोक-सिद्धि और क्षणभङ्ग-सिद्धि, जो सभी तन्जूर म्दो, भा० ११२ मे है।

[2] ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त की टीका (काव्यमाला स०, पृ० २२३) के एक स्थल से ऐसा प्रतीत होता कि आनन्दवर्धन ने धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय की धर्मोत्तर की टीका पर एक विवृत्ति, प्रमाण-विनिश्चय-टीका-विवृत्ति, की रचना की और व्यगात्मक रूप से अपनी कृति का 'धर्मोत्तमा' नाम रक्खा। बहुत पाठ-सशोधन के बिना इस स्थल को समझने का केवल यही मार्ग है, अन्यथा हमें 'धर्मोत्तरायाम्' पढना होगा. तुकी जी० बूहलर काश्मीर रिपोर्ट, पृ० ६५ और बाद, ध्वन्यालोक के एच० याकोबी के अनुवाद के पुनर्मुद्रित सस्करण का पृ०१४४, और मेरा थ्योरी ऑफ कॉगनिशन ऑफ दि लेटर बुद्धिस्ट्स (रशियन सस्करण, सेन्ट पीटर्सबर्ग, पृ० XXXV, नोट २)।

[3] इस लेखक को सामान्यतया ज्ञानश्री के रूप मे उद्धृत किया गया है, तुकी० सदस०, पृ० २६ (पूना, १९२४), परिशुद्धि, पृ० ७१३। परन्तु दो लेखक ऐसे है जिन्हे इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है, यथा, ज्ञान-श्रीभद्र और ज्ञानश्रीमित्र, तुकी० एस० विद्याभूषण इतिहास, पृ० ३४१ और बाद। तारानाथ (पृ० १०८) ने केवल ज्ञानश्रीमित्र का ही उल्लेख किया है जो जयपाल के शासनकाल मे हुये थे।

अनुवाद तञ्जूर के अत्यधिक भाग को घेरता है।[1] सम्पूर्ण ग्रन्थ ठीक उसी प्रकार कम से कम चार भागो मे समाप्त होता, जिस प्रकार टीकाकारो के तृतीय सम्प्रदाय के यमारि का विस्तृत ग्रन्थ हुआ है।

तिब्बती लेखको के अन्तर्गत त्सोड्-खप के शिष्य रग्यल-त्शव का इस सम्प्रदाय से कुछ साम्य है और इन्हे ही इसका तिब्बत मे सचालक माना जा सकता है। इन्होने न्याय को ही अपने विशेष अध्ययन का विषय बनाया और दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति के प्राय सभी ग्रन्थो पर टीकाये लिखी।[2]

§ १४. टीकाकारो का तृतीय अथवा धार्मिक सम्प्रदाय

गत सम्प्रदाय की भाँति इस सम्प्रदाय ने भी धर्मकीर्ति की कृतियो के गूढार्थों के उद्घाटन और चरम प्रच्छन्न प्रवृत्तियो के प्रकटन का प्रयास किया है। इसने भी प्रथम, शब्दार्थवादी सम्प्रदाय, के अनुयायियो के प्रति अत्यधिक अनादर व्यक्त किया है। फिर भी, इन दोनो सम्प्रदायो (गत और प्रस्तुत) के बीच केन्द्रीय विषय की परिभाषा तथा पद्धति के चरम उद्देश्य के प्रति मौलिक अन्तर था। इस सम्प्रदाय के अनुसार प्रमाणवार्तिक का उद्देश्य दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय पर, जो एक विशुद्ध न्यायशास्त्रीय ग्रन्थ था, टीका करना नही वरन् उस सम्पूर्ण महायान धर्मग्रन्थो पर टीका करना था, जो बुद्ध, तथा स्वभाव-काय और ज्ञान-काय रूपी दो पक्षो से युक्त उनके धर्म-काय के अस्तित्व, उनकी सर्वज्ञता, तथा अन्य गुणो की स्थापना करते है। इस सम्प्रदाय के लिये इसकी पद्धति के समस्त आलोचनात्मक और न्यायशास्त्रीय अश का उद्देश्य एक नवीन और परिष्कृत तत्व-मीमासात्मक मत के लिये मार्ग प्रशस्त करने के अतिरिक्त और कुछ नही था। इस सम्प्रदाय के अनुसार धर्मकीर्ति की समस्त कृतियो का केन्द्रीय और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अश प्रमाणवार्तिक के द्वितीय (परम्परागत क्रम के अनुसार), अर्थात् प्रामाण्यवाद सम्बन्धी परिच्छेद मे और इसी कारण

[1] तञ्जूर म्दो, भा० पे।

[2] इनके द्वारा की गई विशाल टीकायें (टीक-चेन) प्रमाण-समुच्चय, प्रमाणवार्तिक, प्रमाण-विनिश्चय, न्याय बिन्दु और सम्बन्ध-परीक्षा पर उपलब्ध हैं जिनकी प्रतियाँ म्यू० एशि० पीट० मे है। त्सोङ्-खप के दो शिष्यो, खाइ-डब और रग्यल-त्शब के प्रमाणवार्तिक पर टीका करने की पद्धतियो के सम्बन्ध के लिये तुकी० लोड्-डोल (क्लोङ्-र्डोल) लामा का Gtan-tshigs-rig pai mingi rnams-frans, g 2 a (ए० वोस्त्रिकोव)।

उन धार्मिक विषयो मे निहित है जो बौद्धो के लिये बुद्धवाद से सम्बद्ध है।

इस सम्प्रदाय के सस्थापक प्रज्ञाकर गुप्त थे, जो, ऐसा प्रतीत होता है कि, वगाल के निवासी थे। इनके जीवनचरित्र का तारानाथ ने उल्लेख नही किया है, परन्तु उन्होने इतना उल्लेख किया है कि ये बौद्ध समुदाय के एक सामान्य सदस्य थे और पालवश मे राजा महीपाल के उत्तराधिकारी, राजा महापाल (? नयपाल) के शासनकाल मे हुये थे। यह तथ्य इनके जीवनकाल को ईसा की ग्यारहवी शताब्दी मे रखता है। परन्तु, यह कदाचित ही ठीक हो सकता है, क्योकि इनकी कृति को दसवी शताब्दी के उदयनाचार्य ने उद्धृत किया है।[1] ये सम्भवत उदयनाचार्य के समकालीन रहे हो सकते है। इन्होने प्रमाणवार्तिक के दूसरे से चौथे परिच्छेदो (परम्परागत क्रम के अनुसार) पर टीका की है और पहले को छोड दिया है क्योकि उसपर स्वय मूल लेखक की टीका थी। इस ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद तन्जूर के दो वडे-वडे भागो को घेरता है जिनमे से एक सम्पूर्ण भाग मे केवल दूसरे अध्याय की टीका है। इस ग्रन्थ के लिये सामान्य रूप से प्रचलित 'टीका' शीर्षक का प्रयोग न करके इसे एक अलङ्कार कहा गया है, और इसका लेखक 'अलङ्कार-उपाध्याय'[2] के नाम से ही अधिक ज्ञात और उद्धृत है। इस नाम द्वारा ये यह सूचित करना चाहते थे कि वास्तविक टीका को कही अधिक स्थान की आवश्यकता होती और उसके लिये विद्यार्थियो मे भी ज्ञान की ऐसी असाधारण क्षमता की अपेक्षा होती जो कदाचित ही मिलती है। अत इन्होने अपेक्षाकृत कम प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियो को दृष्टि मे रखकर इस मत के मुख्य विषयो को व्यक्त करने के उद्देश्य से इस लघु 'अलङ्कार' की ही रचना की। इन्होने देवेन्द्रवुद्धि और उनकी केवल शब्दार्थ-परीक्षा विधि पर तीव्र आक्षेप किया है।

प्रज्ञाकर गुप्त के अनुयायियो को तीन उप-सम्प्रदायो मे विभक्त किया जा सकता है, जिनके प्रवर्तक क्रमश जिन, रवि गुप्त, और यमारि थे। जिन,[3] प्रज्ञाकर गुप्त के सर्वाधिक निश्चित और उत्साही अनुयायी तथा उनके विचारो

---

[1] परिशुद्धि, पृ० ७३०।

[2] र्ग्यन्-म्खन्-पो = अलङ्कार-उपाध्याय।

[3] तारानाथ ने तो उल्लेख नही किया है, किन्तु तिब्बती मे इनका नाम 'र्ग्यल-व-चन्', जेतवान् जैसे मूल सस्कृत शब्द को सूचित करता है। प्रज्ञाकर गुप्त के शिष्यो मे रविगुप्त के वाद के होने के कारण ये ईसा की १२ वी शताब्दी मे हुये होगे।

के निष्पादक थे। इनके अनुसार प्रमाणवार्तिक के परिच्छेदो का वास्तविक क्रम इस प्रकार है प्रथम परिच्छेद बुद्धवाद-सहित प्रमाण सिद्धि की विवेचना करता है। इसके बाद द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ परिच्छेदो मे क्रमश इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के विवेचन आते है। इस स्पष्ट और स्वाभाविक क्रम का मूढमति देवेन्द्रबुद्धि ने मिथ्या-ग्रहण करके इसे उलट दिया। वह इस स्थिति से भ्रमित हो गये कि स्वय धर्मकीर्ति के पास केवल तृतीय परिच्छेद के श्लोको पर टीका लिखने का ही समय था जिसको उन्होने, किसी कारणवश—सम्भवत इसलिये कि वह सर्वाधिक क्लिष्ट था—अपनी वृद्धावस्था मे टीका करने के लिये चुना, जब वे अपने को सम्पूर्ण कार्य समाप्त करने मे सक्षम नही समझते थे। जिन ने रविगुप्त पर अपने आचार्य का मिथ्या-ग्रहण करने का आक्षेप किया है।

रविगुप्त, प्रज्ञाकर गुप्त के प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत शिष्य थे। फिर भी, इनका कार्यक्षेत्र काश्मीर प्रतीत होता है जहाँ इनका जीवन ज्ञानश्री का समकालीन था।[१] ये जिन की अपेक्षा एक अधिक उदार प्रवृत्ति के व्याख्याता थे। इनके अनुसार प्रमाणवार्तिक के परिच्छेदो का वास्तविक क्रम वही था जिसे देवेन्द्रबुद्धि ने स्वीकार किया था। इनकी दृष्टि मे देवेन्द्रबुद्धि यद्यपि बहुत प्रतिभावान व्यक्ति नही थे, तथापि वे इतने मूर्ख भी नही थे कि उन्होने अपने आचार्य की प्रमुख कृति के परिच्छेदो के क्रम को अस्तव्यस्त कर दिया हो। इनके विचार से धर्मकीर्ति का उद्देश्य धर्म के रूप मे महायान के लिये एक दार्शनिक आधार की स्थापना, और अशत दिङ्नाग की न्याय-पद्धति पर टीका करना था।

प्रज्ञाकर गुप्त के सम्प्रदाय की तृतीय शाखा के प्रवर्तक यमारि थे।[२] ये काश्मीरी ज्ञानश्री के प्रत्यक्ष शिष्य थे परन्तु इनका कार्य-क्षेत्र बगाल रहा प्रतीत होता है। तारानाथ के अनुसार ये पालवश के राजा नयपाल के शासन-काल मे काश्मीरी सम्प्रदाय के अन्तिम व्याख्याता, महान ब्राह्मण शकरानन्द,

---

[१] एस० विद्याभूषण हिस्ट्री, पृ० ३२२, ने इस रविगुप्त को इसी नाम के एक अन्य व्यक्ति के स्थान पर ग्रहण कर लिया है जो ईसा की ७ वी शताब्दी मे हुये थे, तुकी० तारानाथ पृ० ११३ और १३०।

[२] तारानाथ (पृ० १७८, मूल) के अनुसार ये एक सामान्य व्यक्ति और तान्त्रिक रहे प्रतीत होते हैं।

के समकालीन थे ।[1] यह तथ्य इन दोनो लेखको को ईसा की ग्यारहवी शताब्दी मे रखता है। रविगुप्त की समाधानात्मक भावना यमारि मे और भी प्रखर हो उठी है। इनकी कृति उन जिन के विरुद्ध तीक्ष्ण तर्कों से परिपूर्ण है जिनपर इन्होने प्रज्ञाकर गुप्त के ग्रन्थ के मिथ्या-ग्रहण का आक्षेप किया है। यमारि का भी विचार है कि धर्मकीर्ति के व्यक्तिगत शिष्य होने के कारण देवेन्द्रबुद्धि ने प्रमाणवार्तिक के परिच्छेदो के क्रम जैसे आधारभूत विषय को अस्त-व्यस्त नही किया होगा।

यमारि की कृति के अन्तर्गत प्रज्ञाकर गुप्त के ग्रन्थ के तीनो परिच्छेदो पर टीका आ जाती है। यह तिब्बती तञ्जूर के चार बडे-बडे भागो मे निहित है, और इसकी कल्पना इनके समकालीन और काश्मीरी सम्प्रदाय के अन्तिम व्याख्याता ब्राह्मण शङ्करानन्द की टीका के समान ही व्यापक स्तर पर की गई है।

यह तथ्य एक विचित्र प्रभाव उत्पन्न करता है कि टीकाकारो के इस तृतीय सम्प्रदाय के सभी लेखक सामान्य व्यक्ति और तान्त्रिक कृत्यो के अनुयायी थे।

जैसा हम जानते हैं, इस सम्प्रदाय का तिब्बत मे कोई विशेष प्रवर्तक नही हुआ। तिब्बत के पण्डितो मे प्रचलित एक परम्परा के अनुसार प्रज्ञाकर गुप्त ने माध्यमिक प्रासङ्गिक सम्प्रदाय के अति-सापेक्षवादियो के दृष्टिकोण मे प्रमाणवार्तिक की व्याख्या की। उस सम्प्रदाय के महान प्रवर्तक, चन्द्रकीर्ति, ने दिङ्नाग के परिशोधनो को सर्वथा अस्वीकृत और उसके स्थान पर ब्राह्मण-वादी न्याय-सम्प्रदाय के यथार्थवादी न्याय का अनुसरण किया, किन्तु प्रज्ञाकर गुप्त ने दिङ्नाग के शोधनो को चन्द्रकीर्ति के नियमो, अर्थात् इस आधार पर स्वीकार कर लेना सम्भव माना कि परम सत्ता का सर्वथा तार्किक विधियो के आधार पर ही बोध नही किया जा सकता।

---

[1] तारानाथ के इतिहास (पृ० १८८, मूल) मे इस स्थल का, जिसकी वासिलीफ, पृ० २३९, द्वारा इस अर्थ मे व्याख्या की गई है कि शङ्करानन्द के उद्धरण धर्मोत्तर के मूल मे प्रविष्ट हो गये हैं, और शेफनर (!) ने भी यही व्याख्या की है, अर्थ यह है . 'इस तथ्य के कारण कि शङ्करानन्द के कुछ स्थल टीकाकार धर्मोत्तर के मूल ग्रन्थ मे मिलते हैं, यह स्पष्ट है कि यह त्रुटि है, जो इस स्थिति से उत्पन्न है कि अनुवादक रगम-फन्-ब्जङ्-पो की प्रति मे ये स्थल प्रान्तस्थ टिप्पणियो के रूप मे सम्मिलित किये गये थे।'

शान्तिरक्षित और कमलशील की भी ऐसी ही स्थिति है। यद्यपि इन लोगो ने दिङ्नाग की प्रणाली का अध्ययन और उसका उत्कृष्ट उद्घाटन किया है, तथापि ये माध्यमिक और हृदय से धार्मिक व्यक्ति थे। ये माध्यमिक योगाचारियो, अथवा माध्यमिक-सौत्रान्तिको के मिश्रित सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे।

स-स्क्य-पण्डित[1] द्वारा स्थापित तिब्बती सम्प्रदाय की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। इस लेखक का यह विश्वास था कि न्यायशास्त्र एक सर्वथा प्रापञ्चिक विज्ञान है, जिसमे कुछ भी बौद्ध नही है वैसे ही जैसे गणित अथवा आयुर्वेद मे कुछ नही। प्रख्यात इतिहासकार बु-स्टोन रिन-पोचे का भी यही विचार है। परन्तु अब का प्रभावशाली गेलुग्स्प मत इन विचारो को अस्वीकृत करते हुये धर्मकीर्ति के न्याय मे एक धर्म के रूप मे बौद्धमत के निश्चित आधार को स्वीकार करता है।

निम्न तालिका प्रमाणवार्तिक की व्याख्या करनेवाले विभिन्न सम्प्रदायो के अन्तर्सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है।

तालिका

प्रमाणवार्तिक की सात टीकाओं और विवृत्तियों के सम्बन्ध को व्यक्त करनेवाली तालिका। इनमें से पाच ने इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद पर कोई टीका नही की है :

प्रथम सम्प्रदाय (भाषाशास्त्रीय सम्प्रदाय)

प्रमाणवार्तिक

परिच्छेद १ स्वार्थानुमान २ प्रामाण्यवाद ३ प्रत्यय ४ परार्थानुमान

टीकायें स्वय लेखक की टीका देवेन्द्रबुद्धि द्वारा टीका

शाक्यबुद्धि की टीका

विनीतदेव को, जिन्होने प्रमाणवार्तिक पर तो नही परन्तु धर्मकीर्ति की अन्य कृतियो पर टीकायें की हैं, इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखना चाहिये।

तिब्बती लेखको मे खई-डब (म्खस-ग्रब) इसी सम्प्रदाय मे आते है।

---

[1] कुन-द्ग-रग्यल-म्छसन्, जो स-स्क्य (=पाण्डु-भूमि) मठ के महान लामाओ मे पाँचवें थे।

§ १५--बौद्धोत्तर न्याय, और भारत मे यथार्थवाद तथा नाममात्रवाद के बीच सघर्ष

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, भारतीय दर्शन मे बौद्ध प्रसार का उत्कर्ष लगभग तीन शताब्दियो तक रहा और यह एक विष्कम्भ था जिसके पश्चात् भारत मे दर्शन का अपना ऐतिहासिक जीवन विना किमी बौद्ध प्रतिरोध के ही आगे चलता रहा। यद्यपि विविक्त बौद्ध निकट ही, हिमालय के उस पार, निवास कर रहे थे, और इस नवीन गृह मे बौद्ध-प्रभाव ने अत्यधिक साहित्यिक सक्रियता को जन्म दिया, तथापि दोनो देशो के बीच ससर्ग बहुत कम, और उपलब्धियो के परस्पर आदान-प्रदान का वातावरण प्रतिकूल था। तिब्बतियो के लिये भारत अब भी एक पवित्र भूमि है, परन्तु केवल अतीत भारत, बौद्ध भारत ही। नवीन बौद्धेतर भारत तिव्वतियो के लिये सर्वथा अपरिचित है और यहाँ क्या हो रहा है इसके सम्वन्ध मे उन्हे कुछ भी ज्ञात नही प्रतीत होता।

बौद्धो के साथ युद्ध मे विजेता होने पर भी दर्शन के ब्राह्मणवादी सम्प्रदाय इस सघर्ष के फलस्वरूप पर्याप्त परिवर्तित अवस्था मे प्रगट हुये और कुछ तो इतने अधिक त्रस्त हुये कि उनका पश्चात जीवन अत्यन्त अल्पकालिक रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि एक पृथक सम्प्रदाय के रूप मे भौतिकवादी प्राय बौद्धो के साथ-साथ लुप्त हो गये। प्रभाकर द्वारा परिष्कृत हो जाने पर मीमासक अपने प्राचीन यज्ञ-धर्म सहित लुप्त हो गये। साख्य का भी एक ऐसे परिष्कार के पश्चात् जिसने इन्हे वेदान्त के साँचे मे ढाल दिया, एक पृथक सम्प्रदाय के रूप मे अस्तित्व समाप्त हो गया। अन्तत दो ही सम्प्रदाय बचे यद्यपि ऐसे स्वरूपो मे जो बौद्ध-प्रभाव के कारण बहुत कुछ परिवर्तित हो गये थे। ये सम्प्रदाय थे, एकत्ववादी पद्धति तथा अनेक लोकधर्मों के आधार के रूप मे वेदान्त, और अति-यथार्थवादी न्यायशास्त्रीय सम्प्रदाय के रूप मे मिश्रित न्याय-वैशेषिक। यह स्थिति तिब्बत और मगोलिया मे व्याप्त परिस्थिति के अनुरूप है। हम वहाँ भी माध्यमिको की एकत्ववादी पद्धति का, जो अनेक लोक-धर्मों का आधार है, तथा दूसरी ओर धर्मकीर्ति की न्याय-पद्धति का प्रभुत्व देखते हैं।

अपने दीर्घ जीवन मे न्याय सम्प्रदाय ने सदैव उसी अनुवर्ती यथार्थवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया, परन्तु इसके विरोधी विभिन्न दिशाओ से आये। एक सरल यथार्थवाद और औपचारिक न्यायशास्त्र से आरम्भ होकर इसे

शीघ्र ही साख्य और बौद्ध दर्शनो से सघर्ष के लिये विवश होना पडा। ईसा की छठवी से दसवी शताब्दी तक इसने बौद्ध नैयायिको से सघर्ष किया जो नाममात्रवादी तथा यथार्थवाद के सर्वाधिक दृढ विरोधी थे।

जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, भारत मे दो स्वतन्त्र सम्प्रदाय सर्वाधिक मौलिक यथार्थवाद के प्रवर्तक थे। इन लोगो के लिये न केवल सामान्य ही, वरन् समस्त सम्बन्ध यथार्थ वस्तुये या 'पदार्थ' थे। इनमे से एक तो वैशेषिक सम्प्रदाय था और दूसरा मीमासक सम्प्रदाय। आरम्भ मे इनके विरोधी साख्य तथा हीनयान-बौद्ध थे, और बाद मे महायान बौद्ध तथा वेदान्त सम्प्रदाय। इस सम्प्रदायो ने यथार्थवाद पर आक्षेप किया और एक ऐसे नाममात्रवाद का समर्थन किया जो सामान्य की वस्तुनिष्ठ यथार्थता तथा समवाय को अस्वीकार करता है। नाममात्रवादी आलोचना का उक्त दोनो सम्प्रदायो पर समान प्रभाव नही पडा। न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के यथार्थवाद ने आक्षेप करनेवाले बौद्धो को कोई सुविधा नही दी। इसके विपरीत इसने अपनी यथार्थवादी स्थिति को और दृढ कर लिया तथा बौद्ध प्रभाव के सामने विनत नही हुआ। अपने विरोधियो के शक्तिशाली न्याय से प्रेरित होकर इन यथार्थवादियो ने अनुवर्ती यथार्थवाद के दूरवर्ती स्थानो मे, इसके सर्वथा अनुपपन्न परन्तु तार्किक दृष्टि से अपरिहार्य परिणामो मे शरण ली। इस प्रकार इन लोगो ने अपने पूर्ण समुद्देश्यो के साथ यथार्थवाद को असगति के स्तर पर पहुँचा दिया। इन्होने यह दिखाया कि जो भी अन्त तक यथार्थवादी बना रहने के लिये कृतसकल्प है उसे जगत् को अपरिहार्य रूप मे ऐसी वस्तुनिष्ठ यथार्थताओ की प्रचुरता से भर देना चाहिये कि इस प्रकार के यथार्थवादी गृह मे रहना सर्वथा असुविधाजनक बन जाय। काल, दिक्, आकाश, परमात्मा, समस्त जीव, समस्त सामान्य, समवाय, ये सभी सर्ववर्ती बाह्यार्थ हैं। अभाव-रूप पदार्थ, समस्त कर्म, समस्त सम्बन्ध और गुण—वस्तुओ के प्रमुख गुण जैसे परिमाण इत्यादि, और गौण जैसे पदार्थो के इन्द्रियगम्य गुण, और यहाँ तक कि सम्बन्धो के सम्बन्ध तक—सब अनिवार्यत बाह्यार्थ हैं, उन द्रव्यो से पृथक जिनमे ये समवेत होते है। इन सिद्धान्तो पर बौद्धो ने जितना ही आक्रमण किया उतना ही नैयायिको ने दृढतापूर्वक इसका समर्थन किया। यदि सम्बन्ध अनिवार्यत वस्तुनिष्ठ यथार्थता है तो समवाय को भी एक यथार्थता क्यो न मान लिया जाय? यदि यह यथार्थता है तो यह द्रव्यो को गुणो के साथ समवेत करने की युक्ति के लिये सर्वत्र सुलभ एक अद्वितीय और सर्ववर्ती शक्ति[1] क्यो न होगा? यथार्थवादी दृष्टिकोण के दृढीकरण की

[1] तुकी 'समवाय' पर प्रशस्तपाद।

इस पद्धति का उसी समय सूत्रपात हो गया जब प्रथम बौद्ध नैयायिको के साथ युद्ध आरम्भ हुआ[1]।

इस अवधि मे न्याय सम्प्रदाय ने दो उल्लेखनीय व्यक्तियो को उत्पन्न किया जो गौतम अक्षपाद के आधारभूत सूत्रो पर टीका और विवृत्ति के लेखक हुये। इनमे से प्रथम, वात्स्यायन पक्षिलस्वामी, जो सम्भवत दिङ्नाग के समकालीन थे, सूत्रो की परम्परागत व्याख्या से वस्तुत अलग नही हटे। इन्होने एक लघु टीका मे व्याख्या के उस रूप को प्रस्तुत किया जो इस सम्प्रदाय के प्रख्यात सस्थापक के समय से प्रचलित और मौखिक रूप से सक्रमित होता चला आ रहा था।[2] यही वह टीका थी जिसने दिङ्नाग को इनके यथार्थवाद पर आक्रमण करने की सामग्री प्रदान की। इस अवधि के दूसरे प्रमुख लेखक, सम्भवत धर्मकीर्ति के ज्येष्ठ समकालीन, भरद्वाज ब्राह्मण उद्योतकर थे। इन्होंने अपनी वृत्ति मे वात्स्यायन का समर्थन और दिङ्नाग पर तीक्ष्ण आक्षेप किया है। यह एक ऐसे लेखक थे जो प्रबल सघर्ष-शील प्रवृत्ति और अत्यन्त मुखर शैली से युक्त थे। यह अपने प्रतिपक्षी के विचारो को विकृत करने तथा अमृदु कुयुक्तियो से उसका उत्तर देनेमे सकोच नही करते थे। इनका उद्देश्य इस सम्प्रदाय मे किसी प्रकारका परिवर्तन करना नही था, किन्तु ये कुछ ऐसी अतियथार्थवादी प्रवृत्तियों के[3] लिये उत्तरदायी अवश्य हैं जिनका इन्होने वादानुवाद की उत्कटता के कारण आश्रय लिया और जो इनके बाद भी इस सम्प्रदाय मे बनी रही।

---

[1] फिर भी एक विषय ऐसा है जिसमे नैयायिको ने वह विकास किया जो बौद्धो की सृष्टि से साम्य रखता है। इन्होने भी बौद्धो के ही समान, एक निर्जीव भौतिकवादी निर्वाण के पूर्व-आदर्श का परित्याग करके उसके स्थान पर बौद्धो की भाँति एक विश्व देवैक्यवादी को तो नही, बल्कि एक ईश्वरवादी शाश्वतत्व को स्थापित किया। इस निर्वाण के अन्तर्गत एक शाश्वत और मूक ईश्वर-प्रणिधान आता है, और यह अवस्था वैसी ही है जिसका अत्यन्त वाग्विदग्धता के साथ योरोपीय रहस्यवादियो, जैसे श्री ड पोर्ट रॉयल मे से एक, एम० ड टिल्लेमॉन्ट, ने वर्णन किया है।

[2] फिर भी, डा० डब्लू० रूबेन ने अपने ग्रन्थ 'डाइ न्याय सूत्राज़' मे गौतम और वात्स्यायन के दर्शनो के बीच वास्तविक अन्तर का पता लगाने का प्रयास किया है। तुकी० इस ग्रन्थ की मेरी आलोचना, OLZ १९२९, न० ११।

[3] जैसे, किसी अभाव और इन्द्रियो के सन्निकर्ष का सिद्धान्त—'अभाव इन्द्रियेण गृह्यते'।

वैशेषिक दार्शनिक प्रशस्तपाद को भी इसी समय के अन्तर्गत रखना चाहिये। ये सम्भवत दिङ्नाग के ज्येष्ठ समकालीन रहे होगे। अपनी सत्त्व-मीमासा मे तो ये सर्वथा यथार्थवादी थे, किन्तु इनका न्याय बौद्धो द्वारा प्रबल रूप से प्रभावित हुआ था।[1]

ग्यारहवी शताब्दी मे नैयायिको के सम्प्रदाय ने वाचस्पति मिश्र के व्यक्तित्व मे एक ऐसे व्यक्ति को उत्पन्न किया जो सम्भवत ब्राह्मणवादी भारत के दार्शनिक विद्वानो मे सर्वाधिक विशिष्ट है। इनका ज्ञान दुर्धर और इनकी सूचनायें सदैव मौलिक हैं। यहाँ तक कि इनके सर्वाधिक कठिन और दुरूह सिद्धान्तो के उद्घाटन भी अत्यन्त स्पष्ट, और इनकी निष्पक्षता आदर्श है। ये नवीन दार्शनिक सिद्धान्तो के स्रष्टा नही है, परन्तु ये वास्तविक वैज्ञानिक भावना से परिपूर्ण एक दर्शन के इतिहासकार है। इनकी प्रथम कृतियो मे से एक का नाम न्याय-कणिका है, और सबसे बाद की तथा सर्वाधिक परिपक्व महान कृति का न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीका। ये दोनो ही प्राय सम्पूर्णत बौद्ध-सिद्धान्तो के उद्घाटन और खण्डन मे सम्बद्ध है।[2]

इनके अनुयायी और टीकाकार, उदयनाचार्य, भी अनेक कृतियो मे प्रमुखत बौद्धो का प्रतिवाद करते है।

ये दो लेखक, ईसा की दसवी शताब्दी के अन्त मे न्याय सम्प्रदाय के प्राचीन काल—बौद्धमत के साथ इसके सघर्ष के काल—को समाप्त करते है।

न्याय के उस रूप मे एक नवीन सम्प्रदाय के, जिस रूप मे यह बौद्धो के साथ सघर्ष से प्रगट हुआ, स्रष्टा गङ्गेश उपाध्याय थे। इनकी महान कृति तत्त्वचिन्तामणि, अपनी व्यवस्था की दृष्टि से, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति का अनुसरण करती हुई, विश्लेपणात्मक है। गौतम के सूत्रो के प्राचीन और शिथिल क्रम का परित्याग कर दिया गया है, वादकला-विपयक निर्देशनो को भी छोड दिया गया है। प्रमुख विपय तर्कशास्त्र है। विरोधी यहाँ अब लुप्त बौद्धो के स्थान पर अक्सर प्रभाकर और उनके अनुयायी है।

द्वितीय सम्प्रदाय, मीमासको के सम्प्रदाय ने, जिसने यथार्थवाद का अनुसरण तथा यथार्थवादी न्याय द्वारा उसका समर्थन किया, यथार्थवादी सिद्धान्तो के प्रति उसी दुर्भेद्य निष्ठा का प्रमाण प्रस्तुत नही किया जिसका

---

[1] तुकी० मेरा एबु०, परिशिष्ट २।

[2] तुकी० इन पर गार्वे इमॉ०, प्रस्तावना, और प्रो० एच० याकोबी के फेस्टश्रिफ्ट मे मेरा लेख।

प्रथम ने किया था। बौद्धो के आक्षेप के प्रभाव के अन्तर्गत यह दो सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया, जिनमे से एक ने बौद्ध दृष्टि-कोण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वीकृतियाँ प्रदान की। ये स्वीकृतियाँ सामान्यो की आदर्शता अथवा नाममात्र-वादिता को ग्रहण कर लेने तथा समवाय पदार्थ की अस्वीकृति की सीमा तक तो पहुँची, परन्तु अनेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयो पर ये नैयायिको के अति-यथार्थवाद से पीछे हट गई। इस सम्प्रदाय के सस्थापक प्रभाकर थे जो प्रख्यात मीमासक-आचार्य और बौद्धो के विरोधी कुमारिल-भट्ट के शिष्य थे।

कुमारिल का प्रमुख ग्रन्थ, श्लोकवार्तिक लगभग ३,५०० श्लोको की एक विशाल रचना है जो बौद्धो के विरुद्ध वादानुवाद से सर्वथा परिपूर्ण है। फिर भी, बौद्ध नैयायिको की शिक्षा-विषयक इस ग्रन्थ से एकत्र सूचनायें अपर्याप्त और अक्सर अस्पष्ट है। लेखक एक उत्कट वादविद हैं और अपने प्रतिपक्षी के विचारो के निष्पक्ष उद्धरण की अपेक्षा उत्कृष्ट प्रत्युत्तरो तथा विदग्ध प्रतिवादो मे ही आनन्द लेते है। इनके टीकाकर, पार्थसारथि-मिश्र अक्सर स्थानपूर्ति करते हैं। ये भी एक स्वतन्त्र प्रबन्ध, शास्त्र-दीपिका, के लेखक हैं जिसमे प्रमुखत बौद्धो का खण्डन किया गया है।[1]

प्रभाकर[1] बौद्धो के एक वास्तविक जारज पुत्र कहे जा सकते है। कुमारिल के शिष्य और उन्ही के सम्प्रदाय के होते हुये भी, इन्होने अपने आचार्य के अति-यथार्थवाद के प्रति विद्रोह किया और अधिक स्वाभाविक दृष्टिकोणो की दिशा मे उनसे दूर हट गये। कुमारिल के अनुसार काल, दिक्, आकाश, कर्म, और अभाव का इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष होता है। प्रभाकर ने इसे अस्वीकृत किया। इनके अनुसार अभाव का प्रत्यक्षीकरण केवल एक शून्य स्थान का प्रत्यक्ष था।[2] इस दृष्टि से ये बौद्धो के समकक्ष थे। भ्रम को भेद-अग्रह के कारण उत्पन्न मानने के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय पर भी ये बौद्धो से सहमत थे। इन्होने स्वसवेदना को बुद्धि की एक अनिवार्य प्रकृति माना। इन्होने प्रमात, प्रमाण, और प्रमेय[3] की आधार-भूत एकता को स्वीकार किया, और इनकी अनेक अन्य बातें, जिनमे इन्होने अपने आचार्यका विरोध किया था, बौद्धो

---

[1] प्रभाकर पर तुकी० उनका पञ्चपदार्थ (चौखम्भा), पार्थसारथि मिश्रा का शास्त्रदीपिका (सर्वत्र), इण्डियन थॉट मे जी० झा का लेख, और प्रो० एच० याकोबी के फेस्टश्रिफ्ट मे मेरा लेख।

[2] अनुपलब्धि।

[3] त्रिपुटी = प्रमातृ प्रमाण-प्रमेय।

से सहमत थी। इस प्रकार इन्होने मीमासक ईश्वरतत्ववादियो के यथार्थ-वादी सम्प्रदाय की एक नवीन शाखा की स्थापना की। न्याय सम्प्रदाय के नैयायिको ने प्राचीन मीमासको का पक्ष लिया और प्रभाकर के अनुयायियो का विरोध किया। वाद की शताब्दियाँ मीमासको के इन दोनो ही सम्प्रदायो के पतन तथा लोप की साक्षी हुई। परन्तु अपनी समस्त उपशाखाओ सहित एक परिष्कृत वेदान्त के रूप मे यथार्थवाद के एक अन्य शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी का अविर्भाव हुआ। यथार्थवाद पर इस दिशा से एक अत्यन्त विशिष्ट आक्रमण-कर्ता प्रख्यात श्रीहर्ष हैं। अपने खण्डन-खण्ड खाद्य मे इन्होने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि यथार्थवाद के विरुद्ध सघर्ष मे ये माध्यमिक वौद्धो से सर्वथा सहमत है, यद्यपि शङ्कराचार्य ने इस स्थिति को सतर्कतापूर्वक मिथ्या सिद्ध करने का प्रयास किया है। श्रीहर्ष का कहना है कि "माध्यमिक तथा अन्य (महायान-वादी) जो कुछ मानते हैं उसके सारतत्व को अस्वीकृत करना असम्भव है[1]।"

वौद्धमत के विघटन के पश्चात् विभिन्न सम्प्रदाय एक दूसरे पर शकापूर्वक वौद्धो से प्रभावित हुये होने का आक्षेप करने लगे। वेदान्तियो ने वैशेषिको पर प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप किया क्योकि यह सम्प्रदाय कुछ पदार्थों और गुणो, जैसे कर्म, शव्द, मनन, इत्यादि की क्षणिकता को स्वीकार करता था। इसके विपरीत वैशेषिको ने वेदान्तियो पर, वौद्धो की ही भाँति, वाह्य जगत के परमार्थ को अस्वीकृत करने का आक्षेप किया। प्रभाकर पर सामान्य रूप से 'वौद्ध वन्धु' इत्यादि, होने का आक्षेप किया गया।

जव गङ्गेश उपाध्याय के अनुयायी दरभङ्गा छोड कर वगाल आये और नडिया मे अपने नवीन गृह की स्थापना करने लगे, तव ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी पहले की सघर्ष-प्रवृत्ति का अपेक्षाकृत अधिक सौम्य दृष्टिकोण ने स्थान ग्रहण कर लिया। इस नवीन सम्प्रदाय ने अपना समस्त ध्यान परार्थानुमान की समस्याओ पर केन्द्रित किया और प्रमुख रूप से परार्थानुमानात्मक पद्धति की प्रत्येक वातो के सम्वन्ध मे अत्यन्त सूक्ष्म परिभाषाओ की खोज करने का प्रयास करने लगा। भारत मे न्याय अव पुन वही वन गया जो अनिवार्यत आरम्भ मे था, अर्थात् एक औपचारिक न्यायशास्त्र वन गया।

इस प्रकार, भारत मे न्यायशास्त्र का इतिहास ३०० वर्षों से अधिक एक उज्जवल वौद्ध विष्कम्भ, तथा हर प्रकार के प्रतिद्वन्द्वियो के विरुद्ध सतत युद्ध के साथ लगभग २,००० वर्षों से भी अधिक के विकास का प्रतिनिधित्व करता है।

---

[1] तुकी ऊपर पृ० २६ नोट २।

§ १६. चीन और जापान में बौद्ध न्याय

बौद्ध-पूर्व प्राचीन चीन मे कुछ न्यायशास्त्रीय समस्याओ के सम्बन्ध मे मौलिक और अत्यन्त पूर्वग शिक्षायें उपलब्ध थी[१] परन्तु प्रत्यक्षत ये बहुत लोकप्रिय नही थी, और इनका बाद मे बौद्ध यात्रियो तथा धर्म प्रचारको द्वारा बौद्ध न्याय के प्रचलन से कोई भी सम्बन्ध नही था। भारत से इस नवीन न्याय का दो बार आयात किया गया। प्रथम बार ईसा की ६वी शताब्दी मे भारतीय धर्मप्रचारक परमार्थ द्वारा, और द्वितीय बार सातवी शताब्दी मे चीनी यात्री ह्वेन-त्साङ्ग द्वारा। परमार्थ ने वसुबन्धु की तीन कृतियो का आयात और अनुवाद किया, यथा जु-शिह-लुन (= तर्कशास्त्र), फन्-चिह्न-लुन (परिपृच्छा-शास्त्र ?), और तो-फु-लुन (निग्रहस्थान-शास्त्र)।[२] ये त्रिपिटक सग्रह मे तीन पृथक् कृतियो के रूप मे सम्मिलित किये गये थे।[३] उस समय सग्रह मे इन तीन ग्रन्थो पर टीका के रूप मे तीन और लघु पुस्तकें भी थी जिनका सग्रह उक्त परमार्थ ने ही किया था। त्रिपिटक के बाद के सूचीपत्र मे लिखे विवरण से यह पता लगता है कि उक्त तीनो पुस्तको ने क्रमश घटते घटते एक ही लघु-पुस्तक के रूप मे एक ही कृति का स्वरूप धारण कर लिया और टीकायें सर्वथा लुप्त हो गई। किन्तु इस एक लघुपुस्तक मे, जिसका नाम यद्यपि जु-शिह्-लुन (तर्क-शास्त्र) है, सम्भवत तीनो कृतियो के अशो का सग्रह है।

साथ ही, ह्वेनसाङ्ग, के शिष्यो द्वारा सकलित न्याय-मुख और न्याय-प्रवेश के अनुवादो पर चीनी टीकाओ से हम यह जान सकते है कि ये लोग वसुबन्धु के तीन न्याय-ग्रन्थो से परिचित थे, जिनके नाम हैं लुन-क्वे (= वाद-विधि),[४] लुन-शिह् (= वाद-विधान), और लु-ह्सिन (= वाद-हृदय)। इन ग्रन्थो के कुछ अश प्रत्यक्षत उस लघु-पुस्तक मे सुरक्षित हैं जिसका त्रिपिटक के सूचीपत्र मे जु-शिह-लुन (= तर्क-शास्त्र) के नाम से उल्लेख है।

---

[१]तुकी० हु-शिह, प्राचीन चीन मे न्याय-विधि का विकास, शङ्घाई, १९२२, और टूङ्ग-पाओ, १९२७ मे एम० एच० मासपेरो का लेख Notes sur la logigue de Mo-tseu et son ecole

[२]तुकी० बोरिस वासिलेव, उपु०।

[३] तुकी० चुङ्ग-चिङ्ग-मु-लु कैटलॉग, बुनिउ नञ्जियो, न० १६०८ और लि-तै-सन्-पाओ-चि, वही, न० १५०४।

[४] किन्तु, वाद-विधान नही जैसा कि टुच्ची ने माना है।

असङ्ग के ग्रन्थो के तर्कशास्त्रीय अशो के अनुवादो को भी इसी समय का मानना चाहिये ।[1]

न्यायशास्त्र के प्रथम आयात का प्रत्यक्षत कोई परिणाम नही हुआ। इसने टीकाओ अथवा मौलिक कृतियो के रूप मे भी किसी स्थानीय न्यायशास्त्रीय साहित्य को जन्म नही दिया ।[2] यह तथ्य कि यह क्रमश घट कर एक ही लघु-पुस्तक के रूप सीमित हो गया, और यह भी कि आज तक सुरक्षित यह एक लघु-पुस्तक भी केवल विभिन्न अशो का सग्रह मात्र रह गई जो स्पष्टत यह व्यक्त करता है कि यह कृति उपेक्षित ही रही।

चीन मे न्याय का द्वितीय आयात और वहाँ से जापान मे भी इसका प्रवेश ह्वेन-साङ्ग के कारण ही हुआ ।[3] भारत से लौटने पर इन्होने अपने साथ दो न्याय-ग्रन्थो को लाकर उनका अनुवाद किया जिनमे से एक दिङ्नाग का न्याय-मुख (= न्याय-द्वार) था और दूसरा शङ्करस्वामी का न्याय-प्रवेश ।[4] यो दोनो ही ग्रन्थ अत्यन्त छोटे प्रवन्ध थे जो दिङ्नाग के न्याय के औपचारिक अश के साराश तथा उनके शिष्य, शङ्करस्वामी, द्वारा उनमे किये गये अमहत्त्वपूर्ण परिवर्तनो और परिवर्वनो से युक्त थे। दार्शनिक तथा ज्ञान-मीमासात्मक अशो, तथा साथ ही साथ, वौद्धेतर पद्धतियो के साथ समस्त वाद-विवादो की इनमे उपेक्षा है। इनकी प्रकृति आरम्भिक विद्यार्थियो के लिये लघु हस्तपुस्तिकाओ जैसी है जिनमे से समस्त कठिन समस्याओ को सतर्कतापूर्वक निकाल दिया गया है। दिङ्नाग के आधारभूत ग्रन्थ प्रमाण-समुच्चय,तथा साथ ही साथ धर्मकीर्ति के सात प्रवन्ध और सम्प्रदायो तथा उप-सम्प्रदायो के रूप मे विभाजित टीकाओ के विशाल साहित्य चीन और जापान मे सर्वथा अज्ञात है ।[5] किन कारणो से प्रेरित होकर ह्वेन-साङ्ग ने, जिन्होने,

---

[1] तुकी० जी० टुच्ची, IRAS जुलाई, १९२९, पृ० ४५२ और वाद।

[2] तुकी०, फिर भी, वही पृ० ४५३

[3] तुकी० एस० सुगीउरा, इण्डियन लॉजिक ऐज़ प्रिज़र्व्ड इन चाइना, फिलाडेल्फिया, १९००।

[4] इन कृतियो के लेखक के विपय पर तुकी० प्रो० एम० तुवियान्सकी का वु० १९२६, पृ० ९७५–९८२, मे लेख और टुच्ची, उपु०।

[5] फिर भी, तुकी० जे टुच्ची जवसो०, १९२८, पृ० १०। वी० वासीलेव का विचार है कि चीनियो को केवल किंवदन्ती के आधार पर ही प्रमाण-समुच्चय का ज्ञान था।

ऐसा माना जाता है कि, अपने समय के भारत के सर्वाधिक प्रख्यात आचार्यों से दिङ्नाग के न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था, अनुवाद के लिये केवल दो प्राय समान छोटी-छोटी हस्तपुस्तिकाओ को ही चुना इसका निर्णय करना आज अत्यन्त कठिन है। सर्वाधिक समीचीन व्याख्या यही हो सकती है कि ये स्वय बौद्धमत के धार्मिक पक्ष मे कही अधिक रुचि रखते थे, और न्यायशास्त्रीय तथा ज्ञानमीमासात्मक अनुसन्धान की ओर इनका केवल अल्प-मात्र ही झुकाव था।

फिर भी, चीन मे बौद्ध न्याय का यह द्वितीय आयात परिणाम-रहित नही रहा। शङ्करस्वामी की हस्तपुस्तिका पर टीकाओ और विवृत्तियो की रचना का पर्याप्त विकास हुआ। ह्वेन-साङ्ग के शिष्यो मे एक, वेव-ची, ऐसा भी था जिसने न्याय को अपने अध्ययन का विशेष विषय बना लिया। एक ओर दिङ्नाग की हस्तपुस्तिका, तथा दूसरी ओर ह्वेन-साङ्ग के भाषणो के नोटो के आधार पर इसने शङ्करस्वामी के न्याय-प्रवेश पर टीका के छ भाग लिखे। न्यायशास्त्र पर यह एक मानक चीनी ग्रन्थ और तभी से एक विशाल टीका के रूप मे विख्यात है।[1]

चीन से बौद्ध न्याय का ईसा की सातवी शताब्दी मे एक जापानी भिक्षु, दोह् शोह, ने जापान मे आयात किया। यह आचार्य के रूप मे ह्वेनसाङ्ग की प्रसिद्धि से आकर्षित हुआ। फलत इसने चीन की यात्रा की और वहाँ इस महान् आचार्य के व्यक्तिगत निर्देशन के अन्तर्गत न्याय का अध्ययन किया। लौट कर इसने अपने देश मे नैयायिको के एक सम्प्रदाय की स्थापन की जिसे बाद मे 'साउथ हॉल' नाम दिया गया।

बाद की शताब्दी मे गेम्बोह् नामक एक भिक्षु चीन से अपने साथ उक्त विशाल टीका और अन्य न्यायशास्त्र के ग्रन्थ लाया। यह जापानी नैयायिको के एक अन्य सम्प्रदाय का सस्थापक बना जिसे 'नॉर्थ हॉल'[2] नाम दिया गया।

इस समस्त साहित्य के, जो पर्याप्त प्रभूत प्रतीत होता है, विषयसूची तथा आन्तरिक महत्त्व के विवरण के सम्बन्ध मे अभी तक योरप मे कुछ भी ज्ञात नही है।

---

[1] तुकी० सुगीउरा, पृ० ३९। ह्वेन-साङ्ग के न्याय-सम्प्रदाय पर तुकी० वासिलेव, उपु०, द्वारा सगृहीत विवरण भी।

[2] वही, पृ० ४०।

§ १७. तिब्बत और मगोलिया में बौद्ध न्याय

तिव्वत तथा मगोलिया मे बौद्ध न्याय का भाग्य सर्वथा भिन्न रहा। सबसे आरम्भिक स्तर पर वसुवन्धु की तीन कृतियाँ इन देशो मे कुछ उद्धरणो के अतिरिक्त अधिक ज्ञात नही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका या तो यहाँ कभी कोई अनुवाद हुआ ही नही, अथवा परवर्ती साहित्य द्वारा ये अविक्रमित हो गई। परन्तु दिङ्नाग की प्रमुख कृतियाँ जिनेन्द्रवुद्धि की प्रमाणसमुच्चय पर विशाल टीका, धर्मकीर्ति के सात प्रवन्ध, प्रमाणवार्तिक की समस्त सात महान टीकायें, धर्मोत्तर तथा अनेक अन्य बौद्ध नैयायिको की कृतियाँ—यह सव साहित्य विश्वसनीय तिव्वती अनुवादो मे सुरक्षित रक्खा गया है। शान्तिरक्षित और कमलशील की तिव्वत-यात्रा के पश्चात् बौद्ध भारत और बौद्ध तिव्वत के बीच ससर्ग अत्यन्त उत्साहपूर्ण हो गया होगा। किसी भी भारतीय बौद्ध की प्रत्येक उल्लेखनीय कृति का तत्काल तिव्वती भाषा मे अनुवाद कर दिया जाता था। जब भारत मे बौद्धमत लुप्त हो गया उस समय भी तिव्वती भिक्षुओ की न्यायशास्त्र पर स्वतन्त्र और मौलिक कृतियो की रचना भारतीय परम्परा को क्रमश विकसित और सचालित करती रही। न्यायशास्त्र पर मौलिक तिव्वती साहित्य का आरम्भ ईसा की १२ वी शताव्दी मे हुआ जो ठीक वही समय है जब बौद्धमत उत्तर भारत में लुप्त हो गया। इसके इतिहास को दो अवधियो मे विभाजित किया जा सकता है: एक प्राचीन अर्थात् त्सोङ्-खप (१३५७-१४१९ ई०) तक, और दूसरी, नवीन जो त्सोङ्-खप के वाद के समयो की है।

न्याय-विषयक प्रथम स्वतन्त्र कृति के रचयिता छव-छोक्यि-सेङ्गे[1] (११०९-११६९ ई०) हैं। ये एक विशेष तिव्वती न्याय-प्रणाली के सर्जक हैं जिसके सम्वन्ध मे आगे कुछ टिप्पणी की जायगी। इन्होने धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय पर एक टीका, तथा स्मृत्युपकारक सूत्रो मे और स्वय अपनी व्याख्याओ से युक्त एक स्वतन्त्र न्याय-ग्रन्थ की रचना की। इनके शिष्य, त्सङ् नग्प-त्सोन-दुइ-सेङ्गे, ने भी इसी प्रकार प्रमाण-विनिश्चय पर एक अन्य टीका लिखी[2]। इस काल के अभिजात तिव्वती ग्रन्थ का सर्जन स-स्क्य क्षेत्र के पाँचवें महान लामा, प्रख्यात स-स्क्य-पण्डित कुन्ग-ग्यल-मत्सन (११८२-१२५१) ने किया। यह स्मृत्युपकारक सूत्रो मे रचित और स्वय लेखक की टीका से युक्त एक लघु-प्रवन्ध है। इसका नाम त्सद्म-रिग्स्पाइ-ग्तेर (प्रमाण-न्याय-निधि) है। इनके शिष्य उयुग्प-रिग्स्पाइ-सेङ्गे, ने सम्पूर्ण प्रमाणवार्तिक पर एक विस्तृत

[1] फ्यव-प-चोस्-क्यि-सेङ्-गे, छ-प भी लिखा जाता है।

[2] ग्त्सङ्-नग-प-ब्रत्सोन-ग्रुस-सेङ्-गे।

टीका की रचना की। तिब्बती इस कृति को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते हैं।

इस काल के अन्तिम लेखक रेण्डप-ग्झोन्नु-लोडोइ[१] (१३४९-१४१२) थे। ये त्सोङ्-खप के आचार्य और दिङ्नाग की पद्धति के सामान्य सिद्धान्तो से सम्बद्ध एक स्वतन्त्र कृति के लेखक थे।

नवीन काल के साहित्य को व्यवस्थित कृतियो तथा विद्यालय हस्त-पुस्तिकाओ के रूप मे विभाजित किया जा सकता है। स्वय त्सोङ्-खप ने केवल एक छोटी सी 'धर्मकीर्ति के सात प्रबन्धो के अध्ययन की भूमिका' की रचना की। इनके तीन प्रख्यात शिष्यो, रग्यल-थ्सब (१३६४-१४३२), खाइ-डब (१३८५-१४३८), और गेन्डुन-डब (१३९१-१४७४), ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की प्राय प्रत्येक कृति पर टीकाओ की रचना की। इस क्षेत्र मे साहित्यिक उत्पादन कभी समाप्त नही हुआ और आज भी चल रहा है। तिब्बत और मगोलिया के विहारो के मुद्रणालयो मे मुद्रित कृतियो की सख्या अत्यन्त अधिक है।

तिब्बत के महान लामाओ ने विभिन्न विहारो के अपने द्वारा सस्थापित सम्प्रदायो के विहार-विद्यालयो मे न्याय के अध्ययन के लिये हस्त-पुस्तिकाओ की रचनायें की हैं। 'स-स्क्य-पण्डित' विहार की प्राचीन परम्परा का अनुसरण करनेवाली हस्तपुस्तिकाओ का एक सग्रह है। त्सोडखप द्वारा सस्थापित नवीन सम्प्रदाय के विहारो मे लगभग १० से कम विद्यालय नही हैं, जिनमे से प्रत्येक का अपनी-अपनी हस्तपुस्तिकाओ का सग्रह है और अपनी-अपनी शैक्षणिक परम्परायें हैं। अकेले टाशियल्हुङ्पो[२] के विहार मे तीन भिन्न विद्यालय[३] हैं जिनके लिये इस विहार के विभिन्न महान लामाओ ने हस्त-पुस्तिकाओ की रचना की है। सेरा के[४] विहार मे[५] दो, ब्रे-पुङ्[६] मे दो,[७]

---

[१] रेन-म्द -प-ग्झोन-नु-ब्लो-ग्रोस।

[२] ब्क्र-शिस-ल्हुन्त-पो, मध्य-तिब्बत मे १४४७ मे स्थापित।

[३] थोस-ब्सम-गिलङ् ग्रव-त्शङ्, दक्यिल-खङ ग्रव-त्शङ, और शर-रत्से ग्रव-त्शङ्।

[४] से-र, मध्य तिब्बत मे १४१९ मे सस्थापित।

[५] से-र-ब्येस ग्रव-त्शङ् और से-र-स्मद-थोस-ब्सम-नोट-बु-ग्लिङ ग्रव-त्शङ्

[६] ह्ब्रस-स्पुङ्स, १४१६ में स्थापित।

[७] ब्लो-ग्सल-ग्लिङ् ग्रव-त्शङ और गो-मङ् ग्रव-त्शङ।

और गल्दन मे[1] तीन[2] विद्यालय है। अन्य सब विहारो के विद्यालय इन्ही मे से एक न एक परम्परा का अनुसरण और उन्ही की हस्त-पुस्तिकाओ का उपयोग करते हैं। सम्पूर्ण मगोलिया ब्रे-पुङ् विहार के गोमन[3] विद्यालय की परम्परा का अनुसरण करता है। इस विद्यालय की स्थापना प्रख्यात महान लामा जम-यङ्-ज्हद्-प[4] (१६४८-१७२२) ने की थी। ये असाधारण व्यक्ति, जो बौद्ध दर्शन के प्रत्येक क्षेत्र पर कृतियो के एक सम्पूर्ण पुस्तकालय के लेखक है, पूर्वी तिब्बत मे अम्दो के निवासी थे, किन्तु इन्होने मध्य तिब्बत के ब्रे-पुङ विहार के लसलिङ् विद्यालय मे अध्ययन किया था। ये अपने आचार्य से असहमत होकर स्वदेश लौट आये जहाँ इन्होने अम्दो मे लब्रङ्[5] नामक एक नवीन विहार की स्थापना की। यह प्रगाढ विद्या का एक प्रख्यात पीठ और सम्पूर्ण मगोलिया की आध्यात्मिक राजधानी बन गया। यह द्रष्टव्य है कि जम-यङ्-ज्हदप लीब्निज का बिल्कुल समकालीन था।[6]

विहार-विद्यालयो मे न्याय के पाठ्यक्रम की अवधि चार वर्ष होती है। इसी अवधि मे धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के २००० के लगभग स्मृत्युपकारक सूत्र कण्ठस्थ कर लिये जाते हैं। इस कक्षा मे अध्ययन किये जाने के लिये यही मूल और सीधे भारतीय उत्पत्ति का एकमात्र ग्रन्थ है। व्याख्याओ का अध्ययन उक्त १० तिब्बती विद्यालयो की हस्त-पुस्तिकाओ के अनुसार किया जाता है। भारतीय टीकायें, यहाँ तक कि अपने ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद पर स्वय धर्मकीर्ति की टीका भी, उपेक्षित हैं और तिब्बती कृतियो ने इनका सर्वथा अधिक्रमण कर दिया है।

धर्मकीर्ति के एक ग्रन्थ, प्रमाणवार्तिक, को तिब्बत मे असाधारण प्रामुख्य प्रदान किया जाना उल्लेखनीय है। केवल इसी ग्रन्थ का प्रत्येक व्यक्ति अध्ययन करता है। इनकी अन्य कृतियो, तथा साथ ही साथ, दिङ्नाग,

---

[1] दग ल्दन, त्सोङ् खप द्वारा १४०९ मे स्थापित।

[2] ब्यङ्-र्त्से ग्रव-त्शाङ्, शर-र्त्से ग्रव-त्शङ और म्ञह्-रिस ग्रव-त्शङ। इस अन्तिम विद्यालय की १३४२ मे द्वितीय दलाई लामा ने स्थापना की थी।

[3] स्गो-मङ्

[4] हजम-द्ब्यङ्-ब्ज्हद-प नाग-द्बङ-ब्रत्सोन-ग्रुस

[5] ब्ल-ब्रङ

[6] इन दोनो महान व्यक्तियो की आश्चर्यजनक बौद्धिक सक्रियता ने इनकी सर्वज्ञता के विचार को उत्पन्न कर दिया। जम-यङ की उपाधि कुन-म्ख्येन लामा' (सर्वज्ञ) है और लीब्निज की 'der All-und Ganzwisser' (E. Du Bois-Reymond).

धर्मोत्तर तथा अन्य प्रख्यात लेखको की कृतियो पर अपेक्षाकृत कही कम ध्यान दिया जाता है, यहाँ तक कि अधिकाश विद्वान् लामा इन्हे प्राय. आधा विस्मृत कर चुके है। श्री वोस्त्रिकोव के अनुसार इसका कारण परम्परागत क्रम मे प्रमाणवार्तिक का द्वितीय परिच्छेद होना है जिसमे एक धर्म के रूप मे बौद्धमत की स्थापना की गई है। तिब्बतियो की न्याय मे रुचि, वास्तव मे, प्रमुखत धार्मिक है। इनके लिये न्याय एक धार्मिक उपकरण है। धर्मकीर्ति का न्याय अनुभवेतर समस्त विश्वासो के आलोचनात्मक और तार्किक विनाश का एक उत्कृष्ट आयुध है, परन्तु प्रमाणवार्तिक का द्वितीय परिच्छेद एक परम और सर्वज्ञ सत्ता के अस्तित्व में आलोचनात्मक दृष्टि से परिष्कृत विश्वास की स्थापना के लिये गवाक्ष छोड देता है। धर्मकीर्ति के अन्य समस्त ग्रन्थो, तथा वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मोत्तर के ग्रन्थो मे बुद्ध के साथ समीकृत एक सर्वज्ञ सत्ता के प्रति आलोचनात्मक अनीश्वरवादी झुकाव लक्षित होता है।

पर्याप्त अर्थों मे न्याय ने तिब्बत मे कदाचित ही कोई महान प्रगति की है। धर्मकीर्ति ने ही इसे इसका अन्तिम रूप दे दिया था। तिब्बत मे इनके स्थान की, योरोपीय तर्कशास्त्र मे अरस्तू के स्थान के साथ तुलना की जा सकती है। तिब्बत का न्याय-साहित्य, इस तुलना की दृष्टि से, योरप के मध्यकालीन शैक्षिक साहित्य के समकक्ष होगा। इसका प्रमुख अभीष्ट समस्त परिभाषाओ की अत्यन्त परिशुद्धि, और शैक्षिक सूक्ष्मता मे तथा प्रत्येक वैज्ञानिक विचार को नियमित परार्थानुमान के तीन अवयवो मे घटित कर देने के प्रयास में निहित था। प्रतिज्ञा का स्वरूप, जिसमे परार्थानुमान को व्यक्त किया जा सकता है, निरर्थक है, महत्त्व केवल तीन अवयवो का ही है।

किसी वाद मे विचारो का कारणानुबन्ध प्रत्येक परार्थानुमान की एक और परार्थानुमान द्वारा पुष्टि करने मे निहित है। ऐसी स्थिति मे प्रथम परार्थानुमान का हेतु द्वितीय का साध्यपद बन जाता है, और यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि प्रथम सिद्धान्त प्राप्त नही हो जाता। इस दशा मे कारणानुबन्ध का यह स्वरूप हो जाता है यदि S है तो P है, क्योकि M है, वास्तव मे ऐसा ही है (अर्थात् वास्तव मे M है), क्योकि N है, यह पुन , वास्तव मे ऐसा ही है, क्योकि O है, इत्यादि। इनमे से प्रत्येक हेतु को प्रतिपक्षी या तो गलत अथवा अनिश्चित कहकर अस्वीकृत कर सकता है। इस प्रकार की तर्कशृङ्खला के एक सक्षिप्त निर्धारण के लिये एक विशेष साहित्यिक शैली का सृजन किया गया है जिसे 'थल-फियर'[1] विधि कहते हैं और इसकी स्थापना का श्रेय लामा छब-छोइक्यि-सेङ्गे को

---

[1] इस विधि पर एक लेख ए० वोस्त्रिकोव ने तैयार किया है।

दिया गया है। इस प्रकार, भारत मे बौद्धधर्म के लुप्त हो जाने के पश्चात्, पूर्व मे तीन भिन्न स्थान बने रहे जहाँ न्यायशास्त्र का अध्ययन होता रहा — (१) बङ्गाल मे नदिया, जहाँ ब्राह्मणवादी न्याय-वैशेषिक प्रणाली का उस रूप मे अध्ययन होता रहा जिस रूप मे वह बौद्धमत के साथ सघर्ष के फलस्वरूप प्रगट हुआ, (२) चीन और जापान मे जहाँ शङ्करस्वामी के न्यायप्रवेश पर आधारित प्रणाली का अध्ययन होता रहा, और (३) तिब्बत और मगोलिया के विहारो मे जहाँ धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक का अध्ययन समस्त पाण्डित्य का आधार बन गया।

इन तीन स्थानो मे से तिब्बत निश्चित रूप से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसने भारतीय सभ्यता के स्वर्णयुग के भारतीय दर्शन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियो को निष्ठापूर्वक सुरक्षित रक्खा है।[1]

भारतीय और तिब्बती स्रोतो के, जहाँ तक वर्तमान समय मे उनके सम्बन्ध मे हमारा सीमित ज्ञान पहुँच सकता है, आधार पर इस प्रणाली का विश्लेषण प्रस्तुत कृति का प्रमुख विषय-वस्तु होगा।

---

[1] न्याय-विषयक तिब्बती साहित्य के अधिक विस्तृत परीक्षण के लिये तुकी० वी० वरादीन दि मोनेस्टिक स्कूल्स ऑफ तिब्बत (हमारी सस्था की एक बैठक मे पठित शोधनिबन्ध)।

यथार्थ और ज्ञान

(प्रामाण्य-वाद)

§ १. बौद्ध न्याय का विषयक्षेत्र और प्रयोजन

'सभी पुरुषार्थो की सिद्धि (अनिवार्यत) सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है, अतएव हम उसी का वर्णन करने जा रहे हैं।'[१] इन शब्दो के द्वारा धर्मकीर्ति ने उस शस्त्र के अभिधेय विषय तथा प्रयोजन[२] की परिभाषा की है जिससे उनकी कृति सम्बद्ध है। मानव उद्देश्य या तो उपादेय होते हैं या हेय, अर्थात् कुछ वाच्छनीय होते हैं और कुछ अवाच्छनीय। प्रवृत्ति या अर्थक्रिया उपादेय के ग्रहण तथा हेय के त्याग मे निहित होती है। सम्यग्ज्ञान[3]ही सिद्ध ज्ञान, अर्थात ऐसा ज्ञान होता है जिसके बाद अध्यवसाय या निश्चय आता है और उसके भी बाद पुरुषार्थसिद्धि। वह ज्ञान जो भ्रमित कर देता है, जो चेतन प्राणियो के लिये उनकी आकाक्षाओ और इच्छाओ का वचक होता है, मिथ्याज्ञान होता है। सशय और विपर्यय सम्यग्ज्ञान के विरुद्धधर्मी हैं। सशय, पुन , द्विप्रकारी होता है। यह या तो पूर्ण सशय होता है जो सर्वथा अ-ज्ञान होता है क्योकि इसमे कोई भी अध्यवसाय या निश्चय सम्मिलित नही होता। परन्तु जब अर्थसशय या अनर्थसशय होता है तब इसके बाद उसी प्रकार निश्चय और पुरुषार्थ आते हैं जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान के पूर्व। एक कृषक को पहले से ही श्रेष्ठ उपज का निश्चय नही होता, परन्तु वह उसकी आशा करता है, और पुरुषार्थ करता है।[४] उसकी पत्नी को पहले से यह निश्चय नही होता कि उसके द्वार पर भिक्षुक आयेगा और उसे घर के लोगोके लिये उद्दिष्ट भोजन भिक्षुक को दे देना पडेगा। वह यही आशा करती है कि कोई नही आयेगा, और अपने पात्रो को चूल्हे पर चढा देती है।[५]

---

[१] न्यावि०, अनुवाद पृ० १

[२] अभिधेय-प्रयोजने।

[3] सम्यग्-ज्ञान = प्रमाण

[४] तसप० पृ० ३ ५

[५] वही। तुकी० सदस० पृ० ४

जिस रूप मे है उस रूप मे धर्मकीर्ति की परिभाषा आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा स्वीकृत परिभाषा से बहुत दूर नही है। मनोविज्ञान की मानसिक घटना के विज्ञान के रूप मे परिभाषा की गई है और मानसिक घटना वह होती है[1] जो "भावी अभीष्टो के अनुसरण तथा उनकी सिद्धि के माध्यमो के विकल्पो मे उपलक्षित होती है।"[2] इस भारतीय शास्त्र का विषय-क्षेत्र केवल 'विज्ञानात्मक मानसिक घटनाओ, सत्य और विपर्यय, तथा मानव ज्ञान के अनुसन्धान तक ही सीमित है। इस शास्त्र मे मन के सवेगात्मक धर्मो का अनुसन्धान नही किया गया है। स्वय ज्ञान की परिभाषा से ही यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक विज्ञान मे यद्यपि अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे सदैव ही सवेग, अर्थात कोई इच्छा या कोई अनिच्छा वर्तमान रहती है। विज्ञान के बौद्ध-सिद्धान्त के इस तथ्य का पर्याप्त महत्त्व है क्योकि जिसे अह या आत्मा कहा गया है उसे इसी सवेगात्मक अश से युक्त माना गया है। परन्तु समस्त सवेग या वेदनायें तथा उनके महाभूमिको का विवेचन अन्य बौद्ध-शास्त्रो[3] का विषय-वस्तु है, और उसका सत् तथा विपर्यय के अनुसन्धान के सन्दर्भ मे विवेचन नही किया गया है।

जैसे कि प्रस्तावना मे कहा जा चुका है, बौद्धन्याय का उदय पूर्ण सशयवाद की उस पद्धति की विरुद्ध-प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ जिसने सामान्य रूप

---

[1] वि० जेम्स मनोविज्ञान, १८ (१८९०)।

[2] सम्यग्ज्ञान की इस परिभाषा ने, जो ज्ञान को मनुष्य की इच्छा या अनिच्छा पर आधारित कर देती है, यथार्थवादियो मे आपत्ति की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी। इन लोगो ने इस तथ्य की ओर सकेत किया कि, उदाहरण के लिये, चन्द्रमा या नक्षत्रो का सम्यग्ज्ञान होता है जो निरीक्षक की इच्छा पर निर्भर नही होते, इन्हे न तो इच्छित वस्तुओ के वर्ग मे सम्मिलित किया जा सकता है और न अनिच्छित, ये तो केवल अप्राप्य हैं। बौद्धो ने इस आपत्ति का यह कह कर उत्तर दिया है कि अप्राप्य वर्ग को अनिच्छित वर्ग मे ही सम्मिलित किया जाना चाहिये क्योकि वस्तु के दो ही प्रकार होते हैं—एक वह जो इच्छित और दूसरा वह जिसकी इच्छा का कोई कारण नहीं होता चाहे वह हानिकार हो अथवा केवल अप्राप्य। तुकी० ताटी०, पृ० १५७ और बाद।

[3] समस्त सवेगो सहित मानसिक घटनाओ का पूर्ण वर्गीकरण अभिधर्म का एक अंग है, तुकी० सेक०, पृ० १०० और बाद।

से समस्त मानव-ज्ञान की निराशाजनक विरोधाभासो मे लिप्त होने के रूप मे भर्त्सना की। अत जिस आधारभूत समस्या से यह सम्बद्ध है वह है हमारे ज्ञान अर्थात् उस मानसिक घटना की प्रामाणिकता जो समस्त पुरुषार्थ-सिद्धि के पूर्व घटित होती है। यह हमारे ज्ञान, प्रत्यक्ष, विकल्पो, धारणाओ, निश्चय, तथा अनुमान के स्रोतो का अनुसन्धान करता है और इसमे परार्थानुमान तथा हेत्वाभासो के विस्तृत सिद्धान्त भी आते हैं। तदनन्तर यह विशेयार्थ तथा विकल्पात्मक कल्पना के सामर्थ्य की समस्या का विवेचन करता है। प्रश्नो की एक शृङ्खला आरम्भ हो जाती है। सत्ता क्या है, कल्पना क्या है? ये किस प्रकार सम्बद्ध हैं? सत्ता-मात्र क्या है, और कल्पना मात्र क्या है? अर्थ-क्रिया-समर्थ क्या है?

विज्ञान का अव्यक्त अश अनुसन्धान का विषय नही है। बौद्धन्याय केवल प्रमाणभूत विचारो का, उन विज्ञानो का ही अनुसन्धान करता है जो तज्जनित पुरुषार्थ के द्वारा निरूपणीय होते है। यह भावना तथा पशु-विचारो को अविवेच्य मानता है, जिनमे से बाद वाले को इसलिये कि यह सदैव न्यूनाधिक वासनात्मक या भावनात्मक होता है और अर्थक्रिया सीधे अन्तर्गामी उद्दीपक का अविचारत या आपातत परिणाम होती है। हेतु-शृङ्खला के मध्यवर्ती अवयव अनिरूपणीय होते हैं। नवजात शिशु तथा पशु केवल इन्द्रिय, प्रत्यक्ष और वासना (= भावना) जो केवल प्राग्भवीया भावना[1] मात्र होती है, से युक्त होते हैं, किन्तु इनमे पूर्ण प्रमाण-भूत भावना नही होती। इस विषय पर धर्मोत्तर ने अपने को इस प्रकार व्यक्त किया है।[2] 'सम्यग्ज्ञान दो प्रकार का होता है। यह या तो (भावनात्मक) होता है जैसा कि अर्थक्रिया मे (सीधे) निर्भासित होता है, अथवा (प्रमाणभूत, जो अर्थ क्रिया-समर्थ साधन का प्रवर्तक होता है। इन दोनो मे से यहाँ द्वितीय का ही परीक्षण किया जायगा। यह सदैव अर्थ-क्रिया के पूर्व तो होता है परन्तु यह (इस प्रकार की क्रिया के रूप मे) साक्षात् प्रकट नही होता। जब हम सम्यग्ज्ञान प्राप्त करते हैं तो हमे उसका स्मरण अवश्य करना चाहिये जो हमने पहले देखा है—अर्थात् पूर्वदृष्ट का स्मरण करना चाहिये। स्मरण अभिलाषा को उद्दीप्त करता है, अभिलाषा से प्रवृत्ति उत्पन्न होती हैं, प्रवृत्ति अभीष्ट को प्राप्त करती है। अत यह साक्षात् हेतु (अर्थात् मध्यवर्ती हेतु-

---

[1] प्राग्-भवीया भावना=अविचारित अनुसन्धान। पशुओं और मनुष्यो मे 'भावना' के विषय पर देखिये न्याकणि० पृ० २५२

[2] न्याविटी०, अनुवाद, पृ० ९-१०

शृङ्खला से रहित हेतु) नही है । जहाँ अर्थक्रिया का साक्षात् निर्भास होता है और प्रवृत्ति सीवे अभीप्ट प्राप्त कर लेती है, वहाँ (ज्ञान भावनात्मक होता है और) वह परीक्षणीय नही होता ।"

अत बौद्ध न्याय मे हमारे प्रमाणभूत विचारो का ही विश्लेपण किया गया है । यह विपय तीन प्रमुख भागो मे विभक्त है जो क्रमश ज्ञान की उत्पत्ति, उसके रूप, और उसकी वाचिक अभिव्यक्ति से सम्वद्ध हैं । इन तीन प्रमुख विपयो को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान कहा गया है, किन्तु ये हमारे वाह्यार्थ के आदि-स्रोत के रूप मे प्रत्यक्ष का, इस ज्ञान के रूप को उत्पन्न करनेवाले स्रोत के रूप मे वुद्धि का, और विज्ञानात्मक पद्धति की पूर्ण वाचिक अभिव्यक्ति के रूप मे परार्थानुमान का भी विवेचन करते हैं । इस प्रकार इनके अन्तर्गत ज्ञानमीमासा तथा औपचारिक तर्कशास्त्र दोनो ही आ जाते हैं ।

§ २. ज्ञान का स्रोत क्या है

सम्यग्ज्ञान के स्रोत की परिभाषा निश्चय ही इसका अनुसन्धान करने वाले के अभिवेय और प्रयोजन की परिभाषा का एक स्वाभाविक परिणाम है । सम्यग्ज्ञान का स्रोत अविसवादक प्रमाण[१] होता है । यदि कोई मनुष्य सत्य वोलता है और उसके शब्द वाद मे अनुभव द्वारा मिथ्या नही सिद्ध होते तो हम समान्य जीवन मे उसे सम्यग्ज्ञान का स्रोत कह सकते हैं । इसी प्रकार शास्त्र मे हम उस प्रत्येक विज्ञान को सम्यग्ज्ञान का स्रोत या केवल सम्यग्ज्ञान कहते हैं है जो अनुभव द्वारा अविसवादक नही सिद्ध होता, क्योकि सम्यग्ज्ञान पुरुषार्थसिद्धि-कारण के अतिरिक्त और कुछ नही । सम्यग्ज्ञान द्वारा प्रभावित होने पर हम क्रिया और उससे अर्थ-सिद्धि करते हैं—अर्थात् हम ऐसे विन्दु पर पहुँचते है जो हमारे क्रियात्मक व्यवहार का विन्दु होता है । यही विन्दु 'अर्थ क्रिया-क्षमम् वस्तु' है और जो क्रिया इसको प्राप्त करती है उसे प्रवृत्ति (= अर्थ क्रिया) कहते हैं । इस प्रकार, हमारे ज्ञान की तार्किकता और उसके व्यवहारिक सामर्थ्य के वीच एक सम्वन्ध स्थापित होता है । अत सम्यग्ज्ञान (= प्रमाण) प्रापक ज्ञान है ।[२]

ज्ञान के स्रोत होने का वास्तविक अर्थ ज्ञान का कारण होना है । कारण दो प्रकार का होता है, एक कारक और दूसरा ज्ञापक । यदि ज्ञान कारक कारण या भौतिक कारणता के अर्थ मे कारण हो तो यह मनुष्य को तत्सम्व-

[१] 'प्रमाणम् अविसवादि', तुर्की न्याविटी० पृ०३ ५

[२] न्याविटी०, पृ० १४ २१ 'प्रापकम् ज्ञानम प्रमाणम् ।'

न्धी क्रिया करने के लिए बलात विवश कर देगा।[१] परन्तु यह केवल ज्ञापन करता है, विवश नही करता, यह केवल मानसिक कारणत्व है।

सम्यग्ज्ञान की इस परिभाषा मे हमे सर्वप्रथम जिस बात का आभास होता है वह है इसकी अनुभवात्मक प्रतीत होने वाली प्रकृति। सम्यग्ज्ञान प्रतिदिन सम्यग्ज्ञान होता है। यह किसी परमसत्ता का विज्ञान नही, किसी वस्तु का उसी रूप मे विज्ञान नही जैसा कि उसका वास्तविक रूप होता है, अथवा बाह्यार्थ के सत्-असत् का विज्ञान नही। साधारण मनुष्य अपने दैनिक कार्यों मे बाह्य वस्तुओ का अपनी इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष करता है और उसे इन वस्तुओ तथा अपनी इन्द्रियो के बीच एक अनिवार्य सम्बन्ध का निश्चय होता है।[२] अथवा वह किसी दूरस्थ स्थान मे छिपी किसी वाञ्छनीय वस्तु के लिङ्ग का प्रत्यक्ष करता है और उसे उस छिपे अभीष्ट तथा प्रत्यक्ष होनेवाले लिङ्ग के बीच अनिवार्य सम्बन्ध का निश्चय होता है, अत वह क्रिया करता है, और उसको सिद्धि होती है।[3] इस प्रकार के सरल मनुष्य जिस ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं उसमे एक तार्किक अनिवार्यता लक्षित होती है, और धर्मोत्तर का कथन है कि इसी ज्ञान का शास्त्र मे विचार किया गया है।[४]

यह आशा करना स्वाभाविक होगा कि इस प्रकार की यथार्थवादी सामान्य प्रवृत्ति के लिये एक यथार्थवादी न्याय-पद्धति को भी उत्पन्न करना आवश्यक है। वास्तव मे इन शब्दो मे अपने को व्यक्त करते हुए चन्द्रकीर्ति हमारे सम्मुख बौद्ध नैयायिको का प्रतिनिधित्व करते हैं[५] "हम केवल उसी का शास्त्रीय वर्णन कर रहे हैं जो साधारण जीवन मे हमारे ज्ञान का स्रोत और उसके अर्थ के सम्बन्ध मे घटित होता है। नैयायिक (भी यथार्थवादी हैं परन्तु वे) न्यायशास्त्र मे अनिपुण हैं। उन लोगो ने न्याय-विधियो की त्रुटिपूर्ण परिभाषायें की हैं, और हम लोगो ने केवल उन्हे सशोधित किया है।" चन्द्रकीर्ति का कथन है कि यदि न्याय सम्प्रदाय के यथार्थवाद तथा बौद्धन्याय मे वास्तव मे कोई अन्तर न होता तो यह कार्य कदाचित व्यर्थ होता[६]। परन्तु स्थिति ऐसी नही है।

[१] न्याबिटी०, पृ० ३ ८

[२] न्याबिटी० पृ० ३ १२

[३] वही, पृ० ३ १५

[४] वही, पृ० ३ २४

[५] तुकी० चन्द्रकीर्ति मावृ० पृ० ५८ १४ और बाद (मेरे 'निर्वाण' मे अनूदित पृ० १४०)।

[६] वही ।

न्यायशास्त्र सम्बन्धी बौद्ध संशोधनात्मक कार्य ने सरल यथार्थवाद के पीछे एक दूसरे ससार की खोज को सम्भव किया है—ऐसा ससार जो विज्ञान के आलोचनात्मक सिद्धान्त द्वारा उद्घाटित होता है। चन्द्रकीर्ति के अत्यन्त सशयवादी दृष्टिकोण से तुलना करने पर बौद्ध न्याय एक यथार्थवादी पद्धति प्रतीत होता है, परन्तु नैयायिको के अनुवर्ती तथा दृढाग्रही यथार्थवाद से तुलना करने पर यह आलोचनात्मक और उच्छेदक प्रतीत होता है। हमारे दैनिक विज्ञान मे क्या होता है इसके सम्बन्ध मे एक अधिक गहन अन्तर्दृष्टि ने बौद्धो को अनुभवात्मक सत् के आवरण के पीछे उसके एक बोधातिरिक्त स्रोत की स्थिति की, वस्तुओ के उनके वास्तविक स्वरूप के ससार की स्थापना के लिये प्रेरित किया। चन्द्रकीर्ति के अनुसार परमार्थ सत् का ज्ञान केवल योगि-प्रत्यक्ष द्वारा ही हो सकता है।[1] अत ये दैनिक जीवन के सरल न्याय के अतिरिक्त अन्य किसी भी तर्कशास्त्र की निरर्थक होने के रूप मे भर्त्सना करते है। परन्तु दिङ्नाग के लिये, जैसा कि हम अपने इस विश्लेषण के प्रसग मे आगे देखेगे, न्याय एक नैमित्तिक यथार्थ के आधार पर दृढतापूर्वक खड़ा है, एक ऐसा यथार्थ जो उससे अत्यन्त भिन्न है जिसमे सरल यथार्थवाद विश्वास करता है।

§ ३. ज्ञान और प्रत्यभिज्ञा

अविसवादक अनुभव की विशिष्टता के अतिरिक्त सम्यग्ज्ञान के माध्यम की एक अन्य विशिष्टता भी है। ज्ञान एक सर्वथा नवीन ज्ञान[2], अर्थात् अनधिगत अर्थ का अधिगन्तृ होता है। ज्ञान के प्रथम क्षण, उसके अधिगम के प्रथम क्षण, अथवा उस ज्ञान के प्रथम प्रादुर्भाव के समय ही ज्ञान का प्रकाश प्रज्वलित होता है।[3] स्थायी ज्ञान या प्रमाण प्रत्यभिज्ञा है[4], यह अधिगत विषय के प्रथम प्रादुर्भाव के बाद के क्षणो मे होने वाले उसके अभीक्ष्ण ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही। इसका निश्चित अस्तित्व होता है, किन्तु यह प्रमाण का एक पृथक् स्रोत नही है। "ऐसा क्यो है ?" यह प्रश्न करके दिङ्नाग[5] यह उत्तर

[1] वही (मेरा 'निर्वाण'), पृ० ४४ और बाद।

[2] अनधिगत-अर्थ-अधिगन्तृ = प्रथमम्-अविसवादि = सर-दु-मि-स्लु-ब।

[3] न्याविटी० ३ ११ येनैव-ज्ञानेन प्रथमम् अधिगतोऽर्थ-... तद् अनधिगत-विषयम् प्रमाणम्।

[4] तुकी० न्याविटी० पृ० ४ १० ११: 'अधिगत-विषयम् अप्रमाणम्...... अनधिगत-विषयम् प्रमाणम्

[5] प्रसमु० १.३।

देते है "क्योंकि कोई सीमा नहीं होगी।" अर्थात् यदि प्रत्येक ज्ञान को सम्यग्ज्ञान या प्रमाण का एक पृथक् स्रोत मान लिया जाय तो इस प्रकार के प्रमाण के स्रोतों का कहीं अन्त नहीं होगा। स्मृति, प्रेम, घृणा, इत्यादि उन अर्थों के प्रति निर्देशित होते है जिनका ज्ञान हो चुका है, इन्हे प्रमाण का स्रोत नही माना जाता। हमारे मानस का ज्ञेयतत्व उस क्षण तक सीमित होता है जब हमें किसी अर्थ की उपस्थिति सर्वप्रथम अधिगत होती है। उसके पश्चात् बुद्धि की सश्लेषणात्मक प्रक्रिया चलती है जो अर्थ के आकार या प्रतिमा का निर्माण करती है। परन्तु यह निर्माण कल्पना[1] द्वारा उत्पन्न होता है, यह ज्ञान का स्रोत नहीं होता। यह प्रत्यभिज्ञा है ज्ञान नहीं।[2]

ज्ञान का स्रोत क्या है, इसकी मीमासक भी, यही परिभाषा देते है, अर्थात् यह कि अनधिगत अर्थ का अधिगन्तृ ही प्रमाण है।[3] प्रत्येक परवर्ती क्षण में अर्थ तथा उसका ज्ञान एक नवीन काल द्वारा चरितार्थ होता है परन्तु वस्तुत ये वही रहते है, वही बने रहते है। नैयायिक सम्यग्ज्ञान की इस प्रकार परिभाषा देते हैं "ज्ञान-साधक कारणों में जो साधकतम होता है उसे प्रमाण कहते हैं",[4] क्योंकि ऐसे कारण ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि होते हैं। ये परिभाषायें स्थायी, स्थिर कारणों, स्थायी ज्ञान और राशिभूत सामान्यों तथा ऐसे साधारण और विशिष्ट गुणों से युक्त स्थिर अर्थों की पूर्वकल्पना करती हैं जो स्मृत्यात्मक तत्त्वों से अत्यधिक मिश्रित होकर एक सविकल्पक प्रत्यक्ष के रूप में इन्द्रियों द्वारा अधिगत होते हैं। बौद्ध सिद्धान्त केवल अर्थों को क्षणों के रूप में, घटनाओं के सूत्र के रूप में ग्रहण, तथा ज्ञान के दो भिन्न साधनों के रूप में इन्द्रियों और बुद्धि के बीच एक तीव्र विभेद करता है। इन्द्रियां अधिगमन करती है, बुद्धि निर्माण करती है। इस प्रकार, प्रथम क्षण सदैव विज्ञान का क्षण होता है, इसमें उस बुद्धि की क्रिया को प्रज्वलित कर देने की शक्ति होती है जो स्वय अपने नियमों के अनुसार क्षणों का सश्लेषण करती है।[5] बाह्य जगत में ऐसा कोई राशिभूत सामान्य नहीं होता जिसकी इस सश्लेषण के साथ पर्याप्त अनुरूपता हो। यदि कोई अर्थ अधिगत होता है तो उसके बोध के प्रथम क्षण के ठीक बाद एक स्फुट आभा प्रगट होती है।

---

[1] = विकल्प।

[2] सविकल्पकम् अप्रमाणम्

[3] अनधिगत-अर्थ-अधिगन्तृ प्रमाणम्।

[4] साधकतमम् ज्ञानस्य कारणम् प्रमाणम्।

[5] तस० पृ० ३९० अविकल्पकम् अपि ज्ञानम् विकल्पोत्पत्ति-शक्तिमत्।

यदि इस आभा का उस अर्थ के लक्षण से अनुमान होता है तो यह लक्षण वोध के एक प्रथम क्षण को भी उत्पन्न करता है जिसके वाद लक्षण की एक स्फुट आभा और उसके साथ सदैव सयुक्त अर्थ की एक अस्फुट आभा भी उत्पन्न होती है। किन्तु दोनो ही दशाओ यह वोध का प्रथम क्षण ही होता है जो सम्यग्ज्ञान का, अर्थसवाद के स्रोत का, निर्माण करता है।

इस वात की कल्पना भी नही की जा सकती कि कोई अर्थ अपने अस्तित्व के गत या भावी क्षणो द्वारा किसी उद्दीपक को उत्पन्न करेगा।[1] केवल उसका वर्तमान क्षण ही उद्दीपक को उत्पन्न करता है। अत जहाँ तक ज्ञान, नवीन ज्ञान—प्रत्यभिज्ञा नही—का प्रश्न है, यह केवल एक क्षण होता है, यही क्षण प्रमाण का, अथवा अर्थ की चरम यथार्थता तक पहुँचनेवाले प्रमाण का, वास्तविक स्रोत होता है।[2]

§ ४. यथार्थ का प्रमाप

यत अनुभव ही यथार्थ का एकमात्र प्रमाप है, अत स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि जो कारण प्रमाण को उत्पन्न करते है, क्या वे ही साथ ही साथ उस प्रमाण के प्रामाण्य को भी उत्पन्न करते हैं, अथवा क्या प्रमाण एक प्रकार से उत्पन्न होता है और उसके प्रामाण्य की मानस की एक परवर्ती प्रक्रिया द्वारा स्थापना होती है ?

इस समस्या का सर्वप्रथम उन मीमासको ने साक्षात्कार किया जो वेद के निरपेक्ष प्रामाण्य की स्थापना करना चाहते थे। चार समाधान प्रस्तुत किये गये[3] और ये सव एक दीर्घकाल तक भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायो के वीच विवाद के विषय वने रहे। मीमासको के अनुसार समस्त प्रमाण (ज्ञान) तत्त्वत यथार्थ ज्ञान ही होता है—उसमे स्वत प्रामाण्य होता है क्योकि वह प्रमाण होता है, त्रुटि या भ्रम नही। उसे केवल दो दशाओ में ही अपवाद के रूप में भ्रमज्ञान कहा जा सकता है—या तो उस समय जव वह किसी अन्य और तीव्र वोध द्वारा वाधित होता है[4] अथवा जव उसकी

---

[1] न्यकणि०, पृ० २६०,४ न सन्तानो नाम कश्चिद् एक उत्पादक-समस्ति।

[2] नैयायिक और मीमासक नि सन्देह इस सिद्धान्त को अस्वीकृत करते हैं 'कथम् पूर्वम् एव प्रमाणम् नोत्तराण्य् अपि', तुकी० ताटी० पृ० १५६।

[3] तुकी० शादी० पृ० ७४ और वाद।

[4] "वाधक-ज्ञान" जैसे रजत के रूप मे मिथ्या ग्रहण कर लिये गये शुक्ति का वाद मे ही शुक्ति के रूप मे ज्ञान होता है।

उत्पत्ति में कारण दोष सिद्ध होता है, जैसे एक रगान्ध व्यक्ति को गलत रगो का बोध होना। इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है कि ज्ञान स्वत प्रमाण होता है, उसके अप्रामाण्य की केवल मन की परवर्ती क्रियाओ द्वारा ही स्थापना की जा सकती है।[१] कमलशील का यह कथन है[२] "वेद के प्रामाण्य की स्थापन करने के लिये जैमिनीय यह मानते हैं कि सामान्य रूप से ज्ञान के उनके समस्त स्रोत स्वय सिद्ध होते है और भ्रम परवर्ती या अन्य कारणो से उत्पन्न होता है।"

बौद्धो का मत इनके विपरीत है। इनके अनुसार प्रमाण मे स्वय प्रामाण्य नही होता। तत्त्वत यह अप्रामाणिक और भ्रामक होता है। यह केवल उसी समय प्रामाणिक बनता है जब मानस की एक परवर्ती प्रक्रिया द्वारा इसका परीक्षण हो जाता है। सम्यक् ज्ञान या प्रमाण का प्रभाप उसकी प्रापकता है। सम्यक् ज्ञान ही प्रापक ज्ञान है। सहत अनुभव के द्वारा सत्य की स्थापना हो जाती है। इसलिये यह नियम बनाया गया है कि ज्ञान का प्रामाण्य परवर्ती या अतिरिक्त कारण द्वारा उत्पन्न होता है, क्योकि अनुभव स्वय अपने मे अप्रामाणिक होता है।[३]

नैयायिक यह मानते है कि ज्ञान स्वय अपने मे न तो प्रामाणिक होता है और न भ्रामक। यह बुद्धि के एक परवर्ती विवेचन द्वारा ही इनमे से प्रथम अथवा द्वितीय सिद्ध हो सकता है। अनुभूति ही यथार्थ की प्रमा है और यही दोष या अप्रमा की भी जनक है।[४] इस प्रकार यह नियम बनाया गया है कि यथार्थ अथवा अप्रमा उन कारणो द्वारा उत्पन्न नही होते जो बोध उत्पन्न करते हैं बल्कि बाह्य कारणो या परवर्ती अनुभव द्वारा उत्पन्न होते हैं।[५]

अन्तत, अपने सप्तभगी मत और स्याद्वाद के सामान्य विचार के अनुसार जैन यह मानते हैं कि किसी परवर्ती विवेचन की अपेक्षा किये बिना ही प्रत्येक ज्ञान स्वय अपने मे 'यथार्थ और अयथार्थ दोनो ही हो सकता है।[६] यह सदैव ही कुछ सीमा तक यथार्थ होता है और कुछ सीमा तक अयथार्थ।

---

[१] 'प्रामाण्यम् स्वत, अप्रामाण्यम् परत'।

[२] तसप० पृ० ७४५ १।

[३] अप्रमाण्यम् स्वत, प्रामाण्यम् परत।" नि सन्देह इससे केवल "अनभ्यास-दोशा-आपन्न-प्रत्यक्ष" का सन्दर्भ है,'अनुमान' का नही जो 'स्वत प्रमाण' होता है। तुकी० ताटी० पृ० ९४ और बाद।

[४] दोषोऽप्रमाया जनक, प्रमायास् तु गुणो भवेत्।"

[५] 'उभयम् परत'।

[६] 'उभयम् परत'।

बौद्ध इस बात पर ज़ोर देते हैं कि यदि एक विचार उत्पन्न हो जाता है, तो वह स्वय अपने मे इस बात की स्थापना करने के लिये कदापि पर्याप्त नही कि वह सत्य है और यथार्थ के अनुकूल है।[1]अभी इनके बीच एक अनिश्चितता का सम्बन्ध होता है और व्यभिचार सम्भव हो सकता है। ऐसे स्तर पर[2] विज्ञान सर्वथा अप्रामाणिक होता है। परन्तु बाद में, जब उसके कारण का विवेचन कर लिया जाता है[3], जब उसे अनुभव के अनुकूल पाया जाता है[4], जब उसकी अर्थ-क्रिया का निश्चय हो जाता है[5], केवल तभी हम यह मान सकते हैं कि वह यथार्थ को व्यक्त करता है, और तभी हम उसकी यथार्थता के विरुद्ध समस्त आपत्तियो का प्रतिवाद कर सकते हैं। जहाँ तक शब्द प्रामाण्य का प्रश्न है इसका शब्दो का उच्चारण करनेवाले व्यक्ति के प्रामाण्य के आधार पर परीक्षण किया जाना चाहिये।[6] वेद की दशा में इस प्रकार का आप्त प्रमाण उपलब्ध नही है क्योंकि उसकी उत्पत्ति को अपौरुषेय तथा शाश्वत माना गया है। किन्तु यत वेद मे हमें इस प्रकार के वक्तव्य मिलते हैं, जैसे "वृक्ष यज्ञ-सत्र में विराजमान हैं" अथवा "हे पाषाण! सुनो?" और ऐसे वाक्यो का केवल विक्षिप्तो द्वारा ही उच्चारण किया गया होगा, अत यह स्पष्ट है कि इनकी अत्यन्त अप्रामाणिक अथवा अनाप्त व्यक्तियो से ही उत्पत्ति हुई है, और यह भी स्पष्ट है कि अनुभव द्वारा परीक्षण करने पर भी वेद में कोई प्रामाण्य नही मिलता।[7]

§ ५. अनुभव सम्बन्धी यथार्थवादी और बौद्ध दृष्टिकोण

परन्तु, यद्यपि बौद्धो के अनुसार अनुभव ही हमारे ज्ञान का प्रमुख स्रोत है और इस विषय पर इनका मत यथार्थवादी-सम्प्रदायो के अनुरूप है, तथापि दोनो के बीच 'अनुभव' की प्रकृति को ग्रहण करने के विषय पर जो अन्तर है वह बहुत अधिक है। भारतीय यथार्थवादियो, जैसे मीमासको, वैशेषिको और नैयायिको के अनुसार, ज्ञान की क्रिया अपने विषयवस्तु से भिन्न होती है। इन सम्प्रदायो के अनुसार विज्ञान अथवा बोध की क्रिया को, जैसा

[1] शादी पृ० ७६।

[2] 'तस्याम् वेलायाम्', वही।

[3] 'कारण-गुण-ज्ञानात्'।

[4] 'सवाद-ज्ञानात्'।

[5] 'अर्थ-क्रिया-ज्ञानात्'।

[6] 'आप्त-प्रणीतत्वम् गुण'।

[7] शादी पृ० ७७।

अनुपात मे परिवर्तित होती है।[1] प्रकाश के एक दूरस्थ विन्दु के आकार के रूप मे परिणत हो जाने पर भी वह उस समय तक एक स्पष्ट कल्पना-चित्र उत्पन्न करती है जब तक वह यथार्थ होती है, अर्थात् विद्यमान तथा दृश्येन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होती रहती है। ऐसी अग्नि जो अनुपस्थित है, जो केवल काल्पनिक है, जो न तो वास्तव मे जलती है, न कुछ पकाती है और न कोई प्रकाश ही फैलाती है, एक असत् या अयथार्थ अग्नि होती है।[2] वह एक अस्पष्ट, अमूर्त और सामान्य कल्पना-चित्र ही उत्पन्न करती है। यदि उसकी तीव्र कल्पना की जाय तो भी वह एक यथार्थ, विद्यमान अग्नि की तात्कालिक स्पष्टता से रहित होगी। अस्पष्टता की मात्रा कल्पना की शक्ति के विपरीत अनुपात मे परिवर्तित होगी, समीपता अथवा दूरी के प्रत्यक्ष अनुपात मे नही। केवल विद्यमान, 'यहाँ', 'अभी', 'यह', मात्र ही यथार्थ होते हैं। प्रत्येक वह जो गत है अयथार्थ है,प्रत्येक वह जो भावी है अयथार्थ है, प्रत्येक वह जो काल्पनिक है, अनुपस्थित है, मानसिक है धारणात्मक है, सामान्य है, वह अयथार्थ है, प्रत्येक सामान्य या जाति, चाहे स्थूल सामान्य हो अथवा अमूर्त सामान्य, अयथार्थ होता है। समस्त व्यवस्थायें तथा समस्त सम्बन्ध, सम्बद्ध वस्तुओ से पृथक् रूप से देखने पर अयथार्थ होते हैं। अन्ततोगत्वा भौतिक स्वलक्षणत्व का केवल वर्तमान क्षण ही यथार्थ होता है,

फिर भी, इस परम अथवा प्रत्यक्ष यथार्थ के अतिरिक्त, एक अन्य अप्रत्यक्ष यथार्थ भी होता है जिसे द्वितीय स्तर का या गृहीत यथार्थ कह सकते हैं। जब कोई मानसिक प्रतिमा विषयभूत और किसी बाह्य यथार्थ के साथ समीकृत होती है तब वह एक आरोपित यथार्थता प्राप्त करती है। इस विशेष दृष्टिकोण से पदार्थो का यथार्थ और अयथार्थ वस्तुओ के, यथार्थ और अयथार्थ गुणो के रूप मे विभेद किया जा सकता है[3]। यथार्थ वस्तु का एक उदाहरण 'गाय' है। अयथार्थ वस्तु के रूप मे बौद्धो के लिये,ईश्वर और आत्मा, तथा साथ ही साथ सांख्यो की मूल प्रकृति का भी उदाहरण दिया जा सकता है। यथार्थ गुण का एक उदाहरण 'नीला' है, अयथार्थ गुण का अपरिवर्तनशील शाश्वत, क्योंकि बौद्धो के लिये कुछ भी अपरिवर्तनशील तथा शाश्वत नही है। हमारे मन की वह कल्पनायें जो इस अप्रत्यक्ष यथार्थ तक से युक्त नही है वह सर्वथा अयथार्थ होती है, वे केवल अर्थ-विहीन शब्द मात्र

---

[1] न्यायबि० १ १३।

[2] न्याबिटी० पृ० १४ ६।

[3] ताटी० ३३८ १३ तुकी अनुवाद भाग २, परिशिष्ट ५।

होती हैं, जैसे आकाश मे पुष्प, मरुभूमि मे अप्सरा-मरीचिका, खरहे के सर पर सीग, वाँझ का पुत्र, इत्यादि।

ये सभी पदार्थ विशुद्ध कल्पनायें हैं, केवल शब्दमात्र जिनके पीछे लेशमात्र भी विषयगत यथार्थता नही है। इनके प्रत्यक्ष विपरीत विशुद्ध यथार्थ है जिसमे कल्पनात्मक उत्पादन का लेशमात्र भी नही होता। इन दोनो के बीच एक अर्धकल्पित ससार होता है, एक ऐसा ससार जो यद्यपि रचित कल्पनाचित्रो से युक्त होते हुये भी विषयगत यथार्थ के दृढ आधार पर स्थापित होता है। यह प्रापञ्चिक ससार होता है। इस प्रकार, दो प्रकार की कल्पनायें होती हैं एक विशुद्ध और दूसरी यथार्थता से मिश्रित। इसी प्रकार यथार्थ या सत् भी दो प्रकार का होता है एक विशुद्ध और दूसरा कल्पना-मिश्रित। एक यथार्थ या सत् ऐसे क्षणो[1] से निर्मित होता है जिनका अभी न तो काल के अन्तर्गत कोई निश्चित स्थान होता है, न दिक् के अन्तर्गत कोई निश्चित स्थान होता है, और न इनमे कोई इन्द्रियग्राह्य गुण ही होता है। यह परमार्थ सत् होता है। दूसरा सत् या यथार्थ विषयभूत कल्पनाचित्रो से निर्मित होता है जिसको हम लोग काल के अन्तर्गत एक स्थान तथा दिक् के अन्तर्गत एक स्थान प्रदान करते हुये समस्त ग्राह्य और अमूर्त गुणो से युक्त कर देते हैं। इसे सवृत्ति-सत् कहते हैं।

वौद्ध नैयायिको की यही दो यथार्थतायें हैं—एक परमार्थ अथवा चरम सत् जो विशुद्ध ज्ञान मे प्रतिभासित होता है, और दूसरा कल्पित अथवा अनुभूत सत् जो विषयभूत कल्पनाचित्रो मे प्रतिविम्बित होता है।

जहाँ भी यथार्थ[2] के साथ एक अप्रत्यक्ष सम्वन्ध होता है, हमे अर्थसवाद[3] मिलता है, हाँ अलवत्ता परमार्थ सत् के दृष्टिकोण से यह अनुभव एक भ्रान्ति[4] होता है। इस दृष्टिकोण से एक सम्यक् अनुमान भी 'भ्रान्त अनुमान'[5] होता है, चाहे वह ठीक ही हो। वह केवल प्रत्यक्ष रूप से नही वल्कि अप्रत्यक्ष रूप से ही सत्य होता है।

§७. ज्ञान के प्रामाण्य की द्विविध प्रकृति

अभी ऊपर उल्लिखित यथार्थता की द्विविध प्रकृति, अर्थात् प्रत्यक्ष, परम अथवा अनुभवातीत यथार्थ, तथा अप्रत्यक्ष अथवा अनुभवात्मक यथार्थ, की

---

[1] =स्वलक्षण

[2] तसप० पृ० २७४ २४ 'पारम्पर्येण वस्तु-प्रतिवन्ध'।

[3] 'अर्थ-सवाद', वही ('असवाद' नही !)।

[4] 'भ्रान्तत्वेऽपि', वही।

[5] न्याविटी० पृ० ८१२ 'भ्रान्तम् अनुमानम्'।

कि वास्तव मे प्रत्येक अन्य क्रिया सम्बद्ध होती है, एक साधक, एक पदार्थ, एक उपकरण, और एक प्रक्रियात्मक प्रणाली से अवश्य सम्बद्ध होना चाहिये।[1] जब एक लकडी काटनेवाला वन मे एक वृक्ष को काट देता है, तो वह एक साधक, वृक्ष पदार्थ, कुल्हाडी उपकरण, और कुल्हाडी का उठना-गिरना प्रक्रियात्मक प्रणाली होती है। परिणाम इस तथ्य मे निहित होता है कि वृक्ष काट दिया गया। जब कोई व्यक्ति किसी रग को देखता है तो उसका आत्मा अथवा अह साधक होता है, रग पदार्थ होता है, दृश्य-इन्द्रिय उपकरण होती है और नेत्र से प्रकाश-किरण का निकल कर पदार्थ तक जाना और उसके आकार को ग्रहण करके आत्मा के पास लौट कर प्रभाव उत्पन्न करना प्रक्रियात्मक प्रणाली होती है। इन सभी तत्वो मे दृष्येन्द्रिय प्रमुख है,[2] यही बोध या विज्ञान की प्रकृति का निर्धारण करती है, और इसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान का स्रोत कहा जाता है। यथार्थवादियो के लिये परिणाम सम्यक् ज्ञान है किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद की सामान्य धारणा के अनुसार बौद्ध कर्म और विज्ञान या बोध की तुलना के आधार पर निर्मित इस सम्पूर्ण निर्माण का प्रतिवाद करते हैं। इनके लिये यह केवल कल्पना मात्र है। इन्द्रियाँ होती हैं, और इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ होते हैं, और विकल्प होते हैं, और इनके बीच एक क्रियात्मक अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है। परन्तु कोई आत्मा नही है, और इन्द्रियो मे कोई साधक कारणत्व नही हैं, पदार्थ को ग्रहण करने कुछ नही जाता, उसके आकार को ग्रहण करके लाया नही जाता, और आत्मा पर उसका प्रभाव उत्पन्न नही किया जाता। विज्ञान होता है, विकल्प होते हैं, और इनमे एक प्रकार का सारूप्य[3] होता है। यदि हम चाहे तो यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हमारे ज्ञान की परिधि मे आनेवाले किसी पदार्थ-विशेष का विकल्प ही प्रमाण होता है। परन्तु यह इस प्रमाण से उत्पन्न एक परिणाम भी है। एक ही तथ्य प्रमाण और परिणाम (फल) दोनो है।[4] किसी दशा मे यही वह प्रकृष्ट उपकारक[5] होता है जो हमारे

---

[1] यह सिद्धान्त प्रत्येक तर्कशास्त्रीय ग्रन्थ मे मिलता है या उल्लिखित है। उदयनाचार्य ने अपनी परिशुद्धि मे इनका बौद्धो से विभेद करते हुये स्पष्ट रूप से विवेचन किया है। परिशुद्धि के सम्बद्ध स्थल का प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय भाग की परिशिष्ट ४ मे अनुवाद दिया गया है।

[2] 'साधकतम-कारणम् = प्रमाणम्'।

[3] तुकी० भाग २, परिशिष्ट ४।

[4] "तद् एव (प्रमाणम्) प्रमाण-फलम्।" तुकी० न्याबि० ११८।

[5] तुकी० टिप्प० पृ० ४२ ३

विज्ञान की प्रकृति का निर्धारण करता है, परन्तु यह यथार्थवादियो की धारणा का उपकरण या साधक-कारण नहीं होता। पदार्थ का उसके कल्पना-चित्र के साथ मारूप्य तथा स्वय कल्पनाचित्र दो भिन्न वस्तुयें नहीं वल्कि विभिन्न रूप से देखी गई एक ही वस्तु है। हम इस सारूप्य के इस तथ्य की अपने विज्ञान के एक प्रकार के प्रमाण के रूप मे कल्पना कर सकते हैं, परन्तु हम इसे एक प्रकार के फल के रूप मे भी ग्रहण कर सकते हैं।[१] इस दृष्टि से देखने पर ज्ञान के प्रमाण और उसके पदार्थ मे केवल एक कल्पित अन्तर ही है। वास्तव मे ज्ञान का इस प्रकार का उपकरण या साधक-कारण और उमका इम प्रकार का फल दोनो एक ही और वही वस्तु होते हैं।

हम वाह्य जगत् की यथार्थता की समस्या का विवेचन करते समय एक वार पुन इम रोचक सिद्धान्त पर लौटेंगे। तत्काल तो एक यथार्थ अन्तर्क्रिया के रूप मे अनुभव मम्वन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण और उस वौद्ध दृष्टि-कोण के वीच अन्तर की ओर मकेत कर देना ही पर्याप्त है जो केवल क्रियात्मक अन्योन्याश्रयता मात्र ही मानता है।

§ ६ दो यथार्थतायें

प्रमाण की परिभापा से, दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति के मम्प्रदाय मे सत् अथवा यथार्थता—ये दोनो ही शब्द एक दूमरे के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं और इनका 'परम मत्य' अर्थ है—की परिभापा भी किसी प्रकार कम उल्ले-खनीय नही है। सत्, यथार्थ मत्, परमार्थ सत् 'अर्थ-क्रिया-मामर्थ्य' के अतिरिक्त और कुछ नही।[२] हेतुत्व की दृष्टि से जो कुछ भी अर्थ-क्रिया की सामर्थ्य रखता है (अर्थात् स्वलक्षण है) वह यथार्थ है। जो स्वलक्षण नही है वह अयथार्थ है, असत् है। स्वलक्षण से मर्वप्रथम भौतिक हेतुत्व का तात्पर्य होता है। ये सव मिथ्या या असत् के विलोम है। चाहे विशुद्ध असत् कल्पना हो अथवा उत्पादक विकल्प, विचार-मृजन का प्रत्येक अश असत् है परम सत् नही।

जो अग्नि जलती है और वस्तुओ को पकाती है वास्तविक या स्वलक्षण अग्नि होती है।[३] उसकी उपस्थिति भौतिक दृष्टि से स्वलक्षण होती है और वह एक स्पष्ट कल्पना-चित्र को उत्पन्न करती है—ऐसे कल्पना-चित्र को जिसकी स्पष्टता की मात्रा भौतिक अग्नि की समीपता अथवा दूरी के प्रत्यक्ष

---

[१] तुकी० न्याविटी० १ २०-२१, और भाग दो, परिशिष्ट ४।

[२] न्यावि० १ १५ "अर्थ-क्रिया-सामर्थ्य-लक्षणम् वस्तु परमार्थ-सत्।"

[३] अग्नि-स्वलक्षण।

अनुपात मे परिवर्तित होती है।[१] प्रकाश के एक दूरस्थ विन्दु के आकार के रूप मे परिणत हो जाने पर भी वह उस समय तक एक स्पष्ट कल्पना-चित्र उत्पन्न करती है जब तक वह यथार्थ होती है, अर्थात् विद्यमान तथा दृष्येन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होती रहती है। ऐसी अग्नि जो अनुपस्थित है, जो केवल काल्पनिक है, जो न तो वास्तव मे जलती है, न कुछ पकाती है और न कोई प्रकाश ही फैलाती है, एक असत् या अयथार्थ अग्नि होती है।[२] वह एक अस्पष्ट, अमूर्त और सामान्य कल्पना-चित्र ही उत्पन्न करती है। यदि उसकी तीव्र कल्पना की जाय तो भी वह एक यथार्थ, विद्यमान अग्नि की तात्कालिक स्पष्टता से रहित होगी। अस्पष्टता की मात्रा कल्पना की शक्ति के विपरीत अनुपात मे परिवर्तित होगी, समीपता अथवा दूरी के प्रत्यक्ष अनुपात मे नही। केवल विद्यमान, 'यहाँ', 'अभी', 'यह', मात्र ही यथार्थ होते है। प्रत्येक वह जो गत है अयथार्थ है, प्रत्येक वह जो भावी है अयथार्थ है, प्रत्येक वह जो काल्पनिक है, अनुपस्थित है, मानसिक है धारणात्मक है, सामान्य है, वह अयथार्थ है, प्रत्येक सामान्य या जाति, चाहे स्थूल सामान्य हो अथवा अमूर्त सामान्य, अयथार्थ होता है। समस्त व्यवस्थायें तथा समस्त सम्बन्ध, सम्बद्ध वस्तुओ से पृथक् रूप से देखने पर अयथार्थ होते हैं। अन्ततोगत्वा भौतिक स्वलक्षणत्व का केवल वर्तमान क्षण ही यथार्थ होता है,

फिर भी, इस परम अथवा प्रत्यक्ष यथार्थ के अतिरिक्त, एक अन्य अप्रत्यक्ष यथाथ भी होता है जिसे द्वितीय स्तर का या गृहीत यथार्थ कह सकते हैं। जब कोई मानसिक प्रतिमा विषयभूत और किसी बाह्य यथार्थ के साथ समीकृत होती है तब वह एक आरोपित यथार्थता प्राप्त करती है। इस विशेष दृष्टिकोण से पदार्थों का यथार्थ और अयथार्थ वस्तुओ के, यथार्थ और अयथार्थ गुणो के रूप मे विभेद किया जा सकता है[३]। यथार्थ वस्तु का एक उदाहरण 'गाय' है। अयथार्थ वस्तु के रूप मे बौद्धो के लिये, ईश्वर और आत्मा, तथा साथ ही साथ साख्यो की मूल प्रकृति का भी उदाहरण दिया जा सकता है। यथार्थ गुण का एक उदाहरण 'नीला' है, अयथार्थ गुण का अपरिवर्तनशील शाश्वत, क्योकि बौद्धो के लिये कुछ भी अपरिवर्तनशील तथा शाश्वत नही है। हमारे मन की वह कल्पनायें जो इस अप्रत्यक्ष यथार्थ तक से मुक्त नही हैं वह सर्वथा अयथार्थ होती हैं, वे केवल अर्थ-विहीन शब्द मात्र

---

[१] न्यायबि० १ १३।

[२] न्याबिटी० पृ० १४ ६।

[३] ताटी० ३३८ १३, तुकी अनुवाद भाग २, परिशिष्ट ५।

होती हैं, जैसे आकाश मे पुष्प, मरुभूमि मे अप्सरा-मरीचिका, खरहे के सर पर सीग, वाँझ का पुत्र, इत्यादि।

ये सभी पदार्थ विशुद्ध कल्पनायें हैं, केवल शब्दमात्र जिनके पीछे लेशमात्र भी विषयगत यथार्थता नही है। इनके प्रत्यक्ष विपरीत विशुद्ध यथार्थ है जिसमे कल्पनात्मक उत्पादन का लेशमात्र भी नही होता। इन दोनो के बीच एक अर्धकल्पित ससार होता हैं, एक ऐसा ससार जो यद्यपि रचित कल्पनाचित्रो से युक्त होते हुये भी विषयगत यथार्थ के दृढ आधार पर स्थापित होता है। यह प्रापञ्चिक संसार होता है। इस प्रकार, दो प्रकार की कल्पनायें होती हैं एक विशुद्ध और दूसरी यथार्थता से मिश्रित। इसी प्रकार यथार्थ या सत् भी दो प्रकार का होता है एक विशुद्ध और दूसरा कल्पना-मिश्रित। एक यथार्थ या सत् ऐसे क्षणो[1] से निर्मित होता है जिनका अभी न तो काल के अन्तर्गत कोई निश्चित स्थान होता है, न दिक् के अन्तर्गत कोई निश्चित स्थान होता है, और न इनमे कोई इन्द्रियग्राह्य गुण ही होता है। यह परमार्थ सत् होता है। दूसरा सत् या यथार्थ विषयभूत कल्पनाचित्रो से निर्मित होता है जिसको हम लोग काल के अन्तर्गत एक स्थान तथा दिक् के अन्तर्गत एक स्थान प्रदान करते हुये समस्त ग्राह्य और अमूर्त गुणो से युक्त कर देते हैं। इसे सवृत्ति-सत् कहते हैं।

बौद्ध नैयायिको की यही दो यथार्थतायें हैं—एक परमार्थ अथवा चरम सत् जो विशुद्ध ज्ञान मे प्रतिभासित होता है, और दूसरा कल्पित अथवा अनुभूत सत् जो विषयभूत कल्पनाचित्रो मे प्रतिविम्बित होता है।

जहाँ भी यथार्थ[2] के साथ एक अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, हमे अर्थसवाद[3] मिलता है, हाँ अलबत्ता परमार्थ सत् के दृष्टिकोण से यह अनुभव एक भ्रान्ति[4] होता है। इस दृष्टिकोण से एक सम्यक् अनुमान भी 'भ्रान्त अनुमान'[5] होता है, चाहे वह ठीक ही हो। वह केवल प्रत्यक्ष रूप से नही बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से ही सत्य होता है।

§७. ज्ञान के प्रामाण्य की द्विविध प्रकृति

अभी ऊपर उल्लिखित यथार्थता की द्विविध प्रकृति, अर्थात् प्रत्यक्ष, परम *अथवा अनुभवातीत यथार्थ, तथा अप्रत्यक्ष अथवा अनुभवात्मक यथार्थ,* की

[1] =स्वलक्षण

[2] तसप० पृ० २७४ २४ 'पारम्पर्येण वस्तु-प्रतिबन्ध'।

[3] 'अर्थ-सवाद', वही ('असवाद' नहीं!)।

[4] 'भ्रान्तत्वेऽपि', वही।

[5] न्याविटी० पृ० ८१२. 'भ्रान्तम् अनुमानम्'।

ही भाँति ज्ञान के प्रामाण्य की प्रकृति भी द्विविध होती है। ज्ञान का प्रामाण्य या स्रोत या तो प्रत्यक्ष होता है अथवा अप्रत्यक्ष—इसका अर्थ या तो परमार्थ का प्रतिभास होता है अथवा यह एक कल्पित यथार्थ के प्रतिभास का स्रोत होता है। प्रत्यक्ष प्रतिभास ज्ञान है और अप्रत्यक्ष विकल्प या सज्ञा। प्रथम 'निर्विकल्पक प्रतिभास' है और द्वितीय एक 'कल्पना'। विशुद्ध अर्थो मे यह अन्तिम एक विकल्प है क्योकि यह एक स्वाभाविक सृजन या सज्ञा है, यह निर्विकल्प नही है किन्तु एक समाधान के रूप मे हम इसे एक 'नियत–प्रतिभास'[१] कह सकते हैं। प्रथम पदार्थ का ग्रहण[२] करता है, द्वितीय उसी पदार्थ का विकल्प[३] करता है। यहाँ इस बात पर सतर्कतापूर्वक ध्यान देना चाहिये कि विज्ञान के बौद्ध दृष्टिकोण के अन्तर्गत एक वास्तविक अथवा मानवत्वारोपी आशय मे वास्तविक 'ग्रहण' नही होता, बल्कि यह ग्रहण कार्यकारण अन्योन्याश्रयत्व के रूप मे हेतुत्व के सामान्य विचार के अनुसार अपने पदाथ पर विज्ञान की इस प्रकार की एक निर्भरता मात्र होता है। 'गृह्णाति' शब्द का प्रयोग केवल गृहीत वस्तु के विज्ञान के प्रथम क्षण का, उसके परवर्ती काल्पनिक रूप-निर्माण के बीच विभेद मात्र करने के लिये प्रयोग किया गया है। मात्र एक क्षण कुछ ऐसा अद्वितीय होता है जिसका किसी भी प्रकार के अन्य पदार्थों के साथ कोई भी साम्य नही होता।[४] अत यह प्रतिनिधित्वविहीन और अनभिलाप्य होता है। प्रतिनिधित्व और नाम सदैव काल, स्थान और गुणो के एक सश्लिष्ट एकत्व के अनुरूप होते हैं। यह एकत्व सृजित एकत्व होता है, और जिस मानसिक प्रक्रिया द्वारा इसका सृजन होता है वह निर्विकल्पक-प्रतिभास नही होता।[५]

यथार्थ की द्विविध प्रकृति की चर्चा करते हुये धर्मोत्तर, साथ ही साथ, ज्ञान के प्रामाण्य की द्विविध प्रकृति का भी उल्लेख करते हैं। उनका यह कथन है[६] "विज्ञान का विषय वास्तव मे द्विविध होता है—एक स्वलक्षण और दूसरा वह जिसका अध्यवसाय के द्वारा ग्रहण होता है। प्रथम यथार्थ या प्रमाण का वह पक्ष

---

[१] 'नियत–प्रतिभास' = 'नियता बुद्धि', तुकी० ताटी० पृ० १२ २७ = तिब्बती 'ङ्स्द्-शेस' = 'परिच्छिन्नम् ज्ञानम्'।

[२] गृह्णाति।

[३] विकल्पयति।

[४] 'स्वम् असाधरणम् तत्त्वम्,' तुकी० न्याबिटी० पृ० १२ १४।

[५] ताटी० पृ० ३३८ १५।

[६] न्याबिटी० पृ० १२ १६ और बाद।

होता है जिसका प्रथम क्षण मे प्रत्यक्ष होता है। द्वितीय वह रूप है जिसका एक स्पष्ट कल्पना द्वारा निश्चय होता है। स्वलक्षण और अध्यवसाय द्वारा अनुमानित वास्तव मे दो वस्तुयें हैं। जिसका किसी विज्ञान मे तत्काल प्रत्यक्ष होता है वह केवल एक क्षण-मात्र होता है। जिसका अध्यवसाय या निश्चय होता है वह सदैव किसी विज्ञान के आधार पर सृजन के अन्तर्गत ज्ञातता के क्षणो की एक शृखला होता है।"

भारतीय दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय का हमारे ज्ञान के विभिन्न प्रामाण्यो या स्रोतो, उनके कार्यों तथा प्रकृति के विषय मे स्वय अपना-अपना सिद्धान्त है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, भौतिकवादी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रामाण्य स्वीकार नही करते। इनके लिये बुद्धि सिद्धान्तत ग्राह्यता से भिन्न कुछ नही क्योकि यह एक पदार्थ के उत्पादन, एक दैहिक प्रक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नही। अन्य सभी सम्प्रदाय कम से कम दो प्रमाण—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनुमान—स्वीकार करते हैं। वैशेपिक इन्ही दो तक सीमित हैं। साख्य सम्प्रदाय इसमे सत्य प्रकटन सहित शब्द प्रमाण को भी सम्मिलित कर लेता है। नैयायिक अनुमान का एक विशेप प्रकार के तर्क, उपमान, से विभेद करते है, और मीमासक अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि का भी ज्ञान की पृथक विधियो के रूप मे विभेद करते है। चरक के अनुयायी प्रमाणो की इस संख्या को ग्यारह तक बढा देते हैं जिनके अन्तगत ज्ञान के एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे 'सम्भव'[1] भी आता है।

दिङ्नाग[2] के समय से बौद्ध लोग वैशेपिको की ही भाँति ज्ञान के केवल दो ही प्रमाणो को स्वीकार करते हैं और इन्हे ये प्रत्यक्ष तथा अनुमान कहते हैं। शब्दप्रमाण तथा उपमान इनकी दृष्टि से अनुमान मे ही सम्मिलित हैं। अर्थापत्ति एक ही तथ्य का एक दूसरे रूप मे कथन है।[3] फिर भी, यद्यपि ज्ञान के दो प्रमाणो की सख्या दोनो ही सम्प्रदायो, बौद्धो और वैशेपिको, मे एक समान है, तथापि इनकी परिभापा तथा प्रकृति उस समस्त दूरी द्वारा भिन्न हैं जो एक सरल यथार्थवाद को ज्ञान के एक आलोचनात्मक सिद्धान्त से पृथक् करती है। अपने अध्ययन मे आगे हमे इस विशिष्टता पर, जो उन

---

[1] इसकी अर्थापत्ति द्वारा उत्पन्न ज्ञान के रूप मे व्याख्या की गई है।

[2] गुणमति (तञ्जूर म्दो, V ६० फेमि० ७९a ८) यह मत व्यक्त करते हैं कि वसुबन्धु ने 'आगम' को एक तृतीय प्रमाण माना था। तुकी० अभिभा० २४६ (अनुवाद १ पृ० २२६)।

[3] न्याविटी० पृ० ४३ १२।

आधर-शिलाओ मे से एक है जिस पर दिङ्नाग की प्रणाली का निर्माण हुआ है, आने का अनेक बार अवसर मिलेगा। किन्तु यहाँ हम इस बात का तो उल्लेख कर ही सकते हैं कि बौद्ध-प्रणाली के अन्तर्गत ज्ञान के इन दो प्रमाणो का अन्तर अत्यन्त भौतिक तथा यथार्थ है। साथ ही, यह वह है जिसे आगे हम अनुभवातीत कहेंगे। इन्द्रियो द्वारा जिस बात का बोध होता है वह कभी भी अनुमान द्वारा बोध का विषय नही होता। जब दृष्यक्षेत्र में अग्नि उपस्थित होती है और उसका दृष्येन्द्रिय द्वारा बोध होता है तब यथार्थवादियो के लिये वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय होती है। जब यही अग्नि दृष्यक्षेत्र से बाहर होती है और इसके अस्तित्व का केवल अप्रत्यक्ष बोध होता है, क्योंकि धूयें का प्रत्यक्ष हो रहा है, तब अग्नि का अनुमान के आधार पर बोध होता है। बौद्धा के लिये इन दोनो ही दशाओ मे एक अंश का इन्द्रियो द्वारा बोध होता है और एक अश का अनुमान द्वारा। यह बाद का शब्द इस दशा मे बुद्धि का, ज्ञान के एक अ-ऐन्द्रिक स्रोत का पर्याय है। बोध या विज्ञान या तो ऐन्द्रिक होता है अथवा अ-ऐन्द्रिक, या तो प्रत्यक्ष होता है अथवा अप्रत्यक्ष। प्रत्येक विज्ञान मे एक ऐन्द्रिक केन्द्र होता है और एक बुद्धि द्वारा रचित कल्पना-चित्र एक अश इन्द्रिय-ग्राह्य होता है और दूसरा बुद्धिगम्य। स्वय वस्तु का इन्द्रियो द्वारा बोध होता है, उसके सम्बन्धो और विशिष्टताओ का कल्पना द्वारा निर्माण होता है जो बुद्धि का एक कार्य है। इन्द्रियाँ केवल वस्तु मात्र को, उसके सम्बन्धो और सामान्य विशिष्टताओ से रहित स्वय वस्तु को ग्रहण करती हैं। बौद्ध इस बात को अस्वीकार नही करते कि हम एक उपस्थित अग्नि का प्रत्यक्ष द्वारा और अनुपस्थित का अनुमान द्वारा ज्ञान प्राप्त करते है। परन्तु हमारे ज्ञान के दो प्रमुख प्रमाणो के बीच इस स्पष्ट और अनुभवात्मक अन्तर से पृथक् एक अन्य, यथार्थ, परमार्थ अथवा अनुभवातीत अन्तर भी है। यह अन्तर यह है कि दोनो प्रमाणो मे से प्रत्येक का स्वय अपना विषय है, स्वय अपना कार्य है, और स्वय अपना फल है। बौद्ध दृष्टिकोण को 'अमिश्रित' अथवा 'प्रमाण-व्यवस्था'[1] के सिद्धान्त का नाम दिया गया है—ऐसे सिद्धान्त का जो ज्ञान के ऐसे प्रमाणों को मानता है जो प्रमाणित हैं, जिनकी सीमायें स्पष्ट हैं और जिनमे से एक कभी भी दूसरे के क्षेत्र मे क्रियाशील नही होता। इसके विपरीत सिद्धान्त, यथार्थवादियो के सिद्धान्त को 'मिश्रित' अथवा 'प्रमाण-सम्प्लव'[2] के सिद्धान्त

[1] तुकी० न्यावा० पृ० ५.५; ताटी० पृ० १२ १५ और बाद, तुकी० भाग दो, परिशिष्ट २।

[2] वही।

का नाम दिया गया है, क्योकि इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक विपय का दोनो ही प्रकार से वोध या ज्ञान हो सकता है—अर्थात् या तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा सीधे अथवा अनुमान द्वारा परोक्ष रूप से ज्ञान हो सकता है। यह सत्य है कि अनुभवात्मक दृष्टिकोण से यह वौद्ध सिद्धान्त ही है जिसे 'मिश्रित' सिद्धान्त कहा जायगा, क्योकि दोनो प्रमाण वास्तविक जीवन मे अपनी विशुद्ध और अमिश्रित अवस्था मे नही मिलते। इन्हे पृथक् करने के लिये हमे वास्तविक अनुभव से बुद्धि की समस्त अनुभूत चेतन और उपचेतन प्रक्रियाओ की सीमा से वाहर जाकर एक अनुभवातीत अन्तर को स्वीकार करना होगा—एक ऐसे अन्तर को जिसे यद्यपि हम प्रत्यक्ष रूप से देख नही पाते तथापि जिसका हमारे लिये अविसवादी परमार्थ सत् अनिवार्यत आग्रह करता है। इसी आशय मे यह ज्ञान के दोनो प्रमाणो के वीच 'प्रमाण-व्यवस्था' अथवा निश्चित सीमाओ का सिद्धान्त है। दिङ्नाग के दर्शन का हमारा सम्पूर्ण निरूपण केवल इसी आधारभूत सिद्धान्त का विकास मात्र माना जा सकता है। इस सिद्धान्त के विस्तृत विवरणो की चर्चा किये विना, अभी हम केवल अपने को इस सरल सकेत मात्र तक ही सीमित रक्खेंगे।

इस सिद्धान्त का विज्ञान के दो और केवल दो ही प्रमाण या स्रोत है—इस प्रकार अर्थ यह है कि विज्ञान के दो मूलत स्पष्ट प्रमाण हैं—एक वह जो परम सत्य का प्रतिभास है और दूसरा वह जो उन कल्पना-चित्रो के निर्माण की क्षमता है जिनमे यह यथार्थ प्रापञ्चिक ससार मे प्रतिभासित होता है। परन्तु इसका एक अन्य अर्थ भी है जो परम सत्य का कोई विचार नही करता। प्रापञ्चिक या सावृत्तिक दृष्टिकोण से विज्ञान के दो प्रमाण या दो विधियाँ, प्रत्यक्ष और अनुमान है। प्रत्यक्ष की दशा मे विपय के आकार या चित्र का प्रत्यक्ष वोध अर्थात विशदाभास होता है। अनुमान मे इसका इसके लिङ्ग के माध्यम से अपरोक्ष, अर्थात् अस्फुट या अमूर्त वोध होता है। यदि इसके परिणाम, जैसे धूम के प्रत्यक्ष द्वारा, इसकी उपस्थिति का अनुमान किया जाता है तो इसका अनुमान के आधार पर अपरोक्ष वोध होता है। दोनो ही दशाओ मे एक ऐन्द्रिक केन्द्र और एक रचित कल्पनाचित्र होता है, किन्तु प्रथम दशा मे प्रत्यक्ष वोध की क्रिया का प्रामुख्य और कल्पनाचित्र स्पष्ट होता है, जव कि द्वितीय मे वोधक क्रिया का प्रामुख्य और कल्पनाचित्र अस्पष्ट तथा अमूर्त होता है।[१]

इस अनुभवात्मक दृष्टिकोण से विज्ञान के दोनो स्रोतो या प्रमाणो का

---

[१] न्यायविटी० पृ० १६ १२ और वाद।

आधर-शिलाओ मे से एक है जिस पर दिड्नाग की प्रणाली का निर्माण हुआ है, आने का अनेक बार अवसर मिलेगा। किन्तु यहाँ हम इस बात का तो उल्लेख कर ही सकते हैं कि बौद्ध-प्रणाली के अन्तर्गत ज्ञान के इन दो प्रमाणो का अन्तर अत्यन्त भौतिक तथा यथार्थ है। साथ ही, यह वह है जिसे आगे हम अनुभवातीत कहेंगे। इन्द्रियो द्वारा जिस बात का बोध होता है वह कभी भी अनुमान द्वारा बोध का विषय नही होता। जब दृष्यक्षेत्र में अग्नि उपस्थित होती है और उसका दृष्येन्द्रिय द्वारा बोध होता है तब यथार्थवादियो के लिये वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय होती है। जब यही अग्नि दृष्यक्षेत्र से बाहर होती है और इसके अस्तित्व का केवल अप्रत्यक्ष बोध होता है, क्योंकि धूयें का प्रत्यक्ष हो रहा है, तब अग्नि का अनुमान के आधार पर बोध होता है। बौद्धों के लिये इन दोनो ही दशाओ मे एक अंश का इन्द्रियो द्वारा बोध होता है और एक अश का अनुमान द्वारा। यह बाद का शब्द इस दशा मे बुद्धि का, ज्ञान के एक अ-ऐन्द्रिक स्रोत का पर्याय है। बोध या विज्ञान या तो ऐन्द्रिक होता है अथवा अ-ऐन्द्रिक, या तो प्रत्यक्ष होता है अथवा अप्रत्यक्ष। प्रत्येक विज्ञान मे एक ऐन्द्रिक केन्द्र होता है और एक बुद्धि द्वारा रचित कल्पना-चित्र एक अश इन्द्रिय-ग्राह्य होता है और दूसरा बुद्धिगम्य। स्वय वस्तु का इन्द्रियो द्वारा बोध होता है, उसके सम्बन्धो और विशिष्टताओ का कल्पना द्वारा निर्माण होता है जो बुद्धि का एक कार्य है। इन्द्रियाँ केवल वस्तु मात्र को, उसके सम्बन्धो और सामान्य विशिष्टताओ से रहित स्वय वस्तु को ग्रहण करती है। बौद्ध इस बात को अस्वीकार नही करते कि हम एक उपस्थित अग्नि का प्रत्यक्ष द्वारा और अनुपस्थित का अनुमान द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। परन्तु हमारे ज्ञान के दो प्रमुख प्रमाणो के बीच इस स्पष्ट और अनुभवात्वक अन्तर से पृथक् एक अन्य, यथार्थ, परमार्थ अथवा अनुभवातीत अन्तर भी है। यह अन्तर यह है कि दोनो प्रमाणो मे से प्रत्येक का स्वय अपना विषय है, स्वय अपना कार्य है, और स्वय अपना फल है। बौद्ध दृष्टिकोण को 'अमिश्रित' अथवा 'प्रमाण-व्यवस्था'[1] के सिद्धान्त का नाम दिया गया है—ऐसे सिद्धान्त का जो ज्ञान के ऐसे प्रमाणों को मानता है जो प्रमाणित हैं, जिनकी सीमायें स्पष्ट हैं और जिनमे से एक कभी भी दूसरे के क्षेत्र मे क्रियाशील नही होता। इसके विपरीत सिद्धान्त, यथार्थवादियो के सिद्धान्त को 'मिश्रित' अथवा 'प्रमाण-सम्प्लव'[2] के सिद्धान्त

[1] तुकी० न्यावा० पृ० ५५; ताटी० पृ० १२१५ और बाद, तुकी० भाग दो, परिशिष्ट २।

[2] वही।

का नाम दिया गया है, क्योकि इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक विषय का दोनो ही प्रकार से बोध या ज्ञान हो सकता है—अर्थात् या तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा सीधे अथवा अनुमान द्वारा परोक्ष रूप से ज्ञान हो सकता है। यह सत्य है कि अनुभवात्मक दृष्टिकोण से यह बौद्ध सिद्धान्त ही है जिसे 'मिश्रित' सिद्धान्त कहा जायगा, क्योकि दोनो प्रमाण वास्तविक जीवन मे अपनी विशुद्ध और अमिश्रित अवस्था मे नही मिलते। इन्हे पृथक् करने के लिये हमे वास्तविक अनुभव से बुद्धि की समस्त अनुभूत चेतन और उपचेतन प्रक्रियाओ की सीमा मे बाहर जाकर एक अनुभवातीत अन्तर को स्वीकार करना होगा—एक ऐसे अन्तर को जिसे यद्यपि हम प्रत्यक्ष रूप से देख नही पाते तथापि जिसका हमारे लिये अविसंवादी परमार्थ सत् अनिवार्यत आग्रह करता है। इसी आशय मे यह ज्ञान के दोनो प्रमाणो के बीच 'प्रमाण-व्यवस्था' अथवा निश्चित सीमाओ का सिद्धान्त है। दिङ्नाग के दर्शन का हमारा सम्पूर्ण निरूपण केवल इसी आधारभूत सिद्धान्त का विकास मात्र माना जा सकता है। इस सिद्धान्त के विस्तृत विवरणो की चर्चा किये बिना, अभी हम केवल अपने को इस सरल सकेत मात्र तक ही सीमित रक्खेंगे।

इस सिद्धान्त का विज्ञान के दो और केवल दो ही प्रमाण या स्रोत हैं—इस प्रकार अर्थ यह है कि विज्ञान के दो मूलत स्पष्ट प्रमाण है—एक वह जो परम सत्य का प्रतिभास है और दूसरा वह जो उन कल्पना-चित्रो के निर्माण की क्षमता है जिनमे यह यथार्थ प्रापञ्चिक ससार मे प्रतिभासित होता है। परन्तु इसका एक अन्य अर्थ भी है जो परम सत्य का कोई विचार नही करता। प्रापञ्चिक या सावृत्तिक दृष्टिकोण से विज्ञान के दो प्रमाण या दो विधियाँ, प्रत्यक्ष और अनुमान हैं। प्रत्यक्ष की दशा मे विषय के आकार या चित्र का प्रत्यक्ष बोध अर्थात विशदाभास होता है। अनुमान मे इसका इसके लिङ्ग के माध्यम से अपरोक्ष, अर्थात् अस्फुट या अमूर्त बोध होता है। यदि इसके परिणाम, जैसे धूम के प्रत्यक्ष द्वारा, इसकी उपस्थिति का अनुमान किया जाता है तो इसका अनुमान के आधार पर अपरोक्ष बोध होता है। दोनो ही दशाओ मे एक ऐन्द्रिक केन्द्र और एक रचित कल्पनाचित्र होता है, किन्तु प्रथम दशा मे प्रत्यक्ष बोध की क्रिया का प्रामुख्य और कल्पनाचित्र स्पष्ट होता है, जब कि द्वितीय मे बोधक क्रिया का प्रामुख्य और कल्पनाचित्र अस्पष्ट तथा अमूर्त होता है।[1]

इस अनुभवात्मक दृष्टिकोण से विज्ञान के दोनो स्रोतो या प्रमाणो का

[1] न्यायबिटी० पृ० १६ १२ और बाद।

बौद्ध न्याय के उस अश मे विवेचन किया गया है जो औपचारिक तर्कशात्र से सम्वद्ध है।

§८. विज्ञान की सीमाये . मताग्रहिता और समीक्षा

जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह स्पष्ट है, तथा हमारे अगले सम्पूर्ण विवेचन द्वारा यह प्रमाणित भी होगा कि बौद्ध दशन मे एक निश्चित समीक्षात्मक और मताग्रहिता-विरोधी प्रवृत्ति निहित है। जैसा कि अन्य देशो मे भी है, भारत मे भी दर्शन का सम्पूर्ण जगत् को आवृत्त करनेवाली अर्धकाव्यात्मक कल्पनाओ से आरम्भ हुआ था। अपने शैशव-काल मे यह विद्यमान वस्तुओ के सारतत्त्व के सम्वन्ध मे मताग्रही श्लक्ष्ण स्थापनाओ से पूर्ण है। उपनिषदकाल मे भारतीय दशन की प्रकृति ऐसी ही थी। इनकी अद्वैतवादी प्रवृत्ति का विरोध करते हुये आरम्भिक बौद्ध दर्शन ने समीक्षा की एक ऐसी भावना प्रगट की जो अस्तित्व या सत्ता की एक ऐसी वहुतत्त्ववादी प्रणाली के रूप मे परिणत हो गई जो वस्तु, मानस, और शक्तियो जैसे तत्त्वो के रूप मे विभक्त थी। बाद के बौद्ध दर्शन मे भी यह समीक्षात्मक प्रवृत्ति बनी रही जिसका परिणाम यह हुआ कि विगत काल के सत्त्वमीमासा और मनोविज्ञान का न्याय की एक प्रणाली और ज्ञानमीमासा ने स्थान ग्रहण कर लिया। इसने मात्र स्थापना की मताग्रही विधि का परित्याग कर दिया और विज्ञान की सीमाओ तथा प्रमाणो के अनुसन्धान की ओर उन्मुख हुआ। हम देख चुके हैं कि प्रमाण या स्रोत केवल दो ही हैं। हम यह भी देख चुके है कि वह सीमा जिनका ये अतिक्रमण नही कर सकते, अनुभव, अर्थात् ऐन्द्रिक अनुभव है। जो अतीन्द्रिय है, जो अनुभूत जगत की सीमा से परे है वह अबोधगम्य है।

यह सत्य है कि हमारे पास ज्ञान का अ-ऐन्द्रिक प्रमाण या स्रोत भी है, और वह है हमारी समझ या प्रज्ञा। किन्तु यह प्रमाण प्रत्यक्ष या स्वतन्त्र नही है, यह ऐन्द्रिक अनुभव की सीमा से वाहर नही जा सकता। अत समस्त अतीन्द्रिय विषय, समस्त विषय जो "अपनी सत्ता के काल और अपने ग्राह्य स्वभाव की दृष्टि से अतीन्द्रिय हैं"[१] वे अबोधगम्य हैं। परिणामस्वरूप समस्त तत्त्वमीमासा व्यर्थ है। ऐसे विषय अनिश्चित हैं। हमारी प्रज्ञा, अथवा हमारी उत्पादक कल्पना अतीन्द्रिय क्षेत्र मे विभिन्न प्रकार की रचनाओ मे लिप्त हो

[१] 'देश-काल-स्वभाव-विप्रकृष्ट (विप्रकृष्ट = अतीन्द्रिय)', तुकी० न्याबिटी० पृ० ३९ २१।

सकती है किन्तु ऐसी समस्त रचनायें द्वन्द्वात्मक, अर्थात् आत्म-विरोधी होगी। अविरोध ही सत्य और यथार्थ का परम प्रमाण है।

यह इतिहासकार का ध्यान आकृष्ट किये बिना नही रह सकता कि बुद्ध की सर्वज्ञता के मताग्रह को, जो बौद्धमत के एक अन्य क्षेत्र, अर्थात् धार्मिक क्षेत्र, मे इतनी दृढतापूर्वक प्रतिष्ठित है, जोर देकर द्वान्द्वात्मक कहा गया है —यह एक ऐसा विषय है जिसके सम्बन्ध मे हम कुछ भी 'निश्चय' नही कर सकते, न तो इसके समर्थन के सम्बन्ध मे और न अस्वीकृति के सम्बन्ध मे।[1] इसी प्रकार, सामान्यो की यथार्थता से सम्बद्ध वैशेषिक सम्प्रदाय के मताग्राही विचार के सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है। यह भी द्वन्द्वात्मक विचार है क्योकि इस विषयगत यथार्थता की स्थापना करने के लिये जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं उनका उन समान शक्तिवाले तर्कों द्वारा निरास हो जाता है जो इसके प्रतिवाद मे प्रस्तुत किये गये हैं।

हमे धर्मोत्तर की कृति मे यह एक अत्यन्त विशिष्टतापूर्ण वक्तव्य मिलता है। इनका कथन है कि "जब कोई अनुमान तथा वह लक्षण (त्रैरूप्य)[2] जिस पर वह आधारित होता है आगमसिद्ध होते हैं तब उन्हे आगम-आश्रयी कहते हैं।" इस प्रकार के तर्क "प्रमाण सिद्ध नही बल्कि अवस्तुदर्शन प्रवृत्त होते हैं।" "ऐसे विषय हैं जो इस प्रकार के तर्कों, जैसे अतीन्द्रिय समस्याओ के लिये, ऐसी समस्याओं के लिये जो न प्रत्यक्ष निरीक्षण के लिये उपलब्ध हैं और न शुद्ध ऊहापोह के लिये, जैसे उदाहरण के लिये सामान्यो के यथार्थ की समस्या के लिये, भी उपयुक्त स्थान है। जब इन समस्याओ पर विचार किया जाता है तब आगम-आश्रयी अनुमान सम्भव होता है।" "अक्सर ऐसा होता है कि शास्त्रकार[3] वस्तुओ की यथार्थ प्रवृति मे भ्रान्ति हो जाने से विपरीत को स्वभाव कह देता है...।" "किन्तु जब तर्क यथा-अवस्थित-वस्तु की

---

[1] न्यावि० और न्याविटी० पृ० ३९ २०, ७५ १३ और बाद, तुकी० सन्तानान्तर सिद्धि का अन्तिम स्थल।

[2] न्याविटी० पृ० ८१ १९ और बाद (मूल), अनुवाद पृ० २२३ और बाद।

[3] 'शास्त्र' यहाँ='आगम'। 'आगम' शब्द का अर्थ सत्यप्रकटन भी हो सकता है और इस दशा मे यह=आम्नाय = श्रुति=धर्म=सूत्र, अथवा इसका अर्थ मताग्रही शास्त्र भी हो सकता है, जैसे उदाहरण के लिये वैशेषिक पद्धति। दोनो ही दशा मे इसका विरुद्धार्थी 'प्रमाण' होगा। तसप० पृ० ४ मे इसका अर्थ बौद्ध सत्यप्रकटन है।

स्थिति[१] पर आधारित होता है, जब आत्मकार्य अथवा अनुपलम्भ की स्थिति होती है, तब विपरीत की सम्भावना नही रहती।" "तथ्यो की हेतु-व्यवस्था के रूप मे स्थापना कल्पना नही बल्कि वस्तुस्थिति के आधार पर की जाती है। अत जब यथा-अवस्थित वस्तु-स्थिति तथा आत्मकार्य के अनुपलम्भ की स्थिति होती है तो कोई विपरीतता सम्भव नही होती। एक अवस्थित तथ्य परमार्थ सत् होता है। वही तथ्य यथावस्थित होता है जो वस्तुस्थिति-व्यवस्था का अतिक्रमण नही करता। इस प्रकार के तथ्य कल्पना पर आधारित नही होते—ये स्वय वस्तुस्थिति के समान ही अवस्थित होते हैं।" इस प्रकार के मताग्रही प्रतिपादन का एक उदाहरण सामान्यो के विषयात्मक यथार्थ का सिद्धान्त है।

निम्नलिखित उल्लेखनीय स्थल पर कमलशील[१] इसी विषय पर अपने को इस प्रकार व्यक्त करते है "स्वय बुद्ध को यह वक्तव्य देने मे प्रसन्नता हुई थी 'उन्होने कहा, हे भ्राताओ! मेरे शब्दो को कभी भी केवल श्रद्धात्मक भावना के कारण मत स्वीकार करो। विद्वानो को उनकी परीक्षा करनी चाहिये, जैसे एक स्वर्णकार तीन विधियो,अर्थात् अग्नि मे तपा कर, सुवर्णपदार्थ को टुकडो मे तोडकर और कसौटी पर घिस कर परीक्षा करता है।'[२] इन शब्दो मे बुद्ध ने यह घोषणा की है कि ज्ञान के दो ही प्रमाण (परम स्रोत) हैं जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और अनुमान (अर्थात् ग्राह्यता और प्रज्ञा) के आधारभूत सिद्धान्तो का निर्माण करते है। इसी को उन्होने व्याख्या के लिये चुने गये उदाहरण द्वारा सूचित किया है(अर्थात् स्वय अपने शब्दो के परीक्षण की विधि द्वारा)। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को अग्नि के उदाहरण से सूचित किया गया है जिसके साथ इसकी (प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप मे) समानता है। अनुमान को कसौटी के पत्थर के उदाहरण द्वारा सूचित किया गया है जिसके साथ इसकी (एक परोक्ष प्रमाण के रूप मे) समानता है। चरम परीक्षण विरोध की अनुपलब्धि है। इसे उस स्वर्णकार के उदाहरण द्वारा सूचित किया गया है जिसके चरम या अन्तिम परीक्षण के अन्तर्गत सुवर्ण की वस्तु को टुकडो मे तोड कर परखने

---

[१] समीक्षा के इस आधारभूत सिद्धान्त को विशेष ससूचनशीलता के साथ आनुप्रासिक भाषा मे इस प्रकार व्यक्त किया गया है। यथा-अवास्थित वस्तु-स्थिति।'

[२] तिब्बतियो के अनुसार यह स्थल घन-सूत्र से लिया गया है, परन्तु हम लोग इसे ढूंढ नही सके है।

की आवश्यकता आती है। फिर भी यह (अन्तिम विधि जो ज्ञान का कोई अन्तत भिन्न एक तृतीय प्रमाण नहीं वल्कि) अनुमान (के अतिरिक्त अन्य कुछ नही) है (११४ b ४)। (ज्ञान के इन तीन प्रमाणो के अनुमार) ज्ञेय पदार्थ भी तीन प्रकार के होते है, जैसे प्रत्यक्ष, परोक्ष और अत्यन्त-परोक्ष।[1] इम प्रकार, वुद्ध द्वारा कहा गया कोई पदार्थ जव प्रत्यक्ष उपस्थित हो तो उसका सीधे प्रत्यक्ष द्वारा उसी प्रकार परीक्षण किया जाना चाहिये जिस प्रकार सुवर्ण की शुद्धता का अग्नि द्वारा परीक्षण किया जाता है। यदि पदार्थ परोक्ष (किन्तु उसका लिङ्ग प्रत्यक्ष) हो तव उसका उसी प्रकार सम्यक् अनुमान द्वारा परीक्षण किया जाना चाहिये जिस प्रकार सुवर्ण की शुद्धता का कसौटी के पत्थर पर परीक्षण किया जाता है। किन्तु यदि वह पदार्थ अत्यन्त परोक्ष हो तो उसका विरोध की अनुपलब्धि द्वारा उसी प्रकार परीक्षण किया जाना चाहिये जिस प्रकार एक आभूषण को (जव अग्नि और कसौटी पर परीक्षण उपयुक्त न हो तव) टुकडो मे तोड दिया जाता है (जिससे उसके सुवर्ण की शुद्धता की परख हो सके)। इस प्रकार उन दिशाओ मे भी जहाँ उपदेश के अतीन्द्रिय विषय का विवेचन करनेवाले सर्वथा विश्वसनीय (बौद्ध) धर्म-ग्रन्थ उपलब्ध हो वहाँ भी हमे उन्हे ही विश्वास करके नही वल्कि यह मानकर अग्रसर होना चाहिये कि तर्क ही सैद्धान्तिक ज्ञान का एकमात्र स्रोत है।[2]

अतीन्द्रिय अथवा अत्यन्त परोक्ष विषयो के उदाहरण, सर्वप्रथम, कर्म और निर्वाण के नियम या धर्म हैं। ये विषय प्रयोगात्मक विधियो के आधार पर ज्ञात नही हैं, किन्तु इनमे विरोधत्व नही है, अत वुद्ध द्वारा इनके प्रकटन या उद्घाटन को स्वीकार किया जा सकता है।

कर्म और निर्वाण, वास्तव मे अनुभव पर आधारित नही किये जा सकते। जगत् के व्यापार को नियन्त्रित करनेवाले प्रमुख स्रोत के रूप मे कर्मवाद तथा इम व्यापार के चरम अभीष्ट के रूप मे निर्वाणवाद ऐसी स्थापनायें हैं जो मत्ता के मारतत्त्व से सम्बद्ध होते हुये भी द्वन्द्वात्मक नही हैं, इनमे विरोधत्व नही है, देश, काल और स्वभाव की दृष्टि से अनिश्चित नही हैं, ये तो अनुभवातीत और ऐसी अत्यन्त परोक्ष यथार्थतायें हैं जिनको विज्ञान के किसी भी समीक्षात्मक सिद्धान्त के लिये स्वीकार करना आवश्यक है।

साथ ही, यद्यपि हमारा समस्त ज्ञान सम्भाव्य अनुभव के क्षेत्र तक ही सीमित है, तथापि हमे स्वय इस अनुभवात्मक ज्ञान और इसकी सम्भावना की

---

[1] 'म्णोन्–सुम ल्कोग–प' और 'गिन्–तु ल्कोग–प'।

[2] सविकल्पक-प्रमाण-मावे श्रद्-दवाना प्रवर्तन्ते।

अनुभव-निरपेक्ष स्थिति के बीच विभेद करना ही चाहिये।[1] ज्ञान के दो अद्वितीय प्रमाणो के रूप मे इन्द्रिय-ग्राह्यता तथा कल्पना के बीच तीव्र विभेद सीधे विशुद्ध इन्द्रिय-ग्राह्यता की, विशुद्ध अर्थ और विशुद्ध कल्पना की मान्यता की ओर अग्रसर करता है। ये ऐसी वस्तुयें हैं जो अनुभव मे उपलब्ध नही हैं किन्तु इनमे विरोधत्व नही है, यहाँ तक कि ये हमारे सम्पूर्ण ज्ञान के लिये अनुभवनिरपेक्ष स्थिति के रूप मे आवश्यक भी हैं जिनके बिना हमारा ज्ञान ध्वस्त हो जायगा। अत हमे तत्त्वमीमासात्मक तथा अत्यन्त-परोक्ष पदार्थों या विषयो के बीच विभेद अवश्य करना चाहिये। प्रथम ऐसे विषय होते हैं जो "अपने स्थानगत देश, अपने अस्तित्वगत काल और स्वभावगत ग्राह्य गुणो की दृष्टि से अनिश्चित होते हैं।" दूसरी ओर द्वितीय ऐसे विषय होते हैं जिनकी हमारे ज्ञान के प्रत्येक अश मे उपस्थिति निश्चित होती है क्योकि ये सामान्य रूप मे अनुभवात्मक ज्ञान की सम्भावना की अनिवार्य अवस्थायें होते हैं, यद्यपि ये स्वय ग्राह्य प्रतिमाओ मे व्यक्त नही हो सकते—ये, जैसा कि धर्मोत्तर[2] का कथन है, 'ज्ञान द्वारा अप्राप्य होते हैं'। इस प्रकार, तत्त्वमीमासात्मक अथवा अतीद्रिन्य विषय रचित विकल्प तो होते हैं, किन्तु ये भ्रान्त अनुमान, द्वन्द्वात्मक, तथा विरोधी होते हैं। अत्यन्त परोक्ष अथवा अनुभवनिरपेक्ष विषय, जैसे परम स्वलक्षण, परमार्थ विषय जैसा कि वह स्वय अपने मे होता है, न केवल परमार्थ-सत्[3] है वरन् वह स्वय स्वलक्षण वस्तुभूत[4] होता है, यद्यपि किसी विकल्प मे उपलब्ध नही होता क्योकि उसकी अनिवार्य प्रकृति ही अ-विकल्पात्मक होती है। इस विषय की आगे हमारी गवेषणा के बीच-बीच मे अनेक स्थानो पर और अधिक चर्चा की जायगी।

---

[1] शुद्धम् प्रत्यक्षम्, शुद्ध-अर्थ, शुद्धा कल्पना।

[2] न्याबिटी० पृ० १२ १९ 'प्रापयितुम अशक्यत्वात्'।

[3] 'क्षणस्य = परमार्थ-सत,' वही।

[4] सन्तानिन = क्षणा = स्वलक्षणानि वस्तु-भूता,' वही पृ० ६९ २

खण्ड २

इन्द्रियग्राह्य-जगत

अध्याय १

क्षणिक-वाद

§ १. समस्या-कथन

गत अध्याय मे उस महत्त्व की ओर सकेत किया जा चुका है जो बौद्ध लोग अपने इस आधारभूत सिद्धान्त को प्रदान करते हैं कि ज्ञान के दो और केवल दो ही प्रमाण—इन्द्रियाँ और अनुमान है, और इस तथ्य को भी कि ये दोनो प्रमाण सर्वथा विषम-जातीय हैं, अर्थात् एक का होना दूसरे का अभाव है। इस प्रकार, हमे ज्ञान के एक ऐन्द्रिक तथा एक अ-ऐन्द्रिक, अथवा एक बुद्धिग्राह्य तथा एक अ-बुद्धिग्राह्य प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

अपने महान ग्रन्थ के आरम्भिक शब्दो मे दिङ्नाग यह वक्तव्य देते हैं कि ज्ञान के इन दो प्रमाणो के सर्वथा और निश्चित अनुकूल बाह्य विषय या जगत भी द्विविध है—यह या तो स्वलक्षण होता है अथवा सामान्य लक्षण। स्वलक्षण इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय है, और सामान्य लक्षण प्रज्ञा या अनुमान का। इस प्रकार भारत मे, और जैसा कि योरप मे भी है, हमे दो बाह्य विषय प्राप्त होते हैं, एक इन्द्रिय-ग्राह्य और दूसरा अनुमानगत या बुद्धिगम्य। अब हम इन दोनो से सम्बद्ध बौद्ध-विचारो का परीक्षण करेंगे।

इन्द्रिय-ग्राह्य जगत ऐसे सवेद्यार्थों से बना है जो सस्कारो के क्षणिक प्रकटन मात्र होते हैं। अतिचिरस्थायी, शाश्वत, व्यापक प्रकृति, जिसकी साख्य तथा अन्य सम्प्रदाय अपने मूलतत्त्व के रूप मे कल्पना करते हैं, एक मिथ्या कल्पना मात्र है। सभी वस्तुयें निरपवाद रूप से क्षणिक घटनाओ की शृङ्खला के अतिरिक्त और कुछ नही। कमलशील[1] कहते है कि "इनकी क्षणिकता का यह स्वभाव, इनका अलग-अलग क्षणो मे विभक्त होना, प्रत्येक पदार्थ मे व्याप्त है। अपने इसी आधारभूत पक्ष को सिद्ध करके हम 'एक प्रहार मात्र'[2] से आस्तिको के ईश्वर, साख्यो की प्रकृति, तथा अपने विपक्षियो द्वारा कल्पित समस्त पदार्थों को निरस्त कर सकते हैं। इनका एक-एक करके परीक्षण

[1] तुकी तसप० पृ० १३१ १७ और बाद (सक्षिप्त)।
[2] 'एक-प्रहारेण एव'।

अनुभव-निरपेक्ष स्थिति के बीच विभेद करना ही चाहिये। ज्ञान के
तीय प्रमाणो के रूप मे इन्द्रिय-ग्राह्यता तथा कल्पना के बीच ती
सीधे विशुद्ध इन्द्रिय-ग्राह्यता की, विशुद्ध अर्थ और विशुद्ध कल्पना[१] क
की ओर अग्रसर करता है। ये ऐसी वस्तुयें हैं जो अनुभव मे उपल
हैं किन्तु इनमे विरोधत्व नही है, यहाँ तक कि ये हमारे सम्पूर्ण ज्ञा
अनुभवनिरपेक्ष स्थिति के रूप मे आवश्यक भी हैं जिनके बिना ह
ध्वस्त हो जायगा। अत. हमे तत्त्वमीमासात्मक तथा अत्यन्त-पर
या विषयो के बीच विभेद अवश्य करना चाहिये। प्रथम ऐसे
हैं जो "अपने स्थानगत देश, अपने अस्तित्वगत काल और स्वभा
गुणो की दृष्टि से अनिश्चित होते हैं।" दूसरी ओर द्वितीय ऐसे
हैं जिनकी हमारे ज्ञान के प्रत्येक अश मे उपस्थिति निश्चित होती
ये सामान्य रूप मे अनुभवात्मक ज्ञान की सम्भावना की अनिवार
होते हैं, यद्यपि ये स्वय ग्राह्य प्रतिमाओ मे व्यक्त नही हो सकते
कि धर्मोत्तर[२] का कथन है, 'ज्ञान द्वारा अप्राप्य होते हैं'। इस प्र
मीमासात्मक अथवा अतीद्रिन्य विषय रचित विकल्प तो हो
ये भ्रान्त अनुमान, द्वन्द्वात्मक, तथा विरोधी होते हैं। अत्यन्त प
अनुभवनिरपेक्ष विषय, जैसे परम स्वलक्षण, परमार्थ विषय जैसा
अपने मे होता है, न केवल परमार्थ-सत्[3] है वरन् वह स्वय स्वलक्ष
होता है, यद्यपि किसी विकल्प मे उपलब्ध नही होता क्योकि उस
प्रकृति ही अ-विकल्पात्मक होती है। इस विषय की आगे हमा
के बीच-बीच मे अनेक स्थानो पर और अधिक चर्चा क

---

[१] शुद्धम् प्रत्यक्षम्, शुद्ध-अर्थ, शुद्धा कल्पना।

[२] न्याबिटी० पृ० १२ १९ 'प्रापयितुम अशक्यत्वात्'।

[3] 'क्षणस्य = परमार्थ-सत,' वही।

[४] सन्तानिन = क्षणा = स्वलक्षणानि वस्तु-भूता,' वही पृ० ६

मे विचार करना[1] स्वाभाविक ही है।' 'ऐसा न करना उन्मत्त[2] व्यवहार होगा। अत चाहे साक्षात् अथवा अ-साक्षात् रूप से और किसी भी देश और काल मे, मनुष्य जो कुछ भी पदार्थ स्वय प्राप्त करता है उन्हे वह यथार्थ वस्तु मानता है'।[3] अव, हम (वौद्ध) यह सिद्ध करते हैं कि इस प्रकार के (यथार्थ) पदार्थ, अर्थात् ऐसे पदार्थ जो अथक्रियाकारी-रूप हैं, क्षणिक होते हैं। इस नियम का कोई अपवाद नही है कि अथ-क्रिया-सामर्थ्य यथाथता की स्थापना की एक अनिवाय विशिष्टता है। यह एक ऐसी विशिष्टता है जिसकी सत्ता के साथ व्याप्ति सिद्ध है।[4] परन्तु कोई भी पदार्थ अपने अन्तिम क्षण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार अर्थक्रियाकारी और प्रापक नहीं हो सकता। उसके पूर्व-क्षण कोई भी प्रभाव उत्पन्न करने के लिये प्रापकता के क्षण को परस्पर व्याप्त नही कर सकते। इसी प्रकार उसके भावी क्षण तो पूर्व-प्रभाव को और भी उत्पन्न नही कर सकते। यही लेखक[5] आगे यह कहता है कि "कोई भी पदार्थ केवल उसी समय कुछ उत्पन्न कर सकता है जब वह अपनी सत्ता के अन्तिम क्षण को प्राप्त करता है (यही उसका अद्वितीय यथाथ क्षण भी होता है), उसके अन्य क्षण अप्रापक होते हैं।" जब एक बीज अङ्कुरित हो जाता है तब यह काय उस बीज का अन्तिम क्षण करता है, उसके वे क्षण यह काय नही करते जब वह कुशूल मे शान्त पड़ा था।[6] यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि बीज के समस्त पूर्व-क्षण अकुर के अप्रत्यक्ष या अमुख्य[7] कारण हैं, किन्तु यह असम्भव है क्योकि यदि बीज मे प्रतिक्षण परिवर्तन न हो तो उसका स्वभाव ऐसा स्थायी हो जायगा कि वह कभी परिवर्तित नही होगा। यदि यह कहा जाय कि अकुरण का क्षण हेतु-

---

[1] अर्थस्य (= वस्तु-मात्रस्य) अस्तित्व—अनस्तित्वेन विचार।

[2] उन्मत्त स्यात्।

[3] 'यद् एव पदार्थ-जातम्······तत्रैव वस्तु-व्यवस्था', यहाँ 'पदार्थ' और 'वस्तु' का अन्तर द्रष्टव्य है। 'पदार्थों' मे से उन्हे ही 'वस्तु' कहते हैं जो प्रापक होते हैं। यथार्थवादी 'स्वरूप-सत्ता' का 'सत्ता-सामान्य' से विभेद करते हैं, जब कि बौद्ध इस विभेद को अस्वीकार करते हैं, तुकी० सदस० पृ० २६।

[4] 'साध्येन (= सत्तया) व्याप्ति-सिद्धि'।

[5] वही पृ० १४० १९

[6] 'कुशूलादि—स्थो न जनयति,' वही।

[7] 'न मुख्यत', वही १४०. २२, पूर्व क्षणो को 'उपसर्पण-प्रत्यय' कहते है; तुकी० न्याकणि० पृ० १२६ ८, १३५ ८ इत्यादि।

करना तथा विस्तार से प्रतिवादो की रचना करना सर्वथा व्यर्थ परिश्रम होगा क्योकि यह कार्य अत्यन्त स्वल्प उपाय द्वारा[१] ही किया जा सकता है। वास्तव मे हमारे विपक्षियो मे से कोई भी यह स्वीकार नही करेगा कि ये वस्तुयें या पदार्थ क्षणिक हैं, कि ये उदय होते ही समाप्त हो जाती हैं, और यह कि अपने पीछे कोई चिह्न छोडे बिना ही समाप्त हो जाना इनका धर्म[२] है। हम लोग, वास्तव मे इस बात से अवगत हैं कि सामान्य रूप से समस्त वस्तु के व्यापक क्षणभङ्गुरत्व को सिद्ध कर देने से ये समस्त (तत्त्वमीमासात्मक) सत्तायें स्वत निरस्त हो जायँगी। अत अब हम इसी सिद्धान्त की पुष्टि मे तर्कों का प्रतिपादन करेंगे जिससे उन सत्ताओ को (एक बार फिर) निरस्त किया जा सके जिनका परीक्षण किया जा चुका है, अर्थात् ईश्वर, प्रकृति (आत्मा तथा इसके जिस स्वरूप की विभिन्न सम्प्रदायो मे स्थापना की गई है), वात्सीपुत्रीय बौद्धो के (अर्ध-स्थायी) पुद्गल आदि को तथा उन वस्तुओ को भी (निरस्त किया जा सके) जिनका आगे परीक्षण किया जायगा, जैसे जाति, गुण, द्रव्य, त्रिकाल-अनुयायी भाव (जैसा कि इन्हे सर्वास्तिवादी बौद्ध मानते हैं)[३], भौतिकवादियो द्वारा मान्य (शाश्वत) भूत[४], और ब्राह्मणो द्वारा मान्य नित्य वेद[५] आदि। इस प्रकार (किसी भी स्थायी सत्ता का कोई भी लेश नही रह जायगा और) क्षणिकवाद के सिद्धान्त की स्पष्ट स्थापना हो जायगी। अत सत्ता के (मान्य) स्थायित्व का आलोचनात्मक परीक्षण ही समस्त बौद्धदर्शन का अन्तिम परिणाम है। बौद्धदर्शन की प्रमुख धारणा यही है कि सत्ताओ के क्षणिक अशो से पृथक कोई भी परमार्थ सत् नही है। न केवल बाह्य वस्तुयें ही, चाहे वह ईश्वर हो या प्रकृति, यथार्थता से रहित हैं क्योकि इन्हे स्थायी या नित्य कल्पित मात्र कर लिया गया है, वरन् अनुभूत पदार्थो का सरल स्थायित्व भी हमारी कल्पना का ही उत्पादन है। परमार्थ सत् क्षणिक ही होता है।

§ २. यथार्थ गतिमूलक है

कमलशील[६] का कथन है कि "अपनी दैनिक अर्थक्रिया मे रत प्रेक्षावानो के लिये समस्त वाञ्छित वस्तुओ के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के सम्बन्ध

---

[१] 'स्वल्प-उपायेन'।

[२] 'निरन्वय-निरोध-धर्मक'।

[३] 'त्रिकाल-अनुयायिनो भावस्य' (धर्म-स्वभावस्य), तुकी सेक० पृ० ४२।

[४] शब्दार्थ 'चार्वाको के भूतचतुष्टय'।

[५] शब्दार्थ 'जैमिनीयो की नित्य वैदिक शब्दराशि'।

[६] तसप० पृ० १५१ १९ और बाद।

मे विचार करना[1] स्वाभाविक ही है। ऐसा न करना उन्मत्त[2] व्यवहार होगा। अत चाहे साक्षात् अथवा अ-साक्षात् रूप से और किसी भी देश और काल मे, मनुष्य जो कुछ भी पदार्थ स्वय प्राप्त करता है उन्हे वह यथार्थ वस्तु मानता है ।[3] अव, हम (बौद्ध) यह सिद्ध करते है कि इस प्रकार के (यथार्थ) पदार्थ, अर्थात् ऐसे पदार्थ जो अर्थक्रियाकारी-रूप हैं, क्षणिक होते हैं। इस नियम का कोई अपवाद नही है कि अर्थ-क्रिया-सामर्थ्य यथार्थता की स्थापना की एक अनिवार्य विशिष्टता है। यह एक ऐसी विशिष्टता है जिसकी सत्ता के साथ व्याप्ति सिद्ध है।[4] परन्तु कोई भी पदार्थ अपने अन्तिम क्षण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार अर्थक्रियाकारी और प्रापक नहीं हो सकता। उसके पूर्व-क्षण कोई भी प्रभाव उत्पन्न करने के लिये प्रापकता के क्षण को परस्पर व्याप्त नही कर सकते। इसी प्रकार उसके भावी क्षण तो पूर्व-प्रभाव को और भी उत्पन्न नही कर सकते। यही लेखक[5] आगे यह कहता है कि "कोई भी पदार्थ केवल उसी समय कुछ उत्पन्न कर सकता है जब वह अपनी सत्ता के अन्तिम क्षण को प्राप्त करता है (यही उसका अद्वितीय यथार्थ क्षण भी होता है),उसके अन्य क्षण अप्रापक होते हैं।" जब एक बीज अङ्कुरित हो जाता है तब यह कार्य उस बीज का अन्तिम क्षण करता है, उसके वे क्षण यह कार्य नही करते जब वह कुशूल मे शान्त पड़ा था।[6] यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि बीज के समस्त पूर्व-क्षण अकुर के अप्रत्यक्ष या अमुख्य[7] कारण हैं, किन्तु यह असम्भव है क्योकि यदि बीज मे प्रतिक्षण परिवर्तन न हो तो उसका स्वभाव ऐसा स्थायी हो जायगा कि वह कभी परिवर्तित नही होगा। यदि यह कहा जाय कि अकुरण का क्षण हेतु-

---

[1] अर्थस्य (= वस्तु-मात्रस्य)अस्तित्व—अनस्तित्वेन विचार ।

[2] उन्मत्त स्यात् ।

[3] 'यद् एव पदार्थ-जातम्...... तत्रैव वस्तु-व्यवस्था', यहाँ 'पदार्थ' और 'वस्तु' का अन्तर द्रष्टव्य है। 'पदार्थों' मे से उन्हे ही 'वस्तु' कहते हैं जो प्रापक होते हैं। यथार्थवादी 'स्वरूप-सत्ता' का 'सत्ता-सामान्य' से विभेद करते हैं, जब कि बौद्ध इस विभेद को अस्वीकार करते हैं, तुकी० सदस० पृ० २६ ।

[4] 'साव्येन (= सत्तया) व्याप्ति-सिद्धि '।

[5] वही पृ० १४० १९

[6] 'कुशूलादि—स्थो न जनयति,' वही।

[7] 'न मुख्यत ', वही १४० २२, पूर्व क्षणो को 'उपसर्पण-प्रत्यय' कहते है; तुकी० न्याकणि० पृ० १२६ ८, १३५ ८ इत्यादि।

अनुसरण करनेवाली दो ऐसी विरोधी दार्शनिक प्रणालियो का उदाहरण मिलता है, जो दर्शन के सामान्य इतिहासकारो के लिये अपरिचित नही हैं।

बौद्धो द्वारा प्रस्तुत तर्क इस प्रकार है।

§ ३. काल तथा दिक् की प्रत्ययात्मकता पर आधारित तर्क

विरम्य व्यापार के सिद्धान्त मे यह निहित है कि कालगत प्रत्येक अवधि एक-दूसरे का अनुगमन करनेवाले क्षणो से निर्मित है, दिक् का प्रत्येक विस्तार भी सान्निध्यपूर्ण और एक साथ ही उत्पन्न क्षणो से निर्मित है, और प्रत्येक गति इन्ही क्षणो की सान्निध्यता और निरन्तरता[१] से उत्पन्न होती है। अत इन क्षणो के अतिरिक्त कोई काल, दिक् या गति नही है जिनसे ही हमारी कल्पना इन कल्पित सत्ताओ को उत्पन्न करती है।

बौद्धो की काल, दिक् और गति (कर्मता) की धारणा को समझने के लिये हमे इन्हे भारतीय यथार्थवादी सम्प्रदायो मे प्रतिपादित विभिन्न धारणाओ के समक्ष रखना होगा। हमे अपने अध्ययन के प्राय प्रत्येक पग पर इस विधि का आश्रय लेना होगा। हम पहले काल और दिक् से आरम्भ करेंगे।

भारतीय यथार्थवादियो के अनुसार काल एक द्रव्य है। यह एक, नित्य, और सर्वव्यापी है।[२] इसके अस्तित्व का घटनाओ की निरन्तरता तथा सहकालिकता द्वारा अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार दिक् भी एक द्रव्य[3] है, जो एक, नित्य, और सर्वतोव्याप्त है। इसके अस्तित्व का इस तथ्य द्वारा अनुमान किया जाता है कि विस्तृत समस्त पदार्थ अभेद्यता से युक्त और दिक् के अन्तर्गत एक-दूसरे के साथ-साथ रहते हैं। प्रशस्तपाद यह अत्यन्त

स्वरूपोत्पाद, नापि साख्य-वद् वस्तु-स्वरूप-स्थैर्येऽपि परिणति-भेद एव मीमासकै स्वी-क्रियते।" यहाँ यह कह देना उचित है कि साख्य, फिर भी, समवाय के गोचरत्व को अस्वीकार करते हैं, और यही आधारभूत विशिष्टता इन्हे वैशेषिको से तथा प्रत्यक्षत प्राचीन योग-सम्प्रदाय से भी पृथक करती है।

[१] 'निरन्तर-क्षण-उत्पाद'।

[२] वैसू० २ २, ६ ९, तुकी० प्रशस्तपा० पृ० ६२ २३ और बाद।

[3] वैसू० २ २,१० १६, तुकी प्रशस्तपा० पृ० ६७ १ और बाद।

रोचक टिप्पणी और जोड[1] देते हैं कि काल, दिक् और आकाश, सभी अपना-अपना एकत्व[2] रखते है अत इन्हे दिये गये नाम वस्तुत पारिभाषिक सज्ञायें[3] हैं जातिवाचक[4] शब्द नही। विभिन्न काल एक ही और उसी काल के अंश होते हैं। जब काल और दिक् को अनेक कालो और अनेक दिको मे विभक्त कहा जाता है तो यह एक लाक्षणिक प्रयोग ही होता है। इनमे स्थित पदार्थ[5] ही विभक्त होते हैं स्वय दिक् और स्वय काल नही। अत ये "नाना विषयक अथवा सामान्य धारणायें[6]" नही हैं। ये तो केवल एक व्यक्ति-भेद[7] के अधिष्ठान मात्र हैं।

यह स्पष्ट है कि भारतीय यथार्थवादी, जैसा कि कुछ योरोपीय हेतुप्राधान्यवादी भी मानते है, काल और दिक् को ऐसे सर्वव्यापी आधार मानते हैं जिनमे से प्रत्येक सम्पूर्ण विश्व को अपने मे धारण किये हुये है।

इन दोनो आधारो की पृथक् यथार्थता को बौद्धो ने अस्वीकार किया है।

जैसा हम देख चुके हैं, यथार्थ एक ऐसा पदार्थ है जो अपनी एक पृथक् प्रापकता रखता है। पदार्थों के आधारो की कोई भी पृथक् प्रापकता नही

---

[1] पृ० ५८५ और बाद

[2] 'एकैक'।

[3] 'पारिभाषिक्य सज्ञा'।

[4] 'अपर-जात्य्-अभावे'।

[5] 'अञ्जसा एकत्वेपि ·····उपाधि-भेदात् नानात्वोपचार'।

[6] यह कुछ कौतूहलवर्धक ही है कि काल और दिक् की अयाथार्थता की स्थापना करने के लिये काण्ट द्वारा प्रयुक्त प्रमुख तर्को मे से एक हमे भारतीय यथार्थवादी पद्धति मे मिलता है यद्यपि यहाँ वही निष्कर्ष नहीं निकाला गया है जो काण्ट निकालते हैं।

[7] तुकी० न्याकण्ड० पृ० ५९६ 'व्यक्ति-भेद-अधिष्ठान'। काण्ट (क्रिरी० पृ० २५) ने इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकाला है कि काल को 'अन्त प्रज्ञा ही होना चाहिये क्योकि कोई भी वस्तु जो मात्र एक पदार्थ से ही उत्पन्न हो सकती है अन्त प्रज्ञा होती है।' बौद्ध ऐसा कभी नही कह सकते थे क्योकि इनके लिये मात्र एक पदार्थ (व्यक्ति=स्वलक्षण) केवल एक क्षणमात्र होता है और अन्त प्रज्ञा उसकी उपस्थिति के अनुरूप एक 'निर्विकल्पकम् प्रत्यक्षम्' मात्र है।

कारणसामग्री का परिणाम[१] होता है, तो यही प्रत्येक क्षण के लिये कहा जा सकता है क्योंकि प्रत्येक क्षण की अपनी हेतुकारणसामग्री होती है जिसके कारण वह अस्तित्व मे आता है। 'हमारा यह क्षण (अर्थात् वह क्षण जिसे हम यथार्थ मानते हैं) ही वह क्षण है जब क्रिया की (अर्थात् समान क्षणो के प्रवाह की) समाप्ति होती।"[२] किन्तु इस आशय मे कोई क्रिया कभी समाप्त नही होती। प्रत्येक क्षण के बाद अनिवार्यत दूसरा क्षण आता रहता है। इस गति मे ऐसा भग जो मम्यक् यथार्थता का निर्माण करता है विशिष्ट अथवा असमान क्षण की प्रतीति होता है।[३] यह हमारी व्यावहारिक आवश्यकता के लिये विशिष्ट होता है, क्योंकि हमारे लिये क्षणो के सतत परिवर्तन की उपेक्षा करते हुये उस पर उसी क्षण ध्यान देना स्वाभाविक है जब वह एक नवीन गुण बन जाता है,अर्थात् जब वह हमारे व्यवहार अथवा हमारे विचार पर एक नवीन अभिवृत्ति का प्रभाव डालने के लिये पर्याप्त होता है। किसी वस्तु के अस्तित्व मे पूर्व के क्षणो की अनन्यता केवल उनके भेद-अग्रह मात्र मे ही निहित है। इस अनन्यता मे व्यवधान इनकी गति मे व्यवधान नही है। यह तो सदैव ही कल्पित होता है, ऐसे क्षणो का सघटन होता है जिनके भेद को हम ग्रहण नही कर पाते। "यथार्थता का स्वरूप क्षणिक या चल-भाव होता है", ऐसा शान्तिरक्षित[४] का कथन है। यथार्थता गतिमूलक है। जगत एक चलचित्र है। कारणता,[५] अर्थात् एक दूसरे का अनुगमन करने वाले क्षणो का अन्योन्याश्रयत्व स्थिरता या अवधि की भ्राति उत्पन्न कर देता है, किन्तु वास्तव मे ये क्षण ऐसे सस्कार होते हैं जो अपने मे बिना किसी स्थायित्व के ही क्षणिक अस्तित्व प्राप्त करते रहते है, और इनमे कोई व्यवधान नही होता, अथवा इतना सूक्ष्म व्यवधान होता है कि ये निरन्तर ही प्रकट होते हैं।

इस सिद्धान्त को, जिसकी प्रमुख रूपरेखा का यहाँ सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है, और जिसकी तर्कों की एक ऐसी शृङ्खला द्वारा पुष्टि की गई है

[१] 'सामग्री' = 'हेतु कारण सामग्री', किसी पदार्थ की हेतु-कारण-सामग्री का स्वय उस पदार्थ से विभेद नही किया जा सकता। 'सहकारिता-साकल्यम् न प्रातेर् अतिरिच्यते,' ताटी पृ० ८० ५।

[२] अभिभा० अध्य० २ ४६ 'क्रिया-परिसमाप्ति-लक्षण एव एषो न क्षण', (अनुवाद, भाग १, पृ० २३२)।

[३] विजातीय-क्षण-उत्पाद।

[४] तस० पृ० १३८ ९ 'चल-भाव-स्वरूप = क्षणिक', तसप० ११७ १७ 'चल = अनित्य', तुकी० वही १३७ २२

[५] तस० पृ० १ 'चल प्रतीत्य-समुत्पाद', तुकी तसप० पृ० १३१-१२।

जिसका हम अपने विवेचन के अगले अशो मे परीक्षण करेंगे, स्वय बौद्ध तथा उनके विपक्षी भी अपनी सम्पूर्ण सत्त्वमीमासा की आधारशिला मानते है।

यह धारणा कि बाह्यजगत मे कोई स्थायित्व नही है, और यह कि सत्ता बाह्यार्थों के एक प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नही, हमारे लिये यूनानी दर्शन के इतिहास मे परिचित है जहाँ हेराक्लिटस के व्यक्तित्व मे अपने आरम्भिक काल मे ही यह एक उल्लेखनीय घटना है। ऐसी घटना जिसे यूनानी दर्शन के परवर्ती विकास मे शीघ्र ही विस्मृत कर दिया गया। हम इसे ही पुन भारत मे एक ऐसी पद्धति के आधार के रूप मे पाते हैं जिसका मूल ईसा-पूर्व छठवी शताब्दी जैसे पूर्व-समय तक चला गया है। किन्तु यहाँ यह एक घटना मात्र नही है—यहाँ इसका अनेक उलट-फेर से होते हुए विस्तृत प्रणालियो की शृङ्खला के रूप मे सतत विकास हुआ है, और लगभग १५ शताब्दियो के एक क्षुब्ध जीवन के पश्चात् इसने अन्य बौद्ध देशो मे नवीन आवास प्राप्त करने के लिये अपनी जन्मभूमि को छोड दिया। यत आधुनिक योरोपीय चिन्तन मे पुन यही धारणा प्रगट होती है, और आधुनिक विज्ञान तक ने इसकी आशिक पुष्टि की है, अत इतिहासकार, उन तर्कों मे जिनके द्वारा इसकी भारत मे स्थापना हुई थी, तथा उन स्वरूपो मे जिनके द्वारा इसने यहाँ रूप ग्रहण किया, अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने मे अभिरुचि रख सकता है।

भारत मे हमे सामान्य प्रवाह के दो सर्वथा भिन्न सिद्धान्त मिलते हैं। सासारिक प्रक्रिया को व्यक्त करनेवाली गति या तो सतत गति, अथवा विच्छिन्न यद्यपि सान्द्रतर गति है। इस वाद की गति का एक दूसरे का प्राय निरन्तर अनुगमन करनेवाले विविक्त क्षणो की असीमता द्वारा निर्माण होता है। प्रथम दशा मे घटनायें एक सर्वव्यापी, शाश्वत प्रधान की पृष्ठभूमि मे प्रगट होनेवाली वृत्तियो अथवा प्रवाहो के अतिरिक्त और कुछ नही जिसके साथ इनका तादात्म्य है। जगत एक परिणामवाद को व्यक्त करता है। द्वितीय दशा मे कोई भी पदार्थ नही होता, सस्कार के क्षण एक-दूसरे का अनुगमन करते हुये स्थिर घटनाओ की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। यहाँ जगत एक क्षिप्र-स्पष्ट गति है। प्रथम दृष्टिकोण का साख्यदर्शन मे प्रतिपादन किया गया है, और दूसरे का बौद्धदर्शन मे।[1] यहाँ हमे प्रत्यक्षत एक ही प्राथमिक तत्त्व का

[1] यथार्थवादी इन सिद्धान्तो को अस्वीकार करते हैं, इनका उदयन ने अपनी परिशुद्धि (पृ० १७१–१७२) के इन शब्दो मे अत्यन्त सारगर्भित रूप से प्रतिपादन किया है "न तावत् प्रतिक्षण-वर्तमानत्वम् सौगत-मत-वद् वस्तुन.

अनुसरण करनेवाली दो ऐसी विरोधी दार्शनिक प्रणालियो का उदाहरण मिलता है, जो दर्शन के सामान्य इतिहासकारो के लिये अपरिचित नही हैं।

बौद्धो द्वारा प्रस्तुत तर्क इस प्रकार है।

§ ३. काल तथा दिक् की प्रत्ययात्मकता पर आधारित तर्क

विरम्य व्यापार के सिद्धान्त मे यह निहित है कि कालगत प्रत्येक अवधि एक-दूसरे का अनुगमन करनेवाले क्षणो से निर्मित है, दिक् का प्रत्येक विस्तार भी सान्निध्यपूर्ण और एक साथ ही उत्पन्न क्षणो से निर्मित है, और प्रत्येक गति इन्ही क्षणो की सान्निध्यता और निरन्तरता[१] से उत्पन्न होती है। अत इन क्षणो के अतिरिक्त कोई काल, दिक् या गति नही है जिनसे ही हमारी कल्पना इन कल्पित सत्ताओ को उत्पन्न करती है।

बौद्धो की काल, दिक् और गति (कर्मता) की धारणा को समझने के लिये हमे इन्हे भारतीय यथार्थवादी सम्प्रदायो मे प्रतिपादित विभिन्न धारणाओ के समक्ष रखना होगा। हमे अपने अध्ययन के प्राय प्रत्येक पग पर इस विधि का आश्रय लेना होगा। हम पहले काल और दिक् से आरम्भ करेंगे।

भारतीय यथार्थवादियो के अनुसार काल एक द्रव्य है। यह एक, नित्य, और सर्वव्यापी है।[2] इसके अस्तित्व का घटनाओ की निरन्तरता तथा सहकालिकता द्वारा अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार दिक् भी एक द्रव्य[3] है, जो एक, नित्य, और सर्वतोव्याप्त है। इसके अस्तित्व का इस तथ्य द्वारा अनुमान किया जाता है कि विस्तृत समस्त पदार्थ अभेद्यता से युक्त और दिक् के अन्तर्गत एक-दूसरे के साथ-साथ रहते हैं। प्रशस्तपाद यह अत्यन्त

स्वरूपोत्पाद, नापि साख्य-वद् वस्तु-स्वरूप-स्थैर्येऽपि परिणति-भेद एव मीमासकै स्वी-क्रियते।" यहाँ यह कह देना उचित है कि साख्य, फिर भी समवाय के गोचरत्व को अस्वीकार करते हैं, और यही आधारभूत विशिष्टता इन्हे वैशेपिको से तथा प्रत्यक्षत प्राचीन योग-सम्प्रदाय से भी पृथक करती है।

[१] 'निरन्तर-क्षण-उत्पाद'।

[२] वैसू० २ २, ६ ९; तुकी० प्रशस्तपा० पृ० ६२ २३ और वाद।

[3] वैसू० २ २, १० १६, तुकी प्रशस्तपा० पृ० ६७ १ और वाद।

रोचक टिप्पणी और जोड़[1] देते हैं कि काल, दिक् और आकाश, सभी अपना-अपना एकत्व[2] रखते है अत इन्हे दिये गये नाम वस्तुत पारिभाषिक सज्ञायें[3] हैं जातिवाचक[4] शब्द नही। विभिन्न काल एक ही और उसी काल के अंश होते हैं। जब काल और दिक् को अनेक कालो और अनेक दिको मे विभक्त कहा जाता है तो यह एक लाक्षणिक प्रयोग ही होता है। इनमे स्थित पदार्थ[6] ही विभक्त होते हैं स्वय दिक् और स्वय काल नही। अत ये "नाना विषयक अथवा सामान्य धारणायें[5]" नही हैं। ये तो केवल एक व्यक्ति-भेद[7] के अधिष्ठान मात्र हैं।

यह स्पष्ट है कि भारतीय यथार्थवादी, जैसा कि कुछ योरोपीय हेतुप्रावान्यवादी भी मानते हैं, काल और दिक् को ऐसे सर्वव्यापी आधार मानते हैं जिनमे से प्रत्येक सम्पूर्ण विश्व को अपने मे धारण किये हुये है।

इन दोनो आधारो की पृथक् यथार्थता को बौद्धो ने अस्वीकार किया है।

जैसा हम देख चुके हैं, यथार्थ एक ऐसा पदार्थ है जो अपनी एक पृथक् प्रापकता रखता है। पदार्थो के आधारो की कोई भी पृथक् प्रापकता नही

---

[1] पृ० ५८५ और बाद

[2] 'एकैक'।

[3] 'पारिभाषिक्य सज्ञा'।

[4] 'अपर-जात्य्-अभावे'।

[5] 'अञ्जसा एकत्वेपि · ···उपाधि-भेदात् नानात्वोपचार'।

[6] यह कुछ कौतूहलवर्धक ही है कि काल और दिक् की अयाथार्थता की स्थापना करने के लिये काण्ट द्वारा प्रयुक्त प्रमुख तर्को मे से एक हमे भारतीय यथार्थवादी पद्धति मे मिलता है यद्यपि यहाँ वही निष्कर्ष नहीं निकाला गया है जो काण्ट निकालते हैं।

[7] तुकी० न्याकण्ड० पृ० ५९६ 'व्यक्ति-भेद-अधिष्ठान'। काण्ट (क्रिरी० पृ० २५) ने इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकाला है कि काल को 'अन्त प्रज्ञा ही होना चाहिये क्योकि कोई भी वस्तु जो मात्र एक पदार्थ से ही उत्पन्न हो सकती है अन्त प्रज्ञा होती है।' बौद्ध ऐसा कभी नही कह सकते थे क्योकि इनके लिये मात्र एक पदार्थ (व्यक्ति=स्वलक्षण) केवल एक क्षणमात्र होता है और अन्त प्रज्ञा उसकी उपस्थिति के अनुरूप एक 'निर्विकल्पकम् प्रत्यक्षम्' मात्र है।

होती ।[१] काल और दिक् को उन पदार्थों से पृथक् नही किया जा सकता जो इनमे स्थित होते हैं । अत ये पृथक् सत्तायें नही हैं । अपनी कल्पनाशक्ति के कारण हम एक ही पदार्थ के प्रति विभिन्न दृष्टियाँ गृहण कर सकते हैं, किन्तु यह केवल कल्पना मात्र है । प्रत्येक क्षण को काल का एक सूक्ष्माश, दिक् का एक सूक्ष्माश, तथा एक ग्राह्य गुण माना जा सकता है, किन्तु भेद या अन्तर का ग्रहण उस क्षण के प्रति हमारी मानसिक अभिवृत्ति[२] का ही परिणाम है । स्वय क्षण, समस्त कल्पनाओ से पृथक् परमार्थ सत् गुणरहित, कालरहित और अविभाज्य है ।

अपने दर्शन के प्रथम काल मे बौद्धमत जगत् के तत्त्वो[३] मे से एक के रूप मे दिक् (आकाश) की यथार्थता को स्वीकार करता था, जिसकी एक असस्कृत, शाश्वत, सर्वव्यापक तत्त्व के रूप मे कल्पना की गई थी । परन्तु जब बौद्धो को स्वय अपने गृह के ही आदर्शवाद का साक्षात्कार करना पडा तब उन्होने देखा कि वाह्य पदार्थों की यथार्थता को सम्यक-प्रमाणो द्वारा पुष्ट नही किया जा सकता, और तब एक स्थूल दिक् की यथार्थता को अस्वीकृत कर दिया गया । स्थूल काल[४] को भी इसी प्रकार अस्वीकृत कर दिया गया किन्तु सूक्ष्म काल, अर्थात् प्रापकता के क्षण[५] की न केवल स्थापना ही की गई वरन् इसे, जैसा कि हम अभी देखेंगे, वह आलम्ब बना दिया गया जिस पर यथार्थता का समस्त प्रासाद खडा किया गया है । स्थूल काल और दिक् पर इस दृष्टि से आक्षेप नही किया गया है कि ये ऐसी अनुभव-निरपेक्ष अन्त प्रज्ञायें हे जिनकी अनुभवात्मक उत्पत्ति की धारणा असम्भव है, बल्कि इसलिये कि इनका इस आधार पर तार्किक विनाश कर दिया गया कि अवधि और विस्तार की धारणायें, जैसा कि इनका साधारण जीवन मे प्रयोग होता है, अप्रकट रूप से

---

[१] अर्थात् ये 'अर्थ-क्रिया-कारिन्' नही होते ।

[२] अर्थात् 'काल्पनिक' । तुकी० कथावत्थु के अनुवादको की टिप्पणियाँ, पृ० ३९२ और बाद ।

[३] 'आकाश' के नाम मे, जो नाम न्याय-वैशेपिक पद्धति मे उस ब्रह्माण्डीय आकाश का द्योतक है जो ध्वनि का विस्तारक है। कमलशील का कथन है (तसप० पृ० १४० १०) कि इस तत्त्व की यथार्थता को स्वीकार करने के के कारण वैभापिक वौद्ध कहे जाने के योग्य नही हैं 'न शाक्य-पुत्रीया '।

[४] 'स्थूल काल', कथावत्थु मे 'महाकाल' ।

[५] क्षण = सूक्ष्म काल ।

विरोधत्व से युक्त हैं और इसलिये इनकी विषयात्मक यथार्थता को स्वीकार नही किया जा सकता।

§ ४. अवधि और विस्तार यथार्थ नही है

वास्तव मे, यदि हम यह माने कि कोई वस्तु, यद्यपि एक रहते हुये, विस्तार और अवधि से युक्त होती है, तो जहाँ तक हम यथार्थता को प्रापकता के रूप मे ग्रहण करते है, हमे विरोधत्व मिलेगा। न तो एक ही यथार्थ वस्तु का एक ही समय मे अनेक स्थलो पर अस्तित्व हो सकता है, और न एक ही यथार्थ अलग-अलग कालो मे यथार्थ हो सकता है। यदि स्थिति ऐसी हो तो यह विरोध-नियम के विपरीत होगा। यदि एक वस्तु किसी एक स्थान पर है तो वह उसी समय किसी अन्य स्थान पर उपस्थित नही हो सकती। अन्य स्थान पर भी उपस्थित होने का अर्थ प्रथम स्थान पर उपस्थित न होना है। इसी प्रकार अनेक स्थानो पर स्थित रहने का अर्थ किसी एक समय पर किसी एक ही स्थान विशेष पर उपस्थित और अनुपस्थित होना होगा। यथार्थ-वादियो के अनुसार अनुभवात्मक वस्तुओ की एक सीमित यथार्थ अवधि होती है। ये प्रकृति की रचनात्मक शक्ति से, अथवा मानव सकल्प द्वारा, या ईश्वर की इच्छा द्वारा परमाणुओ से उत्पन्न होती हैं। परमाणु सयुक्त होते हैं और नवीन पदार्थ एकीभूत वस्तुओ का निर्माण करते हैं। ये सृजित एकीभूत यथार्थ वस्तुयें अपने उपादान कारण, अर्थात् परमाणुओ मे स्थित अथवा अन्तर्निहित होती हैं। इस प्रकार हमे बहुसख्यक परमाणुओ, अर्थात् अनेक स्थानो, मे एक साथ ही स्थित एक ही यथार्थ वस्तु मिलती है। यह असम्भव है। या तो सृजित एकत्व एक कल्पितार्थ मात्र है और केवल उसके विभिन्न अश ही यथार्थ है, अथवा ये अश ही कल्पितार्थ हैं और समग्र-रूप मात्र यथार्थ है। बौद्धो के लिये अश-मात्र ही यथार्थ हैं और समग्र एक कल्पितार्थ[1], क्योकि यदि यह एक यथार्थ हो तो यह एक ऐसा यथार्थ होगा जो एक ही समय मे अनेक स्थानो मे स्थित होगा, अर्थात् ऐसा यथार्थ जो एक समय मे किसी एक ही स्थान विशेष पर उपस्थित तथा अनुपस्थित होगा।[2]

---

[1] तुकी० 'सिक्स बुद्धिस्ट ट्रैक्ट्स' मे आचार्य अशोक कृत अवयवी-निराकरण, और तुकी० ताटी० पृ० २६९ ३ और बाद, न्याकणि० पृ० २६२. १० और बाद, न्याकण्ड० पृ० ४१ १२ और बाद।

[2] तुकी० लीब्निज के शब्द "विस्तार उस वस्तु की, जिसे विस्तृत किया गया है, आवृत्ति अथवा सतत बहुलता के अतिरिक्त और कुछ नही, यह अशो

इसी प्रकार के तर्कों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि कोई वस्तु किसी अवधि से युक्त नही हो सकती। यदि किसी वस्तु का 'क' क्षण मे अस्तित्व है तो उसी का 'ग' क्षण मे भी अस्तित्व नही हो सकता, क्योकि 'क' क्षण मे यथार्थ अस्तित्व का अर्थ 'ग' क्षण मे अथवा किसी भी अन्य क्षण मे कोई यथार्थ अस्तित्व न होना है। इस प्रकार यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि उसी वस्तु का 'ग' क्षण मे भी अस्तित्व बना रहता है, तो इसका मात्र यही अर्थ होगा कि उसका एक साथ ही 'क' क्षण मे यथार्थ अस्तित्व है भी और यथार्थ अस्तित्व नही भी है। यदि किसी वस्तु की अनेक क्षणो मे यथाथ अवधि हो तो वह एक ऐसे यथार्थ एकत्व को व्यक्त करेगी जिसका एक साथ ही विभिन्न कालो मे अस्तित्व है। यह अवधिगत एकत्व या तो कल्पिताथ है और केवल क्षण मात्र ही यथार्थ हैं, अथवा क्षण कल्पितार्थ हैं और अवधि मात्र ही यथार्थ है। बौद्धो के लिये केवल क्षण ही यथार्थ और अवधि कल्पिताथ है, क्योकि यदि यह एक यथार्थ हो तो यह एक ऐसा यथाथ होगा जिसका एक साथ ही विभिन्न कालो मे अस्तित्व होगा[१] अर्थात् वह किसी एक क्षण विशेष मे विद्यमान तथा साथ ही साथ अ-विद्यमान होगा।

इस प्रकार, बौद्धो के लिये परमार्थ सत् पर या चरम यथार्थ कालविहीन, स्थानविहीन और कर्मरहित है, किन्तु यह नित्य सत्ता के आशय मे काल-विहीन, सर्वत्र उपस्थित सत्ता के आशय मे स्थान-विहीन और एक सर्वव्यापी कर्मता से रहित समाग्रता के आशय मे कर्म-विहीन नही है। यह तो इस आशय मे काल-विहीन, स्थान-विहीन और कर्म-विहीन है कि इसमे कोई अवधि नही है, कोई विस्तार नही है, और कोई कर्म नही है। यह एक गणितीय क्षण है, किसी क्रिया की प्रापकता का क्षण।

§ ५. साक्षात् प्रत्यक्ष पर आधारित तर्क

समस्त विद्यमान वस्तुओ के क्षणिक स्वभाव की प्रत्यक्ष तथा अनुमान पर आधारित तर्कों के आधार पर भी स्थापना हो जाती है। इनमे से प्रथम

या खण्डो की बहुलता, सातत्य, और सह-अस्तित्व ही है।" "मेरे विचार से स्थूल वस्तु विस्तृत किये जाने और किसी स्थान को ग्रहण करने से सर्वथा भिन्न कुछ होती है।" "विस्तार अपकर्षण के अतिरिक्त और कुछ नही।" (एक्स्ट्रेट ड' उने लेट्रे, १६९३)।

[१] तुकी० तात्प० पृ० ९२ १३ और बाद, भाग दो की परिशिष्ट १ मे अनूदित, तुकी० न्याकणि० पृ० १२५

साक्षात् प्रत्यक्ष पर[1] आधारित तर्क है। विज्ञान एक क्षणिक प्रतिभास है ऐसा स्वसवेदन से सिद्ध हो जाता है। परन्तु एक क्षणिक विज्ञान केवल एक क्षणिक वस्तु का प्रतिवर्त मात्र ही है। यह उनमे से किसी को भी ग्रहण नही कर सकता जो पहले हो चुका है अथवा वाद मे होगा। ठीक उसी प्रकार जैसे जव हम एक क्षणिक विज्ञान मे एक नील पट का प्रत्यक्ष करते हैं, तव हम ठीक उसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं जो उस विज्ञान के अनुरूप होती है, अर्थात् हमे केवल नीले पट का ही प्रत्यक्ष होता है पीले का नही। ऐसा करते हुए भी हम उस विज्ञान मे ठीक वर्तमान क्षण का ही प्रत्यक्ष करते है, न तो गत का और न आगत का। जव एक नील पट के अस्तित्व का प्रत्यक्ष होता है तो उसका अनस्तित्व अथवा उसकी अनुपस्थिति स्वत वर्जित होती है और इस प्रकार उसके पूर्व तथा आगत क्षण भी वर्जित हो जाते हैं। विज्ञान द्वारा केवल वर्तमान क्षण का ही ग्रहण होता है। यत समस्त वाह्य पदार्थो को ऐन्द्रिक-विषयो के रूप मे घटाया जा सकता है और तद्नुरूप विज्ञान भी सदैव एक क्षण मात्र तक ही सीमित होते हैं, अत यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त पदार्थों का, जहाँ तक वे हमे प्रभावित करते हैं, क्षणिक अस्तित्व ही होता है। विज्ञान के क्षण के वाहर पदार्थ की अवधि की स्वय विज्ञान के लिये आवश्यकता नही होती, यह अवधि तो उस विज्ञान की एक विस्तार मात्र, हमारी कल्पना की एक रचना मात्र होती है। हमारी कल्पना विज्ञान द्वारा उद्दीप्त होने पर पदार्थ के आकार का निर्माण करती है, किन्तु विज्ञान मात्र, विशुद्ध विज्ञान, एक क्षणिक पदार्थ का ही सकेत करता है।

§ ६ प्रत्यभिज्ञा अवधि को सिद्ध नही करती

इस तर्क के विरुद्ध यथार्थवादी निम्नलिखित आपत्ति[2] करता है। वह कहता है कि यह सत्य है कि विज्ञान केवल एक नील पट का ही प्रत्यक्ष करता है, और यह उसी समय इससे भिन्न किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नही करता। परन्तु हम इतनी दूर तक जाकर यह स्वीकार नही कर सकते कि विज्ञान उसकी अवधि के ठीक-ठीक काल का ही प्रत्यक्ष करता है और यह अवधि केवल क्षणिक ही होती है। स्वय विज्ञान एक क्षण से अधिक देर तक होता है, यह दो या तीन क्षणो तक वना रह सकता है। यह कदापि सिद्ध नही होता कि यह केवल एक क्षण तक ही होता है, और यह भी किसी प्रकार

[1] न्याकणि० पृ० १२३ १४ और वाद, ताटी० पृ०९२ १५ और वाद।
[2] न्याकणि० पृ० १२३ २३ और वाद।

असम्भव नही है कि एक वस्तु विद्यमान रहती है और क्रमश एक के वाद एक विज्ञानो की एक श्रृङ्खला को उत्पन्न करती है।

बौद्ध यह उत्तर[1] देते हैं (वाद-विवाद के लिये) हम यह मान लें कि समस्त अस्तित्वो की क्षणिकता हमारे विज्ञान मे साक्षात् प्रतिभासित नही होती (किन्तु क्या अवधि की स्थिति इससे भिन्न होती है ? क्या अवधि का साक्षात् प्रतिभास होता है?) हाँ होता है, ऐसा यथार्थवादी कहता है। एक प्रतिष्ठित तथ्य, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा[2] का तथ्य भी है जो वस्तुओ के स्थायित्व और उनकी अवधि को सिद्ध करता है। यह इस प्रकार का एक विज्ञान या वोध है कि "यह वही रत्न है (जिसे मैं पहले देख चुका हूँ)"। बौद्ध उत्तर देते हैं कि यह निश्चय ही रत्न के स्थायित्व अथवा उसकी अवधि को कदापि सिद्ध नही करता। यह इस वात को सिद्ध नही करता कि उसकी पूर्व-स्थिति उसकी वर्तमान स्थिति के सर्वथा समान है। और यदि यही सिद्ध नही है तो हमारे यह मानने मे कोई वाधा नही है कि इस रत्न तक मे परिवर्तन की एक अप्रत्यक्ष और निर्वाध प्रक्रिया निहित है। ऐसी स्थिति मे यह एक स्थायी द्रव्य नही वल्कि एक दूसरे का अनुगमन करती हुई क्षणिक सत्ताओ का परिवर्तन होगा। वास्तव मे यह निश्चय कि 'यह वही रत्न है' दो सर्वथा विपमजातीय तत्त्वो का अवैध सघात है जिनमे परस्पर कुछ भी समान नही। 'यह' तत्त्व वर्तमान का, एक विज्ञान का, और एक यथार्थ पदार्थ का द्योतक है। 'वह' तत्त्व अतीत का, किसी ऐसी वस्तु का द्योतक है जो अव एकमात्र कल्पना और स्मृति मे ही विद्यमान है। ये दोनो इतने ही भिन्न हैं जितने शीत और ताप। इनके एकत्व की सर्वशक्तिमान देवता इन्द्र तक रचना नही कर सकते। यदि इस प्रकार की वस्तुयें समान तो जाँय तो सम्पूर्ण जगत भी समान वस्तुओ से निर्मित क्यो न माना जाय। स्मृति, जिसका कार्य केवल अतीत तक ही सीमित है, वर्तमान क्षण को ग्रहण नही कर सकती। इसी प्रकार विज्ञान, जिसका कार्य वर्तमान तक ही सीमित है अतीत को नही ग्रहण कर सकता। जव हेतुओ मे कोई विसगति या व्यभिचार हो तो प्रभाव समान नही हो सकता, अन्यथा फलो की हेतुओ या कारणो से नही वल्कि अस्तव्यस्त उत्पत्ति होगी। स्मृति और विज्ञान का अपना-अपना पृथक कार्यक्षेत्र है और दोनो के अपने-अपने फल। दोनो इस प्रकार मिश्रित नही हो सकते कि इनमे एक, दूसरे के क्षेत्र मे क्रियाशील हो जाय। प्रत्यभिज्ञा का स्मृति से विभेद नही

---

[1] वही पृ० १२४-७

[2] 'प्रत्यभिज्ञा भगवती', तुकी० न्यासू० ३ १, २ मे यही तर्क।

किया जाना चाहिये, और स्मृति विचार-सृजन द्वारा उत्पन्न होती है, सत् या यथार्थ के साक्षात् प्रतिभास द्वारा नही। अत यथार्थवादियो की यह मान्यता कि प्रत्यभिज्ञा अवधि को सिद्ध करती है, केवल उनका मनोरथ मात्र[1] ही है।

§ ७. अस्तित्व की धारणा के प्रविचय पर आधारित तर्क

यद्यपि न तो तात्कालिक प्रत्यक्ष और न प्रत्यभिज्ञा ही बाह्य जगत के स्थायित्व को सिद्ध कर सकते हैं, तथापि, बौद्ध कहता है[2] कि वाद-विवाद के लिये हम यह मान लेते हैं कि तात्कालिक प्रत्यक्ष ऐसे पदार्थों का बोध करता है जो कुछ स्थायित्व व्यक्त करते हैं। फिर भी, यह प्रत्यक्ष मिथ्या सिद्ध होता है। स्थायित्व एक भ्रान्ति है,[3] हमारे स्थायित्व और अवधि को स्वीकार करने के विरुद्ध प्रबल तर्क[4] हैं।

प्रथम तर्क अस्तित्व की धारणा से प्रविचयात्मक आधार पर सतत परिवर्तन के तथ्य का निष्कर्ष निकालने मे निहित है। अस्तित्व का, यथार्थ अस्तित्व का, जैसा हम देख चुके हैं कि, प्रापकता अर्थ है, और प्रापकता का अर्थ परिवर्तन है। जो सर्वथा परिवर्तन-विहीन है वह सर्वथा अप्रापक भी है, और जो सर्वथा अप्रापक है उसका अस्तित्व नही है। उदाहरण के लिये, आकाश को, उन लोगो तक के मत से जो इसे एक तत्त्व मानते हैं, कर्मरहित माना गया है। किन्तु बौद्धो के लिये कर्म-रहित कारणात्मक दृष्टि से अप्रापक और इसलिये उसका अस्तित्व नही है। कर्मरहित और अस्तित्वरहित परस्पर परिवर्तनीय शब्द हैं, क्योकि कुछ प्रभाव उत्पन्न करने के अतिरिक्त किसी के अस्तित्व को सिद्ध करने का और कोई साधन नही है। यदि किसी वस्तु का बिना किसी प्रकार के प्रभाव के ही अस्तित्व हो तो ऐसा अस्तित्व नगण्य है। बौद्ध यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जो कुछ भी परिवर्तित नही होता उसका अस्तित्व भी नही होता।

इस तर्क को निम्नलिखित पदार्थानुमान के रूप मे प्रस्तुत किया गया है[5]

---

[1] 'मनोरथमात्रम्', तुकी० वही, पृ० १२४ २४।

[2] वही, पृ० १२७ ७ और बाद।

[3] 'समारोपित-गोचरम् अक्षणिकम्', वही।

[4] वही, पृ० १२३-३४।

[5] तस० पृ० १४३ १७ और बाद, यह पदार्थानुमान सदस० पृ० २६ में (जहाँ इसे ज्ञानश्री से उद्धृत किया गया है) और न्याकणि० पृ० १२७ ९ मे एक भिन्न रूप मे आता है।

साध्यपद · जिसका भी अस्तित्व है उसमे क्षणिक परिवर्तन होता है।

उदाहरण[१] जैसे एक घट (जिसका परमार्थ सत् प्रापकता के एक क्षण से अधिक कुछ नही)।

पक्ष-आधारवाक्य[२] · किन्तु आकाश को कर्मरहित माना गया है।

निगमन · इसका अस्तित्व नहीं है।

सत्तायुक्त समस्त पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होते हैं, यह एक उभयत पाश द्वारा सिद्ध है। अस्तित्वयुक्त का अर्थ प्रापकता है। तब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह प्रापकता शाश्वत है ? यदि यह शाश्वत है तव उन समस्त क्षणो को, जिनकी अवधि मे पदार्थ का अस्तित्व माना गया है, प्रभाव उत्पन्न करने मे सहकारी, होना चाहिये। किन्तु यह असम्भव है। गत क्षण प्रभाव उत्पन्न करने मे सहकारी होने के लिये अन्तिम क्षण को व्याप्त नही कर सकते। शाश्वत का अर्थ है स्थिर और स्थिर का अर्थ है अ-प्रापक, अर्थात् किसी समय कोई भी प्रभाव न उत्पन्न करनेवाला। प्रत्येक यथार्थ पदार्थ अपनी अवधि के ठीक बाद के क्षण को उत्पन्न करने मे सक्षम या प्रापक होता है। अत पदार्थ को अपना प्रभाव तत्काल उत्पन्न करना चाहिये, अन्यथा वह उसे कभी भी उत्पन्न नही करेगा। स्थिर होने और स्थिर न होने के बीच मध्यवर्ती कुछ नही। स्थिर होने का अर्थ है कर्मरहित और नित्य अपरिवर्तनशील रहना[३], जैसे कि आकाश को (भारतीय यथार्थवादियो, तथा साथ ही साथ, कुछ आधुनिक वैज्ञानिको द्वारा) माना गया है। स्थिर न होने का अर्थ है कर्मता से युक्त होना और प्रतिक्षण परिवर्तित होना।[४] वस्तुयें थोडा विश्राम लेकर पुन कर्मशील होने के लिये रुक नही सकती, जैसा कि साधारण जीवन का सरल यथार्थवाद और यथार्थवादी दर्शन मानता है। विद्यमान यथार्थ मे कर्म सदैव होता रहता है, किन्तु हम इस कर्मता के केवल

---

[१] ज्ञानश्री का उदाहरण, सम्भवत छन्दात्मक कारण से, 'यथा जलधर' है।

[२] न्याकणि० मे उपनय 'सश् च शब्दादिर्' और ज्ञानश्री का सूत्र 'सन्तश् च भावा अमी' है। शान्तिरक्षित और कमलशील द्वारा उद्धृत रूप मे तक 'प्रसङ्ग-साधन' है, क्योकि गतिरहित आकाश, तथा साथ ही साथ, शाश्वत काल और नित्य ईश्वर इत्यादि, के अस्तित्व को केवल विपक्षी ही मानते हैं, अत: ये केवल उन्ही के लिये सार्थक या प्रामाणिक उदाहरण हैं।

[३] 'नित्य = अप्रच्युत-अनुत्पन्न-स्थिरैक-स्वभाव', अजप० फै० २,१०।

[४] 'अनित्य = प्रकृत्या एक-क्षण-स्थिति-धर्मक', वही।

कुछ ऐसे क्षणो पर ही ध्यान देते हैं जिन्हे हम अपनी कल्पना मे स्थिरीकृत कर लेते हैं।

सत्ता से क्षणिकता के निगमन को प्रविचयात्मक निगमन या स्वभावानुमान कहते हैं। वास्तव मे ये निणय कि 'सत्ता का अर्थ प्रापकता है' और 'प्रापकता का अर्थ परिवर्तन है' प्रविचयात्मक है क्योकि विधेय उदेश्य मे ही अन्तर्निहित है और उसका प्रविचय द्वारा अनुमान किया जाता है। उसी वस्तु का, जिसका स्वभाव अस्तित्वयुक्त वताया गया है, स्वभाव प्रापक और परिवर्तनशील भी कहा जा सकता है। अस्तित्व, प्रापकता, और परिवतन आदि शब्द तादात्म्य द्वारा सम्वद्ध है, अर्थात् इनको विना किसी विरोधत्व के एक ही यथार्थता, एक ही यथार्थ तथ्य के लिये व्यवहृत किया जा सकता है। अन्य विशेपताये भी हैं जो इनके साथ उसी तादात्म्य के वन्धन द्वारा सम्वद्ध है, जैसे 'जो उत्पत्तिमान होता है वह अनित्य होता है',[१] 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है',[२] 'जिसमे प्रत्यय अथवा कारण के भेद से भेद निकाला जा सके वह अनित्य होता है',[३] 'जो प्रयत्न से व्याप्त होता है'[४]—इन समस्त विशेपताओ को, यद्यपि इनका अलग-अलग विस्तार हो सकता है, 'तादात्म्य' से युक्त कहा जाता है क्योकि इनको निरपवादरूप से एक ही और उसी यथार्थता के लिये व्यवहृत किया जा सकता है। एक घट को भी, जो कुम्हार के प्रयत्न से उत्पन्न होता है, परिवर्त्य, उत्पादित पदार्थ, उत्पत्तिमूलक, परिवतनशील, प्रापक, और सत्तायुक्त कहा जा सकता है। इस आशय मे क्षणिकता का निगमन एक प्रविचयात्मक निगमन है।

§ ८. अभाव या अनस्तित्व की धारणा के प्रविचय पर आधारित तर्क

क्षणिकवाद के पक्ष मे उपरोक्त तर्क का प्रापकता के अर्थ मे अस्तित्व की धारणा के प्रविचय के आधार पर प्रतिपादन किया गया था। प्रस्तुत तर्क भी प्रविचयात्मक[५] है, किन्तु इसका विनाश के अर्थ मे अभाव या अनस्तित्व की

---

[१] न्यावि० ३ १२

[२] वही, ३ १३

[३] वही, ३ १५

[४] वही।

[५] स्वभाव-अनुमान।

साध्यपद : जिसका भी अस्तित्व है उसमे क्षणिक परिवर्तन होता है।

उदाहरण[1] जैसे एक घट (जिसका परमार्थ सत् प्रापकता के एक क्षण से अधिक कुछ नही)।

पक्ष-आधारवाक्य[2] : किन्तु आकाश को कर्मरहित माना गया है।

निगमन : इसका अस्तित्व नही है।

सत्तायुक्त समस्त पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होते है, यह एक उभयत पाश द्वारा सिद्ध है। अस्तित्वयुक्त का अर्थ प्रापकता है। तब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह प्रापकता शाश्वत है? यदि यह शाश्वत है तब उन समस्त क्षणो को, जिनकी अवधि मे पदार्थ का अस्तित्व माना गया है, प्रभाव उत्पन्न करने मे सहकारी, होना चाहिये। किन्तु यह असम्भव है। गत क्षण प्रभाव उत्पन्न करने मे सहकारी होने के लिये अन्तिम क्षण को व्याप्त नही कर सकते। शाश्वत का अर्थ है स्थिर और स्थिर का अर्थ है अ-प्रापक, अर्थात् किसी समय कोई भी प्रभाव न उत्पन्न करनेवाला। प्रत्येक यथार्थ पदार्थ अपनी अवधि के ठीक बाद के क्षण को उत्पन्न करने मे सक्षम या प्रापक होता है। अत पदार्थ को अपना प्रभाव तत्काल उत्पन्न करना चाहिये, अन्यथा वह उसे कभी भी उत्पन्न नही करेगा। स्थिर होने और स्थिर न होने के बीच मध्यवर्ती कुछ नही। स्थिर होने का अर्थ है कर्मरहित और नित्य अपरिवर्तनशील रहना[3], जैसे कि आकाश को (भारतीय यथार्थवादियो, तथा साथ ही साथ, कुछ आधुनिक वैज्ञानिको द्वारा) माना गया है। स्थिर न होने का अर्थ है कर्मता से युक्त होना और प्रतिक्षण परिवर्तित होना।[4] वस्तुये थोडा विश्राम लेकर पुन कर्मशील होने के लिये रुक नही सकती, जैसा कि साधारण जीवन का सरल यथार्थवाद और यथार्थवादी दर्शन मानता है। विद्यमान यथार्थ मे कर्म सदैव होता रहता है, किन्तु हम इस कर्मता के केवल

---

[1] ज्ञानश्री का उदाहरण, सम्भवत छन्दात्मक कारण से, 'यथा जलधर' है।

[2] न्याकणि० मे उपनय 'सश् च शब्दादिर्' और ज्ञानश्री का सूत्र 'सन्तश् च भावा अमी' है। शान्तिरक्षित और कमलशील द्वारा उद्धृत रूप मे तर्क 'प्रसङ्ग-साधन' है, क्योकि गतिरहित आकाश, तथा साथ ही साथ, शाश्वत काल और नित्य ईश्वर इत्यादि, के अस्तित्व को केवल विपक्षी ही मानते हैं, अत ये केवल उन्ही के लिये सार्थक या प्रामाणिक उदाहरण हैं।

[3] 'नित्य = अप्रच्युत-अनुत्पन्न-स्थिरैक-स्वभाव', अजप० फै० २,१०।

[4] 'अनित्य = प्रकृत्या एक-क्षण-स्थिति-धर्मक', वही।

विचारमात्र, अथवा एक नाम मात्र है, समवाय एक द्वितीय स्तर की अयथार्थता है क्योकि इसको किसी विशेष वस्तु को उसके उस जाति या सामान्य के साथ सम्बद्ध करने के लिये ग्रहण किया गया है जो स्वय भी एक नाम के अतिरिक्त और कुछ नही। अन्तत अभाव अथवा किसी वस्तु का विनाश भी केवल एक नाम मात्र है, जो विनष्ट वस्तु के ऊपर या उससे पृथक् कुछ नही।[1]

इस अभाव के विषय पर बौद्धो और यथार्थवादियो का विवाद, अस्तित्व या सत्ता सम्बन्धी इनकी भिन्न धारणाओ का एक स्वाभाविक परिणाम है। बौद्धो के लिये एकमात्र यथार्थ या सत् प्रापक क्षण ही है, अन्य सब कुछ व्याख्या, विचार-सृजन या कल्पना है। दूसरी ओर यथार्थवादी, 'सत्ता'[2] के तीन (द्रव्य, गुण, कर्म) और पदार्थ के[3] चार (सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव) विभेद करते हैं जिनमे अपनी अपनी विषयगत यथार्थता होती है। अभाव भी वैध है क्योकि इसकी स्वय अपने कारणो[4] से उत्पत्ति होती है। घट का अभाव, उदाहरण के लिये, हथौडे के प्रहार से उत्पन्न होता है। यह 'आकाश मे पुष्प'[5] की भाँति एक नाम-मात्र नही है। किन्तु बौद्ध

---

[1] तस० पृ० १३४ ३५

[2] सत्ता = अस्तित्व

[3] पदार्थ = भाव

[4] तसप० पृ० १३५ १, तुकी न्याकणि० पृ० १४२ १-२।

एक विपरीत धारणा के आधार पर प्रतिपादन किया गया है। विनष्ट वस्तु के लिये विनाश क्या है ? यह स्वय विनष्ट वस्तु ही है अथवा उससे भिन्न कुछ और[१], एक ऐसी पृथक वस्तु, जो किसी वस्तु के साथ उसके विनाश की प्रक्रिया के समय सयुक्त हो जाती है ? किसी वस्तु का अभाव या अनस्तित्व यथार्थ है अथवा यह केवल एक विचार मात्र है ?

बौद्ध दृष्टिकोण को समझने के लिये यहाँ पुन हमे उसके साथ इसका विभेद करना होगा जिसके साथ इसका विरोध है। अर्थात् हमे भारतीय यथार्थवादियो के विचारो पर भी विचार करना होगा। इनके लिये काल और दिक् ऐसे यथार्थ द्रव्य हैं जिनमे वस्तुयें स्थित हैं। इसीप्रकार सत्ता का अर्थ किसी विद्यमान वस्तु मे कुछ निहित होना है, प्रापकता किसी वस्तु से, जब वह प्रापक होती है, भिन्न कुछ अतिरिक्त है, हेतुत्व कारण और फल को सम्बद्ध करता है, कर्म, जब किसी वस्तु मे कर्मता होती है तो, उसके साथ सयुक्त एक यथार्थ है; सामान्य, व्यक्ति या विशेष मे अवस्थित एक पदार्थ है, और समवाय सम्बद्ध सदस्यो मे स्थित एक यथार्थ है। इसी प्रकार यथार्थवादियो के लिये अभाव भी एक वैध और यथार्थ पदार्थ है, यह उस वस्तु से जो विनष्ट होती है ऊपर और उससे पृथक् कुछ है।

बौद्ध इसे अस्वीकार करते हैं। इनका कथन है कि अभाव या अनस्तित्व का अस्तित्व नही हो सकता। यह उक्त समस्त परिकल्पित धारणाओ के परमार्थ सत् को अस्वीकार करता है। इनके लिये ये सब, विचार या नाम मात्र हैं, जिनमे से कुछ तो मिथ्या विचार मात्र हैं। एक विचार मात्र, अथवा एक नाम मात्र एक ऐसा नाम है जिससे किसी पृथक वस्तु की अनुरूपता नहीं होती, इसका अपना कोई अनुरूप यथाय नही होता। मिथ्या-विचार एक ऐसा शब्द है जिसके कुछ भी अनुरूप नही, जैसे 'आकाश मे पुष्प'। इस प्रकार बौद्धो के लिये अस्तित्व विद्यमान वस्तुओ के नाम के अतिरिक्त और कुछ नही, प्रापकता स्वय प्रापक वस्तु ही है, काल और दिक् उन वस्तुओ से भिन्न कुछ नही जो इनमे स्थित होती हैं। पुनः ये वस्तुयें भी क्षणो से भिन्न कुछ नही जिनके सश्लेषण को ये व्यक्त करती हैं। हेतुत्व उत्पत्तिमान वस्तुओ का प्रतीत्य समुत्पाद है, ये वस्तुयें स्वय हेतु हैं और इनके अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य कोई यथार्थ हेतुत्व नही होता, कर्म कर्मशील वस्तु से पृथक् कुछ नही, सामान्य या जाति किसी व्यक्ति मे स्थित कोई यथार्थ नही है, यह तो स्वय व्यक्ति का ही एक

---

[१] अर्थान्तरम्।

विचारमात्र, अथवा एक नाम मात्र है, समवाय एक द्वितीय स्तर की अय-थार्थता है क्योंकि इसको किसी विशेष वस्तु को उसके उस जाति या सामान्य के साथ सम्बद्ध करने के लिये ग्रहण किया गया है जो स्वय भी एक नाम के अतिरिक्त और कुछ नही। अन्तत अभाव अथवा किसी वस्तु का विनाश भी केवल एक नाम मात्र है, जो विनष्ट वस्तु के ऊपर या उससे पृथक् कुछ नही।[1]

इस अभाव के विषय पर बौद्धो और यथार्थवादियो का विवाद, अस्तित्व या सत्ता सम्बन्धी इनकी भिन्न धारणाओ का एक स्वाभाविक परिणाम है। बौद्धो के लिये एकमात्र यथार्थ या सत् प्रापक क्षण ही है, अन्य सब कुछ व्या-ख्या, विचार-सृजन या कल्पना है। दूसरी ओर यथार्थवादी, 'सत्ता'[2] के तीन (द्रव्य, गुण, कर्म) और पदार्थ के[3] चार (सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव) विभेद करते हैं जिनमे अपनी अपनी विषयगत यथार्थता होती है। अभाव भी वैध हैं क्योंकि इसकी स्वय अपने कारणो[4] मे उत्पत्ति होती है। घट का अभाव, उदाहरण के लिये, हथौडे के प्रहार से उत्पन्न होता है। यह 'आकाश मे पुष्प'[5] की भाँति एक नाम-मात्र नही है। किन्तु बौद्ध

---

[1] तस० पृ० १३४ ३५

[2] सत्ता=अस्तित्व

[3] पदार्थ=भाव

[4] तसप० पृ० १३५ १, तुकी न्याकणि० पृ० १४२ १-२।

[5] वात्स्यायन (न्याभा० पृ० २)। सत्ता तथा अभाव यथार्थ के दो पक्ष हैं। प्रत्येक वस्तु सत्ता और अभाव दोनो से युक्त हो सकती है। इसी कारण सयुक्त न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय ने प्राचीन वैशेषिक सम्प्रदाय के छ भेदो मे 'अभाव' नामक एक सातवें पदार्थ को भी सम्मिलित कर लिया है। परन्तु यह मत बिना प्रबल विरोध के यथार्थवादी क्षेत्र मे प्रवेश नही कर सका वैशेषिको मे प्रशस्तपाद और मीमांसको मे प्रभाकर इस विषय पर बौद्धो से सहमत हैं, तुकी० प्रशस्त० पृ० २२५, और शादी० पृ० ३२२ और बाद। शान्तिरक्षित (पृ० १३५ ६ और बाद) अभाव को एक परिणाम, जैसे बीज से उत्पन्न वृक्ष, मानकर यथार्थवादियो पर आक्षेप मात्र करते हैं। किन्तु कमशील यह टिप्पणी करते हैं (पृ० १३५ १६) कि यह बहुत ठीक नही है, क्योंकि नैयायिक तथा अन्य यह नही कहते कि द्रव्यादि की ही भाँति 'अभाव' की सत्ता होती है, यह तो एक 'पदार्थ' है, 'द्रव्य' नही।

यह उत्तर देते है कि केवल सत्ता का ही कारण हो सकता है, अभाव को उत्पन्न नही किया जा सकता।[1] यदि हम किसी वस्तु के अभाव से किसी दूसरी वस्तु द्वारा उसके स्थानान्तरण का अर्थ ग्रहण करें,[2] तो यह अभाव स्वय स्थानान्तरित वस्तु से भिन्न कुछ नही होगा। यदि इससे हम उस वस्तु के एक साधारण अभाव का अर्थ ग्रहण करें[3] तो इसका कारण कुछ भी नही उत्पन्न करेगा और उसे कारण नही कहा जा सकता। कुछ भी न करने का अर्थ कोई भी कर्म न करना है। अनुत्पादक होने का अर्थ है कारण ही न होना। अत अभाव मे कोई सत् और कोई प्रामाणिकता नही होगी।

किन्तु तब, यथार्थवादी पुन प्रश्न करता है कि, विनष्ट वस्तु के लिये विनाश क्या है, यह कुछ है अथवा कुछ भी नही ? यदि यह कुछ न हो, यथार्थवादी आगे कहता है, तो वस्तु कभी भी विनष्ट नही होगी और उसकी सत्ता बनी रहेगी। अत इसे निश्चित रूप से कुछ सार्थक होना चाहिये। बौद्ध उत्तर देते हैं कि यदि कुछ ऐसी पृथक[4] वस्तु हो जो किसी वस्तु के विनाश की प्रक्रिया मे उसके साथ सयुक्त हो जाती हो, तो यह सयुक्त होने पर भी पृथक् ही रहेगी और वह वस्तु एक इस प्रकार के असुविधाजनक पडोसी के सान्निध्य के विपरीत भी अप्रभावित[5] ही रहेगी। यथार्थवादी प्रत्युत्तर देते हैं कि ऐसी वस्तु के 'आयुष्मान भाव'[6] को विनाश के बाद भी यथावत रहने दो, यह तुम्हारी स्वलक्षण वस्तु ही होगी—एक ऐसी वस्तु जो समस्त सामान्य और विशेष गुणो और अर्थ-क्रियाओ से रहित होगी।[7] ऐसा कहने से यथार्थवादी

---

[1] तसप० १३५ १०

[2] वही पृ० १३५ २३

[3] वही पृ० १३६ ३ और बाद, तुकी न्याकणि० पृ० १३२ ८ और बाद।

[4] तसप० पृ० १३३ २० और बाद, न्याकणि० पृ० १३२ ३ और बाद।

[5] न्याकणि० पृ० १३९ १५ 'अस्मिन् (प्रध्वसे) भिन्न-मूर्तौ किम् आयातम् भावस्य ? न किंचित् !' यथार्थवादियो का, जो यथार्थ अभाव, यथार्थ सम्बन्ध, और यथार्थ विनाश को स्वीकार करते हैं, बौद्धो ने उपहास किया है। यदि ये पदार्थ यथार्थ हैं तो, बौद्धो का कथन है कि, इन्हे पृथक् मूर्त शरीरो से युक्त होना चाहिये। और उस दशा मे हमे 'मूर्तीकृत अभाव मिलेगा' 'विग्रहवान् अभाव, विग्रहवान् सम्बन्ध, भिन्न-मूर्तिर् विनाश।'

[6] 'आयुष्मान् भाव.', वही।

[7] 'निरस्त-समस्त-अर्थक्रिया', वही।

वौद्धो के परमार्थ सत् का सकेत कर रहा है जो केवल एक क्षण मात्र होता है। वह कहता है कि यह क्षण वास्तव मे किसी वस्तु के विनष्ट हो जाने पर भी वना रहेगा। वौद्ध वैशेपिको से कहता है कि "तुम्हारा यह यथार्थवादी अभाव रिक्त और शून्य है, क्योकि यह विनष्ट वस्तु से वाह्य पदार्थ है", इसके पास अपना ऐसा कुछ नही जिससे वाह्य जगत मे यह अपने को धारण कर सके। वैशेपिक उत्तर देता है "इसके ठीक विपरीत तुम्हारा अभाव, अर्थात् वस्तुशून्य अभाव, रिक्त और शून्य है क्योकि यह विनष्ट होनेवाली वस्तु मे ही सम्मिलित है, और स्वय अपने मे किसी पृथक् सत्ता को व्यक्त नही करता।"[१] सत्ता तथा अभाव का ऐसे पृथक पदार्थ होना स्पष्ट है जो किसी वस्तु के साथ सयुक्त हो जाते हैं, क्योकि इनमे एक ग्राहक सम्बन्ध है जो वाणी द्वारा व्यक्त होता है। 'किसी वस्तु की सत्ता', 'किसी वस्तु का अभाव', इस प्रकार की अभिव्यक्तियो मे सम्वन्ध कारक इस तथ्य की ओर सकेत करता है कि कोई वस्तु सत्ता या अभाव से युक्त हो सकती है। वौद्ध उत्तर देते हैं कि ये अभिव्यक्तियाँ दुराग्रही भाषा मात्र हैं, ठीक वैसे जैसे 'मूर्त्ति का शरीर' अभि-व्यक्ति, जवकि मूर्त्ति स्वय ही शरीर है, ऐसा कुछ नही जो इस शरीर से युक्त हो। सम्वन्धवाचक 'का', 'की', का यहाँ कोई अर्थ नही है।[२] सत्ता या अभाव किसी वस्तु के भिन्न आनुषगिक नही हैं, ये तो स्वय वस्तु ही हैं'।

यह सत्य है कि दो प्रकार का विनाश[३] होता है—एक अनुभवात्मक विनाश जिसे 'प्रध्वस' कहते हैं, और दूसरा अनुभवातीत जिसे विनाश[४] अथवा अनित्यता[५] कहते हैं। प्रथम किसी घट का हथौडे के प्रहार से प्रध्वस है। द्वितीय, घट का कालगत विनाश है, एक अगोचर, अत्यन्त क्रमिक, सतत् ह्रास अथवा अनित्यता जो किसी भी यथार्थ का सारतत्त्व है। अत शान्ति-रक्षित[६] का यह कथन है "स्वय यथार्थ को ही विनाश कहते हैं, अर्थात् उस परमार्थ सत् को जिसकी सत्ता क्षणिक होती है।" यह अहेतुक[७] होता है—

---

[१] तुकी० न्यायविटी० अनुवाद, पृ० ८३, नोट ४।

[२] तसप० पृ० १३८ २७, १४२ २७ इत्यादि

[३] तसप० पृ० १३७ २१, १५६ ११

[४] विनाश = विनश्वरत्व

[५] अनित्य = क्षणिक।

[६] तसप० पृ० १३७ २६ 'यो हि भाव क्षण-स्थायि विनाश इति गीयते।'

[७] तसप० पृ० १३८ २, तुकी० वही १३३ १३

यह उत्तर देते हैं कि केवल सत्ता का ही कारण हो सकता है, अभाव को उत्पन्न नही किया जा सकता।[१] यदि हम किसी वस्तु के अभाव से किसी दूसरी वस्तु द्वारा उसके स्थानान्तरण का अर्थ ग्रहण करें,[२] तो यह अभाव स्वय स्थानान्तरित वस्तु से भिन्न कुछ नही होगा। यदि इससे हम उस वस्तु के एक साधारण अभाव का अर्थ ग्रहण करें[३] तो इसका कारण कुछ भी नही उत्पन्न करेगा और उसे कारण नही कहा जा सकता। कुछ भी न करने का अर्थ कोई भी कर्म न करना है। अनुत्पादक होने का अर्थ है कारण ही न होना। अत अभाव मे कोई सत् और कोई प्रामाणिकता नही होगी।

किन्तु तब, यथार्थवादी पुन प्रश्न करता है कि, विनष्ट वस्तु के लिये विनाश क्या है, यह कुछ है अथवा कुछ भी नही ? यदि यह कुछ न हो, यथार्थ वादी आगे कहता है, तो वस्तु कभी भी विनष्ट नही होगी और उसकी सत्ता बनी रहेगी। अत इसे निश्चित रूप से कुछ सार्थक होना चाहिये। बौद्ध उत्तर देते हैं कि यदि कुछ ऐसी पृथक[४] वस्तु हो जो किसी वस्तु के विनाश की प्रक्रिया मे उसके साथ सयुक्त हो जाती हो, तो यह सयुक्त होने पर भी पृथक् ही रहेगी और वह वस्तु एक इस प्रकार के असुविधाजनक पडोसी के सान्निध्य के विपरीत भी अप्रभावित[५] ही रहेगी। यथार्थवादी प्रत्युत्तर देते हैं कि ऐसी वस्तु के 'आयुष्मान भाव'[६] को विनाश के बाद भी यथावत रहने दो, यह तुम्हारी स्वलक्षण वस्तु ही होगी—एक ऐसी वस्तु जो समस्त सामान्य और विशेष गुणो और अर्थ-क्रियाओ से रहित होगी।[७] ऐसा कहने से यथार्थवादी

---

[१] तसप० १३५ १०

[२] वही पृ० १३५ २३

[३] वही पृ० १३६ ३ और बाद, तुकी न्याकणि० पृ० १३२ ८ और बाद।

[४] तसप० पृ० १३३ २० और बाद, न्याकणि० पृ० १३२ ३ और बाद।

[५] न्याकणि० पृ० १३९ १५ 'अस्मिन् (प्रध्वसे) भिन्न-मूर्तौ किम् आयातम् भावस्य ? न किंचित् !' यथार्थवादियो का, जो यथार्थ अभाव, यथार्थ सम्बन्ध, और यथार्थ विनाश को स्वीकार करते हैं, बौद्धो ने उपहास किया है। यदि ये पदार्थ यथार्थ है तो, बौद्धो का कथन है कि, इन्हे पृथक् मूर्त शरीरो से युक्त होना चाहिये। और उस दशा मे हमे 'मूर्तीकृत अभाव मिलेगा' 'विग्रहवान् अभाव, विग्रहवान् सम्बन्ध, भिन्न-मूर्तिर् विनाश।'

[६] 'आयुष्मान् भाव', वही।

[७] 'निरस्त-समस्त-अर्थक्रिया', वही।

बौद्धो के परमार्थ सत् का सकेत कर रहा है जो केवल एक क्षण मात्र होता है। वह कहता है कि यह क्षण वास्तव मे किसी वस्तु के विनष्ट हो जाने पर भी बना रहेगा। बौद्ध वैशेषिको से कहता है कि "तुम्हारा यह यथार्थवादी अभाव रिक्त और शून्य है, क्योकि यह विनष्ट वस्तु से बाह्य पदार्थ है", इसके पास अपना ऐसा कुछ नही जिससे बाह्य जगत मे यह अपने को धारण कर सके। वैशेषिक उत्तर देता है "इसके ठीक विपरीत तुम्हारा अभाव, अर्थात् वस्तुशून्य अभाव, रिक्त और शून्य है क्योकि यह विनष्ट होनेवाली वस्तु मे ही सम्मिलित है, और स्वय अपने मे किसी पृथक् सत्ता को व्यक्त नही करता।"[1] सत्ता तथा अभाव का ऐसे पृथक पदार्थ होना स्पष्ट है जो किसी वस्तु के साथ सयुक्त हो जाते हैं, क्योकि इनमे एक ग्राहक सम्बन्ध है जो वाणी द्वारा व्यक्त होता है। 'किसी वस्तु की सत्ता', 'किसी वस्तु का अभाव', इस प्रकार की अभिव्यक्तियो मे सम्बन्ध कारक इस तथ्य की ओर सकेत करता है कि कोई वस्तु सत्ता या अभाव से युक्त हो सकती है। बौद्ध उत्तर देते हैं कि ये अभिव्यक्तियाँ दुराग्रही भाषा मात्र है, ठीक वैसे जैसे 'मूर्त्ति का शरीर' अभिव्यक्ति, जबकि मूर्त्ति स्वय ही शरीर है, ऐसा कुछ नही जो इस शरीर से युक्त हो। सम्बन्धवाचक 'का', 'की', का यहाँ कोई अर्थ नही है।[2] सत्ता या अभाव किसी वस्तु के भिन्न आनुषगिक नही हैं, ये तो स्वय वस्तु ही हैं।

यह सत्य है कि दो प्रकार का विनाश[3] होता है—एक अनुभवात्मक विनाश जिसे 'प्रध्वश' कहते हैं, और दूसरा अनुभवातीत जिसे विनाश[4] अथवा अनित्यता[5] कहते हैं। प्रथम किसी घट का हथौडे के प्रहार से प्रध्वस है। द्वितीय, घट का कालगत विनाश है, एक अगोचर, अत्यन्त क्रमिक, सतत् ह्रास अथवा अनित्यता जो किसी भी यथार्थ का सारतत्त्व है। अत शान्तिरक्षित[6] का यह कथन है "स्वय यथार्थ को ही विनाश कहते हैं, अर्थात् उस परमार्थ सत् को जिसकी सत्ता क्षणिक होती है।" यह अहेतुक[7] होता है—

---

[1] तुकी० न्याविटी० अनुवाद, पृ० ८३, नोट ४।

[2] तसप० पृ० १३८ २७, १४२ २७ इत्यादि

[3] तसप० पृ० १३७ २१, १५६ ११

[4] विनाश = विनश्वरत्व

[5] अनित्य = क्षणिक।

[6] तसप० पृ० १३७ २६ 'यो हि भाव क्षण-स्थायि विनाश इति गीयते।'

[7] तसप० पृ० १३८ २, तुकी० वही १३३ १३

हथौडे के प्रहार के समान, यह स्वय ही उत्पन्न होता है,[१] क्योकि यह वस्तु या यथार्थ का स्वभाव है,[२] और यथार्थ अनित्य है। यह तथ्य कि किसी वस्तु का विनाश सदैव उसकी पूर्व सत्ता[३] का अनुगमन करता है, इस प्रकार के यथार्थ के लिये व्यवहृत नहीं हो सकता।[४] यह यथार्थ चलभाव-स्वरूप[५] होता है, यह निरंश[६] होता है, इसे इस रूप मे अशो मे विभक्त नही किया जा सकता कि अभाव का सत्ता के साथ अनन्तर-भाव हो,[७] इसका नाशत्व इसके निष्पन्नत्व के साथ ही निष्पन्न होता है,[८] अन्यथा नाशत्व यथार्थ का स्वभाव नही होगा।[९] इस प्रकार सत्ता और अभाव एक ही वस्तु को दिये गये दो नाम हैं 'ठीक उसी प्रकार जैसे बालेय और रासभ दोनो एक ही पशु को दिये गये भिन्न नाम हैं।'[१०]

§ ९. शान्तिरक्षित की स्थापना

इस उक्ति मे कि 'क्षणिक वस्तु अपने विनाश के भाव को व्यक्त करती है',[११] शान्तिरक्षित द्वारा प्रतिपादित क्षणिकवाद का सिद्धान्त अत्यन्त उल्लेखनीय है। यह स्पष्ट रूप से उस सत् या यथार्थ का दर्शन कराता है जिसका हमे बौद्ध न्याय मे विवेचन करना है। प्रत्यक्षत यह अनुभवात्मक वस्तु नही है जिसे स्वय उसका विनाश कहा जा सके। कोई भी इस बात को अस्वीकार नही करेगा कि जब हथौडे के प्रहार से कोई घट भग्न होकर टुकडे-टुकडे हो जाता है तब उसका अस्तित्व नही रह जाता। किन्तु इस प्रत्यक्ष अनुभवात्मक परिवर्तन से पृथक, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एक अन्य कभी भी आरम्भ न होनेवाला और कभी भी न रुकनेवाला, अत्यन्त क्रमिक, सतत

---

१ तसप० पृ० १३२ १२, न्याकणि० पृ० १३१ २३

२ बिनश्वर-स्वभाव=वस्तु=चल-वस्तु-स्वभाव', तसप० पृ० १३८ १०

३ 'वस्तु-अनन्तर-भावित', वही पृ० १३८ ११

४ 'न ... तादृशि=न चल-स्वरूपे', वही, पृ० १३८ १०

५ 'चल-भाव-स्वरूप', वही पृ० १३८ ९।

६ वही, पृ० १३८ १०।

७ 'यने तद्-अनन्तर-भावित्वम् अस्य भवति', वही पृ० १३८ ११।

८ 'नाशस्य तन्-निष्पत्ताव एव निष्पन्नत्वात्', वही।

९ 'अन्यथा (चल) स्वभावम् न स्यात्', वही, पृ० १३८.१२।

१० तस० पृ० १३९ ७।

११ तस० पृ० १३७.२६

परिवर्तन, एक प्रवाहमान अनुभवातीत परमार्थ सत् भी होता है। मिट्टी के लोंदे से घट का निर्माण, तथा उसका टूटकर टुकडो मे परिवर्तित हो जाना नवीन गुण हैं, अर्थात् ये एक निर्बाध परिवर्तन की शृङ्खला के कुछ विशिष्ट क्षण हैं। इस प्रक्रिया मे कुछ भी शाश्वत नही है, कोई भी स्थिर तत्त्व नही है। चिरस्थायी स्थूल पदार्थ को विशुद्ध कल्पना मात्र कहा गया है, ठीक वैसे ही जैसे एक चिरस्थायी स्थूल आत्मा की धारणा है। अत, जैसा कि शान्तिरक्षित का कथन है, प्रत्येक क्षण मे उस सत्ता का कुछ भी लेश नही रह जाता जिसका पूर्वक्षण मे अस्तित्व रहा होता है। क्षण अनिवार्यत विविक्त होते हैं। प्रत्येक क्षण, अर्थात् प्रत्येक क्षणिक वस्तु, अपने निष्पन्नत्व के साथ ही विनष्ट हो जाती है, क्योकि उसकी सत्ता दूसरे क्षण तक नही रहती। इस आशय मे प्रत्येक वस्तु स्वय अपने विनाश को व्यक्त करती है। यदि गत क्षण का कुछ बाद के क्षण मे भी बना रहे तो इसका अर्थ 'नित्यता' होगा क्योकि जिस प्रकार यह दूसरे क्षण मे बना रहा उसी प्रकार तीसरे और उसके बाद के क्षणो मे भी बना रहेगा। स्थिर का अर्थ नित्यत्व है।[1] यदि पदार्थ की सत्ता है तो वह अनिवार्यत क्षणिक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रथम दृष्टिकोण सांख्य पद्धति द्वारा प्रतिपादित है, और द्वितीय बौद्धो द्वारा। दोनो के बीच की कोई स्थिति नही हो सकती। परिवर्तनशील गुणो से युक्त कोई नित्य पदार्थ नही हो सकता जैसा कि सरल यथार्थवाद तथा यथार्थवादी पद्धतियाँ मानती है। दूसरी ओर, अत्यन्त परोक्षवादी यह मानते हैं कि परमार्थ सत् का द्रव्य और गुण मे विभाजन नही किया जा सकता—इसे तो निरंश तथा क्षणिक ही होना चाहिये।

इस प्रकार का विनाश, अनुभवातीत विनाश, घटनात्मक हेतुओ से उत्पन्न नही होता।[2] यत सत्ता स्वय सतत् विनाश है, अत उसका अस्तित्व चलता रहेगा, अर्थात् प्रत्येक दशा मे विनाश के किसी हेतु या कारण की अपेक्षा किये बिना ही सत्ता विनष्ट और परिवर्तित होती रहेगी। सत्ता के धर्म स्वभावत क्षणिक या नश्वर होते हैं,[3] ये उस परिवर्तन को, जो सदैव और स्वत ही होता

---

[1] 'नित्यत्वम = अवस्थान-मात्रम्', ताटी० पृ० २३९.२४, तुकी० तसप० पृ० १४० २४ 'यद्य् उत्पाद-अनन्तरम् न विनश्येत्, तदा पश्चाद् अपि ··तद् अवस्थ (स्यात्)।'

[2] तसप० पृ० १४० २५ 'किम् नाश-हेतुना तस्य कृतम् येन विनश्येत।'

[3] स्वरस-विनाशिन (सर्वे धर्मा)।

रहता है, उत्पन्न करने के लिये किसी अतिरिक्त परिस्थिति[1] की अपेक्षा नहीं रखते।

जिस प्रकार प्रत्येक घटना के हेतुओं और दशाओं की सामग्री का वह घटना अनिवार्यत अनुसरण करती है, क्योंकि सामग्री उपस्थित[2] रहने पर अन्य किसी बात की आवश्यकता नही होती और वह सामग्री ही स्वय घटना होती है,[3] उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से ही क्षणिक या नश्वर होती है, उसके विनाश अथवा परिवर्तन के लिये अन्य किसी कारण की आवश्यकता नही होती। यथार्थता को प्रापकता कहा गया है इसे क्षणिकता या विनाश भी कहा जा सकता है।

§ १०. परिवर्तन और विनाश

परिवर्तन[4] की धारणा विनाश की धारणा का एक साक्षात् उपनिगमन है। विनाश-सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतिवाद करने के पश्चात् बौद्ध स्वभावत 'अन्यथात्व' या परिवर्तन की यथार्थवादी धारणा का भी प्रतिवाद करते है। 'परिवर्तन' या 'अन्यथात्व' शब्द का शुद्ध अर्थ क्या है ? जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसका यह अर्थ है कि या तो एक वस्तु दूसरे के द्वारा स्थानान्तरित हो जाती है, अथवा वह वस्तु वही रहती है किन्तु उसकी दशा या गुण मे परिवर्तन हो जाता है, अर्थात् वह एक भिन्न गुण बन जाती है। यदि इसका प्रथम अर्थ हो तो बौद्ध कोई आपत्ति नही करेगे।[5] परन्तु यत प्रत्येक क्षण पर परिवर्तन होता है, अत वस्तु प्रत्येक क्षण अन्य वस्तु द्वारा स्थानान्तरित होती है। यदि इसका दूसरा अर्थ है तब यथार्थवादी के लिये कठिनाइयो की एक श्रृखला आरम्भ हो जाती है। वह यथार्थ गुणो के साथ-साथ यथार्थ द्रव्यो की सत्ता मानता है। किन्तु परमार्थ सत् इस प्रकार विभाजित नही किया जा सकता,[6] यह एक ऐसे स्थिर पदार्थ

---

[1] वही पृ० १४१ ९ 'सर्वथा अकिञ्चित्-कर एव नाश-हेतुर् इति।'

[2] तसप० पृ० १३२ १७

[3] तुकी० ताटी० पृ० ८०. ५ 'सहकारि-साकल्यम् न प्राप्तेर् अतिरिच्यते।'

[4] 'स्थित्य्-अन्यथात्व' अथवा 'अन्यथात्व,' तुकी० तसप० पृ० ११०.२५ और बाद।

[5] 'सिद्ध-साध्यता', वही पृ० १३७ २३।

[6] वही, पृ० १३४ ३।

को व्यक्त नही कर सकता जिसके ऊपर कर्मता से युक्त यथार्थं गुण इस प्रकार स्थित हो मानो यह आते-जाते आगन्तुको का एक स्थायी गृह हो। सरल यथार्थवाद की यह धारणा 'परीक्षा पर खरी नही उतर सकती। दोनो सहकारी अशो मे से केवल एक मात्र को ही परमार्थ सत् होना चाहिये। उसे एक द्रव्य कहा जा सकता है, किन्तु तब, वह गुणरहित द्रव्य होगा। अथवा वह गुण हो सकता है, किन्तु तब ये गुण किसी द्रव्य के नही बल्कि निरपेक्ष गुण होगे। यशोमित्र[1] का कथन है कि जो कुछ भी विद्यमान है वह एक वस्तु है, वह न तो गुण है और न द्रव्य। यथार्थ, सत्ता, वस्तु और क्षणिक वस्तु सब पर्याय हैं। यदि गुण यथार्थ हैं, तो वे वस्तुये हैं। द्रव्य और गुण ये दोनो पदार्थं सापेक्ष हैं, अत. ये परमार्थ सत् को प्रतिभासित नही करते,[2] ये हमारी बुद्धि के द्वारा रचित हैं।

यथार्थ द्रव्य-गुण सम्बन्ध की इस अस्वीकृति मे बौद्ध, जैसा कि कहा जा चुका है, साख्यो से एकमत, परन्तु अपने-अपने मत समर्थक पक्ष मे दोनो ही सम्प्रदाय विपरीत दिशाओ मे विभक्त हैं। साख्य परमार्थ सत् के रूप मे केवल उस नित्य प्रकृति को ही स्वीकार करते हैं जो स्वय भी सतत परिवर्तित होती रहती है, जब कि इन लोगो ने इसके प्रकट रूपो की पृथक यथार्थता को अस्वीकार किया है। दूसरी ओर बौद्धो ने नित्य प्रकृति की पृथक यथार्थता को अस्वीकार किया और केवल परिवर्तनशील गुणो मात्र की यथार्थता को माना। इस प्रकार इन लोगो ने इन गुणो को ऐसे निरपेक्ष गुणो मे परिवर्तित कर दिया जो किसी द्रव्य के गुण नही हैं।

इसके अतिरिक्त अन्यथात्व या परिवर्तन की यथार्थता के सम्बन्ध मे भी यथार्थवादियो को उसी कठिनाई का सामना करना है जिसका उन्हे विनाश की यथार्थता के सम्बन्ध मे सामना करना पडा था।[3] क्या परिवर्तन परिवर्तित होने वाली वस्तु से भिन्न किसी बात को व्यक्त करता है, अथवा यह स्वय वस्तु ही होता है? यदि यह भिन्न कुछ नही तो वस्तु को कुछ भी नही होगा, वह वस्तु यथावत रहेगी, उसमे कोई परिवर्तन नही होगा। यदि यह कुछ भिन्न है, तो यह भिन्न ही रहेगा, और पुन कोई परिवर्तन नही होगा। अत यह

---

[1] तुकी० सेक० पृ० २६ नोट, तुकी० तसप० पृ० १२८ १७ 'विद्यमानम् = वस्तु = द्रव्य = धर्म।

[2] 'धर्म-धर्मि-भावो न सद्-असद् अपेक्षते,' (दिग्नाग)।

[3] तुकी० तसप० पृ० १४१ २ और बाद

मानने के अतिरिक्त और कोई बात शेष नही रह जाती कि 'किसी वस्तु का परिवर्तन', ये शब्द सामर्थ्यशून्य हैं[1], और यह कि वास्तव मे परमार्थ सत् मे प्रत्येक क्रमागत क्षण पर एक भिन्न वस्तु होती है। जब ठोस ताँबा द्रव की स्थिति मे परिवर्तित हो जा जाता है, तब यथार्थवादी यह मानते हैं कि पदार्थ 'वही' है किन्तु उसकी स्थिति भिन्न है। विनाश उत्पन्न करने वाले कारण, अग्नि इत्यादि, किसी पदार्थ को विनष्ट नही कर सकते किन्तु ये उसकी स्थिति को नष्ट करके उसमें परिवर्तन या अन्यथात्व उत्पन्न कर देते हैं[2]। वस्तु सर्वथा अदृश्य नही होती, बल्कि अन्यथात्व उत्पन्न करने वाले कारणो पर कार्यपरक-निर्भरता के अनुसार उसकी स्थिति परिवर्तित हो जाती है। परन्तु यह असम्भव है। वस्तु को या तो विद्यमान होना चाहिये या अदृष्य हो जाना चाहिये, एक ही समय दोनो नही हो सकता—अर्थात् ऐसा नही हो सकता कि परिवर्तित भी हो जाय और विद्यमान भी रहे। यदि वह परिवर्तित हो गई है तो वह वही नही रही।[3] द्रवीभूत ताँबे का दृष्टान्त कुछ भी सिद्ध नही करता। ठोस ताँबा और द्रवीभूत ताँबा 'अन्य' वस्तुये हैं।[4]

§ ११. गति (कर्मता) विच्छिन्न होती है

जिस प्रकार सत्ता कोई ऐसी पृथक् वस्तु नही है जो विद्यमान वस्तु के साथ सयुक्त हो जाती हो बल्कि यह स्वय वह वस्तु ही होती है, तथा जिस प्रकार विनाश, क्षणिकता अथवा अन्यथात्व भी, विनाश अथवा अन्यथात्व का भाव प्राप्त करनेवाली वस्तु से भिन्न ऐसे यथार्थ नही हैं जो उस वस्तु के साथ सयुक्त हो जाते हैं—ठीक उसी प्रकार गति भी वस्तु के अतिरिक्त कुछ अन्य नही बल्कि स्वय वस्तु ही है। वसुबन्धु[5] कहते हैं कि "विनाश के कारण कोई गति नही होती।" वस्तुयें गतिशील नही होती, उनके पास ऐसा करने का समय नही होता, वे तो उसी क्षण-अदृश्य हो जाती हैं जिस क्षण वे प्रगट होती हैं। कमल-

[1] वही, पृ० १४२ २७।

[2] वही, पृ० १४० २७ 'अन्यथात्वम् क्रियते।'

[3] वही, पृ० १४१ १ 'न हि स एव अन्यथा भवति', पृ० १४१ ९ 'नैकस्य अन्यथात्वम् अस्ति।'

[4] वही, पृ० १४१ १० 'न असिद्धो हेतु', अर्थात् यथार्थवादियो का 'हेतु' असिद्ध है।

[5] अभिको० ४ १ 'न गतिर नाशात्,, तुकी ताटी० पृ० ३८३ १३- 'कर्म- अपलाप-निवन्धनो ह्य् अयम् क्षणिक-वाद।'

शील कहते हैं कि क्षणिक वस्तुयें अपने को स्थानान्तरित नहीं कर सकतीं क्योंकि वे ठीक जन्मदेश पर ही अदृश्य या विलीन हो जाती हैं।"[1]

यह कथन, अर्थात् यह कि कोई गति नहीं होती, यह कि गति असम्भव है, उस पूर्वकथन के स्पष्ट विरुद्ध प्रतीत होता है जिसके अनुसार यथार्थता गतिमूलक होती है, प्रत्येक वस्तु गति के अतिरिक्त अन्य कुछ नही। वास्तव में जब यह कहा जाता है कि यथार्थता गतिमूलक होती है तो इससे यह तात्पर्य होता है कि प्रत्येक वस्तु गतिशील रहती है और कोई यथार्थ स्थिरता नही है। और जब यह कहा जाता है कि कोई भी यथार्थ गति नही हो सकती तो इससे यह अर्थ निकलता है कि यथार्थ स्थिरीकृत और चिरस्थायी वस्तुओं से निर्मित है। फिर भी, ये दोनो प्रत्यक्षत परस्पर विरोधी कथन वस्तुत एक ही तथ्य की दो भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। तथाकथित स्थिरता केवल एक क्षण-मात्र की स्थिरता या स्थिति है[2], और तथाकथित गति इन क्षणो के सातत्य से ऊपर या पृथक् कुछ नही। ये क्षण एक के बाद एक[3] घनिष्ठ सान्निध्य के साथ निरन्तर प्रगट होते रहते हैं[3] और इस प्रकार गति की भ्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं। गति ऐसे दीपको की एक पंक्ति के समान है जो एक के बाद दूसरे प्रकाश की चमक उत्पन्न कर रहे हैं और इस प्रकार एक गतिशील प्रकाश की भ्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं। गति अ-गति की एक शृङ्खला से निर्मित होती है, वसुबन्धु[4] का कथन है कि "किसी दीपक का प्रकाश, प्रज्वलित ज्योतियो की एक शृङ्खला के निरन्तर उत्पादन की एक साधारण लाक्षणिक उपाधि है। जब यह उत्पादन अपना स्थान परिवर्तित करता है, तब हम कहते है कि प्रकाश मे गति हुई, किन्तु वास्तव मे अन्य सलग्न स्थानो पर अन्य ज्योतियाँ प्रगट हो जाती हैं।"

इस प्रकार, बौद्धो ने परिकल्पनात्मक विधियो के आधार पर गति को इस रूप मे ग्रहण किया है जिसका आधुनिक गणितीय भौतिकशास्त्र के साथ कुछ साम्य लक्षित होता है।

इस विषय मे सम्बद्ध बौद्धो की स्थिति को और अच्छी तरह समझने के लिये हमे यहाँ पुन, सर्वप्रथम, बौद्धो के मत का भारतीय यथार्थवादियो के मत

---

[1] तसप० पृ० २३२ ९० "तस्य (क्षणिकस्य) जन्म-देश एव च्युते, नाशाद्, देशान्तर-प्राप्त्य्-असम्भवान्।"

[2] 'एक-क्षण-स्थिति'।

[3] 'निरन्तर-क्षण-उत्पाद'।

[4] अभिको० ९, तुकी० 'सोल थ्योरी', पृ० ९३८, मे मेरा अनुवाद।

मानने के अतिरिक्त और कोई बात शेष नही रह जाती कि 'किसी वस्तु का परिवर्तन', ये शब्द सामर्थ्यशून्य हैं[1], और यह कि वास्तव मे परमार्थ सत् मे प्रत्येक क्रमागत क्षण पर एक भिन्न वस्तु होती है। जब ठोस ताँबा द्रव की स्थिति मे परिवर्तित हो जा जाता है, तब यथार्थवादी यह मानते हैं कि पदार्थ 'वही' है किन्तु उसकी स्थिति भिन्न है। विनाश उत्पन्न करने वाले कारण, अग्नि इत्यादि, किसी पदार्थ को विनष्ट नही कर सकते किन्तु ये उसकी स्थिति को नष्ट करके उसमे परिवर्तन या अन्यथात्व उत्पन्न कर देते हैं[2]। वस्तु सर्वथा अदृश्य नही होती, बल्कि अन्यथात्व उत्पन्न करने वाले कारणो पर कार्यपरक-निर्भरता के अनुसार उसकी स्थिति परिवर्तित हो जाती है। परन्तु यह असम्भव है। वस्तु को या तो विद्यमान होना चाहिये या अदृष्य हो जाना चाहिये, एक ही समय दोनो नही हो सकता—अर्थात् ऐसा नही हो सकता कि परिवर्तित भी हो जाय और विद्यमान भी रहे। यदि वह परिवर्तित हो गई है तो वह वही नही रही।[3] द्रवीभूत ताँबे का दृष्टान्त कुछ भी सिद्ध नही करता। ठोस ताँबा और द्रवीभूत ताँबा 'अन्य' वस्तुये हैं।[4]

§ ११. गति (कर्मता) विच्छिन्न होती है

जिस प्रकार सत्ता कोई ऐसी पृथक् वस्तु नही है जो विद्यमान वस्तु के साथ सयुक्त हो जाती हो बल्कि यह स्वय वह वस्तु ही होती है, तथा जिस प्रकार विनाश, क्षणिकता अथवा अन्यथात्व भी, विनाश अथवा अन्यथात्व का भाव प्राप्त करनेवाली वस्तु से भिन्न ऐसे यथार्थ नही हैं जो उस वस्तु के साथ सयुक्त हो जाते है—ठीक उसी प्रकार गति भी वस्तु के अतिरिक्त कुछ अन्य नही बल्कि स्वय वस्तु ही है। वसुबन्धु[5] कहते हैं कि "विनाश के कारण कोई गति नही होती।" वस्तुयें गतिशील नही होती, उनके पास ऐसा करने का समय नही होता, वे तो उसी क्षण-अदृश्य हो जाती हैं जिस क्षण वे प्रगट होती हैं। कमल-

---

[1] वही, पृ० १४२ २७।

[2] वही, पृ० १४० २७ 'अन्यथात्वम् क्रियते।'

[3] वही, पृ० १४१ १ 'न हि स एव अन्यथा भवति', पृ० १४१ ९ 'नैकस्य अन्यथात्वम् अस्ति।'

[4] वही, पृ० १४१ १० 'न असिद्धो हेतु', अर्थात् यथार्थवादियो का 'हेतु' असिद्ध है।

[5] अभिको० ४ १ 'न गतिर नाशात्,, तुकी ताटी० पृ० ३८३ १३ 'कर्म- अपलाप-निवन्धनो ह्य् अयम् क्षणिक-वाद।'

शील कहते हैं कि क्षणिक वस्तुऐं अपने को स्थानान्तरित नही कर सकती क्योकि वे ठीक जन्मदेश पर ही अदृष्य या विलीन हो जाती हैं।"[१]

यह कथन, अर्थात् यह कि कोई गति नही होती, यह कि गति असम्भव है, उस पूर्वकथन के स्पष्ट विरुद्ध प्रतीत होता है जिसके अनुसार यथार्थता गतिमूलक होती है, प्रत्येक वस्तु गति के अतिरिक्त अन्य कुछ नही। वास्तव मे जब यह कहा जाता है कि यथार्थता गतिमूलक होती है तो इससे यह तात्पर्य होता है कि प्रत्येक वस्तु गतिशील रहती है और कोई यथार्थ स्थिरता नही है। और जब यह कहा जाता है कि कोई भी यथार्थ गति नही हो सकती तो इससे यह अर्थ निकलता है कि यथार्थ स्थिरीकृत और चिरस्थायी वस्तुओ से निर्मित है। फिर भी, ये दोनो प्रत्यक्षत परस्पर विरोधी कथन वस्तुत एक ही तथ्य की दो भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। तथाकथित स्थिरता केवल एक क्षण-मात्र की स्थिरता या स्थिति है[२], और तथाकथित गति इन क्षणो के सातत्य से ऊपर या पृथक् कुछ नही। ये क्षण एक के बाद एक[३] घनिष्ठ सान्निध्य के साथ निरन्तर प्रगट होते रहते हैं[3] और इस प्रकार गति की भ्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं। गति ऐसे दीपको की एक पक्ति के समान है जो एक के बाद दूसरे प्रकाश की चमक उत्पन्न कर रहे हैं और इस प्रकार एक गतिशील प्रकाश को भ्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं। गति अ-गति की एक शृङ्खला से निर्मित होती है, वसु-बन्धु[४] का कथन है कि "किसी दीपक का प्रकाश, प्रज्वलित ज्योतियो की एक शृङ्खला के निरन्तर उत्पादन की एक साधारण लाक्षणिक उपाधि है। जब यह उत्पादन अपना स्थान परिवर्तित करता है, तब हम कहते हैं कि प्रकाश मे गति हुई, किन्तु वास्तव मे अन्य सलग्न स्थानो पर अन्य ज्योतियाँ प्रगट हो जाती हैं।"

इस प्रकार, बौद्धो ने परिकल्पनात्मक विधियो के आधार पर गति को इस रूप मे ग्रहण किया है जिसका आधुनिक गणितीय भौतिकशास्त्र के साथ कुछ साम्य लक्षित होता है।

इस विषय मे सम्बद्ध बौद्धो की स्थिति को और अच्छी तरह समझने के लिये हमे यहाँ पुन, सर्वप्रथम, बौद्धो के मत का भारतीय यथार्थवादियो के मत

---

[१] तसप० पृ० २३२ ९० "तस्य (क्षणिकस्य) जन्म-देश एव च्युते, नाशाद्, देशान्तर-प्राप्त्य्-असम्भवात्।"

[२] 'एक-क्षण-स्थिति'।

[३] 'निरन्तर-क्षण-उत्पाद'।

[४] अभिको० ९, तुकी० 'सोल थ्योरी', पृ० ९३८, मे मेरा अनुवाद।

के साथ विभेद करना होगा। इससे हमे एक अन्य विभेद उपलब्ध होगा, एक ऐसा विभेद जो अनुभवात्मक दृष्टि से विवेचित गति और अनुभवातीत दृष्टि से विवेचित गति के बीच मिलता है।

वैशेषिको के यथार्थवादी सम्प्रदाय के अनुसार गति एक यथार्थ है; यह उन तीन वस्तुओ मे से एक है जिनमे मूल सत्ता की वृत्ति रहती है। अन्य दो द्रव्य और गुण हैं[1]। गति या कर्म गतिशील वस्तु से भिन्न होती है। यह इस तथ्य मे निहित होती है कि किसी वस्तु का उसके स्थान से सयोग नष्ट हो गया और एक नवीन स्थान (देश) के साथ सयोग उत्पन्न हो गया। प्रशस्तपाद[2] ने कर्म या गति की एक ऐसे यथार्थ अनपेक्ष[3] कारण के रूप मे परिभाषा की है जो देशस्थ किसी कण या अल्पाश की स्थिति मे परिवर्तन उत्पन्न कर देती है। यह प्रथम क्षण मे क्षणिक होती है और बाद के क्षणो मे, उस क्षण तक जब शरीर पुन विश्राम करने लगता है, एक सस्कार के रूप मे गतिशील रहती है। वैशेषिक किसी क्रिया या गति की समाप्ति तक एक ही सस्कार की स्थिति मानते हैं।[4] दूसरी ओर नैयायिको के लिये सस्कार भी क्षणिक गतियो मे विभक्त होता है जिनमे से प्रत्येक अपने बाद की गति या कर्म को उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से न्याय-दृष्टिकोण बौद्धो के अनुरूप है। किन्तु यथार्थ के एकमात्र क्षण के रूप मे एक अद्वैत क्षण का विचार समस्त यथार्थवादियो के लिये अरुचिकर रहा। यहाँ तक कि उन दशाओ मे भी जहाँ ये नित्य परिवतन को स्वीकार करते हैं, ये, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, इसका तीन क्षणो की अवधि अथवा छ क्षणो की अवधियो से निर्माण करते हैं। जब कोई स्थूल पदार्थ भूमि पर गिरता है तो प्रथम क्षण मे उस पर गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव पडता है, और बाद के क्षणो मे सस्कार का, किन्तु गुरुत्वाकर्षण क्रिया भी चलती रहती है।[5] जैसा कि बाद मे वणन किया

---

[1] वैशेषिको के अनुसार (वैसू० १ २, ७-८) सत्ता की द्रव्य, गुण और कर्म मे वृत्ति होती है। अन्य पदाथो को कभी-कभी स्वरूप-सत्तायें कहा गया है किन्तु इनकी सत्ता नही होती।

[2] प्रशस्त० पृ० २९० और बाद।

[3] 'अनपेक्ष'।

[4] 'बहूनि कर्माणि' ·· 'एकस् तु सस्कारोऽन्तराले,' वही, पृ० ३०२-११।

[5] 'आद्यम् गुरुत्वाद्, द्वितीयादीनि तु गुरुत्व-सस्काराभ्याम्,' वही पृ० ३०४-१७। "हम गति के आरम्भ से अन्त तक की अवधि-पर्यन्त एक ही गति क्यो नही मानते ?" प्रशस्त यह प्रश्न करते हैं (पृ० ३०२-११), अर्थात् बौद्धो

जायगा, इससे गिरती हुई स्थूल वस्तु की त्वरित गति की कुछ व्याख्या हो जाती है।

बौद्धो का मत इन परिकल्पनाओ से उस आधारभूत सिद्धान्त द्वारा भिन्न है जो किसी भी पदार्थ की सत्ता को अस्वीकृत करता है। इसलिये, वस्तुओ मे कोई गति नही होती, बल्कि स्वय वस्तुयें ही गतिमान होती हैं। अत, जब वसुबन्धु यह कहते है कि "विनाश के कारण कोई गति नही होती", तो उस समय यथार्थ गति का उक्त यथार्थवादी विचार ही है जिसे वह अस्वीकार करते है। अनुभवात्मक दृष्टि से गति का अस्तित्व है। यदि यथार्थवाद केवल यही माने कि इस अनुभवात्मक गति के पीछे कोई कारण होता है, तो बौद्ध इस पर आपत्ति नही करेंगे।[1] किन्तु, इस सिद्धान्त के अनुसार यह कारण अपने मे किसी सयोजक पदार्थ से रहित किन्तु सान्निध्ययुक्त स्थानो मे एक के बाद दूसरे प्रगट होने वाले क्षणिक विद्युदुन्मेषो से निर्मित होता है। ये उन्मेष एक ही और उसी वस्तु से उत्पन्न नही होते। दूसरे शब्दो मे, ये निरन्वय होते हैं क्योकि बाद के क्षण के आविर्भाव के पहले पूर्व-क्षण सर्वथा निरुद्ध हो जाता है। कमलशील[2] का कथन है कि "किसी वस्तु के स्वल्पाश का भी कोई अश ऐसा नही होता जो बाद मे आने वाले क्षण मे भी बना रहे।

जगत् की यथार्थ स्थिति के जिस चित्र का बौद्धो ने अपने लिये निर्माण किया उसका उस विधि के द्वारा सर्वश्रेष्ठ अनुमान किया जा सकता है जिसके अनुसार इन लोगो ने गिरते हुए पदार्थ[3] मे त्वरण की घटना की, अथवा उठते

और नैयायिको की भाँति हम यह क्यो नही मानते कि यह क्षणिक है? और फिर यह उत्तर देते हैं "अनेक सयोगो के कारण", अर्थात् अपनी परिभाषा से ही गति का किसी एक स्थान से सयोग-वियोग होता है, उतने ही सयोग होते है जितने स्थान जिनसे, उदाहरण के लिये, अपने गतिपथ मे एक बाण होकर जाता है। तुकी० बर्गसाँ का विचार, कि इस प्रकार की गति अविभाज्य है। वैशेषिको के अनुसार गति अत्यन्त विभाज्य है जब कि सस्कार एक ही होता है।

[1] गत क्षण की 'सत्ता' कारण है 'सत्तेव व्यापृति', तस० कारि० १७७२।

[2] तसप० पृ० १८२ 'न हि स्वल्पीयसोऽपि वस्त्व्-अशस्य कस्यचिद् अन्वयोऽस्ति।'

[3] अभिभा० ११.४६, ड ल वल्ले का अनुवाद, १ पृ० २२९–२३०।

हुए धूम्र[1] की घटनाओ की व्याख्या का प्रयास किया है। इन घटनाओ मे इन लोगो को अपने इस आधार की एक उल्लेखनीय पुष्टि मिली है कि अपनी सत्ता के प्रत्येक क्षण मे पर गिरती हुई वस्तु वास्तव मे एक 'अन्य' वस्तु होती है क्योकि उसका भिन्न निर्माण होता है। उसका भार प्रत्येक क्षण भिन्न होता है। प्रत्येक भूत पदार्थ हमारे चार आधारभूत तत्त्वो से निर्मित होता है जिन्हे परम्परया पृथिवी, जल, अग्नि और वायु कहते हैं। 'पृथ्वी' से स्थूल तत्त्व का अर्थ है, 'जल' ससजनात्मक अथवा सलग्नता की शक्ति का नाम है 'अग्नि' का अर्थ तापमान है, और 'वायु' का अर्थ भार या गति है। किसी भी प्रकार की वस्तु हो उसमे ये सभी तत्त्व या शक्तियाँ सदैव एक ही अनुपात मे उपस्थित रहती हैं। यदि ये वस्तुये कभी स्थूल होती हैं और कभी द्रव, कभी उष्ण और कभी गतिमान, तो यह तत्त्वो को व्यक्त करने वाली शक्ति मे उत्कर्ष[2] की अधिकता पर निर्भर करता है उनकी परिमाणात्मक प्रधानता पर नही। जल मे स्थूलता या ठोसपन का उपस्थित होना उसके द्वारा अपने धरातल पर नौका को धारण करने की क्षमता द्वारा सिद्ध है। अग्नि मे 'द्रव' तत्त्व की उपस्थिति इस तथ्य द्वारा सिद्ध है कि अग्नि के कण अपने को एक ज्वाला मे एक साथ सलग्न रखते हैं। यह स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु के आधारभूत तत्त्व स्थूल परमाणुओ की अपेक्षा शक्तियाँ अथवा शक्ति की क्षणिक प्रमात्रायें होते हैं। फलस्वरूप ये 'सहयोगियो' अथवा 'सहकारी शक्तियो' की कोटि मे आते हैं। चौथे तत्त्व को 'गति', तथा साथ ही साथ, 'लघुत्व', अर्थात् 'भार'[3] भी कहते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक भूतवस्तु विकर्षण, आकर्षण, उष्णता और भार की शक्तियो का मिलन-विन्दु है। जब कोई वस्तु गिरती है तो उसकी गति प्रत्येक विन्दु पर त्वरित होती है, अर्थात् एक 'अन्य' गति हो जाती है। इसी प्रकार वह एक अन्य भार, और गुरुत्वाकर्षण की शक्ति की एक अन्य प्रमात्रा भी हो जाती है। बौद्ध दार्शनिक यह निष्कर्ष निकालता है कि गिरता हुआ पदार्थ अपनी गति के प्रत्येक सतत् क्षण, मे एक अन्य पदार्थ होता है, क्योकि शक्ति की प्रमात्रा प्रत्येक क्षण मे भिन्न होती है, और भूत पदार्थ

---

[1] वही।

[2] इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीयो के पास पदार्थ के यान्त्रिक सिद्धान्त के विरुद्ध कोई गत्यात्यक सिद्धान्त था। तुकी० नीचे।

[3] 'लघुत्व = ईरणात्मक', तुकी० अभिभा० ११२।

सामान्य रूप से शक्ति की उन प्रमात्राओ से ऊपर और भिन्न कुछ नही होते जो उनकी रचना मे प्रविष्ट होती है।[१]

§ १२. विनाश अनुभवनिरपेक्ष दृष्टि से भी निश्चित है

इस प्रकार जो तर्क अभाव और विनाश की धारणाओ के प्रविचय पर आधारित है वह क्षणिकता के सिद्धान्त की ठीक उसी प्रकार स्थापना करता है जिस प्रकार कारणात्मक प्रापकता के रूप मे सत्ता की धारणा के प्रविचय पर आधारित तर्क। हम इस बात का निर्देश कर चुके हैं कि ये दोनो ही तर्क प्रविचयात्मक हैं, अत इनके निष्कर्ष भी एक तार्किक अनिवार्यता है। एक तीसरा तर्क भी है जो द्वितीय से बहुत थोडे अशो मे ही भिन्न है। यह इस तथ्य से आरम्भ होता है कि प्रत्येक वस्तु का अनिर्वायत[२] एक अन्त होना ही चाहिये। ऐसा कुछ भी नही है जिसका अन्त न हो। इस साधारण सत्य का, जो सबको ज्ञात है, सूक्ष्म परीक्षण करने पर इसके अतिरिक्त और कुछ अर्थ नही हो सकता कि नश्वरता सत्ता का एक निश्चित अन्तर्भाग या सार है। यदि प्रत्येक वस्तु नश्वर या क्षणिक है, वह सदैव नश्वर है, तो किसी भी वस्तु को स्वय उसके इस सारतत्त्व से पृथक् नही किया जा सकता, और इसलिये कोई अवधि हो ही नही सकती। प्रत्येक वस्तु की नश्वरता की निश्चितता अनुभव-निरपेक्ष है।

अत तथ्य यह है कि प्रत्येक सत्ता का क्षणिक स्वभाव एक ऐसी बात है जिसकी अनुभव-निरपेक्ष[3] स्थापना की जा सकती है।

वाचस्पति मिश्र[४] हमे यह सूचित करते है कि आरम्भिक बौद्धो ने निरीक्षण के आधार पर अनुमान करके क्षणिकता के विचार का निष्कर्ष निकाला था।

---

[१] गिरते हुए भूत-पदार्थ की गति के विषय पर तुकी० न्यावा० पृ० ४२०।

[२] 'ध्रुव-भावि = अवश्यम्-भावि', न्याकणि० पृ० १३२.१४ और बाद, ताटी० पृ० ३८३ १९ और बाद, तस० पृ० १३२ १५ और बाद, न्याविटी० ११ ३७।

[3] यहाँ अंग्रेजी शब्द 'a priori' का 'अनुभव निरपेक्ष' के आशय मे प्रयोग किया गया है, इसका शाब्दिक अनुवाद 'प्रत्यञ्च प्रत्यया' किया जा सकता है, तुकी० न्याकणि० पृ० २६७.१९ 'पराञ्च = अनुभवसापेक्ष (a posteriori), ताटी० पृ० ८४ १८।

[४] ताटी० पृ० ३८० और बाद।

उन लोगो के लिए यह एक अनुभवसापेक्ष विचार था। उन लोगो ने आरम्भ मे यह देखा कि अग्नि, प्रकाश, ध्वनि, विचार आदि जैसी वस्तुयें प्रतिक्षण परिवर्तित हो रही हैं। थोडे और ध्यान ने उन्हे इस बात का विश्वास दिला दिया कि हमारा शरीर भी नित्य इस प्रकार परिवर्तित हो रहा है कि प्रत्येक क्रमागत क्षण पर यह एक 'अन्य' शरीर होता है। तदनन्तर, एक आगमनात्मक रूप से निरीक्षण के आधार पर विस्तृत सामान्यीकरण करते हुये यह निष्कर्ष निकाला गया कि "जैसे हमारा यह शरीर है वैसे ही मणि भी है", यह भी प्रत्येक क्रमागत क्षण मे क्षण-क्षण प्रत्नतर होता जाता है। तर्क की इसी विधि का आरम्भिक बौद्धो ने अनुसरण किया था। किन्तु बाद के बौद्धो ने आगमन द्वारा सामान्यीकरण के आधार पर क्षणिकता को सिद्ध नही किया। इन लोगो ने यह देखा कि विनाश, अर्थात् अन्त अनिवार्य और अपरिहार्य है, तथा इसकी निश्चितता अनुभव-निरपेक्ष है, अत निरीक्षण द्वारा इसको सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नही है। यथार्थवादियो[1] ने इन तर्कों के द्वारा इसका उत्तर दिया है "इन लोगो ने बौद्धो से कहा कि कृपया इस उभयत पाश पर विचार कीजिये क्या घट के टुकडो की सत्ता का सातत्य, अनिवार्यत घट की सत्ता के सातत्य का अनुगमन करता है, या नही ? यदि नही, तो घट का अन्त कदापि आवश्यक नही। हम, वास्तव मे, अपनी आँखो को आप जितना कहे उतना खोलें, किन्तु हम टुकडो मे परिवर्तित होने के अतिरिक्त अन्य किसी भी क्षण घट के अन्त का प्रत्यक्ष नही कर पाते।[2] इस प्रकार घट का अनिवार्य अन्त वास्तविक रूप से सिद्ध नही होता। अब आइये हम मान लें कि यह (अनुभवनिरपेक्ष दृष्टि से) अनिवार्य है, फिर भी जब यह घटना वास्तविक रूप से घटित होती है तब हम देखते हैं कि यह अनिवार्य अन्त हथौडे के प्रहार पर, अर्थात् एक आगन्तुक कारण पर निर्भर करता है, अत कदापि अनिवार्य नही है। अन्त अहेतुक (अनुभवनिरपेक्ष) अनिवार्यता का सहवर्ती नही है, और यह आप को सिद्ध करना चाहिये कि यह किसी विशेष परिस्थिति पर निर्भर नही करता। इसलिये, यत क्षणिक परिवर्तन के आप के प्रमाण का प्रतिवाद हो जाता है, अत आपको स्वीकार करना चाहिये कि उसी घट की सत्ता की क्रमागत क्षणो मे प्रत्यभिज्ञा इस बात को सिद्ध कर देती है कि वह एक ही और वही घट है (और प्रत्येक क्षण मे 'अन्य' घट नही है)।" किन्तु बौद्ध यह उत्तर देते हैं "जो (अनुभवनिरपेक्ष दृष्टि से)

---

[1] वही, ३८६ १४ और बाद।

[2] न्याकणि० पृ० १३९ २१ और बाद।

अनिवार्य नहीं है, वह विशेष कारणों पर निर्भर करता है, जैसे किसी वस्त्र का वर्ण उस रंग पर निर्भर करता है जिससे वह रंगा गया है, अत वह अनिवार्य नहीं है। यदि समस्त विद्यमान वस्तुयें इसी प्रकार अपने अन्त के लिये विशेष कारणों पर निर्भर हों तो हमें ऐसी आनुभविक वस्तुयें मिलेंगी जिनका कभी अन्त नहीं होगा, और हमे नित्य आनुभविक वस्तुयें ही मिलेंगी। किन्तु यह असम्भव है। अन्त की अनिवार्यता इस तथ्य का सकेत करती है कि वस्तुयें इस प्रकार उत्पन्न होती हैं कि वे उत्पन्न होने के क्षण मे ही चली जाती हैं, वे बिना किसी विशेष कारण के ही, स्वयं समाप्त हो जाती हैं, उनका दूसरे क्षण तक अस्तित्व नही रहता। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि वे प्रत्येक क्षण परिवर्तित होती हैं।"

§ १३. विरोध के नियम से क्षणिकता का निगमन

जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब कुछ अन्य विद्यमान वस्तुओ से सर्वथा पृथक्[१] है। जिसका यथार्थ अस्तित्व है उसकी स्वय अपनी सत्ता है, स्वयं अपनी सत्ता रखने का अर्थ अन्य विद्यमान वस्तुओ से पृथक् रहना है। यह एक प्रविचयात्मक तर्कवाक्य है, क्योंकि 'पृथक्ता' की धारणा 'सत्ता' की धारणा की अनिवार्य लक्षण है।[२] यदि कोई वस्तु अन्य विद्यमान वस्तुओ से पृथक् नही है, यदि उसकी स्वय अपनी सत्ता नही है, यदि उसकी सत्ता अन्य वस्तुओं की सत्ता के साथ एकीभूत है, तो वह इन अन्य वस्तुओ की नाम मात्र अथवा हमारी कल्पना की रचना मात्र होगी। उदाहरण के लिये, समग्रता की अपने घटकावयवों से पृथक् सत्ता नहीं होती, काल और दिक् की क्षणो से पृथक् सत्ता नहीं होती, आत्मा की चैत्त-धर्मों से पृथक् सत्ता नही होती, प्रकृति की ऐन्द्रिक-उपलब्धियो से पृथक् सत्ता नही होती, इत्यादि, इत्यादि। यत ये पृथक् नहीं हैं, अत इनकी कोई भी सत्ता नही होती।

अब, वह वस्तु क्या है जो अन्य समस्त विद्यमान वस्तुओ से वास्तव मे पृथक् कुछ होती है, जो सर्वतो व्यावृत्त[३] होती है? वह गणितीय क्षण[४] होती है। अन्य विद्यमानो के साथ उसका एकमात्र सम्बन्ध 'अन्यत्व' ही होता है।

---

[१] 'सर्वम्-पृथक्', न्यासू० ४ १ ३६।

[२] 'भाव-लक्षण-पृथक्त्वात्', वही।

[३] 'सर्वतो व्यावृत्त, त्रैलोक्य-व्यावृत्त'।

[४] क्षण = स्वलक्षण।

वह गुणात्मक अथवा धर्मता की दृष्टि से नही वरन् सख्यात्मक दृष्टि से अन्य होती है। प्रत्येक सम्बन्ध और प्रत्येक गुण कुछ ऐसा होता है जो यथार्थताओ मे निहित होता है, और इसलिये स्वय कुछ अयथार्थ, कुछ ऐसा होता है जिसकी इन दो यथार्थताओ से पृथक् स्वय अपनी कोई सत्ता नही होती।

'अन्यत्व के नियम' का सूत्र इस प्रकार है। यदि विरुद्ध-धर्मियो के साथ ससर्ग हो तो वस्तु 'अन्य' होती है।[1] धर्मों के अन्तर मे उस समय वस्तुओ का अन्तर निहित होता है जब धर्म परस्पर विरुद्ध हो। दो धर्म उस समय विरुद्ध नही होते जब एक दूसरे के अधीन, अथवा एक दूसरे के अश होते हैं, जैसे कि 'रग' और 'लाल'। किन्तु यदि ये दोनो एक ही निर्धारक के अन्तर्गत हो तो विरुद्ध होते हैं, जैसे लाल और पीला, अथवा अधिक उपयुक्तत , लाल और 'जो लाल न हो'। यदि निर्धारक अत्यन्त परोक्ष हो, अथवा कोई भी सामान्य निर्धारक न हो तो विरोधत्व और भी अधिक होता है।[2] यह स्पष्ट है कि अन्य के नियम का यह कथन योरोपीय तर्कशास्त्र मे अरस्तू द्वारा व्यक्त इस विरोध के नियम का ही एक निषेधात्मक रूप है कोई भी वस्तु एक ही काल मे, एक ही स्थान पर, और एक ही क्षेत्र मे, दो परस्पर-विरोधी गुणो से युक्त नही हो सकती। विरोध के नियम का यह योरोपीय सूत्र, पदार्थ और गुण के सम्बन्ध की सत्ता, अथवा 'सातत्यको और सवृत्तियो' की सत्ता की पूर्वकल्पना करता है। भारत मे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हमे दो पद्धतियाँ मिलती हैं जो इस सम्बन्ध की विषयात्मक यथार्थता को अस्वीकार करती हैं। साख्य केवल एक 'सातत्यक' को स्वीकार करते हैं, और बौद्ध केवल 'सवृत्तियो' को स्वीकार करते हैं। अत कोई भी वस्तु उस समय अन्य हो जाती है जब उसके निर्धारक 'अन्य होते हैं। ये निर्धारक देश, काल, और आकार होते हैं।[3] कोई वस्तु तब अन्य होती है जब उसका धर्म अन्य होता है, जैसे, एक ही वस्तु एक ही समय लाल और पीली, अर्थात् लाल और लाल से भिन्न नही हो सकती। यह उस समय अन्य होती है जब इसका स्थानागतदेश अन्य होता है, जैसे किसी मणि की एक स्थान मे चमक और उसी की अन्य स्थान मे चमक दो भिन्न वस्तुयें हैं। यत कोई भी विस्तृत वस्तु किसी देश या स्थान के कम से कम दो विन्दुओ की स्थिति को ग्रहण करती है, अत विस्तार परमार्थ सत् नही है क्योकि प्रत्येक विन्दु पर वह सर्वथा भिन्न वस्तु होता है।

---

[1] न्याबिटी० पृ० ४ 'विरुद्ध-धम-ससर्गाद् अन्यद् वस्तु'।

[2] तुकी० नीचे 'अपोह' तथा विरोध के नियम का विवेचन।

[3] 'देश-काल-आकार-भेदश च विरुद्ध-धर्म-ससग ,' न्याबिटी० वही।

काल के सन्वन्ध मे भी यही कहा जा सकता। एक ही वस्तु का दो भिन्न क्षणो मे यथार्थ अस्तित्व नही हो सकता, प्रत्येक क्षण मे वह एक भिन्न वस्तु होती है।[१] यहाँ तक किसी वस्तु के विज्ञान का क्षण और उसी वस्तु के प्रत्यभिज्ञा के क्षण परमार्थ सत् की दृष्टि से दो भिन्न वस्तुओ के द्योतक है। प्रस्तुतीकरण या अभिव्यक्ति मे इनका एकत्व रचित अथवा कल्पित एकत्व है।

इस प्रकार, प्रत्येक यथार्थ अन्य यथार्थ होता है। जो समान या समभाव है वह परमार्थ सत् नही है। परमार्थ सत् स्वलक्षण,[२] वस्तु अपने मे स्वय, असम्वद्ध वस्तु होता है। समस्त सम्वन्ध विकल्पजन्य होते है। सम्वन्ध और विकल्प एक ही हैं। परमार्थ सत् अनुत्पादित, अ-कल्पित, असम्वद्ध यथार्थ होता है, ऐसा जो वस्तु विशुद्धत स्वय अपने मे होती है। वह गणितीय क्षण-मात्र होता है।

तादात्म्य और विरोध के नियमो से सम्वद्ध भारतीय सूत्रो के विवेचन के समय हम पुन इस ममस्या पर लौटेंगे। अभी तो विरोध के नियम और क्षणिकता के सिद्धान्त के वीच सम्वन्ध की ओर सकेत करना ही पर्याप्त होगा। योरप मे अनेक दार्शनिको ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि तादात्म्य मे अन्तर निहित होता है। 'क' और 'ख' मे परस्पर तादात्म्य और सुतरा केवल समानता होते हुये भी दोनो परस्पर भिन्न हैं। वौद्ध दर्शन सर्वथा असमान और तादात्म्य-रहित (अनुभवातीत) यथार्थताओ की धारणा से आरम्भ करता है जो विविक्त क्षण मात्र होते हैं।[३] लीब्निज के इस सिद्धान्त की कि प्रकृति मे कोई भी दो सर्वथा समान वस्तुयें नही हैं, और अनिर्धार्यों के तादात्म्य का गुणात्मक परिवर्तन के सातत्य से समाधान हो जाता है, कुछ मीमा तक, वौद्धो के मत के साथ इस अन्तर के अतिरिक्त तुलना की जा सकती है कि अक्रमिक, अद्वितीय और विविक्त वस्तु ममस्त क्रमिकता की सीमा

---

[१] न्याविटी० पृ० ४ ६ मे दिये गये उदाहरण को प्रत्यक्षत वौद्धो और यथार्थवादियो, दोनो की मान्यता प्राप्त करने के उद्देश्य से चुना गया है, किन्तु वौद्धो का वास्तविक अर्थ टिप्पणी, वही, पृ० ४ ८ और वाद, से प्रगट होता है,

[२] स्वलक्षणम् = परमार्थ-सत्।

[३] तुकी० नीचे 'क्षणिकत्व' के इतिहास का विवेचन।

है और गणितीय क्षण की सर्वथा परमार्थ सत्ता के रूप मे परिणत हो जाती है।[१]

§ १४. क्या क्षण एक यथार्थता है? अवकलन-गणित

गत विवेचनो द्वारा इस बात की पर्याप्त स्थापना कर दी गई है कि अनुभवात्मक काल और दिक् (देश) बौद्धो के लिये हमारी प्रज्ञा द्वारा उन इन्द्रिय-ग्राह्य क्षणो के आधार पर रचित कल्पितार्थ हैं, जो मात्र परमार्थ सत् होते हैं। इस सिद्धान्त के विरुद्ध, जो यथार्थ को 'इस' अथवा 'अभी', अथवा 'यहाँ', के स्तर पर ला देता है, और हमारे शेष समस्त ज्ञान को कल्पित और सापेक्ष विभेद के रूप मे परिणत कर देता है, यथार्थवादियो ने यह अत्यन्त स्वाभाविक आपत्ति की है कि क्षण स्वय भी सामान्य नियम के अपवाद नही हैं क्योकि ये भी विचार के सृजन के अतिरिक्त और कुछ नही? ये भी बिना किसी तदनुरूप यथार्थ के ही एक नाम मात्र हैं। उद्योतकर[२] बौद्धो से कहते हैं कि "यह मानने मे कि काल स्वय भी नाम के अतिरिक्त अन्य कुछ नही, तुम्हें अप्रत्यक्षत यह भी मानना होगा कि अल्पतम काल,काल-सीमा (क्षण) भी इसी प्रकार एक नाम-मात्र ही है।" बौद्ध उत्तर देते हैं कि अल्पतम समय, गणितीय क्षण, यथार्थ होता है क्योकि यह एक सिद्ध विद्या है।[३] ज्योतिषी इसे अपनी समस्त परिगणनाओ का आधार बनाता है। यह एक अविभाज्य कालाश है, यह किसी भी पूर्व और अपर[४] के रूप मे सम्बद्ध किसी प्रकार के अशो से युक्त नही होता। भारतीय ज्योतिषियो ने 'स्थूल काल'[५] और 'सूक्ष्म-

---

[१] आधुनिक लेखको मे भी मुझे एक 'अन्यत्व का नियम' मिला है जिसकी डब्लू० ई० जॉनसन लॉजिक, १, अध्याय १२,मे विषद विवेचन किया गया है। भारतीय कल्पनाओ के साथ साम्य अक्सर उल्लेखनीय हैं। किन्तु यह विचार कि 'यथार्थ' को 'एक' यथार्थ होना चाहिये, और यह कि यथार्थ सत्ता का अर्थ एक सत्ता है, उन स्कूलमेन के लिये परिचित है जो 'ons et unum convertuntur' को मानते थे। इसकी लीब्निज ने व्याख्या, और इससे उन्होने अपने 'मोनड्स' की यथार्थता की स्थापना की है।

[२] न्यावा० पृ० ४१८ १५।

[३] ताटी० पृ० ३८७ १ ज्योतिर्-विद्या-सिद्ध।

[४] 'पूर्व-अपर-भाग-विकल', वही, तुकी० न्याकणि० पृ० १२७ १२

[५] स्थूल-काल, काल-पिण्ड।

गति या काल'[1] का शुद्धता के साथ माप करके विभेद किया है। किसी एक क्षण मे किसी वस्तु की गति को ज्योतिषी 'क्षणिक-गति' अथवा 'तात्कालिक गति'[2] कहते हैं, अर्थात् यह किसी अन्य समय की, किसी अन्य क्षण की गति नही होती। यह काल किसी ग्रह के देशान्तर के अवकल के अतिरिक्त अन्य कुछ नही। यथार्थवादी कहता है कि इस प्रकार का क्षण कोई यथार्थ नही है, यह तो केवल एक गणितीय सज्ञामात्र[3] है। बौद्ध कहता है कि "ठीक इसके विपरीत हम यह मानते हैं कि किसी सत्ता की क्षणिकता ही परमार्थ सत् है।" जगत मे एक मात्र वस्तु जो अ-रचित, और अ-कल्पित है, वह है इन्द्रिय-ग्राह्य क्षण, और यही समस्त विकल्प का वास्तविक आधार है।[4] यह सत्य है कि यह एक ऐसा यथार्थ है जिसको सविकल्पक ज्ञान[5] के रूप मे व्यक्त नही किया जा सकता, किन्तु यह वस्तुत इसी कारण एक विकल्पात्मक रचना नही है। यथार्थ का, सर्वथा अद्वितीय क्षण का, उस क्षण का जिसे व्यक्त नही किया जा सकता, 'अभी', 'यह' इत्यादि विशेषणो के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नामकरण[6] भी नही किया जा सकता। फलस्वरूप यह केवल एक नाममात्र नही है, यह नाम है ही नही, इसका कोई नाम नही है, परमार्थ सत् अशाब्दिक होता है। जो शाब्दिक है वह न्यूनाधिक सदैव विकल्पात्मक होता है[7]। इस प्रकार एक गणितीय क्षण यथार्थवादियो के लिये कल्पितार्थ और बौद्धो के लिये यथार्थ है। इसके विपरीत 'स्थूल-काल' या 'कालपिण्ड' यथार्थवादियो के लिये यथार्थ है और बौद्धो के लिये कल्पितार्थ। जिस प्रकार एक गणितज्ञ अवकलो से अपनी गतियो की रचना करता है, उसी प्रकार मानव मानस भी, जो एक स्वाभाविक गणितज्ञ है, क्षणिक सवेदनो या विज्ञानो से अवधि की रचना करता है।

इस तथ्य का भी, कि इसी प्रकार दिक् (देश) मे भी क्षणिक विज्ञान

---

[1] सूक्ष्म-गति।

[2] तत्-कालिकी गति।

[3] सज्ञा-मात्रम्।

[4] वास्तवीक्षणिकता अभिमता।

[5] 'क्षणस्य (ज्ञानेन) प्रापयितुम अशक्यत्वात्', तुकी न्यायबिटी० पृ० १२ १९ (प्राप्ति = सविकल्पकम् ज्ञानम्)।

[6] तसप० पृ० २७६।

[7] 'शब्दा विकल्प-योनय, विकल्पा शब्द-योनय', (दिङ्नाग)।

के अतिरिक्त अन्य कोई सत् नही है, पहले ही सकेत किया जा चुका है।[1] धर्मकीर्ति यह कहते हैं[2] "किसी भी विस्तृत रूप की किसी (यथार्थ) वस्तु मे उससे अधिक सत्ता नही होती जितनी कि उसके विज्ञान मे होती है। यह मानना कि (विस्तृत वस्तु की) एकमात्र (अविस्तृत परमाणु मे) सत्ता होती है, विरुद्धत्व होगा, और यह मानना कि वही (विस्तृत वस्तु एक होते हुए भी) अनेक (परमाणुओ) मे विद्यमान है, एक असम्भाव्यता है।" विस्तृत वस्तु के इस प्रकार एक कल्पितार्थ होने पर क्षण[3] के परमार्थ सत् को स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त अन्य कोई बात शेष नही रह जाती।

अवकलन गणित के आविष्कार का श्रेय भारतीय ज्योतिषियो को दिया जाय या नही इस बात का निर्णय हम अन्य लोगो पर छोड देते हैं,[4] किन्तु किसी भी दशा मे, ये निर्विवाद रूप से गणितीय शून्य के आविष्कर्ता अवश्य थे। अत, एक गणितीय सीमा का विचार भारतीय विद्वानो को अवश्य परिचित रहा होगा।[5] यह कोई आश्चर्य नही है कि इन लोगो ने इसका

---

[1] तुकी० ऊपर पृ० ९९ और बाद।

[2] तुकी० ताटी० पृ० ४२५ २० 'तस्मान् नार्थे न विज्ञाने ...'।

[3] 'स्वलक्षण' वस्तु की एस० मैमन ने 'ग्राह्यता के अवकल' के साथ तुलना की है।

[4] डा० बी० एन० सील ऐसा कहते हैं, और श्री स्पॉटिस्वुड, रायल ऐस्ट्रानॉमर ने, जिन्हे *तथ्य समर्पित किये गये हैं,* इसे कुछ *अपवादो के साथ* स्वीकार किया है। तुकी० पी० जी० राय की 'हिन्दू केमिस्ट्री', भाग २, पृ० १६० और बाद (जहाँ डा० बी० एन० सील का लेख 'पॉजिटिव साइन्सेज़ ऑफ दि हिन्दूज़' से पुनर्मुद्रित है)।

[5] एम० एच० बर्गमाँ यह कहते हैं कि गणितज्ञो का ससार वास्तव मे एक क्षणिक ससार है, यह बौद्धो के ससार के समान भी क्षणिक है। आपका यह कथन है (क्रि० इव० पृ० २३-२४) "गणितज्ञ जिस ससार का विवेचन करता है वह एक ऐसा ससार है जो प्रत्येक क्षण मृत्यु को प्राप्त करता और जन्म लेता है, ऐसा ससार जिसकी सतत सृष्टि के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुये डेकार्टे ने कल्पना की थी।" यह विचार वास्तव मे सर्वथा बौद्ध है। इससे ऐसी ध्वनि निकलती है जैसी कि इसे सस्कृत मे प्रस्तुत करने पर निकलती 'ये भावा निरन्तरम् आरभ्यन्त इति महापण्डित श्री धेकरतेन विकल्पितास्' ते सर्वे ज्योतिर्-विद्या-प्रसिद्धा प्रतिक्षणम् उत्पद्यन्ते विनश्यन्ते च।' यह, जो

सामान्य दर्शन के क्षेत्र मे व्यवहार किया है, और ऐसा करनेवाले यही एकमात्र सम्प्रदाय नही थे।'

§ १५. क्षणिकवाद के सिद्धान्त का इतिहास

क्षणिकवाद के सिद्धान्त की उत्पत्ति सम्भवत बौद्ध-पूर्व[2] है। बौद्धदर्शन मे इसका उतार-चढाव विभिन्न मतो के इतिहास मे गुँथा हुआ है। यत ऐसे अधिकाश मतो का साहित्य इस प्रकार लुप्त हो चुका है कि उसका उद्धार नही हो सकता, अत हमे यहाँ कुछ ऐसी मुख्य विशेषताओ की ओर सकेत करने मात्र तक सतोष करना होगा जो हमे इसके विकास की एक कामचलाऊ रूपरेखा के निर्माण को ही सम्भव बना सकती है। इस समय हम इस सिद्धान्त के (१) उस आरम्भिक स्वरूप के, जिसमे इसका पर्याप्त शुद्धता के साथ निर्धारण किया गया था, (२) हीनयान सम्प्रदाय मे इसके विचलनो और परिवर्तनो की शृङ्खला के, (३) महायान सम्प्रदाय मे इस सिद्धान्त के उस सकट के, जिससे ऐसा प्रतीत हुआ कि इसका सर्वथा परित्याग कर दिया जायगा, (४) असङ्ग तथा वसुबन्धु के सम्प्रदाय मे इसके पुनर्प्रवेश के, और (५) दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति के सम्प्रदाय मे इसके अन्तिम स्वरूप के, बीच विभेद कर सकते है।

हम देख चुके है कि इस अन्तिम स्वरूप मे इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि परमार्थ सत् गणितीय क्षण अथवा कालगत एक ऐसी इकाई से

धर्मर्मा के कथन का शुद्ध अनुवाद है, किसी सस्कृत ग्रन्थ के उद्धरण के समान ध्वनित होता है। यह भी उल्लेखनीय है कि विचार या रचनात्मक विचार का एक पर्याय 'सकल्पन' भी है। इस प्रकार विचार, उत्पादक विचार, और गणित, घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हो जाते हैं। तुकी० भाग २, पृ० २९२ 'समाकलयेत्=विकल्पयेत्=उत्प्रेक्षेत।

[1] अनेक अन्य की भाँति सास्य-योग, इस विषय पर बौद्ध दृष्टिकोण के बहुत अधिक निकट आते हैं, तुकी० ३५२ पर व्यास 'कालो-वस्तु-शून्य-बुद्धि-निर्माण सर्व-ज्ञान-अनुपाती, क्षणस् तु वस्तु-पतित ', तुकी० बी० एन० सील, उपृ० पृ० ८०। विज्ञानभिक्षु यह उल्लेख करते हैं कि "क्षण से पृथक्, काल की कोई यथार्थ अथवा विषयात्मक सत्ता नही होती, किन्तु किसी घटना मे परिवर्तन की इकाई होने के कारण क्षण यथार्थ होता है"—'गुण-परिणामस्य क्षणत्व-वचनात्' वही।

[2] तुकी सेक० पृ० ६५ और बाद।

सम्बद्ध है जिसका कोई भी अश पूर्वापर रूप से सम्बद्ध नही होता। अथवा अधिक शुद्ध अर्थो मे परमार्थ सत् यथार्थता के ऐसे सूक्ष्म विभेदक विन्दुओ से सम्बद्ध होता है जिनसे हमारी बुद्धि उस अनुभवात्मक जगत् का निर्माण करती है जो हमारी प्रज्ञा के समक्ष अपनी विभिन्न प्रतिमाओ के रूप मे प्रगट होता है। उस समय यह सिद्धान्त ज्ञानमीमासात्मक अन्वेपणो पर आधारित था। उस समय यह हमारे ज्ञान के दो विषमजातीय प्रमाणो के सिद्धान्त का साक्षात परिणाम था। ज्ञान के दो प्रमाण हैं हमारी इन्द्रियाँ जो विशुद्धसत् या यथार्थ के विविक्त क्षणो मात्र को प्रस्तुत करती हैं, और प्रज्ञा जो इन सूक्ष्मतम क्षणो से विविध-रूप और व्यवस्थित जगत का अनुमान करती है।

इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के दूसरे छोर, अर्थात् बौद्ध मत के आरम्भिक छोर पर, हमे एक ऐसा सिद्धान्त मिलता है जो अनिवार्यत यही है, यद्यपि उस समय यह अपने ज्ञानमीमासात्मक आधार मे रहित है। समस्त सत् या यथार्थ ऐसे पृथक धर्मों मे विभक्त होता है जो क्षणिक होते हैं। क्षणिकवाद का सिद्धान्त सत्ता के पृथक तत्त्वो या धर्मों के बहुत्त्ववादी सिद्धान्त मे निहित है। बौद्ध मत ज्यो ही धर्मता के सिद्धान्त के रूप मे प्रगट हुआ त्योही यह क्षणिक धर्मो का सिद्धान्त बन गया। उपनिषदो[1] के अद्वैतवाद और साख्य के उत्कट विरोधी के रूप मे आरम्भ होकर यह आधे रास्ते मे ही नही रुका। इसने सीधे सत्ता के सूक्ष्मतम धर्म या तत्त्व की एकमात्र यथार्थता का प्रतिपादन किया।[2]

---

[1]. वेदान्त के इतिहास की ही भाँति हमे यहाँ भी परस्पर ऋणित्व की स्थिति मिलती है। आरम्भिक बौद्ध साख्या-विचारो से प्रभावित थे, किन्तु बाद के पातञ्जल योगशास्त्री सर्वास्तिवादियो के सूत्रो से अत्यधिक प्रभावित हुये थे।

[2] यदि हम स्व० एम० ई० सेनार्ट के इस अत्यन्त मौलिक परामर्श को स्वीकार कर लें कि 'सत्काय-दृष्टि' शब्द प्रथमत 'सत्कार्य-दृष्टि' का भ्रष्ट रूप हैं, तब हम यह देखेंगे कि साख्यो का आधारभूत नियम बौद्धों के लिए एक आधारभूत त्रुटि बन जाता है। साख्य (और आजीविक) यह मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु की, यद्यपि नित्य परिवर्तित होते हुये भी, नित्य सत्ता रहती है, जगत् मे कुछ भी नवीन रूप से प्रगट नही होता और कुछ भी विलीन नही होता। इसके विपरीत बौद्ध यह मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु की क्षणिक सत्ता होती है, यह शून्य से प्रगट होती है और तत्काल ही शून्य मे लौट जाती है, अत कोई भी उप-स्थायित्व नही होता। ये दोनो ही सिद्धान्त एकान्त हैं, ये द्रव्य, गुण, और समवाय के भेदो को अस्वीकार करते हैं, शाश्वत परमा-

फिर भी, ये धर्म या वे तत्त्व गणितीय क्षण नही थे। ये किसी वैयक्तिक जीवन मे कारणात्मक अन्योन्याश्रयता के नियम द्वारा सम्बद्ध क्षणिक ऐन्द्रिक विषय तथा विकल्प थे। यो तो यह मानना स्वाभाविक है कि बौद्ध इस शुद्ध सैद्धान्तीकरण पर क्रमश ही पहुँचे होगे, और यह कि विकास का आरम्भ-बिन्दु अनित्यता का वह सामान्य और अत्यन्त मानवीय विचार ही रहा होगा जो साधारण जीवन मे बुद्धि को प्रतीत होता है। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय जब बौद्ध मत के आधारभूत सिद्धान्तो का निर्धारण किया गया, यह सूत्र कि 'कोइ पदार्थ नही, कोई अवधि नही, निर्वाण के अतिरिक्त और कोई सुख नही' किसी सरल अनित्यता का नही बल्कि सत्ता के ऐसे धर्मों का द्योतक था जिनका परमार्थ सत् एक क्षण मात्र की अवधि तक ही सीमित था और दो क्षण दो पृथक धर्म माने जाते थे।[1]

अब आरम्भिक और अन्तिम स्वरूप के ठीक बीच मे, इस मत को घोर सकटो मे होकर गुजरना पडा।

माध्यमिको के सम्प्रदाय ने सत्ता के क्षणो की कल्पित यथार्थता को सीधे अस्वीकार किया। इस सिद्धान्त के विरुद्ध इन लोगो ने सहजबुद्धि का आश्रय लेने का आग्रह किया। इन लोगो ने सोचा कि कौन ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति है जो इस बात मे विश्वास करेगा कि एक सत् या यथार्थ वस्तु एक ही क्षण मे प्रगट, सत्ता-युक्त और नष्ट हो जायगी।[2] फिर भी, इस अस्वीकृति का क्षणिकता के सिद्धान्त के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नही है क्योकि इस सम्प्रदाय ने इस बात का प्रतिपादन किया कि प्रत्येक पृथक पदार्थ, और प्रत्येक धारणा द्वन्द्वात्मक, सापेक्ष और भ्रान्ति होती है।

गुणो को अस्वीकार करके असीम विभाज्यता को स्वीकार करते है। इन विषयो पर दोनो का ही वैशेषिको ने विरोध किया है। विवाद का केन्द्रीय विषय समवाय की समस्या रहा प्रतीत होता है। वैशेषिक, और सम्भवत, आरम्भिक योगवादी इसे स्वीकार करते थे, जब कि साख्यो और बौद्धो ने यद्यपि विपरीत दिशाओ से इसको अस्वीकृत कर दिया। बौद्धो का एकान्त दृष्टिकोण सम्भवत इनका अपना मौलिक विचार प्रतीत होता है। वात्सीपुत्रीयो, सर्वास्तिवादियो, काश्यपीयो और अन्य सम्प्रदायो मे इससे विचलन की प्रकृति इस बात को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है कि पृथक् क्षणिक धर्मों का विचार सबके तल मे स्थित है।

[1] सेक० पृ० ३८

[2] तुको चन्द्रकीर्ति, मध्य० वृत्ति पृ० ५४७ ।

प्रथम काल मे क्षणिक सत्य के सिद्धान्त का इतिहास इस बात को स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि मानव बुद्धि के लिये विशुद्ध परिवर्तन के विचार को, अर्थात् ऐसे सत् के विचार को जिसमे कोई उप-स्थायित्व नही है, ग्रहण करना कितना कठिन है। परिवर्तशील गुणो सहित स्थायी द्रव्य से युक्त पदार्थ हमारी समस्त विचार-प्रणाली मे इतने गहन रूप से अवस्थित हैं कि हम विशुद्ध परिवर्तन को उस समय भी स्वीकार करने मे सदैव सकोच करते हैं जब कि तर्क इसका आग्रह करता है।

आरम्भिक सम्प्रदायो मे से वात्सीपुत्रीय ही वह सम्प्रदाय था जिसने जीव के धर्मों मे एक प्रकार के एकत्व को स्वीकार किया। इस समस्या पर इनकी स्थिति अत्यन्त उपदेशप्रद है। बौद्ध क्षेत्र मे इतना तीव्र विरोध था कि इन लोगो को आत्मा के आध्यात्मिक तत्त्व को पुन स्वीकार करने का साहस नही हुआ। किन्तु ये पुद्गल के पृथक-धर्मों मे एक प्रकार के एकत्व को अस्वीकार करने मे सकोच करते थे। ये यह स्वीकार करते थे कि पुद्गल का निर्माण करने वाले पृथक् धर्म हेतुव्यवस्था के अनुसार एक साथ एकत्र रहते है। पुद्गल को इन लोगो ने एक प्रकार की द्वन्द्वात्मक वस्तु माना जो अपने स्कन्धो से न भिन्न है और न अभिन्न है। पुद्गल को परम तत्त्व की यथार्थता नही प्रदान की गई, और न इस यथार्थता को सर्वथा अस्वीकार ही किया गया।[1] इस प्रकार की द्वन्द्वात्मक यथार्थता को स्वीकार करने तथा विरोध के नियम की उपेक्षा करने का यह क्रम हमे उस द्वन्द्वात्मक विधि का स्मरण दिलाता है जो जैनो मे अत्यन्त लोकप्रिय और सर्वत्र एक द्वैध तथा विरोधी यथार्थ सारतत्त्व की मान्यता मे निहित है। साथ ही, यह इस बात को भी सिद्ध करता है कि समस्त धर्मों को इस मौलिक पृथकता, और इनके एक मात्र हेतु-व्यवस्था के अनुसार ही परस्पर सम्पर्क का सिद्धान्त वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय के आविर्भाव से पहले का है।

सर्वथा परिवर्तन के सिद्धान्त के विरुद्ध एक अन्य आक्षेप की सर्वास्तिवादियो और काश्यपीयो के सम्प्रदायो मे उत्पत्ति हुई। सर्वथा परिवर्तन के सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि केवल वर्तमान ही विद्यमान है, भूत का कोई अस्तित्व नही क्योकि वह अब नही है और भविष्य यथार्थ नही है क्योकि वह अभी अस्तित्व मे नही आया। इस सिद्धान्त का सर्वास्तिवादियो ने यह कहकर विरोध किया कि भूत और भविष्य भी यथार्थ हैं क्योकि वर्तमान का

[1] तुकी० इस सिद्धान्त की वसुबन्धु की व्याख्या, अभिको० IX, मेरे 'सोल थ्योरी' मे अनुवाद ,

मूल भूत मे और फल या परिणाम भविष्य मे स्थित है। काश्यपीयो ने भूत को एक ऐसे भूत जिसका प्रभाव समाप्त हो गया है, और एक अन्य ऐसे भूत मे विभक्त किया है जिसका प्रभाव अभी समाप्त नही हुआ है। ये इस द्वितीय भूत को यथार्थ और प्रथम को अयथार्थ मानते हैं। इस सिद्धान्त के लिये उस साख्य मत के अनुरूप बन जाने का सकट था जो एक नित्य मूल प्रकृति और उसके सतत परिवर्तित होने वाले प्रकट रूपो के सिद्धान्त को स्वीकार करता था। वास्तव मे कुछ सर्वास्तिवादियो ने तत्त्वो या धर्मो का एक नित्य सारतत्त्व और एक क्षणिक अभिव्यक्ति मे विभाजन कर दिया।[1] तथापि इन लोगो ने अपने पर साख्यमत की ओर उन्मुख होने के आक्षेप का विरोध किया। ये मानते थे कि समस्त धर्म क्षणिक होते हैं, वे एक ही क्षण मे प्रगट और नष्ट हो जाते हैं।[2]

वसुबन्धु[3] हमे इस बात से अवगत कराते हैं कि सर्वास्तिवादियो का सिद्धान्त 'भाष्य साहित्य' की एक नवीनता है, अर्थात् यह कि इसका आभिधार्मिको ने समावेश किया और यह, इनके अनुसार, बुद्ध के वास्तविक उपदेशो मे निहित नही था। सौत्रान्तिको का सम्प्रदाय, अर्थात् वह सम्प्रदाय जिसने उपदेशो के सिद्धान्त की ओर लौटने की घोषणा की, धर्मो या पदार्थो के नित्यत्व को अस्वीकार करके इस सिद्धान्त की स्थापना की कि यथार्थता क्षणिक प्रतिभासो मे भी निहित है, अर्थात् यह कि 'धर्मता अभाव से ही प्रकट होती है और एक क्षण-मात्र के अस्तित्व के पश्चात् पुन अभाव मे ही लौट जाती है।' बुद्ध अपने उपदेशो मे से एक मे कहते हैं कि "जब एक दृश्य-सवेदना उत्पन्न होती है तब ऐसा कुछ भी नही होता जिससे यह उत्पन्न होती है, और जब वह विलीन हो जाती है तब भी नही ऐसा कुछ नही होता जिसमे वह चली जाती है।"[4] किन्तु 'शून्य से उत्पन्न' होने पर भी ये धर्म

---

[1] तुकी० वसुबन्धु की व्याख्या, सेक० पृ० ७६ और बाद मे, अनुवाद। तुकी० ओ० रोजेनबर्ग प्रॉब्लेम्स।

[2] यह स्पष्ट है कि सर्वास्तिवादियो ने उसी समस्या का विवेचन किया है जिसका हमारी आधुनिक 'गेल्टुग्स फिलासफी' विवेचन करती है सामान्यो की ही भाति, भूत की 'सत्ता' नही हैं, किन्तु यह यथार्थ है क्योकि यह सप्रमाण है।

[3] सेक० पृ२ ९०।

[4] वही, पृ० ८५।

अन्योन्याश्रयी होते हैं, अर्थात् ये एक ऐसी हेतुव्यवस्था द्वारा सम्बद्ध होते हैं जो इनके स्थायित्व की भ्रान्ति उत्पन्न कर देती है।

पृथक्, क्षणिक और समान धर्मों के सिद्धान्त से एक अन्य विचलन प्रकृति के मूल और गौण के रूप मे विभाजन, और उस अन्तर मे निहित है जिसके अनुसार विशुद्ध विज्ञान के एक केन्द्रीय धर्म की चैत्तधर्मों अथवा चित्त-सप्रयुक्त सस्कारो को व्यक्त करने वाले गौण धर्मों से पृथक् होने के रूप मे स्थापना की गई। यह निश्चित रूप से द्रव्य और गुणरूपी पदार्थों के अशत उस सामान्य स्थिति मे पुन प्रवेश प्राप्त कर लेने का एक पृष्ठ-द्वार था जिससे इन्हे अपने आरम्भिक समय मे बौद्ध मत ने च्युत कर दिया था।[1] अत क्षणिक धर्मों का मूल और गौण के रूप मे विभाजन निर्विरोध नही रह सका। वसुवन्धु हमे सूचित करते हैं कि बुद्धदेव पुद्गल के चैत्तधर्मों मे न तो विशुद्ध विज्ञान की केन्द्रीय स्थिति को ही स्वीकार करते हैं, और न पदार्थ के धर्मों मे गोचरो की आधारभूत स्थिति को ही।[2]

सिंहली सम्प्रदाय ने मूल सिद्धान्त को ही निष्ठापूवक सुरक्षित रक्खा, अर्थात् इसको कि प्रत्येक धर्म क्षणिक होता है, इसकी दो क्रमिकक्षणो तक भी सत्ता नही रह सकती, क्योकि गत क्षण मे जो कुछ था उसका कुछ भी दूसरे क्षण मे अवशिष्ट नही रहता। किन्तु अपने मध्यकाल मे इस सम्प्रदाय ने एक अत्यन्त कौतूहलवर्धक सिद्धान्त का आविष्कार किया जिसके अनुसार विचार का क्षण क्षणिक इन्द्रियग्राह्यार्थ से कही अधिक अल्पतर होता है।[3] बाह्यार्थों के क्षणो और उनके विज्ञान के क्षणो के बीच एक पूव-स्थापित सामञ्जस्य की कल्पना की गई है जिसमे एक क्षणिक इन्द्रिय-ग्राह्यार्थ को १७ विचार-क्षणो के अनुरूप माना गया है। किसी क्षणिक-इन्द्रिय-ग्राह्यार्थ के स्पष्ट विज्ञान के लिये विचार को १७ क्रमिक स्तरो से होकर गुजरना पडता है। अर्थात् उपचेतना (अतीत-भवग) से जागृत होने से लेकर पुन उसी स्थिति मे लौट जाने तक यदि यह शृङ्खला किसी कारण अपूर्ण रह जाय तो विज्ञान स्पष्टता नहीं प्राप्त करेगा। ये १७ क्षणिक स्तर इस प्रकार हैं (१) अतीत-भवग, (२-३) भवग-चलन और भवग-उच्छेद, (४) पाँच इन्द्रियो (द्वारो) मे से एक

---

[1] तुकी मेरा सेक० पृ० ३५ और वाद।

[2] तुकी० अभिको० ९, मेरी 'सोल थ्योरी'।

[3] अभिधम्मत्थसगहो ४८ (कोसाम्बी स० पृ० १८)।

का चयन[1], (५) चयन की गई इन्द्रिय[2], (६) सम्पटिच्छन-चित्त, (७) सन्तीरण-चित्त, (८) वोट्ठपन-चित्त, (९-१५) जवन, (१६-१७) तदारम्मण। इसके बाद बाह्य-इन्द्रियग्राह्यार्थ के एक क्षण के अनुरूप शृङ्खला समाप्त हो जाती है।

यह सिद्धान्त अन्य समस्त सम्प्रदायों में सर्वथा अज्ञात प्रतीत होता है। किन्तु कोई अवधि नहीं और कोई पदार्थ नहीं के आधारभूत विचार ने ही प्रत्यक्षत इसके आविष्कारकों का निर्देशन किया है।

महायान के प्रथम काल में क्षणिकवाद के सिद्धान्त ने प्रत्येक महत्व को खो दिया, क्योंकि अनुभवात्मक स्तर पर माध्यमिकों के सम्प्रदाय को सरल यथार्थवाद[3] के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं थी, और परमार्थ के सम्बन्ध में उसने केवल योगि-प्रत्यक्ष के द्वारा विज्ञान को ही ग्रहण किया।

फिर भी, क्षणिकवाद के सिद्धान्त की महायान के द्वितीय काल में, योगाचारियों के सम्प्रदाय में बौद्ध विज्ञानवाद में पुन स्थापना की गई। उस सम्प्रदाय ने स्वसंवेदना के आधार पर विज्ञान की यथार्थता की स्थापना से आरम्भ किया। चैत्त-धर्मों को क्षणिक तो माना गया किन्तु उस सम्प्रदाय ने, साथ ही साथ, अंशों की यथार्थता को अस्वीकार किये बिना ही समग्र की यथार्थता की स्थापना का प्रयास किया। परमार्थ सत् को तीन वर्गों में विभाजित किया गया 'परिनिष्पन्न', 'परिकल्पित', और इनके बीच का एक 'परतन्त्र' नामक सत्य। प्रथम और अन्तिम वर्ग को सत् के प्रकार माना गया है, दूसरे, परिकल्पित, को अयथार्थ और सत्तारहित कहा गया है। धर्मों के इस त्रिविध विभाजन में हमें ग्राह्यार्थ की यथार्थता और विकल्प के बीच उस मौलिक विभेद का बीज मिलता है जो दिङ्नाग के सम्प्रदाय में उनके विज्ञानवाद सम्बन्धी सिद्धान्त की आधारशिला बन गया।

किन्तु यद्यपि बौद्ध विज्ञानवाद ने क्षणिकवाद के सिद्धान्त को पुन प्रवेश करा दिया, तथापि इसकी स्थिति सर्वथा विरोधरहित नहीं रही। जिस प्रकार हीनयान-काल में द्रव्य और गुण के पदार्थ, यद्यपि औपचारिक रूप से निषेध होते हुए भी, किसी पृष्ठद्वार[4] से सदैव प्रगट होते रहे, उसी प्रकार विज्ञानवाद-काल में भी आत्म की धारणा, यद्यपि औपचारिक रूप से इसका प्रतिवाद

---

[1] पञ्चद्वारावज्जण-चित्त।

[2] चक्खु-विञ्ञानम्।

[3] तुकी० ऊपर पृ० १४।

[4] तुकी० सेक० पृ० ३५।

होता रहा—बौद्ध अब भी अनात्मवाद के प्रतिपादक बने रहे—तथापि यह बौद्ध दर्शन के सीधे हृदय मे अपना प्रवेश प्राप्त करती हुई प्रतीत होती रही। आरम्भ मे आलय-विज्ञान[1] की त्यक्त बाह्यार्थ की सत्यता को स्थानान्तरित करने के रूप मे कल्पना की गई। गत कर्मों के समस्त चिह्न और भावी विचारो के समस्त बीजो को इसी आलय मे स्थित माना गया। बौद्ध-परम्परा की अनुमति के अनुसार इस विज्ञान को भी क्षणिक माना गया, किन्तु प्रत्यक्षत यह छद्मवेश मे आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नही था, और इसलिये दिङ्-नाग तथा धर्मकीर्ति के सम्प्रदाय मे इसका प्रतिवाद किया गया।[2] आर्य असङ्ग, जो बौद्ध विज्ञानवाद के सस्थापक थे, प्रत्यक्षत इस आलयविज्ञान के सिद्धान्त और उन माध्यमिको के योगि-प्रत्यक्ष के बीच दोलायित होते रहे जिनके लिये व्यक्ति बुद्ध के धर्मकाय की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही। तथागत-गोत्र, सर्वज्ञ-बीज, तथागत-गर्भ, तथागत-धातु[3], आदि नामो के रूप मे व्यक्त जो कुछ भी था वह छद्मवेग मे आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नही था। यह उसी प्रकार वेदान्तियो के 'जीव' के समकक्ष था जिस प्रकार 'बुद्ध का धर्म-काय' परम ब्रह्म के समकक्ष है।

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सौत्रान्तिक योगाचार सम्प्रदाय मे क्षणिकवाद के सिद्धान्त की इस रूप मे तथा ऐसे तर्कों के आधार पर अन्तत स्थापना कर दी गई जिनकी यहाँ समीक्षा की गई है, किन्तु इस सम्प्रदाय ने भी एक अन्य स्तर, परमार्थ की दृष्टि से धर्मो के एकत्व को, जैसी कि बाद मे व्याख्य-की जायगी, वर्जित नही किया।

§ १६. कुछ योरोपीय समानान्तरतायें

अपने थियोडिसी की भूमिका मे लीब्निज यह कहते हैं कि प्रसिद्ध दुस्तरताओ मे से एक, जिसमे हमारा तर्क पथभ्रष्ट हो जाता है, सातत्य के एक और उन अविभाज्य विन्दुओ के जो उसके तत्त्व प्रतीत होते हैं, विवेचन में निहित

---

[1] सत्ता के धर्मो की प्रणाली की असङ्ग की पुनर्व्यवस्था के विषय पर तुकी ल' पूसां, ले ७५ एट ले १०० धर्माज, म्यूज्योन ६ २,१७८ और बाद। असङ्ग की प्रणाली सस्कृतो मे आलयविज्ञान को, और असस्कृत-धर्मों मे तथता को सम्मिलित करती है।

[2] तुकी० भाग २, पृ० ३२९ नोट।

[3] इस विषय के, तथा असङ्ग के विचारो के विकास के लिये तुकी० ई० ओबरमिलर का उत्तर-तन्त्र का अनुवाद।

है। सातत्ययुक्त होने के रूप मे द्रव्य की धारणा का सातत्यरहित तत्त्वो की एक विपरीत धारणा के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये उन्होने अपने उन 'मोनड्स' के सिद्धान्त का निर्माण किया जो स्थूल नही बल्कि गहन और गोचर इकाइयाँ है। लीब्निज के तथा बौद्धो के विचारो की कुछ समानताओ पर आगे टिप्पणी की जायगी।

हेराक्लीटस के विचारो के साथ कुछ साम्य का पहले ही सकेत किया जा चुका है। बौद्धो और आधुनिक दार्शनिको, जैसे एम० एच० बर्गसाँ, के बीच कुछ उल्लेखनीय साम्यो की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करने के भी हमे अनेक अवसर मिल चुके हैं। यहाँ विभेद के आधार पर बौद्ध दृष्टिकोण को और अच्छी तरह समझने के लिये इस विषय पर एक बार पुन विचार करना अनुचित नही होगा। वास्तव मे उस रूप मे पर्याप्त साम्य है जिसमे एक सामान्य प्रवाह की धारणा ने दोनो प्रणालियो मे स्वरूप ग्रहण किया है, किन्तु इस तथ्य की व्याख्या के सम्बन्ध मे विभेद भी है। इसकी स्थापना के लिये प्रयुक्त कुछ प्रमुख तर्कों मे प्राय सर्वथा साम्य है, किन्तु दोनो प्रणालियो के परम अभीष्ट मे मौलिक अन्तर भी है।

बर्गसाँ का परम उद्देश्य एक यथार्थ अवधि, और एक यथार्थ काल की स्थापना है क्योकि वह एक यथार्थवादी हैं। बौद्धो का परमार्थ सत्य हमारे काल, और हमारे दिक् की सीमा से बाहर है क्योकि ये अनुभवातीतवादी हैं।

सत्ता के एक सामान्य प्रवाह के तथ्य की स्थापना के तर्कों को दोनो पक्षो ने (१) स्वय सवेदना, (२) नित्य परिवर्तन के अर्थ के रूप मे सत्ता की धारणा के विश्लेपण, और (३) एक मिथ्या विचार के रूप मे अभाव या अनस्तित्व की धारणा के विश्लेपण से ग्रहण किये हैं।

बर्गसाँ पूछते हैं,[१] कि 'सत्तायुक्त' शब्द का ठीक ठीक अर्थ क्या है", और यह उत्तर देते है कि "हम बिना रुके ही परिवर्तित होते है, अवस्था स्वय परिवर्तन के अतिरिक्त और कुछ नही"[२], "परिवर्तन उससे कही अधिक मौलिक है जितना हम प्रथमत मानने के लिये प्रवृत्त हो सकते हैं,"[३] इन परिवर्तनो की स्थाई अन्तर्धारा, अह, मे कोई यथार्थ नही है[४], "एक दशा से

[१] क्रिएटिव इवोल्यूशन (लन्दन, १९२८), पृ० १।

[२] वही, पृ० २।

[३] वही, पृ० १।

[४] वही, पृ० ४।

दूसरी दशा मे चले जाने और एक ही दशा मे बने रहने मे कोई अनिवार्य अन्तर नही है।"[1]

इन शब्दो मे बर्गसां इस विषय पर एक वक्तव्य देते है कि (१) 'कोई अह नही है, अर्थात् मानसिक घटनाओ की कोई स्थाई अन्तर्धारा नही है, (२) सत्ता का अर्थ नित्य परिवर्तन है और जो परिवर्तित नही होता उसकी सत्ता भी नही होती, और (३) ये परिवर्तनशील अवस्था मे किसी स्थायी अन्तर्धारा द्वारा नही बल्कि केवल हेतु-व्यवस्था द्वारा ही, अर्थात अपनी सातत्यता और अन्योन्याश्रयता के नियम से ही सम्बद्ध होती हैं। बौद्ध दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तो के साथ साम्य इससे पूर्ण क्या हो सकता है। बौद्ध मत को (१) अनात्मवाद, (२) क्षणिकवाद, और (३) प्रतीत्यसमुत्पादवाद (अर्थात प्रवाहमान घटनाओ की स्थायी अन्तर्धारा के रूप मे सापेक्षकारणता की धारणा) कहते हैं।

बर्गसां[2] आगे कहते हैं कि वृद्ध होने का कारण भक्षक अण्ड (फैगोसाइट) नही हैं जैसा कि यथार्थवादी मानते हैं। इसके कारण को और गहन होना चाहिये। "वृद्ध होने मे उपयुक्त महत्त्व, समस्त सत्ताधारी वस्तुओ मे होने वाले अगोचर और अत्यन्त क्रमिक परिवर्तन का सातत्य है।"[3] हम देख चुके हैं कि बौद्ध भी अग्नि, ध्वनि, गति, अथवा विचार की प्रतीत होनेवाली अवधि का निर्माण करने वाले नित्य परिवर्तन पर ध्यान देने के पश्चात्, मानव-शरीर पर भी अपना ध्यान केन्द्रित करता है। मानवशरीर भी सतत परिवर्तन के अतिरिक्त और कुछ नही। वह यह निष्कर्ष निकालता है कि "जिस प्रकार मानव-शरीर है उसी प्रकार मणि भी है", सत्ता सतत परिवर्तन के अतिरिक्त और कुछ नही। यह एक साधारण नियम है कि जो कुछ परिवर्तित नही होता उसकी सत्ता भी नही होती, जैसे उदाहरण के लिये 'आकाश'। हमारा विचार गति को क्यो स्थिरता मे परिवर्तित कर देता है, इसका कारण बर्गसां के अनुसार यह तथ्य है कि "हम कर्मता की आवश्यकता से युक्त समस्त वस्तुओ के पहले पूर्वव्यस्त रहते है।" उस अवधि मे से, जो अपना "निर्माण अथवा विनाश करती है, किन्तु कभी कुछ निर्मित नही होती"[4] हम "उन क्षणो"[5] को

[1] वही, पृ० ३।
[2] वही, पृ० १९-२०।
[3] वही, पृ० १०।
[4] वही पृ० २८७।
[5] इसे मैंने इटालिक या टेढे अक्षरो मे लिखा है।

निकाल या नोट लेते हैं जिनमे हमारी रुचि होती है''[1] और हमारा विचार वस्तुओ पर हमारे कर्म का निर्माण कर देता है। हम देख चुके है कि, बौद्ध भी इसी प्रकार वस्तुओ पर अर्थ-क्रिया की तैयारी के रूप मे विचार की परिभाषा करते हैं, और सत्य या यथार्थ को एक ऐसी वस्तु या क्षणिकता मानते हैं जो इस कर्म का अनुभव करती है।

किन्तु इनमे भी अधिक उल्लेखनीय साम्य उन तर्कों मे उदित होता है जिनको अभाव और विनाश के विचारो के प्रविचय पर आधारित अपने सिद्धान्तो की स्थापना के लिये बौद्धो और बर्गसाँ ने प्रस्तुत किये हैं। अभाव या अनस्तित्व का विचार एक निषेधात्मक निश्चय के सार की समस्या के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। योरोपीय तर्कशास्त्र मे इस समस्या का सिग्वार्ट ने इस रूप मे समाधान किया है निषेध एक विशेष प्रकार की स्वीकृति है।[2] बिल्कुल यही बौद्धो का भी मत है, जैसा कि एक वाद के अध्याय मे दिखाया जायगा। बर्गसाँ अपने कुछ सर्वाधिक सुन्दर पृष्ठ[3] इस सिद्धान्त के विकास मे लगाते हैं। इस अवसर पर वे यह स्थापना करते है कि विनाश एक मिथ्या विचार है, यह कि हम 'किसी वाञ्छनीय वस्तु को उस समय अनुपस्थित कहते हैं जब हम (इसके बदले) एक अन्य यथार्थता को उपस्थित पाते हैं।''[4] आप यह स्थापना करते हैं कि विनाश किसी वस्तु मे 'अलग से संयुक्त' होने वाली कोई वस्तु नही है—ठीक उसी प्रकार जैसे उत्पादन शून्य के साथ अलग से संयुक्त होने वाला कुछ नही होता। बर्गसाँ यहाँ तक मानते है कि 'शून्य' या 'निर्वस्तु' 'कुछ वस्तु' से कम नही बल्कि कुछ अधिक से संयुक्त ही होती है।[5] क्या यह शान्तिरक्षित के इस कथन के समान नही है कि 'स्वय वस्तु को ही विनाश

[1] वही, पृ० २८८।

[2] तुली० क्रियेटिव इवोल्यूशन, पृ० ३०४, ३१२।

[3] वही, पृ० २८७–३१४

[4] वही, पृ० ३१२

[5] वही, पृ० २९१, और पृ० ३०२ "हमारी स्थापना चाहे कितनी भी विचित्र प्रतीत हो, किन्तु, 'सत्तारहित' के रूप मे कल्पित किसी वस्तु के विचार मे उसी वस्तु की 'सत्तायुक्त के रूप मे कल्पना के विचार से कुछ अधिक ही होता है।" बर्गसाँ, पृ० २९०, दार्शनिको पर इसलिये आक्षेप करते हैं कि उन लोगो ने 'शून्यत्व' या 'नही' के विचार पर बहुत कम ध्यान दिया है, किन्तु इससे किसी भी प्रकार भारतीय दार्शनिको का तात्पर्य नही है। कुछ हेगलवादियो का भी ऐसा विचार था कि 'कुछ नही' वस्तुत 'कुछ से अधिक' है। तुली० ट्रेण्डलेण्डबुग, लॉजिक इण्टर्सुख, १ ११३

कहते हैं' ?[१] बौद्ध और वर्गसाँ दोनो ही परिवर्तन, विनाश और गति की दैनिक धारण को निरर्थक कहकर अस्वीकृत कर देते हैं। परिवर्तन कोई आकस्मिक सकट नही है जो किसी स्थायीरूप से विद्यमान वस्तु मे सम्मिलित हो जाता है, न विनाश ही कोई ऐसी वस्तु है जो सत्ता का अतिक्रमण करती है, और न गति ही किसी वस्तु के साथ सयुक्त हो जाने वाली कुछ है। दोनो ही पद्धनियाँ किसी भी स्थायी द्रव्य या पदार्थ की सत्ता को अस्वीकार करती है। वस यही तक दोनो मे सहमति है। वर्गमाँ की सत्ता की गत्यात्मक धारण, उनका यह विचार कि सत्ता सतत परिवर्तन है, सतत गति, मात्र गति, सर्वथा गति, किसी भी चल पदार्थ से रहित गति[२]—यह विचार जो हमारे विचार-प्रणालियो के लिये ग्रहण करना इतना कठिन है—अपने पदार्थ-अस्वीकृति के निषेधात्मक पक्ष मे बौद्ध-धारण के सर्वथा समान है। हम देख चुके हैं कि भारतीय पक्ष मे तीन ऐसी भिन्न प्रणालियाँ हैं जो सतत परिवर्तन के सिद्धान्त को स्वीकार करती हैं . साख्य प्रणाली, जो यह मानती है कि प्रकृति स्वय नित्य है, योग प्रणाली, जो एक शाश्वत वस्तु और उसके गुणो या अवस्थाओ मे सतत परिवर्तन को मानती है, और बौद्ध प्रणाली जो किसी भी शाश्वत प्रकृति या पदार्थ की यथार्थता को अस्वीकार करके यथार्थता को पदार्थ की पृष्ठभूमि से रहित मात्र कर्मता या गति के रूप मे परिणत कर देती है।

किन्तु यही दोनो प्रणालियो के वीच मूल विभेद का आरम्भ होता है। बर्गसॉ हमारे बोधात्मक सयन्त्र की एक चलचित्रयन्त्र[३] के साथ तुलना करते हैं जो क्षणिक स्थिरचित्रो[४] के द्वारा एक गति का पुनर्निर्माण कर देता है। बौद्ध दृष्टिकोण भी सवथा यही है। आप डेकार्टे के इस मत को उद्धृत करते हैं कि सत्ता सतत नवीन सृष्टि है[५]। आप उन जैनो के पक्षाभास को भी उद्धृत करते हैं जो यह मानते थे कि "एक उडता हुआ बाण गतिरहित होता है क्योकि उसके पास गतिशील होने का समय नही होता, अर्थात दो क्रमिक स्थितियो को ग्रहण करने का तब तक समय नही होता, जब तक उसे कम से कम दो क्षणो का समय नही दिया जाता।"[६] क्या यह सर्वथा वसुबन्धु के

---

[१] तुकी० ऊपर पृ० ११२।

[२] तुकी० विशेष रूप से 'ल पर्सेप्शन डु चेन्जमेण्ट' पर इनके भाषण।

[३] वही, पृ० ३२२, और बाद।

[४] वही, पृ० ३२२, ३५८।

[५] वही, पृ० २४ , तुकी ऊपर पृ० १२८, नोट ५ ।

[६] वही, ३२५।

इस कथन के समान नही है कि कोई गति नही होती, क्योंकि (दूसरे क्षण मे) वह वस्तु विद्यमान नही रहती?[1] अथवा शान्तिरक्षित के इस कथन के समान नही है कि दूसरे क्षण उसका लेश मात्र भी अंश नही रह जाता जो प्रथम क्षण मे रहा होता है?[2] किन्तु बर्गसा के अनुसार यह क्षणिकता हमारे विचार या कल्पना का एक कृत्रिम निर्माण है। आप का यह विचार है कि 'अवस्थाओ से परिवर्तन का पुनर्निर्माण' करने का प्रत्येक प्रयास निरर्थक है, क्योंकि यह परिकल्पना कि 'स्थिरता मे गति का निर्माण होता है' निरर्थक है।[3] फिर भी, हम देख चुके है कि जब बौद्धो को स्थिरता मे गति के निर्माण की व्याख्या करने की चुनौती दी गई तब उन लोगो ने गणित ज्योतिष का निर्देश किया जो असख्य स्थिरताओ से गति के सातत्य का निर्माण करता है।[4] हमारा बोधात्मक सयत्र न केवल एक चलचित्र यत्र है, बल्कि वह एक स्वाभाविक गणितज्ञ भी है। वास्तव मे, इन्द्रियाँ, यदि सातत्य को स्वीकार कर लिया जाय तो भी, क्षणिक विज्ञानो को निकाल या तोड सकती हैं, और फिर इनके सातत्य का पुनर्निर्माण करना हमारी बुद्धि का कार्य है। बर्गसाँ का विचार है कि यदि एक बाण 'क' बिन्दु को 'ख' पर गिरने के लिये छोडता है तो उसकी 'क-ख' गति सरल और अविघटनात्मक है। कोई एक गति इनके लिये, "रुकने के दो स्थानो के बीच की एक सर्वथा गति है।" किन्तु बौद्धो के लिए हमारी कल्पना के अतिरिक्त कोई भी रुकने का स्थान या स्थिरता नही हैं, सामान्य गति कभी नही रुकती, साधारण जीवन मे जिसे रुकना कहते हैं वह परिवर्तन के एक क्षण के तथाकथित् 'असमान क्षण की उत्पत्ति'[5] के अतिरिक्त और कुछ नही। सक्षेप मे, बौद्धो के लिए अवधि एक काल्पनिक रचना है, और केवल क्षणिक विज्ञान ही यथार्थ हैं, जब कि इसके विपरीत बर्गसाँ के लिए अवधि ही यथार्थ है, क्षण इसमे कृत्रिम खण्ड हैं।[7]

---

[1] अभिको० ४ १।

[2] तस० पृ० १७३ २७, तुकी तमप० पृ० १८३ १२।

[3] उपु० पृ० ३२५

[4] तुकी ऊपर पृ० १२६।

[5] उपु० पृ० ३२६

[6] 'विजातीय-क्षण-उत्पाद'।

[7] इस विषय से सम्बद्ध तुलना को पूर्ण करने के लिये हमे कलाकार की बर्गसाँवादी प्रज्ञा की एक सन्यासी के ग्राह्य, अविज्ञानात्मक, योगि-प्रत्यक्ष के साथ विवेचना करनी चाहिये थी, किन्तु यह एक इतना विस्तृत विषय है कि पृथक् विवेचना की अपेक्षा रखता है।

अध्याय २

कारणतावाद

(प्रतीत्य-समुत्पाद)

§ १. क्रियात्मक सापेक्षता के रूप मे कारणतावाद

कमलशील[१] का कथन है कि "वौद्धदर्शन के रत्नो मे इसका प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त प्रधान रत्न है।" इसे 'प्रतीत्य समुत्पाद' अथवा अधिक उपयुक्तत 'सम्मिलित प्रतीत्य समुत्पाद' नाम दिया गया है। इस शब्द का अर्थ यह है कि यथार्थ का प्रत्येक क्षण उत्पत्ति के लिये उन क्षणो की समवद्धता पर आश्रित होता है जिसका वह अनिवार्यत अनुगमन करता है, यह उन हेतुओ और प्रत्ययो की समग्रता की क्रियात्मक निर्भरता से उत्पन्न होता है जो इसके तात्कालिक पूर्ववर्ती होते हैं। गत अध्याय मे क्षणिकवाद के सिद्धान्त को वह आधार कहा गया था जिसपर सम्पूर्ण वौद्ध प्रणाली का निर्माण हुआ है। प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त इसीका एक दूसरा पक्ष है। परमार्थ सत् के रूप मे यथार्थता प्रापकता के क्षण मे परिणत हो जाती है, और ये क्षण उन अन्य क्षणो की क्रियात्मक निभरता से उत्पन्न होते हैं जो इनके कारण होते हैं। ये वही तक उत्पन्न होते या विद्यमान होते हैं जहाँ तक ये प्रापक होते हैं, अर्थात् वही तक जहाँ तक ये हेतु या कारण होते हैं। जिसकी भी सत्ता है वह एक हेतु है, हेतु और सत्ता पर्याय हैं।[२] एक प्राचीन ग्रन्थ इस विषय पर अपने को इन प्रसिद्ध शब्दो मे व्यक्त करता है 'समस्त सस्कार क्षणिक होते हैं। (किन्तु) किसी वस्तु को, जो(सर्वथा)अस्थिर या अवधि से रहित है किस प्रकार कुछ उत्पन्न करने या क्रिया करने का (समय रहता है)? (ऐसा इसलिये होता है कि जो) सत्ता (है वह) क्रिया या प्रापकता के अतिरिक्त और कुछ नही, और इसी क्रिया या प्रापकता को कारक कहते हैं।"[३] जिस प्रकार यथार्थ सत्ता केवल एक क्षण मात्र है, उसी प्रकार यथार्थ हेतु या कारण केवल यही

---

[१] तसप० पृ० १०१९।

[२] 'या भूति सैव क्रिया', एक बहुधा उद्धृत सूत्र है।

[३] तसप पृ० ११५, जहाँ इस स्थल को स्वय भगवान वुद्ध का वचन कहा गया है।

क्षण मात्र होता है। दूसरे शब्दो मे, सत्ता गत्यात्मक है, स्थिर नहीं, और यह अन्योन्याश्रय क्षणों की, अर्थात ऐसे क्षणो की आनुपूर्व्यता मे निर्मित होती है जो हेतु होते हैं।

इस प्रकार, कारणतावाद का बौद्ध-सिद्धान्त सामान्य क्षणिकवाद के सिद्धान्त का एक प्रत्यक्ष परिणाम है। कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु द्वारा, अथवा व्यक्तिगत इच्छाशक्ति द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती क्योंकि अन्य वस्तुयें अथवा व्यक्ति क्षणिक सत्तायें होती हैं। उनके पास कुछ उत्पन्न करने का समय नहीं होता। उन्हे अवधि के दो क्षण भी नहीं मिल पाते। जिस प्रकार कोई यथार्थ गति नहीं होती क्योंकि कोई अवधि नहीं होती, उसी प्रकार कोई यथार्थ उत्पादन नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार के उत्पादन के लिये समय की आवश्यकता होती है। गति के यथार्थवादी विचार का, जैसा कि संकेत किया जा चुका है, तात्पर्य "विरुद्ध-धर्मी विधेयों का सम्बन्ध है, जैसे, उदाहरण के लिये, एक ही और उसी स्थान पर एक ही और उसी वस्तु की उपस्थिति और अनुपस्थिति।"[1] इसी प्रकार हेतुत्व के यथार्थवादी विचार से भी ऐसी दो वस्तुओं की एककालिक सत्ता अभिप्रेत है जिनमे से एक दूसरे को उत्पन्न करने मे क्रियाशील अथवा कारक होती है। हेतु और फल का, कम से कम कुछ समय के लिये एककालिक अस्तित्व आवश्यक है जिससे एक की दूसरे पर क्रिया हो सके। यथार्थवादी के अनुसार कुम्हार और घट का एककालिक अस्तित्व होता है। किन्तु बौद्धो के लिये कुम्हार क्षणों की एक शृङ्खला मात्र है। इनमे से एक के ठीक बाद उस शृङ्खला का प्रथम क्षण आता है जिसे घट कहते हैं। प्रापञ्चिक ससार की गति निर्वैयक्तिक होती है। कोई ऐसा स्थाई 'अह' नही होता जो क्रियाशील हो। अत फल की उत्पत्ति के बाद हेतु का अस्तित्व नही रह सकता। फल हेतु का अनुगमन करता है किन्तु यह उसके द्वारा उत्पन्न नही किया जाता। दूसरे शब्दो मे, यह शून्य से प्रकट होता है,[2] क्योंकि हेतु और फल की एककालिक सत्ता असम्भव है।

बौद्धो मे वैभाषिक[3] तब एककालिक हेतुत्व की सम्भावना को स्वीकार करते हैं जब दो अथवा अधिक सहसत्ता-युक्त वस्तुये परस्पर एक दूसरे की हेतु, अर्थात एक दूसरे पर आश्रित, होती हैं। किन्तु यह प्रत्यक्षत निम्नलिखित

---

[1] क्रिटी० आफ टाइम, §५ (द्वि० सस्करण), तुकी उपर पृ० १०१।

[2] 'अभूत्वा भवति'।

[3] तसप० पृ० १७५ २४। 'सहभू-हेतु' और 'सप्रयुक्त-हेतु' होते हैं, तुकी० सेक० प० ३० और १०६।

उभयत पाश के कारण उत्पन्न एक मिथ्याग्रहण है।[१] क्या सहसत्ता-युक्त वस्तुओ मे से एक वस्तु उस समय तक दूसरी को उत्पन्न कर सकती है जब तक वह स्वय भी उससे पहले की या उससे पहले उत्पन्न न हो ? स्पष्टत वह पहले स्वय उत्पन्न हुये बिना इसे उत्पन्न नही कर सकती। किन्तु यदि वह स्वय उत्पन्न है, तो दूसरी वस्तु भी, जो एककालिक है, उत्पन्न है, इसे द्वितीय उत्पत्ति की आवश्यकता नही है। प्रापक हेतुत्व असम्भव हो जाता है। एक-कालिक हेतुत्व केवल उसी समय सम्भव है जब हेतु और फल दोनो स्थिर हो और उनके हेतुत्व की एक मानवत्वारोपी आधार पर सचालित होते रहने की कल्पना की जाय,[२] उदाहरण के लिये घट की कुम्हार के साथ एककालिक सत्ता हो सकती है। किन्तु हेतु फल को किसी सदश से नही पकडता,[३] और उसे बाहर खीच कर अस्तित्व मे नही लाता। और न तो फल अपने हेतु द्वारा गहन आलिङ्गन से उत्पन्न होता है, जैसे एक वनिता अपने प्रिय के गहन आलिङ्गन मे आश्रय लेती है।[४] न तो हेतु और न फल ही वास्तव मे कोई कार्य करते हैं, ये 'शक्तिहीन और निर्व्यापर' होते हैं[५]। यदि हम यह कहते हैं कि कोई हेतु किसी वस्तु को 'उत्पन्न' करता है, तो यह केवल एक साकेतिक[६] अभिव्यक्ति, एक उपलक्षण[७] मात्र है। हमे यह कहना चाहिये था "फल अमुक वस्तु पर क्रियात्मक आश्रित्य से उत्पन्न होता है।"[८] यत फल हेतु की सत्ता के तत्काल बाद उत्पन्न होता है, अत दोनो के बीच ऐसा कोई अनन्तरत्व नही होता जिसमे कोई 'कार्य' किया जा सके। हेतु का कोई व्यापार नही होता, इस प्रकार का व्यापार कुछ भी उत्पन्न नही करता।[९] हेतु की सत्ता मात्र ही उसका व्यापार है।[१०] अत यदि हम पूछें कि वह क्या है जिसे हम फल को उत्पन्न करनेवाला किसी हेतु का व्यापार कहते हैं, और वह क्या है जिसे हम

---

[१] वही, पृ० १७६ १।

[२] वही, पृ० १७६.६

[३] वही, पृ० १७६ १२

[४] वही, पृ० १७६ १३

[५] 'निर्व्यापारम् एव', वही।

[६] सकेत।

[७] उपलक्षणम्।

[८] 'तत् तद् आश्रित्य उत्पद्यते', वही, पृ० १७६ २४।

[९] 'अकिंचित्-कर एव व्यापार', वही पृ० १७७ ३।

फल का उनके हेतु पर 'आश्रित्य' कहते हैं, तो इसका उत्तर यह होगा हम इस तथ्य को किसी फल को उसके हेतु पर आश्रित्य कहते हैं कि वह फल सदैव उस हेतु की सत्ता का तत्काल अनुगमन करता है, और इस तथ्य को हेतु का व्यापार कहते हैं कि हेतु सदैव अपने फल के तत्काल पूर्व आता है।[1] किसी भी विलक्षण-व्यापार से रहित वस्तु मात्र ही हेतु होती है।[2]

§ २. प्रतीत्य-समुत्पाद के सूत्र

'प्रतीत्य-समुत्पाद' शब्द के अर्थ का उद्घाटन करनेवाले तीन सूत्र हैं। प्रथम इन शब्दों मे व्यक्त है 'यह होने पर यह होता है।'[3] द्वितीय यह कहता है 'कोई भी यथार्थ उत्पन्नत्व नही है, केवल प्रतीत्य समुत्पन्नत्व होता है'।[4] तृतीय यह कहता है 'समस्त धर्म निर्व्यापार होते हैं'।[5] प्रथम तथा अपेक्षाकृत अधिक सामान्य सूत्र का यह अर्थ है कि अमुक भाव के होने पर अमुक भावित्व होता है, अमुक विकार के होने पर अमुक विकारित्व होता है।[6] इन सूत्रो के पूर्ण अर्थ तथा अभिप्राय का उस समय उद्घाटन होता है जब हम यह विचार करते हैं कि इनका प्रयोजन उन सिद्धान्तो का प्रतिवाद तथा स्थानान्तरण करना था जिनका उस समय भारत मे प्रचलन था और जिनके विरुद्ध बौद्ध मत सघर्ष करने के लिये बाध्य था। उस समय साख्य, यथार्थवादी (वैशेषिको) और भौतिकवादी सम्प्रदायो के सिद्धान्त विद्यमान थे। साख्य सम्प्रदाय के अनुसार, जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, वास्तव मे कोई यथार्थ हेतुत्व होता ही नही—नवीन उत्पत्ति के आशय मे अथवा आरम्भत्व[7] के रूप मे कोई हेतुत्व नहीं होता। फल उसी वस्तु की एक नवीन अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। तथाकथित उत्पत्ति कोई उत्पत्ति नही होती, क्योकि फल मे तादात्म्य होता है, अर्थात् अपने हेतुओ के साथ सत्तात्मक तादात्म्य। यह स्वय अपने स्वत्व से ही उत्पन्न होता है।[8]

---

[1] तसप० पृ० १७७ ११।

[2] वही पृ० १७७ २३ 'वस्तु-मात्रम् विलक्षण-व्यापार-रहितम् हेतु', वही।

[3] 'अस्मिन् सति इदम् भवति', तुकी० सेक० पृ० २८ और बाद।

[4] 'प्रतीत्य तत् समुत्पन्नम् नोत्पन्नम् तत् स्वभावत'।

[5] 'निर्व्यापार (अकिंचित्-करा) सर्वे धर्मा',।

[6] 'तद्-भाव-भावित्व, तद्-विकार-विकारित्व'।

[7] आरम्भ।

[8] स्वत उत्पाद।

दूसरी ओर, यथार्थवादी, प्रत्येक वस्तु को एक पृथक् अवयवी मानते हैं, एक ऐसा अवयवी जो उन अवयवो का एक अतिरिक्त एकत्व होता है जिनसे वह निर्मित होता है। जब हेतुत्व-व्यापार होता है तब यह अवयवी एक अतिशय आधार प्राप्त करता है, एक नवीन अवयवी उत्पन्न होता है। दोनो अवयवीयो के बीच एक सयोजक, 'समवाय' अर्थात् एक ऐसा सम्बन्ध होता है जो, पुन, एक पृथक एकत्व होता है। इसलिये हेतुत्व का प्रत्येक उदाहरण स्वय अपने स्वत्व से उत्पन्न हेतुत्व नही, बल्कि परत उत्पन्न होता है।[1] एक तृतीय सिद्धान्त अधीत्य समुत्पाद[2] के सिद्धान्त को मानता और हेतुत्व के समस्त नियमो को अस्वीकार करता था। इन तीनो सिद्धान्तो के प्रति बौद्धो का उत्तर इस प्रकार है "न स्वत, न परत, और न अहेतुत ही वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, वह तो वास्तव मे प्रतीत्यसमुत्पन्न होती हैं"।[3] किसी एक नित्य वस्तु के सृष्टि-कार्य मे परिवर्तित होते रहने के आशय मे कोई हेतुत्व नही होता क्योंकि ऐसी कोई वस्तु होती ही नही, ऐसी वस्तु एक कल्पितार्थ है। किसी द्रव्य के सहसा दूसरे रूप मे परिवर्तित हो जाने के आशय मे भी कोई हेतुत्व नहीं होता। और न कोई यादृच्छिक उत्पत्ति ही होती है। प्रत्येक उत्पादन विशुद्ध हेतुत्व-नियमो का अनुसरण करता है। यह किसी नित्य वस्तु का, किसी उपस्थित वस्तु का कोई रूप नही होता, यह शक्ति का एक क्षणिक प्रतिभास मात्र होता है, किन्तु विशुद्ध हेतुत्व-नियमो के अनुसार ही प्रगट होता है।

यह स्पष्ट है कि हेतुत्व का यह सिद्धान्त अनात्मवाद का एक साक्षात् परिणाम है, एक ऐसे सिद्धान्त का, जो किसी भी अवधि को, किसी भी विस्तार को परमार्थ सत् के रूप मे स्वीकार न करके क्षणिक धर्मों के एक सुसहत और सतत् प्रवाह को स्वीकार करता है जिसके अन्तर्गत ये धर्म यादृच्छिक रूप से नही बल्कि हेतुत्व के नियम के अनुसार ही प्रगट होते हैं।[4]

---

[1] परत उत्पाद।

[2] यदृच्छा-वाद।

[3] 'न स्वतो, न परतो, नाप्य अहेतुत, प्रतीत्य तत् समुत्पन्नम्, नोत्पन्नम् तत् स्वभावत।'

[4] एक मध्यकालीन लेखक हेतुत्व के चार प्रमुख सिद्धान्तो को इस प्रकार सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत करता है (सर्वज्ञात्ममुनि, अपने सक्षेपशारीरक, १ ४ मे) —

आरम्भ-वाद कणभक्ष-पक्ष।
सघात-वादस् तु भदन्त-पक्ष।

एक मनो-भौतिक समानान्तरवाद की समस्या का, जिसने सांख्य-प्रणाली को केवल दो मूल तत्त्वो—एक चेतना से रहित किन्तु समस्त मानसिक घटनाओ से युक्त प्रकृति, तथा एक विशुद्ध पुरुष जो प्रकृति से पृथक् है—की स्थापना की ओर उन्मुख किया, बौद्धो ने अत्यन्त सरलता से समाधान कर दिया। चेतना अमुक-अमुक तथ्यो का कार्य है। यदि एक क्षण का ध्यान, रङ्ग का एक पट, और दृष्येन्द्रिय हो तो दृष्य सवेदना[1] उत्पन्न होगी। यह अन्योन्याश्रयत्व स्पष्ट है क्योकि यदि हेतुओ मे से किसी एक मे कोई परिवर्तन होता है तो फल मे भी परिवर्तन हो जायगा। यदि चक्षु प्रभावित या नष्ट हो जाय तो दृष्य-सवेदना परिवर्वित या समाप्त हो जायगी।

भारत, तथा साथ ही साथ, योरप मे बहुचर्चित इस समस्या का कि क्या अन्धकार से प्रकाश उत्पन्न हो सकता है, क्या दिन गत रात्रि का प्रभाव है, बौद्धो के प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त द्वारा अत्यन्त स्वाभाविक समाधान हो जाता है रात्रि कही जानेवाली शृ खला के अन्तिम क्षण का दिन कही जाने वाली शृखला का प्रथम क्षण अनुमान करता है। प्रत्येक क्षण अपने पूर्ववर्तियो के सघात का उत्पाद होता है वह सदैव गत क्षण से भिन्न होता है, किन्तु अनुभवात्मक दृष्टिकोण से वह या तो समान अथवा असमान हो सकता है। अकुर के क्षण बीज के क्षणो से भिन्न होते है। अनुभव यह दिखाता है कि असमान प्रतीत्य समुत्पन्नत्व भी उसी प्रकार सम्भव है जैसे समान[2]। यह स्वय हमारे अज्ञान[3] का परिणाम है कि हमे 'समान' क्षणो[4] की विलक्षणता का बोध नही हो पाता और हम यह मान लेते हैं कि ये पदार्थ तथा अवधि को व्यक्त करते हैं।[5]

साख्यादि-पक्ष परिणाम-वादो।
विवर्त-वादस् तु वेदान्त-पक्ष ।

[1] चक्षु प्रतीत्य रूपम् च चक्षुर्-विज्ञानम् उत्पद्यते।'

[2] 'विजातीयाद् अप्य् उत्पत्ति दर्शनात्', टिप्प० पृ० ३० १८।

[3] 'अज्ञादिवद्-अर्वग्-दृश', न्याकणि० पृ० १३३५।

[4] सदृश-परापर-उत्पत्ति-विलब्ध-बुद्धय (न लब्ध-बुद्धय), वही।

[5] 'सजातीय-आरम्भवाद' की रक्षा के लिये वैशेषिको और साख्यो ने, तथा आयुर्वेदिक सम्प्रदायो ने योगरसायनो मे नवीन गुणो के निर्माण की व्याख्या करने के लिये अत्यन्त जटिल और सूक्ष्म सिद्धान्तो का निर्माण किया है। इसका एक अत्यन्त सुन्दर और स्पष्ट विवरण बी० एन० सील (उपु०) ने दिया है।

इस प्रकार, इस बात पर सन्देह नही किया जा सकता कि बौद्ध मत मे हमे क्रियात्मक अन्योन्याश्रयत्व के आशय मे एक अत्यन्त स्पष्ट रूप से व्यक्त प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त मिलता है।

§ ३. प्रतीत्य समुत्पाद और यथार्थ दोनो समान है

इस प्रकार, बौद्धो के अनुसार यथार्थता गत्यात्मक होती है और कोई भी स्थिर वस्तु नही होती। "जिसे हम सत्ता कहते हैं उसके सम्बन्ध मे ये लोग यह कहते नही थकते कि वह सदैव व्यापृत होती रहती है।"[१] शान्तिरक्षित कहते हैं कि 'सत्ता कार्य है'। कर्म या कार्य तथा यथार्थ परस्पर विकार्य शब्द हैं। "प्रतीत्यसमुत्पाद चल होता है"[२]। यह मानना एक मानवत्वारोपी भ्रान्ति है कि किसी वस्तु की केवल सत्ता हो सकती है, यह सत्ता स्थित होती है, अर्थात् बिना व्यापार के विद्यमान होती है, तथा दूसरे शब्दो मे, सहसा उठकर कोई व्यापार उत्पन्न कर देती है। जिसकी भी सत्ता है वह सदैव व्यापृत होती रहती है।

यह निष्कर्ष कि जिसकी भी सत्ता है वह हेतु होती है, बौद्धो की उपरोद्धृत सत्ता की परिभाषा द्वारा प्रतिपादित होती है। सत्ता, यथार्थ सत्ता, अर्थ-क्रियाकारित्व[३] के अतिरिक्त और कुछ नही। इस प्रकार जो कुछ भी अर्थक्रिया-कारित्व ये युक्त नही है, अथवा जो अहेतु है, उसकी सत्ता नही होती। उद्योतकर[४] बौद्धो को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि "अहेतु द्विविध होता है, तुम्हारे लिये यह या तो कुछ सत्ता-रहित अथवा कुछ परिवर्तन-रहित है।" कमलशील[५] उद्योतकर के इस वक्तव्य को शुद्ध करते हुये उन पर यह आक्षेप करते हैं कि वह अपने विपक्षियो के सिद्धान्तो को भली भाँति नही जानते, "क्योकि, वह (कमलशील) यह कहते हैं कि वे बौद्ध, जो न्याय[६] के विद्यार्थी हैं, यह मानते हैं कि अहेतु अनिवार्यत एक अयथार्थता है।"[७] इसका तात्पर्य यह है कि यथार्थ या सत्य होने का अर्थ हेतु होने के अतिरिक्त और

---

[१] 'सत्तैव व्यापृति', तस० पृ० १७७ २।

[२] 'चल प्रतीत्य-समुत्पाद', वही, पृ० १।

[३] 'अर्थक्रिया-कारित्वम्' = 'परमार्थ-सत्', न्याबिटी० १.१४–१५।

[४] न्यावा० पृ० ४१६।

[५] तसप० पृ० १४० ७।

[६] 'न्याय-वादिनो-बौद्धा', वही।

[७] 'अकारणम् असत् एव', वही।

कुछ नही। जिसका भी अस्तित्व है वह अनिवार्यत एक हेतु है। यथार्थवादियो और बौद्धो के बीच का यह विवाद आकाश की यथार्थता की समस्या से सम्बद्ध है, चाहे वह शून्य आकाश हो अथवा ईथर से भरा। आरम्भिक बौद्ध, वह जो न्याय के विद्यार्थी नही थे, शून्य आकाश मानते थे[1], जो, फिर भी, इन लोगो के लिये एक विषयगत यथार्थ, एक धम, अपरिवर्तनशील और नित्य यथार्थ, और उनके अपरिवर्तनशील तथा नित्य निर्वाण के बहुत कुछ समान था। यथार्थवादियो ने इस आकाश को एक नित्य, क्रियारहित और मेद्य-द्रव्य, ब्रह्माण्डीय ईथर, से भर दिया।[2] बाद के बौद्धो ने, जिन्होने न्याय का अध्ययन किया, इस प्रकार की अपरिवर्तनशील और शाश्वत वस्तु की यथार्थता को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि जो कभी परिवर्तित नही होता, और कोई क्रिया नही करता, उसकी सत्ता नही है, सत्ता परिवर्तन है।

इस उदाहरण मे, जैसे कि अनेक अन्य मे दर्शन का इतिहासकार, मुझे विश्वास है कि, इस बात को उल्लेखनीय मानेगा कि बौद्धो ने तर्कों की एक ऐसी शृङ्खला का अनुसरण किया है जो बहुत कुछ आधुनिक भौतिकशास्त्र के समान है।

§ ४. दो प्रकार के हेतुत्व

फिर भी, दो भिन्न प्रकार के यथार्थ होते हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। एक परमार्थ और विशुद्ध अर्थात् क्षण का यथार्थ होता है। दूसरा इस क्षण से सयुक्त यथार्थ होता है, जो हमारे विकल्प द्वारा कृत्रिम रूप मे निर्मित आकार मे मिश्रित होता है। यह आनुभविक पदार्थ का यथार्थ होता है। फलस्वरूप, दो प्रकार के हेतुत्व भी होते हैं—एक परमार्थ और दूसरा आनुभविक। एक क्षण का अर्थक्रियाकारित्व है, और दूसरा क्षण से सयुक्त आनुभविक पदार्थ का अर्थक्रियाकारित्व। और जैसा कि हम सकेत कर चुके हैं, इन दो विरोधी प्रतीत होनेवाली उक्तियो, कि 'यथार्थ गत्यात्मक होता है' और यह कि 'गति असम्भव है', की ही भाँति हमे इन दो उक्तियो के बीच भी विरोधत्व मिलता है कि 'यथार्थ का प्रत्येक विन्दु प्रापक होता है', और यह कि 'प्रापकता असम्भव है'। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वास्तव मे यथार्थ के समस्त धर्म निर्व्यापार होते हैं क्योंकि क्षणिक होने के कारण उनके पास कुछ भी करने का समय नही होता। विरोधत्व का समाधान इस तथ्य

---

[1] अभिको० १ ५।

[2] 'आकाशो नित्यश् च अक्रियश् च'।

"कोई भी एक एक से उत्पन्न नही होता,
और न एक से अनेक उत्पन्न होते है।"
अथवा कुछ थोडे से परिवर्तन के साथ इस सूत्र मे,
"कोई भी एक एक से उत्पन्न नही होता,
सभी वस्तुयें समग्रता से उत्पन्न होती है।"[1]

यह समग्रता हेतुओ और अवस्थाओ से निर्मित होती है, और प्राय प्रत्येक बौद्ध सम्प्रदाय मे इनके भिन्न वर्गीकरण के प्रयास किये गये हैं।

यथार्थवादियो के लिये हेतुत्व दो स्थिर वस्तुओ के अनुक्रम मे निहित होता है। इस आशय मे इनके लिये हेतुत्व एक-का-एक-के-साथ सम्बन्ध है, एक एकत्व दूसरे को उत्पन्न करता है। बौद्ध यह आपत्ति करते हैं कि, जैसा कि अनुभव व्यक्त करता है, कोई यथार्थ एकत्व कभी दूसरे एकत्व को उत्पन्न नही कर सकता। उदाहरण के लिये, एक मात्र परमाणु अपने बाद के क्षण को उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ भी उत्पन्न करने की क्षमता नही रखता। किसी 'शक्यता' को उत्पन्न करने के लिये अनेक इकाइयो की आवश्यकता होती है। यथार्थवादी इस बात को अस्वीकार नही करता कि बीज एक पदार्थ-मात्र, अर्थात् एक समवायि-कारण है। कुछ कारक अथवा प्रापक हेतु भी होते हैं जिनका वास्तव मे फल को उत्पन्न करने के लिये उपकार[2] आवश्यक होता है। बौद्ध यह उत्तर देते हैं कि यदि कोई हेतु या कारण अकिंचितकर अथवा अनुपकारी[3] हो तो उसकी उपेक्षा की जा सकती है। अन्य हेतु जो मात्र प्रापक हैं, तब फल मात्र को उत्पन्न करने की क्षमता से युक्त होगे[4]। इस प्रकार, आर्द्रता, ताप, मिट्टी, इत्यादि बिना बीज के भी अंकुर उत्पन्न करेंगे क्योकि बीज कुछ नही कर रहा हैं।

बौद्धो का पक्ष यह है कि यथार्थवादियो की हेतुत्व की सम्पूर्ण धारणा ही मानवत्वारोपी है। जिस प्रकार एक कुम्हार मिट्टी का एक लोदा लेकर उसे घट के रूप मे रूपान्तरित कर देता है, ठीक उसी प्रकार अकुर के हेतु भी कार्य कर रहे हैं। प्रापकता के लिये वे परस्पर सहायता[5] करते हैं। पुन इस

---

[1] न किंचिद् एकम् एकस्मात्, नाप्य एकस्माद् अनेकम्' अथवा 'न किंचिद् एकम् एकस्मा समग्रचा सर्व-सम्पत्ते'। सर्वत्र।

[2] उपकार=किंचित्-करत्व।

[3] अकिंचित्-कर = अनुपकारिन्।

[4] सदस० पृ० २३।

[5] परस्पर-उपकारिन्।

सहायता की भी मानवत्वारोपी आधार पर कल्पना की गई है। जिस प्रकार कोई बड़ा भार जब अनेक व्यक्तियों के प्रयास से भी नही उठता तब और सहायता लेकर उसे हटाया जाता है, ठीक उसी प्रकार उपचारी कारणो की भी स्थिति होती है—जब इन्हे पर्याप्त सहायता दी जाती है तब ये फल उत्पन्न करते हैं।[१] समवायिकारण इन्हे अपने मे ग्रहण कर लेता है।[२] निमित्त कारण अपना समवायि कारण के मध्य मे समावेश कराते हैं, इस बादवाले कारण को ध्वस्त या विनष्ट कर देते हैं, और तब अवशिष्ट पदार्थ मे नूतन वस्तु का उसी प्रकार सृजन[3] करते है जिस प्रकार राजगीर पुराने घर को गिरा कर पुरानी ईंटो से ही नूतन घर निर्माण करता है।

बौद्धो के अनुसार एक वस्तु का कोई विनाश नही होता, और किसी दूसरी वस्तु का सृजन नही होता, एक वस्तु का दूसरे मे कोई अन्त प्रवेश नही होता, हेतुओ या कारणो मे कोई मानवत्वारोपी परस्पर सहकारिता नही होती। सदैव एक सतत, निर्बाध, और अत्यन्त क्रमिक परिवर्तन होता रहता है। वास्तव मे किसी फल की मानवीय सहकारिता से उत्पन्न किसी वस्तु के साथ तुलना की जा सकती है। तब बौद्ध इसे मानवत्वारोपी फल कहते हैं।[४] किन्तु प्रत्येक प्रतीत्य समुत्पाद की मानवीय सहकारिता के समान एक प्रक्रिया के रूप मे व्याख्या करने की अपेक्षा बौद्ध इस मानवीय सहकारिता तक को भी एक प्रकार की निर्वैयक्तिक प्रक्रिया मानते हैं। समस्त सहकारी हेतु या कारण प्रापक क्षणो की अभिसारी धारायें होते हैं। इन्हे उपसर्पण-प्रत्यय[५] कहते हैं क्योकि इनकी गति क्षिप्रस्पष्ट गति होती है। इनके मिलनबिन्दु[६] पर एक नवीन शृङ्खला आरम्भ होती है। समवायि, स्थिर अथवा उपादान कारणो का कोई अस्तित्व नही होता। हेतु, प्रापकता या क्षण एक ही वस्तु के भिन्न नामो के अतिरिक्त और कुछ नही। जब क्षणो, मिट्टी, आर्द्रता, उष्णता और बीज की शृङ्खलायें मिलती या एकीभूत होती हैं तब उनके अन्तिम क्षणो का, अकुर का प्रथम क्षण अनुगमन करता हैं। इस प्रकार बौद्ध हेतुत्व अनेक-एक का सम्बन्ध है। इसे एक-कार्य-कारित्व[७] के सिद्धान्त का नाम दिया गया है और

[१] अभिको० २ ५६

[२] सहकारि-समवधान।

[3] आरभ्यते किंचिद् नूतनम्।

[४] पुरुष-कार-फलम् = पुरुषेण इव कृतम्।

[५] तुकी० न्याकणि० पृ० १३५।

[६] सहकारि-मेलन।

[७] 'एक-कार्य-कारित्व' अथवा 'एक-क्रिया-कारित्व'।

इसका यथार्थवादियो के 'परस्पर-उपकारित्व'[1] के सिद्धान्त के साथ विभेद किया गया है ।

धर्मोत्तर[2] का यह कथन है "सहकार द्विविध प्रकार का हो सकता है । यह या तो (यथार्थ) 'एक-कार्य-कारित्व' होता है, अथवा यह एक फल की उत्पत्ति (बिना यथार्थ एक-कार्य-कारित्व के) होता है। (बौद्धमत के अन्तर्गत) यत समस्त वस्तुयें केवल क्षण होती हैं, अत वस्तुओ मे कोई अतिरिक्त विकास नही हो सकता । इसलिये सहकार को उस एक (क्षणिक) फल के रूप मे समझना चाहिये जो एक साथ अनेक क्षणो से उत्पन्न होता है (अथवा उसका अनुगमन करता है) ।" तात्पर्य यह कि, सहकार को, जो प्रतीत्य समुत्पाद की प्रत्येक क्रिया के लिये अनिवार्य है, अनेक-एक सम्बन्ध समझना चाहिये ।

§ ६ हेतुओ की अनन्तता

यदि हेतुत्व अनेक-एक सम्बन्ध है तब प्रश्न यह उठता है कि ये 'अनेक' गणनीय हैं या नही, क्या किसी घटना की समस्त अवस्थाओ और हेतुओ को पर्याप्त रूप से इस प्रकार जाना जा सकता है कि उस घटना का पहले से निर्धारण कर दिया जाय, अथवा नही । इसका उत्तर नकारात्मक है । ज्यो ही हम समस्त प्रभावक हेतुओ और अवस्थाओ के विविध प्रकारो को, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जानने की इच्छा करते हैं, त्यो ही हेतुत्व इतना जटिल प्रतीत होने लगता है कि वह व्यवहारत अबोधगम्य हो जाता है। सर्वज्ञ व्यक्ति से कम कोई उन समस्त प्रत्ययो या परिस्थितियो के अनन्त प्रकारो का बोध नही कर सकता जो किसी घटना की उत्पत्ति को प्रभावित कर सकते हैं । वसुबन्धु (राहुल को उद्धृत करते हुये) यह कहते हैं

"हेतु का वह प्रत्येक प्रकार जो मोर की पूंछ के मात्र एक नेत्र मे उज्ज्वल चमक लाता है, हमारे ज्ञान के लिये दुर्बोध है। केवल सर्वज्ञ ही उन सबको जानता है ।"[3]

फिर भी, प्रतीत्य-समुत्पाद की विभिन्न धाराओ मे हम अनुक्रम की बहुत अशो तक निर्भरता के योग्य नियमिताओ का बोध कर सकते हैं । इस प्रकार सर्वास्तिवादियो[4] के सम्प्रदाय ने चार प्रमुख प्रत्ययो और छ हेतुओ तथा चार

---

[1] 'परस्पर-उपकारित्व', उपकारिन् = किंचित्-कारिन्' ।

[2] न्याविटी० पृ० १० ११, अनुवाद पृ० २६ ।

[3] अभिको० ९, तुकी० मेरी 'सोल थ्योरी', पृ० ९४० ।

[4] तुकी० नीचे, पृ० १३८

प्रकार के फलो की स्थापना की है। इनमे एक हेतु ऐसा है जिसे 'विशेष हेतु'[१] कहा गया है। यह एक ऐसा हेतु है जिसको कोई विशेष नाम नही दिया जा सकता क्योकि यह किसी घटना को उत्पन्न करनेवाले समस्त सक्रिय और निष्क्रिय प्रत्ययो मे युक्त होता है। निष्क्रिय प्रत्यय सर्वथा निष्क्रिय नही बल्कि एक प्रकार से सक्रिय ही होते हैं, अर्थात् ये घटना के साथ हस्तक्षेप नही करते, यद्यपि ये ऐसा कर सकते हैं। इनकी उपस्थिति घटना के लिये एक नित्य सकट होती है। निष्क्रिय हेतु (समवायि कारण) क्या होता है इसका वसुबन्धु[२] ने एक अत्यन्त विशिष्ट उदाहरण दिया है।[३] ग्रामीण अपने प्रधान के पास आकर स्तुति करते हुये इस प्रकार कहते हैं "हे महाराज, आप के कारण ही हम सुखी हैं।" प्रधान ने ग्रामवासियो के सुख के लिये कुछ भी सक्रिय कार्य नही किया है, किन्तु उसने उन्हे त्रस्त भी नही किया यद्यपि वह ऐसा कर सकता था। इसलिये वह उनके सुख का परोक्ष कारण है। इस प्रकार किसी घटना के परिवेश की प्रत्येक वास्तविक परिस्थित, यदि उसकी उत्पत्ति मे हस्क्षेप नही करती, तो वह एक हेतु हो जाती है। एक अयथार्थ वस्तु का, जैसे आकाश मे पद्म का, कोई प्रभाव नहीं हो सकता। किन्तु एक यथार्थ वस्तु, जो किसी वस्तु की उत्पत्ति के ठीक पूर्व के क्षण मे विद्यमान है, सदैव कुछ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, निकट अथवा दूर का प्रभाव डालती है। इसलिये 'विशेष हेतु' की परिभाषा इस प्रकार होगी। "विशेष हेतु क्या है?" वसुबन्धु[४] यह प्रश्न करके, एक वैज्ञानिक शैली की समस्त अभिव्यञ्जनात्मक शक्ति के साथ इस प्रकार उत्तर देते हैं "स्वय अपने एकमात्र अपवाद के साथ समस्त धर्म (जगत के) किसी घटना के विशेष कारण होते हैं।" तात्पर्य यह कि मात्र स्वत्व मे अन्य जगत के सभी धर्म किसी घटना के विशेष कारण होते है।

---

[१] 'कारण-हेतुर् विशेष-सज्ञया नोच्यते, सामान्यम् हेतु-भावम् (अपेक्ष्य) स कारणहेतु' (यशोमित्र)।

[२] आभिभा० २. ५०।

[३] तुकी० सिग्वर्ट, उपु० २ १६२ auch die Ruhe erscheint jetzt als Ausfluss derselben krafte denen die Veranderung entspricht, sie ist in Bedingungen gegrundet, welche keiner einzelnen kraft eine Actian gestatten

[४] 'स्वम् विकाय सर्वे धर्मा स्वतोऽन्ये कारण-हेतु', तुकी० अभिको० २ ५०।

आरम्भिक बौद्धो ने ज्योहीं सत्ता का विविक्त क्षणो की अनन्तता मे विश्लेषण आरम्भ किया, त्योही इनका सस्कार अथवा सस्कृत-धर्म नामकरण कर दिया। इनके परस्पर अन्योन्याश्रयत्व का विचार उनके इस प्रकार ध्यान मे था कि 'सव' शब्द को एक प्रकार के पारिभाषिक शब्द के रूप मे परिणत कर दिया जाय।[1] 'सर्व' से उन सभी धर्मों का अर्थ है जिन्हे तीन भिन्न-शीर्षको के अन्तर्गत, अर्थात स्कन्ध, आयतन, और धातु[2] के अन्तर्गत वर्गीकरण किया गया है। प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त मे, विविक्त धर्मों के परस्पर सम्बद्ध समग्रता के रूप मे जगत का यह विचार पुन प्रगट होता है। यह पुन हेतु-कारण-सामग्री के विचार मे भी प्रगट होता है। किसी घटना की वास्तविक उपस्थिति इस बात का आश्वासन है कि उसकी हेतु-कारण-सामग्री उपस्थित है। वास्तव मे, स्वय फल भी हेतु-कारण-सामग्री की उपस्थिति के अतिरिक्त और कुछ नही। यदि बीज और वायु, मिट्टी, उष्णता तथा आर्द्रता की आवश्यक मात्रा उसमे विद्यमान है तथा अन्य समस्त धर्म कोई हस्तक्षेप नही कर रहे है तो अकुर भी वहाँ उपस्थित होगा। फल अपने हेतुओ की समग्रता की उपस्थिति से अतिरिक्त और ऊपर से कुछ नही होता।[3] इस समग्रता मे विशेष हेतु भी सम्मिलित है। इसका यह अर्थ है कि किसी क्षण-विशेष मे सम्पूर्ण जगत से कम कुछ भी उस घटना का चरम हेतु नही होता जो उस क्षण प्रकट होती है, अथवा यह कि किसी क्षण-विशेष मे जगत की स्थिति और उसी क्षण जगत के किसी अश मे होनेवाले परिवर्तन मे नित्य सम्बन्ध होता है।[4]

इसलिये स्थिति यह है कि किसी घटना के घटने पर हेतु के अस्तित्व का अनुमान, हेतु की उपस्थिति से उसके फल की सम्भाव्य घटना के अनुमान की अपेक्षा अधिक सुरक्षित है। फल की प्राप्ति सदैव किसी अनिरूपणीय घटना से सदैव अस्त-व्यस्त हो सकती है।[5]

---

[1] सेक० पृ० ५ और ९५।

[2] सर्वम् = स्कन्ध- आयतन- धातव।

[3] तुकी० ताटी० पृ०८०५ 'सहकारि-साकल्यम् न प्राप्तेर् अतिरिच्यते।'

[4] तुकी० बी० रसेल मिस्टिसिज्म मे 'ऑन दि नोशन ऑफ कॉज़, पृ० १९५।

[5] तुकी० न्याविटी० के द्वितीय अध्याय का अन्तिम स्थल।

§ ७. हेतुत्व और मुक्त चेतना

प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे ही 'मुक्ति' और 'आवश्यकता' की महान् समस्या पर भी बौद्धो के दृष्टिकोण का संक्षिप्त उल्लेख कर दिया जाना चाहिये। परम्परा के, जिन पर अविश्वास करने का कोई कारण नही है, अनुसार प्रतीत्य समुत्पाद[1] के विशेष सिद्धान्त की स्वय बुद्ध ने मुक्त चेतना की रक्षा के लिये तथा एक सम्पूर्ण नियतत्ववाद के सिद्धान्त के विरुद्ध स्थापना की थी। इस समस्या पर, जिसने प्राय सम्पूर्ण मानव जाति को सदैव से उलझन मे डाला है, बुद्ध के समय मे भी उत्कट वाद-विवाद किया गया था। इन्होने विशेष दोषारोपण के लिये अपने एक समकालीन उस गोसाल मक्करि-पुत्र के सिद्धान्त को लिया जो सर्वथा नियतत्ववाद का उपदेश तथा समस्त मुक्त चेतना और समस्त नैतिक उत्तरदायित्व को अस्वीकार करता था। इसके अनुसार समस्त वस्तुयें अपरिवर्तनीय रूप मे निश्चित हैं और किसी को भी परिवर्तित नही किया जा सकता।[2] प्रत्येक वस्तु भाग्य, परिवेश और प्रकृति पर निर्भर है। इसने समस्त नैतिक कर्तव्यो को अस्वीकार किया, तथा अपने व्यक्तिगत व्यवहार मे उच्छृङ्खल था। बुद्ध ने इन पर एक ऐसा 'बुरा आदमी' होने का आक्षेप किया जो एक मछुये की भाँति मनुष्यो को केवल नष्ट करने के लिये पकडता है। बुद्ध ने इसके दर्शन को एक अत्यन्त अपकारक प्रणाली कहकर अस्वीकृत कर दिया। उन्होने घोषणा की कि "मुक्त क्रिया होती है, प्रतिफल होता है", और "मैं क्रियावादी हूँ"।[3]

किन्तु दूसरी ओर हमारे समक्ष यह उक्ति भी है कि कुछ भी अहेतुक नही है, प्रत्येक वस्तु 'प्रतीत्य समुत्पन्न' है। वसुबन्धु, जो द्वितीय बुद्ध हैं, स्पष्ट रूप से मुक्त चेतना को अस्वीकृत करते हैं। उनका कथन है कि "क्रिया या तो शरीर की, या वाणी की, अथवा मानस् की होती है। प्रथम दो वर्ग, अर्थात शरीर और वाणी की क्रियाओ के वर्ग, सर्वथा मानस् पर आश्रित होते हैं, और मानस् अपरिवर्तनीय हेतुओ और प्रत्ययो पर सर्वथा आश्रित होता है।" इस प्रकार हम एक सम्पूर्ण विरोधत्व की-दशा मे पहुँच जाते हैं।

नियतत्ववाद के विरुद्ध बौद्ध मुक्त चेतना और उत्तरदायित्व का प्रतिपादन करते हैं। मुक्ति के विरुद्ध ये हेतुक नियमो की विशुद्धतम आवश्यकता

---

[1] बारह अवयवी प्रतीत्य समुत्पाद।

[2] तुकी० हॉर्नले. एइ० मे 'आजीवक' पर लेख तुकी० बी० सी० लॉ ग्लीनिग्स।

[3] 'अहम् क्रियावादी', तुकी० वही

का प्रतिपादन करते हैं। परम्परा द्वारा बुद्ध को इस विरोधाभासी पक्ष के प्रतिपादक के रूप मे व्यक्त किया गया है कि 'मुक्ति' है, क्योकि 'आवश्यकता' है, अर्थात् प्रतिफल की आवश्यकता है जो हेतुत्व पर अवलम्बित होती है।

जटिलता का समाधान 'मुक्ति' की धारणा के अन्तर मे निहित प्रतीत होता है। बौद्धो के लिये आनुभविक सत्ता एक ऐसे बन्धन की अवस्था है जिसकी कारागार के साथ तुलना की जा सकती है। गति स्वय अपनी गत्यात्मक यथार्थता के अनुसार सदैव मोक्ष[1] की ओर अग्रसर हो रही है। यही वह गति है जिसकी बौद्ध लोग विशुद्ध हेतुक नियमो के अधीन होने की कल्पना करते हैं। इनके लिये गति (कर्मता) अथवा जीवन एक ऐसी प्रक्रिया है जो अपने समस्त विवरणो मे विशुद्धतम आवश्यकता द्वारा लक्षित है, किन्तु यह एक अनिवार्यत परम अभीष्ट की ओर अग्रसर अनिवार्य गति है। हेतुत्व यहाँ परमार्थ से भिन्न नही है। गोसाल के लिये आवश्यकता का प्रत्यक्षत स्थिर आवश्यकता, एक परिवर्तनविहीन यथार्थता का अर्थ है, कोई बन्धन नही और कोई मोक्ष नही। इसके विपरीत, बौद्धो के लिये, आवश्यकता एक सतत परिवर्तन है, एक धावमान आवश्यकता, जो अपरिहार्य रूप से एक निश्चित अभीष्ट की ओर अग्रसर है। इस प्रकार व्याख्या करने पर वसुबन्धु के शब्द बुद्ध की कही गई घोषणा से विरुद्ध नही हैं।

किन्तु बौद्धो को इस आक्षेप के विरुद्ध सदैव अपने पक्ष का प्रतिपादन करना पडा कि इनके (बौद्धो के) दृष्टिकोण से न तो बन्धन के लिये कोई स्थान है और न मोक्ष के लिये, क्योकि 'अहं' या कर्ता की, जो बन्धन मे बँध सके और फिर मुक्त हो सके, कोई सत्ता नही है। बौद्ध इसे मान लेता है किन्तु वह यह प्रतिपादित करता है कि घटनाओ की प्रवाहमान धारा ही एकमात्र कर्त्ता[2] है जिसकी आवश्यकता है। बुद्ध कहते हैं कि 'मुक्त क्रिया है, किन्तु मैं किसी ऐसे कर्त्ता को नही देखता जो क्षणिक धर्मों के, इन धर्मों के निरन्तरत्व के अपवाद के अतिरिक्त,[3] एक विन्यास से दूसरे मे चला जाता हो। इस निरन्तरत्व मे यह निहित है कि इन-इन प्रकार के क्षणो के होने पर इन-इन प्रकार के अन्य अनिवार्यत प्रगट होगे।'

---

[1] नि सरण = मोक्ष

[2] कारकस तु नोपलभ्यते य इमान् स्कन्धान् विजहात्य् अन्याश् च स्कन्धान् उपादपत्ते', तुकी० तसप० पृ० ११ १३।

[3] 'अन्यत्र-धर्म-सकेतम' (अर्थात् 'धर्मो के सिद्धान्त से अन्य')।

वास्तव मे, व्यक्ति के सकल्पो के प्रवाह का निर्माण करनेवाली मानसिक-धारा मे एक भी क्षण ऐसा नही होता जो प्रतीत्य-समुत्पन्न की अपेक्षा अधीत्य-समुत्पन्न हो[1]। किन्तु वह सकल्प जो प्रत्येक शारीरिक क्रिया के पूर्व होता है, या तो शक्तिशाली अथवा क्षीण हो सकता है। यदि वह क्षीण है तो कर्म अर्ध-स्वचालित होगा। तब उसका कोई परिणाम नही होगा, उससे न तो पुरस्कार मिलेगा और न दण्ड। हमारे सामान्य जैविक कर्म अथवा हमारे सामान्य व्यापार ऐसे ही होते हैं। किन्तु यदि सकल्प शक्तिशाली है, तो उससे उत्पन्न कर्म मे अत्यन्त स्पष्ट विपाक-धर्म होगा। वह कर्म या तो पुण्य कर्म होगा अथवा अपराध। इस प्रकार के कर्मो का अनिवार्यत प्रतिफल होता है, वह चाहे पुरस्कार हो अथवा दण्ड। उस नियम को जिसके अनुसार नैतिक अथवा अनैतिक कर्मों का अनिवार्यत फल मिलता है, कर्मवाद कहते है।

यदि पूर्वकर्मों[2] के कारण कुछ होता है तब वह कर्म नही होता। दूसरे शब्दो मे उसका कुछ और अधिक परिणाम नही होता, वह अर्ध-स्वसचालित होता है। परिणाम या फल प्राप्त करने के लिये कर्म को सविपाक[3] अथवा चेतना[4] के एक शक्तिशाली प्रयास द्वारा उत्पन्न होना चाहिये।

---

[1] साख्य मे 'कर्म' की भौतिकवादी व्याख्या की गई है। वहाँ यह अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओ अथवा भौतिक शक्तियो की एक विशेष सस्थिति से निर्मित है जो कर्म को या तो अच्छा या बुरा बनाता है। हीनयान मे 'चेतना' को चित्त-सम्प्रयुक्त धर्म अथवा सस्कार कहते है जो क्षणिक प्रतिभासो की एक ऐसी धारा को व्यक्त करता है जिसका प्रत्येक क्षण विशुद्धत गत क्षणो की सामग्री से निर्धारित होता है। प्रतीत होने वाली स्वच्छन्दता किसी कर्म की समस्त अवस्थाओ के हमारे अज्ञान मे निहित होती है। गार्बे का विचार है कि साख्य मत विरोधत्व से युक्त है, किन्तु सम्भवत इसकी भी बौद्धो के समान ही व्याख्या की जानी चाहिये। नियतत्ववाद का तात्पर्य यह है कि प्रतिफल से बचना असम्भव है।

[2] विपाक=कर्म = फल।

[3] सविपाक=कर्म

[4] तुकी अभिभा० २-१० और बाद। विराट् विश्वात्मक दृष्टि से देखने पर, यत हम किसी कर्म विशेष के समस्त हेतुओ और प्रत्ययो को जान नही सकते, अत ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह स्वच्छन्द है। किन्तु चेतना का प्रत्येक क्षण, विराट् विश्वात्मक दृष्टि से, समस्त पूर्वक्षणो की

कर्मवाद का बुद्ध ने उद्घाटन किया है। इसे प्रयोगात्मक आधार पर सिद्ध नही किया जा सकता। यह अनुभवातीत[1] है। किन्तु प्रविचयात्मक परीक्षण करने पर यह किसी भी विरोधत्व से युक्त नही मिलेगा, और इसलिये आलोचनात्मक बुद्धि तक इस पर विश्वास कर सकती है। तथाकथित मुक्त चेतना शक्तिशाली चेतना के अतिरिक्त और कुछ नही, और कर्मवाद, जिसका हेतुत्व के साथ कोई सघर्ष नही है, उसी हेतुत्व का एक विशेष स्वरूप मात्र है।

इस प्रकार, बौद्धो की मुक्त चेतना आवश्यकता की सीमाओ के अन्तर्गत एक स्वतन्त्रता है। यह हेतुत्व की सीमाओ का अतिक्रमण किये बिना ही कर्म करने की स्वतन्त्रता है, अर्थात् प्रतीत्य समुत्पाद के कारागार के अन्तर्गत ही एक स्वतन्त्रता है। फिर भी, इस कारागार का भी एक अपना पक्ष है। कर्मवाद के अतिरिक्त, बौद्ध मत का एक अन्य अभ्युपगम यह दृढ विश्वास प्रतीत होता है कि पुण्य-कर्मों का सम्पूर्ण योग पाप-कर्मो के सम्पूर्ण योग पर अभिव्यावी होता है। जागतिक प्रक्रिया का विकास नैतिक प्रगति का विकास होता है। जब समस्त पुण्यकर्म अपना फल उत्पन्न कर लेते है तब निर्वाण द्वारा चरम मोक्ष प्राप्त होता है। प्रतीत्य समुत्पाद तब विलुप्त हो जाता है और परमार्थ की प्राप्ति हो जाती है। नागार्जुन का यह कथन है "उन समस्त हेतुओ और प्रत्ययो को, जिनके ही समस्त घटनायें आधीन होती है, ध्यान मे रखने पर हम इस जगत को सवृत्ति-सत् का जगत (प्रापञ्चिक संसार) कहते है। इसी जगत् को, जब हेतुओ और प्रत्ययो को उपेक्षित कर दिया जाता है तब, परमार्थिक कहते हैं।"[2]

§ ८. प्रतीत्य समुत्पाद के चार अर्थ

अपने ऐतिहासिक विकास की समस्त अवस्थाओ मे बौद्धमत अपने प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान् बना रहा। परन्तु उत्तरोत्तर पीढियो ने, जिस सीमा तक इन्होने अन्योन्याश्रित धर्मों के विचार की गहनता मे प्रवेश करने का प्रयास किया, इसकी विभिन्न व्याख्यायें की हैं। तदनुसार हम

सामग्री की विशुद्ध अनुरूपता के अतिरिक्त और किसी प्रकार प्रगट नही हो सकता। प्रतीत होने वाली स्वच्छन्दता समस्त सूक्ष्मतम प्रभावो की हमारी अज्ञानता मे ही निहित होती है।

[1] तुकी० ऊपर पृ० ९१।

[2] तुकी० मेरा 'निर्वाण', पृ० ४८। सवृत्ति सत् के जगत् मे कर्मफल के नियम की स्थापना की कठिन समस्या पर तुकी० वही पृ० १२७ और बाद।

प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के चार प्रमुख स्वरूपों का विभेद कर सकते है। इनमे से दो हीनयान से सम्बद्ध और दर्शन मे उसके अत्यन्त बहुत्ववाद से सहमत हैं, जब कि अन्य दो महायान से सम्बद्ध और उसके अत्यन्त अद्वैतवाद से सहमत हैं।

आरम्भिक बौद्धमत मे अन्योन्याश्रयत्व के दो भिन्न सिद्धान्त हैं—एक विशेष तथा दूसरा सामान्य। सामान्यीकृत सिद्धान्त विशेष का ही एक बाद का विकास है। आरम्भिक बौद्धमत का वह साहित्य जो बुद्ध के उपदेशो के नाम से विख्यात है केवल विशेष सिद्धान्त का ही उल्लेख करता है। सामान्य सिद्धान्त उन दार्शनिक प्रबन्धो मे निहित है जो उक्त उपदेशो के परिशिष्ट तथा बाद मे रचित है। यह ऐतिहासिक विकास स्वय बौद्धो को भी स्पष्ट था। वसुबन्धु[1] हमे यह बताते है कि मवधारण के लिये उद्दिष्ट अपनी प्रचलित प्रकृति के कारण उपदेशो मे सामान्य सिद्धान्त का उल्लेख नही मिलता, यद्यपि यह उनमे अभिप्रेत है। इसका स्पष्ट निर्धारण अभिधार्मिकों[2] का सृजन है। फलस्वरूप वसुबन्धु प्रतीत्य समुत्पाद के दोनो सिद्धान्तो का सर्वथा पृथक रूप से विवेचन करते हैं। इन्होने प्रतीत्य समुत्पाद के सामान्य सिद्धान्त का अपने महान ग्रन्थ मे सत्ता के समस्त धर्मों की गणना, परिभाषा तथा उनके विस्तृत वर्गीकरण के अन्त मे विवेचन किया है।[3] समस्त धर्मो की व्याख्या कर लेने के बाद प्रतीत्य समुत्पाद की विभिन्न धारणाओ के आधार पर इन धर्मों के अन्योन्याश्रयत्व की व्याख्या से समाप्त करना उनके लिये स्वाभाविक ही था। प्रतीत्य समुत्पाद के विशेष नियम का, जिसका एक विशेष, प्रमुखत नैतिक, आधार है, इन्होंने तृतीय खण्ड मे विवेचन किया है जहाँ सत्ता के विभिन्न क्षेत्रो का वर्णन है। व्यक्ति अथवा पुद्गल, अथवा अधिक शुद्धत धर्मों का सघात, इन क्षेत्रो मे अपने पूर्व-जीवन के पुण्यो और पापो के आधार पर अपना निर्माण करते हैं, और नैतिक प्रतीत्य समुत्पाद के विशेष नियम को इसी सन्दर्भ मे विकसित किया गया है। दोनो ही, सामान्य तथा विशेष, सिद्धान्तो का विभेद अवश्य किया जाना चाहिये। यहाँ तक कि बाद के महायान[4] मे इनका विभेद

---

[1] अभिको० ३ २५, तुकी० ग्रो० रोज़ेनबर्ग, प्रॉब्लेम्स, पृ० २२३ और मेरा सेक० पृ० २९।

[2] वही।

[3] अभिको० ३।

[4] तुकी० मेरा 'निर्वाण', पृ० १३४ और बाद।

कर्मवाद का बुद्ध ने उद्घाटन किया है। इसे प्रयोगात्मक आधार पर सिद्ध नही किया जा सकता। यह अनुभवातीत[1] है। किन्तु प्रविचयात्मक परीक्षण करने पर यह किसी भी विरोधत्व से युक्त नही मिलेगा, और इसलिये आलोचनात्मक बुद्धि तक इस पर विश्वास कर सकती है। तथाकथित मुक्त चेतना शक्तिशाली चेतना के अतिरिक्त और कुछ नही, और कर्मवाद, जिसका हेतुत्व के साथ कोई सघर्ष नही है, उसी हेतुत्व का एक विशेष स्वरूप मात्र है।

इस प्रकार, बौद्धो की मुक्त चेतना आवश्यकता की सीमाओ के अन्तर्गत एक स्वतन्त्रता है। यह हेतुत्व की सीमाओ का अतिक्रमण किये बिना ही कर्म करने की स्वतन्त्रता है, अर्थात् प्रतीत्य समुत्पाद के कारागार के अन्तर्गत ही एक स्वतन्त्रता है। फिर भी, इस कारागार का भी एक अपना पक्ष है। कर्मवाद के अतिरिक्त, बौद्ध मत का एक अन्य अभ्युपगम यह दृढ विश्वास प्रतीत होता है कि पुण्य-कर्मो का सम्पूर्ण योग पाप-कर्मो के सम्पूर्ण योग पर अभिव्यावी होता है। जागतिक प्रक्रिया का विकास नैतिक प्रगति का विकास होता है। जब समस्त पुण्यकर्म अपना फल उत्पन्न कर लेते हैं तब निर्वाण द्वारा चरम मोक्ष प्राप्त होता है। प्रतीत्य समुत्पाद तब विलुप्त हो जाता है और परमार्थ की प्राप्ति हो जाती है। नागार्जुन का यह कथन है "उन समस्त हेतुओ और प्रत्ययो को, जिनके ही समस्त घटनायें आधीन होती हैं, ध्यान मे रखने पर हम इस जगत को सवृत्ति-सत् का जगत (प्रापञ्चिक संसार) कहते हैं। इसी जगत् को, जब हेतुओ और प्रत्ययो को उपेक्षित कर दिया जाता है तब, परमार्थिक कहते हैं।[2]

§ ८. प्रतीत्य समुत्पाद के चार अर्थ

अपने ऐतिहासिक विकास की समस्त अवस्थाओ मे बौद्धमत अपने प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान् बना रहा। परन्तु उत्तरोत्तर पीढियो ने, जिस सीमा तक इन्होने अन्योन्याश्रित धर्मों के विचार की गहनता मे प्रवेश करने का प्रयास किया, इसकी विभिन्न व्याख्यायें की हैं। तदनुसार हम

सामग्री की विशुद्ध अनुरूपता के अतिरिक्त और किसी प्रकार प्रगट नही हो सकता। प्रतीत होने वाली स्वच्छन्दता समस्त सूक्ष्मतम प्रभावो की हमारी अज्ञानता मे ही निहित होती है।

[1] तुकी० ऊपर पृ० ९१।

[2] तुकी० मेरा 'निर्वाण', पृ० ४८। सवृत्ति सत् के जगत् मे कर्मफल के नियम की स्थापना की कठिन समस्या पर तुकी० वही पृ० १२७ और बाद।

प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के चार प्रमुख स्वरूपों का विभेद कर सकते हैं। इनमें से दो हीनयान से सम्बद्ध और दर्शन में उनके अत्यन्त बहुत्ववाद से सहमत हैं, जब कि अन्य दो महायान से सम्बद्ध और उनके अत्यन्त अद्वैतवाद से सहमत हैं।

आरम्भिक बौद्धमत में अन्योन्याश्रयत्व के दो भिन्न सिद्धान्त हैं—एक विशेष तथा दूसरा सामान्य। सामान्यीकृत सिद्धान्त विशेष का ही एक बाद का विकास है। आरम्भिक बौद्धमत का वह साहित्य जो बुद्ध के उपदेशों के नाम से विख्यात है केवल विशेष सिद्धान्त का ही उल्लेख करता है। सामान्य सिद्धान्त उन दार्शनिक प्रबन्धों में निहित है जो उक्त उपदेशों के परिशिष्ट तथा बाद में रचित हैं। यह ऐतिहासिक विकास स्वयं बौद्धों को भी स्पष्ट था। वसुबन्धु[1] हमें यह बताते हैं कि सबधारण के लिये उद्दिष्ट अपनी प्रचलित प्रकृति के कारण उपदेशों में सामान्य सिद्धान्त का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि यह उनमें अभिप्रेत है। इनका स्पष्ट निर्धारण अभिधार्मिकों[2] का सृजन है। फलस्वरूप वसुबन्धु प्रतीत्य समुत्पाद के दोनों सिद्धान्तों का सर्वथा पृथक् रूप से विवेचन करते हैं। इन्होंने प्रतीत्य समुत्पाद के सामान्य सिद्धान्त का अपने महान् ग्रन्थ में सत्ता के समस्त धर्मों की गणना, परिभाषा तथा उनके विस्तृत वर्गीकरण के अन्त में विवेचन किया है।[3] समस्त धर्मों की व्याख्या कर लेने के बाद प्रतीत्य समुत्पाद की विभिन्न धारणाओं के आधार पर इन धर्मों के अन्योन्याश्रयत्व की व्याख्या से समाप्त करना उनके लिये स्वाभाविक ही था। प्रतीत्य समुत्पाद के विशेष नियम का, जिसका एक विशेष, प्रमुखत नैतिक, आधार है, इन्होंने तृतीय खण्ड में विवेचन किया है जहाँ सत्ता के विभिन्न क्षेत्रों का वर्णन है। व्यक्ति अथवा पुद्गल, अथवा अधिक शुद्धत धर्मों का सघात, इन क्षेत्रों में अपने पूर्व-जीवन के पुण्यों और पापों के आधार पर अपना निर्माण करते हैं, और नैतिक प्रतीत्य समुत्पाद के विशेष नियम को इसी सन्दर्भ में विकसित किया गया है। दोनों ही, सामान्य तथा विशेष, सिद्धान्तों का विभेद अवश्य किया जाना चाहिये। यहाँ तक कि बाद के महायान[4] में इनका विभेद

---

[1] अभिको० ३ २५, तुकी० ओ० रोजेनबर्ग, प्रॉब्लेम्स, पृ० २२३ और मेरा सेक० पृ० २९।

[2] वही।

[3] अभिको० ३।

[4] तुकी० मेरा 'निर्वाण', पृ० १३४ और बाद।

किया गया था, यद्यपि वहाँ समस्या पर एक दूसरी ओर से विवेचन किया गया था। फिर भी, जैसे कि प्राचीन समय मे तथा साथ ही साथ आधुनिक समय मे भी है, इनका अक्सर सम्मिश्रण भी कर दिया गया है। अनुरुद्ध यह प्रमाणित करते हैं कि इस सिद्धान्त के आचार्यों (और बुद्धघोष इनके अन्तर्गत सम्मिलित प्रतीन होते हैं) ने इन्हे इस प्रकार मिश्रित कर दिया जैसे ये एक ही सिद्धान्त[1] हो अथवा एक दूसरे का एक भाग हो।

---

[1] अभिधम्मत्थसगहो ८ ३ (कोशाम्बी सस्करण)। प्रत्यक्षत अनुरुद्ध उन आचार्यों की भर्त्सना करते हैं जिन्होने, विशुद्धिमग्गो मे बुद्धघोप की भाँति 'पतिच्च-समुप्पाद-नयो' को 'पट्ठान-नयो' के साथ मिश्रित कर दिया है। यहाँ 'प्रतीत्य-ममुत्पाद' शब्द विशेष सिद्धान्त से सयुक्त है और सामान्य सिद्धान्त को 'पट्ठान' नाम दिया गया है। नागार्जुन के साथ स्थिति इसके विपरीत है जो सामान्य सिद्धान्त को 'प्रतीत्य समुत्पाद' नाम देते हैं और विशेष को १२ निदानो से व्यक्त करते हैं। शान्तिरक्षित (कारि० ५४४) प्रत्यक्षत 'प्रतीत्य-समुत्पाद' से दोनो सिद्धान्तो को ग्रहण करते हैं। कुछ योगाचार स्रोतो पर अपने को आधारित करते हुये सदस० (पृ० ४० और बाद) मे, बिना किसी चेतन कर्त्ता के ही हेतुओ के अन्वनिबन्धन के आशय मे एक 'प्रत्यय-उपनिबन्धन प्रतीत्य ममुत्पाद' के, और हीनयान के १२ निदानो तथा महायान के धर्मता से सम्मिलित हेतुक अनुक्रम के अविच्छिन क्रम के आशय मे एक 'हेतु-उपनिबन्धन प्रतीत्य समुत्पाद' के बीच विभेद करते हैं। इन दोनो ही सिद्धान्तो मे एक चेतन कर्त्ता की अस्वीकृति निहित है। इस शब्द से, इस प्रकार, ये बातें अभिप्रेत हैं (१) विशुद्ध नियतत्ववाद, (२) सहकार, (३) पदार्थ की अस्वीकृति, और (४) कर्त्ता की अस्वीकृति। इसके पर्याय ये हैं प्रतीत्य समुत्पाद = सस्कृतत्व = सम्भूय-कारित्व = सस्कारवाद = एक-क्रिया-कारित्व = क्षण-भङ्गवाद = नि स्वभाववाद = अनात्मवाद = पुद्गल-शून्यता (हीनयान) = सर्व-धर्म-शून्यता (महायान) = परस्पर-अपेक्षा-वाद (सापेक्षवाद)। वैशेपिको के इसके विरोधी सिद्धान्त को इन पर्यायवाची शब्दो से व्यक्त किया गया है परस्पर-उपकार-वाद = आरम्भवाद = सहकारि-समवधानवाद = स्थिर-भाववाद = असत् कार्य-वाद = परत-उत्पादवाद। साख्यो के सिद्धान्त के नाम इस प्रकार हैं सत्-कार्यवाद = स्वत-उत्पाद-वाद = प्रकृतिवाद = परिणाम-वाद। वेदान्तियो के सिद्धान्त को ये नाम दिये गये हैं विवत-वाद = माया-वाद = ब्रह्मवाद। भौतिकवादियो के सिद्धान्त के ये नाम हैं अप्रतीत्य-समुत्पाद-वाद = यदृच्छा-वाद। साख्यो के 'न स्वत', वैशेपिको के 'न परत', और भौतिक-

विशेष सिद्धान्त इस जटिल और दुर्बोध तथ्य की व्याख्या करने का प्रयास करता है कि बौद्ध एक कर्मवाद को मानते है किन्तु इस नियम का कोई विषयी नही होता। पुण्यकर्म और उनका पुरस्कार होता है। पापकर्म होते हैं और उनका दण्ड भी मिलता है। एक बन्धन की अवस्था होती है और एक निर्वाण की भी। किन्तु ऐसा कोई नही होता जो इन कर्मो को करता हो, जो बन्धन की अवस्था मे आबद्ध हो, और जो निर्वाण की अवस्था मे प्रवेश करता हो। कोई आत्मा नही, कोई स्वत्व नही, कोई पुद्गल नही। केवल पृथक धर्मों, मानसिक और भौतिक, के समूह होते हैं जो परस्पर सम्बद्ध होते हैं, जो अपना निर्माण करते हैं और जो अपना विघटन करते हैं। ये ही कर्मवाद के विषयी होते हैं—उस नियम के जो अन्तिम चिरन्तन शान्ति की ओर क्रमिक विकास है। किन्तु कोई वैयक्तिक कर्त्ता, कोई निहित आध्यात्मिक सिद्धान्त जो कर्मवाद का विषयी हो, होना आवश्यक नही। बुद्ध ने कहा था कि "मैं घोषित करता हूं कि किये गये कर्य होते हैं और उनका पुरस्कार भी होता है, किन्तु इन कर्मो का आचरण करने वाले की कोई सत्ता नही होती। ऐसा कोई नही होता जो इन धर्मों को धारण करता हो, जो इनका वाहक हो, जो इनका परित्याग करके नवीन धर्मों को धारण करता हो।"[1] ये इस नियम के अनुसार प्रकट और अदृश्य होते हैं "यह होने पर यह होता है।" "ये स्वत उत्पन्न नहीं होते, न परत, और न यदृच्छया, इनका वास्तव मे उत्पादन होता ही नही, ये तो अन्योन्याश्रित निर्भासो के रूप मे प्रगट होते हैं।"[2]

समस्त सावृत्तिक जीवन (भवचक्र) एक बारह खण्डो के चक्र के रूप मे व्यक्त है। यह, अर्थात् सम्पूर्ण चक्र, हमारे सीमित ज्ञान के केन्द्रीय धर्म (अविद्या) द्वारा निर्धारित है (१)। जब परमार्थ ज्ञान का धर्म विकसित हो जाता है तब प्रापञ्चिक जीवन की भ्रान्ति समाप्त हो जाती है और शाश्वत्व प्राप्त हो जाता है। प्रापञ्चिक जीवन मे जन्म-पूर्व के सस्कार (२) गर्भ का क्षण या नवीन जीव उत्पन्न करते हैं (विज्ञान) (३), यह नवीन प्राणी क्रमश अपनी मानसिक और शारीरिक अवस्थाओ (नामरूप) को (४), षडायतन को (५), पाँच बाह्य और एक आन्तरिक इन्द्रिय (स्पर्श) को (६)

वादियो के 'नाप्य् अहेतुत' सिद्धान्तो को बौद्ध अस्वीकार करते हैं। किन्तु माध्यमिक सिद्धान्त को 'माया-वाद' भी कह सकते हैं।

[1] तसप० पृ० ११ १३।

[2] तुकी० ऊपर पृ० १५९।

और वेदना (७) को विकसित करता है। तब तृष्णा (८) से, उपादान या तृष्णा-वैपुल्य (९) से, और नाना कर्मों अर्थात् भव से (१०) युक्त पूर्ण विकसित व्यक्ति के रूप मे एक चेतन जीव उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् एक नवीन जीवन या जाति (११), एक नवीन मृत्यु या जरामरण (१२) आता है, और यही भवचक्र उस समय तक निर्वाध रूप से चलता रहता है जब तक अविद्या का धर्म, जो सम्पूर्ण चक्र मे प्रमुख रूप से व्याप्त होता है, समाप्त नही हो जाता और निर्वाण की प्राप्ति नही हो जाती। इन बारह अगो या स्तरो मे, जिनमे दार्शनिक पाण्डित्य ने अन्योन्याश्रित धर्मों के विशेष सिद्धान्त का निर्धारण किया है, कोई विशुद्ध तार्किक अनुपात नही है। इनमे से एक (१) सम्पूर्ण चक्र पर प्रधानता रखता है, दूसरा (२) एक पूर्वजन्म से, आठ अन्य (३–१०) वर्तमान जीवन से, और अन्तिम दो (११–१२) भावी जीवन से सम्बद्ध हैं।[१] अन्योन्याश्रयत्व के नियमो के अनुसार वर्तमान पूर्वजन्म से सयुक्त और भावीजीवन का स्रोत है! इसके लिये नित्य आत्मा या अह (स्वत्व) के रूप मे किसी निहित तत्त्व के सिद्धान्त की आवश्यकता नही है। कमलशील का यह कथन है[२] "नैरात्म्य और इस तथ्य के अनुबन्धन मे कि पूर्वकर्म मे फल-सामर्थ्य होता है, कोई विरोधत्व नही है।" और न यह इसी तथ्य के साथ कोई हस्तक्षेप करता है कि "उसमे यथार्थ का लेशमात्र भी नही होता जो दूसरे क्षण मे भी बना रहता है।[3] कुछ भी स्थित नही रहता, दूसरा पूर्वके कार्य-कारणभाव से ही उत्पन्न होता है। पूर्व-सस्कारो के किसी आगार को माने विना स्मृति के तथ्य की भी कार्य-कारणभाव से पर्याप्त व्याख्या हो जाती है। और न बन्धन तथा मोक्ष ही किसी ऐसे अधिकरण के गुण हैं जो बँधता है और फिर मुक्त होता है। किन्तु अविद्या, जन्म, और मृत्यु के धर्म भवचक को उत्पन्न करते हैं, इन्हे ही बन्धन कहते हैं। जब तत्त्वज्ञान के होने पर ये धर्म समाप्त हो जाते हैं तब उस निर्मल चेतना को मोक्ष कहते हैं, क्योंकि यह कहा गया है कि 'स्वय चेतना को, अविद्या और क्लेश आदि से भ्रष्ट होने

---

[१] इस चक्र के दो अग—अविद्या और सस्कार—एक पूर्वजीवन से सम्बद्ध हैं, जाति और जरा-मरण भावीजीवन से सम्बद्ध हैं, और शेष आठ अङ्ग वर्तमान जीवन से। महायान मे १२ निदानो को सक्लेश कहते हैं और इनको तीन वर्गों के अन्तर्गत रखा गया है तीन क्लेश-सक्लेश—अविद्या, तृष्णा, उपादान, दो कर्मसक्लेश—सस्कार, भव, और शेप सात जाति-सक्लेश।

[२] तसप० पृ० १८२ १९।

[3] वही० पृ० १८३ १२।

पर प्रापञ्चिक जीवन कहते हैं, इनसे मुक्त हो जाने पर इसी चेतना को मोक्ष कहते हैं[1] ।"

प्रतीत्य समुत्पाद का सामान्यीकृत सिद्धान्त सामान्यरूप से समस्त घटनाओं, जैसे इन्द्रिय-ग्राह्यार्थ, विज्ञान, विचार और संकल्प के लिये भी इसी किसी स्थायी धर्म की अस्वीकृति और पृथक अनित्य धर्मों के बीच एकमात्र कार्य-कारणभाव को मानने के सिद्धान्त को व्यवहृत करता है। प्रत्येक वैयक्तिक तथ्य, यथार्थ का प्रत्येक क्षण, इस सिद्धान्त के अनुसार, हेतु-प्रत्यय-सामग्री द्वारा ही निर्धारित होता है। इस सामग्री का तब हेत्वात्मक अन्योन्याश्रयत्व के कुछ विशेष रूपों मे विश्लेषण किया जा सकता है।

इस प्रकार के हेत्वात्मक अन्योन्याश्रयत्व के विभिन्न आधारों को हीनयान के सम्प्रदायों मे विभिन्न रूपों से प्रस्तुत किया गया है। अकेले यही तथ्य इस सिद्धान्त की एक बाद की उत्पत्ति को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। सर्वास्तिवादी चार प्रत्ययों और छ प्रकार के हेतुओं मे विभेद करते हैं। सिद्धान्त के इस स्तर पर इस बात के बीच कि हेतु क्या है और प्रत्यय क्या है, कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं मिलती। छ हेतुओं की सूची एक बाद का सिद्धान्त है जो चार प्रत्ययों की मौलिक पद्धति पर स्थापित हो गया है। ये प्रत्यय-हेतु इस प्रकार हैं

१ आलम्बन प्रत्यय समस्त विद्यमान वस्तुये इसी कारण के अन्तर्गत आती हैं। समस्त धर्म[2], जहाँ तक ये विज्ञान के विषय हैं, आलम्बन प्रत्यय कहलाते हैं।

समन्तर-प्रत्यय यह किसी विचार की धारा मे तत्काल पूर्वगत क्षण को व्यक्त करता है, और इस प्रकार यह वैशेषिकों के समवायि कारण को स्थानान्तरित करने के लिये उद्दिष्ट है। मूलत यह केवल मानसिक हेतुत्व का द्योतक था, किन्तु बाद मे उपसर्पण-प्रत्यय के नाम से इसने समवायि कारण को स्थानान्तरित कर दिया।

३ अधिपति-प्रत्यय जैसा कि इसके नाम से व्यक्त होता है, यही वह हेतु होता है जो परिमाण की प्रकृत्ति का निर्धारण करता है। उदाहरण के लिये दृष्य सवेदना मे दृष्येन्द्रिय।

सहकारि-प्रत्यय जैसे दृष्य सवेदना के सम्बन्ध मे प्रकाश इत्यादि।

---

[1] वही पृ० १८४।

[2] ध्मस्-चद् (छिग्स-रग्यु)।

गत प्रत्यय के साथ इसके अन्तर्गत समस्त विद्यमान वस्तुयें आ जाती है, क्योकि सभी धर्म न्यूनाधिक अन्योन्याश्रित होते हैं।

छ हेतु इस प्रकार हैं

(१) कारण-हेतु इसकी ऊपर व्याख्या की जा चुकी है, सत्ता के समस्त धर्म भी इसमे सम्मिलित हैं।

(२) और (३) सहभू–हेतु और सम्प्रयुक्त-हेतु की पारिस्परिक हेतुत्व के रूप मे परिभाषा की गई है। द्वितीय से केवल मानसिक धर्मों का तात्पर्य है, अर्थात् इस तथ्य का कि विज्ञान चित्त का धर्म है जो यद्यपि एक पृथक् धर्म होते हुये भी कभी अकेले नही बल्कि सदैव अन्य चैत्त धर्मों, वेदनाओ, विचारो और सकल्पो के साथ ही प्रकट होता है। प्रथम से प्रमुखत उस नियम का तात्पर्य है जिसके अनुसार महाभूत के आधार-भूत धर्म, स्पर्श-धर्म, यद्यपि इन्हे पृथक् धर्म भी माना गया है, भौतिक धर्मों जैसे रगादि, के बिना अकेले कभी नही प्रकट होते। ये दोनो ही हेतु प्रत्यक्षत यथार्थवादियो द्वारा मान्य समवाय पदार्थ को स्थानान्तरित करने के लिये उद्दिष्ट हैं।

(४) सभाग हेतु अपने निष्यन्द-फल के साथ यह क्षणो के उस समजातीय प्रवाह की व्याख्या के लिये उद्दिष्ट है जो पदार्थों की अवधि तथा स्थायित्व का विचार उत्पन्न कर देता है।

(५) विपाक–हेतु[१] इससे उन समस्त कर्मों का तात्पर्य है जो स्पष्ट रूप से पाप या पुण्य की प्रकृति से युक्त होते है। यह मुख्य रूप से आगिक विकास अथवा उस उपचय-हेतु के साथ क्रिया करता है जो उस परकोटे का निर्माण करता है जिसके पीछे पाप या पुण्य के सस्कार जीवन के निर्माण को प्रभावित करते हैं।[२]

सर्वत्रग–हेतु इस नाम के अन्तगत विभिन्न क्लेशो तथा साधारण मनुष्य की विचार-प्रणाली की अभ्यासगत उन विधियो को रखा जाता है जो मनुष्य को आनुभविक यथाथ के सार तथा स्रोत को देख पाने से वचित रखती हैं और इस प्रकार उसे एक सन्यासी बन जाने से भी वचित रखती हैं।

फल चार भिन्न प्रकारो के हो सकते हैं ये या तो निष्यन्द फल, अथवा पुरुषकार-फल, अथवा अधिपति फल, अथवा विसयोग-फल हो सकते है। प्रथम दो की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। तृतीय, फल की हमारी सामान्य धारणा के अनुरूप होता है, जैसे दृष्येन्द्रिय के सम्बन्ध मे दृष्य सवेदना। अन्तिम समस्त जीवन के अन्तिम फल के रूप मे निर्वाण है।

---

[१] कर्म।

[२] तुकी० अभिभा० १ ३७, तुकी० सेक० पृ० ३४.

सिंहली सम्प्रदाय, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, भवचक्र के बारह क्रमिक स्तरो से युक्त प्रतीत्य समुत्पाद के नियम के विशेष रूप को उस सामान्य नियम के साथ मिश्रित कर देता है जो हेतुत्व के २१ निम्न स्वरूपो का विभेद करता है। इन २१ रूपो को सरलता से घटाकर सर्वास्तिवादियो के चार और छ हेतु-प्रत्ययो के अनुरूप बनाया जा सकता है।

महायान काल मे प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त को जोर दे कर बौद्ध मत का केन्द्रीय तथा प्रमुख अग घोषित किया गया है। किन्तु इसका विवेचन सर्वथा भिन्न है। अन्योन्याश्रयत्व का यहाँ परस्पर अपेक्षत्व[1], और परस्पर अपेक्षत्व का पृथक् धर्मो का शून्यत्व[2] अर्थ है। ये दीर्घ और ह्रस्व के समान[3] परस्पर अपेक्ष्य होते हैं, अर्थात् ये स्वय कुछ नही होते। बारह स्तरो के भव-चक्र के सिद्धान्त को सावृतिक, अयथार्थ, केवल जीवन[4] मात्र से सम्बद्ध कहा गया है। प्रतीत्य समुत्पाद के सामान्य सिद्धान्त, चार प्रत्ययो के सिद्धान्त को भी, इसी प्रकार प्रत्ययात्मक और अयथार्थ[5] कह कर अस्वीकृत किया गया है। किन्तु स्वय 'प्रतीत्य समुत्पाद' का विचार, जिसमे यहाँ विश्वव्यवस्था के विचार का अथ है, नवीन बौद्ध मत का केन्द्रीय विचार बन जाता है।

प्रतीत्य समुत्पाद शब्द का अर्थ महायान के आधुनिकतम विज्ञानवादी सम्प्रदाय मे एक बार पुन परिवर्तित हुआ है। अब यह उस गतिरहित विश्व का द्योतक नही रह गया जिसके अगो मे केवल एक भ्रान्तिमय यथार्थ मात्र होता है। दूसरी ओर, प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ यहाँ गति[6] है, एक ऐसा विश्व जो अनिवार्यत चल या गतिशील है।

महायान के अन्तर्गत 'प्रतीत्य समुत्पाद' की दो व्याख्याओ का अन्तर उन नागार्जुन और शान्तिरक्षित के प्रबन्धो के आरम्भिक श्लोको मे स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है जिन्हे हम क्रमश महायान के प्रथम और द्वितीय कालो मे प्रचलित विचारो का व्याख्याता मान सकते हैं। इन आरम्भिक श्लोको मे, सदैव की भाँति, बुद्ध की एक श्रद्धात्मक स्तुति है और ये उनकी प्रतीत्य

---

[1] प्रतीत्य-समुत्पन्नत्व = शून्यता = धर्मता।

[2] स्वभाव शून्यत्व।

[3] दीर्घ-ह्रस्व-वत्।

[4] तुकी० मेरा 'निर्माण' पृष्ठ १३४

[5] वही। छ हेतुओ का सिद्धान्त नागार्जुन को अज्ञात प्रतीत होता है।

[6] 'चल प्रतीत्य-समुत्पाद', तसप० पृ० १

समुत्पाद के सिद्धान्त के स्रष्टा के रूप मे स्तुति करते हैं। साथ ही इस सिद्धान्त को सक्षेप मे किन्तु सार्थक रूप से व्यक्त भी किया गया है। नागार्जुन का यह कथन है[१] "मैं उन बुद्ध को नमस्कार करता हूँ जिन्होने उस प्रतीत्य सामुत्पाद के सिद्धान्त की घोषणा की है जिसके अनुसार कोई बहुत्व नही है, कोई विभेदत्व नही है, कोई आरम्भ और कोई अन्त नही है, कोई गति नही है—न तो यहाँ और न वहाँ।" शान्तिरक्षित यह कहते है "मैं उन बुद्ध को प्रणाम करता हूँ जिन्होने उस प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त की घोषणा की है जिसके अनुसार समस्त वस्तु चल है, कोई ईश्वर नही है, कोई प्रकृति नही है, कोई, द्रव्य नही है, कोई गुण नही है, कोई (पृथक्) कर्म नही है, कोई समवाय नही है और कोई जाति नही है, किन्तु प्रत्येक कम तथा उसके फल का सम्बन्ध निश्चित रूप से व्यवस्थित है।"

§ ९. कुछ योरोपीय समानान्तरताये

यद्यपि प्रतीत्य समुत्पाद के बौद्ध-सिद्धान्त ने योरप मे बौद्ध दर्शन के अध्ययन के आरम्भ से ही विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया है, तथापि इसकी समझ तथा इसके ऐतिहासिक विकास के ज्ञान ने अब तक अत्यन्त मन्द प्रगति की है। सम्भवत बौद्धो का अन्य कोई ऐसा सिद्धान्त नही है जिसका इतना अधिक मिथ्याग्रहण किया गया है, तथा जिस पर निराधार अनुमानो तथा काल्पनिक दार्शनिकीकरण का इतना प्रचुर व्यय किया गया है। हमे न तो इसके उन बौद्ध-पूर्व स्रोतो का ज्ञान है, जिन्हे सम्भवत भारतीय आयुर्वेद मे ढूंढा जाना जाहिये, और न हम इसके विवेचन के उन उतार-चढाव के सम्बन्ध मे ही अधिक जानते हैं जो आरम्भिक बौद्ध सम्प्रदायो के अन्तर्गत इसमे हुए थे। इतना ही नही, यद्यपि उन सस्कृत तथा पालि शब्दो का, जिनका इसे व्यक्त करने के लिये निर्माण किया गया है, शब्दानुवाद 'प्रतीत्य समुत्पाद' के अतिरिक्त और कुछ भी नही हो सकता, तथापि अधिकाश विद्वानो ने ईसके लिये प्रतीत्य समुत्पाद के अतिरिक्त सम्भव और असम्भव हर प्रकार के अर्थ की कल्पना की है। इसका कारण अशत इस परिस्थित मे निहित है कि, मात्र तार्किक सम्भावना के अनिरिक्त, यह अत्यन्त असम्भाव्य प्रतीत हुआ कि भारतीयो के पास मानव चिन्तन के इतिहास के इतने आरम्भिक काल मे ही हेतुत्व का एक ऐसा सिद्धान्त विकसित हो गया होगा जो इतना अधिक आधुनिक है, और जो सिद्धान्तत सर्वाधिक विज्ञानो मे भी स्वीकृत सिद्धान्त के समान है।

---

[१] शब्दानुवाद के लिये, तुकी० मेरा निर्वाण' पृष्ठ ६९.

योरप मे इस सिद्धान्त के निर्माता, एम० माख, ने भी बौद्धो के बहुत कुछ समान तर्कों का ही आश्रय लिया है। जब कल्पना की एक आत्मा की सत्ता मे कोई अभिरुचि नही रह जाती, जब आत्मा को अस्वीकृत कर दिया जाता है, तब, इन्होने कहा कि, सत्ता के पृथक् धर्मों मे गणितीय आशय मे हेतुत्व के नियमो, क्रियात्मक अन्योन्याश्रयत्व के नियमो के अतिरिक्त इसका (आत्मा का) और कुछ शेष नही रह जाता। बौद्धमत ने इन धर्मों के पृथक्त्व को अन्तिम सीमा तक, गणितीय क्षणो की सीमा तक, ढकेल दिया है, किन्तु अन्योन्याश्रयत्व का सूत्र सदैव वही है—"यह होने से यह होता है।"

यत प्रतीत्य समुत्पाद का बौद्ध-सिद्धान्त अपने द्रव्य की विषयात्मक यथार्थता की अस्वीकृति द्वारा निर्धारित है, अत इसे स्वभावत कुछ सीमा तक उन समस्त योरोपीय सिद्धान्तो के अनुरूप होना चाहिये जो इसी प्रकार की अस्वीकृति मानते हैं। द्रव्य के विषयात्मक यथार्थ को योरप मे इन लोगो ने अस्वीकृत किया है जे० एस० मिल, जिनके लिये द्रव्य 'एक (अनित्य, क्षणिक) सवेदना की स्थायी सम्भावना है', काण्ट, जिनके लिये द्रव्य केवल एक मानसिक पदार्थ है, आधुनिक समय के बर्ट्राण्ड रसेल, जिनके लिये द्रव्य 'पदार्थ के स्थायी अग नही' बल्कि 'अल्पकालिक घटनायें हैं, जो फिर भी, गुणो तथा सम्बन्धो से मुक्त होते है।' हम देख चुके है कि, बौद्धो के लिये ये गुणो या सम्बन्धो से रहित क्षणिक घटनायें हैं। आरम्भिक बौद्धो के लिये ये विशेष सस्कारो के क्षणिक प्रतिभास हैं। बाद के बौद्धो के लिये ये गणितीय क्षण हैं। ससार मे या तो स्थायित्व है अथवा अस्थायित्व, या तो अवधि है अथवा कोई अवधि नही है। दोनो नही हो सकते। एक 'अल्प अवधि' आनुभविक दृष्टिकोण से अत्यन्त सरल है, किन्तु परमार्थ सत् की दृष्टि से यह एक 'अस्थायी अवधि' है। वस्तुयें स्वय ही अनित्य होती हैं, उनके स्वभाव मे कोई अवधि हो ही नही सकती। कुछ इसी प्रकार का उत्तर सम्भवत धर्मकीर्ति ने श्री रसेल को दिया होता।

काण्टवादी इस विचार के, कि द्रव्य एक ऐसा पदार्थ है जो हमारे तर्क की सामान्य प्रकृति पर लाद दिया गया है और जिसका 'इन्द्रिय ग्राह्यता के विविधत्व' के आधार पर निर्माण किया गया है—विरुद्ध सम्भवत बौद्धो को कोई आपत्ति नही है, क्योकि इसमे द्विविध यथार्थता की स्वीकृति निहित है—एक स्वलक्षण वस्तुओ का परमार्थ सत्, और दूसरा आनुभविक वस्तुओ की कल्पित यथार्थता (अर्थात् अयथार्थता) निहित है। आनुभविक हेतुत्व, अनुभवातीत नही एक पदार्थ है।

समुत्पाद के सिद्धान्त के स्रष्टा के रूप मे स्तुति करते हैं। साथ ही इस सिद्धान्त को सक्षेप मे किन्तु सार्थक रूप से व्यक्त भी किया गया है। नागार्जुन का यह कथन है[१] "मैं उन बुद्ध को नमस्कार करता हूँ जिन्होने उस प्रतीत्य सामुत्पाद के सिद्धान्त की घोपणा की है जिसके अनुसार कोई वहुत्व नही है, कोई विभेदत्व नही है, कोई आरम्भ और कोई अन्त नही है, कोई गति नही है—न तो यहाँ और न वहाँ।" शान्तिरक्षित यह कहते है "मैं उन बुद्ध को प्रणाम करता हूँ जिन्होने उस प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त की घोपणा की है जिसके अनुसार समस्त वस्तु चल है, कोई ईश्वर नही है, कोई प्रकृति नही है, कोई, द्रव्य नही है, कोई गुण नही है, कोई (पृथक्) कर्म नही है, कोई समवाय नही है और कोई जाति नही है, किन्तु प्रत्येक कम तथा उसके फल का सम्बन्ध निश्रित रूप से व्यवस्थित है।"

§ ९. कुछ योरोपीय समानान्तरताये

यद्यपि प्रतीत्य समुत्पाद के बौद्ध-सिद्धान्त ने योरप मे बौद्ध दर्शन के अध्ययन के आरम्भ से ही विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया है, तथापि इसकी समझ तथा इसके ऐतिहासिक विकास के ज्ञान ने अब तक अत्यन्त मन्द प्रगति की है। सम्भवत बौद्धो का अन्य कोई ऐसा सिद्धान्त नही है जिसका इतना अधिक मिथ्याग्रहण किया गया है, तथा जिस पर निराधार अनुमानो तथा काल्पनिक दार्शनिकीकरण का इतना प्रचुर व्यय किया गया है। हमे न तो इसके उन बौद्ध-पूर्व स्रोतो का ज्ञान है, जिन्हे सम्भवन भारतीय आयुर्वेद मे ढूंढा जाना जाहिये, और न हम इसके विवेचन के उन उतार-चढाव के सम्बन्ध मे ही अधिक जानते हैं जो आरम्भिक बौद्ध सम्प्रदायो के अन्तर्गत इसमे हुए थे। इतना ही नही, यद्यपि उन सस्कृत तथा पालि शब्दो का, जिनका इसे व्यक्त करने के लिये निर्माण किया गया है, शब्दानुवाद 'प्रतीत्य समुत्पाद' के अतिरिक्त और कुछ भी नही हो सकता, तथापि अधिकाश विद्वानो ने ईसके लिये प्रतीत्य समुत्पाद के अतिरिक्त सम्भव और असम्भव हर प्रकार के अर्थ की कल्पना की है। इसका कारण अशत इस परिस्थित मे निहित है कि, मात्र तार्किक सम्भावना के अतिरिक्त, यह अत्यन्त असम्भाव्य प्रतीत हुआ कि भारतीयो के पास मानव चिन्तन के इतिहास के इतने आरम्भिक काल मे ही हेतुत्व का एक ऐसा सिद्धान्त विकसित हो गया होगा जो इतना अधिक आधुनिक है, और जो सिद्धान्तत सर्वाधिक विज्ञानो मे भी स्वीकृत सिद्धान्त के समान है।

---

[१] शब्दानुवाद के लिये, तुकी० मेरा निर्वाण' पृष्ठ ६९.

योरप मे इस सिद्धान्त के निर्माता, एम० माख, ने भी बौद्धो के बहुत कुछ समान तर्कों का ही आश्रय लिया है। जब कल्पना की एक आत्मा की सत्ता मे कोई अभिरुचि नही रह जाती, जब आत्मा को अस्वीकृत कर दिया जाता है, तब, इन्होने कहा कि, सत्ता के पृथक् धर्मों मे गणितीय आशय मे हेतुत्व के नियमो, क्रियात्मक अन्योन्याश्रयत्व के नियमो के अतिरिक्त इसका (आत्मा का) और कुछ शेष नही रह जाता। बौद्धमत ने इन धर्मों के पृथक्त्व को अन्तिम सीमा तक, गणितीय क्षणो की सीमा तक, ढकेल दिया है, किन्तु अन्योन्याश्रयत्व का सूत्र सदैव वही है—"यह होने से यह होता है।"

यत प्रतीत्य समुत्पाद का बौद्ध-सिद्धान्त अपने द्रव्य की विषयात्मक यथार्थता की अस्वीकृति द्वारा निर्धारित है, अत इसे स्वभावत कुछ सीमा तक उन समस्त योरोपीय सिद्धान्तो के अनुरूप होना चाहिये जो इसी प्रकार की अस्वीकृति मानते हैं। द्रव्य के विषयात्मक यथार्थ को योरप मे इन लोगो ने अस्वीकृत किया है जे० एस० मिल, जिनके लिये द्रव्य 'एक (अनित्य, क्षणिक) सवेदना की स्थायी सम्भावना है', काण्ट, जिनके लिये द्रव्य केवल एक मानसिक पदार्थ है, आधुनिक समय के बर्ट्रांण्ड रसेल, जिनके लिये द्रव्य 'पदार्थ के स्थायी अग नही' बल्कि 'अल्पकालिक घटनायें हैं, जो फिर भी, गुणो तथा सम्बन्धो से मुक्त होते है।' हम देख चुके है कि, बौद्धो के लिये ये गुणो या सम्बन्धो से रहित क्षणिक घटनायें हैं। आरम्भिक बौद्धो के लिये ये विशेष सस्कारो के क्षणिक प्रतिभास हैं। बाद के बौद्धो के लिये ये गणितीय क्षण है। ससार मे या तो स्थायित्व है अथवा अस्थायित्व, या तो अवधि है अथवा कोई अवधि नही है। दोनो नही हो सकते। एक 'अल्प अवधि' आनुभविक दृष्टिकोण से अत्यन्त सरल है, किन्तु परमार्थ सत् की दृष्टि से यह एक 'अस्थायी अवधि' है। वस्तुयें स्वय ही अनित्य होती हैं, उनके स्वभाव मे कोई अवधि हो ही नही सकती। कुछ इसी प्रकार का उत्तर सम्भवत धर्मकीर्ति ने श्री रसेल को दिया होता।

काण्टवादी इस विचार के, कि द्रव्य एक ऐसा पदार्थ है जो हमारे तर्क की सामान्य प्रकृति पर लाद दिया गया है और जिसका 'इन्द्रिय ग्राह्यता के विविधत्व' के आधार पर निर्माण किया गया है—विरुद्ध सम्भवत बौद्धो को कोई आपत्ति नही है, क्योकि इसमे द्विविध यथार्थता की स्वीकृति निहित है—एक स्वलक्षण वस्तुओ का परमार्थ सत्, और दूसरा आनुभविक वस्तुगत, कल्पित यथार्थता (अर्थात् अयथार्थता) निहित है। [illegible] अनुभवातीत नही एक पदार्थ है।

जे० एस० मिल के दृष्टिकोण से सम्भवत मुख्य रूप से आरम्भिक बौद्ध सहमत हो सकते थे, क्योंकि उनके क्षण बिना द्रव्य के अनित्य ग्राह्यार्थ, ग्राह्यगुण हैं। बौद्धो के लिये स्थायित्व और अवधि, एक-दूसरे का निरन्तर अनुगमन करने वाले 'क्षणो की शृङ्खला' के अतिरिक्त और कुछ नही। 'क्षणो की शृङ्खला' की धारणा 'घटनाओ की रज्जु' की आधुनिक धारणा के कुछ अनुरूप है। श्री रसेल के अनुसार 'घटनाओ की रज्जु 'को पदार्थ का एक टुकडा"[1] कहते हैं, और घटनायें 'द्रुत, किन्तु क्षणिक परिवर्तन नही, हैं,[2] ये 'समय जैसे अल्प व्यवधानो' द्वारा पृथक् होती हैं।[3] आपका कथन है कि "सहज बुद्धि की वस्तु एक ऐसा स्वभाव है जिसकी मैं एक रेखीय पथ पर क्रमिक घटनाओ को सम्बद्ध करनेवाले अवकल नियम की प्रथम कोटि की उपस्थिति के रूप मे परिभाषा करूँगा।"[4] यह हमे इस अन्तर के साथ बौद्ध दृष्टिकोण का स्मरण दिलाता है कि घटनायें क्षणिक होती हैं और एक-दूसरे का निरन्तर अनुगमन करती हैं। जैसा कि इसे कमलशील[5] प्रस्तुत करते हैं, "यदि उसका, जो पूर्व क्षण मे था, लेश मात्र भी दूसरे क्षण मे नही मिलता तो परिवर्तन को क्षणिक ही होना चाहिये"।

हेत्वात्मक नियमो की क्रियात्मक अन्योन्याश्रयत्व के नियमो के रूप मे, अर्थात् इस सिद्धान्त कि 'यह होने से यह होता है' के रूप मे विवेचन, जैसा कि हम देख चुके है, क्षणिकवाद के सिद्धान्त का भी एक साक्षात् परिणाम है। हेतुत्व क्षणो के बीच होता है, स्थायी पदार्थों अथवा अवधियो के बीच नही। श्री रसेल का यही विचार है, यद्यपि हम यह आशा करेंगे कि ये यह कहेगे कि यह स्थायित्व के छोटे टुकड़ो के और अवधि के छोटे टुकडो के बीच होता है। हेतुओ के नानात्व के सिद्धान्त मे, इस धारणा मे कि हेतुत्व अनेक-एक सम्बन्ध है, तथा हेतुओ की अनन्तता के सिद्धान्त मे, इस सिद्धान्त मे कि प्रत्येक परि-

---

[1] अनेलिसिस ऑफ मैटर, पृ० २४७।

[2] वही पृ० २४५

[3] वही। पृष्ठ ३७२ पर इस सम्भावना को स्वीकार किया गया है कि प्रकाश की एक किरण के दो विन्दुओ के बीच का अन्तर शून्य होता है। फिर भी, ये अन्तर, यथार्थवादियो के लिये 'कुछ रहस्यमय और असमाधानित' ही रहते हैं। वही पृ० ३७५।

[4] वही पृ० २४५।

[5] वही पृ० १८२.१२।

वर्तन-विशेप मे तदनुरूप सत्ता का एक विश्व होता है—इन दोनो सिद्धान्तो मे, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धो के दृष्टिकोण तथा अभी हाल मे व्यक्त श्री रसेल[१] के दृष्टिकोण मे सर्वथा साम्य है। हेतुत्व के सहजबुद्धि पर आधारित यथार्थवादी विचार से सम्बद्ध पूर्वग्रहो की श्रृङ्खला के प्रतिवाद के सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है। इस पूर्वग्रह मे कि फल को प्रगट करने के लिये हेतु 'सचालन'[२] करते हैं, यह कि ये उसे 'विवश'[३] करते हैं, हेत्वात्मक सम्बन्ध को मानवत्वारोपित रूप से विचार करने की ओर झुकाव मे,[४] तथा इस पूर्वग्रह मे भी कि फल को हेतु के 'समान'[५] होना चाहिये—इन सबमे परस्पर समानता उल्लेखनीय है। निपेधात्मक पक्ष मे प्राय. सर्वथा पूर्ण समानता मिलती है।

समर्थक पक्ष मे वह सब अन्तर मिलता है जो एक क्षण तथा 'सक्षिप्त घटना' के बीच हो सकता है। परमार्थ सत् के दृष्टिकोण से एक सक्षिप्त घटना तथा दीर्घ घटना मे अत्यन्त कम अन्तर है क्योकि ये विशिष्टताये सर्वथा सापेक्ष हैं। किन्तु अवधि और अ-अवधि मे अत्यधिक अन्तर है। रसेल के लिये क्षण केवल एक 'गणितीय सुविधा' मात्र है। न्याय सम्प्रदाय के भारतीय यथार्थवादियो के लिये, हम देख चुके हैं कि, यह एक केवल विचार मात्र, एक नाममात्र भी है। किन्तु बौद्धो के लिये यह अनुभवातीत अथवा परमार्थ सत् को व्यक्त करता है। हमारे विकल्पो के समस्त कृत्रिम उत्पादनो की सीमा के रूप मे यह यथार्थ है, अर्थात् यथार्थता है। क्षण के अतिरिक्त और कुछ यथार्थ नही है, अन्य सब कुछ, चाहे वह सक्षिप्त अथवा दीर्घ हो, इसी के आधार पर हमारे विकल्प द्वारा रचित होता है।

इन बौद्ध विचारो का मानव चिन्तन के सामान्य इतिहास मे क्या स्थान होना चाहिये, इस बात का निर्णय और इनके महत्त्व के गुण-ग्रहण को हम सामान्य दार्शनिको पर छोड देते हैं, किन्तु हम उन तर्कसगत शब्दो को उद्धृत करने से विरत नही हो सकते जो स्वर्गीय प्रोफेसर टी० डब्लू० रिज़ डेविड्स ने इस विषय पर कहे हैं। बौद्ध विचारो के साथ एक जीवन-पर्यन्त घनिष्ठता

---

[१] मिस्टीसिजम मे 'आन दि नोशन ऑफ कॉज़ (१९२१) पृ० १८७ और बाद।

[२] वही पृ० १९२।

[३] वही पृ० १९०।

[४] वही पृ० १८९।

[५] वही।

द्वारा प्राप्त धारणाओ को आप इस प्रकार संक्षिप्त करते हैं "आत्मा की उपेक्षा करने मे भारत के समस्त धर्मों मे बौद्धमत अकेला खड़ा है। इस नवीन विचलन की मौलिकता तथा सशक्तता उस सर्वथा पार्थक्य मे प्रगट है जिसमे हम बौद्धमत को पाते हैं। इस दृष्टि से यह उस समय संसार मे विद्यमान अन्य सभी धार्मिक पद्धतियो से पृथक् है। और वे योरोपीय लेखक, जो आज भी जीववादी पूर्वप्रत्ययनो मे लिप्त हैं, इस मत के गुण-ग्रहण करने अथवा समझने तक मे जिस महान् कठिनाई का अनुभव करते हैं, वे इस बात का अनुभव करने मे हमारी सहायता कर सकते हैं कि इस मत के आरम्भकर्ता के लिये, मानवचिन्तन के इतिहास के इतने आरम्भिक समय मे ही दर्शन तथा धर्म के क्षेत्र मे इतने दूरगामी तथा निर्णायक मतो का आश्रय लेना कितना कठिन रहा होगा।' प्रत्येक तथा समस्त अवस्थाओ की, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, अनित्यता के मत का तथा किसी भी निहितस्थ वस्तु, सत्ता, आत्मा या उपस्थायी वस्तु के अभाव का उन अनेक दृष्टिकोणो के अनुसार विचार किया गया है जिनका कि उतने ही विभिन्न सुत्तो मे किया जा सकता है।"[1]

[1] टी० डब्लू० रिज डेविड्स डायलॉग्स, भाग २, पृ० २४२।

अध्याय ३

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष

(प्रत्यक्षम्)

§ १. इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परिभाषा

कोई वस्तु यथार्थत क्या है इस बात की परिभाषा, बौद्धो के अनुसार, कभी भी नही दी जा सकती। इनकी मान्यता है कि "यदि कोई वस्तु ज्ञात है तो उसकी परिभाषा व्यर्थ है, और यदि वह अज्ञात है तो उसकी परिभाषा और भी व्यर्थ है क्योकि वह असम्भव है।"[1] इसका, नि सन्देह, यह तात्पर्य नही है कि अपने अनुसन्धानो के प्रत्येक पग पर बौद्धो ने परिभाषाओ का आश्रय लिया ही नही और उन्हे यथासम्भव प्रखर और स्पष्ट करने का प्रयास नही किया, वल्कि यह अर्थ है कि वस्तु के स्वलक्षण को, उसके सार को, हम कभी भी व्यक्त नही कर सकते, हम केवल सम्बन्धो को ही जानते हैं। भारतीय यथार्थवादी, जैसे कि इनके योरोपीय समकक्ष, स्कूलमेन तथा उनके आचार्य एरिस्टॉटल भी थे, यह विश्वास करते थे कि वस्तुयें ऐसे 'स्वलक्षणत्व' या सार-तत्त्वो से युक्त होती हैं, जिनका सकेत करना महत्त्वपूर्ण है। इनके लिये अग्नि की परिभाषा यह होगी 'वह धर्म जो अग्नित्व (अग्नि के सारतत्त्व) से युक्त है उसे अग्नि कहते हैं।"[2] यह "अग्नित्व" भारतीय यथार्थवादियो के लिये अग्नि का "स्वरूप" ही है और इसकी परिभाषा एक सक्षिप्त परार्थानुमान है जिसको केवल व्यतिरेकी अनुमान के आधार पर इस प्रकार पूर्णतया व्यक्त किया जा सकता है, जैसे

जिसमे अग्नि का 'स्वरूप' नही है उसे अग्नि नही कहा जा सकता (जैसे जल)।

यह पदार्थ अग्नित्व से युक्त है

यह अग्नि है।[3]

बौद्ध यह मानते हैं कि इस प्रकार की परिभाषाये व्यर्थ हैं क्योकि 'स्वरूपत्व' का कोई अस्तित्व नही होता। इनके लिये हमारे समस्त धारणा-

---

[1] न्याकण्ड० २८ २२

[2] वही पृ० २८ १५, जहाँ पृथिवी की परिभाषा दी हुई है।

[3] बौद्धो के लिये यह एक दोषपूर्ण परार्थानुमान है।

त्मक ज्ञान और भाषा की, समस्त नामकरण के योग्य वस्तुओ और समस्त नामो की विशिष्टता यह है कि ये सब द्वन्द्वात्मक होते हैं। प्रत्येक शब्द अथवा प्रत्येक धारणा अपने प्रतिरूप के साथ सहसम्बद्ध होती है, और यही एकमात्र परिभाषा है जो दी जा सकती है। इसलिये हमारी समस्त परिभाषायें प्रच्छन्न वर्गीकरण हैं जिन्हे किसी विशेष दृष्टिकोण से[1] ग्रहण किया जाता है। पारिभाषित वस्तु को व्यावृत्तिवशात् व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के लिये, नीला रङ्ग क्या है इसको हम बता नही सकते, किन्तु हम समस्त रगो का नीले तथा नीलेतर मे वर्गीकरण कर सकते हैं। नीलेतर को, पुन, इसी द्विधात्मक सिद्धान्त के अनुसार रङ्गो के अनेक प्रकारो मे विभक्त कर सकते हैं। नीले रङ्ग की परिभाषा यह होगी कि यह नीलेतर नही है, और इसके विपरीत नीलेतर की परिभाषा यह होगी कि यह नीला नही है। बौद्धो के नामो के सिद्धान्त का, जिसे बौद्ध अपोहवाद अथवा बौद्ध-द्वन्द्वन्याय विधि कहा जा सकता है, बाद मे विवेचन किया जायगा। हम इसका अभी इसलिये उल्लेख कर रहे हैं क्योकि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की परिभाषा प्रत्यक्षत इसके ही सन्दर्भ मे दी गई है।

प्रमाण स्वय अपने मे क्या है, इसे हम कभी नही जान सकेंगे—यह एक रहस्य है। किन्तु हम इसका साक्षात् और परोक्ष के रूप मे विभाजन कर सकते हैं। साक्षात् वह होगा जो परोक्ष नही है और परोक्ष वह जो साक्षात् नही है। प्रमाण के सम्बन्ध मे हम एक ऐसा दृष्टिकोण अपना सकते हैं जो इसे प्रतिभास[2] मे परिणत कर देता है, किन्तु तब भी हमे साक्षात् प्रतिभास और परोक्ष प्रतिभास का विभाजन,[3] अर्थात् प्रतिभासो और अ-प्रतिभासो का विभाजन रखना होगा

ज्ञानमीमासा का सम्पूर्ण शास्त्र ही एक साक्षात् और एक परोक्ष प्रमाण के इस सैद्धान्तिक अन्तर पर निर्मित है। हम प्रमाण के साक्षात् स्रोत को ग्राह्यता तथा परोक्ष को बुद्धि या प्रज्ञा कह सकते हैं, किन्तु इन शब्दो का अर्थ यह होगा कि ग्राह्यता प्रज्ञा नही है और प्रज्ञा ग्राह्यता नही है।

यह कह चुकने के बाद कि केवल दो ही प्रकार के प्रमाण (ज्ञान)[4]

---

[1] 'अपेक्षा-वशात्।'

[2] प्रतिभास (आदर्शवत्)

[3] नियत-अनियत-प्रतिभास (उस आशय मे जिसमे इन शब्दो को न्यायवि-टी० पृ० ८८ और बाद, मे प्रयोग किया गया है)।

[4] अनुमान। एक 'अनुमान-विकल्प' और एक 'प्रत्यक्ष-विकल्प' होता है,

होते हैं जिन्हे वह सुविधापूर्वक प्रत्यक्ष और अनुमान कहते हैं, दिङ्नाग[1] प्रत्यक्ष पर आते हैं और कहते हैं कि प्रमाण का यह स्रोत 'अ-रचनात्मक' (निर्विकल्पक), होता है, जो इस बात के कथन का ही एक द्वितीय रूप है कि वह साक्षात् होता है परोक्ष नही। संस्कृत मे अनुमान शब्द का शब्दार्थ 'अनु + मान' है, अर्थात् यह स्वय अपने नाम से भी परोक्ष प्रमाण का द्योतक है।[2] वस्तुओ के अस्तित्व का या तो साक्षात् प्रत्यक्ष हो सकता है अथवा उनका परोक्ष अनुमान किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त उनके विज्ञान का और कोई अन्य मार्ग नही है। यहाँ साक्षात् क्या है और परोक्ष क्या, इसके ठीक ठीक प्रतिमान की स्थापना विज्ञान के सिद्धान्त के द्वारा की जानी चाहिये, किन्तु हम इसे उसी समय जानेगें जब हम इस बात की स्थापना कर दे कि परोक्ष के किसी भी लेश से रहित साक्षात् क्या है, और साक्षात् के किसी भी लेश से रहित परोक्ष क्या है, अर्थात् दूसरे शब्दो मे, इस बात की कि शुद्धप्रत्यक्ष[3] क्या है और शुद्ध कल्पना क्या है। धर्मोत्तर का कथन है कि "ऐसी वस्तुओ का उल्लेख करना सर्वथा व्यर्थ है जिन्हे सार्वभौमिक रूप से सभी स्वीकार करते हैं। किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा, जिसका ध्यान जागृत कर दिया गया है, अपने दृश्य-क्षेत्र मे स्थित किसी वस्तु के 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष' को साक्षात् विज्ञान के रूप मे ग्रहण करने मे कोई आपत्ति नही है। किन्तु इस सरल तथा स्पष्ट तथ्य ने अनेक भिन्न व्याख्यायो को उत्पन्न कर दिया है। यहाँ यथातथ्य दृष्टिकोण की एक सपरीक्षा तथा मिथ्या दृष्टिकोण की अस्वीकृत द्वारा स्थापना की जायगी। इस प्रकार, इसकी निषेधात्मक या विभेदात्मक रूप से स्थापना की जायगी। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति द्वारा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को दिये गये आशय का, इस प्रकार, दोहरा प्रयोजन है (१) प्रमाण के इस स्रोत का विज्ञान के अन्य माध्यमो से विभेद करना और (२) इसकी बौद्ध धारणा का अन्य विरोधी सम्प्रदायों के दृष्टिकोणो से विभेद करना।[4] इस प्रकार, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की निषेधात्मक रूप मे स्थापना की जायगी, और इसकी परिभाषा करने का यही एकमात्र उपाय है।

किन्तु निर्विकल्पक=कल्पना-अपोढ से विभेद के लिये 'अनुमान' को 'विकल्प' का प्रतिनिधि माना गया है।

[1] शुद्धम् प्रत्यक्षम=निर्विकल्पकम्।

[2] न्यायबिंदुटी० पृ० ६,१९ और बाद।

[3] अन्य व्यावृत्त्य-अर्थम्।

[4] विप्रतिपत्ति-निराकरणार्थम्।

किसी पदार्थ और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न[1] विज्ञान के रूप मे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सामान्यतया दी जानेवाली परिभाषा अनेक दृष्टियो से दोषपूर्ण है। यह परिभाषा, सर्वप्रथम, प्रत्येक शुद्ध विज्ञान की इस सामान्य विशिष्टता पर कोई ध्यान नही देती कि विज्ञान एक नवीन विज्ञान[2] होता है—किसी नवीन वस्तु का विज्ञान होता है प्रत्यभिज्ञा नही। और ऐसा प्रत्येक विज्ञान का केवल प्रथम क्षण ही होता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, यथार्थ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, अथवा इन्द्रियो द्वारा विज्ञान, प्रत्यक्ष का केवल प्रथम क्षण ही होता है। बाद के क्षणो मे, जब ध्यान जागृत हो जाता है, तब यह वह शुद्ध इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नही रह जाता जो यह प्रथम क्षण मे था। साथ ही, सामान्य परिभाषा मे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के उपयुक्त कार्य तथा उसके अन्य सम्भाव्य कारणो के कार्य के बीच एक प्रच्छन्न अस्त-व्यस्तता मिलती है, क्योकि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का स्वय अपना कार्य, स्वय अपना विषयार्थ और स्वय अपना कारण होता है। इसका कार्य विषयार्थ को इन्द्रियो के समक्ष उपस्थित करना होता है।[3] इसमे सन्देह नही कि यह कार्य किसी विषयार्थ को इन्द्रिय-ग्राह्यता के क्षेत्र मे हठात्[4] खीच कर लाने के आशय मे नही किया जाता बल्कि ज्ञान के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। इसका विषयार्थ कोई वस्तु-विशेष[5] होता है, क्योकि मात्र यही यथार्थ वस्तु हो सकता है, क्योकि यथार्थ और प्रापक होने के कारण यह इन्द्रियो में उद्दीपन उत्पन्न कर सकता है। कारण, अथवा कारणो, में से एक पुन एक विशेष वस्तु होता है। समस्त प्रमाण या ज्ञान की सामान्य विशिष्टता यह है कि उसे उत्पन्न करनेवाले कारणो मे से एक साथ ही साथ उसका विषयार्थ भी होता है। इस कारण का अन्य कारणो से कैसे विभेद किया जाय, अथवा दूसरे शब्दो मे कोई विषय होने का तथ्य क्या है, विषयता[6] क्या है, इसका बाद मे परीक्षण किया जायगा इस समय तो हमारा प्रमुख उद्देश्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के ठीक-ठीक काय का निर्धारण करना है। यह कार्य किसी भी विषयार्थ की इन्द्रियगोचर क्षेत्र के अन्तर्गत उपस्थिति का सकेत, उसकी उपस्थिति मात्र का सकेत, इससे अधिक और कुछ नही होता। उस विषयार्थ के,

[1] 'अर्थ-इन्द्रिय-सन्निकर्ष-उत्पन्नम्', न्यासू० १ १,४।

[2] तुकी० ऊपर पृ० ७५।

[3] साक्षात्-कारित्व-व्यापार।

[4] 'न हठात्', न्याबिटी०, पृ० ३.८।

[5] 'स्वलक्षण', न्याबिटी० १२.१३।

[6] विषयता (तद्-उत्पत्ति-तत् सारूप्याभ्याम्)।

जिसकी उपस्थिति का इस प्रकार संकेत किया गया है, स्वरूप का सृजन एक भिन्न कार्य है जिसको एक दूसरा माध्यम सम्पन्न करता है। यह एक परवर्ती कार्य होता है जो प्रथम के पदचिह्नों का अनुसरण करता है। अत, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की विशिष्टता इसका रचनात्मक न होना है। इसके बाद मानसिक-चित्र की रचना की जाती है, किन्तु यह स्वय अ-रचनात्मक होता है। यह एक ऐसा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता जो समस्त स्मृति-धर्मो मे रहित होता है। यह शुद्ध इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है। हम इसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भी नही कहेगे। यह तो विज्ञान है, यहाँ तक कि शुद्ध विज्ञान, प्रत्यक्ष का विज्ञानात्मक केन्द्र। इस प्रकार, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का कार्य स्पष्ट रूप से विकल्प से भिन्न होता है। प्रथम कार्य किसी विषय की उपस्थिति का सकेत मात्र करना है, और दूसरे का कल्पनाचित्र का निर्माण करना। तदनुसार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की पूर्ण परिभाषा को इस अन्तर का भी स्पष्टीकरण करना चाहिये। यह परिभाषा इस प्रकार है 'प्रत्यक्ष' प्रमाण का वह स्रोत है जिसका कार्य विषयार्थ को इन्द्रिय-गोचर क्षेत्र मे उपस्थित कर देना होता है, और इसके बाद उसके कल्पना-चित्र (आकार) का निर्माण आता है।[1] इस परिभाषा को बहुधा ही दोहराया गया है और इससे इस मान्यता का तात्पर्य है कि केवल प्रथम क्षण ही इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, इसके बाद का चित्र स्मृतिजन्य होता है। बौद्ध परिभाषा का अन्तिम निष्कर्ष बहुत कुछ सर्वथा सरल है, यथा, प्रत्यक्ष एक विज्ञान है जिसके बाद विकल्प आता है, क्योकि विकल्प किसी विशेष सन्दर्भ मे कल्पनाचित्र के अतिरिक्त और कुछ नही होता। फिर भी, 'बाद' शब्द पर जोर दिया गया है, और यह परिभाषा को बिल्कुल सरल नही रहने देता, क्योकि इस 'बाद मे होने' के तात्पर्य अनेक और गहन है।

§ २. धर्मकीर्ति का प्रयोग

अपने उपनिगमन, गणितीय क्षण की ही भाँति, शुद्ध विज्ञान का यह एक क्षण भी क्या एक परिपाटी मात्र नही है? किसी बाह्य पदार्थ से किन्तु एक सर्वथा गुणरहित शुद्ध पदार्थ से आनेवाले उद्दीपक से उत्पन्न होने पर भी क्या यह वास्तव मे एक यथार्थता है? इसे प्रत्येक के प्रकार कल्पनात्मक अथवा रचनात्मक धर्म के किसी भी लेश से सर्वथा पृथक माना गया है। किन्तु क्या यह स्वय भी शुद्ध कल्पना मात्र नही है? जैसा कि सुविज्ञात है, इस प्रश्न को केवल भारत मे ही नही पूछा गया है। इसके प्रति बौद्धो का उत्तर वही

[1] न्याबिटी० पृ० ३ १३, १० १२।

है जो उन्होने गणितीय क्षण की यथार्थता के सम्बन्ध मे दिया है। एक सर्वथा विशेष की ही भाँति अकेला क्षण कुछ ऐसा नही होता जिसे किसी आकार या स्वरूप मे व्यक्त किया जा सके। हम अपने ज्ञान के द्वारा इसके पास तक नही पहुँच सकते,[१] अर्थात् यह कोई आनुभाविक यथार्थ नही होता। किन्तु यह वह धर्म होता है जो अन्य सबको यथार्थता प्रदान करता है। यह समस्त यथार्थ और सगत ज्ञान की एक अनिवार्य अवस्था होता है। यह अनुभव से परे तो होता है किन्तु तत्त्वमीमासीय नही होता—यह 'आकाश मे पुष्प' नही होता।

यह नैयायिको के ईश्वर, साख्यो के प्रकृति, वैज्ञानिको के सामान्यो और समवाय, अथवा इन सब पद्धतियो के आत्मा के समान कोई भी तत्त्वमीमासात्मक तत्त्व नही होता। धर्मकीर्ति स्वसवेदना पर आधारित एक प्रयोग द्वारा इसकी यथार्थता को सिद्ध करने का प्रस्ताव करते हैं। तत्त्वमीमासात्मक तत्व इसलिये ही तत्त्वमीमासीय होते हैं क्योकि ये शुद्ध कल्पना होते हैं, क्योकि यथार्थता का कोई ऐसा बिन्दु नही होता, शुद्ध विज्ञान का कोई ऐसा क्षण नही होता जिसके साथ इन्हे सम्बद्ध किया जा सके। 'देश, काल तथा ग्राह्य गुणो की दृष्टि से ये अप्राप्य होते हैं।' किन्तु यह बिन्दु, या यह विज्ञान साक्षात् या परोक्ष रूप से आनुभविक यथार्थ और आनुभविक विज्ञान की प्रत्येक क्रिया मे उपस्थित रहते हैं। इस बात को हम स्वसवेदना के आधार पर परोक्ष रूप से सिद्ध कर सकते हैं।[२] धर्मकीर्ति का यह कथन है "इस बात को कि विज्ञान उत्पादक कल्पना (विकल्प) से सर्वथा भिन्न[३] कुछ होता है, स्वसवेदना[४]

---

[१] न्याबिटी० पृ० १२ १९।

[२] 'प्रत्यक्षम् कल्पनापोढम् प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति', प्रवा० ३,१२५, तुकी० अजप० २०७, तुकी० तस० पृ० ३७४ ७ और बाद।

[३] 'स्वलक्षण' तथा 'प्रत्यक्ष' के बीच एक 'तद्-भाव-भवित्व' होता है। यह तद्भाव-भावित्व समर्थक और निषेधात्मक होता है, जब कोई यथार्थता होती है तब विज्ञान होता है, जब कोई विज्ञान नही होता तब कोई यथार्थता नही होती। विज्ञान का अभाव विषय के अभाव के कारण अथवा उसकी सर्वथा अयथार्थता के कारण हो सकता है। प्रथम इस दशा मे होता है १) जब दृष्टि को रोकने वाला कोई व्यवधान होता है, अर्थात् जब विषय गोचर क्षेत्र मे नहीं होता, २) जब विषय सर्वथा अयथार्थ होता है, अर्थात् काल, देश और ग्राह्य गुण की दृष्टि से अनुपलब्ध होता है (देश-काल-स्वभाव-विप्रकृष्ट)। तुकी० तसप० पृ० ३७८ १७-१८।

[४] 'प्रत्यक्षेण=स्व-सविदितेन'

द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। वास्तव मे प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि विकल्प एक ऐसी वस्तु होता है जिसे व्यक्त किया जा सकता है (विकल्पो नाम-संश्रय)। अब, यदि हम किसी रंग के पट पर देखना आरम्भ करें और अपने विचारो को अन्य समस्त (विषयो) से हटा लें, तथा इस प्रकार अपनी चेतना को एक स्तिमित अवस्था मे परिणत कर दें[1] (और ऐसे हो जाँय मानो अचेतन हो), तब यह शुद्ध विज्ञान की अवस्था होगी।[2] तब, यदि (इस अवस्था से जागृत होकर) हम विचार करना आरम्भ करें तो हमे इस बात का (स्मरण) अनुभव होगा कि हमने अपने समक्ष एक (रंग के एक पट का) चित्र देखा था, किन्तु हमने उस समय ध्यान नही दिया था (अर्थात् हम उसका नामकरण नही कर सके थे) जब हम उक्त अवस्था मे थे क्योंकि वह एक शुद्ध विज्ञान था।[3]

धर्मकीर्ति का यह प्रयोग इसी प्रकार के एम० एच० बर्गसाँ द्वारा प्रस्तावित प्रयोग के साथ उल्लेखनीय साम्य प्रस्तुत करता है।[4] यह फ्रेन्च दार्शनिक कहता है कि "मैं अपने नेत्र बन्द करने जा रहा हूँ। अपने कानो को रोकने जा रहा हूँ, और एक-एक करके संवेदनाओ को समाप्त कर रहा हूँ ··हमारे समस्त प्रत्यक्ष अन्तर्धान हो रहे हैं, भौतिक जगत शान्ति मे विलीन हो रहा यहाँ तक कि मैं अपने तात्कालिक अतीत तक के समय की समस्त स्मृतियो को समाप्त अथवा विस्मृत कर सकता हूँ, किन्तु कम से कम मैं अपने वर्तमान की चेतना को, उसके आत्यन्तिक विपन्नता के स्तर पर आकर सुरक्षित रखता हूँ—अर्थात् अपने शरीर की वास्तविक स्थिति का अनुभव करता हूँ।" 'आत्यन्तिक विपन्नता' के स्तर तक ला दी गई यह चेतना, धर्मकीर्ति के कथनानुसार, शुद्ध विज्ञान के क्षण, वर्तमान क्षण, के अतिरिक्त और कुछ नही। बर्गसाँ इसे इस बात के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं कि शून्य का विचार एक असत् विचार है। बौद्ध भी सर्वथा इसी प्रयोजन के लिए इसका सन्दर्भ देते हैं।[5] किन्तु साथ ही साथ इस बात का प्रमाण भी है कि आनुभविक यथार्थ और आनुभविक विज्ञान की एक न्यूनतम सीमा होती है, और इसे ही शुद्ध विज्ञान कहते है।

---

[1] स्तिमितेन चेतसा।

[2] अक्ष-जा मति।

[3] इन्द्रियाद् गतौ।

[4] क्रियेटिव इवोल्यूशन, पृ० २९३।

[5] तुकी० ऊपर पृ० ११०।

किन्तु "भ्रान्ति" शब्द एकार्थक नही है। भ्रान्तियो के अनेक प्रकार होते हैं। एक मुख्य-विभ्रम होता है जिसके आनुसार समस्त आनुभविक ज्ञान एक प्रकार का विभ्रम होता है। एक अन्य प्रातिभासिकी-भ्रान्ति होती है जो मिथ्या विज्ञान की कुछ विशेष दशाओ को ही प्रभावित करती है। ज्ञान आनुभविक दृष्टि से सम्यक् हो सकता है, अर्थात् अनुभवातीत दृष्टि से प्रमाण न होते हुए भी सम्यक् हो सकता है। उदाहरण के लिये, जब दो व्यक्ति एक ही नेत्र-व्याधि से पीडित होते हैं जिसके कारण उन्हे प्रत्येक वस्तु द्विविध दिखाई पडती है, तब उनका ज्ञान यथार्थ न होते हुए भी, अर्थात् वह अन्य समस्त व्यक्तियो के ज्ञान के साथ सगत न होते हुये भी परस्पर सवादक होगा। इन दोनो व्यक्तियो मे से एक जब चन्द्रमा की ओर सकेत करते हुये यह कहेगा कि "दो चन्द्रमा हैं", तब दूसरा भी यह उत्तर देगा कि "हाँ, वास्तव मे दो चन्द्रमा हैं।" दोनो का ज्ञान परस्पर सवादक है, यद्यपि वह उनकी ज्ञानेन्द्रियो की स्थिति द्वारा सीमित है।[१] प्रत्येक आनुभविक ज्ञान की सर्वथा यही स्थिति होती है—वह हमारे ज्ञानेन्द्रियो की अवस्था द्वारा सीमित होता है।[२] यदि हम एक अन्य अन्त प्रज्ञा से युक्त हो, ऐसी बोधगम्य अ-ऐन्द्रिक अन्त प्रज्ञा से जिससे बुद्ध और

---

[१] तुकी० सन्तानान्तरसिद्धि, मेरा अनुवाद।

[२] भ्रान्ति = विभ्रम, शब्द द्विधार्थक है क्योकि—इससे 'मुख्या-भ्राति' तथा 'प्रातिभासिकी भ्रान्ति', दोनो का अर्थ है। अनुमान उदाहरण के लिये, अनुभवातीत दृष्टि से भ्रान्ति होता है (भ्रान्तम् अनुमानम्), किन्तु आनुभविक दृष्टि से यह 'सवादकम्' होता है। तुकी० तस प० पृ० ३९०.१४. 'सवादित्वेऽपि (ऐसा पाठ माना गया है) न प्रामाण्यम् इष्टम्'। किन्तु तस० पृ० ३९४ १६ मे 'विभ्रमेऽपि प्रमाणता' मे 'प्रमाण' शब्द का 'सवाद' के आशय मे प्रयोग हुआ है। "अविसवादित्व" का अर्थ "उपदर्शित-अर्थ-प्रापण-सामर्थ्य" है जब उपदर्शन, प्रवर्तन और प्रापण से एक ही वस्तु का बोध हो तब वहाँ सवादित्व होता है। चन्द्रमा और नक्षत्र 'देश-काल-आकार-नियता' होते हैं और इसलिये प्रापक, यथार्थ और संवादक होते हैं (स्वोचितासु अर्थ-क्रियासु विज्ञान-उत्पाद-आदिषु समर्था), किन्तु अनुभावातीत यथाथता की दृष्टि से ये भ्रान्तियां हैं, क्योकि यहाँ मात्र क्षण ही यथार्थ है। तुकी० न्याकणि० पृ० १९३ १६ और वाद, और न्याविटी० पृ० ५ और वाद। समीकरण, विरोधत्व और आनुभविक हेतुत्व के नियम तार्किक विचार अथवा सवादक विचार की अनिवार्यतायें हैं, किन्तु यह तार्किक विचार अथवा मवादक विचार की अनि-वार्यतायें हैं, किन्तु यह तार्किक सवादित्व अनुभवातीत भ्रान्ति (अप्रामाण्य)

वोधिसत्त्व मात्र ही युक्त होते हैं, तव हम भी प्रत्येक वस्तु का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर मकते हैं और सर्वज्ञ हो सकते हैं। किन्तु हम किसी वस्तु के प्रथम क्षण का ही साक्षात् वोध कर पाते हैं। उसके वाद हमारी वुद्धि की जो प्रक्रिया उस वस्तु के आकार आदि का निर्माण करती है वह विकल्पात्मक होती है। इस प्रकार समस्त प्रतिमाये अनुभवातीत भ्रान्तियाँ होती हैं, ये परमार्थ सत् नही होती। 'निभ्रान्त' को प्रस्तुत करते समय धर्मोत्तर के अनुसार धर्मकीर्ति इस वात का सकेत करना चाहते थे कि शुद्ध उपदर्शन (विज्ञान) मे, हमारे समस्त ज्ञान के उस विभेदक मे, हमे परमार्थ सत् का, अवोधनीय स्वलक्षण वस्तु का प्रत्यक्ष होता है।[१] वाद का स्वरूप, प्रापणतायें, निश्चय, और अनुमान हमे आनुभविक, कृत्रिम रूप से रचित, विकल्पात्मक ससार मे स्थानान्तरित कर देते हैं, और इसी अन्तर का सकेत करने के लिये धर्मकीर्ति ने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की अपनी परिभाषा मे 'अभ्रान्ति' की विशिष्टता को सम्मिलित किया है। इस व्याख्या की दृष्टि से 'अभ्रान्त' का अर्थ अ-विकल्पात्मक, अरचित, अ-आनुभविक, अनुभवातीत, परमार्थ सत्[२] अर्थ होगा। 'अभ्रान्त' होने की यह विशिष्टता, इस प्रकार, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का उस अनुमान तथा अ-ऐन्द्रिक वुद्धि की उन प्रक्रियाओ से विभेद करेगी जो अनुभवातीत दृष्टि

है। भ्रान्ति की समस्या से अधिक अन्य किसी भी समस्या ने भारतीय दार्शनिको की इतनी गहन अभिरुचि को आकृष्ट नही किया है। इससे सम्बद्ध सिद्धान्तो की सख्या प्रचुर तथा ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वाचस्पति मिश्र ने एक सम्पूर्ण कृति को ही इसके विवेचन मे लगाया है जिसका नाम "ब्रह्मतत्व समीक्षा" है, किन्तु यह कृति अभी तक उपलब्ध नही हो सकी है। प्रमुख सिद्धान्तो का एक सक्षिप्त वक्तव्य इनकी ताटी० पृ० ५३—५७ मे मिलता है।

[१] न्याविटी० पृ० ७ १७ 'प्रत्यक्षम् ग्राह्ये रूपे (=परमार्थ सति) अविपर्यस्तम्, भ्रान्तम् ह्य अनुमानम् स्वप्रतिभासे अनर्थे (=सवृत्ति सति) . ।

[२] धर्मोत्तर का विचार है कि यदि प्रथम विशिष्टता, 'निर्विकल्पक', की अनुमान से भिन्न होने के रूप मे व्याख्या की गई है तो, द्वितीय 'अभ्रान्त', को मिथ्याधारणाओ का प्रतिवाद करनेवाले के रूप मे ग्रहण करना चाहिये। किन्तु इसका उल्टा भी सम्भव है। तब 'अभ्रान्त' की अनुमान के साथ अस्त-व्यस्तता नही रहेगी और 'कल्पनापोढ' को उनके विरुद्ध लक्षित किया जा सकेगा जो नैयायिको की भाँति ग्राह्यता तथा विकल्प के वीच आधारभूत भिन्नता को अस्वीकृत करते हैं। तुकी० न्याविटी० पृ० ७। तुकी० तसप० पृ० ३९२ ९ भी।

कमलशील इस स्थल[1] पर इसी प्रयोग का सन्दर्भ देते हैं उस प्रथम क्षण[2] पर ही, जब कोई स्वलक्षण वस्तु दृष्टिगत होती है तब विज्ञान की एक अवस्था उत्पन्न होती है जिसे शुद्ध विज्ञान कहते हैं।[3] इसमे उस विषय का कुछ भी नही होता जिसका नाम से सकेत होता है। इसके पश्चात् एक बाद के क्षण मे, जब वस्तु को ध्यानपूर्वक देख लिया जाता है, तब ध्यान उस रूढिगत नाम की ओर विचलित[4] होता है जिससे वह वस्तु सम्बद्ध होती है। इसके पश्चात् जब वस्तु को उसके नाम के अनुसार ध्यानपूर्वक देख लिया जाता है तब उसके सदादि-प्रत्ययो[5] और गुणो का विचार उत्पन्न होता है, तब हम उस वस्तु को एक प्रत्यक्षात्मक निश्चय में आवद्ध करते हैं।[6] अब, जब ये विचार, जो उसी ध्यानपूर्वक देखी गई वस्तु को उसके नाम से उपदिष्ट करते हैं, उत्पन्न होते हैं तव (इस बात को अस्वीकार करना कैसे सम्भव है कि) ये स्मृति के अतिरिक्त और कुछ नही ... (क्योकि उस समय वस्तु का न केवल इन्द्रियो से प्रत्यक्ष ही किया गया था, वरन् विकल्प द्वारा उसका निश्चय भी किया गया था)। और इस बात का भी क्या प्रमाण है कि यहाँ वर्णित मानसिक प्रत्ययो की क्रमिकता का ठीक-ठीक निरीक्षण किया गया है ?[7] यह इस (ज्ञात तथ्य) मे निहित है कि जब हमारा ध्यान अन्यथा व्यस्त रहता है तव हमे समस्त उपाधियो से विविक्त वस्तु के दर्शन मात्र का बोध हो सकता है। वास्तव मे, यत किसी (स्थायी) वस्तु के विचार यहाँ वर्णित रूप से हीं उत्पन्न होते हैं, अत जब निरीक्षक का ध्यान अन्यथा व्यस्त होता है, जब वह किसी अन्य वस्तु की ओर केन्द्रित होता है, जब वह अन्य वस्तु द्वारा पूर्णतया ग्रस्त रहता है, तब यद्यपि वह अपने सामने उपस्थित वस्तु को देखता है, तथापि यत समक्ष उपस्थित वस्तु के रूढिगत नाम से उसका ध्यान उपरत रहता है, अत (उस समय) प्रथम क्षण मे (प्रत्येक प्रत्यक्ष के) समस्त सम्भाव्य उपाधियो से विविक्त किसी (सर्वथा अनिर्दिष्ट) वस्तु का

---

[1] तसप० पृ० २४१ ५ और बाद।

[2] प्रथमतरम्।

[3] अक्षाश्रितम् उपजायते।

[4] ममय-आभोग ।

[5] सद्—आदि-प्रत्यय ।

[6] तद्-व्यवसायितया।

[7] आलक्षित ।

दर्शन मात्र होता है ।[1] यदि ऐसा न होता और यदि विज्ञान की प्रत्येक अवस्था से किसी ऐसी वस्तु का तात्पर्य होता जो अपने नाम से व्यक्त समस्त गुणो से युक्त है, तब यह कैसे हो सकता था कि निरीक्षक, जो अन्यमनस्क है (और जो वस्तु का अपनी इन्द्रियो मात्र से ग्रहण कर रहा है) एक वस्तु मात्र को, समस्त उपाधियो से शून्य वस्तु को ही, देखता है ।"

दिङ्नाग अभिधर्म सूत्र से इस आशय का एक स्थल उद्धृत करते हैं ।[2] "एक व्यक्ति जो एक नील पट के ध्यान मे लीन है, नीले रग का ही प्रत्यक्ष तो करता है, किन्तु वह यह नही जानता कि वही नीला है, उस वस्तु के सम्बन्ध मे वह अभी इतना ही जानता है कि वह एक वस्तु है, किन्तु वह यह नही जानता कि वह वस्तु कैसी है ।" यह उद्धरण, जिसे वाद के लेखको ने बहुधा दोहराया है, ऐसा सकेत करता है कि दिङ्नाग ने शुद्ध विज्ञान के अपने विचारो के बीज को पहले ही सर्वास्तिवादियो की कृतियो मे प्राप्त कर लिया था । फिर भी, वह सम्प्रदाय क्रमिक विचार के तीन प्रकार स्वीकार करता था, और इनमे से एक 'स्वभाव-वितरक'[3] भी है जिसे रचनात्मक विचार के एक बीज के रूप मे वह लोग (सर्वास्तिवादी) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष अथवा शुद्ध विज्ञान तक मे उपस्थित मानते थे ।

§ ३. प्रत्यक्ष और भ्रान्ति

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की, जिसे सवादक ज्ञान के दो प्रमाणो मे से एक माना गया है, द्वितीय विशिष्टता यह है कि इसे अभ्रान्त होना चाहिये । वास्तव मे, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को' केवल उसी समय प्रमाण माना जा सकता है जब किसी उपदर्शन द्वारा उत्पन्न ज्ञान इन्द्रियो की किसी भ्रान्ति से रहित होता है । फिर भी, संवादक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की इस द्वितीय विशिष्टता का उल्लेख करना सर्वथ निरर्थक प्रतीत होता है । क्योकि इस पद्धति के वर्गीकरण के अनुसार इन्द्रिय प्रत्यक्ष निर्भ्रान्त उपदर्शन का ही एक प्रकार है । धर्मोत्तर[3] कहते हैं'कि परि भाषा का तब यह अर्थ होगा "वह सवादक ज्ञान जो साक्षात् हो वही सवादव होता है" । अत निर्भ्रान्त शब्द द्वारा सवादक शब्द के तात्पर्य को ही दोहरान सर्वथा व्यर्थ है ।

---

[1] प्रसमु० वृत्ति १४ । इस स्थल को बहुधा उद्धृत किया गया है (इन विभेदो के साथ —ससर्गी,—समङ्गी,—सङ्गी), तुकी० तसप० ११-१२ ।

[2] तुकी० अभिको० १ ३३ ।

[3] न्यबिटी० पृ० ७ १६

किन्तु "भ्रान्ति" शब्द एकार्थक नही है। भ्रान्तियो के अनेक प्रकार होते है। एक मुख्य-विभ्रम होता है जिसके आनुसार समस्त आनुभविक ज्ञान एक प्रकार का विभ्रम होता है। एक अन्य प्रातिभासिकी-भ्रान्ति होती है जो मिथ्या विज्ञान की कुछ विशेष दशाओ को ही प्रभावित करती है। ज्ञान आनुभविक दृष्टि से सम्यक् हो सकता है, अर्थात् अनुभवातीत दृष्टि से प्रमाण न होते हुए भी सम्यक् हो सकता है। उदाहरण के लिये, जब दो व्यक्ति एक ही नेत्र-व्याधि से पीडित होते हैं जिसके कारण उन्हे प्रत्येक वस्तु द्विविध दिखाई पडती है, तब उनका ज्ञान यथार्थ न होते हुए भी, अर्थात् वह अन्य समस्त व्यक्तियो के ज्ञान के साथ सगत न होते हुये भी परस्पर सवादक होगा। इन दोनो व्यक्तियो मे से एक जब चन्द्रमा की ओर सकेत करते हुये यह कहेगा कि "दो चन्द्रमा हैं", तब दूसरा भी यह उत्तर देगा कि "हाँ, वास्तव मे दो चन्द्रमा हैं।" दोनो का ज्ञान परस्पर सवादक है, यद्यपि वह उनकी ज्ञानेन्द्रियो की स्थिति द्वारा सीमित है।[1] प्रत्येक आनुभविक ज्ञान की सर्वथा यही स्थिति होती है—वह हमारे ज्ञानेन्द्रियो की अवस्था द्वारा सीमित होता है।[2] यदि हम एक अन्य अन्त प्रज्ञा से युक्त हो, ऐसी बोधगम्य अ-ऐन्द्रिक अन्त प्रज्ञा से जिससे बुद्ध और

---

[1] तुकी० सन्तानान्तरसिद्धि, मेरा अनुवाद।

[2] भ्रान्ति = विभ्रम, शब्द द्विघार्थक है क्योकि—इससे 'मुख्या-भ्राति' तथा 'प्रातिभासिकी भ्रान्ति', दोनो का अर्थ है। अनुमान उदाहरण के लिये, अनुभवातीत दृष्टि से भ्रान्ति होता है (भ्रान्तम् अनुमानम्), किन्तु आनुभविक दृष्टि से यह 'सवादकम्' होता है। तुकी० तस प० पृ० ३९०.१४. 'सवादित्वेऽपि (ऐसा पाठ माना गया है) न प्रामाण्यम् इष्टम्'। किन्तु तस० पृ० ३९४ १६ मे 'विभ्रमेऽपि प्रमाणता' मे 'प्रमाण' शब्द का 'सवाद' के आशय मे प्रयोग हुआ है। "अविसवादित्व" का अर्थ "उपदर्शित-अर्थ-प्रापण-सामर्थ्य" है जब उपदर्शन, प्रवर्तन और प्रापण से एक ही वस्तु का बोध हो तब वहाँ सवादित्व होता है। चन्द्रमा और नक्षत्र 'देश-काल-आकार-नियता' होते हैं और इसलिये प्रापक, यथार्थ और संवादक होते हैं (स्वोचितासु अर्थ-क्रियासु विज्ञान-उत्पाद-आदिपु समर्था), किन्तु अनुभावातीत यथाथता की दृष्टि से ये भ्रान्तियाँ हैं, क्योकि यहाँ मात्र क्षण ही यथार्थ है। तुकी० न्याकणि० पृ० १९३ १६ और बाद, और न्याविटी० पृ० ५ और बाद। समीकरण, विरोधत्व और आनुभविक हेतुत्व के नियम तार्किक विचार अथवा सवादक विचार की अनिवार्यतायें हैं, किन्तु यह तार्किक विचार अथवा सवादक विचार की अनिवार्यतायें हैं, किन्तु यह तार्किक सवादित्व अनुभवातीत भ्रान्ति (अप्रामाण्य)

बोधिसत्त्व मात्र ही युक्त होते हैं, तब हम भी प्रत्येक वस्तु का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और सर्वज्ञ हो सकते हैं। किन्तु हम किसी वस्तु के प्रथम क्षण का ही साक्षात् बोध कर पाते हैं। उसके बाद हमारी बुद्धि की जो प्रक्रिया उस वस्तु के आकार आदि का निर्माण करती है वह विकल्पात्मक होती है। इस प्रकार समस्त प्रतिमाये अनुभवातीत भ्रान्तियाँ होती हैं, ये परमार्थ सत् नही होती। 'निभ्रान्त' को प्रस्तुत करते समय धर्मोत्तर के अनुसार धर्मकीर्ति इस बात का सकेत करना चाहते थे कि शुद्ध उपदर्शन (विज्ञान) मे, हमारे समस्त ज्ञान के उस विभेदक मे, हमे परमार्थ सत् का, अबोधनीय स्वलक्षण वस्तु का प्रत्यक्ष होता है।[1] बाद का स्वरूप, प्रापणतायें, निश्चय, और अनुमान हमे आनुभविक, कृत्रिम रूप से रचित, विकल्पात्मक ससार मे स्थानान्तरित कर देते हैं, और इसी अन्तर का सकेत करने के लिये धर्मकीर्ति ने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की अपनी परिभाषा मे 'अभ्रान्ति' की विशिष्टता को सम्मिलित किया है। इस व्याख्या की दृष्टि से 'अभ्रान्त' का अर्थ अ-विकल्पात्मक, अरचित, अ-आनुभविक, अनुभवातीत, परमार्थ सत्[2] अर्थ होगा। 'अभ्रान्त' होने की यह विशिष्टता, इस प्रकार, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का उस अनुमान तथा अ-ऐन्द्रिक बुद्धि की उन प्रक्रियाओ से विभेद करेगी जो अनुभवातीत दृष्टि

है। भ्रान्ति की समस्या से अधिक अन्य किसी भी समस्या ने भारतीय दार्शनिको की इतनी गहन अभिरुचि को आकृष्ट नही किया है। इससे सम्बद्ध सिद्धान्तो की सख्या प्रचुर तथा ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वाचस्पति मिश्र ने एक सम्पूर्ण कृति को ही इसके विवेचन मे लगाया है जिसका नाम "ब्रह्मतत्व समीक्षा" है, किन्तु यह कृति अभी तक उपलब्ध नही हो सकी है। प्रमुख सिद्धान्तो का एक सक्षिप्त वक्तव्य इनकी ताटी० पृ० ५३—५७ मे मिलता है।

[1] न्याबिटी० पृ० ७.१७ 'प्रत्यक्षम् ग्राह्ये रूपे (=परमार्थ सति) अविपर्यस्तम्, भ्रान्तम् ह्य अनुमानम् स्वप्रतिभासे अनर्थे (=सवृत्ति सति) . . ।

[2] धर्मोत्तर का विचार है कि यदि प्रथम विशिष्टता, 'निर्विकल्पक', को अनुमान से भिन्न होने के रूप मे व्याख्या की गई है तो, द्वितीय 'अभ्रान्त', को मिथ्याधारणाओ का प्रतिवाद करनेवाले के रूप मे ग्रहण करना चाहिये। किन्तु इसका उल्टा भी सम्भव है। तब 'अभ्रान्त' की अनुमान के साथ अस्तव्यस्ता नही रहेगी और 'कल्पनापोढ' को उनके विरुद्ध लक्षित किया जा सकेगा जो नैयायिको की भाँति ग्राह्यता तथा विकल्प के बीच आधारभूत भिन्नता को अस्वीकृत करते हैं। तुकी० न्याबिटी० पृ० ७। तुकी० तसप० पृ० ३९२ ९ भी।

से भ्रान्तियाँ हैं। तब यह द्वितीय विशिष्टता भी प्रथम की प्राय पर्याय हो जायगी। शुद्ध विज्ञान या उपदर्शन अविकल्पात्मक होता है, अत यह कल्पना-रहित, अनुभवातीत सत्य, और अभ्रान्त होता है।

यहाँ तक धर्मोत्तर का मत बताया गया। फिर भी, इनकी व्याख्या का धर्मकीर्ति द्वारा दी गई भ्रान्तियो के उदाहरण से विरोध है। ये सब उदाहरण इन्द्रियो की असामान्य अवस्था से उत्पन्न आनुभविक भ्रान्तियाँ हैं।[1]

'अ-भ्रान्ति' की विशिष्टता के उल्लेख की आवश्यकता आचार्य दिङ्नाग के 'स्व-यूथ'[2] मे भी विवादग्रस्त बनी रही। इसका सर्वप्रथम असङ्ग ने उल्लेख किया था यद्यपि हम इनके प्रयोजन से अवगत नही हैं[3]। इसे दिङ्नाग ने छोड दिया, धर्मकीर्ति[4] ने पुन ग्रहण किया। पुन धर्मकीर्ति के कुछ अनुगामियो[5] ने इसे छोडा किन्तु अन्तत धर्मोत्तर ने बौद्ध नैयायिको की परवर्ती पीढियो के लिये इसकी स्थापना कर दी।

'अ-भ्रान्ति' की विशिष्टता को छोड देने मे दिङ्नाग तीन भिन्न बातो से प्रभावित हुये थे। सर्वप्रथम, भ्रान्ति मे सदैव भ्रान्तिमय प्रत्यक्षात्मक निश्चय निहित होता है। किन्तु निश्चय किसी विज्ञान के ऐन्द्रिक अश का अग नही होता। यदि हम तट पर स्थित किसी ऐसे वृक्ष के, जो स्थिर है, चलायमान होने का प्रत्यक्ष करने का विचार करें, तो यह बोध कि 'यह एक चल वृक्ष है' एक निश्चय होगा, और प्रत्येक निश्चय बुद्धि की रचना होता है, इन्द्रियो द्वारा प्रक्षिप्त ज्ञान नही।[6] नैयायिको के सम्प्रदाय द्वारा प्रस्तुत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की परिभाषा की, जिसमे 'अभ्रान्त' होने की विशिष्टता भी सम्मिलित है,[7] आलोचना करते समय दिङ्नाग यह कहते हैं कि "भ्रान्त बोध का विषय

---

[1] न्याबि० और न्याबिटी० पृ ९ ४ और बाद।

[2] 'स्व-यूथ्या' तसप० पृ० ३९४ २०।

[3] तुकी० टुची' उपु०। यह न्यासू० ११४ से एक ग्रहणमात्र हो सकता है।

[4] तुकी० न्याकणि० पृ० १९२।

[5] तसप० उस्था०।

[6] धर्मोत्तर के अनुसार 'वृक्ष' अश सम्यक् प्रत्यक्ष है, और 'चलायमान' अश भ्रान्ति है। तुकी० न्याबिटी० पृ० ७.५ और बाद तथा टिप्प० पृ० २० १४

[7] न्यासू० १ १,४ (प्रत्यक्षम्)· · ·अव्यभिचारि।

वुद्धि द्वारा रचित विपय होता है।"[1] "इन्द्रिय-प्रत्यक्ष अर्थात् शुद्ध इन्द्रिय प्रत्यक्ष मे कोई भी निश्चय नही होता, न तो उचित और न मिथ्या, क्योकि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष विकल्परहित होता है, अत इसमे कोई भ्रान्ति हो ही नही सकती। दिङ्नाग का यह विचार धर्मोत्तर की उपरोक्त व्याख्या के अनुरूप है, किन्तु दिङनाग के अनुसार यह 'अभ्रान्ति' के उल्लेख को निरर्थक बना देता है क्योंकि अनुभवातीत दृष्टि से 'अभ्रान्त' का अर्थ 'अविकल्पात्मक' और 'अकल्पित' के अतिरिक्त और कुछ नही है। द्वितीय विशिष्टता प्रथम की ही पुनरावृत्ति है।

'अ-भ्रान्ति' को छोड देने मे दिङ्नाग जिस एक अन्य तथ्य से प्रभावित हुये थे वह इस प्रकार है। वह अपने न्याय को उन यथार्थवादियो के, जो वाह्य पदार्थ की यथार्थता को स्वीकार करते थे, तथा उन विज्ञानवादियो के, जो वाह्य-जगत की यथार्थता को अस्वीकार करते थे, लिये ग्राह्य वनाना चाहते थे। कुछ आधुनिक तर्कशास्त्रियो[2] की भाँति ही, प्रत्यक्षत इन्होने यह विचार किया कि तर्कशास्त्र इस प्रकार की तत्त्वमीमासात्मक समस्याओ के सम्वन्ध मे निर्णय करने के लिये उपयुक्त आधार नही है। विज्ञान का साक्षात् और परोक्ष के रूप मे विभाजन और निश्चय के तार्किक प्रयोजन दोनो ही दशाओ मे एक ही रहते हैं चाहे वाह्यार्थ की यथार्थता को स्वीकार किया जाय या नही। दिङ्नाग ने वादविधि मे प्रवर्तित वसुवन्धु की इस परिभाषा को अस्वीकृत कर दिया कि "इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो स्वय (शुद्ध) पदार्थ द्वारा उत्पन्न होता है"[3] क्योकि इसकी एक यथार्थवादी व्याख्या भी सम्भव है। इसी कारण इन्होने 'अभ्रान्ति' की विशिष्टता को छोड देने का भी निश्चय किया, क्योकि इसकी उन योगाचारियो के मत के परित्याग के रूप मे व्याख्या की जा सकती थी जिनके लिये समस्त आनुभविक विज्ञान एक नितान्त भ्रान्ति है। उस परिभाषा को, जिसका अर्थ यह है कि शुद्ध उपदर्शन निष्क्रिय और अविकल्पात्मक होता है, दोनो ही पक्ष स्वीकार करते हैं। जिनेन्द्रवुद्धि[4] का यह कथन है "यद्यपि इस वात मे विश्वास करते

---

[1] प्रसमु० वृत्ति १ १९ यिद-क्यि युल् हखुल-पै युल-यिन=मनो विषयो हि विभ्रम-विपय।

[2] तुकी० सिग्वार्ट, उपु० १७ पृ० १०६ और ४०९।

[3] 'ततो अर्थाद् उत्पन्नम् ज्ञानम्', तुकी० ताटी० पृ० ९९।

[4] तुकी० भाग २, पृ० ३८७ और वाद तुकी० टिप्प० पृ० १९, और तसप० ३९२.६

हुये भी कि बाह्य पदार्थ की उसके यथार्थ आशय मे विज्ञान की कोई सम्भावना नही है, (दिङ्नाग) विज्ञान की प्रतिक्रिया के परिणामात्मक पक्ष की समस्या के सम्बन्ध मे अपना मत इस प्रकार निर्धारित करने के लिये उत्सुक हैं कि वह उन यथार्थवादियो के लिये भी ग्राह्य हो जो बाह्य जगत् की यथार्थता को स्वीकार करते हैं, तथा उन विज्ञानवादियो के लिये भी जो इसे अस्वीकार करते हैं।"

कमलशील[1] मे भी इसी आशय का वक्तव्य मिलता है, यद्यपि ये धर्मकीर्ति की उस परिभाषा की चर्चा करते हैं जिसमे अ-भ्रान्ति का उल्लेख है। इनका कथन है कि 'अ-भ्रान्त' शब्द को सवादित्व के आशय मे ग्रहण किया जाना चाहिये, उस रूप मे नही जो किसी पदार्थ का (परमार्थ) सत्य होता है। क्योकि, यदि ऐसा न हो तो, यत योगाचारियो के मतानुसार बाह्य पदार्थ की कोई सत्ता होती ही नही, यह परिभाषा जो दोनो सिद्धान्तो को सन्तुष्ट करने के लिये उद्दिष्ट है, अत्यन्त सकीर्ण होगी (यह विज्ञानवादियो के मत को वर्जित कर देगी)।

यथार्थवादियो और विज्ञानवादियो, दोनो को सन्तुष्ट करने के लिये दिङ्नाग ने 'अ-भ्रान्ति' की विशिष्टता को छोड दिया, और धर्मकीर्ति ने, यद्यपि इसे पुन प्रतिष्ठित किया, तथापि इसकी ऐसी परिभाषा की जिसका विज्ञान-वादियो के दृष्टिकोण से कोई सघर्ष नही रह गया।

'अ-भ्रान्ति' की विशिष्टता को छोड देने मे दिङ्नाग एक अन्य तृतीय और निर्णायक आधार द्वारा प्रभावित हुये हैं। यत इस शब्द की अनेक व्याख्यायें हो सकती हैं, अत इनके विचार से इसका समावेश सम्पूर्ण प्रणाली के लिये खतरनाक ही नही बल्कि घातक सिद्ध हो सकता है।

इनकी पद्धति ज्ञान के दो विषमजातीय प्रमाणो के बीच प्रखर विभाजन पर आधारित है। इस पद्धति के अनुसार इन्द्रियाँ निश्चय नही कर सकती। किन्तु यदि भ्रान्तियो अथवा मिथ्या निश्चयो को इद्रियो के हिस्से मे रक्खा जा सकता है, तब इस बात के लिये कोई कारण नही कि, जैसा कि यथार्थवादी मानते हैं, सम्यक निश्चयो को भी इनके हिस्से मे क्यो न रक्खा जाय। तब सम्पूर्ण पद्धति के आधार का विस्फोट हो जायगा। प्रत्येक स्थूल पदार्थ का प्रत्यक्ष एक इन्द्रिय-भ्रान्ति है, क्योकि "स्थूलता कभी भी एक सरल प्रतिभास नही होती।"[2] इसी प्रकार किसी वस्तु की अवधि भी भ्रान्ति होगी, क्योकि

---

[1] तसप० पृ० ३९२५ और बाद।

[2] न्याकणि० पृ० १९४८ अप्रतिभासो धर्मोऽस्ति स्थौल्यम्'। वाचस्पति यह व्याख्या करते हैं 'प्रतिभास-काल-धर्म प्रतिभास-धर्मं'।

केवल क्षणिक सत्य का ही सरल प्रतिभास होता है। किसी वस्तु का एकत्व, विभिन्न परमाणुओ के सघात से निर्मित उसके अगो का एकत्व भी, एक भ्रान्ति होगा,[1] ठीक उसी प्रकार जैसे अनेक वृक्षो की अपेक्षा दूर से दिखाई पडनेवाले एक वन का प्रत्यक्ष एक भ्रान्ति है। इसके विपरीत, यदि इन्हे सम्यक् प्रत्यक्ष माना जाय तव सीमा कहाँ रह जाती है ? तव दो चन्द्रमा का प्रत्यक्ष, तीव्र गति से घुमाई जाने वाली उल्मुक के चक्र का प्रत्यक्ष, किसी नाव पर बैठे यात्री द्वारा चलायमान वृक्षो का प्रत्यक्ष, इत्यादि ही क्यो भ्रान्तियाँ होगी ?[2] "आचार्य (दिङ्नाग) ने", वाचस्पति मिश्र कहते हैं, "इसलिये 'अ-भ्रान्ति की विशेपता को छोड दिया क्योकि यह 'अभ्रान्ति' सम्पूर्ण प्रणाली के लिये घातक थी।"[3]

फिर भी, दिङ्नाग इस वात को अस्वीकार नही करते कि भ्रान्तिपूर्ण और मिथ्या प्रत्यक्ष होते ही नही, किन्तु इनका अलग विवेचन किया जाना चाहिये। जिस प्रकार हेत्वाभास अथवा अवैध अनुमान होते हैं, उसी प्रकार प्रत्यक्षा-भास अथवा इन्द्रिय-जन्य अवैध विज्ञान भी होते हैं, किन्तु ये इन्द्रियो से नही वल्कि वुद्धि द्वारा उत्पन्न होते हैं। ये भावी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष चार प्रकार के होते हैं,[4] जो इस प्रकार हैं (१) भ्रान्तियाँ, जैसे मरीचिकायें इन्हे वुद्धिजन्य मानना चाहिये क्योकि मरुभूमि मे कुछ प्रकाश-किरणो को जल के रूप मे ग्रहण कर लेने के वुद्धिभ्रम से इनकी उत्पत्ति होती है, (२) सवृत्तिस ज्-ज्ञान अनुभवातीत भ्रान्ति होता है क्योकि यह किसी वाह्यार्थ के स्थान पर किसी विपयभूत आकार की भ्रान्ति द्वारा निर्मित होता है, (३) समस्त अनुमान और उसके परिमाण को अवैव रूप से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मान लिया गया है, जैसे उदाहरण के लिये जव हम यह कहते हैं कि "यह अग्नि का चिह्न, धूम, है" "अथवा धूम की उपस्थिति द्वारा अग्नि की उपस्थिति का सकेत मिलता

---

[1] वही, पृ० १९४ १२।

[2] वही, पृ० १९४.१६।

[3] वही, पृ० १९४ १७ 'तद् .इयम् अभ्रन्तता भवत्स्व एव प्रहरति इत्य् उपेक्षिता आचार्येण'।

[4] प्रसमु० कारिका, १८ को इस प्रकार पुन नियोजित किया जा सकता है भ्रान्ति सवृत्ति–सज्–ज्ञानम् अनुमानानुमेयम् च; स्मृतिर् अभिलाषश् चेति प्रत्यक्षाभम् सतैमिरम्।" तुकी० तसप० पृ० ३९४ २० जहाँ 'सतैमिरम्' की 'अज्ञानम्' के रूप मे व्याख्या की गई है। साथ ही इसकी 'तैमिरिक-ज्ञानम्' के रूप मे भी व्याख्या है। जिनेन्द्रवुद्धि मे दोनो ही व्याख्यायें है।

है", तब ये निश्चय वास्तव मे स्मृतिजन्य ही होते है यद्यपि अवैध रूप से इन्हे प्रत्यक्षात्मक निश्चय का रूप दे दिया जाता है, और ४) समस्त स्मृतियाँ तथा समस्त इच्छायें, यत ये पूर्व-अनुभव द्वारा उत्पन्न होती है, अत पज्ञा द्वारा उत्पन्न होती है, यद्यपि इन्हे भी अक्सर अवैध रूप से इन्द्रिय-प्रत्यक्षो का रूप दे दिया जाता है ।

इस प्रकार, दिङ्नाग 'भ्रान्ति' की धारणा का समान्यीकरण करते हैं और मृग-मरीचिका जैसी आनुभविक भ्रान्तियो को तथा हमारे समस्त सावृत्तिक ज्ञान द्वारा व्यक्त अनुभवातीत को भी एक ही स्तर पर रखते हैं। इनका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष विशुद्ध विज्ञान है जो समस्त स्मृति धर्मों से सवथा रहित होता है। विशुद्ध विज्ञान के लिये अभ्रान्त होने की विशिष्टता व्यर्थ है क्योकि इस प्रकार का विज्ञान न तो सम्यक होता है और न मिथ्या। दिङ्नाग की वास्तविक परिभाषा का अर्थ यह है कि इन्द्रिय-ग्राह्यता का सवादक कल्पनात्मक रचना से विभेद किया जाना चाहिये क्योकि यह रचना ही हमारी अर्थक्रिया-कारित्व की वास्तविक निर्देशक होती है।[1]

यहाँ तक दिङ्नाग का मत है। किन्तु धर्मकीर्ति इस विषय पर अपने आचार्य से भिन्न मत रखते हैं। ये अपनी परिभाषा मे 'अभ्रान्तित्व' की विशिष्टता का पुन समावेश कर देते हैं और इसके लिये इनके आधार इस प्रकार हैं।

हमे एक इन्द्रिय-भ्रान्ति और प्रज्ञा की भ्रान्ति मे अवश्य विभेद करना चाहिये।। उदाहरण के लिये, जब हमे एक रस्सी से सर्प की भ्रान्ति हो जाती है तब इसकी इन्द्रियो के समक्ष उपस्थित वस्तु की हमारी पज्ञा द्वारा एक गलत व्याख्या के कारण ही उत्पत्ति होती है। यह भ्रान्ति उसी समय समाप्त हो जाती है जब हमें यह विश्वास हो जाता है कि वह वस्तु सर्प नही बल्कि एक रस्सी थी।[2] किन्तु जब कोई व्यक्ति दो चन्द्रमा देखता है, क्योकि किसी नेत्र-व्याधि के कारण वह प्रत्येक वस्तु को दो देखता है, तब यह भ्रान्ति बनी रहेगी, चाहे उसे इस बात का विश्वास हो कि चन्द्रमा एक ही है।[3]

इसके अतिरिक्त 'निरधिष्ठान-ज्ञान'[4] तथा स्वप्न भी होते हैं जहाँ दृष्य

---

[1] 'कल्पना-अपोढ=अविसवादि-कल्पना-अपोढ', तुकी० तसप० ३९४ २१।

[2] तसं० पृ० ३९२ १३, और तसप० पृ० ३९२ २३।

[3] वही, पृ० ३९४ ५ और बाद।

[4] 'निरधिष्ठानम् ज्ञानम् केशोन्द्राडि विज्ञानम्', तुकी० न्याकणि० पृ० १९२.२०, और तस० पृ० ३९२ ३।

जिन्हें इन्द्रियजन्य मानना चाहिये, और यह कि 'अ-भ्रान्ति' की विशिष्टता को सम्यक् ज्ञान के एक प्रमाण के रूप मे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की परिभाषा मे सम्मिलित करना निरर्थक नही है। धर्मोत्तर इस विवाद को इस वक्तव्य के साथ समाप्त करते हैं[१] "भ्रान्ति के कारण अनेक हैं। ये बाह्य वस्तु मे स्थित हो सकती हैं अथवा स्वय निरीक्षक व्यक्ति मे, ये किसी इन्द्रिय की किसी व्याधि से उत्पन्न हो सकती हैं[२], किन्तु ये सर्वथा अध्यात्मगत भी हो सकती हैं जैसे मानसिक विकार से ग्रस्त व्यक्ति की दृष्टि। किन्तु भ्रान्ति की सभी दशाओ मे इन्द्रियाँ अनिवार्यत सम्मिलित होती हैं, अर्थात् ये एक असामान्य स्थिति में होती हैं।

इस प्रकार, यह सत्य है कि इन्द्रियाँ निश्चय नही करती, इनमे कोई निश्चय निहित नही होता—न तो ठीक और न गलत—किन्तु असामान्य स्थिति मे होने के कारण इन्द्रियाँ निश्चय की प्रक्रिया को प्रभावित करके प्रज्ञा को भ्रमित कर सकती हैं।

यह निष्कर्ष हमे काण्ट के उस मत का स्मरण दिलाता है जब वे यह मानते[3] है कि "इन्द्रियाँ गलती नही कर सकती क्योकि इनमे चाहे सत्य अथवा मिथ्या, कोई निश्चय होता ही नही। इन्द्रिय-ग्राह्यता, यदि सम्बद्ध वस्तु को उसी रूप मे ग्रहण करने की अपनी क्रियाशीलता में प्रज्ञा के अधीन हो तो यथार्थ ज्ञान की स्रोत होती है, किन्तु यदि यह स्वय प्रज्ञा की क्रिया को प्रभावित करे और निश्चय की ओर अग्रसर हो तो त्रुटि का कारण हो सकती है।"

इसके अतिरिक्त ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति हमारे विज्ञान मे प्रज्ञा या विकल्प के महत्त्व को ग्रहण करने मे दिङ्नाग से असहमत थे। दिङ्नाग के अनुसार प्रज्ञा भ्रान्ति का एक स्रोत है क्योकि यह यथार्थता का साक्षात् अन्त-प्रज्ञा की अपेक्षा उसके आकार का निर्माण करती है। यद्यपि धर्मकीर्ति का भी ऐसा ही विचार है, तथापि उनके लिये अन्त प्रज्ञा विस्तार की दृष्टि से विज्ञान से कही अधिक व्यापक है। विज्ञान अथवा ग्राह्य अन्त प्रज्ञा ही साक्षात् ज्ञान का एकमात्र प्रकार नही है। इनके लिये विरोध विज्ञान तथा विकल्प के बीच नही बल्कि साक्षात् और परोक्ष विज्ञान के बीच, अथवा

---

[१] न्याबिटी० पृ० ९ १४ औरबाद।

[२] वही, पृ० ९ १३ 'वातादिषु क्षोभम् गतेषु अध्यात्मगतम् विभ्रम-कारणम्।'

[३] क्रिरी० पृ २३९

आकार का निर्माण आता है। यह प्रज्ञा का ही कार्य रह गया कि वह इस प्रत्यक्ष का रगो के विस्तार के अन्तर्गत एक स्थान तथा अन्य सम्बद्ध मानसिक प्रभावो को उत्पन्न करे। किन्तु प्रज्ञा के इस कार्य के प्रथम क्षण की विशुद्ध विज्ञान के समकक्ष होने के रूप मे कल्पना की गई। यह साक्षात्, अन्त प्रज्ञात्मक और अ-विकल्पात्मक भी था। इस प्रकार, दूसरे शब्दो मे, प्रत्यक्ष का प्रथम क्षण 'ऐन्द्रिक-विज्ञान' होता है, और दूसरा क्षण 'बौद्धिक विज्ञान'। हम प्रथम को विशुद्ध विज्ञान का एक क्षण, और दूसरे को 'मानस प्रत्यक्ष' कह सकते है जिससे 'मानस योगि-ज्ञान' शब्द को योगियो के रहस्यवादी योगिज्ञान के लिये सुरक्षित रक्खा जा सके। यत यह 'मानस-प्रत्यक्ष' विशुद्ध विज्ञान तथा प्रज्ञा के कार्य के बीच का एक मध्यवर्ती स्तर है, अत इनका एक बार पुन उल्लेख किया जायगा।

(ख) योगि-प्रत्यक्ष

हमारी अन्त प्रज्ञा सदैव ऐन्द्रिक होती है। यह एक स्पष्ट और प्रखर यथार्थता के एक क्षण तक सीमित होती है जिसके ठीक बाद वह प्रज्ञा आती है जो इस क्षण की अस्पष्ट और सामान्य आकारो अथवा विकल्पो के रूप मे व्याख्या करने का प्रयास करती है—अस्पष्ट इसलिये कि यह सामान्य विकल्पों का ही निर्माण करती है। यदि हम एक अन्य उस अन्त प्रज्ञा या योगि-प्रत्यक्ष की क्षमता से युक्त हो जो यथार्थता की उतने ही साक्षात् रूप से ज्ञान प्राप्त कर लेती है जैसे कि हम विज्ञान के प्रथम क्षण मे उसका अनुभव करते हैं, तब हमारा ज्ञान असीमित हो जायगा। हम दूरस्थ और निकटस्थ का, तथा वर्तमान की ही भाँति अतीत और भविष्य का भी ज्ञान प्राप्त कर लेंगे। हम ऐसी सत्ताओ की कल्पना भी कर सकेंगे जो हमारी इन्द्रिय-ग्राह्यता की सीमाओ से मुक्त है। उनका विज्ञान दो विषमजातीय स्रोतो के एक भ्रान्त सहकार द्वारा निर्मित नही होगा। इस प्रकार के योगि-प्रत्यक्ष की क्षमता से युक्त व्यक्तियो को यथार्थता के विज्ञान के लिये द्वन्द्वात्मक विकल्पो की एक शृङ्खला की आवश्यकता नही पडती। ये विज्ञान की केवल एक विधि,—साक्षात् अन्त प्रत्यक्ष, का ही उपयोग करते हैं। हम इनकी सर्वज्ञता का निश्चय नही कर सकते, क्योकि सर्वज्ञता का निश्चय करने के लिये हमे स्वय भी सर्वज्ञ होना होगा, किन्तु हम यह कल्पना कर सकते है कि इस यथार्थता का, जिसका ज्ञान अपने सीमित विकल्पो के कारण हम इतनी कठिनाई से प्राप्त कर पाते है, ये योगि-प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात् ध्यान कर सकते हैं। विकल्प, जैसा कि हम देख चुके है, एक अनुभवातीत भ्रान्ति है, एक ऐसी भ्रान्ति जो हमारे

ही साथ, समस्त मानमिक व्यापार 'स्वय चेतन' होते हैं," ऐसा धर्मकीर्ति का कथन है।[१] तात्पर्य यह है कि ममस्त सरल चेतनायें[२], इन्द्रियगोचर क्षेत्र मे उपस्थित किसी अनिश्चित वस्तु के विज्ञान की तथ्यमात्र' तथा समस्त विकल्प, जटिल चित्त-सम्प्रयुक्त सस्कार[3], आकार, विचार, और साथ ही साथ समस्त भाव और सकल्प—सक्षेप मे समस्त मानमिक प्रतीत होने वाले मानमिक व्यापार स्वय अपने मे स्व-चेतन होते है।

यह इस तथ्य मे हस्तक्षेप नही करता कि वासना और कर्म भी होते हैं।[४] वासना, आदत, कम, ये मव सौत्रान्ति-योगाचर सम्प्रदाय मे अपने उन सभी महत्त्वो को सुरक्षित रखते हैं जो इन्हे भारतीय दशन मे प्राप्त है। कुछ कर्म स्वचालित-वत् होते हैं क्योकि अन्तर्गामी उद्दीपक के बाद सीधे अर्थ-क्रिया आरम्भ हो जाती है।[५] किन्तु यह ऐसा केवल प्रतीत होता है क्योकि मध्यवर्ती जटिल प्रक्रिया, आदतजन्य और अत्यन्त द्रुत होने के कारण, विमर्शात्मक स्वसवेदना से बची रह जाती है। इसका यह अर्थ नही है कि यह अचेतत होती है, अथवा इसमे ज्ञानानुभव होता ही नही। एक नवजात शिशु का वह कर्म, जब वह रोना छोडकर माता के स्तन को अपने ओठों से दबाता है, इस आशय मे ज्ञानानुभव होता है।[६] ज्ञानानुभव इस आशय मे जीवन का पर्याय है।

ज्ञानानुभव के इस सिद्धान्त के पूर्ण आशय को इसे अन्य सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के साथ विभेद तथा भारत और तिब्बत मे इसके इतिहास के विवेचन द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है। किन्तु यह एक विस्तृत विषय है और विशेष विवेचन की अपेक्षा रखता है। इस स्थान पर तो निम्नलिखित सक्षिप्त सकेत मात्र ही पर्याप्त होगे।

साख्य तथा आयुर्वेदीय सम्प्रदायो के दृष्टिकोणो का पहले उल्लेख किया जा चुका है। एक पृथक, नित्य, और अपरिवर्तनशील पदार्थ के रूप मे व्यक्ति की आत्मा ही आत्मचेतन होती है। विज्ञान की समस्त प्रक्रिया, इसके समस्त आकार तथा भाव, और सकल्प भी स्वय अपने मे अचेतन होते हैं। पाँच बाह्येन्द्रियाँ तथा उनके अपने-अपने विषय होते हैं। एक अन्त करण होता है जिसका त्रिविध

---

[१] न्याबि० १ १०, पृ० ११।

[२] चित्त = विज्ञानम् = मनस्।

[३] चैत्त = चित्त-सम्प्रयुक्त-सस्कार।

[४] वासना = सस्कार = कर्म = चेतना।

[५] न्यबिटी० पृ० ४.१७।

[६] वही, पृ० ८ १२।

कार्य होता है: एक वैयक्तिकता की अचेतन भावना[1], वाञ्छनीय और अवाञ्छनीय की अचेतन भावना[2] तथा निश्चय का एक अचेतन कार्य।[3] ये कार्य आत्मा द्वारा डाले गए प्रकाश से ही चेतन होते हैं। इसी प्रकार, इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष भी स्वयं अपने में अचेतन होते हैं किन्तु आत्मा में प्रतिबिम्बित होने के कारण चेतना ग्रहण करते हैं। स्वसंवेदना की इस प्रकार बाह्य प्रत्यक्ष के समान व्याख्या की गई। छठी अथवा आन्तरिक इन्द्रिय (अन्तःकरण) विषय पदार्थों का प्रत्यक्ष करने के लिये आत्मा की एक इन्द्रिय होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे पाँच बाह्येन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों के विज्ञान के लिये विज्ञाता (ज्ञातृ) की अथवा आत्मा की इन्द्रियाँ होती हैं।

आत्मा, इन्द्रिय, और पदार्थ की त्रयी को, तथा बाह्य प्रत्यक्ष के समान ही स्वसंवेदना की व्याख्या के सिद्धान्त को यथार्थवादी सम्प्रदायों में सुरक्षित रक्खा गया है। वे एक छठी इन्द्रिय, अर्थात् मनस्[4], को भी स्वीकार करते हैं जो पाँच बाह्येन्द्रियों के साथ ही समन्वित है। आत्मा अब विशुद्ध चेतना से युक्त एक अपरिवर्तनशील पदार्थ नहीं है। अब यह ऐसे गुणों से युक्त है जो नित्य आत्मा में निहित प्रवाहमान मानसिक घटनायें हैं। फिर भी, आत्मा उनका साक्षात् ज्ञान नहीं कर सकती, क्योंकि एक कर्म होने के कारण विज्ञान उसी प्रकार स्वयं अपना विषय नहीं बन सकता जिस प्रकार एक छुरी की धार स्वयं अपनी धार को नहीं काट सकती। मीमांसकों के लिये आत्मा तथा चेतना पर्यायवाची हैं क्योंकि चेतना आत्मा का एक गुण नहीं बल्कि उसका सार है।[5] न्याय-वैशेषिक में चेतना केवल एक घटना मात्र है जो अन्तःकरण के साथ अन्तर्क्रिया के द्वारा आत्मा में उत्पन्न होती है। स्वयं अपने में यह 'पापाणवत्' अचेतन होती है।[6] इन दोनों यथार्थवादी सम्प्रदायों में आत्मा की धारणा के इस अन्तर ने स्वसंवेदना की इनकी अपनी-अपनी व्याख्याओं के अन्तर को भी उत्पन्न कर दिया है। मीमांसकों के लिये आत्मचेतना एक अनुमान है, जब कि नैयायिकों के लिये यह एक पृथक प्रत्यक्ष है। जब दृष्टि

---

[1] अहंकार।

[2] मनस्।

[3] बुद्धि।

[4] यहाँ 'मनस्' वौद्धों के 'मनस्' से सर्वथा भिन्न है।

[5] 'ज्ञान-स्वरूपो, न तु ज्ञान-गुणवान् आत्मा'।

[6] तुकी० मेरा 'निर्वाण' पृ० ५४ और वाद।

द्वारा एक घट का प्रत्यक्ष होता है, तब मीमासको के अनुसार घट मे एक नवीन गुण, ज्ञातता का गुण[1], उत्पन्न हो जाता है। घट में इस गुण की उपस्थिति हमे स्वचेतना मे एक विज्ञान की उपस्थिति का अनुमान करने का अवसर देती है।[2] न्याय-वैशेषिक मे यह नियम, कि आत्मा इन्द्रियो के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार ज्ञान नही प्राप्त कर सकती, बाह्य तथा आन्तरिक दोनो ही विषयो पर लागू होता है।[3] जब किसी बाह्य पदार्थ, उदाहरण के लिये, एक घट का प्रत्यक्ष इस निश्चय के रूप मे कि 'यह एक घट है' आत्मा मे उत्पन्न होता है, तब इस प्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष, अर्थात् आत्म-प्रत्यक्ष, एक नवीन अनु-व्यवसाय द्वारा इस रूप मे प्रकट होता है कि "मैं इस घट के प्रत्यक्ष मे युक्त हूँ।" "जब आनन्द और कष्ट का, जो आत्मा मे निहित गुण है, बोध होता है, तब अन्त करण तथा आनन्द के गुण के बीच अन्तर्क्रिया बिल्कुल उसी प्रकार होती है जिस प्रकार दृष्येन्द्रिय और घट मे निहित एक रग के गुण के बीच की अन्तर्क्रिया।"[4] इतना ही नही, स्वय चेतना तक का इसी प्रकार ज्ञान होता है। जब एक स्वय चेतना के रूप मे आत्मा का ज्ञान अन्त -करण द्वारा उत्पन्न होता है तब यह ज्ञान पहले की अचेतन आत्मा मे उत्पन्न होने वाला एक नवीन गुण होता है।[5] इस प्रक्रिया मे इन्द्रिय अन्त करण है, विषय अचेतन आत्मा, और उसका ज्ञान उस आत्मा मे उत्पन्न एक नवीन गुण।

हीनयान-बौद्धधर्म मे एक पदार्थ के रूप में आत्मा तथा उसके गुण अदृष्य हो जाते हैं। किन्तु चेतना, इन्द्रिय और विषय की त्रयी, तथा बाह्य प्रत्यक्ष के समान ही आत्म-प्रत्यक्ष की व्याख्या को सुरक्षित रक्खा गया है। एक

---

[1] तुकी० न्याकणि० पृ० २६७ १२।

[2] इस प्रकार यहाँ भारत के सर्वथा यथार्थवादियो तथा अमेरिका के नव-यथार्थवादियो और व्यवहारवादियो के बीच एक उल्लेखनीय साम्य मिलता है। दोनो ही पक्ष आकार को (निराकारम् ज्ञानम्) तथा स्वसवेदना को अस्वीकृत करते हैं। ब० रसेल (अने० ऑफ माइण्ड, पृ० ११२) का, मीमासको की ही भाँति, यह विचार है कि "आन्तरिक विषय के साथ सम्बन्ध अनुमानात्मक और बाह्य होता है।" प्रभाकर बौद्धो के साथ सहमत हैं (आत्मा स्वय प्रकाश)।

[3] तुकी० न्याभा० पृ० १६ २।

[4] तुकी० तर्कभाषा, पृ० २८।

[5] वही।

'छठवी' इन्द्रिय[1] भी है जिसके लिये समस्त मानसिक घटनाएँ उसकी ही 'विषय'[2] है। यह विशुद्ध चेतना की एक प्रवाहमान धारा को व्यक्त करती है; मानसिक घटनाओ का अपने विषयो के रूप मे साक्षात् और बाह्य विषयो का पाँच बाह्येन्द्रियो के साथ सम्मिलित होकर प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमो के अनुसार, परोक्ष प्रत्यक्ष करती है।

इन सभी सिद्धान्तो का दिङ्नाग जोर दे कर विरोध करते है। इनका यह कथन है[3]

> "सुखादि जैसे कोई प्रमेय नही है,
> मन जैसी कोई आन्तरिक इन्द्रिय नही है।[4]

छठवी इन्द्रिय की स्थिति के सम्बन्ध मे हीनयानी सम्प्रदायो मे कोई सार्वभौमिक सहमति नही थी। इनमे से कुछ, जैसे सर्वास्तिवादी, इस इन्द्रिय को बुद्धि के साथ समीकृत करते थे। इनके लिये विशुद्ध चेतना, अन्तःकरण और बुद्धि अथवा प्रज्ञा एक ही वस्तु थी।[5] किन्तु अन्य, जैसे थेरवादी, चेतना के धर्म के साथ-साथ एक छठवी या 'हृदय-धातु' भी मानते थे। इस विषय पर नैयायिको के साथ अपने विवाद मे दिङ्नाग इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते है कि वे (नैयायिक) स्वय भी उन सूत्रो[6] में जिनमे इन्द्रियो की गणना कराई गई है, केवल पांच इन्द्रियो का ही उल्लेख करते है। किन्तु वात्स्यायन[7] इस नियम पर दृढ है कि ज्ञाता, अर्थात आत्मा, किसी इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य माध्यम के द्वारा ज्ञान नही प्राप्त कर सकता। इनका कथन है कि "इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की प्रत्येक दशा मे ज्ञाता इन्द्रिय के माध्यम से ही व्यवसाय करता है, क्योकि यदि इन्द्रिय नष्ट हो जाय तो उससे सम्बद्ध अनु-व्यवसाय (इस रूप मे कि 'मुझे इस घट का प्रत्यक्ष हो रहा है') उत्पन्न नही होता।" "किन्तु तब एक आपत्तिकर्त्ता यह कहता है कि, तुम्हे स्वय

---

[1] मन-इन्द्रिय=आयतन (सख्या ६)।

[2] विषय=धर्म = आयतन (सख्या १२)

[3] हीनयान मे विज्ञान के सिद्धान्त पर तुकी० मेरा सेक० पृ० ५४ और बाद।

[4] प्रसमु० १ २१, तुकी० ताटी० पृ० ९७ १ न सुखादि प्रमेयम् वा, मनोवास्तीन्द्रियान्तरम्।,

[5] अभिको० २ ३४ चित्तम्, मनो, विज्ञानम् एकार्थकम्।

[6] न्यासु० १ १,१२।

[7] न्याभा० १ १,४ पृ० १६ २ और बार।

अपने स्वत्व के, स्वय अपनी भावनाओ और विचारो के प्रत्यक्ष की व्याख्या करनी चाहिये।" वात्स्यायन उत्तर देते हैं कि "यह अन्त करण द्वारा होता है क्योकि अन्त करण भी निश्चित रूप से एक इन्द्रिय है, यद्यपि (न्याय सूत्र मे) इसकी पृथक् गणना है क्योकि यह कुछ दृष्टियो से (अन्य इन्द्रियो मे) भिन्न होता है । (इस सूत्र मे) किसी स्पष्ट अस्वीकृति (छठवी इन्द्रिय की) का न होना (और यह मौन) स्वीकृति का चिह्न है।" किन्तु तब, दिङ्नाग कहते हैं, यदि विपरीत वक्तव्य की अनुपस्थिति स्वीकृति का लक्षण है तो पाँच (बाह्य) इन्द्रियो का उल्लेख भी अनावश्यक है (क्योकि इनके सम्बन्ध मे तो सार्वभौमिक सहमति है)।"[1]

दिङ्नाग अन्त करण या आन्तरिक इन्द्रिय की सत्ता को अस्वीकृत करते हुये इसे अपने 'मानस-प्रत्यक्ष' द्वारा स्थानान्तरित कर देते हैं। प्रत्येक विज्ञान विषयी और विषय मे, एक ज्ञाता अश मे और एक ज्ञेय अश मे, विभक्त होता है। किन्तु ज्ञाता अश पुन एक अन्य विषयी और एक अन्य विषय मे भी विभक्त नही होता। चेतना दो ऐसे भागो मे विभक्त नही होती जिनमे से एक दूसरे का निरीक्षक हो। बाह्य-प्रत्यक्ष के समान ही स्वसवेदना की व्याख्या करना एक त्रुटि है।

एक वास्तविक और सतत स्वसवेदना के पक्ष मे धर्मोत्तर के तर्क इस प्रकार हैं। साक्षात् इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आशय मे प्रत्यक्ष क्या होता है ? यह एक ऐसा कार्य है जिसमे एक अनिर्धारित विज्ञान के प्रथम क्षण के बाद प्रत्यक्ष होनेवाली वस्तु के आकार का निर्माण होता है।[2] इनका कथन है कि "वस्तु के उसी रूप का, जिसके विज्ञान के (जिसका कार्य किसी वस्तु के इन्द्रिय-गोचर क्षेत्र मे उपस्थित होने का सकेत मात्र करना है) साक्षात् कार्य का विकल्प अनुगमन करता है[3], इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है।" निर्विवाद रूप से हमे ही अपनी वैयक्तिकता की, स्वय अपने स्वत्व की, अनुभूति होती है। किन्तु क्या स्वत्व का आकार-निर्माण इस अनुभूति का अनुगमन करता है ? निश्चित रूप से नही। यह अनुभूति केवल हमारी चेतना की प्रत्येक दशा के साथ सयुक्त रहती है। जब हमे एक नील पट का प्रत्यक्ष और साथ ही साथ एक सौख्य का अनुभव होता है, तब सौख्य का यह भाव नील पट द्वारा उत्पन्न

---

[1] प्रसमु० १ ११, तुकी० ताटी० पृ० ९७ २९, "अनिषेधाद् उपात्तम् चेद् अन्येन्द्रिय-रुतम् वृथा।"

[2] न्याविटी० पृ० ११ १२।

[3] विकल्पेन अनुगम्यते।

वस्तुयें, जिनकी यथार्थवादी सम्प्रदाय कल्पना करता है, केवल नीरसवत् प्रतीत होती हैं। ये वस्तुत उन वस्तुओ की श्रेणी मे आती हैं जिन्हे दूर रक्खा जाना है, क्योंकि किसी वस्तु की इच्छा न करना उसे अपने से दूर करना है। और न एक जीवित प्राणी की चेतना की धारा मे कोई व्यवधान ही होता है। यहाँ तक कि सुषुप्ति और अपस्मारीय मूर्च्छा तक की अवस्था मे भी एक प्रकार का चेतन जीवन-व्यापार चलता रहता है। साथ ही, चेतना सदैव किसी कर्म की तैयारी होती है क्योंकि अपने स्वभाव से ही यह ऐसी होती है। अत यह कभी भी सर्वथा विरक्त नही हो सकती। अनुराग-धर्म के रूप मे आत्मा प्रत्येक चेतन अवस्था के साथ सयुक्त होती है।

इस प्रकार, भारतीय दर्शन की 'आत्मा', उपनिषदो मे परम ब्रह्म के पद पर आसीन रहने के बाद, साख्य शुद्ध मे पदार्थ तथा यथार्थवादी सम्प्रदायो मे सविशेष पदार्थ बन गई। तदनन्तर हीनयान मे यह एक छठवी इन्द्रिय के कार्यों सहित विचार की एक सरल धारा के स्तर पर उतर आई। नैयायिक सम्प्रदायो मे इसने अपना यह पद भी खो दिया और प्रत्येक मानसिक अवस्था की एक सहवर्ती धर्म, एक प्रकार की 'अनुभवातीत स्वोपलब्धि' बन गई— अनुभवातीत इसलिये कि विषय और विषयी के रूप मे विभक्त चेतना प्रत्येक सम्भाव्य अनुभव की पूवगामी होती है। अब यह एक सम्भाव्य अनुभव की एक अनुभव-निरपेक्ष अवस्था से सम्बद्ध हो जाती है। फिर भी, जैसा कि आगे देखा जायगा,[१] अपने चरित्र के अन्त मे, परिष्कृत वेदान्त, माध्यमिक सम्प्रदाय, तथा माध्यमिक-स्वातन्त्रिक-सौत्रान्तिक और माध्यमिक-प्रसङ्गिक-योगाचार के मिश्रित सम्प्रदायो मे यह पुन उन्नति के शिखर पर पहुँच कर परम ब्रह्म के पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है।[२]

---

[१] इस विषय पर तुकी० ई० ओबरमिलर का एक्टा ओरियण्टेलिया मे उत्तर-तन्त्र का अनुवाद।

[२] यह, नि सन्देह, उस विषय के सम्बन्ध मे भारतीय दृष्टिकोण का एक अत्यन्त सक्षिप्त विवरण है जो "ह्यूम के ममय से ही मनोविज्ञान का एक जटिलतम प्रश्न माना जाता रहा है।" (वि० जेम्स०)। फिर भी, यह देखा जायगा कि यत हीनयानी पुद्गल को एक ऐसा 'सस्कार-समूह' मानते हैं जिसका प्रत्येक अश एक पृथक् धर्म होता है, अत ये इग्लैण्ड और फ्रान्स के साहचर्यवादियो और जर्मनी के हर्बर्टवादियो के समकक्ष आ जाते हैं। वेदान्त, साख्य, और भारतीय यथार्थवादी आध्यात्मिक सिद्धान्त को मानते है, जिनकी तुलना मे बौद्ध नैयायिको के सिद्धान्त को अनुभवातीतवादी सिद्धान्त कहा जा

इसी प्रकार, आयुर्वेदीय सम्प्रदाय एक आत्मा, एक मनस् (अन्त करण) और पाँच बाह्येन्द्रियाँ मानता है। वह वस्तु जिससे ये पाँच इन्द्रियाँ निर्मित होती हैं वह पाँच प्रकार के बाह्य पदार्थों के अनुरूप होती है। प्रत्येक इन्द्रिय केवल अपने सीमित क्षेत्र मे ही क्रियाशील होती है क्योकि सिद्धान्त यह है कि समान ही समान का बोध कर सकता है। यही सिद्धान्त, जैसा कि सुविदिति है, प्राचीन यूनान के दार्शनिक भी मानते थे। उदाहरण के लिये, दृष्येन्द्रिय केवल रगो का ही बोध कर सकती है, क्योकि यह इन्द्रिय तथा रग अग्निधर्मी होते हैं,[1] इत्यादि। इसी प्रकार अन्त करण (मनस्) भी भौतिक होता है—यह एक विशेष वस्तु के एक अणु मात्र[2] से निर्मित होता है। यह एक इन्द्रिय के स्थान से दूसरे के स्थान तक शरीर के भीतर असीम गति से भ्रमण करता है और सर्वज्ञ आत्मा तथा बाह्य इन्द्रिय के बीच एक सम्बन्ध स्थापित करता रहता है। इस प्रकार, इसे एक स्नायुविक प्रवाह[3] के साथ समीकृत किया जा सकता है जिसकी चैतन्य आत्मा और भौतिक इन्द्रियो के बीच के एक मध्यवर्ती के रूप मे कल्पना की जा सकती है।

बाह्य विषयो को ग्रहण करने मे बाह्येन्द्रियो की सहायता करने के अतिरिक्त इस आन्तरिक इन्द्रिय का एक अपना विशेष क्रियाक्षेत्र होता है। इसका

इनमे प्रत्यक्षत केवल मात्रा-भेद ही प्रतीत होता है। वास्तविक प्रत्यक्ष इनके लिये सविकल्पक होता है।

[1] साख्य पद्धति मे पाँच इन्द्रियाँ तथा इनसे सम्बद्ध पाँच भूत पदार्थ एक 'अहकार' से सामानान्तर रूप से उत्पन्न हैं अत इन्हे 'अहकारिकाणि इन्द्रियाणि' कहा गया है। न्याय-वैशेषिक, आरम्भिक योग, मीमासा, और आयुर्वेदीय सम्प्रदायो मे इस सिद्धान्त को छोड दिया गया है, और इन्द्रियाँ उन्ही अणुओ से बनी मानी गई हैं जिनसे इनके समानान्तर भूत पदार्थ निर्मित हैं (भौतिकानि इन्द्रियाणि)। बौद्ध पाँच बाह्य इन्द्रियो के स्थानो के रूप मे पाँच विशेप प्रकार की पारभासी वस्तुओ—रूप-प्रसाद—की कल्पना करते हैं।

[2] 'अणुत्वम् अथ चैकत्वम् द्वौ गुणौ मनस स्मृतौ', तुकी० चक्रपाणि १८, ५। अत आयुर्वेदीय सम्प्रदायो की ही भाँति यथार्थवादियो ने भी दो साथ-साथ उत्पन्न भावो अथवा विचारो की सम्भावना को अस्वीकार किया क्योकि आन्तरिक इन्द्रिय एक ही समय मे दो भिन्न स्थानो मे उपस्थित नही हो सकती।

[3] प्रोफेसर गार्वे साख्यो की 'इन्द्रियो' की हमारे स्नायुमण्डल के विचार के साथ तुलना करते हैं, साख्य फिला० पृ० २३५।

समय सम्पूर्ण विज्ञान को स्वय अपने मनसो की प्रक्रियाओ का निरीक्षण करने वाली प्रक्रिया के रूप मे परिवर्तित कर दिया है। एक बाह्य जगत् की अपेक्षा इन लोगो ने एक 'आलय-विज्ञान' की कल्पना की। किन्तु, इसको एक प्रच्छन्न आत्मा ही कह कर दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति ने इसका प्रतिवाद किया।[1] इन लोगो नें तब बौद्ध न्याय में अन्तत दो विपमजातीय धर्मों—एक अविकल्पात्मक विशुद्ध विज्ञान तथा दूसरे रचनात्मक अथवा विकल्पात्मक सश्लेषण की स्थापना कर दी। यह, और साथ ही साथ, स्वय-सवेदना का सिद्धान्त तथा आकारो और नामो का सिद्धान्त, बौद्ध ज्ञानमीमासा की आधारभूत विशिष्टता है।

इस ऐतिहासिक विकास से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक शुद्ध निर्विकल्पक विज्ञान या चेतना का विचार भारतीय दर्शन में सदैव सजीव रहा है। हमें साख्यो तथा आयुर्वेदीय सम्प्रदायो की 'आत्मा', यथार्थवादियो के निराकार विज्ञान, हीनयान के 'विज्ञान-स्कन्ध' अथवा 'छठवी इन्द्रिय, और नैयायिको के 'शुद्ध विज्ञान' मे इसका दर्शन होता है। किन्तु यह बाद का सम्प्रदाय मात्र ही इस बात को मानता है कि 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष शुद्ध विज्ञान है' जो किसी भी प्रकार के स्मृतिजन्य अथवा किसी भी प्रकार के बौद्धिक धर्म से रहित होता है। उन अन्य सभी सम्प्रदायो के लिये, जिन्होने अपने-अपने सिद्धान्तो मे निश्चित और अनिश्चित प्रत्यक्ष के अन्तर को सम्मिलित किया है, यह अन्तर केवल मात्रा का है—विज्ञान एक अपूर्ण प्रत्यक्ष है, यथार्थ ज्ञान निश्चित प्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न होता है। किन्तु बौद्धो के लिये स्थिति ठीक इसके विपरीत है। यथार्थ ज्ञान शुद्ध विज्ञान होता है, क्योकि यह निर्विकल्पक होता है और इसलिये विषयात्मक नही होता, कृत्रिम नही होता। यह वह विन्दु होता है जहाँ हम परमाथ सत् के, स्वलक्षण वस्तु के, शुद्ध विषय के, अथवा शुद्ध सत्ता के सम्पर्क में आते हैं। यही कारण है कि बाद के वेदान्ती भी इस विषय पर बौद्ध न्याय के साथ सहमत हो गये। उपनिषद् की एक अभ्युक्ति का उपयोग करते हुए इन लोगो ने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की 'प्रत्यक्ष ज्ञान'[2] के रूप में परिभाषा की है जो, जैसा कि हम देख चुके हैं, बौद्ध परिभापा का भी वास्तविक आशय है। इन लोगो ने इसे परमार्थ की, अद्वितीय की, अद्वितीय परम् ब्रह्म की, साक्षात् अनुभूति के साथ समीकृति किया है।

---

[1] तुकी० भाग २, पृ० ३२९ नोट।

[2] प्रत्यक्ष=अपरोक्ष। तुकी० मेरा 'निर्वाण, पृ० १५९, नोट ३

यथार्थवादी प्रणालियाँ, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, तथा जैन भी, इसी समान एक आत्मा, एक आन्तरिक इन्द्रिय और पाँच बाह्येन्द्रियाँ मानते हैं, किन्तु यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने मे इनके कार्यों का भिन्न रूप से वितरण किया गया है।

निश्चय, अर्थात् यथार्थज्ञान के कार्य को आन्तरिक इन्द्रिय से हटा कर आत्मा पर स्थानान्तरित कर दिया गया है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार यह आन्तरिक इन्द्रिय के साथ सयोग द्वारा अवसर उत्पन्न आत्मा का गुण है।[२] मीमासा के अनुसार यह स्वय चैतन्यरूप होता है।[३] इस प्रकार, ज्ञान इन्द्रियो के माध्यम से आत्मा का निश्चय है। इसका बाह्यविषयो के लिये आत्मा के आन्तरिक इन्द्रिय तथा आन्तरिक इन्द्रिय के बाह्येन्द्रिय के साथ द्विविध सपर्क के रूप मे व्यवहार होता है। इसी प्रकार आन्तरिक विषयो, भावो, विचारो और सकल्पो के लिये आन्तरिक इन्द्रिय का मध्यवर्ती सम्पर्क के रूप मे व्यवहार होता है। यहाँ आन्तरिक इन्द्रिय निश्चय के अपने कार्य से च्युत है, किन्तु स्वय मानस की प्रक्रियाओ, बाह्येन्द्रियो, तथा प्रत्यक्ष की क्रियाओ मे सहायता देने के अपने कार्य को सुरक्षित रखती है। इस प्रकार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एक प्रत्यक्षात्मक निश्चय को भी सम्मिलित कर लेता है। अनिश्चित विज्ञान को यद्यपि स्वीकार किया गया है, तथापि यह प्रत्यक्ष की एक क्षीण मात्रा ही है।

हीनयान बौद्धो ने आत्मा का तो सर्वथा परित्याग कर दिया किन्तु आन्तरिक इन्द्रियो को आध्यात्मिक बना दिया। अब विज्ञान के समस्त कार्यों को आन्तरिक इन्द्रिय पर लाद दिया गया। ऐसा माना जाने लगा कि यह बाह्य विषयो के प्रत्यक्ष मे बाह्येन्द्रियो की सहायता, तथा मानस की आन्तरिक प्रक्रियाओ का साक्षात् प्रत्यक्ष करती है। अब बुद्धि ही पाँच बाह्येन्द्रियो के

पर्यायवाची हैं (न्यासू० १.१,१५)। बौद्धदर्शन में चित्त, मनस् और विज्ञान, तीनो पर्यायवाची और शुद्ध प्रत्यक्ष के द्योतक हैं। किन्तु बुद्धि = अध्यवसाय = निश्चय=सज्ञा, का अर्थ विकल्प है, जो तव मनस् का विषय है। महायान के विज्ञानवादी सम्प्रदायो मे शुद्ध विज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहा गया है, और विज्ञान 'साकार' अर्थात् 'विकल्प' हो जाता है।

[२] न्याय-वैशेषिको की 'आत्मा' 'स्वतोऽचिद् रूपम् नित्यम्, सर्वगतम्, चेतना-योगाद् चेतनम्, न स्वरूपत' है, तस० पृ० ७९-८०।

[३] मीमासको की आत्मा 'चैतन्य-रूपम्, चैतन्यम् बुद्धि-लक्षणम्' है, वही पृ० ९४।

समय सम्पूर्ण विज्ञान को स्वय अपने मनसो की प्रक्रियाओ का निरीक्षण करने वाली प्रक्रिया के रूप मे परिवर्तित कर दिया है। एक बाह्य जगत् की अपेक्षा इन लोगो ने एक 'आलय-विज्ञान' की कल्पना की। किन्तु, इसको एक प्रच्छन्न आत्मा ही कह कर दिड्नाग तथा धर्मकीर्ति ने इसका प्रतिवाद किया।[१] इन लोगो ने तब बौद्ध न्याय में अन्तत दो विषमजातीय धर्मो—एक अविकल्पात्मक विशुद्ध विज्ञान तथा दूसरे रचनात्मक अथवा विकल्पात्मक सश्लेषण की स्थापना कर दी। यह, और साथ ही साथ, स्वय-सवेदना का सिद्धान्त तथा आकारो और नामो का सिद्धान्त, बौद्ध ज्ञानमीमासा की आधारभूत विशिष्टता है।

इस ऐतिहासिक विकास से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक शुद्ध निर्विकल्पक विज्ञान या चेतना का विचार भारतीय दर्शन में सदैव सजीव रहा है। हमें साख्यो तथा आयुर्वेदीय सम्प्रदायो की 'आत्मा', यथार्थवादियो के निराकार विज्ञान, हीनयान के 'विज्ञान-स्कन्ध' अथवा 'छठवी इन्द्रिय, और नैयायिको के 'शुद्ध विज्ञान' मे इसका दर्शन होता है। किन्तु यह बाद का सम्प्रदाय मात्र ही इस बात को मानता है कि 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष शुद्ध विज्ञान है' जो किसी भी प्रकार के स्मृतिजन्य अथवा किसी भी प्रकार के बौद्धिक धर्म से रहित होता है। उन अन्य सभी सम्प्रदायो के लिये, जिन्होने अपने-अपने सिद्धान्तो मे निश्चित और अनिश्चित प्रत्यक्ष के अन्तर को सम्मिलित किया है, यह अन्तर केवल मात्रा का है—विज्ञान एक अपूर्ण प्रत्यक्ष है, यथार्थ ज्ञान निश्चित प्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न होता है। किन्तु बौद्धो के लिये स्थिति ठीक इसके विपरीत है। यथार्थ ज्ञान शुद्ध विज्ञान होता है, क्योकि यह निर्विकल्पक होता है और इसलिये विषयात्मक नही होता, कृत्रिम नही होता। यह वह विन्दु होता है जहाँ हम परमार्थ सत् के, स्वलक्षण वस्तु के, शुद्ध विषय के, अथवा शुद्ध सत्ता के सम्पर्क में आते हैं। यही कारण है कि बाद के वेदान्ती भी इस विषय पर बौद्ध न्याय के साथ सहमत हो गये। उपनिषद् की एक अभ्युक्ति का उपयोग करते हुए इन लोगो ने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की 'प्रत्यक्ष ज्ञान'[२] के रूप में परिभाषा की है जो, जैसा कि हम देख चुके है, बौद्ध परिभाषा का भी वास्तविक आशय है। इन लोगो ने इसे परमार्थ की, अद्वितीय की, अद्वितीय परम् ब्रह्म की, साक्षात् अनुभूति के साथ समीकृति किया है।

---

[१] तुकी० भाग २, पृ० ३२९ नोट।

[२] प्रत्यक्ष=अपरोक्ष। तुकी० मेरा 'निर्वाण, पृ० १५९, नोट २

§ ६ कुछ योरोपीय समानान्तरताये

हम देख चुके हैं कि ज्ञान-विषयक बौद्ध सिद्धान्त तथा भारत के उनके विरोधियो के बीच विवाद का प्रमुख विषय यह है कि अपने शुद्ध आशय मे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मे प्रत्यक्षात्मक निश्चय भी सम्मिलित होता है अथवा नही। इस प्रश्न को इस रूप मे भी पूछा जा सकता है क्या शुद्ध ऐन्द्रिक-अन्य प्रज्ञा, अथवा शुद्ध विज्ञान एक यथार्थता है ? और यह प्रश्न एक उस प्रश्न से घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध है क्या ज्ञान के वास्तव मे दो, केवल दो पृथक् स्रोत—इन्द्रिय-ग्राह्यता और प्रज्ञा—ही हैं ? हम देख चुके है कि सर्वास्तिवादियो के सम्प्रदाय के आचार्यों ने, जो समाधि के मनोविज्ञान के भी महान विद्वान थे, यह देखा था कि एक नीलपट पर ध्यान केन्द्रित करने मे हमारी इन्द्रियाँ गहन रूप से तल्लीन होती हैं—इतनी तल्लीन कि उन्हे अन्य किसी भी अन्तर्गामी उद्दीपन का ध्यान भी नही रहता, और हमारी प्रज्ञा को उसके सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञान नही होता, हम यह निश्चय करने की स्थिति मे नही होते कि 'यह नील पट' है। हम देख चुके हैं कि धर्मकीर्ति हमे स्वसवेदना-विषयक एक प्रयोग करने के लिये आमन्त्रित करते हैं जो शुद्ध विज्ञान के एक धर्म की यथार्थता को प्रमाणित करता है। हम यह भी देख चुके हैं कि भारतीय-

यथार्थवादी कुछ सीमा तक—उस सीमा तक जहाँ तक एक द्विविध इन्द्रिय प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं—एक अनिश्चित और अस्पष्ट, तथा एक ऐसे निश्चित ज्ञान को स्वीकार करते हैं जिसमे प्रत्यक्षात्मक निश्चय भी सम्मिलित है। बौद्धो का पक्ष यह है कि एक शुद्ध विज्ञान अथवा अन्त प्रज्ञा होती है जिसका प्रत्यक्षात्मक निश्चय अनुगमन[१] करता है। इसका विरोधी पक्ष यह है कि एक अस्पष्ट, तथा साथ ही साथ, एक निश्चित इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, और इस बाद वाले के अन्तर्गत[२] प्रत्यक्षात्मक निश्चय सम्मिलित होता है। अन्तर अत्यन्त कम प्रतीत होता है, किन्तु यह आधारभूत है—बौद्ध दर्शन का सम्पूर्ण प्रासाद ही इसके आधार पर खडा या ध्वस्त होता है। यह बौद्ध सत्त्वमीमासा, क्षणिक यथार्थता, के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। सामान्य आशय मे शुद्ध विज्ञान की कोई अवधि नही होती, अर्थात् इसकी केवल एक क्षण मात्र की ही सत्ता होती है और इसलिये यह अनुभविक दृष्टि से अबोधगम्य तथा अनभिलाप्य होता है—अनभिलाप्यता इसका विशिष्ट चिह्न है। अत हमने इसे अपने ज्ञान का अनुभवातीत धम कहा है, क्योकि यद्यपि स्वय अपने मे आनुभविक दृष्टि से, एक ऐन्द्रिक आकार की दृष्टि से, यह अबोधगम्य होता है, तथापि यह प्रत्येक आनुभविक प्रत्यक्ष की, और सामान्य रूप से समस्त यथार्थ ज्ञान की एक अनिवार्य अवस्था होता है।

अन्य लोग ही इस बात का निर्णय करने के अधिक योग्य होगे कि योरोपीय दर्शन के इतिहास मे बौद्धो के सम्पूर्णत अथवा अशत समान सिद्धान्त उपलब्ध है या नही। हमारा काय यहाँ भारतीय सिद्धान्त को प्रस्तुत करना तथा इसे यथासम्भव स्पष्ट करने के लिये इसके विरोधी सिद्धान्तो का उल्लेख करना है। इसका आधारभूत सिद्धान्त सर्वथा स्पष्ट प्रतीत होता है इन्द्रियाँ तथा प्रज्ञा ज्ञान के दो भिन्न प्रमाण है—यह भिन्नता मात्रा की नही वल्कि तत्त्व की है, अर्थात् एक के होने के समय दूसरा नही होता। फिर भी, दोनो प्रमाणो मे अन्तर्क्रिया होती है। और किसी वास्तविक, अर्थात् आनुभविक ज्ञान मे इनके परस्पर योगदान को पथक् करना सदैव सरल नही होता। सम्पूर्ण प्रणाली ही इस विभेद पर आधारित है, अत अपने अनुसन्धान के क्रम मे हमे इस विपय के विवेचन के और इन कठिनाइयो के सकेत के अनेक अवसर मिलेंगे जिनसे इसके परिणाम तथा प्रयोजन सयुक्त हैं। यदि इसी प्रकार के विपय पर योरोपीय विचार भी इसी समान कठिनाइयो में उलझे

---

[१] विकल्पेन अनुगम्यते।

[२] 'व्यवसायात्मक' न्या सू० १.१.४।

हो तो यह परोक्ष रूप से इस बात को सिद्ध करेगा कि कठिनाइयां अनिवार्य और स्वय नमस्या मे ही निहित हैं।

योरोपीय दार्शनिको मे, रीड, विज्ञान का प्रत्यक्ष के साथ तथा आदर्श-पुनरुद्धार के साथ तीक्ष्ण विभेद करने के कारण प्रमुख हैं। उनके लिये 'विज्ञान' शब्द एक ऐसी विषयात्मक अवस्था का द्योतक है जिसमे बाह्यवस्तु का कोई ज्ञान निहित नही होता। किसी प्रकार के विज्ञान का होना ज्ञानेन्द्रिय पर पडने वाले किसी प्रभाव के कारण उत्पन्न एक प्रकार की सवेदना का अनुभव करना है। शुद्ध विज्ञान विशुद्धत एक सवेदनात्मक चेतना है। दूसरी ओर, किसी प्रकार के प्रत्यक्ष का होना किसी उपस्थित सवेदना के द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान होना है। जब सवेदना किसी अर्थ की ससूचक होती है तब वह शुद्ध सवेदना नही रह जाती—वह प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाती है। इसका अर्थ सवेदना से नही बल्कि एक अन्य ऐसे स्रोत से उत्पन्न होता है जो स्मरण या कल्पना जैसा ही होता है। यह सिद्धान्त, 'निर्विकल्पकम् प्रत्यक्षम्', 'सविकल्पकम् प्रत्यक्षम्', और 'कल्पना मात्रम्' के भारतीय विभेद के बहुत निकट आता प्रतीत होता है। फिर भी, यह विभेद, यद्यपि इसका प्रखर निर्धारण किया गया है, रीड के हाथो मे पडकर बहुत दूरगामी परिणामो को उत्पन्न नही कर सका, और उनके उत्तराधिकारियो के हाथो मे पडकर तो प्राय आधा मिट ही गया।

इसी प्रकार, बाह्यवस्तुओ द्वारा उत्पन्न एक निश्चित प्रभाव के रूप मे न तो लॉक के 'विचार' ने, और न ह्यूम के 'विचार' ने ही जो 'क्षीणतर हो गया भाव है' शुद्ध सवेदना र पूर्ण प्रत्यक्ष[1] मे कोई पर्याप्त विभेद किया है।

यद्यपि लीब्निज ने इस बात का स्पष्ट अनुभव किया कि यान्त्रिक आधारो पर प्रत्यक्ष की व्याख्या नही की जा सकती,[2] और प्रत्यक्ष की अनुभवातीत उत्पत्ति से इन्हे उलझन भी हुई, तथापि इनके लिये सवेदना एक अस्तव्यस्त प्रत्यक्ष ही बनी रही।

किन्तु, जैसा कि सुज्ञात है, अपने समालोचनात्मक काल के आरम्भ में काण्ट ने इस विभेद की पुन स्थापना की। इनका विचार था कि यह बात दर्शन के लिये 'अत्यन्त घातक' रही कि इस अनिवार्य तथा जननिक विभेद का

---

[1] इस विषय पर निर्णायकता के अभाव के कारण लॉक मे जो विरोधत्व मिलता है उसके लिये तुकी० टी० एच० ग्रीन इण्ट्रोडक्शन टु ह्यम्स ट्रीटिस।

[2] मोनडोलॉजी, १७।

यथार्थवादी कुछ सीमा तक—उस सीमा तक जहाँ तक एक द्विविध इन्द्रिय प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं—एक अनिश्चित और अस्पष्ट, तथा एक ऐसे निश्चित ज्ञान को स्वीकार करते हैं जिसमे प्रत्यक्षात्मक निश्चय भी सम्मिलित है। बौद्धो का पक्ष यह है कि एक शुद्ध विज्ञान अथवा अन्त प्रज्ञा होती है जिसका प्रत्यक्षात्मक निश्चय अनुगमन[1] करता है। इसका विरोधी पक्ष यह है कि एक अस्पष्ट, तथा साथ ही साथ, एक निश्चित इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, और इस बाद वाले के अन्तर्गत[2] प्रत्यक्षात्मक निश्चय सम्मिलित होता है। अन्तर अत्यन्त कम प्रतीत होता है, किन्तु यह आधारभूत है—बौद्ध दर्शन का सम्पूर्ण पासाद ही इसके आधार पर खडा या ध्वस्त होता है। यह बौद्ध सत्त्वमीमासा, क्षणिक यथार्थता, के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। सामान्य आशय मे शुद्ध विज्ञान की कोई अवधि नही होती, अर्थात् इसकी केवल एक क्षण मात्र की ही सत्ता होती है और इसलिये यह अनुभविक दृष्टि से अबोधगम्य तथा अनभिलाप्य होता है—अनभिलाप्यता इसका विशिष्ट चिह्न है। अत हमने इसे अपने ज्ञान का अनुभवातीत धम कहा है, क्योकि यद्यपि स्वय अपने मे आनुभविक दृष्टि से, एक ऐन्द्रिक आकार की दृष्टि से, यह अबोधगम्य होता है, तथापि यह प्रत्येक आनुभविक प्रत्यक्ष की, और सामान्य रूप से समस्त यथार्थ ज्ञान की एक अनिवार्य अवस्था होता है।

अन्य लोग ही इस बात का निर्णय करने के अधिक योग्य होगे कि योरोपीय दर्शन के इतिहास मे बौद्धो के सम्पूर्णत अथवा अशत समान सिद्धान्त उपलब्ध है या नही। हमारा काय यहाँ भारतीय सिद्धान्त को प्रस्तुत करना तथा इसे यथासम्भव स्पष्ट करने के लिये इसके विरोधी सिद्धान्तो का उल्लेख करना है। इसका आधारभूत सिद्धान्त सर्वथा स्पष्ट प्रतीत होता है इन्द्रियाँ तथा प्रज्ञा ज्ञान के दो भिन्न प्रमाण हैं—यह भिन्नता मात्रा की नही बल्कि तत्त्व की है, अर्थात् एक के होने के समय दूसरा नही होता। फिर भी, दोनो प्रमाणो मे अन्तर्क्रिया होती है। और किसी वास्तविक, अर्थात् आनुभविक ज्ञान मे इनके परस्पर योगदान को पथक् करना सदैव सरल नही होता। सम्पूर्ण प्रणाली ही इस विभेद पर आधारित है, अत अपने अनुसन्धान के क्रम मे हमे इस विपय के विवेचन के और इन कठिनाइयो के सकेत के अनेक अवसर मिलेंगे जिनसे इसके परिणाम तथा प्रयोजन सयुक्त हैं। यदि इसी प्रकार के विपय पर योरोपीय विचार भी इसी समान कठिनाइयो मे उलझे

[1] विकल्पेन अनुगम्यते।

[2] 'व्यवसायात्मक' न्या सू० १.१४।

हो तो यह परोक्ष रूप से इस बात को सिद्ध करेगा कि कठिनाइयाँ अनिवार्य और स्वय समस्या मे ही निहित हैं।

योरोपीय दार्शनिको मे, रीड, विज्ञान का प्रत्यक्ष के साथ तथा आदर्श-पुनरुद्धार के साथ तीक्ष्ण विभेद करने के कारण प्रमुख हैं। इनके लिये 'विज्ञान' शब्द एक ऐसी विषयात्मक अवस्था का द्योतक है जिसमे वाह्यवस्तु का कोई ज्ञान निहित नही होता। किसी प्रकार के विज्ञान का होना ज्ञानेन्द्रिय पर पडने वाले किसी प्रभाव के कारण उत्पन्न एक प्रकार की सवेदना का अनुभव करना है। शुद्ध विज्ञान विशुद्धत एक सवेदनात्मक चेतना है। दूसरी ओर, किसी प्रकार के प्रत्यक्ष का होना किसी उपस्थित सवेदना के द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान होना है। जब सवेदना किसी अर्थ की ससूचक होती है तब वह शुद्ध सवेदना नही रह जाती—वह प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाती है। इसका अर्थ सवेदना से नही बल्कि एक अन्य ऐसे स्रोत से उत्पन्न होता है जो स्मरण या कल्पना जैसा ही होता है। यह सिद्धान्त, 'निर्विकल्पकम् प्रत्यक्षम्', 'सविकल्पकम् प्रत्यक्षम्', और 'कल्पना मात्रम्' के भारतीय विभेद के बहुत निकट आता प्रतीत होता है। फिर भी, यह विभेद, यद्यपि इसका प्रखर निर्धारण किया गया है, रीड के हाथो मे पडकर बहुत दूरगामी परिणामो को उत्पन्न नही कर सका, और उनके उत्तराधिकारियो के हाथो मे पडकर तो प्राय आधा मिट ही गया।

इसी प्रकार, बाह्यवस्तुओ द्वारा उत्पन्न एक निश्चित प्रभाव के रूप मे न तो लॉक के 'विचार' ने, और न ह्यूम के 'विचार' ने ही जो 'क्षीणतर हो गया भाव है' शुद्ध सवेदना र पूर्ण प्रत्यक्ष[1] में कोई पर्याप्त विभेद किया है।

यद्यपि लीब्निज ने इस बात का स्पष्ट अनुभव किया कि यान्त्रिक आधारो पर प्रत्यक्ष की व्याख्या नही की जा सकती,[2] और प्रत्यक्ष की अनुभवातीत उत्पत्ति से इन्हे उलझन भी हुई, तथापि इनके लिये सवेदना एक अस्तव्यस्त प्रत्यक्ष ही बनी रही।

किन्तु, जैसा कि सुज्ञात है, अपने समालोचनात्मक काल के आरम्भ में काण्ट ने इस विभेद की पुन स्थापना की। इनका विचार था कि यह बात दर्शन के लिये 'अत्यन्त घातक' रही कि इस अनिवार्य तथा जननिक विभेद का

---

[1] इस विषय पर निर्णायकता के अभाव के कारण लॉक मे जो विरोधत्व मिलता है उसके लिये तुकी० टी० एच० ग्रीन इण्ट्रोडक्शन टु ह्यूम्स ट्रीटिस।

[2] मोनडोलॉजी, १७।

प्राय सर्वथा उन्मूलन हो गया। काण्ट के लिये 'कल्पना' आनुभविक प्रत्यक्ष का एक आवश्यक अग है। इस विषय पर इनके सिद्धान्त का रीड के तथा भारतीयो के साथ साम्य है। किन्तु शुद्ध विज्ञान या सवेदना और शुद्धकल्पना का प्रश्न कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। प्रथम को काण्ट के सवेदना तथा अन्त प्रज्ञा के विभेद और अनुभव-निरपेक्ष शुद्ध अन्त प्रज्ञा के उन रूपो ने जटिल बना दिया है जो काल और दिक के ही रूप हैं। हम देख चुके हैं कि बौद्धो के लिये काल और दिक् के स्वरूप हमारी बुद्धि या मानस के मौलिक अधिकार नही बल्कि उसी प्रकार हमारे विकल्प के द्वारा रचित होते हैं जिस प्रकार अन्य सभी इन्द्रिय-ग्राह्य और अमूर्त रूप हैं। शुद्ध ग्राह्यता के रूप मे ग्राह्यता स्वय अपने मे आकारविहीन होती है। जहाँ तक विकल्प का प्रश्न है यह बौद्ध न्याय मे एक ऐसा शब्द है जिससे वह सब कुछ अभिप्रेत है जो ग्राह्यता नही है। इस प्रकार, काण्ट की उत्पादक कल्पना तथा उनकी प्रज्ञा, निश्चय, हेतु और अनुमान, सभी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। यह अन्यथा कुछ नही हो सकता था, क्योकि अकेले द्विधात्मक सिद्धान्त ही, उस सब को जो ज्ञान है, एक ग्राह्य, विशुद्ध सवेदनात्मक चेतना और एक बोधगम्य, विशुद्धत स्वोद्भूत तथा कल्पनात्मक चेतना मे विभक्त कर देता है। बौद्ध कहते हैं कि विज्ञान और कल्पना दोनो के अपने-अपने पदार्थ और कार्य होते हैं। इन्द्रियो का कार्य पदार्थ को, शुद्ध पदाथ को उपस्थित कर देने मात्र के अतिरिक्त और कूछ नही होता। कल्पना का कार्य उसके आकार की रचना करना है। शुद्ध विज्ञान का पदार्थ शुद्ध पदार्थ होता है, कल्पना का पदार्थ उस पदार्थ का आकार होता है। बौद्ध कहते है कि बिना विज्ञान के हमारा ज्ञान 'वस्तु-शून्य' होगा। काण्ट[1] का कथन है कि "बिना अन्त प्रज्ञा के हमारा समस्त ज्ञान पदार्थों से रहित होगा, और इसलिये वह सर्वथा शून्य रहेगा।"[2] "यदि आनुभविक ज्ञान मे समस्त विचारो को (पदार्थों के द्वारा) निकाल दिया जाय तब किसी भी पदाथ का कोई भी ज्ञान शेष नही रहेगा।", क्योकि काण्ट के कथनानुसार केवल अन्त-प्रज्ञा मात्र द्वारा कुछ भी विचार नही किया जा सकता।" धर्मोत्तर का कथन है कि "बिना किसी प्रत्यक्षात्मक निश्चय के शुद्ध विज्ञान ऐसा होता है मानो उनका कोई अस्तित्व ही नही था।"[3] काण्ट का कथन है कि "बिना सप्रत्ययो

---

[1] क्रिरी० पृ० ५० और ४१।

[2] वही पृ० ५०।

[3] 'असत्-कल्प', न्यायबिटी० १६ ६

के अन्त प्रज्ञा अन्धी होती है।"[1] बौद्ध कहते है कि "बिना विकल्पो के शुद्ध विज्ञान मात्र के द्वारा हम न तो कभी यह जान सकेंगे कि कहाँ कर्म करना चाहिये और न यही कि कहाँ कर्म से विरत होना चाहिये।" काण्ट का कथन है कि "ये दो शक्तियाँ अपने-अपने कार्यो का आदान-प्रदान नही कर सकती।"[2] प्रज्ञा देख नही सकती, इन्द्रियाँ विचार नही कर सकती। इसी बात को बौद्धो ने सैकडो बार कहा और दोहराया है। काण्ट[3] कहते हैं कि इनके सम्मिलन से ही ज्ञान उत्पन्न होता है।" बौद्ध कहते हैं कि "केवल सफल अर्थक्रिया की ही दृष्टि से (अर्थात आनुभविक क्षेत्र मे ही) ये दोनो (सम्मिलित) प्रकार ज्ञान के सम्यक् माध्यम हैं।[4] काण्ट[5] कहते हैं कि "इन दोनो क्षमताओ मे से कोई भी एक दूसरे की अपेक्षा अपेक्षणीय नही है।" बौद्ध कहते हैं कि "इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही इनमे से प्रमुख[6] नही है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और अनुमान (अर्थात् विज्ञान और प्रज्ञा) दोनो का बल[7] समान है।" काण्ट[8] कहते हैं "शुद्ध अन्त प्रज्ञा और शुद्ध सप्रत्य केवल अनुभवनिरपेक्ष रूप से ही सम्भव हैं।" धर्मोत्तर[9] इस विचार को यह मोड देते हैं। इनका कथन है कि "शुद्ध प्रत्यक्ष[10] उसी अर्थ[11] मे हमारे ज्ञान का स्रोत होता है जहाँ मानो अपने (विकल्पात्मक) कार्य की उपेक्षा करते हुये प्रत्यक्षात्मक अध्यवसाय[12] विज्ञान के कार्य को ग्रहण करता है, अर्थात् किसी वस्तु की गोचर क्षेत्र मे उपस्थिति का सकेत करता है।" इस प्रकार के शुद्ध विज्ञान (प्रत्यक्ष) की व्याख्या का कार्य तब विकल्पो और निश्चयो को समर्पित कर दिया जाता है।

आधारभूत सिद्धान्तो, तथा साथ ही, उनकी कुछ अभिव्यक्तियो की इन

[1] क्रिरी० पृ० ४१।
[2] वही, पृ० ४१।
[3] वही पृ० ४१।
[4] तुकी० भाग २, पृ० ३६२।
[5] वही, पृ० ४१
[6] तसप० "प्रत्यक्षम् न ज्येष्ठम् प्रमाणम्।"
[7] 'तुल्य-बल,' न्याविटी० पृ० ६.१२।
[8] वही, पृ० ४१।
[9] न्याविटी० पृ० १६ १६
[10] 'केवलम् प्रत्यक्षम्'।
[11] 'यत्रार्थे'।
[12] 'प्रत्यक्ष-पूर्वकोऽध्यवसायस्'।

समानताओ को, जहाँ तक मैं समझता हूँ, अत्यन्त उल्लेखनीय मानना चाहिये।

आधुनिक मनोविज्ञान, तथा साथ ही साथ, आधुनिक ज्ञानमीमासा ने सवेदना और विकल्प के स्वरूपगत अन्तर के सम्बन्ध मे 'जननिक' दृष्टिकोण का परित्याग करके मात्रात्मक अन्तर और जटिलता के अन्तर को ही पुन ग्रहण कर लिया है। इस विषय पर डब्लू० जेम्स अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते है।[1] "केवल तथा अपेक्षाकृत सम्पन्नतर चेतना के बीच कोई प्रखर विभाजन रेखा खीचना असम्भव है क्योकि हम जिस क्षण प्रथम मात्र-सवेदना से आगे बढते है हमारी समस्त चेतना एक ससूचन का विषय बन जाती है, और विभिन्न ससूचन क्रमश एक दूसरे मे मिश्रित हो जाते हैं क्योकि ये सभी साहचर्य के एक ही यन्त्र के उत्पादन होते है। साक्षात्-तर चेतना मे अपेक्षाकृत कम, और दूरतर मे अपेक्षाकृत अधिक साहचर्यात्मक प्रक्रियायें क्रियाशील होती हैं।" जेम्स कहते है कि "जिस क्षण हम प्रथम मात्र सवेदना से आगे बढते हैं ।" बौद्धो ने इनके इस वक्तव्य मे यह जोड दिया होता कि मात्र सवेदना का यही प्रथम क्षण शुद्ध सवेदना (प्रत्यक्ष) है। यह कि शेष सब कुछ ससूचन का विषय है, कोई विरोधत्व न उत्पन्न करके इस सिद्धान्त की ही पुष्टि करता है कि प्रथम क्षण ससूचन का विषय नही वल्कि शुद्ध प्रत्यक्ष होता है। यत यथार्थता का सार उसकी क्षणिकता है, अत यह स्थिति कि शुद्ध प्रत्यक्ष की केवल एक क्षणमात्र की ही सत्ता होती है इसकी यथार्थता के विरुद्ध कुछ न कह कर, दूसरी ओर, इसकी पुष्टि ही करता है। यह यथार्थता या सत्य विमर्शात्मक विचार मे अबोधगम्य और इसलिये अनभिलाप्य होता है, किन्तु विज्ञान (प्रत्यक्ष) मे प्रगट परमार्थ सत् की ऐसी ही प्रकृति है। "अत", जैसा कि प्लेटो ने बहुत पहले ही विचार किया था—यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि दार्शनिको की प्रत्येक पीढी को सदैव नये सिरे से इस बात की शिक्षा देने की आवश्यकता प्रतीत होती है—"सम्यक् सवेदना को अवाच्य होना चाहिये।"[2]

बी० रसेल[3] के अनुसार, "सिद्धान्तत, यद्यपि अक्सर व्यवहारत नही, किसी वस्तु के अपने प्रत्यक्ष मे हम उस अश को जो गत अनुभवजन्य होता है, ऐसे अश से पृथक् कर सकते है जो उस वस्तु के प्रकृतिजन्य किसी

---

[1] साइकॉलोजी, २, पृ० ७५।

[2] टी० एच० ग्रीन इण्ट्रो० टु ह्यूम्स ट्रीटिस, पृ० ३६ (१८९८)।

[3] [illegible] ऑफ [illegible] [illegible] १३१।

भी स्मृत्यात्मक प्रभाव के बिना ही उत्पन्न होता है।" "सवेदना वास्तविक अनुभव मे एक सैद्धान्तिक वीज है, वास्तविक अनुभव तो प्रत्यक्ष होता है।" यह मत भारतीय यथार्थवादियो के अनुकूल है जिनके लिये 'निश्चित प्रत्यक्ष' यथार्थ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। वी० रसेल यह कहते है कि "इन परिभाषाओ के कार्यान्विय मे महान कठिनाइयाँ हैं।" वास्तव मे आधारभूत कठिनाई यह है कि जब एक क्षणिक विज्ञान को स्मृत्यात्मक तत्त्वो के प्रत्येक अश से पृथक् कर दिया जाता है तब यह, धर्मोत्तर कहते है कि, कोई ज्ञान नही रह जाता—यह असत्-कल्प हो जाता है। यह, जैसा कि काण्ट का विचार था और जैसा कि भारतीय यथार्थवादी भी स्वीकार करने के लिये विवश हुये थे, ज्ञान नही वल्कि ज्ञान का एक अतीन्द्रिय स्रोत है।

सिग्वर्ट के अनुसार, इस आकार का प्रत्यक्ष कि 'यह सुवर्ण है' अनुमान से युक्त है।[१] इसका यह अर्थ होगा कि प्रत्येक प्रत्यक्ष मे अनुमान निहित होता है, किन्तु सिग्वर्ट का विचार है कि शुद्ध सवेदना केवल रगो के प्रत्यक्ष को ही सूचित करती है "जो एक इन्द्रधनुष देखता है वह केवल इतना ही कह सकता है कि वह एक विशेष रूप से व्यवस्थित रगो को देख रहा है।"[२] वौद्ध यह मानते है कि शुद्ध सवेदना (प्रत्यक्ष) द्वारा "हम वास्तव मे नीले का प्रत्यक्ष तो करते है किन्तु हम यह नही जानते कि यह नीला है" (नीलम् विजानाति, न तु 'नीलम् इति' विजानाति)। ज्यो ही हम यह कहते है कि यह नीला है त्योही हम इसकी नीलेतर से तुलना कर चुके होते हैं और इसे केवल इन्द्रियाँ ही ग्रहण नही कर सकतीं। एक सम्यक् प्रत्यक्ष को अवाच्य ही होना चाहिये।

आधुनिक दार्शनिको मे एच० वर्गसाँ ने इन्द्रियो और प्रज्ञा के वीच की सीमारेखा की पुन स्थापना का प्रयास किया है। इनका कथन है कि "मुख्य-त्रुटि शुद्ध प्रत्यक्ष और स्मृति के वीच स्वभावगत अन्तर देखने की अपेक्षा तीव्रता का अन्तर देखने मे निहित है।"[३] "प्रत्यक्ष मे कुछ ऐसा होता है जिसका स्मृति मे कोई भी अस्तित्व नही होता और वही अन्त प्रज्ञात्मक रूप से गृहीत (परामर्थ) सत्य होता है।"[४] यह वौद्धो के सिद्धान्त के समान प्रतीत होता

---

[१] लॉजिक २, पृ० ३९५।

[२] वही, पृ० ३९३।

[३] Matiere et Memoire, p 60।

[४] वही पृ० ७१।

है—इस सिद्धान्त के कि शुद्ध प्रत्यक्ष परमार्थ-सत् को ग्रहण करता है।[१] फिर भी, अन्तर यह है कि बौद्धो के लिये यह परमार्थ-सत् अनुभवातीत होता है, इसका केवल अनुभव होता है, यह अनभिलाप्य तथा विकल्पात्मक विचार द्वारा अबोधगम्य होता है, यह प्रत्येक अभिलाप्य वस्तु का बिल्कुल विपरीत होता है।[२]

---

[१] 'निर्विकल्पकम् प्रत्यक्षम् परमार्थसत् गृह्णाति।'

[२] यह कि बर्गसाँ का प्रत्यक्ष शुद्ध नही है, यह कि विमर्शात्मक विचार इसमे सतत हस्तक्षेप करते रहते है, इनकी ओर ओ० हेमेलिन और आर० हूबर्ट ने सकेत किया है। तुकी० रिव्यू ड मेटाफ०', १९२६, पृ० ३४७।

अध्याय ४

परमार्थ-सत्

§ १. परमार्थ-सत् क्या है

गत दो अध्यायों तथा प्रस्तावना ने पर्याप्त स्पष्टता के साथ उस विधि को प्रकट कर दिया होगा जिसके अनुसार न्याय-सम्प्रदाय के बौद्धों ने परमार्थ-सत् की समस्या का विवेचन किया है। समर्थक दृष्टि से सत् अर्थ-क्रियाकारी होता है। निषेधात्मक दृष्टि से सत् निर्विकल्पक होता है। विकल्प रचित, कल्पित और हमारी प्रज्ञा की कृति है। अरचित सत् है। आनुभविक वस्तु साक्षात्कार के आधार पर हमारे विकल्प के संश्लेषण द्वारा रचित वस्तु है।[1] परमार्थ सत् वह है जो केवल हमारे शुद्ध विज्ञान मात्र के अनुरूप होता है। यद्यपि आनुभविक वस्तु में एक साथ मिश्रित होने पर भी, हमारे ज्ञान में सत्ता मात्र और शुद्ध कल्पना के अंशों का निर्धारण करने के लिये विज्ञान और कल्पना के तत्त्वों को अवश्य पृथक् करना चाहिये। इस प्रकार का पृथक्करण कर देने के बाद यह प्रतीत होगा कि हम अपने ज्ञान के केवल उसी अंश को विचार में अनुभव, और वाणी में व्यक्त कर सकते हैं जो कल्पना द्वारा रचित होता है। हम सत् के केवल कल्पित आकार का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं स्वयं सत् का नहीं।

यहाँ उन समस्त अभिव्यक्तियों को दोहराना अनुचित नहीं होगा जिनकी सहायता से, फिर भी, इस अनभिलाप्य सत् को व्यक्त किया गया है। यह सत् –

(१) शुद्ध अर्थ है, एक शुद्ध विज्ञान में इन्द्रियों द्वारा अधिगत अर्थ, अर्थात् एक ऐसे विज्ञान में जो स्वरसिक है, जो ज्ञानप्रापक-व्यापार से प्रकृति में भिन्न है।[2]

(२) इस प्रकार का प्रत्येक अर्थ तीनों लोकों[3] में 'अद्वितीय' होता है, यह सर्वथा पृथक् होता है, अर्थात् विश्व के अन्य समस्त अर्थों[4] से हर प्रकार से असम्बद्ध होता है।

---

[1] विकल्पेन अनुगत साक्षात्-कार।

[2] तुकी० न्याविटी० पृ० १५ २, 'ज्ञानस्य प्रापको व्यापार'।

[3] त्रैलोक्य-व्यावृत्त।

[4] सर्वतो व्यावृत्त।

(३) अत यह इस नियम का अपवाद है कि प्रत्येक वस्तु या अर्थ अन्य समस्त वस्तुओ के क्रमश समान और अशत असमान होता है। यह अत्यन्त विलक्षण होता है, किसी भी अर्थ से केवल विलक्षण।

(४) यह देश-अननुगत तथा काल-अननुगत होता है। यद्यपि एक अज्ञात वस्तु द्वारा उत्पन्न अनिश्चित विज्ञान को देश और काल मे स्थित किया जा सकता है, तथापि यह स्थानीकरण हमारी प्रज्ञा का कार्य होता है जो वस्तु को एक रचित देश तथा कल्पित काल मे स्थित करती है।

(५) यह यथार्थ का क्षण[1] होता है, इसमे कोई ऐसे अग नही होते जिनके बीच पूर्वापर सम्बन्ध हो, यह सूक्ष्मतम काल, किसी वस्तु की प्रवाह-मान सत्ता का एक अवकल[2] होता है।

(६) यह अवयव-रहित[3], निरश, और अत्यन्त सरल होता है।

(७) यह केवल सत्ता-मात्र होता है।

(८) यह केवल वस्तु-मात्र होता है।

(९) यह किसी वस्तु का स्वलक्षण होता है।

(१०) यह सर्वथा विशेष के आशय मे 'व्यक्ति' होता है।

(११) यह अर्थ-क्रियाकारी होता है, विशुद्ध अर्थ-क्रियाकारी, अर्थ-क्रियाकारी के अतिरिक्त और कुछ नही।

(१२) यह विचारो और आकारो को उत्पन्न करने के लिये प्रज्ञा तथा विवेक को उद्दीप्त करता है।[4]

(१३) यह सवृति-सत् नही होता, अर्थात् अनुभवातीत होता है।[5]

---

[1] क्षण=स्वलक्षण।

[2] पूर्वापर-भाग-विकल-काल-कला=क्षण।

[3] अन-अवयविन् = निरश।

[4] विकल्प-उत्पत्ति-शक्ति-मत्।

[5] 'न सवृत्ति-सत् = परमार्थ-सत्, ज्ञानेन प्रापयितुम अशक्य। 'अनुभवातीत' से 'अत्यन्त-परोक्ष' का तात्पर्य है। 'मानस-प्रत्यक्ष' को, जो दूसरा क्षण है और इसी समान निर्विकल्पक होता है, इस प्रकार व्यक्त किया गया है, तुकी० भाग २, पृ० ३३३। मुझे यह ज्ञान नही है कि इस शब्द का 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' के सम्बन्ध मे भी प्रयोग किया गया है, किन्तु नैयायिक (तुकी० तर्कदीपिका) 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' को 'अतीन्द्रिय' कहते है और 'अतीन्द्रिय = अत्यन्त-परोक्ष'।

(१४) यह अनभिलाप्य[1] होता है।

तब यह क्या है ? यह कुछ है अथवा कुछ भी नही है ? यह मात्र कुछ, केवल कुछ, कुछ जो "मैं नही जानता क्या" है। यह 'क' है, शून्य नही। कम से कम इसकी एक गणितीय शून्य के साथ समता की जा सकती है जो धन और ऋण परिमाणो के बीच की सीमा है। यह एक सत् है। यहाँ तक कि यह 'वस्तुभूत'[2] है, किसी भी सत्ता का परमार्थ-सत् धर्म। इसके अतिरिक्त अन्य कोई सत् नही है। अन्य समस्त सत् इसी से गृहीत होता है। कोई भी वस्तु जो किसी विज्ञान से, किसी ग्राह्य यथार्थता से सम्बद्ध नही है, वह या तो कल्पना अथवा एक सज्ञा मात्र या एक तात्त्विक वस्तु है। सत् या यथार्थ ग्राह्य सत्ता या स्वलक्षणत्व का पर्याय है।[3] यह अवस्तु, सामान्य और परिकल्पित के विरुद्ध है।[4]

२. व्यक्ति (या विशेष) परमार्थ-सत् है

ज्ञान की समस्त वस्तुओ को सामान्यो और व्यक्ति या विशेषो मे विभक्त किया गया है।

मात्र व्यक्ति ही यथार्थ वस्तु होता है, सामान्य एक अवस्तु, अथवा अनर्थ, अथवा सज्ञा-मात्र होता है।

उन गिलॉमे ड' ओकम के, जो यह मानते थे कि "एकमात्र जिस यथार्थ वस्तु का अस्तित्व है वह व्यक्ति है", समय से ही यद्यपि यह सिद्धान्त तर्कशास्त्र के विद्यार्थी को परिचित है, तथापि बौद्ध न्याय मे इसका एक विशेष तात्पर्य है। यहाँ व्यक्ति और सामान्य का अन्तर उससे कही अधिक मौलिक है जो स्कूलमेन मानते थे। एक मनुष्य, एक गाय, एक घट इत्यादि व्यक्ति नही होगे। व्यक्ति यहाँ अर्थक्रियाकारी यथार्थ का केवल क्षणिक ग्राह्य उपादान मात्र है। इस क्षण के सन्दर्भ मे विकल्प द्वारा रचित सामान्य आकार एक सामान्य है। केवल यह बाह्य क्षण मात्र ही व्यक्ति या विशेष है, मात्र यही स्वलक्षण परमार्थ सत् को व्यक्त करता है। बौद्ध[5] कहते हैं कि "वह विशेष जिसका (आनुभविक) ज्ञान होता है परमार्थ-सत् नही होता।" वही

[1] अनभिलाप्य = अवाच्य = अनुपाख्य = अनिर्वचनीय। इन शब्दो मे से, जिनके आशय समान हैं, तीसरे का माध्यमिक और अन्तिम का वेदान्ती व्यवहार करते हैं। तात्पर्य सबका समान है।

[2] वस्तु एव, तुकी० न्यबिटी० पृ० ६६ २।

[3] वस्तु=सत्ता = स्वलक्षण = परमार्थ-सत्।

[4] अवस्तु=अनर्थ = सामान्य = आरोपित = परिकल्पित।

[5] अध्यवसीयमानम् स्वलक्षणम् न परमार्थ-सत्', तुकी० ताटी० पृ०३४१ २६

यह मानने का कि परमार्थ-सत् या स्वलक्षण वस्तु की न तो कल्पना की जा सकती है और न उसे शब्दो से व्यक्त किया जा सकता है, अर्थ यह है कि इसका सम्यक् तार्किक विधियों द्वारा बोध नही किया जा मकता, और इस आशय मे स्वलक्षण वस्तु अबोधगम्य है।

§ ४. यथार्थ स्फुट-प्रतिभास उत्पन्न करता है

परमार्थ सत् का, जिसका लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है, एक और लक्षण इसका गोचर क्षेत्र मे उपस्थित होना है। यह इस तथ्य मे निहित है कि यह एक विज्ञान को उत्पन्न कर देता है जिसका एक स्फुट-प्रतिभास[1] अनुगमन करता है, जबकि किसी अनुपस्थित वस्तु के अथवा उसकी किसी अभिलाप्य संज्ञा के आधार पर विचार द्वारा हमारी स्मृति मे एक अस्फुट प्रतिभास[2] ही उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त, एक अन्य व्याख्या[3] के अनुसार, स्फुटत्व या स्पष्टता की मात्रा वस्तु की स्थिति की दूरी के एक प्रतिलोम अनुपात मे परिवर्तित होती है। इस स्पष्ट और सरल तथ्य को, अर्थात इस तथ्य को कि एक उपस्थित और निकटस्थ वस्तु एक स्पष्ट प्रतिभास उत्पन्न करती है और एक दूरस्थ या अनुपस्थित वस्तु अस्पष्ट या अस्फुट प्रतिभास उत्पन्न करती है, क्षणिकवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत एक विशेष व्याख्या प्रदान की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमे प्रत्येक क्षण मे 'एक अन्य' वस्तु मिलती है। एक ही और वही यथार्थ वस्तु एक दशा मे स्फुट और दूसरी मे अस्फुट प्रतिभास नही उत्पन्न कर सकती। यह एक विरोधत्व होगा क्योंकि यह एक साथ ही दोनो प्रकार के प्रतिभास उत्पन्न करता है। यथार्थवादी मानते हैं कि स्पष्टता और

---

[1] स्फुट-प्रतिभास = स्फुट-निर्भास = स्फुटाभ = विशद = विशदाभ = स्पष्ट (यहाँ तार्किक दृष्टि से 'स्पष्ट' के आशय मे इस स्पष्ट को नही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि उस आशय मे इसके लिये अधिक उपयुक्त शब्द निश्चित = नियत, होगा।

[2] अस्फुट = अविशद = कल्पित = निश्चित ।

[3] धर्मोत्तर (न्याविटी० पृ० १३ २ और बाद) की व्याख्या सम्भवत गलत है क्योंकि वही वस्तु स्फुट और अस्फुट दोनो प्रतिभास नही उत्पन्न कर सकतीअन्यथा उसे एक ही सत्ता के सातत्य की समानता के अर्थ मे गहण किया जायगा। 'उपस्थिति' के अर्थ मे 'सन्निधान' की विनीतदेव की व्याख्या अधिक ग्राह्य है, तुकी० भाग २, पृ० ३५ नोट १-२। तुकी० तसप० पृ० १६९ २१, ५१० १३, १७६,२२ "सन्निधिर सद्भाव"। तुकी० ताटी० पृ० १३८. "सवादकम् सद् भ्रान्तम् अपि · प्रमाणम्।

अस्पष्टता ज्ञान मे निहित होती है स्वय वस्तु मे नही ।[1] वही वस्तु भिन्न समयो मे एक ही व्यक्ति मे, अथवा एक ही समय मे भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न प्रतिभास उत्पन्न कर सकती है, क्योकि यथार्थवादियो के कथनानुसार, प्रत्यय परञ्च होते है प्रत्यञ्च नही ।[2] ये बाह्य यथार्थता के अनुरूप होते है । यथार्थवादियो के अनुसार एक विषमजातीय यथार्थता पर आरोपित विषयात्मक विकल्प नही होते ।

फिर भी, सवेदनात्मक प्रतिभास का स्फुटत्व एक कल्पित विचार अथवा स्मृतिजन्य विचार की स्पष्टता और विशदता से सर्वथा भिन्न होता है ।[3] प्रत्यक्षत यह इसके सर्वथा विपरीत होता है । स्थूलत्व[4] की अभिव्यक्ति की उत्पत्ति की समस्या पर वाचस्पति मिश्र एक मनोरञ्जक विवाद का उल्लेख करते हैं । बौद्धो के अनुसार इस प्रकार की अभिव्यक्ति हमारे विकल्प[5] की रचना होने के कारण भ्रान्ति होती है । यथार्थता स्थूल और स्थायी पदार्थों मे नही बल्कि क्षणिक विज्ञानो द्वारा निर्मित घटना-प्रवाहो से लिये गये क्षणो मे निहित होती है । तदनन्तर सश्लेषण की एक प्रक्रिया द्वारा हमारी विकल्प-बुद्धि इन क्षणो को सकलित करके एक सश्लिष्ट आकार का निर्माण करती है जो कल्पित मानसिक सकलन के अतिरिक्त और कुछ नही होता ।[6] यथार्थवादी यह आपत्ति करता है कि इस प्रकार कोई एकत्व कभी भी उत्पन्न नही हो सकता । अत यथार्थवादी यह मानता है कि स्थूल पदार्थ का यथार्थ अस्तित्व होता है और इन्द्रियाँ उसका साक्षात् बोध करती हैं । अपने इस दृष्टिकोण की पुष्टि मे वह स्फुटत्व की बौद्धो की व्याख्या का उल्लेख करता है । वह

---

[1] 'स्फुटत्वम् अपि ज्ञेयत्व-विशेष एव, न सवेदन-विशेष,' तुकी न्याकणि० पृ २६७ १४ ।

[2] 'पराञ्च प्रत्यया, न प्रत्यञ्च,' तुकी० न्याकणि० पृ० २६९ १९ । इस सन्दर्भ मे 'परञ्च्' और 'प्रत्यञ्च्' के अर्थ के लिये तुकी० ताटी पृ० ८४ १८ जहाँ उन वैयाकरणो के साथ, जो यह मानतेहैं कि तार्किक दृष्टि मे नाम विचारो के पूर्व आकर उन्हे आकृति प्रदान करते है, शास्त्रार्थ मे 'पराङ् का भी परञ्च के आशय मे ही प्रयोग किया गया है ।

[3] नियत-आकार = निश्चित-आकार=नियता बुद्धि = परिच्छिन्नम्-ज्ञानम् ।

[4] तुकी० न्याकणि० पृष्ठ २६२ और बाद ।

[5] वही, पृ० २६३ ६ ।

[6] 'सकलनात्मक', वही, पृ० २६३ १० ।

धर्मकीर्ति[1] को उद्धृत करके यह कहता है कि यदि स्थूलत्व एक विकल्प मात्र होता तो वह स्पष्ट प्रतिभास कभी भी उत्पन्न नही करता क्योकि 'कल्पना (अथवा 'विकल्प-अनुबन्ध')[2] किसी वस्तु का स्फुट-प्रतिभास उत्पन्न नही कर सकती।" इस पर बौद्ध यह उत्तर देता है कि ऐसी स्थिति मे साक्षात् स्फुटत्व नही होता। स्थूलत्व का प्रतिभास विकल्प द्वारा रचित, अस्फुट, सामान्य तथा अमूर्त होता है। फिर भी वह साथ-साथ उत्पन्न सवेदना द्वारा एक परोक्ष स्फुटत्व प्राप्त करता है और यह स्फुटत्व उसी सवेदना की उपाधि[3] होता है। प्रत्यक्षत बौद्ध यह विचार करता है कि जब तक विकल्पात्मक अमूर्त विचार अथवा कल्पना क्रियाशील नही होती तब तक स्फुट सवेदना एक सरल क्षणमात्र होती है। इस क्षणिक वस्तु मे न तो स्थूलत्व होता है और न अवधि। किन्तु यथार्थवादी इसे, पुन, अस्वीकार करता है। वह यह कहता है कि बौद्धो के अनुसार स्थूलत्व का सवेदना द्वारा बोध नही होता, और केवल इसी दशा मे, अर्थात् यदि इसका इन्द्रियो द्वारा साक्षात् बोध होता, तभी यह स्फुट प्रतिभास उत्पन्न करता।

शान्तिरक्षित और कमलशील[4] ने भी इसी समस्या का विवेचन किया है। इनकी कृति मे हमे ये विचार मिलते हैं। एक स्पष्ट प्रतिभास तथा एक अस्फुट अथवा अस्पष्ट[5] प्रतिभास दो सर्वथा भिन्न वस्तुयें हैं। इनमे प्रकार-भेद है और इनमे परस्पर उतनी ही भिन्नता है जितनी दृश्य-सवेदना और स्वाद-सवेदना मे। अत यदि एक नाम या एक विकल्प से अस्पष्ट और सामान्य प्रतिभास का तात्पर्य हो तो इससे उस वास्तविक यथार्थता का लेशमात्र भी तात्पर्य नही हो सकता जो एक शुद्ध विज्ञान में प्रतिभासित होती है। एक व्यक्ति जिसका एक हाथ अग्नि से जल गया है, इस अग्नि का उस व्यक्ति से एक सर्वथा भिन्न प्रतिभास करता है जो अग्नि को केवल एक नाम या एक सामान्य धारणा के रूप में ही जानता है। एक वास्तविक ऐन्द्रिक अनुभव का विषय होने पर स्पष्ट रूप से अनुभूत ताप की संवेदना भी ठीक इसी प्रकार उस स्थिति से भिन्न होती है जब ताप का या तो कोई अनुभव नही होता अथवा ताप के

---

[1] वही प० २६३.१२, इस स्थल का अभी निर्धारण नही किया जा सका है किन्तु बहुत सम्भवत यह धर्मकीर्ति का ही है।

[2] वही।

[3] 'तद्-उपाधिर्', वही।

[4] तुकी० तस० और तसप० पृ० २८०-२८१।

[5] स्पष्ट, अस्पष्ट।

केवल नाम का ही उच्चारण किया जाता है, क्योकि नाम ताप का केवल एक सामान्य तथा अस्पष्ट विचार ही उत्पन्न कर सकता है।[१]

इस प्रकार, अस्पष्टता मात्रा का विषय नही है। यह तो समस्त मानसिक विचारो का एक आन्तरिक गुण है जो कभी भी किसी वस्तु को उसकी वास्तविक स्पष्टता के साथ ग्रहण नही कर सकता।[२]

§ ५. परमार्थ-सत् गत्यात्मक होता है

धर्मकीर्ति का कथन है[3] कि 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किया गया पदार्थ उस पदार्थ का विशेष सार होता है।" तदन्तर वह यह व्याख्या करते हैं कि विशेष सार वह सार होता है जो एक स्पष्ट प्रतिभास उत्पन्न करता है।[४] प्रतिभास या तो स्पष्ट अथवा अस्पष्ट होता है। किसी वस्तु के विशेष सार की उपस्थिति द्वारा केवल स्पष्ट प्रतिभास उत्पन्न होता है। यहाँ तक कि हम यह भी नही कह सकते कि यह एक प्रतिभास है क्योकि अभी हम इसके आकारो का भी अनुभव नही कर पाते। यह अभी एक सरल स्पष्ट प्रतिभास होता है जो, ज्यो-ज्यो विलीन होता है, एक स्पष्ट और विशद प्रतिमा द्वारा स्थानान्तरित होता है। यह स्पष्ट और विशद प्रतिमा हमारी प्रज्ञा की रचना होती है जो इसकी उक्त प्रतिभास से, अर्थात् वस्तु से आने वाले उद्दीपक से रचना करती है। परन्तु यह प्रतिमा एक आन्तरिक विषयात्मक रचना होती है जो बाह्य यथार्थता के एक क्षण द्वारा उत्पन्न होती है। यह यथार्थता किसी भी प्रकार वस्तु के समान नही होती। यह तो केवल हमारी बुद्धि को उद्दीप्त करने वाली एक हेतुमात्र होती है। जैसा कि हेतुत्व के बौद्ध-सिद्धान्त के परीक्षण द्वारा पर्याप्त सिद्ध किया जा चुका है, हेतु और फल दोनो का समान होना कदापि आवश्यक नही है।

---

१ 'स्वलक्षणम् अवाच्यम् एव', वही, पृ० २८० ४, 'अव्यपदेश्यम् स्वलक्षणम्', वही, पृ० २८० ९।

२ बर्ट्राण्ड रसेल का भी उस समय यही मत प्रतीत होता है जब वह कहते हैं (अने० ऑफ माइण्ड, पृ० २२२) कि "यहाँ तक कि घटना-विशेष तक की हमारी प्रतिमाओ मे न्यूनाधिक मात्रा मे अस्पष्टता होती है। तात्पर्य यह कि घटना में एक सीमा के भीतर परिवर्तन होने पर भी उसकी प्रतिमा में कोई विशेष अन्तर नही आता।"

३ न्याबिटी० पृ० १२-१३।

४ वही, पृ० १२ १.३। यहाँ हम विनीतदेव की व्याख्या को स्वीकार करते हैं, जिसके अनुसार 'सन्निधान' का अर्थ गोचर क्षेत्र मे उपस्थिति है।

तब यह प्रश्न उठाया जाता है कि ऐसा क्यो होता है कि यह विशेष मात्र, यह सार मात्र ही, जो प्रतिमा के समान नही होता, शुद्ध इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मे गृहीत एक मात्र पदार्थ होता है ?[१] वह्नि को देखते समय क्या हमे इस बात का निश्चित विश्वास नही होता कि वह बाह्य जगत मे भी हमारे समक्ष उसी रूप मे उपस्थित है जिस रूप मे हमारी आन्तरिक प्रतिमा मे ?[२] धर्मकीर्ति कहते हैं कि नही, विशेष सार मात्र ही बाह्य जगत् मे होता है, क्योकि मात्र वही परम यथार्थ धर्म है ।[३] ऐसा क्यो है ? ऐसा क्यो है कि विशेष सार मात्र ही परमार्थ सत् होता है ? इसलिये कि, धर्मकीर्ति कहते हैं, मात्र यही अर्थ-क्रिया-कारी होता है । यथार्थता का सार वास्तव मे उसकी अर्थक्रियाकारी शक्ति मात्र है ।[४] यथार्थता के अन्तर्गत हम अर्थक्रियाकारित्व के नग्न तथ्य से ऊपर या अधिक और कुछ सम्मिलित नही मान सकते ।[५] प्रतिमा अर्थक्रियाकारी नही होती । वह्नि एक निश्चित आकार और विस्तारवाली वह ज्वलन्त वस्तु नही है जिसे हम अपने समक्ष उपस्थित मानते है। वह तो ऊष्मजशक्ति की एक क्षण मात्र है,शेष सब कुछ कल्पना है ।[६] एक घट निश्चित रग, आकार, स्पर्शगुण और अवधि से युक्त वह स्थूल वस्तु नही है जो हमारी कल्पना मे उपस्थित होता है । वह तो एक अर्थक्रियाकारी क्षण है जो, उदाहरण के लिये, जल गिराने के तथ्य से व्यक्त है, शेष सब कुछ कल्पना है ।[७] और पुन:, जल गिराने का सामान्य चित्र नही बल्कि यह तथ्य विशेष ही ।

जब किसी डण्डे के प्रहार से एक पैर टूट जाता है तब यथार्थ केवल यही तथ्य होता है कि पैर टूट गया है, डण्डा, प्रहार, और पैर कल्पना द्वारा इसी तथ्य की हमारी विवेचना हैं ।[८] ये स्थूल, सामान्य और कल्पित है, यथार्थ केवल विशेष क्षण है ।

बाह्य यथार्थता केवल वह शक्ति है जो कल्पना को उद्दीप्त करती है । यह स्थूलत्व, या वस्तु, या पदार्थ नही बल्कि मात्र शक्ति है । किसी बाह्य वस्तु की

---

[१] न्याबिटी० पृ० १३ ८।

[२] वही 'वह्निर् दृश्यात्मक एव अवशीयते ।'

[३] न्याबि० पृ० १३ १०।

[४] वही पृ० १३ १५ ।

[५] 'या भूति सैव क्रिया ऋ,' तुकी० ऊपर ।

[६] 'औष्ण्यम् एव अग्नि' ।

[७] 'बौद्धानाम् क्षण-पदेन घटादिर् एव पदार्थो व्यवह्रियते न तु तदतिरिक्त: कश्चित् क्षण-नामा कालोऽस्ति (ब्रह्मविद्याभरण २ २,२०) ।

[८] तसप० पृ० १३४ १८ ।

हमारी प्रतिमा वाह्य अर्थक्रियाकारी यथार्थता की केवल एक फल[1], केवल उसके द्वारा उत्पन्न मात्र होती है।

इस प्रकार, यथार्थता गत्यात्मक होती है,[2] वाह्य जगत् के समस्त धर्म केवल शक्तियाँ मात्र होते हैं।

६. 'मोनड' (चिदणु) और परमाणु

इस प्रकार, यत परमार्थ विशेष एक अत्यन्त सूक्ष्म वाह्य सत् है, अत यह उस परमाणु से किस प्रकार सम्वद्ध है जो स्वय भी एक अत्यन्त सूक्ष्म वाह्य यथार्थता है? भूतपदार्थ (रूप) सम्वन्धी बौद्ध-सिद्धान्त का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।[3] इस सिद्धान्त के अनुसार भूत पदार्थ (रूप) अणुओ से निर्मित होते हैं और एक अणु मे कम से कम आठ परमाणु होते हैं। ये चार आधारभूत तथा चार गौण परमाणुओ मे विभक्त होते हैं। गौण परमाणु रग, गन्ध, स्वाद और स्पर्श के होते हैं। गौण भूत पदार्थ पारभासी होते हैं। प्रत्येक गौण परमाणु को अपने पोषण के लिये चार आधारभूत परमाणुओ की आवश्यकता है, जिससे एक अणु मे वास्तव मे, यदि भूत पदार्थ (रूप) प्रतिध्वन्ति नही होता तो, वीस परमाणु होते हैं। यदि वह प्रतिध्वनित भी होता है तो उसमे एक ध्वनि का भी गौण परमाणु सम्मिलित होता है। इस दशा मे अणु मे क्रमश पच्चीस परमाणु होगे। परन्तु ये परमाणु एक विशेष प्रकार के होते हैं। सर्वप्रथम, ये अविभाज्य नही होते। बौद्ध उन वैशेपिको के सिद्धान्त का तीव्र विरोध करते हैं जो अविभाज्य और सर्वथा ठोस परमाणुओ को मानते हैं। यदि दो परमाणुओ मे सान्निध्य है, तो बौद्ध पूछता है[4] कि इस दशा मे वे (परमाणु) एक दूसरे का केवल एक ओर से ही स्पर्श करते हैं अथवा सव ओर से सर्वत? इस द्वितीय दशा मे दोनो परमाणु एक दूसरे मे सम्मिलित हो जायेंगे और सम्पूर्ण विश्व केवल एक परमाणु से ही निर्मित होगा। किन्तु यदि ये एक दूसरे का केवल एक ओर से ही स्पर्श करें तो प्रत्येक परमाणु कम से कम छ अन्य परमाणुओ से आवृत्त होगा—चार चार दिशाओ की ओर से तथा एक-एक ऊपर और नीचे से। इस दशा मे उसके छ भाग होगे। इन परमाणुओ की एक और विशिष्टता यह है कि ये

---

[1] वही 'उपलम्भो एव कार्यम्'।

[2] 'सत्तैव व्यापृति, चल प्रतीत्य-समुत्पाद', तुकी० ऊपर।

[3] तुकी ऊपर, पृ० १२०, तुकी० मेरी, 'सोल थ्योरी' पृ० ९५३, नोट ११।

[4] अनिको० १४३, तुकी सदस० पृ० ३११।

किसी वस्तु के कण या भाग नही होते। एक ठोस परमाणु किसी ऐसी वस्तु का परमाणु नही होता जिसकी विशिष्टता ठोसपन हो। इसी प्रकार वह्नि का परमाणु किसी ऐसी वस्तु का कण नही होता जिसकी विशिष्टता उष्णता हो।[1] गति का परमाणु गत्यात्मक शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही होता। ठोस परमाणु का अर्थ विकर्षण है और तरल का अर्थ आकर्षण या ससक्ति। 'रूप' (भूत-पदार्थ) शब्द की, एक कल्पित व्युत्पत्ति के अनुसार, वस्तु के अर्थ मे नही बल्कि क्षणिक[2] के अर्थ मे व्याख्या की गई है। इन परमाणुओ की एक और विशिष्टता यह है कि समस्त वस्तुये एक ही प्रकार के अणुओ से निर्मित होती हैं। यदि एक भूतपदार्थ एक ज्वाला के रूप मे और दूसरा जल या किसी अन्य वस्तु के रूप मे प्रगट होता है तो ऐसा तत्सम्बन्धी तत्त्व के परिमाणात्मक प्रामुख्य के कारण नही बल्कि उसके उत्कर्ष[3] के कारण ही होता है। इस प्रकार, हम रूप-स्कन्ध के बौद्ध सिद्धान्त को एक गत्यात्मक सिद्धान्त कह सकते हैं। इस सिद्धान्त को, जिसका सर्वास्तिवादियो के सम्प्रदाय मे विस्तार किया गया था, विज्ञानवादी सम्प्रदायो मे भी सुरक्षित रक्खा गया। इसका उस साख्य-सिद्धान्त से विरोध था जिसे एक यान्त्रिक सिद्धान्त कहा जा सकता है क्योकि उसमे एक सर्वव्यापी समान पदार्थ और गति के एक ऐसे समान सिद्धान्त की मान्यता है जिसके अनुसार ही समस्त परिवर्तनो, समस्त सृष्टियो और आनुभविक जगत् के समस्त प्रकारो की व्याख्या की गई है।

साख्य और बौद्ध दोनो ही उन वैशेषिको के सिद्धान्त के विरोधी थे जो मौलिक, विशिष्ट मौलिक, विशिष्ट और यथार्थ गुणो से युक्त चार प्रकार के परमाणु मानते थे। ये परमाणु एक ऐसी रचनात्मक शक्ति से युक्त थे जो जटिल नियमो के सूत्रो के अनुसार अणुओ तथा अन्य उच्चतर समुच्चयो को उत्पन्न करते थे[4]।

इस प्रकार रूप (भूत पदार्थ) विषयक बौद्ध सिद्धान्त अर्थक्रियाकारी के रूप मे परमार्थ सत् की परिभाषा तथा गत्यात्मक होने के रूप मे प्रतीत्य-

---

[1] 'वह्निर् औष्णयम् एव'।

[2] तुकी० सेक० पृ० ११, नोट २।

[3] 'उत्कर्ष', तुकी० अभिको० १, सेक० पृ० २९, नोट।

[4] तुकी० 'हिन्दू केमिस्ट्री' २ १८५ और बाद मे डा० बी० एन० सील की उत्कृष्ट व्याख्या।

समुत्पाद के अपने सिद्धान्त के पूर्णतया अनुकूल है। परमार्थ सत् गत्यात्मक है, शुद्ध सत्ता अर्थक्रियाकारी सामर्थ्य के अतिरिक्त और कुछ नही, स्वलक्षण वस्तु उस विधि के अतिरिक्त और कुछ नही जिसके अनुसार हमारी ऐन्द्रिकता बाह्य-यथार्थता से प्रभावित होती है।[1]

धर्मोत्तर[2] का कथन है कि हम 'परमार्थ सत्' शब्द का किसी भी ऐसी वस्तु के लिए व्यवहार करते हैं जिसका उसके अर्थक्रियाकारी सामर्थ्य के अनुसार परीक्षण किया जा सके। .. वास्तव मे यही कारण है कि अर्थक्रियाओ की पूर्ति साक्षात् प्रत्यक्ष वस्तुओ से होती है कल्पित वस्तुओ से नही। . दूसरी ओर एक ऐसी वस्तु ही, जिसका साक्षात् प्रत्यक्ष हुआ है, अर्थक्रिया उत्पन्न करती है। फलस्वरूप सत् केवल व्यक्ति (विशेष अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व का अद्वितीय क्षण[3] स्वलक्षण वस्तु) है, कल्पित (आनुभविक) वस्तु नही।"

§ ७. सत् विधि-रूप है

परमार्थ-सत् को वस्तु-साधन या विधिरूप[4] भी कहा गया है। धर्मोत्तर[5] कहते हैं कि "वस्तु ही विधिरूप होती है," और वस्तु-साधन परमार्थ-सत् का पर्याय है"।[6] "परमार्थ-सत् अपनी ओर से परमार्थ व्यक्ति"[7] अथवा विशुद्धत स्वलक्षण वस्तु होता है।

किसी वस्तु के निश्चय के साथ, अर्थात् विचार के कार्य के साथ समीकरण को, विशेषरूप से न्याय की एक ऐसी प्रणाली मे जिसका प्रमुख सिद्धान्त सत् तथा प्रत्येक विकल्प के बीच एक मौलिक विभेद की स्थापना करना है, समझने के लिये हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बौद्ध नैयायिको के

---

[1] न्यावि० १ १२-१५ वस्तु=परमार्थ-सत्=अर्थ-क्रिया-सामर्थ्य-लक्षणम्।

[2] न्याविटी० पृ० १३ १८, अनुवाद पृ० ३७।

[3] 'प्रत्यक्ष एक फल है, जैसे एक घट मे पानी लाना या पैरा का टूटना।" तुकी० तसप० पृ० १३४ १८।

[4] "स्व-लक्षणम् विधि-रूपम्", ताटी० पृ० ३४० १३, ३४१ १६ "बाह्यम् विधि-रूपम् अगो-व्यावृत्तम्"।

[5] न्यायबिटी० पृ० २४ १६ "वस्तु-साधनम् = 'विधे साधनम्।"

[6] वही, पृ० १३ १८।

[7] वही, पृ० १३ ११।

लिये प्रत्यक्ष मे आधारभूत क्रिया विकल्प नही बल्कि 'विधि' है। फलस्वरूप 'विधि' तथा 'विधि-रूप' मे विकल्प तथा विकल्प-विषय, प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष-विषय, ज्ञान तथा विषय के रूप मे ज्ञान, के बीच कोई अन्तर नही है। एक गाय के विकल्प को 'यह एक गाय है' के निश्चय के रूप मे समझा जाता है। इस निश्चय मे विधि का सार बाह्य वस्तु के क्षण द्वारा उत्पन्न दृश्य-सवेदना से निर्मित होता है। यह सवेदना गाय के सश्लिष्ट विकल्प की रचना के लिये बुद्धि को उद्दीप्त करती है। इस निश्चय मे कि 'यह आकाश मे स्थित पुष्प है' कोई यथार्थ 'विधि' नही है क्योकि कोई ऐसी दृश्य-सवेदना नही है जो भ्रान्ति अथवा निरधिष्ठान ज्ञान न हो। फलस्वरूप, विधि का सार एक गाय अथवा आकाश के पुष्प के विकल्प-विषय मे नही बल्कि उस सवेदना (विज्ञान) के एक क्षण मे सम्मलित है जो बाह्य वस्तु का एक साक्षात् प्रतिक्षेप है। इस आशय मे वस्तु (सत्) का अर्थ 'विधि' है। यहाँ तक कि यह नकारात्मक निश्चय भी कि 'इस स्थान पर कोई घट नही', यद्यपि अपने रूप मे नकारात्मक है, तथापि इसमे एक 'विधि' है क्योकि इससे एक दृश्य-सवेदना का सन्दर्भ है[1]। विकल्प-विषय स्पष्टता और स्फुटत्व की उच्चतम मात्रा प्राप्त कर सकते हैं किन्तु ये स्वय अपने मे सत्ता के तथ्य को वहन नही कर सकते। हम कह सकते है कि 'एक गाय है' और 'कोई गाय नही है'। यदि एक गाय के विकल्प-विषय से सत्ता अभिप्रेत हो तो यह निश्चय कि 'गाय है' निरर्थक तथा पुनरुक्ति से युक्त, और यह निश्चय कि 'गाय नही है' अर्थात् 'यहाँ कोई गाय नही है', विरोधत्व से युक्त होगा।[2] किन्तु एक विज्ञान विशेष, एक क्षण एक सत्ता है। हम यह नही कह सकते कि 'सत्ता की सत्ता है' क्योकि यह एक पुनरुक्ति होगी। इसी प्रकार हम यह भी नही कह सकते कि 'सत्ता नही है' क्योकि यह विरोधत्व होगा। इस प्रकार, बौद्धो ने उसी समस्या पर प्रहार किया है जिसने सत्त्वमीमासात्मक विवाद की प्रामाणिकता पर योरोपीय तर्कवादियो और उनके विपक्षियो के ध्यान को इतने अधिक दिनो तक ग्रस्त रक्खा है। यथार्थता विकल्प-विषय की स्पष्टता तथा स्फुटत्व से निष्कृष्ट नही हो सकती। इसके विपरीत एक स्पष्ट और स्फुट विकल्प उसके एक विचार-सृजन होने का प्रमाण है। फलस्वरूप अ-यथार्थता यथार्थता पर एक आरोप है[3]। प्रत्येक विकल्प और प्रत्येक

[1] वही, पृ० २२ १८।

[2] ताटी० पृ० ३४० १० और बाद, १३ २ और बाद।

[3] न्याबिटी० पृ० ४८ ७ : "निश्चय–आरूढम् रूपम्-समारोपितम् = बुद्धय = अवसितम", वही, पृ० ५१ ८।

निश्चय की यथार्थता एक गृहीत यथार्थता है, यह तत्सम्बन्धी सवेदना से गृहीत होती है। इसी आशय से यह कहा गया है कि विधि-रूप स्वलक्षण वस्तु है।

§ ८. आपत्तियाँ

स्वलक्षणत्व के सिद्धान्त पर समस्त अबौद्ध सम्प्रदायो द्वारा तथा स्वय बौद्धो मे ही माध्यमिको के सम्प्रदाय द्वारा तीव्र अपेक्षा किया जाना सर्वथा स्वाभाविक था। स्थिति इसके विपरीत नही हो सकती थी, क्योकि यह सिद्धान्त मानो एक नाभि के अन्तर्गत बौद्ध समीक्षा का सक्षिप्तीकरण कर देता है। माध्यमिको के लिये इस सिद्धान्त का प्रतिवाद एक सरल कार्य था। इसके लिये न केवल सीमित और असीमित, विभाज्य और अविभाज्य की तार्किक धारणाये ही द्वान्द्वात्मक तथा विरोधी थी वरन् समस्त धारणायें ही निरपवाद रूप से सापेक्ष, विरोधी, और इसलिये अयथार्थ थी। 'वस्तु स्वलक्षण' से ऐसी वस्तु का तात्पर्य है जो स्वय अपने लक्षण से लक्षित हो। यदि यह सम्बन्ध यथार्थ हो तो यह एक छुरी द्वार स्वय अपनी धार काटने के समान होगा। किन्तु यह तार्किक है और इसलिये द्वान्द्वात्मक तथा अयथार्थ।[1]

जैनो ने 'वस्तु-स्वलक्षण' के सिद्धान्त पर ऐसे तर्कों से आक्षेप किया है जो विधि की दृष्टि से तो माध्यमिको से वस्तुत भिन्न नही है, यद्यपि इस विधि को एक भिन्न उद्देश्य के लिये ही ग्रहण किया गया था।[2] इनके अनुसार सापेक्षत्व का यह अर्थ कदापि नही है कि सापेक्ष वस्तुयें यथार्थ नही हैं। ये एक साथ ही सापेक्ष तथा यथार्थ दोनो होती है। न केवल न्याय की ही वरन्, स्वय यथार्थता की प्रकृति भी द्वान्द्वात्मक होती है। यथार्थता एक साथ ही स्थायी और अस्थायी होती है। यह सीमित और असीमित तथा विशेष और सामान्य दोनो एक साथ ही होती है। यह विरोधत्व यथार्थता की स्वय प्रकृति मे ही निहित है और इसे निश्चित रूप से स्वीकार किया जाना चाहिये।[3]

समस्त सामान्य गुणो से रहित एक परमार्थ और सर्वथा व्यक्ति के रूप मे वस्तु-स्वलक्षण की धारणा असमर्थनीय है। प्रत्येक अन्य वस्तु के समान

---

[1] तुकी० मेरा 'निर्वाण' पृ० १४२ और बाद।

[2] वस्तु-स्वलक्षण के विरुद्ध जैनो के तर्कों का सक्षेप शान्तिरक्षित ने प्रस्तुत किया है। तुकी० तस० पृ० ४८६ और बाद।

[3] वही, पृ० ४८६ २३।

लिये प्रत्यक्ष मे आधारभूत क्रिया विकल्प नही वलिक 'विधि' है। फलस्वरूप 'विधि' तथा 'विधि-रूप' मे विकल्प तथा विकल्प-विषय, प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष-विषय, ज्ञान तथा विषय के रूप मे ज्ञान, के बीच कोई अन्तर नही है। एक गाय के विकल्प को 'यह एक गाय है' के निश्चय के रूप मे समझा जाता है। इस निश्चय मे विधि का सार बाह्य वस्तु के क्षण द्वारा उत्पन्न दृश्य-सवेदना से निर्मित होता है। यह सवेदना गाय के सश्लिष्ट विकल्प की रचना के लिये बुद्धि को उद्दीप्त करती है। इस निश्चय मे कि 'यह आकाश मे स्थित पुष्प है' कोई यथार्थ 'विधि' नही है क्योकि कोई ऐसी दृश्य-सवेदना नही है जो भ्रान्ति अथवा निरधिष्ठान ज्ञान न हो। फलस्वरूप, विधि का सार एक गाय अथवा आकाश के पुष्प के विकल्प-विषय मे नही वलिक उस सवेदना (विज्ञान) के एक क्षण मे सम्मलित है जो वाह्य वस्तु का एक साक्षात् प्रतिक्षेप है। इस आशय मे वस्तु (सत्) का अर्थ 'विधि' है। यहाँ तक कि यह नकारात्मक निश्चय भी कि 'इस स्थान पर कोई घट नही', यद्यपि अपने रूप मे नकारात्मक है, तथापि इसमे एक 'विधि' है क्योकि इससे एक दृश्य-सवेदना का सन्दर्भ है[1]। विकल्प-विषय स्पष्टता और स्फुटत्व की उच्चतम मात्रा प्राप्त कर सकते हैं किन्तु ये स्वय अपने मे सत्ता के तथ्य को वहन नही कर सकते। हम कह सकते है कि 'एक गाय है' और 'कोई गाय नही है'। यदि एक गाय के विकल्प-विषय से सत्ता अभिप्रेत हो तो यह निश्चय कि 'गाय है' निरर्थक तथा पुनरुक्ति से युक्त, और यह निश्चय कि 'गाय नही है' अर्थात् 'यहाँ कोई गाय नही है', विरोधत्व से युक्त होगा।[2] किन्तु एक विज्ञान विशेष, एक क्षण एक सत्ता है। हम यह नही कह सकते कि 'सत्ता की सत्ता है' क्योकि यह एक पुनरुक्ति होगी। इसी प्रकार हम यह भी नही कह सकते कि 'सत्ता नही है' क्योकि यह विरोधत्व होगा। इस प्रकार, बौद्धो ने उसी समस्या पर प्रहार किया है जिसने सत्त्वमीमासात्मक विवाद की प्रामाणिकता पर योरोपीय तर्कवादियो और उनके विपक्षियो के ध्यान को इतने अधिक दिनो तक ग्रस्त रक्खा है। यथार्थता विकल्प-विषय की स्पष्टता तथा स्फुटत्व से निष्कृष्ट नही हो सकती। इसके विपरीत एक स्पष्ट और स्फुट विकल्प उसके एक विचार-सृजन होने का प्रमाण है। फलस्वरूप अ-यथार्थता यथार्थता पर एक आरोप है[3]। प्रत्येक विकल्प और प्रत्येक

---

[1] वही, पृ० २२ १८।

[2] ताटी० पृ० ३४० १० और बाद, १३ २ और बाद।

[3] न्याबिटी० पृ० ४८ ७ : "निश्चय–आरूढम् रूपम्-समारोपितम् = बुद्धय = अवसितम्", वही, पृ० ५१ ८।

निश्चय की यथार्थता एक गृहीत यथार्थता है, यह तत्सम्बन्धी सवेदना से गृहीत होती है। इसी आशय मे यह कहा गया है कि विधि-रूप स्वलक्षण वस्तु है।

§ ८. आपत्तियाँ

स्वलक्षणत्व के सिद्धान्त पर समस्त अबौद्ध सम्प्रदायो द्वारा तथा स्वय बौद्धो मे ही माध्यमिको के सम्प्रदाय द्वारा तीव्र अपेक्षा किया जाना सर्वथा स्वाभाविक था। स्थिति इसके विपरीत नही हो सकती थी, क्योकि यह सिद्धान्त मानो एक नाभि के अन्तर्गत बौद्ध समीक्षा का सक्षिप्तीकरण कर देता है। माध्यमिको के लिये इस सिद्धान्त का प्रतिवाद एक सरल कार्य था। इसके लिये न केवल सीमित और असीमित, विभाज्य और अविभाज्य की तार्किक धारणायें ही द्वान्द्वात्मक तथा विरोधी थी वरन् समस्त धारणाये ही निरपवाद रूप से सापेक्ष, विरोधी, और इसलिये अयथार्थ थी। 'वस्तु स्वलक्षण' से ऐसी वस्तु का तात्पर्य है जो स्वय अपने लक्षण से लक्षित हो। यदि यह सम्बन्ध यथार्थ हो तो यह एक छुरी द्वार स्वय अपनी धार काटने के समान होगा। किन्तु यह तार्किक है और इसलिये द्वान्द्वात्मक तथा अयथार्थ।[१]

जैनो ने 'वस्तु-स्वलक्षण' के सिद्धान्त पर ऐसे तर्कों से आक्षेप किया है जो विधि की दृष्टि से तो माध्यमिको से वस्तुत भिन्न नहीं है, यद्यपि इस विधि को एक भिन्न उद्देश्य के लिये ही ग्रहण किया गया था।[२] इनके अनुसार सापेक्षत्व का यह अर्थ कदापि नही है कि सापेक्ष वस्तुयें यथार्थ नही हैं। ये एक साथ ही सापेक्ष तथा यथार्थ दोनो होती हैं। न केवल न्याय की ही वरन्, स्वय यथार्थता की प्रकृति भी द्वान्द्वात्मक होती है। यथार्थता एक साथ ही स्थायी और अस्थायी होती है। यह सीमित और असीमित तथा विशेष और सामान्य दोनो एक साथ ही होती है। यह विरोधत्व यथार्थता की स्वय प्रकृति मे ही निहित है और इसे निश्चित रूप से स्वीकार किया जाना चाहिये।[3]

समस्त सामान्य गुणो से रहित एक परमार्थ और सर्वथा व्यक्ति के रूप मे वस्तु-स्वलक्षण की धारणा असमर्थनीय है। प्रत्येक अन्य वस्तु के समान

---

[१] तुकी० मेरा 'निर्वाण' पृ० १४२ और बाद।

[२] वस्तु-स्वलक्षण के विरुद्ध जैनो के तर्कों का सक्षेप शान्तिरक्षित ने प्रस्तुत किया है। तुकी० तस० पृ० ४८६ और बाद।

[3] वही, पृ० ४८६ २३।

यह भी एक साथ ही व्यक्ति और सामान्य दोनो है।[1] वस्तु-स्वलक्षण की धारणा समस्त वस्तुओ को अपने मे आवृत्त करती है, यह एक सामान्य है।[2] साथ ही, प्रत्येक व्यक्ति का अन्य समस्त व्यक्तियो से विभेद किया गया है, यह 'अन्यत्व' से युक्त होता है, और अन्यत्व प्रज्ञा का एक पदार्थ है। वस्तु-स्वलक्षण की कल्पित 'पवित्रता' एक माया है। यह भी उतनी ही द्वन्द्वात्मक है जितनी की अन्य कोई भी तार्किक धारणा। यह एक साथ ही व्यक्ति और सामान्य दोनो है। किन्तु यह गुण इसकी यथार्थता के साथ हस्तक्षेप नही करता क्योकि जैन यह मानते हैं कि स्वय यथार्थता भी द्वन्द्वात्मक है।[3]

ऐसा कहा गया है कि अह्लीक[4] नामक एक जैन दार्शनिक ने इस विवाद मे एक ऐसी तर्क-प्रणाली को ग्रहण किया था जो दर्शन के इतिहासकारो को अज्ञात नही थी। इस दार्शनिक की यह मान्यता थी कि प्रत्येक वस्तु मे एक ही समय कुछ समानता और कुछ विलक्षणता सम्मिलित होती है, जिसमे से समानता सामान्य होती है और विलक्षणता व्यक्ति या विशेष। यदि सर्वथा व्यक्ति जैसी कोई वस्तु हो तो वह अन्य समस्त वस्तुओ से सर्वथा भिन्न और असम्बन्ध होगी, वह अवस्तु होगी, वह कुछ भी नही, 'आकाश मे पुष्प' होगी।[5] और दूसरी ओर, यदि उसमे कोई विलक्षणता सम्मिलित न हो तो वह अन्य समस्त वस्तुओ के साथ एकीभूत हो जायेगी और कोई विविधता होगी ही नही। यह मानना एक त्रुटि है कि सत्ता को एक एकत्व ही होना चाहिये। सत्ता सदैव द्विविध होती है—उसका अस्तित्व और अनस्तित्व दोनो होता है। वह एक साथ ही गतिशील और शान्त, सामान्य और विशेष दोनो होती है। यथार्थता का सार द्वन्द्वात्मक, अर्थात् सदैव द्विविध होता है।

---

[1] वही, पृ० ४८६ २५ और बाद, तथा ४९० ११।

[2] वही पृ० ४८७ २२।

[3] इस समस्या पर माध्यमिको और जैनो की परस्पर स्थिति की हीगल की विज्ञानवादी द्वन्द्वात्मक, और उनके भौतिकवादी अनुगामियो, तथा उन मार्क्स और एन्जेल्स की द्वन्द्वात्मक स्थिति से समानता स्थापित की जा सकती है जो यह मानने के लिये प्रस्तुत थे कि स्वय यथार्थता भी द्वन्द्वात्मक और विरोधी है।

[4] वही, पृ० ४८६ २५।

[5] वही, पृ० ४८७ ५, ४८७ २०, और ४९५ १२।

बौद्ध उत्तर देते है कि यदि सामान्य और विशेष मे समीकरण हो तो वे एक ही एकत्व मे एकीभूत हो जायेंगे और वह एकत्व द्विविध नही होगा। किन्तु यदि इनमे समीकरण न हो तो ये भिन्न होंगे और दो यथार्थतायें होंगी, इस प्रकार सत्ता पुन द्विविध नही होगी।[1] यदि यह मान लिया जाय कि सत्ता वही रहती है किन्तु अवस्थायें या गुण भिन्न होते हैं, तब यह प्रश्न उठेगा कि ये गुण यथार्थ हैं अथवा कल्पित।[2] यदि ये कल्पित हैं तो बौद्ध आपत्ति नही करेंगे। किन्तु जैन यथार्थ गुणो को मानते हैं, और यथार्थ गुण विरोधी नही हो सकते, क्योंकि एक सत्ता सदैव एक एकत्व होती है। यदि एक वस्तु कोई अन्य वस्तु हो सकती है तो वह अपने स्वरूप से च्युत होकर दूसरी बन जायगी। एक विक्षिप्त[3] के अतिरिक्त और कोई भी विरोध के नियम को अस्वीकृत नही कर सकता और यह नियम, हम देख चुके हैं, परमार्थ व्यक्ति अथवा वस्तु के विशुद्ध स्वलक्षणत्व की यथार्थता की स्थापना करता है।

§ ९. परमार्थ सत् के दृष्टिकोणो की उत्पत्ति

भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदाय साथ ही साथ मोक्ष के सिद्धान्त भी है। अत परमार्थ-सत् की समस्या के दो पक्ष हैं। यह या तो संसार मे जीव की सृष्टि का परमार्थ धर्म है अथवा यह निर्माण मे इस सृष्टि की शाश्वत समाप्ति है।

सांख्य मे सृष्टि के चरम तत्त्व तीन प्रकार के अव-परमाणविक गुण हैं जिनकी विभिन्न सहस्थितियाँ एक 'कर्म' नामक केन्द्रीय शक्ति के प्रभाव के अन्तर्गत विविध पदार्थों तथा उनके सतत परिवर्तन की सृष्टि करती है। निर्वाण इस सृष्टि की सदैव के लिये समाप्ति है।

आरम्भिक न्याय और वैशेषिक मे परमार्थ तत्त्व चार प्रकार के परमाणु हैं जो कर्म के प्रभाव के अन्तर्गत लोको तथा उनके जीवो की सृष्टि की रचना[4] करते है। इस प्रक्रिया की निर्वाण मे समाप्ति शाश्वत मृत्यु है,

---

[1] वही, पृ० ४८९ ७-१०।

[2] वही, पृ० ४९० १४।

[3] वही, पृ० ४९१ ९।

[4] आरभन्ते।

क्योकि चेतना, तथा साथ ही साथ, जगत की उत्पत्ति भी समाप्त हो जाती है। बाद के न्याय-वैशेषिक मे शाश्वतत्व अथवा निर्वाण ईश्वर के एक शाश्वत रहस्यवादी तथा स्थिर ध्यान मे निहित है।

हीनयान मे तीन प्रकार के गुण तथा चार प्रकार के परमाणु तीन प्रकार के धर्मों[1] द्वारा स्थानान्तरित हो गये हैं। यहाँ भी शाश्वतत्व अचेतन, कर्म की शक्ति की समाप्ति के फलस्वरूप उत्पन्न शाश्वत मृत्यु की एक अवस्था है।

महायान के प्रथम काल मे कर्म की शक्ति मायाशक्ति बन जाती है। नित्यत्व एक ऐसा ससार, एक ऐसी अवस्था है जिसकी इस माया के विनाश से प्राप्ति होती है। वेदान्त मे भी इसी स्थिति को स्वीकार किया गया है।

अन्तत, महायान के द्वितीय काल मे वस्तु-स्वलक्षण ही परमार्थ-सत् है। कर्म के प्रभाव के अन्तर्गत बुद्धि द्वारा ग्राह्य-ग्राहक-कल्पना के रूप मे इसका विभेद जगत् की प्रक्रिया का निर्माण करता है। इसकी अविभक्त स्थिति ही निर्वाण है। यह एक अनभिलाप्य स्वभाव-काय और ज्ञान-काय है जिसमे ग्राह्य और ग्राहक एकीभूत हो गये होते हैं।

इस प्रकार, वस्तु-स्वलक्षण एक ओर एक बाह्य-पदार्थ, ज्ञान का चरम कारण है, तथा दूसरी ओर, एक ऐसा विन्दु है जहाँ निर्वाण मे ग्राह्य और ग्राहक एकीभूत हो जाते हैं।

जिनेन्द्रबुद्धि[2] का यह कथन है "'तथता' (अर्थात् परमार्थ-सत् अथवा वस्तु-स्वलक्षण) की दृष्टि से (ग्राह्य और ग्राहक के बीच) कोई अन्तर है ही नही, किन्तु यत हम एक अतीन्द्रिय भ्रान्ति से अवरुद्ध होते हैं, अत हमे जो कुछ ज्ञान होता है वह ग्राह्य और ग्राहक-कल्पना द्वारा विभक्त इसका एकमात्र परोक्ष प्रतिभास मात्र है।"

'स्वलक्षण' की धारणा, जो प्रत्येक धर्म मे विशुद्धत स्वलक्षण होती है, हीनयान मे भी विद्यमान है। सत्ता के धर्म की, जो इस काल की केन्द्रीय धारणा है, परिभाषा 'स्वलक्षण धरणाद् धर्म'[3] के रूप मे की गई है। फिर भी, बाद की धारणा से यह अनेक दृष्टियो से भिन्न है। अभी यथार्थ और

---

[1] धर्म = सम्कार।

[2] तुकी० भाग २, पृ० ३९६।

[3] तुकी० यशोमित्र अभिको० १ ३, और सेक० पृ० ३६, नोट "अत्तनो पन सभावान् धरेन्ती ति धम्मा" अट्ठसालिनी पृ० ३९, ९४।

कल्पना के बीच कोई निश्चित रेखा नही है, सत्ता के धर्म भौतिक और मानसिक में, अथवा भौतिक, मानसिक तथा सस्कार[1] मे विभक्त है, और ये सभी समान रूप से सत्[2] हैं। 'सत' की 'अर्थक्रियाकारित्व' के रूप मे परिभाषा नही की गई है। समस्त व्यान धर्मों के किसी भी प्रकार के मिश्रण की सत्ता की अस्वीकृति पर ही केन्द्रित है। गत्यात्मक दृष्टि से वस्तु को इतना सूक्ष्म बना दिया गया है, तथा मानस के धर्म परस्पर इतने बाह्य-ग्राह्य हैं कि वस्तु और मानस का अन्तर प्रायः समाप्त हो जाता है, और दोनो सस्कार या धर्म बन जाते हैं[3]।

'स्वलक्षण' की एक क्षण के रूप मे परिभाषा के विषय मे हीनयान के सम्प्रदायो मे विचलन था। प्रत्येक की धर्मों की अपनी-अपनी सूची थी। फिर भी, अन्तर अनिवार्य नही थे।

समस्त धर्मों का परिकल्पित, परिनिष्पन्न तथा इन दोनो के बीच के एक परतन्त्र नामक तीन वर्गों के अन्तर्गत विभेद—यह विभेद जो आरम्भिक योगाचार सम्प्रदाय की विशिष्टता है—मे यथार्थता तथा कल्पना के बीच एक तीक्ष्ण विभाजन निहित है। धर्मकीर्ति ने अर्थक्रियाकारित्व के रूप मे सत् की परिभाषा देकर तथा इसका हर प्रकार की कल्पना के साथ मौलिक विरोधत्व दिखाकर इस सिद्धान्त को अन्तिम रूप दे दिया। अब सत् विशुद्ध सत्ता का, परम विशेष और स्वलक्षणवस्तु[4] का पर्याय बन गया। इसका अवस्तु, कल्पना तथा समस्त विकल्प के साथ विभेद तथा विरोध बताया गया है।

इस विचार को कि विशुद्ध विज्ञान द्वारा स्वभाव का स्वलक्षणवस्तु के रूप मे ज्ञान प्राप्त हो सकता है, बाद के वेदान्त ने बौद्धो से ग्रहण किया है। "यत वस्तुओ के अन्तर का ज्ञान सविकल्पक होता है, और यत इस अन्तर के ज्ञान के बिना अलग-अलग वस्तुयें नही हो सकती बल्कि सम्पूर्ण अथवा

---

[1] रूप-ज्ञान-चित्तविप्रयुक्त-सस्कार।

[2] भाव = धर्म = सत्=अनित्य।

[3] तुकी० सेक० पृ० ८४।

[4] वस्तु = सत्ता = परमार्थ-सत् = स्वलक्षण।

क्योकि चेतना, तथा साथ ही साथ, जगत की उत्पत्ति भी समाप्त हो जाती है। बाद के न्याय-वैशेषिक मे शाश्वतत्व अथवा निर्वाण ईश्वर के एक शाश्वत रहस्यवादी तथा स्थिर ध्यान मे निहित है।

हीनयान मे तीन प्रकार के गुण तथा चार प्रकार के परमाणु तीन प्रकार के धर्मों[1] द्वारा स्थानान्तरित हो गये है। यहाँ भी शाश्वतत्व अचेतन, कर्म की शक्ति की समाप्ति के फलस्वरूप उत्पन्न शाश्वत मृत्यु की एक अवस्था है।

महायान के प्रथम काल मे कर्म की शक्ति मायाशक्ति बन जाती है। नित्यत्व एक ऐसा ससार, एक ऐसी अवस्था है जिसकी इस माया के विनाश से प्राप्ति होती है। वेदान्त मे भी इसी स्थिति को स्वीकार किया गया है।

अन्तत, महायान के द्वितीय काल मे वस्तु-स्वलक्षण ही परमार्थ-सत् है। कर्म के प्रभाव के अन्तर्गत बुद्धि द्वारा ग्राह्य-ग्राहक-कल्पना के रूप मे इसका विभेद जगत् की प्रक्रिया का निर्माण करता है। इसकी अविभक्त स्थिति ही निर्वाण है। यह एक अनभिलाप्य स्वभाव-काय और ज्ञान-काय है जिसमे ग्राह्य और गाहक एकीभूत हो गये होते हैं।

इस प्रकार, वस्तु-स्वलक्षण एक ओर एक बाह्य-पदार्थ, ज्ञान का चरम कारण है, तथा दूसरी ओर, एक ऐसा विन्दु है जहाँ निर्वाण मे ग्राह्य और ग्राहक एकीभूत हो जाते हैं।

जिनेन्द्रबुद्धि[2] का यह कथन है "'तथता' (अर्थात् परमार्थ-सत् अथवा वस्तु-स्वलक्षण) की दृष्टि से (ग्राह्य और गाहक के बीच) कोई अन्तर है ही नही, किन्तु यत हम एक अतीन्द्रिय भ्रान्ति से अवरुद्ध होते हैं, अत हमे जो कुछ ज्ञान होता है वह ग्राह्य और ग्राहक-कल्पना द्वारा विभक्त इसका एकमात्र परोक्ष प्रतिभास मात्र है।"

'स्वलक्षण' की धारणा, जो प्रत्येक धर्म मे विशुद्धत स्वलक्षण होती है, हीनयान मे भी विद्यमान है। सत्ता के धर्म की, जो इस काल की केन्द्रीय धारणा है, परिभाषा 'स्वलक्षण धरणाद् धर्म'[3] के रूप मे की गई है। फिर भी, बाद की धारणा से यह अनेक दृष्टियो से भिन्न है। अभी यथार्थ और

---

[1] धर्म = सस्कार।

[2] तुकी० भाग २, पृ० ३६६।

[3] तुकी० यशोमित्र अभिको० १ ३, और सेक० पृ० २६, नोट "अत्तनो पत्त सभावान् धरेन्ती ति धम्मा" अट्ठसालिनी पृ० ३९, ९४।

कल्पना के बीच कोई निश्चित रेखा नही है, सत्ता के धर्म भौतिक और मानसिक में, अथवा भौतिक, मानसिक तथा सस्कार[1] मे विभक्त है, और ये सभी समान रूप से सत्[2] हैं। 'सत' की 'अर्थक्रियाकारित्व' के रूप मे परिभाषा नही की गई है। समस्त ध्यान धर्मों के किसी भी प्रकार के मिश्रण की सत्ता की अस्वीकृति पर ही केन्द्रित है। गत्यात्मक दृष्टि से वस्तु को इतना सूक्ष्म बना दिया गया है, तथा मानस के धर्म परस्पर इतने बाह्य-ग्राह्य हैं कि वस्तु और मानस का अन्तर प्राय: समाप्त हो जाता है, और दोनो सस्कार या धर्म बन जाते हैं[3]।

'स्वलक्षण' की एक क्षण के रूप मे परिभाषा के विषय मे हीनयान के सम्प्रदायो मे विचलन था। प्रत्येक की धर्मों की अपनी-अपनी सूची थी। फिर भी, अन्तर अनिवार्य नही थे।

समस्त धर्मों का परिकल्पित, परिनिष्पन्न तथा इन दोनो के बीच के एक परतन्त्र नामक तीन वर्गों के अन्तर्गत विभेद—यह विभेद जो आरम्भिक योगाचार सम्प्रदाय की विशिष्टता है—मे यथार्थता तथा कल्पना के बीच एक तीक्ष्ण विभाजन निहित है। धर्मकीर्ति ने अर्थक्रियाकारित्व के रूप मे सत् की परिभाषा देकर तथा इसका हर प्रकार की कल्पना के साथ मौलिक विरोधत्व दिखाकर इस सिद्धान्त को अन्तिम रूप दे दिया। अब सत् विशुद्ध सत्ता का, परम विशेष और स्वलक्षणवस्तु[4] का पर्याय बन गया। इसका अवस्तु, कल्पना तथा समस्त विकल्प के साथ विभेद तथा विरोध बताया गया है।

इस विचार को कि विशुद्ध विज्ञान द्वारा स्वभाव का स्वलक्षणवस्तु के रूप मे ज्ञान प्राप्त हो सकता है, बाद के वेदान्त ने बौद्धो से ग्रहण किया है। "यत वस्तुओ के अन्तर का ज्ञान सविकल्पक होता है, और यत इस अन्तर के ज्ञान के बिना अलग-अलग वस्तुयें नही हो सकती बल्कि सम्पूर्ण अथवा

---

[1] रूप-ज्ञान-चित्तविप्रयुक्त-सस्कार।

[2] भाव = धर्म = सत्=अनित्य।

[3] तुकी० सेक० पृ० ८४।

[4] वस्तु = सत्ता = परमार्थ-सत् = स्वलक्षण।

स्वभाव ही होता है, अत वेदान्ती यह मानते हैं कि विशुद्ध विज्ञान[1] सत्तामात्र का अथवा परम् ब्रह्म[2] का बोध करता है।"

§ १० कुछ योरोपीय समानान्तरतायें

सक्षेप मे, बौद्ध तार्किक सम्प्रदाय मे स्थापित परमार्थ-सत् की धारणा से जो बाते अभिप्रेत हैं वह यह व्यक्त करती हैं कि (१) यह परम विशेष; (२) सत्ता मात्र, (३) सत्ताप्रवाह मे एक क्षण, (४) अद्वितीय और असम्बद्ध, (५) गत्यात्मक, अस्थूल और अस्थायी; (६) अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति से युक्त, (७) प्रतिभास को स्फुटत्व प्रदान करने वाला, (८) निश्चयो की समर्थक शक्ति, और (९) अनभिलाप्य, अबोधगम्य, स्वलक्षण-वस्तु है।

एक परमार्थ-सत् के अपने प्राय दो सहस्राब्दी की खोज मे दर्शन ने कभी-कभी समानान्तर पथो पर यात्रा की, और एक ही अथवा भिन्न निष्कर्षों से निष्कृष्ट एक ही तर्कों को कभी अशत और कभी पूर्णत दोहराया भी, परन्तु एक ही अन्तिम निष्कर्ष पर नही पहुच सका।

बौद्ध न्याय मे परमार्थ सत् को अभिव्यक्त करने वाले शब्द का शब्दार्थ 'स्वलक्षण'[3] है। एक सीमा तक यह 'स्वलक्षण' एरिस्टॉटिल के 'प्रथम-सार' के समकक्ष है। 'हॉक एलिक्विड' के रूप मे इसका निर्धारण उस 'किंचिद् इदम्' शब्द के अनुरूप है जिसके द्वारा 'स्वलक्षण' की व्याख्या की गई है। बौद्धदर्शन मे यह सर्वथा असम्बद्ध है क्योकि यह एक सर्वथा स्वलक्षण वस्तु है। एरिस्टॉटिल इस बात का निर्धारण कर सकने मे भ्रमित हैं कि "किसी सार या तत्त्व को 'सम्बद्ध' कहा जाय या नही। इनका ऐसा विचार प्रतीत होता है कि द्वितीय 'सार' ऐसा हो सकता है किन्तु प्रथम 'सार' नहीं। फिर

---

[1] निर्विकल्पक।

[2] तुकी० शादी० पृ० १२६। वेदान्तपरिभाषा मे (पृ० ३१ और बाद) 'तत् त्वम् असि' की 'निर्विकल्पक' के रूप मे व्याख्या है, और न्यायमकरन्द (पृ० १५३ और बाद) परमब्रह्म के साक्षाद् के रूप मे एक 'तत्त्वत् साक्षात्कार' की कल्पना करता है। एक योगी प्रत्येक वस्तु का केवल 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' ही करता है, क्योकि उसके लिये 'मानस-प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण होता है।

[3] स्वलक्षणम् = परमार्थ-सत्।

भी, आप इस बात को स्वीकार करते हुये समाप्त करते हैं कि यह एक सन्दिग्ध और कठिन प्रश्न है।"[1] भारतीय अस्वीकृति अत्यन्त स्पष्ट है।

फिर भी, "एरिस्टॉटिल के 'सार' की सर्वाधिक विशिष्टता यह है कि Unum et Idem Numero होते हुये भी यह एकान्तरित होने वाली विरोधी घटनाओं' को ग्रहण करके अपने मे परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है।"[2] यह, जैसा कि हम देख चुके है, बौद्धदर्शन मे सर्वथा भिन्न है। यहाँ प्रत्येक परिवर्तन स्वय सार का ही परिवर्तन है। साथ ही, एरिस्टॉटिल सत्ता के दस प्रकार मानते हैं, जब कि बौद्ध 'स्वलक्षण' ही एकमात्र सत्ता है, अन्य समस्त पदार्थ स्वय अपने मे सत्तारहित हैं। ये उसी समय परोक्षरूप से सत्तायें हो सकते है जब इनके तल मे प्रथम 'सार' स्थिति हो, और इस स्थिति मे तब इनकी एक गृहीत सत्ता होती है। इसे एरिस्टॉटिल भी इस बात का प्रतिपादन करते समय मानते प्रतीत होते है कि "प्रथम सार मात्र ही पूर्णतम आशय मे सत्ता होता है।" बौद्ध 'स्वलक्षण' की ही भाँति यह भी "अन्य समस्त पदार्थों के लिये एक 'अन्तर्धारा' के रूप मे अनिवार्य रूप से आवश्यक है।"

यथार्थ, सत्ता, सार, तत्व, आदि की धारणाओं के सम्बन्ध मे दार्शनिको द्वारा निर्धारित असीम सिद्धान्तो का परीक्षण करते समय जो अनेक तुलनाये स्वभावत अपने को प्रकट करती हैं उनमे से हमे लीब्निज के 'मोनडॉलोजी[3] पर अवश्य रुकना चाहिये क्योकि यहाँ तुलना के आधार अपेक्षाकृत अधिक है। हम लोग लीब्निज और धर्मकीर्ति के बीच इनके एकतत्त्ववादी, यान्त्रिक-वादी और परमाणुवादी विरोधियो के प्रति स्थिति की तुलना की ओर पहले ही ध्यान आकर्षित कर चुके है। जिस प्रकार लीब्निज की गत्यात्मक यथार्थता १) स्पिनोजा के एकतत्त्ववाद, २) डेकार्टे के यान्त्रिकतावाद, और ३) परमाणुवादियो के अविभाज्य परमार्थ-सत् को अस्वीकार करती है, ठीक उसी प्रकार धर्मकीर्ति भी १) माध्यमिक-वेदान्त के एकतत्त्ववाद, २) साख्यो के यान्त्रिकवाद जो जगत् के समस्त परिवर्तनो को गतिशील प्रकृति की एक नित्य मात्रा के वितरण मे अन्तर का परिणाम मानता है, और ३) वैशेषिको के परमाणुवाद को अस्वीकार करते है। 'चिदणुओं' (मोनड्स) की ही भाँति स्वलक्षण भी गत्यात्मक और क्षणिक होते है। लीब्निज कहते

---

[1] तुकी० ग्रोट० एरिस्टॉटिल, पृ० ७२।

[2] वही, पृ० ६९।

[3] चिदणुविज्ञान।

हैं कि "जहाँ गति एक उत्तरोत्तर सातत्य की वस्तु है जिसकी कभी काल से अधिक कोई सत्ता नही होती क्योकि इसके समस्त अगो का एक साथ कभी अस्तित्व नही होता ' वही, दूसरी ओर, शक्ति अथवा क्षमता का प्रत्येक क्षण मे सर्वथा पूर्ण अस्तित्व होता है और इसे वास्तविक और यथार्थ ही होना चाहिये।" यह अत्यधिक कौतूहलवर्धक है कि अवधि, स्थूलत्व और गति की यथार्थता को लीब्निज़ बौद्धो के सर्वथा समान आधार पर अस्वीकार करते हैं—अर्थात् इस आधार पर कि इन सब का एक क्षण मे पूर्ण अस्तित्व नही हो सकता। लीब्निज़ कहते हैं कि "पदार्थों की उनके नग्न सार की गति से रहित होने के रूप मे कल्पना नही की जा सकती, क्योकि गति सामान्य रूप से पदाथ का सार है।" ठीक यही बौद्धो का मत है 'सत्ता कर्मता है', अर्थक्रियाकारित्व ही परमार्थसत् है। एक और अधिक उल्लेखनीय समानता इस धारणा मे निहित है कि "यत चिदणु विशुद्धत गहन केन्द्र अथवा (गत्यात्मक) इकाइयाँ हैं जिनमे से पत्येक अन्य सबसे पृथक् है, अत कोई भी चिदणु न तो दूसरे को पभावित कर सकता है और न उन्हे परिवर्तित ही कर सकता है। ठीक इसी प्रकार बौद्ध इकाइयाँ भी, हम देख चुके हैं कि, यद्यपि ये अर्थक्रियाकारित्व के अतिरिक्त और कुछ नही, तथापि वास्तव मे किसी वस्तु को उत्पन्न नही कर सकती। परन्तु तुलना यही समाप्त हो जाती है। चिदणु भी, एरिस्टॉटिल के 'प्रथम सार' की भाँति, एक अन्तस्तत्त्व, एक आत्मा है। बौद्धदर्शन मे यह एक बाह्य क्षण है।

दार्शनिको की एक ऐसी शृङ्खला को, जो आनुभविक दृष्टि से गृहीत पदार्थ की आपातिक यथार्थता और परमार्थ-सत् के अतीन्द्रिय अज्ञात स्रोत के बीच अन्तर की कल्पना करते है, छोडकर हमे कुछ विस्तार से काण्ट का अध्ययन करना चाहिये, क्योकि यहाँ, जैसा कि प्रतीत होगा, हमे न केवल कुछ समानान्तर आधार तथा समान तर्कों के यत्र-तत्र अश ही वरन् सम्पूर्ण धारणा मे ही एक समानता मिलती है। निम्नलिखित बाते हमारा ध्यान आकर्षित करती है।

(१) दिङ्नाग की ही भाँति, काण्ट भी ज्ञान के केवल दो प्रमाण तथा इन दोनो के बीच मौलिक अन्तर मानते है।

(२) यद्यपि ये दोनो प्रमाण मूलत' भिन्न तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से पृथक्करणीय हैं, तथापि आनुभविक दृष्टि से सदैव मिश्रित प्रतीत होते है। फलस्वरूप दोनो के बीच अन्तर आनुभविक नही वलिक अनुभवातीत है।

(३) अन्य समस्त प्रणालियो मे स्पष्ट और स्फुट चिन्तन को सत्य का आधार माना गया है। केवल इन्द्रियो द्वारा घटनाओ मात्र का अस्त-व्यस्त प्रत्यक्ष होता है, प्रज्ञा अथवा विवेकबुद्धि द्वारा परमार्थ-सत्, स्वलक्षण-वस्तु, का स्पष्ट ज्ञान होता है। अपने समीक्षात्मक काल मे काण्ट ने इस सम्बन्ध को उलट दिया। स्पष्ट और स्फुट ज्ञान से केवल घटना का सन्दर्भ होता है, किन्तु किसी घटना मे जो सवेदना के अनुरूप होता है वह समस्त वस्तुओ के अनुभवातीत पदार्थ का, स्वलक्षण वस्तु (Sachheit) का निर्माण करता है। बौद्धो के अनुसार, हम देख चुके हैं, शुद्ध विज्ञान मे वस्तु-स्वलक्षण का प्रत्यक्ष होता है। जिन वस्तुओ का स्पष्ट बोध होता है वह विकल्पात्मक प्रतिमायें होती है।

(४) काण्ट कहते है कि 'वस्तु-स्वलक्षण' अबोधगम्य है, हम उसे एक ऐन्द्रिक प्रतिमा मे व्यक्त नही कर सकते, यह प्रत्यक्ष की सीमा है। बौद्ध कहते है कि परम विशेष तक हम अपने ज्ञान द्वारा नही पहुच सकते।

(५) फिर भी इसका अस्तित्व है और यह प्रापक है, ऐसा काण्ट का कथन है। यह एक ऐसी विधि के अतिरिक्त और कुछ नही जिसके अनुसार हमारी सवेदनशीलता बाह्यपदार्थ द्वारा प्रभावित होती है। धर्मकीर्ति कहते है कि परम विशेष ही परमार्थ-सत् है क्योकि मात्र इसी मे अर्थक्रियाकारित्व होता है।

(६) द्विविध परमार्थ-सत् और द्विविध हेतुत्व होते हैं स्वलक्षण वस्तु का परमार्थ-सत् हेतुत्व, तथा आनुभविक विषय का परोक्ष-सत् हेतुत्व। स्वलक्षण-वस्तु परमार्थ-सत् हेतुत्व के ही एक दूसरे नाम के अतिरिक्त, इस परमार्थ-सत् हेतुत्व के तथ्य के अतिरिक्त, और कुछ नही। इस बात ने, जिसे बौद्धो ने पर्याप्त शुद्धता के साथ व्यक्त किया है, काण्ट के व्याख्याकारो को द्विविधा मे डाल दिया है, क्योकि काण्ट ने यथार्थ की एक सश्लिष्ट पदार्थ, एक ऐसे यथार्थ के रूप मे जो परम नही है, एक स्थायी और स्थूल यथार्थ[१] के रूप मे कल्पना की है।

---

[१] Realitas Phaenomenon। प्रत्यक्षत इसका यह अर्थ होना चाहिये कि एक अन्य असश्लिष्ट परमार्थ-सत् का नही बल्कि क्षण का परमार्थ-सत् भी होना चाहिये, तुकी० क्रिरी० पृ० १३७। यह ठीक स्वलक्षण वस्तु है। 'वस्तु' शब्द से 'सत्ता' पहले से ही अभिप्रेत है और काण्ट ने इसकी 'यथार्थ' (Ding=Sachheit=Realitat) के अर्थ मे व्याख्या की है। फिर भी,

काण्ट के 'वस्तु-स्वलक्षण' तथा धर्मकीर्ति के 'स्वलक्षण' के बीच आधारभूत अन्तर धर्मकीर्ति द्वारा इसके स्पष्ट रूप से सत् के एक ऐसे क्षण मात्र के साथ समीकरण मे निहित है जो विज्ञान के एक क्षण के अनुरूप होता है। भारतीय 'वस्तु' इस दृष्टि से अनुभवातीत है कि एकमात्र क्षण का, हर प्रकार के सश्लेषण से बाह्य होने के कारण, आनुभविक ज्ञान नही प्राप्त किया जा सकता।[१] अन्यथा काण्ट की यह विशिष्टता कि "घटना मे जो कुछ सवेदना के अनुरूप होता है वह अतीन्द्रिय वस्तु-स्वलक्षण है"[२], पूर्णतया भारतीय 'प्रथम सार' के लिये व्यवहृत हो सकती है। एक अन्य अन्तर बौद्धो द्वारा स्वलक्षण-वस्तु के सत्तामात्र के साथ स्पष्ट समीकरण मे उपलब्ध है। यह सत्ता एक विधेय, एक पदार्थ नही है। यह सभी विधेयत्व का समान धर्मी है। इस सम्बन्ध मे बौद्धो ने परमार्थ-सत् की धारणा का तार्किक उपयोग किया है। परमार्थ-सत् समस्त निश्चयो का, और जैसा कि हम आगे देखेंगे, समस्त अनुमानो का परमार्थ-धर्मी है।[3] काण्ट के 'वस्तु-स्वलक्षण' तथा बौद्धो के 'स्वलक्षण' मे एक और अन्तर इस बात मे निहित है कि काण्ट प्रत्येक आनुभविक आत्मा के पीछे उसी प्रकार एक आन्तरिक वस्तु-स्वलक्षण मानते है जैसे प्रत्येक बाह्य वस्तु के पीछे एक बाह्य वस्तु-स्वलक्षण। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होगा कि वस्तु-स्वलक्षण के दो प्रकार हैं जिनमे से दोनो एक दूसरे के आमने-सामने हैं। बौद्ध दर्शन मे यह भिन्न है। 'स्वलक्षण'[४] वैसी बाह्यवस्तु है जैसी समस्त सम्बन्धो से रहित वह विशुद्धत स्वय अपने मे होती है। तदनुरूप

वहुसख्यक व्याख्याकारो ने इन पर इस बात का या तो आक्षेप किया है अथवा कर रहे हैं कि इन्होने एक ऐसी 'वस्तु' के सिद्धान्त का पतिपादन किया है जो 'वस्तु' नही है—एक ऐमी वस्तु का जो कुछ नही करती यद्यपि वह परमार्थ-सत् है, अर्थात् स्वय सत् और प्रापकता, शुद्ध सत् और 'शुद्ध' प्रापकता है।

[१] 'क्षणस्य (ज्ञानेन) प्रापयितुम् अशक्यत्वात्', न्याविटी० पृ० १२ १९।

[२] क्रिरी० पृ० ११७ ('स्केमेटिज्म' विषयक अध्याय)।

[3] धर्मी, जो समस्त धर्मों का समान धर्मी है। तुकी० (उसी अध्याय मे) काण्ट के ये शब्द "यदि हम स्थायित्व की ऐन्द्रिक स्थितियो को छोड दें तो 'वस्तु' का केवल कुछ ऐसी वस्तु अर्थ होगा जिसका बिना किसी भी अन्य वस्तु का विधेय हुये बिना ही एक वस्तु के रूप मे वोध किया सकता है।"

[४] स्वलक्षण=भाग-अर्थ।

आन्तरिक वस्तु निर्विकल्पक विज्ञान होती है। किन्तु निर्विकल्पक विज्ञान तथा तत्सम्बन्धी शुद्ध सत्ता यथार्थ के समान आधारों पर स्थित दो वस्तुयें नहीं है। ये उसी रचनात्मक कल्पना[1] द्वारा ग्राह्य और ग्राहक के रूप में द्विविध रूप से निर्मित एक ही परमार्थ सत् है, जो सम्पूर्ण आनुभविक जगत की सर्जक है तथा जो सदैव द्वैवीकरण अथवा द्वन्द्वात्मक विधि से कार्य करती है। बाह्य स्वलक्षण केवल तार्किक स्तर मात्र पर ही परमार्थ-सत् है। अत समस्त दर्शन को अन्तत एकतत्त्ववादी होना चाहिये, अत अन्तिम पारमार्थिक स्तर पर एक ऐसा अन्तिम परमार्थ है जिसमें ग्राह्य और ग्राहक एकीभूत हो जाते है। जैसा कि धर्मकीर्ति कहते है, यह एक ऐसी वस्तु है जिसका हम न तो बोध कर सकते हैं और न उसे वाणी द्वारा व्यक्त कर सकते है। तात्पर्य यह कि, यह अब भी आनुभविक स्तर से उससे कही अधिक दूर है जितना बाह्य-यथार्थ का अबोधगम्य क्षण। यह अन्तिम परमार्थ है जो बुद्ध के उनके धर्मकाय के रूप मे मूर्तीकृत है।

शुद्ध विज्ञान के रूप मे बौद्ध 'स्वलक्षण' काण्ट के वस्तु-स्वलक्षण की अपेक्षा आनुभविक जगत् के कुछ अधिक निकट है। काण्ट ने वस्तु-स्वलक्षण की इस अर्ध-आनुभविक व्याख्या के प्रति विरोध प्रगट किया है जो उनके अनुसार अनुभवातीत है। एकमात्र क्षण के रूप मे बौद्ध 'वस्तु' को भी कदाचित ही आनुभविक कहा जा सकता है।

बौद्ध तर्क का वह अग जो सत्ता का विधि के सार के साथ समीकरण करता है, हर्बर्ट द्वारा व्यक्त कुछ विचारो के साथ अपनी समानता के कारण हमारा ध्यान आकर्षित करता है। दार्शनिक के लिये 'सत्ता' के ये अर्थ हैं "परमार्थ स्थिति", "ऐसी किसी वस्तु की स्वीकृति जिसको विचार मे अस्वीकृत न किया जा सके", जिसके सार को अस्वीकृत करना सम्भव न हो[2]। सत्ता की धारणा एक प्रकार की ऐसी मान्यता है जिसका अर्थ यह है कि यह किसी वस्तु की सत्तामात्र है और इससे अधिक कुछ नही। उनका कथन है कि "सत्ताओ का अस्तित्व होता है और ऐसी शका की जा सकती है कि वे सर्वथा विलीन या अदृश्य भी हो जाती हैं, किन्तु वे विलीन नही हो सकती। किसी वस्तु की सत्ता रहती है, वह केवल परिवर्तित हो जाती है। वह पहले जिसकी ओर केन्द्रित थी उसकी अपेक्षा अब किसी भिन्न की ओर केन्द्रित हो जाती है।

---

[1] ग्राह्य-ग्राहक-कल्पना।

[2] तुकी० मेटा० २,२०१।

गुण (अर्थात सामान्य) पर शका की जा सकती है, किन्तु जिसका विन्यास होता है (अर्थात विशेष मात्र) वह भिन्न होता है, वह कुछ ऐसा होता है जिसका ज्ञान नही हो सकता ।"[१] यह परमार्थ-सत् बिना हमारे ध्यान मे आये प्रत्येक शुद्ध विज्ञान मे निहित होता है ।[२] कोई भी इस बात पर विश्वास नही करेगा कि किसी वस्तु की सत्ता नही है क्योकि तब वह प्रत्यक्ष हो जायगी । सत्ता की विशिष्टता परमार्थ-सत् है । सत्ता को अस्वीकार नही किया जा सकता । सत्तामात्र का यथार्थता के विज्ञानात्मक केन्द्र के साथ यह समीकरण, इसका एक सरल अर्थात् विशेष मात्र के रूप मे, ऐसे विधि के सार के रूप मे जिसको अस्वीकार नही किया जा सकता, यह निर्धारण, तथा गुण, अर्थात् उस सामान्य के साथ इसका विभेद, जो स्वय विधिस्वरूप[3] नही है बल्कि जिस पर शका की जा सकती है, अर्थात् जिसका एक बार समर्थन तथा एक बार अस्वीकार किया जा सकता है—यह सब तार्किक कल्पनायें बौद्ध विचारो के साथ अपनी उल्लेखनीय समानता के कारण हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं[४] ।

बौद्ध सिद्धान्त का वह अश भी जो परमार्थ-सत के क्षण की एक अवकल और समाकलन के साथ तुलना करता है, योरोपीय दर्शन मे अपनी समानता से रहित नही है । काण्टोत्तर दर्शनिक सोलोमन मेमन अपने 'ग्राह्यता के अवकल' के सिद्धान्त के लिये सुज्ञात हैं । इनका कथन है कि वस्तुओ के अवकल स्वलक्षण होते हैं, इनसे निर्मित वस्तुये ग्राह्य वस्तुये या घटनायें होती हैं ।"[५]

---

[१] वही ।

[२] वही, § २०४ ।

[3] हम दोनो बातें अर्थात् यह कि 'गाय है' और 'गाय नही है' कह सकते है किन्तु Hoc Aliquid (सत्तामात्र) सदैव होता है । इसे अस्वीकृत नही किया जा सकता क्योकि इसकी अस्वीकृति अभाव की स्थापना, अथवा जैसा कि वाचस्पति मिश्र कहते हैं, यह 'स्वय विग्रहवान अभाव होगा ।' तुकी० ताटी० ३८९ २२ 'न त्व् अभावो नामो कश्चिद् विग्रहवान् अस्ति य प्रतिपत्तिगोचर स्यात्।'

[४] परमार्थ सत्ता = विधि, स्वरूप=स्वलक्षण=सत्तामात्र = वस्तु-मात्र = निरश-वस्तु=अनवयविन् ।

[५] तुकी० आर० क्रोनर फॉन काण्ट बिस हीगेल, १, पृ० ३५४ ।

खण्ड ३

विकल्प-जगत्

अध्याय १

निश्चय

§ १. शुद्ध विज्ञान से विकल्प पर सक्रमण

परमार्थ-सत् के क्षेत्र से कल्पना के प्रत्येक लेश को वर्जित करके, तथा उसे एक ऐसे क्षण मे परिवर्तित करके जिसमे किसी प्रकार का भी एकीकरण सम्मिलित नही है, बौद्ध नैयायिको को उसी कठिनाई का सामना करना पडा जो बाह्य जगत के ज्ञान के दो प्रमाणो या स्रोतो—एक इन्द्रियो की निर्विकल्पक ग्राह्यता, तथा दूसरा कल्पनात्मक उत्पादन—के बीच प्रकार-भेद के निर्धारण का प्रयास करनेवाली प्रत्येक प्रणाली को सामना करना पडता है। हम देख चुके है कि परमार्थ-सत् मे कोई अवधि और कोई स्थूलत्व, कोई गुण और कोई गति, तथा कोई वास्तविक व्यक्ति, इत्यादि नही होता। दूसरी ओर, विकल्पात्मक आनुभविक जगत् मे कल्पित काल होता है, कल्पित देश होता है, अनेक कल्पित गुण, गतियाँ, सामान्य, विशेष, इत्यादि होते है। दोनो ही क्षेत्र, अर्थात् अनुभवातीत निर्विकल्पक सत् और विकल्पात्मक अथवा आनुभविक जगत् के क्षेत्र, सर्वथा असमान होते है।

दोनो के बीच हेतुत्व के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नही होता। क्षण प्रापकता के क्षण होते है। इनमे प्रज्ञा को उद्दीप्त करने की क्षमता होती है जिससे वह कल्पना मे ऐसे भ्रान्तिमय आकारो का निर्माण करती है जिसे साधारण मनुष्य स्वय यथार्थ ही मान लेता है। हेतुत्व की यह अवस्था उन सभी यथार्थवादी प्रणालियो के लिये एक ज्वलन्त चुनौती है जो यह मानते है कि फल को निश्चित रूप से हेतु के समान ही होना चाहिये। फल यहाँ हेतु से सर्वथा असमान है। क्षण और उसके द्वारा उद्दीप्त प्रतिभास अथवा विकल्पात्मक कल्पना के बीच एक 'सारूप्य'[1] होता है जिसे यदि हम चाहे

---

[1] बुकी० भाग २, परिशिष्ट ४।

तो एक प्रकार की समानता भी कह सकते हैं किन्तु यह 'अत्यन्त विलक्षण सालक्षण्य'[1] होगा। क्रियात्मक सापेक्षता के रूप मे हेतुत्व का बौद्ध नियम हेतु और फल के बीच असमानता के विरुद्ध आक्षेप नही करता। एक यथार्थ क्षण और एक ग्रहणात्मक चेतना होने पर विज्ञान उत्पन्न होता है ; तदनुरूप आकार भी इसी प्रकार विज्ञान के एक क्षण और विषयात्मक यथार्थ की क्रियात्मक सापेक्षता से उत्पन्न होता है।

फिर भी, बौद्ध नैयायिको मे से कुछ शुद्ध विज्ञान तथा उसका अनुगमन करनेवाले स्मृत्यात्मक चित्र के बीच के अन्तर की पूर्ति करने,तथा इस प्रकार ज्ञान के उस एकत्व की पुन स्थापना करने की समस्या से भ्रमित थे जिसे स्वय उन्ही लोगो ने ज्ञान के दो प्रमाणो मे मौलिक विभेद की परिकल्पना द्वारा नष्ट कर दिया था। यह स्पष्ट है कि इस आधारभूत समस्या का समाधान, साथ ही साथ, परमार्थ तथा आनुभविक-सत् के बीच के गर्त को पूर्ण कर देगा, और यत परमार्थ सत् प्रापकता के अतिरिक्त अन्य कुछ नही तथा विकल्प तर्क के अतिरिक्त और कुछ नही, अत यह तर्क तथा उसकी प्रभावकता के बीच भी एक शृङ्खला की स्थापना कर देगा।

दो व्याख्यायें, एक तार्किक तथा एक मनोवैज्ञानिक, प्रस्तुत की गई। तार्किक समस्या का आगे बौद्ध वस्तुशून्य प्रज्ञप्तिवाद तथा अपोहवाद के अध्ययन के समय परीक्षण किया जायगा। मनोवैज्ञानिक व्याख्या पहले ही उल्लिखित मानस-प्रत्यक्ष[2] के सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नही।

शुद्ध विज्ञान अथवा ऐन्द्रिक-प्रज्ञा का तत्काल मानस-प्रत्यक्ष अथवा बौद्धिक प्रज्ञा का एक क्षण अनुगमन करता है। विचार की एक ही और उसी धारा मे एक के बाद एक आने वाले दो क्षण होते हैं जो हेतु और फल के रूप मे सम्बद्ध होते हैं। ये इस दृष्टि से 'समजातीय होते हैं कि ये विचार की एक ही धारा मे निहित होते है।[3] किन्तु ये इस दृष्टि से विषमजातीय होते हैं कि इनमे से प्रथम बाह्येन्द्रिय का विज्ञान होता है। आनुभविक मनोविज्ञान की दृष्टि से यह केवल ध्यान का, अथवा शुद्ध विज्ञान के तत्काल गत क्षण पर ध्यान देने का क्षण होता है। मन, जो आरम्भिक बौद्ध दर्शन मे एक विशेष,

---

[1] 'अत्यन्त-विलक्षणानाम सालक्षण्यम,' तुकी० ताटी० पृ० ३४०-१७।

[2] तुकी० ऊपर पृ० १९१, और भाग २, परिशिष्ट ३।

छठवीं[1], ज्ञान की इन्द्रिय, तथा यथार्थवादी प्रणालियों में एक स्नायुविक भाग के साथ समीकृत था, अब ध्यान[2] के एक क्षण के साथ समीकृत हो गया जिसको 'शुद्ध विज्ञान' अथवा बाह्य इन्द्रिय के विज्ञान के क्षण के साथ विभेद करते हुये 'मानस-प्रत्यक्ष' अथवा आन्तरिक इन्द्रिय का विज्ञान कहा गया है। विज्ञान के दूसरे क्षण की अवधि में विषय गोचर-क्षेत्र में उपस्थित रहता है जिससे बौद्धिक-प्रज्ञा विज्ञान के प्रथम क्षण के विषय के द्वितीय क्षण के साथ सहयोग का फल होती है।[3] इसके बाद के, अर्थात् तीसरे क्षण में, स्मृति-धर्म जागृत हो जाते हैं, विज्ञान विलीन हो जाते हैं, और बुद्धि स्वयं अपने नियमों के अनुसार एक काल्पनिक आकार का निर्माण करती है।

विज्ञान का यह द्वितीय क्षण यद्यपि आनुभविक दृष्टिकोण से ध्यान के एक क्षण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, तथापि ज्ञानमीमांसात्मक दृष्टि-कोण में एक साक्षात्, असंश्लिष्ट, अद्वितीय क्षण होता है। यह एक ऐसा क्षण होता है जिसे यद्यपि बौद्धिक प्रज्ञा का क्षण कहा जाता है तथापि जो बोधगम्य होने के सर्वाधिक विशिष्ट गुण से रहित होता है। यह प्रथम क्षण की ही भाँति निर्विकल्पक तथा अनभिलाप्य, और इसीलिये, अर्ध-बोधगम्य होता है। यह शुद्ध विज्ञान तथा तदनुरूप बौद्धिक आकार के बीच की एक मध्यवर्ती अवस्था होता है।

बौद्धिक प्रज्ञा का केवल यही प्रकार, जो किसी विषय की गोचर क्षेत्र में उपस्थिति द्वारा निर्धारित होता है, साधारण मनुष्यों को उपलब्ध होता है।[4]

---

[1] 'मन-आयतन', आयतन संख्या ६, तुकी० सेक० पृ० ८।

[2] 'मनसि-कार'। 'योनिशो-मनसि-कार', तुकी० भाग २, परिशिष्ट ३ पृ० ३२८, पृ० ३।

[3] तुकी० भाग २, परिशिष्ट ३।

[4] योगी तथा बुद्ध समस्त वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करते हैं। इनके लिये केवल एक ही प्रमाण होता है। दृष्टिमार्ग की प्राप्ति के द्वारा मनुष्य आर्यत्व प्राप्त कर लेता है जो पुद्गल का एक भिन्न प्रकार है। (तुकी० तम० और तमप० पृ० ९०१-९०२, पृ० ३९६, १-२)। सर्वास्तिवादी यह मानते थे कि योगियों की सर्वज्ञता अतिमानवीय चतुर अनुमानों द्वारा अग्रसर होती है, क्योंकि साक्षात् इन्द्रिय-प्रत्यक्ष केवल वर्तमान क्षण के लिये ही व्यवहृत होता है। किन्तु सौत्रान्तिक सम्प्रदाय ने इस पर आपत्ति करते हुए यह माना है कि

यदि हम ऐसी यथार्थ बौद्धिक प्रज्ञा से युक्त हो जो तत्काल गत ऐन्द्रिक प्रज्ञा द्वारा सीमित न हो, तो हम सर्वज्ञ हो जाँयगे, हम वह नही रह जाँयगे जो हम हैं, हम मानव न रहकर अति-मानव हो जायेंगे।

एक ऐसी बौद्धिक (मानस) प्रज्ञा के क्षण के अस्तित्व के सिद्धान्त का, जो स्मृति-चित्रो का अनुगमन करती है, सर्वप्रथम उन यथार्थवादियो के सिद्धान्त का विरोध करते हूये सकेत किया गया था जो मन की एक स्नायुविक प्रवाह के रूप मे कल्पना करते थे और यह एक ऐसा धावमान परमाणु था जो बाह्येन्द्रियो तथा आत्मा के बीच ज्ञान के विषय का सम्बन्ध स्थापित करता था। उक्त बौद्धिक प्रज्ञा के क्षण के अस्तित्व के सिद्धान्त का, तदनन्तर, धर्मकीर्ति ने विकास किया और धर्मोत्तर के हाथो इसे अन्तिम पूर्णता प्राप्त हुई। धर्मकीर्ति के अनुसार शुद्ध विज्ञान, यद्यपि यह समस्त आनुभविक ज्ञान की एक अनिवार्य अवस्था है, एक व्यक्त यथार्थ है। इसके अस्तित्व की, जैसा कि हम देख चुके हैं,स्वसवेदना के एक प्रयोग[1] द्वारा स्थापना की गयी थी। परन्तु बौद्धिक प्रज्ञा का क्षण अत्यन्त परोक्ष[2] होता है। इसमे कोई साधक तथ्य[3] नही होता और आनुभविक दृष्टि से इसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिये कोई सम्भव प्रयोग भी नही है। धर्मोत्तर के अनुसार यह प्रज्ञा की विकल्पात्मक प्रक्रिया का प्रथम क्षण मात्र होता है। यह एक भिन्न क्षण होता है, क्योकि इसका कार्य भिन्न होता है। शुद्ध विज्ञान का कार्य, जैसा कि हम देख चुके हैं, विषय की गोचर-क्षेत्र मे उपस्थिति का सकेत करना होता है, और बौद्धिक प्रज्ञा का कार्य "स्वय अपने विषय के आकार के आवाहन" मे निहित होता है।

बौद्धिक विज्ञान एक मध्यवर्ती शब्द है जिसे ज्ञान के लिये विज्ञान और विकल्प को सम्बद्ध करने वाला माना गया है। किन्तु यथार्थवादी यह आपत्ति करता है कि दो इतनी सर्वथा विषमजातीय वस्तुओ को, अर्थात् ग्राह्यता के एक क्षण को एक स्पष्ट आकार के साथ सम्बद्ध करना असम्भव है। उसका

योगि ऐसी मानस अन्त प्रज्ञा से युक्त होते है जो अनुमान द्वारा नही बल्कि साक्षात् रूप से वस्तुस्वलक्षण का ज्ञान प्राप्त करती है। न्यावि० पृ० ११ १७ और बाद।

[1] तुकी० ऊपर पृ० १७७।

[2] तुकी० भाग २, पृ० ३३३, नोट ३।

[3] न्याविटी० पृ ११ १ 'न त्व् अस्य प्रसाधकम् अस्ति प्रमाणम्'।

कथन है कि यदि इस प्रकार की दो वस्तुओ को किसी मध्यवर्ती द्वारा समान बनाया जा सकता है तब "एक रासभ के माध्यम से एक मक्षिका को एक गज के समान बनाया जा सकता है।"[१]

इस प्रकार, बौद्धिक प्रज्ञा के क्षण के इस सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्तियाँ सर्वप्रथम उन यथार्थवादियो की ओर से प्रस्तुत की गई जो विज्ञान तथा प्रज्ञा के बीच प्रखर विभेद को तथा क्षणिक सत्ता के सिद्धान्त को अस्वीकार करते थे। वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि 'इन्द्रियाँ पृथक् क्षणो को प्रतिभासित नही करती। अत बुद्धि के लिये उस क्षण को ग्रहण करना सम्भव नही है जो उस क्षण का अनुगमन करता है जिसने सरल प्रतिभास उत्पन्न किया है। किन्तु, इसके विपरीत, बुद्धि उसी विषय का ग्रहण करती है जिसका इन्द्रियो ने ग्रहण किया है।"[२]

स्वय बौद्ध नैयायिको मे भी इस सिद्धान्त ने अनेक व्याख्यायें उत्पन्न की है। धर्मोत्तर द्वारा प्रतिपादित विज्ञान और प्रज्ञा के बीच सुदृढ और निश्चित पृथक्त्व के विरोध का आरम्भ उस माध्यमिक-योगाचार सम्प्रदाय मे हुआ प्रतीत होता है जो अशत एक यथार्थवादी तर्कशास्त्र की ओर आकृष्ट था और अशत इस पूर्वाग्रह से प्रभावित कि फल को हेतु के समान ही होना चाहिये। जम्यन्-ज्हद्प इस तथ्य को प्रमाणित[३] करते है कि अत्यन्त सापेक्षतावादी माध्यमिक-प्रसङ्गिक सम्प्रदाय ने इन्द्रियो और प्रज्ञा द्वारा एक साथ ही और एक ही समय ज्ञान प्राप्त करने की सम्भावना के विरुद्ध आपत्ति नही की थी। टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त भी इसी मत से सहमत है।[४] किन्तु ज्ञानगर्भ तथा अन्य यह मानते[५] हैं कि बौद्धिक प्रज्ञा के क्षण के सिद्धान्त का निर्माण इस लिये किया गया था कि शुद्ध विज्ञान और तदनुरूप सकल्प के बीच भी किसी को रक्खा जा सके। अन्यथा एक शुद्ध विज्ञान का एक ऐसे सकल्प के अन्तर्गत किस प्रकार बोध हो सकता है जिसके साथ इसका कोई सम्बन्ध नही है और जिससे यह सर्वथा असमान है? अत एक ऐसी तीसरी वस्तु को

---

[१] ताटी० पृ० ३४१ २५ 'हस्ति-मशकाव् अपि रासभ सारूपयेत्', तुकी० अनुवाद, भाग २, पृ० ४२३।

[२] तुकी० भाग २, पृ० ३२१, न्याकणि० पृ० १२२।

[३] तुकी० भाग २, पृ० ३२७।

[४] वही, पृ० ३१५ और बाद।

[५] वही।

बाह्य स्रोत के रूप मे द्विविध बना देती है। इस सवेदना का विषय तथा विषयी के रूप मे विभेद हो जाता है। यह वास्तविक सवेदना तथा उसके बाह्य हेतु मे विभक्त हो जाती है। यह प्रथम मानस सरचना एक प्रकार की 'अनुभवातीत सप्रत्यक्ष', एक ऐसी विशिष्टता है जिसके कारण प्रत्येक अगला प्रत्यक्ष आत्मा की चेतना से सयुक्त हो जाता है। प्रारम्भिक योगाचारियो के मत से यह ग्राह्य-ग्राहक-कल्पना है। जैसा कि हम देख चुके हैं[1], नैयायिको के मत से यह अभी एक ज्ञानानुभव[2] है। इसके बाद मनोजल्प आरम्भ हो जाता है। सवेदना या तो सुखद अथवा दु खद होती है, और यह चेतना को उत्पन्न करती है। बाह्य विषय या तो वाञ्छनीय अथवा अवाञ्छनीय बन जाता है। तब मन समझने लगता है, अर्थात् प्रज्ञा का कार्य आरम्भ हो जाता है और यह उस पञ्चविध-कल्पना के अनुसार विषय का निर्माण करती हैं जो इसकी अपनी विधि है। तब यह मनोजल्प की विधि का त्याग कर देती है और मुखर होकर कहती है कि 'यह' अर्थात् यह सत् 'नीला' (एक गुण) है , 'यह एक गाय (एक जाति) है'।

पदार्थों की दिङ्नाग की तालिका का आगे अध्ययन किया जायगा। यहाँ हम इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते है कि, मन की सहज चेतना का यहाँ, जैसा कि कुछ योरोपीय दर्शनिक भी वर्णन करते है, प्रज्ञा से सयुक्त चेतना विशेष[3] के रूप मे वर्णन किया गया है। किन्तु चेतना तथा प्रज्ञा की द्विविध प्रक्रिया से युक्त होने पर भी अपने जागृत होने के स्तर पर चेतना, साथ ही साथ, वितर्क[4] और विचार[5] की द्विविध प्रक्रिया से भी युक्त होती है।

वसुबन्धु के अनुसार यह द्विविध प्रक्रिया उपचेतन, तथा साथ ही साथ, पूर्ण चेतन ज्ञान की अवस्था मे उपस्थित रहती है। किसी भी सकल्प के निर्माण के पूर्व ऐन्द्रिक प्रज्ञा की विविधता के बीच से मन की कुछ गतिशीलता[6]

---

[1] तुकी० ऊपर पृ० १९३।

[2] तुकी० न्याविटी० पृ० ११ १४।

[3] 'चेतना-प्रज्ञा-विशेष'।

[4] अन्वेषको मनो-जल्प =वितर्क।

[5] प्रत्यवेक्षको मनो-जल्प =विचार।

[6] 'ध्यान' (=निर्वितर्क-निर्विचार-प्रज्ञा) मे यह पुन अनुपस्थित रहती है।

अवश्य होती रहती है। वोध का सश्लेपण किसी सकल्प मे प्रत्यभिज्ञा के पूर्व आता है।

ये दो प्रक्रियायें उपचेतन मे पहले से उपस्थित होती हैं। चेतना के सीमान्त[1] के नीचे ये इच्छाशक्ति की मनोजन्य होती है। चेतना के सीमान्त[2] के ऊपर आने पर ये ज्ञान बन जाती है। यशोमित्र[3] वोध के सश्लेपण और किसी सकल्प मे प्रत्यभिज्ञा की द्विविध प्रक्रियाओ की इस उदाहरण द्वारा व्याख्या करते हैं जब एक कुम्हार घटो की एक शृङ्खला का निर्माण कर लेता है तब वह उनके गुणो का उनको ठोकने से उत्पन्न ध्वनि के स्वर के आधार पर परीक्षण करता है। वह घटो की शृखला को देखते हुए प्रत्यक को हल्के-हल्के ठोकता है और इस प्रकार जब वह किसी दूपित घट को पाता है तब कहता है कि "वह यह है"। घटो का यह परीक्षण ग्राह्यता की विविधता के बीच मे होकर चलते हुई मानसिक प्रक्रिया के समान है। दूपित घट की खोज भी किसी सकल्प के निर्माण के पूर्व मन के स्थिरीकरण के समान है। प्रथम प्रक्रिया को कभी-कभी मन की 'औदारिकता' तथा द्वितीय को उसकी 'सूक्ष्मता'[4] कहा गया। इस प्रकार वोध का सश्लेपण किसी सकल्प मे विपय की प्रत्यभिज्ञा के पूर्व आता है।

§ ३. निश्चय क्या है

हमारे ज्ञान के दो प्रमाणो मे से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की ऊपर प्रत्यक्ष के ऐन्द्रिक अश के रूप मे परिभाषा की गई है। यह प्रत्यक्ष का वह अश होता है है जो विकल्प तथा कल्पना के प्रत्येक अश को निकाल देने पर अवशिष्ट रहता है। किन्तु यह ज्ञान का केवल एक अतीन्द्रिय प्रमाण ही है।[5] आनुभविक प्रत्यक्ष ज्ञान की वह क्रिया है जो किसी विपय के गोचर-क्षेत्र मे उपस्थित होने की

---

[1] अनत्यूह–अवस्थायाम् चेतना, ऊह=निर्विकल्पक।

[2] अत्यूह–अवस्थायाम् प्रज्ञा, अत्यूह = Uber der Schwelle des Bewusstseins

[3] अभिभा० २ ३३।

[4] आयुर्वेदीय सम्प्रदायो ने उपचेतन मन के विश्लेपण को और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। देखिये चरक० ४ १ १८ और वाद।

[5] अतीन्द्रियम् निर्विकल्पकम्।

भी होना चाहिये जिसकी एक ओर तो शुद्ध विज्ञान के साथ सजातीयता हो तथा दूसरी ओर बौद्धिक सकल्प के साथ, और जो इस वाद वाले का प्रथम के लिये व्यवहृत होना असम्भव बना सके। यही तीसरी वस्तु बौद्धिक प्रज्ञा है। यह एक शुद्ध प्रज्ञा है और यह विशिष्टता इसे शुद्ध विज्ञान का सजातीय बनाती है। दूसरी ओर यह एक बौद्धिक प्रज्ञा है, और यह विशिष्टता इसे बौद्धिक सकल्प का सजातीय बना देती है।[1] विज्ञान से सकल्प तक का सक्रमण इस प्रकार सुलभ हो जाता है और सजातीय हेतुत्व के सिद्धान्त की भी रक्षा हो जाती है।

फिर भी, धर्मोत्तर इस व्याख्या को अस्वीकार कर देते हैं।[2] क्रियात्मक अन्योन्याश्रयत्व के रूप मे हेतुत्व का सर्वथा विषमजातीय तथ्यो के बीच ही अस्तित्व हो सकता है। विज्ञान किसी आकार को साक्षात् और बिना किसी मध्यवर्ती प्रक्रिया के ही प्रकट कर सकता है। बुद्धि तब क्रियाशील होती है जब इन्द्रियो की क्रिया समाप्त हो जाती है। यदि स्थिति ऐसी न होती तो विज्ञान तथा सकल्प के बीच कोई प्रखर विभेद न होता। तब इनमे केवल मात्रा-भेद ही होता और विज्ञान एक अस्फुट या अस्तव्यस्त सकल्प होता। दूसरे शब्दो मे कोई शुद्ध विज्ञान होता ही नही।[3]

दो शुद्ध प्रज्ञाओ, एक ऐन्द्रिक और दूसरी बौद्धिक, की एक साथ सत्ता मानना निरर्थक है। किन्तु क्रियात्मक अन्योन्याश्रयत्व के सिद्धान्त के अन्तर्गत बौद्धिक प्रज्ञा का ठीक उसी क्षण उदय होता है जब अपने कार्य को पूण करके बाह्य विज्ञान विलीन हो जाता है।[4] ग्राह्यता तथा प्रज्ञा के बीच सुदृढ और निश्चित रेखा की केवल इसी मान्यता के द्वारा रक्षा की जा सकती है कि जब इसमे से एक अपना कार्य समाप्त कर देती है तभी दूसरा अपना कार्य प्रारम्भ करती है।

बौद्धिक प्रज्ञा का क्षण अनुभवगम्य नहीं है क्योकि यह एक क्षण है। मात्र एक क्षण सदैव अनुभवातीत होता है। इसे किसी आकार द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता। यह अनभिलाप्य होता है। फिर भी, इसकी मान्यता का आग्रह

---

[1] वही, पृ० ३१४।

[2] वही, पृष्ट ३१६ और बाद।

[3] तुकी० न्याविटी० पृ० १०२२ 'इतरथा चक्षुर्-आश्रितात्व अनुपपत्ति कस्यचिद् अपि विज्ञानस्य।'

[4] 'उपरत-व्यापारे चक्षुपि,' न्याविटी० पृ० १० २१।

वह सम्पूर्ण प्रणाली करती है जो ज्ञान के दो प्रमाणों के बीच एक मौलिक विभेद पर निर्मित है[1]।

§ २. प्रज्ञा के प्रथम सोपान

प्रज्ञा को प्रत्यक्ष का सक्रिय और सहज भाग कहा गया है। इसका कार्य मात्र-ग्राहक ऐन्द्रिकता के माध्यम से अपने समक्ष प्रस्तुत मात्र-विशुद्ध सत् से आनुभविक जगत् की विविधता का निर्माण करना है। यह इस सामग्री को आकार प्रदान करती है। परमार्थ-सत् अर्थात् वस्तु-स्वलक्षण को एक बाह्य क्षण कहा गया है। परन्तु विशुद्ध अर्थों मे इतना भी नही कहा जा सकता, क्योंकि प्रथम क्षण मे यह एक ऐसी सरल संवेदना मात्र है जो आन्तरिक होती है, और इससे अधिक कुछ नही। परन्तु ज्योंही प्रज्ञा जागृत हो जाती है, त्योंही वह इस मात्र-संवेदना को एक आन्तरिक तथा उसके

---

[1] काण्ट भी एक ऐसी तीसरी वस्तु को प्राप्त करने की समस्या से चिन्तित थे जो "एक ओर तो पदार्थ के साथ समजातीय हो और दूसरी ओर घटना के साथ।" इस मध्यवर्ती वस्तु को "एक ओर तो बुद्धिगम्य होना चाहिये और दूसरी ओर इन्द्रियगम्य।" इस सीमा तक तो समस्या मे समानता है। किन्तु काण्ट के लिये जिस गर्त को पूर्ण करना था वह आनुभविक धारणा अथवा चित्र और तत्सम्बन्धी अनुभवनिरपेक्ष धारणा के बीच स्थित था। ई० केयड (दि क्रिटि० फिला० आफ इ० काण्ट, भाग १, पृ० ४२३, द्वितीय संस्करण) काण्ट के समाकृतिवाद के सिद्धान्त को एक ऐसी समालोचना मे सम्बोधित करते हैं जो यथापरिवर्तित रूप मे धर्मोत्तर के दृष्टिकोण के लिये भी व्यवहृत हो सकती है। "इनका कथन है कि विचार को विशुद्धत सामान्य, तथा प्रत्यक्ष को विशुद्धता विशेष के रूप में ग्रहण करने पर मध्यवर्ती पद असम्भव हो जाता है। किन्तु यदि प्रत्यक्ष को वैयक्तिक वस्तुओं के (आनुभविक) बोध के अर्थ मे ग्रहण किया जाय तो मध्यपद आवश्यक होगा, क्योंकि इस प्रकार के प्रत्यक्ष में व्यक्ति पहले से ही एक वैयक्तीकृत सामान्य है।" धर्मोत्तर न सम्भवत यह उत्तर दिया होता कि समीक्षात्मक दर्शन ग्राह्यता और प्रज्ञा के बीच प्रकार-भेद के सिद्धान्त का परित्याग नहीं कर सकता, क्योंकि इसके परित्याग का अर्थ या तो नैयायिकों के सरल यथार्थवाद पर लौटना अथवा माध्यमिकों के सर्वथा सशवाद में अपने को खो देना होगा।

बाह्य स्रोत के रूप मे द्विविध बना देती है। इस सवेदना का विषय तथा विषयी के रूप मे विभेद हो जाता है। यह वास्तविक सवेदना तथा उसके बाह्य हेतु मे विभक्त हो जाती है। यह प्रथम मानस सरचना एक प्रकार की 'अनुभवातीन सप्रत्यक्ष', एक ऐसी विशिष्टता है जिसके कारण प्रत्येक अगला प्रत्यक्ष आत्मा की चेतना से सयुक्त हो जाता है। प्रारम्भिक योगाचारियो के मत से यह ग्राह्य-ग्राहक-कल्पना है। जैसा कि हम देख चुके हैं[1], नैयायिको के मत से यह अभी एक ज्ञानानुभव[2] है। इसके बाद मनोजल्प आरम्भ हो जाता है। सवेदना या तो सुखद अथवा दु खद होती है, और यह चेतना को उत्पन्न करती है। बाह्य विषय या तो वाञ्छनीय अथवा अवाञ्छनीय बन जाता है। तब मन समझने लगता है, अर्थात् प्रज्ञा का कार्य आरम्भ हो जाता है और यह उस पञ्चविध-कल्पना के अनुमार विषय का निर्माण करती हैं जो इसकी अपनी विधि है। तब यह मनोजल्प की विधि का त्याग कर देती है और मुखर होकर कहती है कि 'यह' अर्थात् यह सत् 'नीला' (एक गुण) है , 'यह एक गाय (एक जाति) है'।

पदार्थों की दिङ्नाग की तालिका का आगे अध्ययन किया जायगा। यहाँ हम इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते है कि, मन की सहज चेतना का यहाँ, जैसा कि कुछ योरोपीय दर्शनिक भी वर्णन करते हैं, प्रज्ञा से सयुक्त चेतना विशेष[3] के रूप मे वर्णन किया गया है। किन्तु चेतना तथा प्रज्ञा की द्विविध प्रक्रिया से युक्त होने पर भी अपने जागृत होने के स्तर पर चेतना, साथ ही साथ, वितर्क[4] और विचार[5] की द्विविध प्रक्रिया से भी युक्त होती है।

वसुबन्धु के अनुसार यह द्विविध प्रक्रिया उपचेतन, तथा साथ ही साथ, पूर्ण चेतन ज्ञान की अवस्था मे उपस्थित रहती है। किसी भी सकल्प के निर्माण के पूर्व ऐन्द्रिक प्रज्ञा की विविधता के बीच से मन की कुछ गतिशीलता[6]

---

[1] तुकी० ऊपर पृ० १९३।

[2] तुकी० न्याबिटी० पृ० ११ १४।

[3] 'चेतना-प्रज्ञा-विशेष'।

[4] अन्वेषको मनो-जल्प =वितर्क।

[5] प्रत्यवेक्षको मनो-जल्प =विचार।

[6] 'ध्यान' (=निर्वितर्क-निर्विचार-प्रज्ञा) में यह पुन अनुपस्थित रहती है।

अवश्य होती रहती है। बोध का सश्लेपण किसी सकल्प मे प्रत्यभिज्ञा के पूर्व आता है।

ये दो प्रक्रियायें उपचेतन मे पहले से उपस्थित होती है। चेतना के सीमान्त[1] के नीचे ये इच्छाशक्ति की मनोजन्य होती है। चेतना के सीमान्त[2] के ऊपर आने पर ये ज्ञान बन जाती है। यशोमित्र[3] बोध के सश्लेपण और किसी सकल्प मे प्रत्यभिज्ञा की द्विविध प्रक्रियाओ की इस उदाहरण द्वारा व्याख्या करते हैं जब एक कुम्हार घटो की एक शृङ्खला का निर्माण कर लेता है तब वह उनके गुणो का उनको ठोकने से उत्पन्न ध्वनि के स्वर के आधार पर परीक्षण करता है। वह घटो की शृखला को देखते हुए प्रत्येक को हल्के-हल्के ठोकता है और इस प्रकार जब वह किसी दूषित घट को पाता है तब कहता है कि "वह यह है"। घटो का यह परीक्षण ग्राह्यता की विविधता के बीच मे होकर चलते हुई मानसिक प्रक्रिया के समान है। दूषित घट की खोज भी किसी सकल्प के निर्माण के पूर्व मन के स्थिरीकरण के समान है। प्रथम प्रक्रिया को कभी-कभी मन की 'औदारिकता' तथा द्वितीय को उसकी 'सूक्ष्मता'[4] कहा गया। इस प्रकार बोध का सश्लेपण किसी सकल्प मे विषय की प्रत्यभिज्ञा के पूर्व आता है।

§ ३ निश्चय क्या है

हमारे ज्ञान के दो प्रमाणो मे से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की ऊपर प्रत्यक्ष के ऐन्द्रिक अश के रूप मे परिभाषा की गई है। यह प्रत्यक्ष का वह अश होता है है जो विकल्प तथा कल्पना के प्रत्येक अश को निकाल देने पर अवशिष्ट रहता है। किन्तु यह ज्ञान का केवल एक अतीन्द्रिय प्रमाण ही है।[5] आनुभविक प्रत्यक्ष ज्ञान की वह क्रिया है जो किसी विषय के गोचर-क्षेत्र मे उपस्थित होने की

---

[1] अनत्यूह—अवस्थायाम् चेतना, ऊह=निर्विकल्पक।

[2] अत्यूह—अवस्थायाम् प्रज्ञा, अत्यूह = Uber der Schwelle des Bewusstseins

[3] अभिभा० २ ३३।

[4] आयुर्वेदीय सम्प्रदायो ने उपचेतन मन के विश्लेपण को और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। देखिये चरक० ४ १ १८ और बाद।

[5] अतीन्द्रियम् निर्विकल्पकम्।

सूचना देती है,[१] और इसके बाद उस विषय के आकार के निर्माण कीक्रिया[२] और आकार का सवेदना के साथ एकत्व-अध्यवसाय अनुगमन करता है। किसी भी प्रत्याक्षात्मक निश्चय मे इस प्रकार का एकत्व-अध्यवसाय इस रूप मे होता है कि 'यह एक गाय है,' जहाँ 'यह' तत्त्व उस ऐन्द्रिक अश को व्यक्त करता है जो स्वय अपने मे *अवोधगम्य है* और *'गाय'* तत्त्व *ऐसे समान्य सकल्प* का जिगे एक वाचक नाम द्वारा व्यक्त तथा आरोपण की क्रिया द्वारा तदनुरूप सवेदना के साथ समीकृत किया गया है। ज्ञान के किसी अतीन्द्रिय प्रमाण को स्वीकार न करनेवाले यथार्थवादियो के अनुसार यह निश्चय प्रत्येक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मे सम्मिलित होता है—यह अध्यवसायात्मक प्रत्यक्ष होता है और एक सवेदना भी होता है।[3] किन्तु बौद्धो के अनुसार इसे प्रत्यक्ष से वाह्य माना गया है यद्यपि यह उसका अनुगमन करता है। केवल इन्द्रियाँ-मात्र अकेले कभी भी किसी निश्चय पर नही पहुँच सकती।[४]

प्रत्यक्ष का यह निश्चय प्रज्ञा का एक आधारभूत कार्य है। प्रज्ञा की समस्त प्रक्रियाओ को निश्चयो पर घटाया जा सकता है। प्रज्ञा की, निश्चय करने के सामर्थ्य के रूप मे, परिभाषा की जा सकती है, किन्तु इसकी आधार-भूत क्रिया वह है जिसे शुद्ध इन्द्रिय प्रत्यक्ष[५] की अभावात्मक परिभाषा मे सम्मिलित किया गया है। प्रज्ञा एक अ-सवेदना है, एक कल्पना[६] है, इस प्रकार का प्रत्यक्षात्मक निश्चय है कि 'यह एक गाय है।' यत 'यह'[७] तत्त्व को, अर्थात् ऐन्द्रिक तत्त्व को, ऊपर अवोधनीय वस्तुस्वलक्षणत्व का द्योतक कहा गया है, अत इस प्रकार के निश्चय को इस सूत्र से व्यक्त किया जा सकता है कि क = अ। इस प्रकार निश्चय एक ऐसा मानसिक कार्य है जो ज्ञान के लिये

---

[१] साक्षात्-कारित्व-व्यापार।

[२] विकल्पेन अनुगम्यते। इसीलिए तसप० ३९९.१६ मे 'साकारम् एव प्रमाणम्', तथा वही ३९० १४ मे 'सवादित्वेऽपि न प्रमाण्यम्' जैसे विरोधी प्रतीत होनेवाले वक्तव्य मिलते हैं।

[3] अध्यवसायात्मकम् प्रत्यक्षम्=सविकल्पकम्।

[४] 'येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो विज्ञानम् उत्पद्यते न तद्-वशात् तज्-ज्ञानम् ... शक्यते अवस्थापयितुम (=अवसातुम्)', न्याबिटी० पृ० १५.१७।

[५] कल्पनापोढ।

[६] कल्पना = अध्यवसाय।

[७] 'इदता'।

संवेदना को संकल्प के साथ संयुक्त करता है। क्योंकि न तो शुद्ध संवेदना के रूप में अकेले संवेदना ही कोई ज्ञान उत्पन्न करती है, और न तो शुद्ध कल्पना के रूप में अकेले संकल्प ही किसी यथार्थ ज्ञान से युक्त होता है। प्रत्यक्ष के निश्चय में इन दोनों का केवल एकत्व ही यथार्थ ज्ञान होता है। हम देख चुके हैं कि संवेदना ज्ञान को वास्तवत्व, स्फुटाभत्व, और विधि-स्वरूपत्व प्रदान करती है। दूसरी ओर, संकल्प अथवा विकल्पात्मक आकार ज्ञान को उसका सामान्य-लक्षणत्व,[1] संवादित्व, निश्चय, तथा नियत-आकारत्व प्रदान करता है।

उस संस्कृत शब्द का जिसका हम इस प्रकार निश्चय के रूप में अनुवाद करते हैं, सामान्य व्यवहार में 'अध्यवसाय' अर्थ है। यह एक निश्चय, एक निर्णय, एक संकल्पात्मक क्रिया मात्र है और इसका तिब्बती भाषा में 'ज्हेन-प' (= संकल्प) अनुवाद किया गया है। अधिक विशेषत यह दो वस्तुओं का एकत्वाध्यवसाय होता है। इसका पारिभाषिक शब्द के रूप में एक अन्य अत्यन्त विकसित भारतीय शास्त्र, अलङ्कारशास्त्र[2], में भी प्रयोग हुआ है। अल-ङ्कारों को सरल तुलनाओं और समीकरणों में विभक्त किया गया है। समीकरण का अर्थ यहाँ दो ऐसी वस्तुओं की समता का कथन है जो किसी भी प्रकार समान नहीं हैं—जैसे कामिनी का मुख और चन्द्रमा। इसी प्रकार यहाँ (बौद्ध-न्याय में) प्रत्यक्षात्मक निश्चय को भी दो अत्यन्त विलक्षण वस्तुओं का सालक्षण्य कहा गया है।[3] यह निश्चय उस सीमा तक एकत्वाध्यवसाय होता है जहाँ तक यह दो ऐसे अंशों को एक साथ ला देता है जो सर्वथा असमान हैं। सत् का क्षण इस प्रकार के निश्चय में तदनुरूप क्षणों की एक ऐहलौकिक शृङ्खला में एक स्थान प्राप्त करता है, अर्थात् यह एक वास्तविक काल में अवस्थित होकर स्थूल[4] विषय का एक अंग बन जाता है। सतत क्षणों के एक विशेष एकीकरण के कारण यह एक स्थूलत्व[5] प्राप्त कर लेता है, और पुन, इन

---

[1] सारूप्य।

[2] तुकी० अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ५६ और ६५।

[3] अत्यन्त-विलक्षणानाम् सालक्षण्यम् = सारूप्यम्।

[4] सन्तान।

[5] तुकी० प्रशस्त० और न्यायकण्ड० पृ० ६३ और बाद, जहाँ काल और दिक् को यथार्थताओं के रूप में व्यक्त किया गया है किन्तु इनके अंशों को कल्पना द्वारा रचित कहा गया है।

क्षणो के एक विशेष एकीकरण के कारण ही यह अपने समस्त ग्राह्य और अन्य गुणो को प्राप्त कर के एक सामान्य-लक्षण[१] बन जाता है।

§ ४. निश्चय और सकल्पो मे एकीकरण

ऊपर जिस एकीकरण का अध्ययन किया गया है, अर्थात् उस एकीकरण का जो किसी आकार को सवेदना के साथ सम्बद्ध करता है, उसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे एक अन्य एकत्व[२] भी होता है जो अलग-अलग विविध प्रभावो, सवेदनाओ और अनुभवो को एकीकृत आकार अथवा एक सामान्य सकल्प जैसे शीर्षक के अन्तर्गत ला देने की क्रिया मे निहित है। बाह्य जगत् की यथार्थता के सम्बन्ध मे विवेचन करते हुए एक बौद्ध यह प्रश्न करता है कि निश्चय क्या है ?'[३] दूसरे शब्दो मे वह सकल्पात्मक क्रिया क्या है जिसके द्वारा हम यह निर्णय करते हैं कि किसी आकार को बाह्य-यथार्थ के क्षण के साथ समीकृत करना चाहिये ? वह यह उत्तर देता है "निश्चय करने का अर्थ विकल्प है।"[४] अनुमान तथा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष दोनो मे निश्चय निहित होते हैं, किन्तु अनुमान साक्षात् सकल्पो से सबद्ध होता है, अर्थात् वह 'विकल्पात्मक होता है',[५] जब कि प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्षात्मक निश्चय एक परोक्ष सकल्प की क्रिया होती है क्योकि वह सवेदना ही है जो 'विकल्प' का प्रजनन करती है।[६] अब, यदि एक निश्चय, अर्थात् एक निर्णय होने के अतिरिक्त एक विकल्पात्मक क्रिया भी है, तब 'विकल्प' शब्द का वास्तव मे क्या अर्थ है ? उत्तर यह है कि विकल्प करने का अर्थ कल्पना करना अथवा किसी विषय की कल्पना मे रचना करना है। विकल्पजन्य विषय कल्पित विषय होता है। उत्पादक कल्पना का अर्थ विलक्षणता मे एकत्व उत्पन्न करना, काल, देश और अवस्था के अनेक प्रकारो मे एक कल्पित एकत्व उत्पन्न करना है।[७] इस एकत्व की अभिव्यक्ति इस रूप मे निश्चय

---

[१] सामान्य-लक्षण = एकत्व-अध्यवसाय।

[२] एकत्व-अध्यवासाय।

[३] न्याकणि० पृ० २५७।

[४] विकल्पो अध्यवसाय।

[५] अनुमानम् विकल्प-रूपत्वात् तद् विपयम्।

[६] प्रत्यक्षम् तु विकल्प-जननात्।

[७] 'स च विकल्पानाम् गोचरो यो विकल्प्यते, देश-काल-अवस्था-भेदेन एकत्वेन अनुसन्धीयते', तुकी० ताटी० पृ० ३३८ १५।

प्रकट करना है कि 'वह यह है'[1] जिसमे अ-एकीकृत तत्त्व 'इदता' को एकीकृत तत्त्व 'तत्ता' के साथ सयुक्त किया गया है।

फलस्वरूप एक ओर तो किसी प्रत्यक्षात्मक निश्चय तथा विकल्प मे, तथा दूसरी ओर विकल्प, कल्पना-चित्र, उत्पादक कल्पना, और एक सामान्य-धारणा मे कोई आधारभूत अन्तर नही है। विशेष विकल्पो, कल्पना-चित्रो, और धारणाओ का कोई अस्तित्व नही होता। ऐसे आकार होते हैं जिन्हे विशेष का द्योतक कहा गया है, और इन्हे लाक्षणिक दृष्टि से विशेष कहा जा सकता है किन्तु स्वयं अपने मे ये सदैव सामान्य होते हैं।

बोध करनेवाले व्यक्ति मे वास्तव मे एक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की और एक कल्पना की क्षमता होती है। इस विषय पर बौद्ध दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे वाचस्पतिमिश्र[2] यह वक्तव्य देते हैं "जब बोध करनेवाला व्यक्ति (ज्ञातृ) यह विचार करता है कि वह अपनी इन्द्रियो से एक ऐसे कल्पना-चित्र का प्रत्यक्ष कर रहा है जिसकी वास्तव मे स्वय उसी ने रचना की है, तब वह मानो अपनी कल्पनात्मक क्षमता को छिपा कर अपनी प्रत्यक्षात्मक क्षमता को सम्मुख रखता है। यह कल्पनात्मक क्षमता मन की अपनी विशिष्टता और सहजता है। इसका स्रोत एक ऐसी स्वाभाविक रचनात्मक क्षमता है जिसके द्वारा किसी विषय के सामान्य गुणो का बोध, अर्थात् उनकी रचना, की जाती है। कल्पनाचित्र को एक प्रतिभास द्वारा ग्रहण किया जाता है अत व्यक्ति स्वभावत यह विचार करता है कि वह चित्र या आकार का गोचर-क्षेत्र मे उपस्थित होने के रूप मे प्रत्यक्ष करता है, किन्तु वास्तव मे वह स्वय उसी की उत्पादक कल्पना (विकल्प) द्वारा रचित होता है।

§ ५ निश्चय और नामकरण

फिर भी, जब ज्ञान के इन दो प्रमाणो को निर्विकल्पक तथा विकल्पक कहा गया है तब मन की प्रत्येक प्रकार की विकल्पात्मक क्रिया पर विचार नही किया गया है। इस विभेदक तथा एकत्वात्मक क्रिया के कुछ आधारभूत प्रकारो को यहाँ छोड दिया गया है। ग्राह्य और ग्राहक[3] के रूप मे सवेदना के मौलिक विभेद का, विविध प्रकार के बोधो की अस्तव्यस्तता मे रूपरेखा

---

[1] 'तद् एव इदम्' इति, वही,

[2] ताटी० पृ० ८८८ (अनुवाद के लिये देखिये दूसरा भाग, परिशिष्ट १)।

[3] ग्राह्य-ग्राहक-कल्पना।

निर्माण के आरम्भिक स्तर का, इन वोधो पर वितर्क और जब तक नाम ग्रहण करके निश्चित आकार प्राप्त करने के लिये ये स्थिरीकृत नही हो जाते तव तक इन पर विचार का भी किसी तर्कशास्त्रीय प्रणाली के अन्तर्गत कोई महत्व नही है ।[१]

उस विकल्पात्मक क्रिया का जो किसी प्रत्यक्षात्मक निर्माण के समय साक्षात् सक्रिय होती है, स्पष्ट रूप से उसके लक्षण के द्वारा विभेद किया जा सकता है। यह लक्षण उसकी अभिलाप्यता की क्षमता मे निहित होता है। विकल्प अभिलाप्य होते है, ठीक वैसे ही जैसे सवेदनायें अनभिलाप्य होती हैं। मानसिक विकल्प, जिससे एक ऐसे मानसिक प्रतिभास का स्पष्ट प्रत्यक्ष अभिप्रेत है जो वाच्य उपाधि के साथ एकीभूत हो सकता है—धर्मकीर्ति[२] के अनुसार उस समय मन की इसी प्रकार की सहज क्रिया का तात्पर्य है जब सवेदना का विकल्प से विभेद किया गया है। इस प्रकार भारतीय 'विकल्प' न्यूनाधिक मात्रा मे योरोपीय के समान है क्योकि नाम के साथ इसके साहचय तथा इसकी सामान्यता को दोनो ही ओर इसकी प्रमुख विशिष्टता माना गया है। जिस प्रकार योरोपीय शास्त्र[३] नामो के निर्माण मे विकल्पो के, तथा इसके विपरीत विकल्पो के निर्माण मे नामो के परस्पर प्रभाव की स्थापना करता है, ठीक उसी प्रकार दिङ्नाग के कथनानुसार 'नामो के स्रोत नाम हैं।"[४]

विशुद्ध सवेदना तथा तदनुरूप वस्तुस्वलक्षण को ऊपर अनभिलाप्य कहा गया है।[५] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विकल्प और निश्चय की उन तत्त्वो के रूप मे परिभाषा की जा सकती है जो अभिलाप्य हैं, जो नाम धारण करते हैं।

इस प्रकार विकल्प उस प्रत्येक विचार का वोध करता है जो अभिलाप्य है[६] तथा उस शुद्ध सवेदना या विज्ञान को वर्जित करता है जिसका विषय

---

[१] तुकी० तसप० पृ० ३६७ ८ और वाद ।

[२] 'अभिलापिनी प्रतीति कल्पना', तसप० पृ० ३६९ ९, ३७१.२१, तुकी० न्यावि० १.५ ।

[३] तुकी सिग्वर्ट लॉजिक, १, पृ० ५१ ।

[४] 'विकल्प-योनय शव्दा, विकल्पा शव्द-योनय

[५] तुकी० पृ० २१६ ।

[६] 'जात्यादि-योजना = कल्पना, को कुछ विपक्षियो ने स्वीकार किया है। दिङनाग का वास्तविक (स्व-प्रसिद्ध) मत 'अभिलापिनी प्रतीति कल्पना = नाम-

अनभिलाप्य है। इस प्रकार एक सामान्य प्रकार के निश्चय मे विधेय सदैव एक विकल्प होता है। एक विधेय एक विधेय ही है, यह, जैसा कि इसका नाम व्यक्त करता है, विधेय तथा अभिलाप्य है। इसका अ-विधेय अथवा विषय से विभेद किया गया है जो सदैव ही शुद्ध विषय तथा अनभिलाप्य होता है। यदि सभी विचार निश्चय मे परिणत हो जायँ और सभी निश्चय साक्षात् अथवा परोक्ष रूप से प्रत्यक्षात्मक निश्चय हो तो हमारे ज्ञान को एक अभिलाप्य धर्म का अनभिलाप्य के साथ एकत्व कहा अथवा किसी विकल्प को तत्सम्वन्धी शुद्ध विषय के सन्दर्भ मे ग्रहण किया जा सकता है। और जिस प्रकार स्वसवेदना के एक प्रयोग द्वारा धर्मकीर्ति ने शुद्ध विज्ञान की यथार्थता की स्थापना की है, ठीक उसी प्रकार विकल्पो का शब्दो के साथ सकीर्ण साहचर्य भी प्रत्यक्षत सिद्ध हो जाता है[1]। ऐसे अवसरो पर जब हम मुक्त रूप से कल्पनातरगो मे लिप्त होकर अपनी कल्पना को उन्मुक्त[2] कर देते है, जब हम शुद्ध कल्पना मे लिप्त होते है, तब हम यह देखते हैं कि हमारे कल्पना-चित्र तथा स्वप्न एक आन्तरिक सभाषण से युक्त रहते हैं। "कोई भी इस बात को अस्वीकार नही कर सकता कि कल्पना वाणी से अन्तर्मिश्रित होती है," ऐसा शान्तिरक्षित[3] का कथन है। शुद्ध कल्पना यथाथता से रहित कल्पना होती है, शुद्ध यथार्थता कल्पना से रहित यथार्थता है। एक निश्चय या ज्ञान यथाथता के एक विषयात्मक सन्दभ से युक्त कल्पना है, और यह सदैव ही कुछ ऐसा अभिलाप्य होता है जिसका किसी न किसी अनभिलाप्य से साहचर्यात्मक सम्बन्ध रहता है।

योजना कल्पना' है। फिर भी, न्यायमुख (तसप० पृ० ३७२ २२ और बाद, तुकी० टुची का अनुवाद, पृ० ५०, और प्रसमु० १२) में इन्होने अपने को इस प्रकार व्यक्त किया है जो दोनो ही मतो को सन्तुष्ट कर देता है। तुकी० तसप० पृ ३६८ २५ और बाद। शङ्करस्वामी तथा अन्य ने इसकी आलोचना की है (वही, पृ० ३६७ ४ और बाद)। किन्तु यदि हम दिड्नाग के स्थल की 'नाम्ना जाति-गुण-क्रिया-द्रव्य-कल्पना' के अथ में व्याख्या करें तो आलोचना का समाधान हो जायगा क्योकि 'कल्पना' तब सामान्य रूप से 'नाम कल्पना' होगी तथा अन्य चार कल्पनाये गौण प्रकार हो जायेगी। तुकी० वही, पृ० ३६९ २३ और बाद।

[1] 'प्रत्यक्षत' 'तुकी० तसप० पृ० ३६८ १।

[2] 'चिन्तोत्प्रेक्षादि-काले सा (कल्पना) शब्दानुविद्धा', तुकी० तस० पृ० ३६८ २-३।

[3] वही।

§ ६. पदार्थ

अत निश्चयो का वर्गीकरण, नामो का वर्गीकरण है। यत समस्त ज्ञान निश्चय मे परिणत होता है, और एक निश्चय अ-एकीकृत धर्म का एकीकृत के साथ, अनभिलाप्य धर्म का किसी नाम अथवा विधेय के साथ सयोग होता है, अत प्रश्न यह उठता है कि विधेयो अथवा नामो के चरम प्रकार या उनके पदाथ क्या है। यह नामकरण के योग्य समस्त वस्तुओ के पदार्थों का प्रश्न नही है क्योकि वास्तव मे एक ही परमार्थ वस्तु है और वह है वस्तुस्वलक्षण। इस परमार्थ-सत् का द्विधाकरण या वर्गीकरण नही किया जा सकता, क्योकि यह अनिवार्यत एक ही होता है, और इसका कोई नाम भी नही रक्खा जा सकता। यह अ-नाम, एक अ-विधेय, प्रत्येक प्रकार के विधेयो के लिये प्रत्येक निश्चय मे एक अनिवाय धर्मी होता है। फिर भी, इसके नाम अनेक हो सकते है क्योकि सभी नाम, साक्षात् या परोक्ष, इसके विभिन्न गुणो के नाम हैं। इस प्रकार, सर्वाधिक सामान्य सम्बन्ध, वह सम्बन्ध जिसकी निश्चय अथवा सामान्य रूप से ज्ञान के साथ निरन्तरता रहती है, प्रथम सार के गुणो के अन्य समस्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध के आशय मे, पदार्थ और गुण का सम्बन्ध है।

इस प्रकार, बौद्धो के पदार्थ यथार्थवादियों के पदार्थों से अत्यन्त भिन्न है। न्याय-वैशेषिक प्रणाली (अन्तत) पदार्थो की एक ऐसी तालिका की स्थापना करती है जिसमे सात पदार्थ है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। ये सात प्रकार की सत्तायें है जिन्हे 'पदार्थ' नाम से व्यक्त किया गया है। पदार्थों की इस तालिका के उत्तर मे तथा इनको स्थानान्तरित करते हुए दिङ्नाग ने यथार्थता की एक 'पञ्चविध-कल्पना की स्थापना की है जो नामो का एक वर्गीकरण (नाम-कल्पना[1]) ही है। यह इस प्रकार है—नाम, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। ये नामो, मात्र नाम-कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नही, ये वस्तुयें नही हैं[2]। इस तालिका का वास्तविक अर्थ व्यक्तिवाचक नाम, जातिवाचक नाम, गुणवाचक नाम अथवा विशेषण, कर्मवाचक नाम अथवा क्रियायें, और द्रव्यवाचक नाम अथवा सत्तावाचक नाम

---

[1] प्रममु० १-२ और वाद, तुकी० तसप० पृ० ३६९ २३ और वाद, तुकी० ताटी० पृ० ५२५ और वाद, तथा १०२ २ और वाद।

[2] स्वसिद्धैव केवला कल्पना (नाम-कल्पना)', तुकी० तसप० पृ० ३६९ २१।

है। ठीक एरिस्टॉटिल की ही भाँति, दिङ्नाग इनकी कोई परिभाषा न देकर केवल उदाहरणो मे इनकी व्याख्या करते है। इनका कथन इस प्रकार है[१] "किसी वस्तु की यदृच्छा किसी भी शब्द से, अर्थात् अविशिष्ट अर्थवाले शब्द से नाम-कल्पना की जा सकती है, जैसे, 'दिट्ठ', शब्द (एक निरर्थक ध्वनि)। जाति-नामो मे किसी जाति का, जैसे 'गाय'का नाम दिया गया है। गुणवाचक नामो मे ग्राह्य गुण, जैसे 'शुक्ल', नाम दिया है। क्रियाओ मे एक कर्म का, जैसे 'वह पकाता है', नाम दिया गया है। सत्तावाचक या द्रव्यो को एक अन्य द्रव्य से, जैसे 'दण्ड वाला', 'विषाण वाला' आदि से व्यक्त किया गया है।

इस तालिका पर इस टिप्पणी की आवश्यकता है इसका आधारभूत सिद्धान्त ज्ञान के अ-एकीकृत और एकीकृत सिद्धान्तो के रूप मे ज्ञान का विभाजन करना है। एकीकृत तत्त्व वही है जैसा सामान्य, विकल्पात्मक, विधेय अथवा नाम होता है। तदनन्तर नामो को पाँच प्रकारो मे विभक्त और इसमे प्रमुखत भारतीय व्याकरण के मान्य विभाजन का ही अनुसरण किया गया है। व्यक्तिवाचक नाम वास्तव मे व्यक्तियो के नाम नही हैं। विशुद्ध अर्थो मे ये सामान्य नाम भी है। कमलशील[२] का यह कथन है "यद्यपि 'दिट्ठ' आदि शब्दो को सामान्यतया विशेष नामो के रूप मे ग्रहण किया गया है, तथापि यत इनमे जन्म से मृत्यु तक की एक सतत सत्ता का तात्पर्य है अत इनमे एक वास्तविक व्यक्ति को व्यक्त करने की क्षमता नही है क्योकि व्यक्ति प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहता है और स्वय एक ऐसी यथार्थ वस्तु होता है जिसका अन्य किसी भी वस्तु से कोई साम्य नही होता। जिस वस्तु का ऐसे नामो से तात्पर्य है, और जिसे ये नाम व्यक्त करते है वह एक जाति भी होता है जो एक ऐसी वस्तु मे समवेत होता है जिसको काल की (व्यवधान की) स्थायी सीमा द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।" किन्तु यत इनमे कोई अभिधान[३] नही होता, अत विभाजन-प्रणाली के अन्तर्गत इन्हे एक पृथक् प्रकार के रूप मे सम्मिलित किया गया है। "गाय जैसे शब्दो के, जो साधारण जीवन मे जाति-नामो के रूप मे ज्ञात हैं, अतिरिक्त 'चित्राङ्गदा' जैसे नाम भी हैं जो व्यक्तिवाचक नामो के रूप मे ज्ञात है।"[४] अत, यत सभी लोग यह नही

---

[१] तसप० पृ० ३६९ २३ और बाद।

[२] तसप० पृ० ३७० १७ और बाद।

[३] वही, पृ० ३७० २७ 'त एव भेदा अविवक्षित-भेदा सामान्यम् इति'।

[४] वही, पृ० ३७० २ और बाद।

जानते कि सब नाम सामान्य होते हैं और व्यक्तिवाचक नाम भी इस नियम के अपवाद नही है, इसलिये इनका अन्य के साथ विभेद किया गया है।

फलस्वरूप पदार्थों को जैसा दिङ्नाग ने ग्रहण किया है, उसके अन्तर्गत सभी पदार्थ सम्मिलित हैं। हमे इनकी पञ्चविध कल्पना को, किसी वर्गीकरण मे केवल अन्तिम वर्गों की ही गणना करने की भारतीय विधि के अनुसार, नामो और अ-नामो के विभाजन के रूप मे, और फिर नामो के भी चार भिन्न प्रकार के नामो के रूप मे विभाजन के अर्थ मे ही ग्रहण करना चाहिये।

द्रव्यो के पदार्थ की 'दण्ड वाला', 'विषाणवाला' आदि उदाहरणो के द्वारा व्याख्या की गई है। हम इन्हे स्वाम्यार्थक विशेषण[1] कहेगे। ये वास्तव मे गौण द्रव्य हैं—ऐसे द्रव्य जो अन्य द्रव्यो को व्यक्त करते है। वस्तुओ के केवल प्रथम सार ही कभी भी विधेय नही वन सकते। अन्य सभी द्रव्य अन्य वस्तुओ के गुण बन सकते हैं। इस प्रकार ये अपने साररूप मे द्रव्य नही वल्कि गौण अथवा लाक्षणिक द्रव्य हैं। ये द्रव्य और गुण दोनो हो सकते हैं। इस प्रकार द्रव्य का अर्थ किसी गुण को धारण करने वाला है। सभी गुणो का परमार्थ तथा यथार्थ धारण करनेवाला केवल वस्तुस्वलक्षण ही होता है। सभी विकल्पक पदार्थों को उसके ही गुण होने के कारण, उसी समय लाक्षणिक दृष्टि से द्रव्य कह सकते हैं जब उन्हे अन्य द्रव्यो से युक्त व्यक्त किया जाता है।

वैशेषिको के पदार्थों की तुलना मे हम यह देखते हैं कि दिङ्नाग की सूची मे, इस मान्यता के साथ कि ये सत्तायें नही वल्कि नाम-कल्पना है, द्रव्य, गुण और कर्म के तीन पदार्थ ही मिलते हैं। एक पृथक् प्रकार के रूप से सामान्य पदाथ इस सूची से अदृष्य हो गया है क्योकि सभी पदार्थ सामान्य है। परमार्थ विशेषो के अर्थ मे विशेषो का पदार्थ भी अदृश्य हो गया है क्योकि यह एक अ-पदार्थ, प्रत्येक विषय के तल मे स्थित एक अनभिलाप्य धर्म है।[2] समवाय और अभाव भी दिङ्नाग की इस सूची मे नही मिलते। इन्हे अथवा इनके समकक्ष कार्यों को हम पदार्थो की एक अन्य तालिका मे देखेंगे जिसकी उत्पत्ति

---

[1] दण्डी, त्रिपाणी।

[2] जे० एस० (मिल लॉजिक, १७९) इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि "गुण और परिमाण के अन्तर्गत वर्गीकृत स्थूल पदार्थों के समस्त गुण उन सवेदनाओ पर आधारित हैं जिनको हम इन पदार्थो से ग्रहण करते हैं।।" इसका यह अर्थ होगा कि सभी वर्ग सवेदना के अतिरिक्त और कुछ नही जिसकी हमारी कल्पना नामकरण और निश्चय के कार्य को सम्पन्न करते समय भिन्न-भिन्न रूपो में व्याख्या करती है।

का स्रोत प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे नही वल्कि अनुमानात्मक निश्चय मे निहित है। इसका हम आगे स्वार्थानुमान के सिद्धान्त के अध्ययन के समय परीक्षण करेंगे।

§ ७. विभाग के रूप मे निश्चय

यह कुछ कौतूहलवर्धक ही है कि उसी सस्कृत शब्द का, जिसका सकल्प के अन्तर्गत एकीकरण (सश्लेषण) के रूप मे विवेचन किया गया है, सकल्प मे ही विभाग या द्वैवीकरण अर्थ भी है। यह वाणी का एक माध्यम है। इन दोनो ही अर्थों को परस्पर आवद्ध करनेवाला वन्धन सृजन के उस विचार मे निहित प्रतीत होता है जो उस धातु[1] का ही एक दूसरा अर्थ है जिससे ससार उत्पन्न हुआ है। सृजन का विचार स्वभावत मानसिक रचना, योजना, या कल्पना[2] के रूप मे विकसित हो गया। तव यह हेतुप्राधान्यवाद के विचार को व्यक्त करने के लिये अत्यन्त उपयुक्त हो गया, अर्थात् एक ऐसी चेतना के विचार को जो स्वय विषयो के आकार की रचना करके वाह्य जगत मे आरोपित कर देती है। तव यह कृत्रिमता, अयथार्थ, मिथ्या आरोपण और भ्रान्ति का द्योतक वन गया। दूसरी ओर, उसी धातु से व्युत्पन्न एक अन्य शब्द ने द्विविध रचना, द्वैवीकरण, सामान्य रूप से विचार की द्विवात्मक प्रवृत्ति और अन्तत विभाग[3] का अर्थ प्राप्त कर लिया। दोनो ही शब्द सकल्प के अर्थ मे एकीभूत हो गये जो विभेद मे एकत्व को व्यक्त करता है।[4] जव एकत्व को सम्मुख रक्खा जाता है तव यह एकीकरण होता है, जव इसके अलग विभागो पर ध्यान आकर्षित होता है तव यह विभाग या द्वैवीकरण होता है। एक कल्पित आकार को यथार्थ के एक क्षण के साथ सम्वद्ध करने के रूप मे निश्चय को ग्रहण करने पर हमे एकत्व का द्वैवीकरण या विभाग के रूप मे विभेदीकरण मिलता है, किन्तु जव हम निश्चय की गति को इसकी विपरीत दिशा मे देखते हैं, अर्थात् आकार से उस क्षण की दिशा में जिसके लिये यह आकार उद्दिष्ट होता है, तव हमे द्विविधता से एकत्व की ओर अग्रसर गति मिलती है। विकल्पात्मक विचार, कल्पना अथवा निश्चय—यहाँ तीनो शब्दो का अर्थ एक ही है—का प्रथम चरण विज्ञान के क्षण के मूल एकत्व का ग्राहक

[1] √क्लृप।

[2] कल्पना=योजना = एकीकरण = एकत्वाध्यवसाय।

[3] कल्पना=विकल्प=द्वैवीकरण=विभाग।

[4] 'त एव भेदा अविवक्षित-भेदा सामान्यम्,' तसप० पृ० ३७० २७।

और ग्राह्य[1] के रूप मे विभाजन है। परन्तु जब हमारे विज्ञान मे विचार के आरम्भ की बौद्धन्याय मे एक ऐसी निश्चयात्मक क्षमता के रूप मे व्याख्या की जाती थी जो परमार्थसत् के क्षण को रचित आकार के साथ एकीभूत करती थी अथवा एक ऐसे निश्चय के रूप में जिसका विषय सत् के तथा विधेय उस सत् के आकार के अनुरूप था, तब मन की इस प्रकार की विकल्पात्मक अथवा निश्चयात्मक प्रवृत्ति को मूल सत् के उतने ही स्वरूपो में प्रस्तुत किया जाता था जितने स्वरूपो में उसे देखा जाना सम्भव हो सकता था। बुद्धि वास्तव में एक ही सत् या यथार्थ को असख्य दृष्टिकोणो से देख सकती है। वह 'घट' कही जानेवाली वस्तु की स्थूल, ठोस, वस्तु, द्रव्य अमुक वर्ण और रूप से युक्त, इत्यादि के रूप में व्याख्या कर सकती है, जबकि इन समस्त कल्पनाओ का यथार्थ केन्द्र प्रापकता का एक क्षण मात्र है और वह सदैव एक ही रहता है। इसी प्रकार 'अग्नि' के लिये असख्य व्याख्याये और सिद्धान्त प्रस्तुत किये जा सकते हैं जब कि उसका परमार्थ सत् उष्णता के विज्ञान का एक क्षण ही होता है। इन दृष्टिकोणो को मात्र यथार्थ वस्तु के एक विन्दु से विभिन्न दिशाओ मे जाने वाली अनेक किरणो के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुस्वलक्षण तब हमारी कल्पना की एक सजीव क्रीडा बन जाता है। बौद्ध कहते हैं[2] "तब अविभाज्य वस्तुस्वलक्षण का अमुक-अमुक के रूप मे विकल्प या विभाजन कर लिया जाता है।" तब वह अपनी समस्त सामान्य और विशेष विशिष्टताओ को प्राप्त कर लेता है। यह विकल्प का क्षेत्र है जो एक भिन्न रूप से कल्पित होता है।"[3] तब, मानो इन विभिन्न किरणो का उनके केन्द्र के रूप मे एक ही वस्तु पर अभिसरण करा दिया जाता है। इस प्रकार निश्चय मे प्रज्ञा के कार्य को विभाजनात्मक-एकीकरण

---

[1]सामान्य रूप से विचार की द्विघात्मक गति के द्वैधीकरण के लिये तुकी० चन्द्रकीर्ति (मावृ० पृ० ३५०, १२ और वाद) के शब्द। माध्यमिको और योगाचारो के बीच अन्तर यह है कि योगाचारो के लिये यथार्थ का स्वयं अपना आधार होता है जिस पर हमारे मन की द्विघात्मक, कृत्रिम रचनाओ का निर्माण होना है, जब कि माध्यमिको के लिये केवल सापेक्षता होती है, मानव के विज्ञान मे कुछ भी सत् नही होता है।

[2] ताटी० पृ० ८९ १२—'एकम् अविभागम् स्वलक्षणम् तथा तथा विकल्पयन्ति।'

[3] ताटी० पृ० ३३८ १५ 'स च विकल्पानाम् गोचरो यो विकल्प्यते।'

कहते हुये उनकी किसी एक ही केन्द्र से विभिन्न किरणों के विक्षेपण और उसी केन्द्र पर सग्रहीत होने के साथ समानता स्थापित की जा सकती है।

§ ८. ग्राह्यात्मक वैधता के रूप मे निश्चय

जब इस प्रकार के प्रत्यक्षात्मक निश्चय को कि "यह एक गाय है" अत्यन्त विशेष वस्तु का एक सामान्य सकल्प के साथ एकीकरण करनेवाली मानसिक क्रिया, अथवा एक क्षणिक विज्ञान को एक नित्य सकल्प के अन्तर्गत ला देने वाली क्रिया कहा जाता है, तब बौद्ध नैयायिक इस बात को अस्वीकार नही करता कि इस प्रकार की परिभाषा विरोधत्व से युक्त होती है। यह परिभाषा "दो अत्यन्त विलक्षण वस्तुओं में सालक्षण्य की स्थापना करने मे" निहित है। जो कुछ सामान्य और आन्तरिक है उसको उसके साथ समन्वित नही किया जा सकता जो बाह्य और एक है। यह भी इस बात के कारणो में से एक है जिसके आधार पर यथार्थवादी सम्प्रदाय आकारो की सत्ता को अस्वीकृत करते थे। इन लोगो ने आकार को बाह्य जगत् में स्थानान्तरित करके उसे यथार्थ बना दिया। इन लोगो ने एक आन्तरिक आकार के एक बाह्य वस्तु के साथ एकीकरण के असंवादित्व की अपेक्षा इस सकल्पात्मक यथार्थता को ग्रहण करना अधिक उचित माना। इन लोगो ने उन यथार्थवादियो का विरोध किया जो दोनो, आकार तथा उसके बाह्य रूप, की यथार्थता को मानते थे। इन लोगों ने यह उत्तर दिया कि इस दशा मे हमे इस निश्चय मे कि "यह एक नील पट है" दो पटो का बोध करना होगा—हमे एक ही साथ दो नील पटों, एक आन्तरिक तथा एक बाह्य,[1] का बोध करना होगा। बौद्धो ने इस कठिनाई का इस तथ्य की ओर सकेत करते हुये समाधान किया है कि जगत् मे सर्वथा सारूप्य नहीं है। दूसरी ओर सभी वस्तुयें सर्वथा असमान होती हैं। फिर भी, उनके अन्तर की उपेक्षा करके उन्हे कुछ अंशो तक समान बनाया जा सकता है। तब सभी वस्तुयें उस मात्रा मे समान हो जाती हैं जिस मात्रा मे उनके अन्तर की उपेक्षा की जाती है। यह अदृष्टिगोचर के तादात्म्य के नियम का बौद्ध उपनिगमन है। सभी गायें एक दूसरे से सर्वथा असमान होती हैं, किन्तु यदि हम उनकी इस असमानता की उपेक्षा कर दे तो घोडा और सिंहो से तुलना करने पर ये परस्पर समान प्रतीत होगी। किसी वस्तु का आकार उसी सीमा तक बाह्य क्षण के साथ समीकृत होता है जिस सीमा तक अन्तर की उपेक्षा की जाती है। निश्चय, इस प्रकार, किसी आकार का

---

[1] 'द्वे नीले इति स्यात्', तुकी० तत्त्वप० पृ० ५७४ १७।

बाह्यजगत मे एक अनिवार्य आरोपण, तदनुरूप बाह्य यथार्थता के क्षण के साथ अनिवार्य समीकरण बन जाता है। यह निश्चय कि "यह एक गाय है" अनिवार्यत हमारी प्रज्ञा का एक ग्राह्य यथार्थता के साथ एकीकरण कर देता है

अब, प्रत्येक निश्चय मे निहित यह अनिवार्य विषयीकरण क्या होता है ? धर्मोत्तर[1] उत्तर देते हैं कि निश्चय करने का "अर्थ स्वयं अपने ऐसे आन्तरिक प्रतिलेप की जो बाह्यवस्तु नहीं है, इस विश्वास मे कल्पना करना है कि वह बाह्य वस्तु है ।" यह समीकरण न तो किसी बाह्यवस्तु का उसके आकार द्वारा ग्रहण है, न आकार का किसी बाह्यवस्तु के रूप मे करण है, न तो दो वस्तुओ की वास्तविक योजना है, और न किसी एक वस्तु का दूसरे के स्थान पर समारोपण।[2] यह हमारी भ्रान्ति है, एक अलीक है।[3] आकार आन्तरिक है, किन्तु हमारी प्रज्ञा की एक आन्तरिक आवश्यकता के कारण यह आकार बाह्य जगत् मे आरोपित हो जाता है। धर्मोत्तर[4] कहते हैं कि "किसी वस्तु का वह आकार जिसका अपने प्रतिरूप (वस्तुस्वलक्षण) से अभिन्न होने के रूप मे विकल्प द्वारा बोध किया जाता है हमारा विचार मात्र होता है, वह बाह्य नही होता ।

इस बाह्यकरण की वाच्य अभिव्यक्ति योजक "है" मे निहित है। इसका अर्थ किसी प्रस्तुत आकार की विषयात्मक एकता का आत्मनिष्ठ एकता से विभेद करना है।[5] "है' क्रिया से बाह्य यथार्थता के क्षण का, मात्र वस्तुस्वलक्षण का ही साक्षात् तात्पर्य है। कमलशील[6] कहते हैं कि जब मैं "है" क्रिया के अर्थ पर विचार करता हूँ तब वस्तुस्वलक्षण के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अर्थ मेरी बुद्धि के क्षेत्र मे आता ही नही।"

सक्षेप मे, निश्चय सर्वप्रथम —

१ एक निश्चय, अर्थात् हमारी प्रज्ञा का एक निर्णय होता है,

---

[1] न्यावि० पृ० ७ १३; तुकी० ताटी० पृ० ३३९ ८।

[2] 'न ग्रहणम्, न करणम्, न योजना, नापि समारोप'; तुकी० ताटी० पृ० ३३९.१०।

[3] 'अलीक एव', वही पृ० ३३९ २१ और बाद।

[4] वही, पृ० ३३९.२२ और बाद।

[5] क्रिटी० पृ० ७५२ (§ १९)।

[6] तसंप० पृ० २८७ १७ "स्वलक्षणादि-व्यतिरेकेण अन्यो अन्त्य्-अर्थो निरूप्यमानो न बुद्धेर् गोचरताम् अवतरति ।"

२ यह निश्चय किसी सकल्प को विषयात्मक सन्दर्भ प्रदान करने मे निहित होता है,

३ यह सकल्प से इस अर्थ मे भिन्न नही होता कि सकल्प को भी एक विषयात्मक सन्दर्भ से युक्त होना चाहिये,

४ यह द्विविध एकीकरण से युक्त होता है एक वस्तु और आकार के बीच, तथा दूसरा विज्ञान की उन विविधताओ के बीच जिनका सकल्प मे एकीकरण होता है।

५ इसको एक द्वैधीकरण (= विभाग) भी कहा जा सकता है क्योंकि इसमे वस्तु की वास्तविक एकता उसके विधेयो के विभिन्न पक्षो मे प्रगट होती है,

६. यह आकार का एक भ्रान्तिमय, यद्यपि अनिवार्य, विषयीकरण है।

जहाँ तक परिमाण का प्रश्न है, यह निश्चय सदेव एक ही होता है। यहाँ तक कि अपने नित्य विषय मे यह अत्यन्त एक होता है जो "यह" धर्मता है। दूसरी ओर, इसका विधेय सदैव एक सामान्य होता है।

जहाँ तक गुण का प्रश्न है यह विधायक होता है। अभावात्मक और असीमित निश्चय एक विशेष सिद्धान्त पर आधारित होते हैं और इनको प्रत्यक्षात्मक निश्चय के साथ समन्वित नही किया जा सकता। जहाँ तक सम्बन्ध का प्रश्न है यह निरूपाधिक होता है। हेत्वाश्रित और वियोजक निश्चय भी व्युत्पन्न होते हैं और इनका एक भिन्न सन्दर्भ मे अध्ययन किया जायगा। निश्चयमात्रा की दृष्टि से यह निश्चयात्मक होता है। अस्तिनिश्चय का निश्चयात्मकता के साथ विभेद नही होता और अनिश्चयात्मक निश्चय होता ही नही। इस आवश्यकता को व्यक्त करने के लिये धर्मकीर्ति उसी शब्द[1] का आश्रय लेते है जो किसी विश्लेषणात्मक निश्चय मे उद्देश्य और विधेय के अनिवार्य सम्बन्ध को भी व्यक्त करता है। "ऐसे प्रत्येक निश्चय मे, जिसकी पूर्ण चेतना के साथ स्थापना की जाती है, उसके स्थापना की आवश्यकता भी निहित होती है।"[2] वाचस्पति मिश्र[3] बौद्धो को यह मानते हुए उद्धृत करते हैं कि "निश्चय (अथवा निणय) सकल्प (अथवा एकत्वाध्यवसाय) और आवश्यकता (अथवा निश्चयात्मक आवश्यकता) भिन्न वस्तुयें नहीं हैं।"

---

[1] 'निश्चय।'

[2] सिग्वर्ट, उपु० १, २३६।

[3] ताटी० पृ० ८७ २५।

इस प्रकार निश्चय का वर्णन किया गया। अब, अ-निश्चय क्या है? धर्मकीर्ति[1] कहते हैं कि यह एक "प्रतिभास" है। इनका कथन है कि "विज्ञान किसी के लिये भी कोई (ज्ञान की) आवश्यकता वहन नहीं करता। यदि यह किसी वस्तु को ग्रहण करता है तो यह ऐसा किसी निरुपाधिक आवश्यकता के रूप मे नही बल्कि एक (सरल) प्रतिभास के रूप मे करता है। जिस सीमा तक विज्ञान एक परवर्ती निरुपाधिक निश्चय को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है केवल उसी सीमा तक वह सम्यक् ज्ञान के प्रमाण की मर्यादा को अर्जित कर सकता है।"

§ ९. निश्चय के सिद्धान्त का इतिहास

विज्ञान और संकल्प भारतीय दर्शन के मञ्च पर सदैव ही विद्यमान हैं, किन्तु अलग-अलग कालो मे, तथा अलग-अलग प्रणालियो मे ये ज्ञान के नाटक मे भिन्न-भिन्न नाटक-पात्रो के रूप मे प्रगट होते हैं। शुद्ध विज्ञान और निश्चय-क्रिया के बीच तीक्ष्ण विभेद, यह विचार कि निश्चय वस्तुत निर्णय करने की एक संकल्पात्मक क्रिया है, और यह विचार भी कि हमारा सम्पूर्ण शुद्ध चेतन और अर्धचेतन प्रतिभासो के सारूप्य[2] से निर्मित है—ये सभी विशेषतायें भारत मे दर्शन के आरम्भिकतम स्तर पर भी विद्यमान मिलती हैं। ये हमे साख्य प्रणाली मे और आयुर्वेदीय सम्प्रदायो[3] मे मिलती हैं। वास्तव मे वहाँ शुद्ध विज्ञान एक पृथक आध्यात्मिक द्रव्य[4] के रूप मे आता है, जब कि समस्त मानसिक क्रियायें तथा इनमे से प्रमुखतम, निर्णय के रूप मे निश्चय[5] को ऐसे दैहिक प्रतिभासो के रूप मे परिणत कर दिया गया है जो स्वय अचेतन होते हैं, किन्तु शुद्ध और गतिरहित आत्मा मे प्रतिबिम्बित होते हैं।

---

[1] अजप० पृ० १७७।

[2] तुकी० सेक० पृ० ६४।

[3] चरक ४ १ ३७ और बाद।

[4] सेक० पृ० ६३ और बाद।

[5] "बुद्धि" को यहाँ "महत" बना दिया गया है क्योकि यह समस्त बोधगम्य वस्तुओ को अपने मे सम्मिलित कर लेती है। यह "प्रधान" से, जो 'प्रकृति' है, प्रथम उत्पन्न होते हुये भी वह आन्तरिक इन्द्रिय है जिसके कार्य को 'अध्यवसाय' कहा गया है, किन्तु यह अध्यवसाय भी स्वय अपने मे प्रकृति के अव-परमाणुविक कणो की एक विशेष क्षणिक सम्स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नही। जब ये आत्मा के शुद्ध प्रकाश मे प्रतिबिम्बित होते हैं तब ये चेतन-वत हो जाते हैं।

हीनयान बौद्ध दर्शन मे इनके कार्य भिन्न रूप मे वितरित हैं। दो द्रव्यो के द्वैधत्व को ऐसे पृथक् धर्मो के बहुत्व से स्थानान्तरित कर दिया गया है जो केवल हेत्वात्मक नियमो से ही सम्बद्ध है और इसलिये 'प्रतीत्य-समुत्पन्न' के रूप मे प्रकट होते हैं। शुद्ध विज्ञान[1] एक धर्म है, और सकल्प (अथवा निश्चय) एक अन्य सज्ञा। ये क्षणिक विचार-विद्युदुन्मेष की दो ऐसी पृथक् धाराओ को व्यक्त करते है जो समानान्तर प्रवाहित होती हैं, कभी भी एक दूसरे को प्रभावित नही करती, किन्तु साथ-साथ ही प्रगट होती है।

आयुर्वेदीय सम्प्रदायो, साख्य और योग प्रणालियो, जैनो और हीनयान बौद्धो, सभी ने भारतीय मनोविज्ञान के क्षेत्र मे, विशेषत समाधि की घटना के प्रति, योगदान किया है। इन लोगो ने जागृत होनेवाली चेतना के प्रथम सोपानो का निरीक्षण, और उपचेतन स्तरो से उठ कर ध्यान के सभी स्तरो से होते हुये 'असज्ञि-समापत्ति' की अवस्था तक के उसके विकास का अध्ययन किया। इन लोगो ने मानसिक क्षमताओ और अवस्थाओ की एक शृखला की स्थापना तथा वर्णन किया। अपनी सूचनाओ की वर्तमान अवस्था मे हम ज्ञान के इस सम्मिलित आगार के प्रति प्रत्येक सम्प्रदाय के अलग-अलग मौलिक योगदान का विभेद नही कर सकते। परन्तु दार्शनिक व्याख्या सदैव से एक ही है। साख्य और इस पर आश्रित सम्प्रदायो मे समस्त मानसिक घटनाओ की भौतिकवादी व्याख्या की गई है और इनकी चेतना एक वाह्य वस्तु से आती है। बौद्ध दर्शन मे ये पृथक् मानसिक धर्म हैं जो किसी स्थायी पदार्थ द्वारा नही वल्कि हेत्वात्मक[1] नियमो द्वारा ही ऐक्यबद्ध हैं।

यथार्थवादी सम्प्रादायो, न्याय-वैशेषिक और मीमासा मे वास्तव मे कोई पृथक प्रत्यक्षात्मक निश्चय है ही नही। विज्ञान एक अस्पष्ट प्रत्यक्ष है, और प्रत्यक्षात्मक निश्चय एक स्पष्ट प्रत्यक्ष। दूसरे शब्दो मे दोनो मे केवल मात्रा-भेद है प्रकार-भेद नही। इन प्रणालियो मे ज्ञान आत्मा मे स्थित है। पदार्थों के समस्त प्रकार वाह्य जगत् मे स्थित होते है। इन्द्रियो के माध्यम से आत्मा इनका ज्ञान प्राप्त करती है। आत्मा स्वय, साख्य प्रणाली की ही भाँति, निराकार[2] और गतिरहित है।

---

[1] आरम्भिक बौद्धदर्शन मे समस्त मानस-धर्मों को चार शीर्षको—वेदना संज्ञा, सस्कार, और विज्ञान—के अन्तर्गत ला दिया गया है। विज्ञान को छोड कर यह वर्गीकरण वही है जिसका योरोपीय विज्ञान ने एक वहुत हाल के समय मे निर्धारण किया है। तुकी० सेक० पृ० ६, और ९६ और वाद।

[2] यत इन प्रणालियो मे पदार्थों के समस्त सामान्य और विशेष गुण वाह्य

महायान मे प्रत्यक्षात्मक निश्चय का सिद्धान्त इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के सिद्धान्त का एक स्वाभाविक प्रतिरूप है। माध्यमिक सम्प्रदाय के सर्वथा यथार्थवादियो ने शुद्ध विज्ञान और प्रत्यक्षात्मक निश्चय के सिद्धान्तो के प्रतिवाद मे न्याय-वैशेषिक के सर्वथा यथार्थवादियो का समान रूप से, यद्यपि विपरीत आधारो पर, साथ दिया है। सौत्रान्तिक ही वह सम्प्रदाय प्रतीत होता है जिसने सर्वप्रथम शुद्ध विज्ञान को साकार विज्ञान मे परिणत करने की ओर महत्त्वपूर्ण विचलन प्रगट किया। बाह्य जगत् ने अपने यथार्थ के एक अ श को खो दिया और हमारे आकारो का एक बाह्यार्थ-अनुमेयत्व बन गया। यत इस सम्प्रदाय का सम्पूर्ण साहित्य, वसुमित्र, कुमारलाभ तथा अन्य की कृतियाँ अब लुप्त हैं, अत बौद्ध-सिद्धान्त के विकास मे इनके योगदान का निर्धारण करना कठिन है। स्वातन्त्रिक सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही कहा जा सकता है जिसकी कृतियाँ यद्यपि अशत विद्यमान हैं, तथापि उनका अभी अध्ययन नही किया गया है।

विज्ञानवादी योगाचारियो के आविर्भाव के साथ एक बाह्य जगत् की परिकल्पना को सर्वथा त्याग दिया गया। साथ ही, असङ्ग ही वह व्यक्ति हैं जिन्होने ज्ञान मे निर्विकल्पक और सविकल्पक धर्मों के अन्तर की सर्वप्रथम स्थापना की।[1] इस प्रकार इन्होने शुद्ध विज्ञान और प्रत्यक्षात्मक निश्चय के सिद्धान्तो का मार्ग प्रशस्त कर दिया। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का सम्प्रदाय तर्कशास्त्र मे सौत्रान्तिको के दृष्टिकोण पर लौट आया। इन लोगो ने वस्तु स्वलक्षण[2] के अशून्यत्व और विशेषत्व की यथार्थता को स्वीकार किया और प्रत्यक्षात्मक निश्चय को विशुद्ध विज्ञान मे प्रतिभासित परमार्थसत् तथा हमारी

यथार्थतायें हैं, अत आत्मा इनको इन्द्रियो के माध्यम से ग्रहण करती है। किन्तु निर्विकल्पक स्थिति मे गुणो का स्वरूपत बोध होता है, जब कि सविकल्पक स्थिति इनको विशेषण-विशेष्य भाव से ग्रहण करती है ('मिथो विशेषण विशेष्य-भाव-अवगाहित्वेन,' तुकी० ताटी० पृ० ८२८)। इस आशय मे यथार्थवादियो का 'सविकल्पक' एक प्रकार का निश्चय भी है।

[1] दुची - उपु०।

[2] परमार्थ क्षण के शून्य न होने की इस समस्या पर विभिन्न सम्प्रदायों के बीच हुये विवाद के लिये तुकी० मेरा निर्माण, पृ० १४२ और बाद। इसी समस्या पर अत्यन्त मनोरजक विवरण त्सोङ-खप की कृति लेग्स-व्सद्-शुद्ध-पो मे मिलते हैं जिस पर खाइडब ने टीका की है।

बुद्धि द्वारा कल्पित आकारो के बीच की एक शृङ्खला के रूप मे परिणत कर दिया।

दिङ्नाग के अनुगामियो मे प्रत्यक्षात्मक निश्चय के इस सिद्धान्त का समुचित निर्धारण करने के विषय पर वाद-विवाद चलता रहा। इनके कुछ अनुगामियो ने इस बात पर बल दिया कि बुद्धि का विशेष कार्य संकल्प अथवा निश्चय है। इसे जात्यादि कल्पना[1] न कह कर केवल नाम-कल्पना[2] मात्र ही कहना चाहिये। जात्यादि तो नामकल्पना के और अधिक विवरण मात्र होते हैं। दिङ्नाग का वाक्य-विन्यास दोनो ही व्याख्याओ को सम्भव बना देता है।[3] धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर तथा उनके अनुगामियो ने स्वय दिङ्नाग के मत का समर्थन किया। ये लोग विकल्प, बुद्धि अथवा प्रत्यक्षात्मक निश्चय की एक अभिलाप्य आकार का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता के रूप मे परिभाषा करते है।[4] इस प्रकार अभिलाप्यता को निश्चय की क्रिया का विशिष्ट लक्षण बना दिया गया। कुछ सीमा तक, निश्चय एक अभिलाप्यता बन जाता है परन्तु *यह केवल अभिलाप्यता ही नही है। यह तार्किक विचार और अनुभवातीत* शुद्ध यथार्थ के एक अनिवार्य सम्बन्ध की स्थापना करनेवाली अभिलाप्यता है।

बौद्धोत्तर भारतीय न्याय के क्षेत्र मे निश्चय का सिद्धान्त स्वभावत अदृश्य हो जाता है,[5] क्योकि यह शुद्ध विज्ञान के सिद्धान्त पर आधारित एक उपनिगमन है। प्रो० एच० याकोबी[6] ने इस प्रणाली का एक विवरण प्रस्तुत करते हुये यह उचित ही टिप्पणी की है कि इसमे निश्चय का ऐसा कोई सिद्धान्त नही है जो एक ओर तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से भिन्न हो और दूसरी ओर अनुमान से।

स्वय बौद्धन्याय की ही भाँति बौद्धो का निश्चय का सिद्धान्त भी भारतीय दर्शन के इतिहास मे एक लघुमनोरञ्जनात्मक व्यवधान के रूप मे ही आता है।

§ १०. कुछ योरोपीय समानान्तरताये

जब भारतीय दर्शन के विद्यार्थी को किसी ऐसी धारणा के समकक्ष की खोज की समस्या का सामना करना पडता है जिससे वह इसलिये परिचित

[1] जात्यादि-कल्पना=क्लिप्ति-हेतु', तुकी० तस० पृ० ३६६ २४ और बाद।

[2] 'नाम-कल्पना = अर्थ-शून्यै शब्दैर एव विशिष्टा', प्रसमु० वृ० १ ३।

[3] तसप० पृ० ३६८ १५ और बाद।

[4] न्यावि० १ ५।

[5] तुकी० ऊपर पृ० २६५।

[6] गोना० मे अपने लेख मे, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

है कि वह उसे अपने शास्त्रीय ग्रन्थो मे अक्सर ही उल्लिखित पाता है, तब वह अक्सर इस वात से भ्रमित हो जाता है कि वह उसका अनुवाद किस प्रकार करे, क्योकि उसके लिये अन्य पर्यायवाची शब्द भी उपलब्ध नही होते। दर्शन और तर्कशास्त्र मे सभी योरोपीय भाषाओ का आगार एक ही है क्योकि इन सब की एक समान पूर्वज एरिस्टॉटिल की कृतियाँ हैं। परन्तु भारतीय दर्शन इस प्रकार के किसी प्रभाव से स्वतन्त्र विकसित हुआ है। इसके स्वय अपने एरिस्टॉटिल हैं और अपने काण्ट। यह विकास की एक सर्वथा स्वतन्त्र धारा का निर्माण करता है जो योरोपीय विकास की धारा के समानान्तर चलती है। अत ऐसी बातो पर ध्यान देने का अत्यधिक ऐतिहासिक महत्त्व है जिन पर दोनो धाराओ मे किसी सिद्धान्त या धारणा की समानता मिलती है। यह इसकी सत्यता का एक आशिक और परोक्ष प्रमाण भी हो सकता है क्योकि सत्य एक ही होता है, जब कि त्रुटियाँ अनेक हो सकती हैं। जब वाद का विषय किन्ही दो या अनेक ऐसे तर्कवाक्यो से, जिनमे से सभी मे केवल तीन ही पद हो, किसी एक तर्कवाक्य के निगमन मे निहित होता है तब हमारे मत मे उसके एक परार्थानुमान होने के विषय मे कोई सन्देह नही होता। किन्तु जब हमारे समक्ष अपनी प्रज्ञा के किसी विशेष कार्य को निश्चय मानने का निर्णय करने की अनिवार्यता हो तब हमे यह भी जानना चाहिये कि निश्चय क्या होता है। और यहाँ हमे मतो के अनन्त प्रकार मिलते हैं। इस विषय पर प्रमुख दार्शनिको के बीच मिलनेवाले आश्चर्यजनक विरोधत्व से चकित होने के लिये दार्शनिक शब्दो के किसी भी कोश को देखना मात्र ही पर्याप्त होगा। अधिकाश यह विचार रखते हैं कि निश्चय "दो विकल्पो के बीच एक विरोधात्मक सम्बन्ध होता है", परन्तु ब्रेन्टानो जोर देकर इसे अस्वीकार करते हैं। इनका विचार है कि निश्चय विकल्प से सर्वथा भिन्न होता है। फिर भी, शुप्पे निश्चित रूप से इसके विरुद्ध मत व्यक्त करते हैं।[1] अधिकाश के अनुसार निश्चय एकीकरण की एक क्रिया है। दूसरी ओर वुण्ट के अनुसार यह पृथक्करण की एक क्रिया है। अस्तित्ववादी, प्रत्यक्षात्मक और अवैयक्तिक निश्चय भी निश्चित रूप से इतनी ही समस्यायें प्रस्तुत करते हैं। फिर भी, निश्चय के बौद्ध वर्णनो तथा विभिन्न दृष्टिकोणो के अनुसार इसकी ही विभिन्न विशेषताओ का परीक्षण करने पर हमे कुछ ऐसी बातें मिलती हैं जिन्हे हम विभिन्न योरोपीय सिद्धान्तो मे भी यत्र तत्र बिखरा पाते हैं। इस प्रकार हमे प्रत्यक्षत लॉक के ऐसे मे सरल विचारो के नाम से कुछ प्रत्याक्षत्मक

---

[1] अर्कोन्तनिस्थ० लॉजिक, पृ० १२३।

निश्चयो का उदाहरण मिलता है। ऐसे प्रत्यक्षात्मक निश्चयो की कि "यह श्वेत है", "यह गोल है", वर्तमान सवेदना से विचार के एक स्थायी पदार्थ का सदर्भ होने के रूप मे व्याख्या की गई है।"[1]

निश्चय सम्बन्धी बौद्ध तथा समस्त योरोपीय दृष्टिकोणो मे प्रमुख अन्तर इस स्थिति मे निहित है कि योरोपीयो ने अपने विश्लेषण को दो विकल्पो पर आधारित किया है और उनके विषयात्मक सन्दर्भ पर कोई विचार नही किया है, जब कि बौद्धो का विश्लेषण केवल एक विकल्प तथा उसके विषयात्मक सन्दर्भ से आरम्भ होता है। जैसा कि बाद मे दिखाया जायगा, दो विकल्पो वाला निश्चय अनुमानात्मक निश्चय अथवा अनुमान है। वास्तविक निश्चय प्रत्यक्षात्मक ही होता है। इस सम्बन्ध मे प्रो० सिग्वर्ट[2] की एक मनोरजक टिप्पणी का उल्लेख आवश्यक है। आप इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते है कि नियमित रूप मे किसी निश्चय के केवल विधेय की ही नाम-कल्पना की जानी चाहिये, उद्देश्य या "उद्देश्य-प्रस्तुतीकरण को वाणी द्वारा व्यक्त किये बिना ही छोड दिया जा सकता है।" इसे किसी साधक सर्वनाम अथवा किसी मुद्रा मात्र से ही व्यक्त किया जा सकता है। आप का कथन है कि "इसी प्रकार के निश्चयो मे मानव-विचार का आरम्भ होता है। जब कोई बालक चित्र-पुस्तिकाओ मे देखकर किसी पशु को पहचानता है और उसके नाम का उच्चारण करता है तब वह निश्चय करता है।" बौद्ध-दृष्टिकोण के अनुसार इस वक्तव्य को सामान्यीकृत कर देना चाहिये। सभी निश्चय किसी ऐसे धर्म को जिसकी नाम-कल्पना नही की जा सकती, किसी अन्य ऐसे धर्म से सम्बद्ध करने मे निहित होते हैं जिनकी अनिवार्यत नाम-

---

[1] ये विचार, जिनको ग्रहण करने मे बुद्धि केवल निष्क्रिय रहती है, अन्य विचारो और समीकरणो के साथ अपने विभेद से युक्त होते हैं। (२ १२§१) यद्यपि क्षणिक होते हुये भी, अर्थात् अपने आरम्भ के क्षण के साथ ही नष्ट हो जाने पर भी (२ १७,§२) ये वस्तु-स्वलक्षण के साथ अपनी तुलना से युक्त होते हैं। साथ ही ये आत्म-चेतना भी होते है क्योकि किसी के लिये भी ऐसा प्रत्यक्ष करना असम्भव है जिसके साथ ही उसे यह भी प्रत्यक्ष न हो कि वह प्रत्यक्ष कर रहा है (वही§९)। यह धर्मकीर्ति के इन शब्दो के सर्वथा समान है "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थ-दृष्टि प्रसिध्यति", जिससे इनका 'अनुभव' का तात्पर्य है। फिर भी सामान्यतया लॉक सवेदना को प्रत्यक्षीकरण के साथ समीकृत कर देते हैं और इस प्रकार नैयायिको की श्रेणी मे आ जाते हैं।

[2] लॉजिक, १, पृ० ६४, तुकी० वही १ पृ० १४२।

कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार अवैयक्तिक निश्चय ही समस्त निश्चयो का आधारभूत स्वरूप होता है।

जहाँ तक काण्ट के विचारो का प्रश्न है, ज्ञान के एक अ-ऐन्द्रिक स्रोत के रूप मे प्रज्ञा, और प्रज्ञा के एक कार्य के रूप मे निश्चय सम्बन्धी इनके विचारो की समानता का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। साथ ही, काण्ट ने अपने उन पूर्वगामियो की परिभाषाओ का भी प्रतिवाद किया है जो यह मानते थे कि निश्चय दो विकल्पो का सम्बन्ध होता है क्योकि, इनका कथन है कि, "हमे यह नही बताया गया है कि यह सम्बन्ध किससे निर्मित होता है।"[1] इनके (काण्ट के) अनुसार निश्चय प्रस्तुत विज्ञानो को समाकल्पन के विषयात्मक एकत्व के रूप मे प्रस्तुत करने के अतिरिक्त और कुछ नही। योजक 'है" से यही अभिप्रेत है। यह परिभाषा एकीकरण और बाह्यजगत मे हमारे आकारो को आरोपित करने को निश्चय की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता मानने की ओर सकेत करती है। यदि हम 'वितर्क' और 'विचार' सम्बन्धी सिद्धान्तो को भी, जो अन्त प्रज्ञा मे अवबोध तथा विकल्पो मे प्रत्यभिज्ञा के काण्ट के सिद्धान्त के अनुरूप हैं, इनमे जोड दें तो हमे इस बात को कदाचित स्वीकार करना होगा कि काण्ट के विचारो और बौद्ध सिद्धान्तों में प्रखर साम्य है,यद्यपि एरिस्टॉटेलियन परम्परा का अनुसरण करते हुये काण्ट के उदाहरण सदैव दो विकल्पो सहित निश्चय के रूप मे प्रस्तुत किये गये है।

प्रत्येक निश्चय मे निहित अध्यवसाय, स्वीकृति अथवा विश्वास की अनिवार्य विशिष्टता का योरोपीय दर्शन मे सर्वप्रथम पिता और पुत्र मिल ने तथा इनका अनुसरण करते हुये ब्रेण्टानो ने सकेत किया था। जेम्स मिल के अनुसार "सवेदनाओ मे एक क्रम सम्बन्धी बौद्धिक ससूचन का विभेद तथा इस बात का सकेत अत्यन्त आवश्यक है कि यह क्रम वास्तविक है।"[2] जे० एस० मिल का कथन है कि 'यह विभेद चरम और मौलिक है।" "इसे ऐसा मानने मे किसी सवेदना और विचार के बीच अन्तर को मौलिक मानने की अपेक्षा अधिक कठिनाई नही है।"[3] हम देख चुके है कि बौद्धो के अनुसार वास्तविक विभेद विशुद्ध विज्ञान (सवेदना) और विशुद्ध प्रज्ञा के बीच स्थित है, और निश्चय एक ऐसा अध्यवसाय है जो इन दोनो धर्मो को एक दूसरे के साथ सम्बद्ध करता है। इसलिये निश्चय के वास्तविक कार्य मे

---

[1] क्रिटी० § १९।

[2] एन० ऑफ दि फेनो० ऑफ दि ह्यूमन माइण्ड, पृ० १६२

[3] वही पृ० ४१२।

केवल एक विकल्प तथा उसका विषयात्मक सन्दर्भ निहित होता है। ब्रेण्टानो का भी यही मत है। इनका कथन है कि "यह मानना उचित नही है कि प्रत्येक निश्चय सदैव दो विषयो या बातो के सम्बन्ध या पृथक्करण से युक्त होता है। एक ही विषय भी विश्वास अथवा अविश्वास की सामग्री बन सकता है।" साथ ही, ब्रेण्टानो यह विचार करते है कि योजक "है" प्रत्येक निश्चय मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अश को व्यक्त करता है। अत इसे सदैव 'क' है" जैसे अस्तित्वात्मक निश्चयो के रूप मे घटाया जा सकता है। "यह मनुष्य रुग्ण है" इस रूप मे घट सकता है कि "यह रुग्ण व्यक्ति है"। फिर भी, इस प्रकार का निश्चय 'क' धर्म और 'अस्तित्व'[1] की धारणा के बीच एक विधेयात्मक सम्बन्ध की स्थापना मे निहित नही होता। परन्तु ब्रेण्टानो इस बात पर जोर देते हैं कि "स्वय 'क' के सम्बन्ध मे यह विश्वास किया गया है कि उसका अस्तित्व है।"[2] बौद्धो के लिये, जैसा कि हम देख चुके है, सभी निश्चयो को अस्तित्वात्मक के रूप मे नही बल्कि प्रत्यक्षात्मक के रूप मे घटाया जाना चाहिये। अस्तित्व कभी भी विधेय नही होता। वह तो सभी यथार्थ ज्ञान मे एक अनिवार्य विषय या धर्मी होता है। अस्तित्व (सत्ता) अ-विधेय[3], शुद्ध

---

[1] सिग्वर्ट के अनुसार (लॉजिक १, पृ० ९२) अस्तित्वात्मक निश्चय तथा प्रत्यक्षात्मक निश्चय निश्चयो के दो भिन्न वर्ग हैं जिनके बीच उद्देश्य और विधेय की व्यत्यस्त स्थिति पर आधारित अन्तर होता है। यह निश्चय कि "यह एक गाय है" प्रत्यक्षात्मक अथवा नामकरणात्मक निश्चय है। यह निश्चय कि "गाय है" अस्तित्वात्मक निश्चय को व्यक्त करता है। दोनो ही वर्ग अपने अपने क्षेत्र मे उचित है। एक मे 'सत्ता' उद्देश्य है जब कि दूसरे मे यह विधेय है। दोनो ही दशाओ मे निश्चय दो विकल्पो के बीच सम्बन्ध को व्यक्त करता है। बौद्ध-दृष्टिकोण से यह सर्वथा गलत है। सत्ता कभी भी विधेय नही होती। वह कभी भी नाम नही होती क्योकि वह अनभिलाप्य है। इस निश्चय का कि "गाय है" इस निश्चय से कि "यह एक गाय है" केवल व्याकरणिक अन्तर है।

[2] साइको० २, पृ० ४९।

[3] इस विषय पर बौद्धो के प्रत्यक्षात्मक निश्चय तथा एरिस्टॉटिल के प्रथम द्रव्य की कोटि के बीच कुछ समानता मिलती है। 'हॉक एलिक्विड' अथवा 'मूल सार' एक उद्देश्य के रूप मे अनिवार्य है, ऐसा हमे बताया गया है, किन्तु यह विधेय नही हो सकता जब कि शेष सब कुछ ऐसा हो सकता तथा होता है। द्वितीय द्रव्य अथवा सार, प्रथम से विभेद करने पर, द्रव्य रह

वस्तु[1], वस्तु-स्वलक्षण है जो समस्त विधेयात्मक विशेषताओ अथवा सम्बन्धो से रहित होता है ।

किन्तु निश्चय सम्बन्धी समस्त योरोपीय सिद्धान्तो मे से ब्राड्ले और बोसाके प्रत्यक्षात्मक निश्चय के विश्लेषण सम्भवत बौद्ध दृष्टिकोण के सर्वाधिक निकट आते हैं । इन विद्वानो की दृष्टि मे निश्चय का आधारभूत प्रकार शुद्ध यथार्थ को एक कल्पित आकार के साथ सम्बद्ध करने मे भी निहित होता है । उद्देश्य एक 'अद्वितीय' को व्यक्त करता है जो किसी के समान नही है, जो अभी स्वय अपने समान भी नही होता बल्कि चल क्षणो के इस जगत मे सर्वथा अकेला है ।[2] यह कुछ ऐसा होता है जिसे "यह"[3] सर्वनाम से ही व्यक्त किया जा सकता है । विधेय एक आदर्श विषयवस्तु, एक प्रतीक अथवा एक विकल्प है ।[4]

ही नही जाता बल्कि गुण बन जाता है (ग्रोटे० पृ० ९१) । इसलिए समस्त ज्ञान यथार्थता अथवा प्रथम द्रव्य को असख्य विधेयो से युक्त करने की क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नही ।

[1] तुकी० ऊपर पृ० २२७ ।

[2] ब्राड्ले लॉजिक पृ० ५ ।

[3] बोसाके लॉजिक, पृ० ७६, तुकी० । रसेल आउटलाइन, पृ० १२, "सभी शब्द, यहाँ तक कि व्यक्तिवाचक सज्ञायें भी, 'यह' के सम्भाव्य अपवाद के अतिरिक्त, सामान्य होती हैं ।

[4]यहाँ यह बात कुछ मनोरजक है कि हीगल के मतानुसार (गेफि० २, पृ० १४३) यह विचार कि 'सवेदना' अथवा 'इदता' अनभिलाप्य है तथा यह कि मात्र सामान्य ही अभिलाप्य है, जो विचार कि यूनानी दर्शन मे भी मिलता है, अत्यधिक दार्शनिक महत्त्व रखता है । हीगल का कथन है कि 'यह एक प्रकार की चेतना और विचार है जिसके निकट तक हमारे समय का दार्शनिक विकास अभी पहुँच नही सका है ।"

अध्याय २

स्वार्थानुमान

§ १. निश्चय और अनुमान

प्रत्यक्षात्मक निश्चय अथवा वास्तविक निश्चय से हमे निश्चय के ही एक अन्य प्रकार, स्वार्थानुमान, का विभेद अवश्य करना चाहिये। यत समस्त यथार्थ ज्ञान, अर्थात् यथार्थ के समस्त ज्ञान को निश्चयो मे घटाया जा सकता है, अर्थात् विज्ञान की विकल्पो मे व्याख्या की जा सकती है, और यत ज्ञान को साक्षात् तथा परोक्ष के रूप मे भी विभाजित किया जा सकता है, अत निश्चय को भी साक्षात् और परोक्ष के रूप मे विभक्त करना सम्भव है। प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान होता है और परोक्ष को स्वार्थानुमान कहते है। हम देख चुके हैं कि साक्षात् ज्ञान विज्ञान और विकल्प के बीच एकत्व होता है। परोक्ष-ज्ञान किसी विज्ञान और दो विकल्पो का एकत्व होता है। साक्षात् ज्ञान मे दो पद होते हैं और परोक्ष मे तीन। साक्षात् ज्ञान इस रूप मे घटित होता है कि "यह नीला है" अथवा "यह धूम है"। परोक्ष ज्ञान को इस रूप मे घटाया जा सकता है कि "यह अग्नि से उत्पन्न धूम है" अथवा "कुछ अग्नि है क्योकि धूम है।" धूम का प्रत्यक्ष होता है, अत यह निश्चय कि "यह धूम है" प्रत्यक्षात्मक और साक्षात् है। अग्नि प्रच्छन्न है, अत यह निश्चय कि "यहाँ अग्नि है" स्वार्थानुमानात्मक और परोक्ष है। सभी वस्तुओ को प्रत्यक्षीकृत अथवा अप्रत्यक्षीकृत के रूप मे विभक्त किया जा सकता है। अप्रत्यक्षीकृत के किसी प्रत्यक्षीकृत के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते हैं। यह एक परोक्ष ज्ञान होता है, जिसे हम किसी वस्तु का उसके 'लक्षण' के आधार पर प्राप्त ज्ञान कहते हैं। प्रच्छन्न वस्तु का एक लक्षण होता है और यही लक्षण स्वय यथार्थ के क्षण की विशिष्टता या लक्षण होता है। किसी ऐसे यथार्थ के जो द्विविध लक्षणो से युक्त हो, अर्थात् जो अपने लक्षण के लक्षण से युक्त हो, ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते हैं। प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे हम 'अ' वस्तु का उसके उस प्रतीक के द्वारा ज्ञान प्राप्त करते है जो उसकी 'क' सज्ञा या विकल्प है। स्वार्थानुमानात्मक निश्चय मे हम किसी 'अ' वस्तु का उसके द्विविध प्रतीको 'क' और 'ख', के द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं।

प्रतीक 'क' और 'ख' हेतु और फल के रूप मे सम्बद्ध होते हैं। जब इनमे से एक, 'क' धर्म का ज्ञान होता है तब 'ख' धर्म का ज्ञान अनिवार्यत उसका अनुगमन करता है। यत 'अ' धर्म, जो 'क' और 'ख' गुणो का अधिष्ठान अथवा इन दोनो विधेयो का साध्य है, सदैव वही रहता है, अत उसकी अभिव्यक्ति को छोड दिया जा सकता है क्योकि उसकी उपस्थिति का विना किसी औपचारिक अभिव्यक्ति के भी अनिवार्यत अनुमान किया-जा सकता है। ऐसी दशा मे दो परस्पर अन्तर्सम्बद्ध धर्म अथवा 'क' और 'ख' धर्म सम्पूर्ण स्वार्थानुमान अथवा सम्पूर्ण स्वार्थानुमानात्मक निश्चय को व्यक्त करेंगे। यह निश्चय तव प्रत्यक्षत केवल दो, परन्तु हेतु और फल के रूप मे सम्वद्ध विकल्पो से ही युक्त होगा जनमे से प्रत्येक दूसरे की विधेयात्मकता का अनिवाय आधार होगा।

स्वार्थानुमानात्मक निश्चय तब व्याप्ति[1] का निश्चय हो जायगा। स्वार्थानुमान अथवा किसी स्वार्थानुमान द्वारा ज्ञात वस्तु, धर्मोत्तर के अनुसार, या तो "अधिष्ठान तथा उसके अनुमित गुण का जटिल विचार होता है, अथवा जब हेतु और अनुमित गुण के वीच की अविवार्य व्याप्ति को ध्यान मे रखा जाता है तव "अनुमित तथ्य इसी गुण (हेतु के साथ व्याप्ति के रूप मे गृहीत) के रूप मे प्रकट होता है।"[2] प्रथम दशा मे हम एक स्वार्थानुमानात्मक निश्चय करते हैं, जब कि द्वितीय दशा मे व्याप्ति का निश्चय। प्रथम पक्ष-आधारवाक्य के निगमन के साथ सयोजन के अनुरूप है, जव कि द्वितीय एरिस्टॉटेलियन परार्थानुमान[3] के साध्य-आधार-वाक्य के अनुरूप।

[1] व्याप्ति=साहचर्य = अविनाभाव।

[2] न्यायविटी० पृ० २० १६ और बाद, अनुवाद पृ० ५८।

[3] यह स्पष्ट है कि योरोपीय तर्कशास्त्री, जो सामान्य निश्चय मे साध्य और विधेय के सम्बन्ध की हेतु और फल के सम्बन्ध के रूप मे व्याख्या करते हैं, हर्बर्ट तथा अन्य, विशेषत एन० ओ० लॉस्की की ही भाँति, सामान्य निश्चय को व्याप्ति के निश्चय के रूप मे घटा देते हैं। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि व्याप्ति का निश्चय वास्तविक निश्चय की अपेक्षा स्वार्थानुमान की कोटि मे आता है। ऐसे निश्चयो का उद्देश्य सदैव अनुमान का हेतु होता है। इस निश्चय को कि "धूम अग्नि से उत्पन्न होता है", भारत में इस रूप मे घटाया गया है कि "जहाँ धूम है, वहाँ अनिवार्यत कुछ अग्नि है"। इस निश्चय का कि 'शिशपा एक वृक्ष है" यह अर्थ है कि "यदि किसी को शिशपा कहा गया है तो उसे अनिवार्यत एक वृक्ष भी कहा गया है," इत्यादि। ये सब हेत्वाश्रित निश्चय हैं।

भारतीय तर्कशास्त्र इन्हे अनिवार्यत 'एक ज्ञान' मानता है, अर्थात् ऐसा ज्ञान जैसे अग्नि का उसके लक्षण से अनुमान।

इस निश्चय को कि "अग्नि धूम उत्पन्न करती है" अथवा यह कि "जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है" अथवा यह भी कि "अग्नि के विना धूम नही होता", ठीक ऐसे निश्चयो के ही समान कि "शिशपा एक वृक्ष है" अथवा "नीला एक रग है", "गाय एक पशु है", उस सीमा तक जहाँ तक ये यथार्थ के ज्ञान हैं और यथार्थता मे अपना अधिकार रखते हैं, इस रूप मे घटाया जाना चाहिये कि "यहाँ अग्नि है क्योकि धूम है", "यह नीला है जो एक रग है", "यह एक वृक्ष है क्योकि यह एक शिशपा है", "यह एक पशु है क्योकि यह एक गाय है", इत्यादि। "यह" अथवा "यहाँ" धर्मों की अभिव्यक्ति या निहितत्व के विना ये यथार्थता के ज्ञान नही होगे।

फिर भी, तीन ऐसे पदो से युक्त प्रत्येक ज्ञान, जिनमे से एक अन्य दो का अधिष्ठान हो, स्वार्थानुमान नही होगा। इनकी केवल ऐसी ही योजना, जहाँ दो धर्म अनिवार्यत अन्तर्सम्बद्ध हो, अर्थात् एक दूसरे से अनुमेय हो, स्वार्थानुमान को व्यक्त करती है। यह निश्चय कि "एक अग्निमान पर्वत है" तीन पदो से युक्त है, फिर भी, ये अनिवार्यत अन्तर्सम्बद्ध नही हैं। किन्तु ये निश्चय कि "यहाँ अग्नि है, क्योकि धूम है", "विना अग्नि के धूम नहीं होता", स्वार्थानुमानात्मक हैं क्योकि धूम को उसके हेतु, अग्नि,' से अनिवार्यत सम्बद्ध होने के रूप मे व्यक्त किया गया है।

---

[१] प्रत्यक्ष के निश्चय और स्वार्थानुमान के निश्चय के वीच अन्तर, कुछ सीमा तक, उस अन्तर के समान है जो काण्ट प्रत्यक्ष के निश्चय और अनुभव के निश्चय के वीच मानते हैं। तुकी० प्रोलेग० २०। यह कथन कि "सूर्य पत्थर को गरम करता है" अभी अनुभव का निश्चय नही है। परन्तु सूर्य की किरणो और पत्थर के गरम होने की क्रिया के वीच सामान्य और अनिवार्य एकीकरण को काण्ट अनुभव कहते हैं। अत यह इस रूप मे निश्चय है कि "यह पत्थर गरम है क्योकि इस पर सूर्य की किरणें पड रही हैं" अथवा यह कि "जिस पर सूर्य की किरणें पडती हैं वह गरम हो जाता है, इस पत्थर पर सूर्य की किरणें पड रही हैं, यह गर्म हो गया है।" साधारणतया ज्ञान को निश्चय तथा परार्थानुमान के शीर्षको की अपेक्षा प्रत्यक्ष और स्वार्थानुमान के शीर्षको के अन्तर्गत विवेचन करना अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है, और एरिस्टॉटिल की परम्परा ऐसा ही करती है। व्याप्ति का निश्चय सरल निश्चयो की प्रक्रिया की अपेक्षा निश्चित रूप से कही अधिक स्वार्थानुमान की प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है।

यह अनिवार्य सम्बद्ध किस प्रकार का होता है, इसको आगे बताया जायगा।

§ २. तीन पद

अत प्रत्येक अनुमान मे तीन पद (वाक्य) होते हैं जिन्हे तार्किक साध्य, तार्किक पक्ष, तथा इन दोनो के बीच का हेतु अथवा लक्षण कहते है जो दोनो को सम्बद्ध करता है।

साध्य अन्तत यथार्थ अथवा लाक्षणिक साध्य हो सकता है। परमार्थ सत् सत्ता मात्र के क्षण के अतिरिक्त कभी भी कुछ और नही होता। यह सत् के उस अधिकरण को व्यक्त करता है जिसे समस्त विकल्पो मे अन्त स्थित होना चाहिये। यह वह 'इदता' धर्म होता है जिससे हम प्रत्यक्षात्मक निश्चय (सविकल्पक प्रत्यक्ष) के सिद्धान्त के अन्तर्गत पहले ही परिचित हो चुके है। यह वह अ-वर्ती द्रव्य है जिसके लिये अन्य समस्त पदार्थ केवल गुण होते हैं।

परम साध्य की दृष्टि से लाक्षणिक अथवा गौण साध्य स्वय एक अनुमित सत्ता, एक गुण है। किन्तु और आगे के अनुमान के लिये यह अधिकरण का कार्य करता है तथा इसीलिये गुणो से युक्त एक स्थायी वस्तु, परम साध्य के एक स्थानापन्न के रूप मे प्रकट होता है। इस अनुमान मे कि "यह स्थान अग्नि से युक्त है, क्योकि यहाँ धूम है", इदता (यह) धर्म यथार्थ साध्य को व्यक्त करता है। इस अनुमान मे कि "पर्वत अग्नि से युक्त है क्योकि वह धूम से युक्त है" साध्य 'पर्वत' यथार्थ साध्य या अधिकरण को स्थानान्तरित कर देता है, अत यह स्वय भी अशत अनुमित है।

धर्मोत्तर[१] का कथन है कि "ऐसे अनुमानो का साध्य एक ऐसा विशेष स्थान होता है जिसका वास्तविक प्रत्यक्ष होता है और उसका एक अप्रत्यक्ष (अनुमित) अश भी होता है। यह एक ऐसा मिश्रण होता है जिसका कुछ अश प्रत्यक्ष दृश्य तथा कुछ अदृश्य होता है। 'यहाँ' अथवा इदता (यह) शुद्ध दृश्य-अश का सकेत करता है।" इस प्रकार, अनुमान का साध्य अथवा अधिकरण, उन दशाओ मे भी जहाँ निगमन किसी एक मात्र नही वल्कि सामान्य निश्चय को व्यक्त करता है, साक्षात् प्रत्यक्ष अश तथा ऐसे अश का जिसका वास्तविक प्रत्यक्ष नही होता, एकीकरण होता है। उदाहरण के लिये जब यह अनुमान किया जा रहा है कि समस्त ध्वनि क्षणिक सत्ताओ की एक

---

[१] न्यायविटी० पृ० ३१ २१।

संहत शृङ्खला को व्यक्त करती है, तब केवल किसी ध्वनि विशेष का ही साक्षात् संकेत किया जा सकता है, अन्य ध्वनियों का वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं होता — — — अनुमान का साध्य एक ऐसे अधिकरण, एक ऐसे अन्तरस्थ सत् को व्यक्त करता है जिसपर पक्ष के अनुरूप विकल्प आरोपित कर दिया जाता है और इसे कुछ साक्षात् प्रत्यक्ष तथा कुछ अप्रत्यक्ष (अर्थात् अनुमित)[1] अंश से युक्त दिखाया गया है।

इस प्रकार अनुमान का साध्य एरिस्टॉटिल के पक्ष-पद के समकक्ष है। परम साध्य के रूप मे सत्वमीमांसात्मक दृष्टि से यह उनके (एरिस्टॉटिल के) उस प्रथम द्रव्य अथवा प्रथम सार के अनुरूप है 'जो केवल साध्य होता है, कभी भी किसी वस्तु के विधेय या पक्ष के रूप मे नही आता।" उनके 'हिक एलिक्विडम' अथवा 'हॉक एलिक्विड' की भाँति यह विधेयत्व के समस्त कार्य के तल मे (या तो व्यक्त अथवा निहित रूप से) स्थित रहता है।[2]

वाचस्पतिमिश्र[3] का कथन है कि दिङ्नाग के अनुसार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (जो सत् का वास्तविक प्रमाण है) से किसी ऐसे स्थूल स्थान का तात्पर्य नहीं है जहाँ धूम स्थित है। इनके सिद्धान्त के अनुसार अंशो से निर्मित सम्पूर्ण पर्वत जैसी कोई (स्थूल) वस्तु नही है। ऐसा पर्वत हमारी कल्पना की रचना है। अत प्रत्येक अनुमान मे, और जैसा कि प्रत्येक सविकल्पक प्रत्यक्ष मे भी होता है, वास्तविक अथवा परम साध्य, चाहे व्यक्त अथवा निहित, इदता ('यह' तत्त्व) अथवा क्षण, प्रथम सार, 'हॉक एलिक्विड' होता है, जो अपने सार से ही साध्य है और कभी भी गुण अथवा पक्ष नही हो सकता।

अनुमान का द्वितीय पद तार्किक पक्ष होता है। यह साध्य के उस गुण को व्यक्त करता है जिसका अनुमान से ज्ञान होता है। यह वह गुण होता है जिसका अनुमान किया जाता है। इसे स्वय इसी के द्वारा एक सत्तावाचक के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है, जैसे "अग्नि", किन्तु साध्य की दृष्टि से यह गुण, किसी स्थान विशेष का "अग्नित्व" होता है। साध्य के साथ यह

---

[1] वही।

[2] ग्रोटे एरिस्टॉटिल, पृ० ६७।

[3] ताटी० पृ० १२०.२७ और बाद। वाचस्पति कहते हैं कि पर्वत को परमाणुओ से स्थानान्तरित कर देना चाहिये। परन्तु दिङ्नाग परमाणुओ को भी अस्वीकार करते है, इन्हे गत्यात्मक क्षणो के अर्थ मे (Kraftpunkte) ग्रहण करना चाहिये।

गुण 'वस्तु' को व्यक्त करता है जिसका अनुमान द्वारा[१] ज्ञान होता है। धर्मोत्तर का कथन है[२] कि अनुमेय या तो (१) अधिकरण[३] हो सकता है जिसके गुण का उससे ज्ञान प्राप्त किया जाता है, अथवा (२) उस गुण (धर्म) के साथ अधिकरण (धर्मी), अथवा (३) वह गुण मात्र उस दशा मे जब कि उस तार्किक हेतु के साथ जिससे इसका अनुमान किया गया है, इसके सम्बन्ध को अमूर्त रूप से ग्रहण किया गया है, जैसे "जहाँ कही धूम है वहाँ अग्नि भी है" अथवा अधिक उपयुक्तत 'जहाँ कही धूमत्व है, वहाँ अग्नित्व भी है"। दिङ्नाग[४] कहते है कि "समस्त अनुमानात्मक सम्बन्ध द्रव्य-गुण सम्बन्ध पर आधारित होता है, यह बुद्धच-आरूढ होता है, यह परमार्थ सत् को व्यक्त नही करता।

वास्तव मे हेतु, और साथ ही साथ, फल को इनके परमार्थ-सत् के अधिकरण की दृष्टि से उसके कल्पित गुणो के रूप मे ग्रहण करना चाहिये।[५] अमूर्त रूप से ग्रहण करने पर अनुमेय गुण अथवा तार्किक पक्ष एरिस्टॉटिल के साध्य पद के समकक्ष बन जाता है।

तृतीय पद हेतु का तार्किक लक्षण है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। यह साध्य का भी एक गुण या लक्षण है और स्वय पक्ष द्वारा लक्षित होता है। यह एरिस्टॉटिल के मध्य-पद के समकक्ष है और अनुमान के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग को व्यक्त करता है। अनुमान को इस प्रकार सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा मकता है "स प है क्योकि 'ह' है", "यहाँ अग्नि है, क्योकि धूम है", "यहाँ वृक्ष है, क्योकि शिशपा है"। इसका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि साधारण जीवन मे वास्तविक साध्य की अभिव्यक्ति को सामान्यतया छोड दिया जाता है और ये अनुमान व्याप्ति के निश्चयो के रूप मे प्रगट होते हैं, जैसे "शिशपा एक वृक्ष है", "धूम की उपस्थिनि का अर्थ अग्नि की उपस्थिति है", अथवा "धूम अग्नि मे उत्पन्न होता है।"

---

[१] अनुमेय [२] न्याबिटी० पृ० २०१६।

[३] धर्मी।

[४] तुकी ताटी० पृ० ३९ १३ और १२७ २।

[५] तुकी० ब्राड्ले। लॉजिक, पृ १९९ निरूपाधिक निश्चय S—P (जो अनुमान का निगमन भी है)"साक्षात् या परोक्ष रूप से S—P को परमार्थ-सत् पर आरोपित करता है," जब कि साध्य आधार-वाक्य, जो एक अनिवार्य सम्बन्ध को व्यक्त करता है, हेत्वाश्रित है, "यह जब होता है तब, किसी अन्य के कारण अनिवार्य होता है।' अनिवार्यता सदैव हेत्वाश्रित होती है। हम आगे देखेंगे कि सिग्वर्ट (तुकी० लॉजिक, १ २६१ और ४३४) का भी यही मत है।

§ ३. स्वार्थानुमान की विभिन्न परिभाषाये

किसी वस्तु के उसके लक्षण द्वारा ज्ञान के रूप मे स्वार्थानुमान की परिभाषा की जा सकती है।[१] धर्मोत्तर[२] कहते है कि परिभाषा किसी अनुमान के सार की नहीं बल्कि उसके स्रोत की परिभाषा है। अदृश्य अग्नि का उसके लक्षण से ज्ञान होता है। लक्षण उस वस्तु का ज्ञान उत्पन्न करता है जिसका वह लक्षण होता है। ज्ञान का स्रोत उसके लक्षण मे स्थित होता है।

दूसरी परिभाषा अनुमान को विषयात्मक दृष्टि से देखती है। अनुमान अनुमेय का, अर्थात् अदृश्य, प्रच्छन्न वस्तु का ज्ञान है। सभी वस्तुओं को उपस्थित और अनुपस्थित के रूप मे विभक्त किया जा सकता है। उपस्थित का प्रत्यक्ष द्वारा और अनुपस्थित का अनुमान द्वारा ज्ञान होता है।[३]

एक तीसरी परिभाषा उस अपृथक्करणीय सम्बन्ध पर बल देती है जो लक्षण को अनुमेय वस्तु से सम्बद्ध करता है। यह अनुमान की एक फल के रूप मे, अथवा दो तथ्यो के बीच अपृथक्करणीय सम्बन्ध के ऐसे व्यक्ति द्वारा प्रयोग के रूप मे परिभाषा करती है जो इस सम्बन्ध का पहले से ज्ञान प्राप्त कर चुका होता है।[४] इस प्रकार हमारे उदाहरण मे अदृश्य अग्नि का ज्ञान उस अपृथक्करणीय हेत्वात्मक सम्बन्ध का फल है जो धूम को उसके हेतु, अग्नि, के साथ सम्बद्ध करता है और जिसका अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा चुका है।

एक और परिभाषा इसकी सर्वाधिक विशिष्टता के रूप मे इस तथ्य को ग्रहण करती है कि अनुमान सामान्य का ज्ञान प्राप्त करना है, जब कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय सदैव विशेष या व्यक्ति होता है।

यह, कुछ दृष्टियो से, सर्वाधिक आधारभूत परिभाषा है, क्योंकि दिङ्नाग अपने महान् ग्रन्थ को इस वक्तव्य के साथ आरम्भ करते हैं कि ज्ञान के केवल दो ही प्रमाण है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान, तथा इनके अनुरूप विषयो के भी दो वर्ग है—एक विशेष तथा दूसरा सामान्य। इस प्रकार सामान्य का अनुमान द्वारा और विशेष का इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है।

---

[१] इसे सदैव इस प्रकार कहते है कि "अपने त्रिविध लक्षण से", अर्थात् अपने व्याप्ति-लक्षण से, अपने उस लक्षण से जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति हो। यह दिङ्नाग की परिभाषा है (प्रसमु० २ १, और न्यायबि० २ १)।

[२] न्यायबिटी० पृ० १८

[३] तुकी० कमलशील का ऊपर उद्धृत स्थल, पृ० १८२।

[४] यह वादविधि मे प्रस्तुत वसुबन्धु की परिभाषा है "अनन्तरीयक-अर्थ-दर्शनम् तद्-विदोऽनुमानम्"।

फिर भी, यह स्पष्ट है कि अग्नि, जिसकी उपस्थिति का अनुमान किया गया है, एक उतनी ही विशेष अग्नि है जितनी कि वह जिसकी उपस्थिति का दृष्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किया गया है। उन सामान्य विशिष्टताओ के विना, जो अग्नि नामक वस्तु का निर्माण करती है और ससार की समस्त अग्नियो की विशिष्टताये हैं, विशेष अग्नि का अग्नि के रूप मे कभी भी ज्ञान नही प्राप्त किया जा सकता था। और न कल्पना मे किसी सत् के क्षण के साथ सम्बद्ध किये बिना अनुमित अग्नि का ही एक सत् के रूप में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था। किन्तु, इसके विपरीत भी, किसी तर्कना मे जिन विशिष्टताओ पर ध्यान दिया जाता है उनके सामान्यत्व तथा इन्द्रियो के समक्ष 'उपस्थित वस्तु के विशेषत्व में एक अन्तर तो है ही।

धर्मोत्तर के अनुसार, अनुमान का विषय कल्पित होता है, अर्थात् उसका विषय एक कल्पित अग्नि है, क्योकि अनुमान एक ऐसी वस्तु का ज्ञान है जो अनुपस्थित है और जिसका साक्षात् ग्रहण नही किया जा सकता। उस वस्तु की केवल कल्पना ही की जा सकती है। परन्तु अनुमान की पद्धति इस कल्पित वस्तु को एक यथार्थ क्षण पर आरोपित करने मे निहित होती है, अत अन्तिम फल बिल्कुल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष जैसा ही होता है, अर्थात् सत् के एक लक्षण का उसके कल्पित प्रतीक द्वारा ज्ञान।[1] अन्तर विचार की गति मे निहित होता है जिसकी दिशा दोनो मे एक दूसरे के विपरीत होती है। प्रत्यक्ष मे ज्ञान विशेष को ग्रहण करता है और प्रतीक की कल्पना करता है। अनुमान मे यह प्रतीक (लक्षण) को ग्रहण करता है और विशेष की कल्पना करता है। केवल इसी आशय मे अनुमान का विषय सामान्य, और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय विशेष होता है। अन्यथा इस दृष्टि से प्रत्यक्षात्मक और अनुमानात्मक निश्चय मे कोई अन्तर नही होता। जैसा कि बौद्ध कहते है, दोनो ही "एक ज्ञान" हैं जो "विज्ञान तथा अ-विज्ञान के, विकल्प और अ-विकल्प के, कल्पना और अ-कल्पना के एकीकरण को व्यक्त करते हैं।[2] दूसरे शब्दो मे ज्ञान मे एक ऐन्द्रिक केन्द्र होता है तथा प्रज्ञा द्वारा उसका विकल्प। बौद्ध अनुसन्धान की इस गहनता के स्तर पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और अनुमान के बीच वही अन्तर है जो ग्राह्यता और प्रज्ञा मे है। हमे यह बताया जाता है कि ज्ञान के दो प्रमाण है एक प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान। किन्तु अपेक्षाकृत

---

[1] न्याविटी० १९ २०, अनुवाद पृ० ५६।

[2] न्याकणि० पृ० १२५।

गहनतर अर्थ यह है कि इन दो प्रमाणो मे से एक ऐन्द्रिक और दूसरा अ-ऐन्द्रिक है। जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि अनुमान को दो अन्य तर्क-वाक्यो अथवा निश्चय से किसी तर्कवाक्य अथवा निश्चय का निगमन नही माना गया है बल्कि यह सत् के ज्ञान की एक विधि है जिसकी उत्पत्ति इस तथ्य मे निहित है कि सत् लक्षण से युक्त होता है। अनुमान का वास्तविक अनुमेय एक निश्चित प्रतीक या लक्षण से युक्त सत् का क्षण होता है, जैसे एक अप्रत्यक्ष, अनुमित अग्नि से युक्त एक पर्वत। दिङ्नाग का कथन है कि "कुछ लोग ऐसे हैं जो यह मानते है कि अनुमित वस्तु किसी स्थान मे खोजा गया एक नवीन धर्म है। पुन, कुछ अन्य यह मानते है कि यह स्वय वह धर्म नही बल्कि उसका उस अधिकरण (धर्मी) के साथ सम्बन्ध है जिसका अनुमान मे ज्ञान होता है। हम यह क्यो न मान लें कि अनुमित भाग, अनुमित धर्म से लक्षित रूप से, स्वय अधिकरण से ही निर्मित होता है? अर्थात् अनुमान द्वारा जिसका ज्ञान होता है वह न तो साध्य-पद होता है, न तो साध्य-पद का पक्ष पद के साथ सम्बन्ध, बल्कि सत् का वह क्षण होता है जो अपने अनुमति लक्षण से लक्षित होता है। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनो के लिये परिभाषा एक ही है। वसुबन्धु की परिभाषा भी वस्तुत भिन्न नही है, किन्तु वसुबन्धु के वाक्यविन्यास की दिङ्नाग ने तीव्र आलोचना की है।[१]

§ ४. स्वार्थानुमान और अनुमानीकरण

यत अनुमान को हमारे ज्ञान के प्रमाणो मे से एक कहा गया है, अत हमारे सामने पुन यह समस्या आती है कि किसी प्रमाण तथा उसके फल मे, ज्ञान की क्रिया तथा उसके विषय मे क्या अन्तर है?[२] ज्ञान की क्रिया के रूप मे अनुमान तथा उसके फल के रूप मे अनुमान के बीच क्या अन्तर है? इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की ही भाँति यहाँ भी बौद्ध अन्तर को स्वीकार करते है। दोनो ही दो दृष्टियो से देखी गई एक ही वस्तु है। अनुमान का अर्थ किसी वस्तु का उसके लक्षण द्वारा ज्ञान है। यह ज्ञान "एक ज्ञान"[3] है, अर्थात् प्रापक ज्ञान की एक ही क्रिया है जिसका अर्थ-क्रियाकारित्व अनुगमन कर सकता है। विश्लेषण करने पर यह एक आकार तथा उसके विषयात्मक

---

[१] प्रसमु० २ २५ और बाद।

[२] प्रमाण और प्रमाण-फल मे।

[3] 'अनुमानम् एकम् विज्ञानम्', तुकी० न्याकणि० पृ० १२५।

सन्दर्भ से युक्त होता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भाँति यहाँ भी आकार तथा विषयात्मक यथार्थता के बीच "सारूप्य"[१] मिलता है। यदि हम चाहे तो इस सारूप्य के तथ्य को ज्ञान उत्पन्न करनेवाले निकटतम हेतु के रूप मे ग्रहण कर सकते हैं। सारूप्य तब ज्ञान का प्रमाण, और यथार्थ के किसी क्षण के प्रति इसका प्रयोग फल होगा। परन्तु ज्ञान का सारूप्य तथा ज्ञान स्वय दोनो एक ही वस्तु हैं जिन्हे केवल भिन्न दृष्टियो से देखा मात्र गया है।

यथार्थवादी सम्प्रदाय कोई आकार नही मानते और इसके फलस्वरूप किसी आकार तथा बाह्य यथार्थता के बीच किसी सारूप्य को भी स्वीकार नही करते। प्रत्येक अन्य क्रिया की ही भाँति ज्ञान-क्रिया भी किसी कर्ता, किसी विषय, किसी उपकरण, उसकी विधि और पद्धति, तथा किसी परिणाम से अपृथक्करणीय है। अनुमान मे निगमन फल है। एक पक्ष के अनुसार पद्धति और उपकरण हेतु और फल के बीच व्याप्ति के ज्ञान मे निहित हैं। अन्य के अनुसार ये अनुमान के विषय मे उपस्थित लक्षण के ज्ञान मे निहित हैं। यह पद अशत पक्ष-पद के अनुरूप है।[२] किन्तु इसमे कुछ अधिक निहित है क्योंकि इसे व्याप्ति-लक्षण से भी युक्त कहा गया है—अर्थात् यह पक्ष-पद के सयोजन को व्यक्त करता है। यह वह पद है जिसका निगमन तत्काल अनुगमन करता है। उद्योतकर[३] के अनुसार ये दोनो ही पद अनुमान-क्रिया को व्यक्त करते हैं। ये दोनो ही निगमन को उत्पन्न करनेवाले तत्काल पूर्ववर्ती और आसन्न कारण हैं। बौद्ध, नि सन्देह, इन पदो के अस्तित्व और महत्त्व को अस्वीकार नही करते। परन्तु इनके लिये ये स्वय अपने मे ही ज्ञान हैं। ये जिस बात को अस्वीकार करते है वह प्रत्येक ज्ञान के अन्तर्गत प्रत्यक्ष तथा ज्ञान-प्रक्रिया के बीच का अन्तर है। विषय के प्रति ज्ञान के सभी पक्ष तथा उस विषय का ज्ञान दोनो ही एक ही बात है। धर्मोत्तर कहते है कि मान लीजिये यदि हमने अनुमान के द्वारा किसी स्थान पर एक नील-पट की उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया है, तो इस दशा मे भी परिणाम वही होगा जो उसके इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान प्राप्त करने पर होता। इनका कथन[४] है कि "नीलपट का यह (कल्पित) आकार (आरम्भ मे अनिश्चित रूप से) होता है, तदनन्तर यह एक नील-पट के निश्चित आत्म-चेतन विचार के रूप

---

[१] सारूप्य।

[२] तुकी० ताटी० पृ० ११२।

[३] न्यावा० पृ० ४६.६।

[४] न्याबिटी० पृ० १८.११ और बाद, अनुवाद पृ० ५१।

मे स्थिरीकृत हो जाता है (अन्य नीलेतर रगो के साथ अपने अन्तर के आधार पर)। इस प्रकार, इस (निश्चित रूप से निर्धारित) आकार के प्रमाण के रूप मे नीलपट का सारूप्य (यहा ऐसे रगो के साथ इसके अन्तर को ध्यान मे रक्खा जा सकता है जो नीले नही हैं), तथा उसका कल्पित स्पष्ट स्वरूप उसके परिणाम के रूप मे प्रगट होगा क्योकि सारूप्य (तथा विभेद) के द्वारा ही नील पट के निश्चित आकार का ज्ञान होता है।"

इस प्रकार "नीलपट" और "नीलपट का सारूप्य" दोनो एक ही बात है। नीले का अर्थ जगत् की समस्त अन्य नीली वस्तुओ के साथ समानता है, तथा इसका अर्थ जगत् की अन्य समस्त नीलेतर वस्तुओ से असमानता भी है। समानता और असमानता दोनो ही नीले के सम्बन्ध मे हमारे ज्ञान के सभी पक्षो का तथा नीले के ज्ञान का निर्माण करती हैं। नीलपट की उपस्थिति का चाहे अनुमान किया गया हो या प्रत्यक्ष, इससे कोई अन्तर नही पडता। ज्ञान की प्रक्रिया तथा ज्ञान के विषय-वस्तु मे कोई अन्तर नहीं है।

§ ५. स्वार्थानुमान कहाँ तक सम्यक् ज्ञान है

यहाँ ज्ञान के एक प्रमाण की किसी भी ऐसे नवीन विज्ञान के प्रथम क्षण के रूप मे परिभाषा की गई है जो अनुभव का विरोध नही करता।[1] अत इसे किसी भी प्रकार के आत्मनिष्ठ, स्मृतिज अथवा विकल्पक तत्त्व से सर्वथा रहित होना चाहिये।[2] हम देख चुके है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मे केवल उसका प्रथम क्षण ही, जो विज्ञानमात्र होता है, इस परिभाषा की आवश्यकता को पूर्ण करता है। किन्तु इस प्रकार का विज्ञान अकेले ही, अनिश्चित होने के कारण, हमारी अर्थक्रियाकारी क्रियाओ का निर्देशन नही कर सकता। अत कल्पना उत्पन्न होती है और विज्ञान की मात्र सामग्री को निश्चितता प्रदान करती है।

प्रत्यक्षात्मक निश्चय[3], इस प्रकार, नवीन और प्राचीन विज्ञान का, विषयात्मक यथार्थ और आत्मनिष्ठ विवेचन का एक मिश्रित फल होता है। यह नवीन सम्यक् ज्ञान के प्रमाण की मर्यादा अर्जित कर लेता है, यद्यपि विशुद्ध अर्थों मे इसे ऐसा करने का पूर्ण अधिकार नही होता। स्वार्थानुमान अभी भी विशुद्ध विज्ञान से अपेक्षाकृत दूर होता है। यदि प्रत्यक्षात्मक निश्चय सर्वथा

[1] प्रथमम् अविसवादि।

[2] निर्विकल्पक होना चाहिये।

[3] सविकल्पक = अध्यवसाय।

नवीन ज्ञान नही है[१] तो सम्यक् ज्ञान का प्रमाण कहलाने का स्वार्थानुमान को और भी कम अधिकार है। अत धर्मोत्तर यह कहते हैं कि "अनुमान भ्रान्ति है।[२] यह ऐसे असत् से सम्बद्ध होता है जो स्वय इसी की कल्पना है और उसे (मिथ्या रूप से) सत् के साथ समीकृत कर देता है ?"

निष्कर्षण की उस उच्चता से जिससे मात्र विज्ञान को ही वस्तु-स्वलक्षण मे प्राप्त परमार्थ-सत् को व्यक्त करनेवाला कहा गया है, उतर कर प्रत्यक्षात्मक निश्चय, जो कि स्मृति-धर्मों से, आत्मनिष्ठ और कल्पनात्मक धर्मों से अन्तर्मिश्रित होता है, अर्धज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही रह जाता। अनुमान, जो और भी विकल्पो मे अवस्थित है—दूसरे शब्दो मे दो-तिहाई अर्थात् इसके तीन पदो मे से दो कल्पना होते हैं—निश्चित रूप से एक प्रकार की अनुभवातीत भ्रान्ति प्रतीत होता है। यद्यपि यह तथ्य कि दिङ्नाग यह कहते हुये आरम्भ करते है कि ज्ञान के केवल दो ही प्रमाण, और विषयो के भी केवल दो ही प्रकार—एक विशेष और दूसरा सामान्य, होते हैं तथा इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो प्रमाणो का समान अधिकार है और दोनो के विषय यथार्थ विषय हैं, तथापि इस तथ्य की न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदायो से आने वाले पारम्परिक आधार के द्वारा ही व्याख्या की जानी चाहिये, क्योकि अपने ग्रन्थ के आरम्भ मे इस प्रकार का वक्तव्य देने के वाद, दिङ्नाग इसके अभिप्रायो से एक-एक पग करके पीछे हटने के लिये विवश प्रतीत होते है। सर्वप्रथम, सामान्य कोई सत्तायें नही वल्कि कल्पना मात्र तथा नाम मात्र है। इन विकल्पात्मक धारणाओ का प्रयोग करने के लिये विवश अनुमान, सम्यक् ज्ञान का प्रमाण नही वल्कि भ्रान्ति का स्रोत वन जाता है। इतना ही नही, यहाँ तक कि प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे भी केवल अर्ध-सम्यक्त्व होता है, क्योकि यद्यपि यह वस्तु-स्वलक्षण तक सीधा पहुँचता है, तथापि उसके प्रत्यक्ष के पूर्व यह निष्क्रिय तथा शक्तिहीन रहने के लिये विवश होता है। एक अर्ध-यथार्थ जगत् मे विचरण करने के लिये मनुष्यो को कल्पना का आश्रय लेना ही चाहिये। इस दृष्टि से अनुमान एक ऐसी विधि है जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षात्मक-निश्चय के अधीन होती है। इसका कार्य स्पष्ट त्रुटियो का परिमार्जन करना है। उदाहरण के लिये, जव ध्वनि की क्षणिक प्रकृति का विज्ञान द्वारा ग्रहण तथा प्रत्यक्षात्मक निश्चय द्वारा विवेचन हो चुकता है, तव मीमासको के सिद्धान्त का साक्षात्कार करना ही होगा जिसके

---

[१] नविकल्पकम् न प्रमाणम्।

[२] 'भ्रान्तम् अनुमानम्', तुकी० न्याविटी० पृ० ७ १२।

अनुसार वाणी की ध्वनियाँ ऐसी स्थायी द्रव्य है जो अपने को क्षणिक अविर्भावो के रूप मे प्रकट करती है। तब अनुमान सामने आता है और इन उच्चरित ध्वनियो की क्षणिक प्रकृति का निष्कर्ष निकलता है—सर्वप्रथम क्षणिकवाद की सामान्य प्रकृति के द्वारा और तदनन्तर इस नियम के द्वारा कि जो कुछ भी प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह नित्य नही होता।[1] इस प्रकार, अनुमान जब भ्रान्ति को शुद्ध करने का कार्य करता है तब ज्ञान का एक परोक्ष प्रमाण होता है। धर्मकीर्ति[2] का यह कथन है "विज्ञान किसी को निश्चयता नही प्रदान करता। यदि यह किसी बात का बोध करता है तो यह एक निर्विकल्पक प्रतिभास के रूप मे ही ऐसा करता है, निश्चय के रूप मे नही। अपने उस अश मे जिसमे विज्ञान तज्जनित सम्यक् निश्चय को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, केवल उसी मे यह प्रामाण्य की मर्यादा अर्जित करता है।[3] किन्तु उस अश मे जिसमे, त्रुटियो के कारण इसमे ऐसा करने की शक्ति नहीं होती, ज्ञान का एक अन्य प्रमाण क्रियाशील हो जाता है। यह सभी त्रुटिपूर्ण कल्पनाओ को अलग हटा देता है और इस प्रकार हमे एक अन्य प्रमाण (अर्थात् अनुमान) उपलब्ध होता है जो तब सामने आ जाता है।"

कमलशील[4] मे भी हमे इसी प्रकार के तर्क मिलते हैं।

ज्ञान के किसी प्रमाण को नि सदेह अर्थ-सवाद मे निहित कहा गया है। किन्तु उस सवादकत्व से परमार्थ-सत् के वास्तविक प्रमाण के रूप मे उसके एक मात्र सवेदनात्मक केन्द्र को तत्काल पृथक् कर लिया गया है। शेष, यद्यपि अर्थ-सवाद को व्यक्त करता है तथापि एक अनुभवातीत भ्रान्ति प्रतीत होता है। कमलशील[5] कहते है कि "यद्यपि यह अप्रतिबवित (आनुभविक दृष्टि से) होता है, तथापि हम यह नही मानते कि यह परमार्थ-सत् को व्यक्त करता है।" ज्योही किसी ऐसी बाह्य वस्तु से निर्विकल्पक विज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसके तत्काल बाद प्रत्यक्ष और सकल्प होगा तथा जिसकी नाम कल्पना की जायगी, जैसे, उदाहरण के लिये, 'अग्नि', त्योही अवधान (प्रवतन) जागृत हो जाता है और काल और दिक् के अन्तर्गत उसके स्थान

---

[1] प्रयत्न-अनन्तरीयकत्वाद् अनित्य शब्द।

[2] तुकी अजप० पृ० १७७ का सदर्भ जिसके एक अश को ऊपर पृ० २६४ पर उल्लिखित किया जा चुका है।

[3] प्रामाण्यम् आत्मसात्-कुरुते

[4] तसप० पृ० ३९० १० और बाद।

[5] तसप० पृ० ३९० १४।

नवीन ज्ञान नही है[1] तो सम्यक् ज्ञान का प्रमाण कहलाने का स्वार्थानुमान को और भी कम अधिकार है। अत धर्मोत्तर यह कहते है कि 'अनुमान भ्रान्ति है'[2] यह ऐसे असत् से सम्बद्ध होता है जो स्वय अपनी ही कल्पना है और उसे (मिथ्या रूप से) सत् के साथ समीकृत कर देता है।'

निष्कर्षण की उस उच्चता से जिससे मात्र विज्ञान को ही वस्तु-स्वलक्षण मे प्राप्त परमार्थ-सत् को व्यक्त करनेवाला कहा गया है, उतर कर प्रत्यक्षात्मक निश्चय, जो कि स्मृति-धर्मो से, आत्मनिष्ठ और कल्पनात्मक धर्मो से अन्तर्मिश्रित होता है, भ्रमज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही रह जाता। अनुमान, जो और भी विकल्पो मे अवस्थित है—दूसरे शब्दो मे दो-तिहाई अर्थात् इसके तीन पदो मे से दो कल्पना होते है—निश्चित रूप से एक प्रकार की अनुभवातीत भ्रान्ति प्रतीत होता है। यद्यपि यह तथ्य कि दिङ्नाग यह कहते हुये आरम्भ करते है कि ज्ञान के केवल दो ही प्रमाण, और विषयो के भी केवल दो ही प्रकार—एक विशेष और दूसरा सामान्य, होते है तथा इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो प्रमाणो का समान अधिकार है और दोनो के विषय यथार्थ विषय है, तथापि इस तथ्य की न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदायो से आने वाले पारम्परिक आधार के द्वारा ही व्याख्या की जानी चाहिये, क्योकि अपने ग्रन्थ के आरम्भ मे इस प्रकार का वक्तव्य देने के बाद, दिङ्नाग इसके अभिप्रायो से एक-एक पग करके पीछे हटने के लिये विवश प्रतीत होते हैं। सर्वप्रथम, सामान्य कोई सत्तायें नही बल्कि कल्पना मात्र तथा नाम मात्र हैं। इन विकल्पात्मक धारणाओ का प्रयोग करने के लिये विवश अनुमान, सम्यक् ज्ञान का प्रमाण नही बल्कि भ्रान्ति का स्रोत बन जाता है। इतना ही नही, यहाँ तक कि प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे भी केवल अर्ध-सम्यक्त्व होता है, क्योकि यद्यपि यह वस्तु-स्वलक्षण तक सीधा पहुँचता है, तथापि उसके प्रत्यक्ष के पूर्व यह निष्क्रिय तथा शक्तिहीन रहने के लिये विवश होता है। एक अर्ध-यथार्थ जगत् मे विचरण करने के लिये मनुष्यो को कल्पना का आश्रय लेना ही चाहिये। इस दृष्टि से अनुमान एक ऐसी विधि है जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षात्मक-निश्चय के अधीन होती है। इसका कार्य स्पष्ट त्रुटियो का परिमार्जन करना है। उदाहरण के लिये, जब ध्वनि की क्षणिक प्रकृति का विज्ञान द्वारा ग्रहण तथा प्रत्यक्षात्मक निश्चय द्वारा विवेचन हो चुकता है, तब मीमासको के सिद्धान्त का साक्षात्कार करना ही होगा जिसके

---

२ सविकल्पकम् न प्रमाणम्।

२ 'भ्रान्तम् अनुमानम्', तुकी० न्याबिटी० पृ० ७. १२।

अनुसार वाणी की ध्वनियाँ ऐसी स्थायी द्रव्य हैं जो अपने को क्षणिक अविर्भावों के रूप में प्रकट करती हैं। तब अनुमान सामने आता है और इन उच्चरित ध्वनियों की क्षणिक प्रकृति का निष्कर्ष निकलता है—सर्वप्रथम क्षणिकवाद की सामान्य प्रकृति के द्वारा और तदनन्तर इस नियम के द्वारा कि जो कुछ भी प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह नित्य नहीं होता।[1] इस प्रकार, अनुमान जब भ्रान्ति को शुद्ध करने का कार्य करता है तब ज्ञान का एक परोक्ष प्रमाण होता है। धर्मकीर्ति[2] का यह कथन है "विज्ञान किसी को निश्चयता नहीं प्रदान करता। यदि यह किसी बात का बोध करता है तो यह एक निर्विकल्पक प्रतिभास के रूप में ही ऐसा करता है, निश्चय के रूप में नहीं। अपने उस अंश में जिसमें विज्ञान तज्जनित सम्यक् निश्चय को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, केवल उसी में यह प्रामाण्य की मर्यादित अर्जित करता है।[3] किन्तु उस अंश में जिसमें, त्रुटियों के कारण इसमें ऐसा करने की शक्ति नहीं होती, ज्ञान का एक अन्य प्रमाण क्रियाशील हो जाता है। यह सभी त्रुटिपूर्ण कल्पनाओं को अलग हटा देता है और इस प्रकार हमें एक अन्य प्रमाण (अर्थात् अनुमान) उपलब्ध होता है जो तब सामने आ जाता है।"

कमलशील[4] में भी हमें इसी प्रकार के तर्क मिलते हैं।

ज्ञान के किसी प्रमाण को निःसंदेह अर्थ-संवाद में निहित कहा गया है। किन्तु उस सवादकत्व से परमार्थ-सत् के वास्तविक प्रमाण के रूप में उसके एक मात्र सवेदनात्मक केन्द्र को तत्काल पृथक् कर लिया गया है। शेष, यद्यपि अर्थ-संवाद को व्यक्त करता है तथापि एक अनुभवातीत भ्रान्ति प्रतीत होता है। कमलशील[5] कहते हैं कि "यद्यपि यह अप्रतिविंबित (आनुभविक दृष्टि से) होता है, तथापि हम यह नहीं मानते कि यह परमार्थ-सत् को व्यक्त करता है।" ज्योंही किसी ऐसी बाह्य वस्तु से निर्विकल्पक विज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसके तत्काल बाद प्रत्यक्ष और संकल्प होगा तथा जिसकी नाम कल्पना की जायगी, जैसे, उदाहरण के लिये, 'अग्नि', त्योंही अवधान (प्रवर्तन) जागृत हो जाता है और काल और दिक् के अन्तर्गत उसके स्थान

---

[1] प्रयत्न—अनन्तरीयकत्वाद् अनित्य शब्द।

[2] तुकी अजप० पृ० १७७ का सदर्भ जिसके एक अंश को ऊपर पृ० २६४ पर उल्लिखित किया जा चुका है।

[3] प्रामाण्यम् आत्मसात्-कुरुते

[4] तसप० पृ० ३९० १० और बाद।

[5] तसप० पृ० ३९० १४।

का निर्धारण कर लेने के बाद प्रज्ञा एक द्वैधत्व उत्पन्न कर देती है। बाद का सम्पूर्ण जगत् वस्तुओ के दो वर्गों, जैसे अग्नि-वत् और अ-अग्निवत् मे विभाजित है। इनके मध्य[1] के किसी तृतीय प्रकार का अस्तित्व नही होता। दोनो ही वर्ग एक दूसरे के विरोधत्व से युक्त होते हैं। विरोधत्व और वर्जित मध्य के नियम क्रियाशील हो उठते है। दोनो ही निश्चय, एक विधि का निश्चय तथा दूसरा अनुपलब्धि का निश्चय, एक साथ उत्पन्न होते है, जैसे, "यह अग्नि है", "यह पुष्प नही है" अर्थात् "यह अ-अग्नि नही है", इत्यादि।

अनुमान मे प्रज्ञा की क्रिया अपेक्षाकृत अधिक जटिल होती है। जब धूम की उपस्थिति से हम अग्नि की उपपस्थिति का अनुमान करते है तब बाद के सम्पूर्ण विश्व का द्वैधीकरण हो जाता है—एक ऐसे अश मे जहाँ धूम अग्नि का अनुगमन करता है तथा एक ऐसे अश मे जहाँ अ-धूम अ-अग्नि का अनुगमन करता है। इन दो वर्गों के बीच कोई मध्यवर्ती, कोई ऐसा वर्ग नही होता जहाँ अग्नि से उत्पन्न हुये बिना भी धूम की सत्ता हो सके।

बुद्धि का द्वैधीकरण का यह कार्य उसका अपना स्वभाव है और हम अनुपलब्धि और विरोध के बौद्ध-सिद्धान्तो तथा इनके ही अपोहवाद के विवेचन के समय इसका पुन अध्ययन करेंगे।

§ ६. तर्क के तीन पक्ष

यद्यपि अनुमान की प्रक्रिया तथा उसके फल के बीच कोई अन्तर नही है, और न प्रत्यक्षात्मक तथा अनुमानात्मक निश्चय के ही बीच कोई अन्तर है क्योंकि दोनो ही हमारे सकल्पो को विषयात्मक सन्दर्भ प्रदान करने मे निहित होते हैं, तथापि इस आशय मे अन्तर अवश्य है कि अनुमान सन्दर्भ की इस प्रकार की क्रिया के तार्किक औचित्य से युक्त होता है। उदाहरण के लिये, जब हम किसी क्षण को उस अग्नि के आकार से एकीकृत करते हैं जिसका साक्षात् प्रत्यक्ष नही होता, तब हमारा ऐसा करना औचित्यपूर्ण होता है क्योंकि हम धूम का प्रत्यक्ष करते हैं। धूम अग्नि की उपस्थिति का एक निश्चित लक्षण है और निष्कर्ष का औचित्य सिद्ध करता है।

यह औचित्य या तर्क, इस प्रकार, वह विभेदात्मक और विशिष्ट गुण है जो एक प्रत्यक्षात्मक तथा अनुमानात्मक निश्चय के बीच के अन्तर की ओर सकेत करता है। फिर भी, ज्ञान एक द्वैधत्व होता है।

ज्ञान, जहाँ तक यह निष्क्रिय विज्ञान का नही बल्कि विकल्प-बुद्धि का कार्य है, एक द्वैधीकरण की प्रक्रिया है। यह सदैव अपने विषय को दो भागो,

---

१ [illegible]

एक समान और दूसरे असमान भाग में विभक्त करने से आरम्भ होता है। यह सदैव समान के साथ सहमति तथा असमान के साथ असहमति की विधि से, अर्थात् सहमति और अन्तर की मिश्रित विधि से सचालित होता है। यदि मात्र सहमति की ही विधि व्यक्त हो तो भी अन्तर की विधि उसमें निहित होती है। यदि अन्तर की विधि व्यक्त हो तो उसमें सहमति का नियम भी निहित होता है। सत्यापन और शुद्धता की दृष्टि से दोनों को व्यक्त किया जा सकता है।

किसी अनुमान में समान क्या होता है ? और असमान क्या होता है ? धर्मोत्तर[1] का यह कथन है "तार्किक साध्य के समान धर्म से युक्त होने से कोई वस्तु जो अनुमित वस्तु के समान होती है वह समान कहलाती है।" हमारे उदाहरण में सभी पक्ष जो "अग्नित्व" के धर्म से युक्त है समान होंगे। यही लेखक आगे कहते हैं कि "जब तक अनुमान का निगमन नहीं होता तब तक साध्य या सिद्ध की जाने वाली वस्तु सिद्ध नहीं होती। और यह एक धर्म होती है क्योंकि इसकी सत्ता उस अधिष्ठान द्वारा निर्धारित होती है जिससे यह भिन्न होती है। इस प्रकार यह एक साध्य धर्म (निष्कृष्ट धर्म) होती है।" धर्मोत्तर आगे कहते है कि कोई भी विशेष कभी साध्य नहीं हो सकता। वह तो सदैव सामान्य ही होता है। यही कारण है कि यह कहा गया है कि अनुमान द्वारा साध्य वस्तु सामान्य होती है। यह साध्य-धर्म होती है और सामान्य होती है। समान पक्ष किसी अनुमान द्वारा साध्य धर्म के समान होता है क्योंकि दोनों का ही साध्यधर्म की सामान्यता में बोध होता है।"

इस वक्तव्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि कोई भी विशेष साध्य अनुमानात्मक प्रक्रिया में अभिव्यक्ति की किसी अस्वाभाविक और विकृत विधि के अतिरिक्त और किसी प्रकार भी प्रवेश नहीं कर सकता।

असमान पक्ष क्या है ? असमान असपक्ष है, यह सपक्ष का विपरीत होता है। ऐसे सभी उदाहरण जहाँ साध्यधर्म उपस्थित नहीं होता, जैसे जल जिसमें अग्नि का अस्तित्व नहीं हो सकता, असपक्ष होते हैं। ये या तो उस धर्म के सरल अभाव मात्र होते हैं, अथवा किसी भिन्न वस्तु अथवा किसी विरोधी वस्तु की उपस्थिति होते है। अभाव, अन्यत्व, और विरोधत्व सब मिलकर असपक्ष का निर्माण करते है। इसमें अभाव तो साक्षात् होता है तथा अन्यत्व और विरोधत्व अभिप्रेत होते हैं।[2]

---

[1] न्याविटी० पृ० २१-१, अनुवाद पृ० ५९।

[2] न्याविटी० पृ० २१ १०, अनुवाद पृ० ६०।

तार्किक हेतु के एक ओर अनुमान के अधिष्ठान के साथ और दूसरी ओर सपक्ष तथा असपक्ष के साथ सम्बन्ध को वसुबन्धु के तीन नियमो से व्यक्त किया गया है जिनकी दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने भी पुष्टि की है। ये तीनो बौद्धो द्वारा प्रवर्तित तथा परिष्कृत वैशेषिको को छोड भारतीय नैयायिको के अन्य सभी सम्प्रदायो द्वारा अस्वीकृत तार्किक हेतु के तीन प्रख्यात पक्षो का निर्माण करते हैं।

हेतु का त्रिविध पक्ष इस प्रकार है

(१) अनुमान के साध्य मे इसकी उपस्थिति।

(२) सपक्ष मे इसकी उपस्थिति।

(३) असपक्ष मे इसकी अनुपस्थिति।

इस निर्धारण को और अधिक शुद्धता प्रदान करने के लिये धर्मकीर्ति सस्कृत भाषा की उस उल्लेखनीय विशिष्टता का प्रयोग करते है जो जोर देनेवाले मात्रता के निपात को या तो योजक अथवा साध्य के साथ रखने मे निहित है। प्रथम दशा मे यह उक्ति को 'अयोग-व्यवच्छेद' अर्थ प्रदान करता है और दूसरी दशा मे इसका अर्थ 'अन्य-योग-व्यवच्छेद'[1] होता है। तब तीन पक्षो को इस प्रकार व्यक्त किया गया है

(१) हेतु की साध्य मे उपस्थिति, इसकी 'मात्र' उपस्थिति, अर्थात् अभाव कभी नही।

(२) सपक्षो मे इसकी उपस्थिति—मात्र सपक्षो मे, अर्थात् असपक्षो मे कभी नही, किन्तु सपक्षो की समग्रता मे नही।

(३) असपक्षो मे इसका अभाव—'मात्र' अभाव अर्थात् कभी भी उपस्थिति नही, असपक्षो की समग्रता से अभाव।

यह सरलतापूर्वक देखा जा सकता है कि द्वितीय और तृतीय नियमो से दोनो परस्पर अभिप्रेत हैं। यदि हेतु केवल सपक्षो मे ही उपस्थित है तो प्रत्येक असपक्ष मे उसका अभाव भी होगा। और यदि उसका प्रत्येक असपक्ष मे अभाव है तो यह केवल सपक्षो मे उपस्थित हो सकता है, यद्यपि अनिवार्यत इनमे से सभी मे नही। फिर भी दोनो नियमो का अवश्य उल्लेख किया जाना चाहिये क्योकि यद्यपि किसी शुद्ध अनुमान मे एक के व्यवहार का अर्थ दूसरे का भी व्यवहार है, तथापि हेत्वाभासो मे इनके अतिक्रमण कभी कभी भिन्न फल प्रदान करते हैं। साथ ही, धर्मकीर्ति प्रत्येक नियम के निर्धारण के

---

[1] एक तृतीय दशा 'अत्यन्त-योग-व्यवच्छेद' भी होगी, तुकी० ताटी० पृ० २१३।

'अनिवार्य' शब्द भी जोड देते है। इस प्रकार इन नियमो का अन्तिम रूप इस प्रकार होगा

(१) साध्य के समुच्चय मे हेतु की अनिवार्य उपस्थिति।

(२) केवल सपक्षो मे ही, यद्यपि इनके समुच्चय मे नही, इसकी अनिवार्य उपस्थिति।

(३) असपक्षो के समुच्चय मे इसका अनिवार्य अभाव।

संस्कृत तथा तिब्बती भाषाओ की समस्त सारगर्भित संक्षिप्तता के साथ व्यक्त होने पर ये इस प्रकार होगे

(१) साध्य मे समग्रत

(२) सपक्ष मे केवल

(३) असपक्ष मे कभी नही।

यदि साध्य के समुच्चय मे हेतु उपस्थित न हो तो हेत्वाभास होगा। उदाहरण के लिये, यह जैन अनुमान कि "वृक्ष चेतन प्राणी है क्योकि वे सोते है" एक हेत्वाभास है क्योकि रात्रि के समय पत्तो को समेटने की क्रिया द्वारा प्रगट होनेवाली निद्रा कुछ वृक्षो मे ही होती है उनके समुच्चय मे नही।

यदि अनुमान के नियमो की यह आवश्यकता है कि हेतु को समस्त सपक्ष मे उपस्थित होना चाहिये तो मीमासको के विरुद्ध प्रस्तुत तर्को मे से एक "कि वाणी की ध्वनियाँ शाश्वत सत्ताये नही है क्योकि उनकी यदृच्छा उत्पत्ति होती है" ठीक नही होगा क्योकि यदृच्छा उत्पत्ति अशाश्वत वस्तुओ का केवल एक अश मात्र है, उनका समुच्चय नही।

इसी तर्क को एक परिवर्तित रूप से व्यक्त करने पर, जैसे यह कि "वाणी की ध्वनियाँ यदृच्छा उत्पन्न होती है क्योकि ये अस्थायी है", उक्त तृतीय नियम का उल्लङ्घन होगा क्योकि "अस्थायित्व का लक्षण असपक्षो के केवल एक अश मे ही उपस्थित है, जैसे विद्युत आदि, जो यद्यपि अस्थायी तो होते है किन्तु इनकी यदृच्छा उत्पत्ति नही होती।

यदि तीसरे नियम का दूसरे के शब्द-विन्यास के समान ही निर्धारण किया गया होता, अर्थात इसके अनुसार केवल असपक्षो से ही हेतु के अभाव की आवश्यकता होती तब यह अनुमान कि "वाणी की ध्वनियाँ अ-शाश्वत हैं क्योकि इनकी यदृच्छा उत्पत्ति हो सकती है" ठीक नही होता क्योकि यदृच्छा उत्पत्ति के धर्म का न केवल असपक्षो मे ही वरन् कुछ सपक्षो, अ-शाश्वतो, जैसे विद्युत आदि मे भी, अभाव होता है।

यह सरलतापूर्वक देखा जा सकता है कि दूसरा और तीसरा नियम एरिस्टॉटिल के प्रथम और द्वितीय आकृति के साध्य-आधारवाक्य के अनुरूप हैं, तथा पहला निमय भी एरिस्टॉटिल के पक्ष-आधारवाक्य के नियम के अतिरिक्त और कुछ नही।

आधारवाक्यो का क्रम व्यत्यस्त है, जिसमे पक्ष-आधारवाक्य प्रथम स्थान पर आ गया है और यह अनुमान-क्रिया मे लिप्त होने पर हमारी प्रज्ञा की स्वाभाविक पद्धति के अनुरूप है। अनुमान प्रमुखत किसी विशेष मे दूसरे विशेष की ओर अग्रसर होता है, और सामान्य नियम का ज्ञान के एक और अगले स्तर पर ही पुनराह्वान करता है। सामान्य नियम को यहाँ दो बार—एक बार समर्थक रूप मे और दूसरी बार आभावात्मक रूप मे—व्यक्त किया गया है, जैसा कि परार्थानुमान के बौद्ध सिद्धान्त के परीक्षण के समय आगे दिखाया जायगा।

§ ७. सम्बन्धो के विषय मे धर्मकीर्ति के नियम

अभी तक हमने इस बात की स्थापना की है कि अनुमान (क) दो सकल्पो अथवा दो तथ्यो के बीच अनिवार्य सम्बन्ध मे तथा (ख) इस प्रकार सम्बद्ध तथ्यो के विषयात्मक यथार्थ के क्षण के सन्दर्भ मे निहित होता है। प्रथम, एरिस्टॉटिल के परार्थानुमान के साध्य-आधारवाक्य के अनुरूप है तथा द्वितीय उनके पक्ष-आधारवाक्य और निगमन के संयोजन के अनुरूप। उस दृष्टिकोण से जिससे बौद्ध स्वार्थानुमान का विवेचन करते हैं, सम्बन्धो की समस्या प्रमुख महत्त्व अर्जित कर लेती है क्योकि स्वार्थानुमान दो तथ्यो के बीच अनिवार्य अन्तर्सम्बन्ध और उनके किसी यथार्थ क्षण के प्रति अनिवार्य सन्दर्भ के अतिरिक्त और कुछ नही। स्वार्थानुमान के तीन पदो के अन्तर्सम्बन्ध को तार्किक हेतु के तीन पक्षो के सिद्धान्त द्वारा स्थिर किया गया है। ये नियम ऐसी औपचारिक स्थितियाँ हैं जिनको प्रत्येक तार्किक हेतु को सन्तुष्ट करना चाहिए। किन्तु हमे न तो यह बताया गया है कि यह अन्तर्सम्बन्ध किसमे निहित है और न यही बताया गया है कि स्वय ये सम्बन्ध उतने ही यथार्थ है जितनी कि अन्तर्सम्बद्ध वस्तुयें यथार्थ होती हैं अथवा इन्हे इन वस्तुओ के साथ हमारी कल्पना द्वारा सयुक्त कर दिया जाता है। वास्तव मे सम्बद्ध वस्तुओ के लिए ये क्या होते हैं ? क्या ये कुछ होते हैं अथवा कुछ भी नही होते ? यदि ये कुछ होते हैं तो इन्हें दो सम्बद्ध एकत्वो के बीच का एक तीसरा एकत्व होना चाहिए। यदि ये कुछ नही हैं तो दो वस्तुयें असम्बद्ध ही रहेगी—दोनो के बीच

कोई वास्तविक सम्बन्ध होगा ही नही। इस समस्या के प्रति बौद्धो का उत्तर स्पष्ट है। सम्बन्ध आपातिक यथार्थता होता है, अर्थात यह कोई परमार्थ सत् नही होता। परमार्थ-सत् अ-सम्बद्ध होता है, यह अ-सम्बन्धी होता है, निरपेक्ष होता है। सम्बन्ध हमारी कल्पना की रचनायें होते है, ये कोई वास्तविकता नही होते।[1] फिर भी, भारतीय यथार्थवादी इसी मत को मानते रहे कि सम्बन्ध उतने ही वास्तविक या यथार्थ होते हैं जितनी वस्तुये, और इनका इन्द्रियो द्वारा ही प्रत्यक्ष होता है। उद्योतकर[2] का यह कथन है "किसी विषय के उसके लक्षण के साथ सम्बन्ध का प्रत्यक्ष इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का प्रथम कार्य होता है जिससे अनुमान अग्रसर होता है।" इनके अनुसार सम्बन्ध, तथा साथ ही साथ, सम्बद्ध तथ्यो का इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष होता है।

धर्मकीर्ति ने इस समस्या को इतना अधिक महत्वपूर्ण माना है कि अपने महान प्रबन्ध मे इसका प्रसंगश विवेचन करने के बाद भी इसका २५ सूत्रो के सम्बन्ध-परीक्षा नामक एक पृथक् ग्रन्थ[3] मे अपनी ही टीका

---

[1] तुकी० ब्राडले, लॉजिक पृ० ९६ "यदि सभी सम्बन्ध ऐसे तथ्य हो जो तथ्यो के बीच होते हैं तब सम्बन्धो तथा अन्य तथ्यो के बीच क्या आता है ? वास्तविक सत्य यह है कि एक ओर इकाइयो तथा दूसरी ओर उनके बीच के सम्बन्धो मे वास्तविकता कुछ भी नही होती।" यह सर्वथा एक बौद्ध विचार के समान ही ध्वनित होता है जिसका सस्कृत मे इस प्रकार अनुवाद किया जा सकता है "यदि सम्बन्धिनौ मध्ये सम्बन्धो कश्चिद् वस्तुत प्रविष्ट तत्-सम्बन्धस्य सम्बन्धिनोश् च मध्ये कोप्य् अपर सम्बन्ध प्रविष्टो न वा (इत्य् अनवस्था), अथायम् परमार्थं, सम्बन्धिनौ च सम्बन्धास् च सर्वे मिथ्या, मानुसस् ते, काल्पनिका, अतद्-व्यावृत्ति-मात्र-रूपा, अनादि-अविद्या-वासना-निर्मिता, अरोपित-स्वभावा, नि-स्वभावा, शून्या।" भारतीय यथार्थवादियो के अनुसार दो तथ्यो के बीच सम्बन्ध एक तीसरी इकाई होता है जो यथार्थता तथा सत्ता से युक्त होता है, किन्तु इस तीसरी इकाई के दोनो ओर के सम्बन्ध तथा इससे सम्बद्ध दो तथ्यो के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध का कोई अस्तित्व नही होता, यह स्वरूप-सत्ता से ही युक्त होता है = "विशेषण-विशेष्य-भाव" किन्तु "सत्ता-सामान्य" नही।

[2] न्यावा० पृ० ४६८,

[3] सम्बन्ध-परीक्षा स्वय ग्रन्थकार की टीका, तथा विनीतदेव और शङ्करानन्द की उपटीकाओ के साथ तन्जूर मे मिलता है। सम्बन्धो के बौद्ध सिद्धान्त का वाचस्पतिमिश्र ने अपनी न्याकणि० (पृ० २८९ और बाद) मे विश्लेषण किया है जहाँ एक ससर्ग-परीक्षा भी सम्मिलित है।

के साथ विवेचन किया है। इस कृति की एक उप-टीका मे महापण्डित शङ्करानन्द ने इसके उद्देश्य तथा विषयवस्तु की इस प्रकार समीक्षा की है "यह ग्रन्थ यथार्थता की समस्या का विवेचन करता है। एक शक्तिशाली विजेता-प्रहार द्वारा, उन समस्त बाह्य विषयो का जिनकी यथार्थता को (यथार्थवादियो द्वारा) स्वीकार किया गया है, प्रतिवाद किया जायगा और इसकी तुलना मे उस परमार्थ-सत् की स्थापना की जायगी जिसको स्वय ग्रन्थकर्त्ता स्वीकार करता है।" वास्तव मे, यदि सभी सम्बन्धो का परित्याग कर दिया जाय तो अकेले असम्बद्ध मात्र ही परमार्थसत् के रूप मे प्रकट होता है। प्रथम सूत्र मे धर्मकीर्ति यह व्यक्त करते है कि सयोग या सम्बन्ध का अनिवार्यत निर्भरता अर्थ है। अत "परमार्थसत् (अथवा स्वतन्त्र) के रूप मे किसी भी सम्बन्ध का कोई वास्तविक अस्तित्व नही है"। एक अन्य उपटीका मे विनीतदेव यह कहते हैं कि "अन्य से सम्बद्ध" "अन्य पर निर्भर", "अन्य द्वारा पुष्ट", "अन्य की इच्छा के अधीन" आदि अभिव्यक्तियाँ परस्पर-विकार्य हैं। कारणता, सम्पर्क, समवाय, और विरोध स्वय अपने मे यथार्थताएँ नही हैं। कल्पना के अतिरिक्त अन्यत्र इन सन्बन्धो के धारण करने वाले का कोई अस्तित्व नही है। एक सत् या यथार्थ सदैव एक सत् होता है, यह एक साथ ही एकमात्र और द्विविध दोनो नही हो सकता। धर्मकीर्ति[1] यह कहते हैं

> यत हेतु और उसके फल का
> एक साथ अस्तित्व नही होता,
> तव इनके सम्बन्ध का अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है ?
> यदि इसका दोनो मे अस्तित्व है, तो यह यथार्थ (सत्) कैसे है ?
> यदि इसका दोनो मे अस्तित्व नही है तो यह सम्वन्ध कैसे है।[2]

अत कारणता एक ऐसा सम्बन्ध है जिसे हमारी प्रज्ञा यथार्थ पर आरोपित कर देती है। यह यथार्थ की एक व्याख्या है स्वय यथार्थ नही।[3]

---

[1] सम्बन्ध-परीक्षा, ७।

[2] प्रसमु० २ १९ मे भी इसी समान तर्क मिलता है।

[3] इससे, नि-सन्देह, आनुभविक कारणता मात्र का, एक ऐसी कारणता का सन्दर्भ है जो दो रचित विषयों के बीच मे स्वय रचित होती है। क्षण की परमार्थ कारणता, जैसा कि हम देख चुके हैं, सम्बन्ध नही है, क्योकि यह परमार्थ सत् का पर्याय है।

वाचस्पतिमिश्र[1] एक बौद्ध को उद्धृत करते हैं जो यह टिप्पणी करता है कि विषयात्मक सत्यो या यथार्थो के रूप मे विचार करने पर ये सम्बन्ध मानो ऐसे कपट-व्यापारी है जो वस्तुओ को उनका यथोचित मूल्य चुकाये बिना ही खरीदते हैं। यह सत्य है कि ये प्रत्यक्षात्मकता अर्जित करते हुये प्रतीत होते हैं, किन्तु इनके पास अपना कुछ ऐसा स्वरूप नही होता जिसे ये इस प्रत्यक्षात्मकता को अर्जित करने के मूल्य के रूप मे चेतना को दे सके। यदि कोई वस्तु एक पृथक् एकता है तो उसके पास एक पृथक् स्वरूप भी होना चाहिये जिसे वह एक प्रतिनिधि के रूप मे चेतना को प्रदान कर सके। परन्तु सम्बन्ध का सम्बद्ध वस्तुओ से पृथक कोई स्वरूप नही होता। इसीलिये विनीतदेव[2] यह कहते हैं कि निर्भरता के आशय मे सम्बन्ध कुछ ऐसा नही हो सकता जो विषयात्मक दृष्टि से यथार्थ हो। यही लेखक यह भी कहता है कि कोई सम्बन्ध अंशत भी यथार्थ[3] नही हो सकता क्योकि अंशत यथार्थ होने का अर्थ एक ही समय मे यथार्थ और अयथार्थ दोनो ही होना है क्योकि "यथार्थ निरंश होता है, जिसके अंग होते हैं वह आनुभविक दृष्टि से यथार्थ हो सकता है (किन्तु परमार्थ-सत् नही हो सकता)।"

इस प्रकार, उस परमार्थ विशेष[4] अथवा क्षण के अतिरिक्त और कुछ यथार्थ नही हो सकता, जो, वास्तव मे, एक हेतु किन्तु परमार्थ हेतु होता है। मात्र यही किसी अन्य से असम्बद्ध तथा स्वतन्त्र होता है।

§ ८. निर्भरता के दो आधार

फिर भी, अनुमान को इस परमार्थ स्वतन्त्र और असम्बद्ध सत् से कुछ नही करना है। अनुमान उन सम्बन्धो पर आधारित होता है जो परमार्थ-सत् के आधार पर निर्मित एक अति-सरचना होते हैं। दिङ्नाग का कथन है कि "समस्त अनुमान (किसी हेतु और उसके फल के बीच का समस्त सम्बन्ध) अधिष्ठान तथा उसके गुणो के बीच हमारी प्रज्ञा द्वारा रचित सम्बन्धो पर आधारित होता है और परमार्थ-सत् अथवा असत् को प्रतिभासित नही करता।"[5]

---

[1] न्याकणि० पृ० २८९। इसी तुलना को किन्तु एक अन्य सन्दर्भ मे, इसी लेखक ने ताटी० पृ० २६९ ९ मे भी उद्धृत किया है।

[2] वही।

[3] वही।

[4] तुकी० सम्बन्धप० कारिका २५।

[5] तुकी० ताटी० पृ० १२७ २।

यत परमार्थ-सत् अ-सम्वन्धात्मक तथा स्वतन्त्र होता है, अत इसका प्रतिरूप, आनुभविक अथवा कल्पित-सत्, अन्तर्सम्वद्ध और अन्योन्याश्रित होता है। परन्तु कोई सम्वन्ध दो तथ्यो की आकस्मिक सह-उपस्थिति नही होता। यह तो एक के उपस्थित होने पर दूसरे की अनिवार्य उपस्थिति होता है। अत प्रत्येक अनिवार्य सम्वन्ध मे एक निर्भर अश होता है और दूसरा वह जिस पर यह अश निर्भर होता है। एक अश दूसरे के साथ आवद्ध रहता है। एक अश वह होता है जो आवद्ध होता है, और दूसरा वह जिससे वह आवद्ध रहता है।[1] समस्त आनुभविक सत्ता निर्भर सत्ता है। अव इस वात के केवल दो, और मात्र दो ही प्रकार होते हैं जिनके अनुसार एक तथ्य दूसरे पर निर्भर हो सकता है। वह या तो वाद वाले का एक अश होता है अथवा उसका फल। कोई तीसरी सम्भावना नही है। यह विभाजन द्वैधीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है, तथा वर्जित मध्य का नियम किसी तीसरे समन्वित एकाश की मान्यता का निषेध करता है। यह हमे तर्कना अथवा अनुमान के दो आधारभूत प्रकार प्रदान करता है जिनमे से एक तादात्म्य पर आधारित है। हम तादात्म्य को वह दशा कह सकते हैं जिसमे दो अनिवार्यत सम्वद्ध पक्षो मे से एक दूसरे का अश होता है। ये दोनो एक ही तथ्य को व्यक्त करते हैं, अर्थात् इनका विषयात्मक सन्दर्भ समान होता है। दोनो के वीच का अन्तर विशुद्धत तार्किक होता है।

तर्कना का एक अन्य प्रकार हेतुत्व पर आधारित है। प्रत्येक फल अनिवार्यत अपने हेतु या हेतुओ के अस्तित्व की पूर्वकल्पना करता है। हेतु की उपस्थिति का अनुमान किया जा सकता है, किन्तु इसका उलटा नही हो सकता, अर्थात् किसी फल का उसके हेतुओ के आधार पर सर्वथा अनिवार्यत-पूर्व निरूपण नही किया जा सकता क्योकि हेतु सदैव ही अपने फलो का वहन नही करते। कोई भी आकस्मिक तथा अनिरूपणीय परिस्थिति उनकी (फलो की) उत्पत्ति को अस्तव्यस्त कर सकती है।[2]

तर्कना के प्रथम प्रकार का निम्नलिखित अनुमानो द्वारा उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

यह एक वृक्ष है,
क्योकि यह एक शिशपा है,
सभी शिशपा वृक्ष हैं।

---

[1] न्याविटी० पृ० २५।
[2] तुकी न्याविटी० पृ० ४०८।

दूसरा उदाहरण
ध्वनि अनित्य है,
क्योंकि इसकी यदृच्छा उत्पत्ति होती है।
जिसकी भी यदृच्छा उत्पत्ति होती है वह अनित्य है।

अनित्यता तथा यदृच्छा उत्पत्ति दो भिन्न धर्म हैं जिनसे एक ही विषयात्मक बात का, ध्वनि का, तात्पर्य है। इसी प्रकार शिशपा और वृक्ष से भी एक ही यथार्थता का तात्पर्य है। दोनो के बीच का अन्तर 'व्यावृत्ति-भेद' है। वृक्ष समस्त अ-वृक्षो को व्यावृत्त या वर्जित करता है, शिशपा इसके अतिरिक्त समस्त अ-वृक्षो को तथा साथ ही साथ समस्त ऐसे वृक्षो को भी जो शिशपा नही है, वर्जित करता है। किन्तु वह वास्तविक वस्तु जिसका दोनो ही शब्दो से तात्पर्य है, एक ही है। अत हम यह कह सकते है कि ये तादात्म्य के द्वारा अथवा समान विषयात्मक सन्दर्भ के द्वारा सम्बद्ध हैं।

दूसरे प्रकार का बहुधा उल्लिखित उदाहरण इस प्रकार है
यहाँ कुछ अग्नि है,
क्योंकि यहाँ धूम है।
अग्नि के बिना धूम नही होता।

अग्नि और धूम तादात्म्य द्वारा सम्बद्ध नही हैं, क्योंकि इनका विषयात्मक सन्दर्भ भिन्न है। इनमे दो भिन्न, यद्यपि यथार्थता के अनिवार्यत अन्योन्याश्रित, क्षणो का तात्पर्य है। हम देख चुके है कि, यत हेतुत्व प्रतीत्य-समुत्पन्नत्व अथवा परस्पर-अपेक्ष सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नही, अत निर्भरता का हेतुत्व के अतिरिक्त और कोई अन्य वास्तविक सम्बन्ध हो ही नही सकता। निर्भरता (परस्पर-अपेक्षत्व), यदि यह केवल तार्किक नही है तो, प्रतीत्य-समुत्पाद है।

इस प्रकार हमे अनुमान का अथवा अनुमानात्मक निश्चय का दो रूपो मे विभाजन मिलता है—एक वह जो तादात्म्य पर, और दूसरा वह जो अ-तादात्म्य पर आधारित होता है। प्रथम का अर्थ सन्दभ का तादात्म्य है और दूसरे का प्रतीत्य-समुत्पन्नत्व। यह विभाजन विशुद्ध तार्किक है और द्वैधीकरण पर आधारित है।

धर्मोत्तर[1] का यह कथन है कि "किसी निश्चय मे साध्य की या तो स्थापना होती है अथवा उसकी अस्वीकृति ··जब इसकी (किसी लक्षण के माध्यम से) स्थापना की जाती है तब इस लक्षण का या तो सत्तात्मक

---

[1] न्याबिटी० पृ० २१.१८, अनुवाद पृ० ६०।

यत परमार्थ-सत् अ-सम्बन्धात्मक तथा स्वतन्त्र होता है, अत इसका प्रतिरूप, आनुभविक अथवा कल्पित-सत्, अन्तर्सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित होता है। परन्तु कोई सम्बन्ध दो तथ्यो की आकस्मिक सह-उपस्थिति नही होता। यह तो एक के उपस्थित होने पर दूसरे की अनिवार्य उपस्थिति होता है। अत प्रत्येक अनिवार्य सम्बन्ध मे एक निर्भर अश होता है और दूसरा वह जिस पर यह अश निर्भर होता है। एक अश दूसरे के साथ आवद्ध रहता है। एक अश वह होता है जो आवद्ध होता है, और दूसरा वह जिससे वह आवद्ध रहता है।[1] समस्त आनुभविक सत्ता निर्भर सत्ता है। अव इस वात के केवल दो, और मात्र दो ही प्रकार होते हैं जिनके अनुसार एक तथ्य दूसरे पर निर्भर हो सकता है। वह या तो वाद वाले का एक अश होता है अथवा उसका फल। कोई तीसरी सम्भावना नही है। यह विभाजन द्वैधीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है, तथा वर्जित मध्य का नियम किसी तीसरे समन्वित एकाश की मान्यता का निषेध करता है। यह हमे तर्कना अथवा अनुमान के दो आधारभूत प्रकार प्रदान करता है जिनमे से एक तादात्म्य पर आधारित है। हम तादात्म्य को वह दशा कह सकते हैं जिसमे दो अनिवार्यत सम्वद्ध पक्षो मे से एक दूसरे का अश होता है। ये दोनो एक ही तथ्य को व्यक्त करते हैं, अर्थात् इनका विषयात्मक सन्दर्भ समान होता है। दोनो के वीच का अन्तर विशुद्धत तार्किक होता है।

तर्कना का एक अन्य प्रकार हेतुत्व पर आधारित है। प्रत्येक फल अनिवार्यत अपने हेतु या हेतुओ के अस्तित्व की पूर्वकल्पना करता है। हेतु की उपस्थिति का अनुमान किया जा सकता है, किन्तु इसका उलटा नही हो सकता, अर्थात् किसी फल का उसके हेतुओ के आधार पर सर्वथा अनिवार्यत-पूर्व निरूपण नही किया जा सकता क्योकि हेतु सदैव ही अपने फलो का वहन नही करते। कोई भी आकस्मिक तथा अनिरूपणीय परिस्थिति उनकी (फलो की) उत्पत्ति को अस्तव्यस्त कर सकती है।[2]

तर्कना के प्रथम प्रकार का निम्नलिखित अनुमानो द्वारा उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

यह एक वृक्ष है,
क्योकि यह एक शिशपा है,
सभी शिशपा वृक्ष हैं।

---

[1] न्याबिटी० पृ० २५।
[2] तुकी न्याबिटी० पृ० ४० ८।

दृष्टि से उसके साथ तादात्म्य होता है, अथवा जब यह भिन्न होता है तब यह उसके फल को व्यक्त करता है। दोनो ही तीन पक्षो से युक्त होते है" अर्थात् दोनो ही दशाओ मे अनिवार्य निर्भरता या अपेक्षत्व होना है।

§ ९ विभागात्मक और एकात्मक निश्चय

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध नैयायिको ने अनुमान का अनुसन्धान करते समय विभागात्मक और एकात्मक निश्चयो की समस्या का विवेचन किया है। इस बात को कि अनुमानात्मक निश्चय, चाहे वह अनुभव पर आधारित हो अथवा हेतुत्व के नियम पर, एकात्मक होता है, कभी भी विवादास्पद नही माना गया है। और न यह बात ही विवादास्पद है कि कुछ अन्य ऐसे निश्चय भी होते हैं जो हेतुत्व पर आधारित नही होते। ये ऐसे निश्चय होते है जिनमे विधेय साध्य का एक अश होता है, जिनमे साध्य की उपस्थिति मात्र ही विधेय के निगमन के लिये पर्याप्त होती है। यह विभाजन सर्वाङ्गपूर्ण तथा इसकी विभाजन-रेखा सुपरिभाषित है या नही, तथा यह समस्या न्यूनाधिक पूर्णता के साथ काण्ट के अनुरूप है या नही, इन बातो पर अभी विचार करना हमारे लिये आवश्यक नही। यह समस्या भारत मे स्वार्थानुमान के अन्तर्गत आती है। इस बात का कि भारतीय अनुमान एक अनुमानात्मक निश्चय है, एक ऐसा निश्चय जो दो पूर्णतया व्यक्त और अनिवार्यत अन्योन्याश्रित सकल्पो का एकीकरण करता है, पर्याप्त सकेत किया जा चुका है। दो अन्योन्याश्रित सकल्पो का या तो एक ही विषयात्मक सन्दर्भ होता है, अथवा दो भिन्न किन्तु अनिवार्यत अन्योन्याश्रित विषयात्मक सन्दर्भ होते हैं। एक और दो के बीच मे कोई और मध्यवर्ती नही है। प्रथम दृष्टि मे यह विभाजन तार्किक दृष्टि से आक्षेप के योग्य नही प्रतीत होता।

विशुद्ध अर्थों मे दोनो प्रकार के निश्चय एकात्मक हैं क्योकि प्रज्ञा स्वय तथा उसका कार्य, निश्चय, एकीकरण के अतिरिक्त और कुछ नही। एक 'शिशपा' का सकल्प एक एकीकरण है, एक वृक्ष का सकल्प एक एकीकरण है, इनका एकत्व भी इसी प्रकार एकीकरण है। धूम के, अग्नि के तथा इनके एकत्व के सकल्पो के सम्बन्ध मे भी यही सत्य है। बुद्धि वही घुल सकती है जहाँ वह पहले अपने को एकीकृत कर चुकी होती है।[१] किन्तु एक दशा मे विधेय साध्य का एक अश है और प्रत्यक्षत यह विभाग या विश्लेषण द्वारा उससे अनुमित प्रतीत होता है। दूसरी दशा मे यह उसका एक अश

[१] तुकी० क्रिटी० §१५ (द्विती० सस्क०)। प्रत्यक्षात्मक निश्चय विभागात्मक भी होता है (सिग्वर्ट, १ १४२)।

नही है बल्कि इसे उसमे जोड दिया जाना चाहिये और इसे केवल अनुभव द्वारा ही ढूढा जा सकता है ।

तथाकथित एकात्मक निश्चय सदैव प्रयोगात्मक होता है । तथाकथित विभागात्मक निश्चय सदैव तर्कात्मक होता है । प्रज्ञा का उपयोग द्विविध है—यह या तो विशुद्धत तार्किक होता है और हमारे सकल्पो मे एक क्रम तथा व्यवस्था लाने मे निहित होता है, अथवा यह प्रयोगात्मक होता है तथा निरीक्षण और प्रयोग द्वारा हेतुक सम्बन्धो की स्थापना मे निहित होता है । धर्मोत्तर[1] कहते है कि इस सन्दर्भ मे हेतुत्व (कार्य) साधारण जीवन की एक परिचित धारण है । ऐसा माना जाता है कि जहाँ फल उपस्थित होता है वहाँ यह हेतु के अनुभव से व्युत्पन्न होता है, और जहाँ किसी फल के हेतु की अनुपलब्धि होती है वहाँ फल की अनुपलब्धि के अभावात्मक अनुभव से ।" वह तादात्म्य (स्वभाव) जिस पर तथाकथित विभागात्मक निश्चय आधारित होता है, एक परिचित धारण नही है । इसलिये धर्मकीर्ति ने इसकी परिभाषा दी है । इनका यह कथन है[2] "स्वभाव उस समय किसी साध्य-धर्म के निगमन के लिये एक हेतु होता है जब साध्यमात्र स्वय ही निगमन के लिये पर्याप्त होता है", अर्थात् जब विधेय साध्य का एक अश होता है । इसलिये यह निरपेक्ष स्वभाव नही होता । यह, जैसा कि इसे कुछ योरोपीय दार्शनिको ने कहा है, एक आशिक स्वभाव (तादात्म्य) होता है । धर्मोत्तर[3] यह व्याख्या करते हैं 'किस प्रकार का तार्किक हेतु स्वय अपने विधेय मे निहित मात्र होने मे निहित होता है ? यह विधेय उन सभी स्थानो पर अपने अस्तित्व की विशिष्टता से युक्त होता है जहाँ हेतु की सत्ता मात्र निश्चित होती है । एक विधेय, जिसकी उपस्थिति हेतु के सत्तामात्र पर निर्भर होती है, तथा जो हेतु का निर्माण करने वाले तथ्य की सत्ता मात्र के अतिरिक्त अन्य किसी स्थिति पर निर्भर नही होता, वह विधेय हेतु से व्यतिरिक्त नही होता तथा उसका हेतु से विभागात्मक निगमन किया जा सकता है ।" एकात्मक और विभागात्मक निश्चय की समस्या के विवेचन पर योरोपीय, विशेषत काण्ट की और बौद्धो की धारणाओ के बीच अन्तर पर आगे कुछ टिप्पणी की जायेगी ।

---

[1] न्याविटी० पृ० २४ ११, अनुवाद पृ० ६७

[2] वही पृ० २३ १६, अनुवाद पृ० ६५ ।

[3] वही ।

§ १०. पदार्थों की अन्तिम तालिका

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उससे किसी भी व्यक्ति के लिये बौद्धो के विभिन्न पदार्थों की एक पूर्ण और अन्तिम तालिका का निर्माण करना सरल होगा। यह एक ऐसी तालिका होगी जो एरिस्टॉटिल और काण्ट की तालिकाओ के भी समान होगी।

जैसा कि सकेत किया जा चुका है—प्रज्ञा के प्रत्येक कार्य मे निहित जो एकीकरण होता है वह द्विविध होता है। यह, सर्वप्रथम, विशेष विज्ञान तथा सामान्य सकल्प के बीच एकीकरण होता है, साथ ही यह उस सकल्प मे एकत्र विविधता का भी एकीकरण होता है। यह अन्तिम एकीकरण, जैसा कि हम देख चुके हैं, पञ्चविध होता है। पाँच प्रकार के सर्वाधिक सामान्य विधेय, आशिक समानताओ और निहितताओ को ध्यान मे रखकर देखने पर न्यूनाधिक मात्रा मे एरिस्टॉटिल के दस पदार्थों के समान प्रतीत होगे। इस तालिका मे सत्त्वमीमास का वह तार्किक पक्ष भी सम्मिलित है जो सत्ता का एक समान साध्य तथा उसके विधेयो का पाँच वर्गों मे विश्लेषण करता है। यह उस प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करता है जिसमे नामो के पाँच वर्ग इस समान साध्य के लिये उद्दिष्ट है। नामो अथवा नामकरण के योग्य वस्तुओ के अतिरिक्त इसमे एक सामान्य सम्बन्ध भी निहित होता है —इन सभी विधेयो का एक समान अधिष्ठान के साथ सम्बन्ध मात्र।

परन्तु प्रज्ञा के एकीकरण मे न केवल किसी एक सकल्प के अन्तर्गत व्यवस्थित अन्त प्रज्ञाओ की विविधता तथा समान साध्य का इसका सन्दर्भ ही निहित होता है, वरन् यह दो अथवा अनेक सकल्पो को एक साथ सम्बद्ध कर सकता है। यह एकीकरण अब अन्त प्रज्ञाओ की विविधता का एकीकरण नही रह जाता, यह तो दो अन्योन्याश्रित सकल्पो अथवा तथ्यो का एकीकरण होता है। इस प्रकार सर्वाधिक सामान्य नामो की तालिका के अतिरिक्त हमे सर्वाधिक सामान्य सम्बन्धो की एक द्वितीय तालिका भी मिलेगी। यह द्वितीय तालिका स्वार्थानुमान के साथ सीधे सम्बद्ध है क्योकि अनुमान ज्ञान की एक ऐसी विधि है जो दो ऐसे सकल्पो के अनिवार्य सम्बन्ध पर आधारित है जिनमें से एक दूसरे का लक्षण होता है। यह तथ्य ही पदार्थों की बौद्ध तथा योरोपीय तालिकाओ के बीच प्रमुख अन्तर का निर्माण करता है। नामो की तालिका तथा सम्बन्धो की तालिका बौद्धन्याय मे दो भिन्न तालिकायें हैं, जब कि दोनो ही योरोपीय तालिकाओ

तथा नाम एक ही तथा उसी तालिका मे मिश्रित मिलते हैं। द्रव्य का गुण के साथ सम्बन्ध, अथवा अधिक शुद्धत प्रथम सार-तत्व का सभी विधेयो के साथ सम्बन्ध सर्वाधिक सामान्य सम्बन्ध है जो निश्चय और स्वय प्रज्ञा का समीपवर्ती होने के कारण दोनो तालिकाओ के अन्य समस्त पदो को अपने मे सम्मिलित कर लेता है। यह सम्बन्ध सम्बन्धो के सभी प्रकारो को आत्मसात कर लेता है चाहे वह किसी सकल्प का उसके विषयात्मक सन्दर्भ के साथ सम्बन्ध हो अथवा दो भिन्न सकल्पो का सम्बन्ध।

इस प्रकार हमे पदार्थों की दो भिन्न तालिकायें मिलती है—पदार्थों की एक तालिका नामकरण योग्य वस्तुओ की, तथा पदार्थों की दूसरी तालिका दो सकल्पो के बीच सम्बन्धो की।

'प्रथम द्रव्य' को सूची मे अङ्कित नहीं किया गया है क्योकि, जैसा कि कहा जा चुका है, यह समस्त पदार्थों का एक समान अधिष्ठान है। यह पदार्थ नही है, यह अ-पदार्थ है। सामान्य गुण भी इस सूची मे नही मिलेगा क्योंकि सामान्य-गुण समस्त पदार्थों को आवृत्त करता है—यह विधेय या पदार्थ शब्द के साथ समव्याप्त है। सरल अथवा मात्र गुण परमार्थ ऐन्द्रिक प्रदत्त है जैसा कि इस प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे कि "यह नीला है" अथवा अधिक शुद्धत इसमे कि "इसमे नीलत्व है" प्रगट होता है। जटिल गुण वर्ग है, जैसे इस प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे कि "यह एक गाय है", जिसका यह अर्थ है कि "यथार्थ के इस क्षण का गायत्व से युक्त होने के रूप मे एकीकरण कर दिया गया है।" द्वितीय द्रव्य लाक्षणिक प्रथम द्रव्य है। "गायत्व से युक्त" किसी यथार्थ के तादात्म्य के आधार पर स्वय गाय भी उस समय एक द्रव्य के रूप मे प्रगट होती है जब इसका भी कुछ गुणो, जैसे 'विषाणत्व" से युक्त होने के रूप मे विकल्प किया जाता है। इस प्रकार के द्रव्यो के रूप मे दिङ्नाग "विषाणी" अथवा "विषाण से युक्त" का उदाहरण देते है जो हम लोगो की दृष्टि मे एक स्वाम्यार्थक विशेषण (षष्ठी कारक) होगा। इस प्रकार हमे निश्चयो तथा उनके समकक्ष पदार्थों की निम्नलिखित दो तालिकायें मिलती है।

निश्चयो की तालिका

१

प्रत्यक्षात्मक निश्चय (सविकल्पक-प्रत्यक्ष)

१ इसका परिमाण	अत्यन्त एकवचन (स्वलक्षणम् अध्यवसीयमानम्)।¹
२. इसका गुण	विधि = वस्तु।

३ इसका सम्बन्ध सारूप्य ।

४ इसकी निश्चयमात्रा निश्चय ।

२

अनुमानात्मक निश्चय (अनुमान-विकल्प)

१

परिमाण

सामान्य (सामान्य-लक्षणम् अध्यवसीयमानम्) ।

२	३
गुण	सम्बन्ध
विधि	एकात्मक = हेत्वात्मक (कार्य-अनुमान)
प्रतिषेध	विभेदक = अ-हेत्वात्मक (स्वभावानुमान)

४

निश्चयमात्रा

निश्चय

पदार्थों की तालिका

१

एक सकल्प अथवा एक नाम के अन्तर्गत पदार्थ अथवा एकीकरण के प्रकार (पञ्चविध-कल्पना)

१. व्यक्ति नाम-कल्पना

२ वर्ग जाति-कल्पना

३ ग्राह्यगुण गुण-कल्पना

४ कर्म कर्म-कल्पना

५. (द्वितीय) द्रव्य द्रव्य-कल्पना

२

(दो सकल्पो के बीच) सम्बन्धो के पदार्थ

१	२
विधि	अनुपलब्धि

विधि: तादात्म्य तदुत्पत्ति

किसी वर्गीकरण मे परमार्थ पदो की गणना करने की भारतीय विधि के अनुसार सम्बन्धो के केवल तीन पदार्थ हैं, जैसे अनुपलब्धि, तादात्म्य और तदुत्पत्ति । न तो अधीनस्थ तथा व्युत्पन्न प्रकारो की गणना की गई है, और न उस विधि की जो तादात्म्य और तदुत्पत्ति दोनो को आवृत करता है ।

§ ११. क्या तालिका के विभिन्न पद परस्पर वर्ज्य है

क्या पदार्थों की यह तालिका शुद्ध तार्किक विभाजन के सिद्धान्तो को सन्तुष्ट करती है ? क्या इसमे परस्पर व्यापी पद नही मिलते ? क्या विभाजन सर्वाङ्गपूर्ण है ?[१] हम जानते है कि एरिस्टॉटिल और काण्ट दोनो के वर्गीकरण इस दृष्टि से दूषित पाये गये है। क्या बौद्ध-तालिका की स्थिति कुछ श्रेष्ठतर है ? विभाजन के तीन परम पदो, जो तादात्म्य, तदुत्पत्ति तथा अनुपलब्धि हैं, के सम्बन्ध मे धर्मोत्तर[२] यह प्रश्न करते है . "ये उन सम्बन्धो के भिन्न प्रकार है जिन पर अनुमान आधारित होता है। किन्तु हम केवल तीन पद ही क्यो मानते हैं ? प्रकार असख्य हो सकते हैं।" इस प्रश्न का धर्मकीर्ति का उत्तर इस प्रकार है "अनुमानात्मक ज्ञान या तो विधि अथवा अनुपलब्धि होता है और विधि द्विविध है—यह या तो तादात्म्य पर अथवा तदुत्पत्ति पर आधारित होता है।" इस उत्तर का अर्थ यह है कि यत विभाजन द्वैधत्व के सिद्धान्त के अनुसार किया गया है, अत विभाग परस्पर वर्ज्य हैं, इनके बीच मे कुछ नही हो सकता। वर्जित मध्य का नियम इस दिशा मे किसी त्रुटि को वर्जित कर देता है। वास्तव मे यह तथ्य कि सभी निश्चय विधि और अनुपलब्धि मे विभक्त होते हैं, एरिस्टॉटिल के समय से ही तर्कशास्त्र मे दृढ रूप से अवस्थित है। एरिस्टॉटिल ने तो इस विभाजन को अपनी निश्चय की परिभाषा तक मे सम्मिलित किया है। अत इस विभाजन के विभागो को अन्य विभाजनो के अन्य पदो के साथ समन्वित करना गलत है क्योकि तब विभाग अनिवार्यत परस्पर व्यापी हो जायँगे।

विधिस्वरूप निश्चय, पुन, या तो विभागात्मक अथवा एकात्मक हो सकता है। दूसरे शब्दो मे यह या तो तादात्म्य पर अथवा अ-तादात्म्य पर आधारित हो सकता है। यह बाद की स्थिति, अर्थात् अ-समान तथ्यो का अन्योन्याश्रयत्व अथवा एकीकरण तदुत्पत्ति के अतिरिक्त और कुछ नही। इस प्रकार तादात्म्य और तदुत्पत्ति के रूप मे विभाजन, अथवा यही बात, अर्थात् सभी निश्चयो का विभागात्मक और एकीकरणात्मक के रूप मे विभाजन भी द्वैधत्व के सिद्धान्त पर आधारित है और इसे उस समय

---

[१] 'तादात्म्य' और 'तदुत्पत्ति' की समस्या पर तुकी० प्रवा० प्रथम अध्याय, और न्याविटी० द्वितीय अध्याय के अतिरिक्त ताटी० पृ० १०५ और बाद तथा न्याकण्ड० पृ० २०६.१७ और बाद।

[२] न्याविटी० पृ० २४-१३, अनुवाद पृ० ६८।

र्वाजत मध्य के नियम के अनुसार तार्किक दृष्टि से ठीक मानना चाहिये जब हम विभागात्मक और एकीकरणात्मक को उस आशय मे ग्रहण करते है जो बौद्ध-न्याय के इस विभाजन मे प्रदान किया गया है। धर्मोत्तर[१] यह आग्रह करते हैं कि यह विभाजन विशुद्धत तार्किक, है। इनका यह कथन है "निश्चयो मे विधेय कभी विधायक और कभी अभावात्मक होता है। यत विधि और अभाव परस्पर वर्ज्य प्रवृत्तियो को व्यक्त करते है अत दोनो के लिये हेतु भी भिन्न होने चाहियें। विधित्व पुन, या तो किसी भिन्न का अथवा किसी अ-भिन्न का हो सकता है। भिन्नत्व और अ-भिन्नत्व दोनो के विरोधत्व के नियम के द्वारा परस्पर वर्ज्य होने के कारण इनका औचित्य (निश्चयो मे) भी भिन्न ही होना चाहिये।"

हमे यह नही भूलना चाहिये कि यहाँ जिसे तादात्म्य कहा गया है वह विधेयात्मक सन्दर्भ का तादात्म्य है, दो ऐसे भिन्न विकल्पो का एकत्व है जिनमे विस्तार का तादात्म्य हो सकता है अथवा एक दूसरे के विस्तार के केवल एक अश से युक्त हो सकता है, किन्तु दोनो से एक ही विषयात्मक सत् का सन्दर्भ है। विकल्प भिन्न हो सकते हैं, फिर भी वह विषयात्मक सत् जिनसे इनका सन्दर्भ होता है, एक ही हो सकता है। उदाहरण के लिये एक वृक्ष और एक शिशपा के विकल्प भिन्न हैं, किन्तु फिर भी वह वस्तु-विशेष जो इनसे उद्दिष्ट है, समान है, बिलकुल एक ही है। दूसरी ओर, विकल्प समान हो सकते हैं अथवा उनके बीच का अन्तर निश्चय योग्य नही हो सकता, फिर भी उनमे उद्दिष्ट वास्तविक वस्तु भिन्न हो सकती है। उदाहरण के लिये, इसी शिशपा के दो क्षण दो भिन्न वस्तुयें हैं जो हेतुक दृष्टि से सम्बद्ध हैं। अग्नि और धूम के विकल्पो मे, दोनो ही विकल्प तथा वास्तविक वस्तुयें भिन्न हैं। किन्तु धूम के दो क्रमिक क्षणो मे भी वही हेतुक सम्बन्ध निहित है जो धूम के प्रथम क्षण और उसके पूर्व के अग्नि के क्षण मे है। इस प्रकार 'एकात्मक' शब्द से दो भिन्न वस्तुओ के एकीकरण का तात्पर्य है और 'विभागात्मक' शब्द से दो भिन्न विकल्पों का।

इस प्रकार व्याख्या करने पर एकात्मक और विभागात्मक निश्चय एक दूसरे से वर्ज्य हैं और हम, जैसा कि योरोपीय तर्कशास्त्र मे किया गया है, यह नही मान सकते कि कोई एकात्मक निश्चय उस मात्रा मे विभागात्मक बन जाता है जिसमे उसका एकीकरण हमारे लिये परिचित हो जाता है।

---

[१] न्याबिटी० पृ० २४ १९, अनुवाद पृ० ६९।

इस प्रकार, यह सिद्ध हो जाता है कि बौद्धो की पदार्थ-तालिका मे क्रमिकता तथा व्यवस्थित एकता है क्योकि इसके विभाग परस्पर वर्ज्य है। किन्तु इस बात का परीक्षण अभी शेष रह जाता है कि यह तालिका सर्वाङ्गपूर्ण है या नही।

§ १२ क्या सम्बन्धो की बौद्ध तालिका सर्वाङ्गपूर्ण है?

धर्मोत्तर यह प्रश्न करते है [१] "क्या वैध हेतुत्व को व्यक्त करनेवाले अन्य कोई सम्बन्ध नही है?" "ये तीन सम्बन्ध (अर्थात् अनुपलब्धि, तादात्म्य और तदुत्पत्ति) ही क्यो वैध हेतुत्व को व्यक्त करें?" उत्तर यह है कि धर्मकीर्ति के अनुसार सम्बन्ध का अर्थ यहाँ निर्भरता है। "कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु की सत्ता को उसी समय व्यक्त कर सकती है जब वह इस बाद वाली वस्तु पर निर्भर या आश्रित हो"[२] अर्थात् ऐसे सम्बन्ध जो हेतु हो, जो अनुमान के आधार हो, वे ही अनिवार्य निर्भरता के सम्बन्ध होते है। धर्मोत्तर यह व्याख्या करते है [३] "जब किसी वस्तु के हेतु का (एकीकरणात्मक रूप से) अनुमान किया जाता है, अथवा किसी अनिवार्य गुण का (विभागात्मक रूप से) अनुमान किया जाता है तब फल उस विकल्प पर अनिवार्यत निर्भर होता है जिससे वह अनुमित होता है। ये दोनो अवस्थाये अनिवार्य निर्भरता या आश्रयत्व हैं।" अनुपलब्धि को, जो एक ऐसे विशेष सिद्धान्त पर आधारित है जिसकी आगे व्याख्या की जायगी, छोड देने पर अनिवार्य आश्रयत्व के केवल दो ही सम्बन्ध बचते हैं। ये या तो एक ही विषयात्मक सन्दर्भवाले दो विकल्पो के तार्किक अन्योन्याश्रयत्व होते है, अथवा यदि विषयात्मक सन्दर्भ एक ही न हो तो, यह दो ऐसे यथार्थ तथ्यो के अन्योन्याश्रयत्व होते हैं जिनमे से एक दूसरे का फल होता है। फल अपने हेतु पर अनिवार्यत आश्रित होता है। तदुत्पत्ति बौद्धो के लिये प्रतीत्य-समुत्पाद के अतिरिक्त और कुछ नही। इन दो प्रकार के अनिवार्य आश्रयत्व के जिनमे से एक तार्किक और दूसरा यथार्थ होता है, अतिरिक्त अन्य कोई सम्भाव्य अन्योन्याश्रयत्व नही होता।

---

[१] न्यायबिटी० पृ० २५ ३, अनुवाद ६९।

[२] न्यायवि० २ २०, अनुवाद पृ० ६९।

[३] वही।

भारतीय यथार्थवादी बौद्धो की इन दोनो मान्यताओ को अस्वीकार करते हैं, अर्थात् ये ऐसे विभागात्मक निश्चयो को अस्वीकार करते हैं जो तादात्म्य पर आधारित होते हैं, और ये सभी अनिवार्यत एकीकरणात्मक निश्चयो को भी अस्वीकार करते है जो तदुत्पत्ति पर आधारित होते हैं। इनके अनुसार वर्गीकरण सर्वाङ्गपूर्ण नही है। तादात्म्य पर आधारित विभागात्मक निश्चय का, सर्वप्रथम तो अस्तित्व ही नही होता। जब दो विकल्पो मे तादात्म्य होता है तब उनमे से कोई भी एक दूसरे के अनुमान का हेतु नही हो सकता, क्योकि अनुमान निरर्थक होगा। यदि यह आपत्ति की जाय कि वास्तव मे यथार्थता तो एक ही है, केवल उस पर आरोपित विकल्प मात्र ही भिन्न हैं, तब यथार्थवादी इसका यह उत्तर देता है कि यदि विकल्प भिन्न है तब उनसे सम्बद्ध यथाथतायें भी भिन्न होगी "यदि विकल्प यथार्थ (सत्) न हो तो वे विकल्प होगे ही नही।"[1] यह निश्चय कि 'तरु' 'वृक्ष' है (यहाँ इन दोनो ही शब्दो का अर्थ वृक्ष ही है) तादात्म्य पर आधारित होगा, किन्तु यह निश्चय नही कि "शिंशपा एक वृक्ष है" क्योकि यथार्थवादियो के लिये शिंशपा तथा वृक्ष दो भिन्न यथार्थतायें हैं, दोनो का उस अनुभव मे ज्ञान होता है जो दोनो की अनिवार्य व्याप्ति और शिंशपा मे वृक्ष के समवाय को व्यक्त करता है।

समस्त यथार्थ सम्बन्धो को हेतुत्व से सम्बद्ध नही किया जा सकता। अबाधित अनुभव द्वारा निर्धारित अनेक निरपवाद सहचार ऐसे भी होते है जिन्हे न तो तादात्म्य पर और न हेतुत्व पर ही घटाया जा सकता है। उदाहरण के लिये, सूर्योदय निरपवाद रूप से गत दिन के सूर्योदय के साथ सम्बद्ध होता है, किसी भी चान्द्र-नक्षत्र मण्डल का क्षितिज के एक ओर प्रगट होने का क्षितिज के दूसरी ओर किसी अन्य नक्षत्रमण्डल के अदृश्य हो जाने के साथ सहचार होता है, चन्द्रोदय की सागर मे उठनेवाले ज्वार के साथ व्याप्ति होती है, इत्यादि। ये सभी ऐसे निरपवाद सहचार के उदाहरण है जो हेतुत्व पर आधारित नही हैं।[2] जब हम किसी वस्तु की सुगन्ध का अनुभव करते हैं तब हम उसके रंग की उपस्थिति का अनुमान कर सकते हैं[3] क्योकि अपने अनुभव के आधार पर हम यह जानते हैं कि इस प्रकार

---

[1] ताटी० पृ० १०८ २४ काल्पनिकस्य अवास्तवते तत्त्व-अनुपपत्ते।'

[2] तुकी० प्रशस्त० पृ० २०५, और ताटी० पृ० १०७।

[3] प्रो० ए० बेन यह मानना चाहते हैं कि यथार्थ इकाइयो के बीच हेतुत्व ही एकमात्र समानता का सम्बन्ध है। इनका यह कथन है (लॉजिक २, पृ० ११),

की सुगन्धि का एक रग-विशेष के साथ निरपवाद सहचार होता है। इस प्रकार के निरपवाद सम्बन्ध को हेतुत्व पर आधारित नही माना जा सकता क्योकि दोनो ही घटनायें साथ-साथ हैं, जब कि हेतुत्व एक अनिवार्य पूर्वापर सम्बन्ध होता है। बौद्ध इसका यह उत्तर देते है कि इन सभी सम्बन्धो को, यदि 'तदुत्पत्ति' को ठीक से समझा गया है तो, हेतुजन्य (तदुत्पत्ति) सिद्ध किया जा सकता है। वास्तव मे स्वादेन्द्रिय के प्रदत्त का प्रत्येक क्षण उन गत दृष्य, स्पर्श तथा अन्य प्रदत्तो के जटिल एकीकरण पर निर्भर होता है जिनसे मात्र ही वह वस्तु निर्मित होती है। रग, जिसका गन्ध के साथ-साथ अस्तित्व होता है, इस गन्ध के साथ केवल उस गत क्षण के माध्यम से ही सम्बद्ध होता है जिसमे दृष्य, स्पर्श तथा अन्य इन्द्रियो के प्रदत्त हेतुओ की उस जटिलता को व्यक्त करते हैं जिनके साथ क्रियात्मक सापेक्षता के द्वारा ही रग का दूसरा क्षण उत्पन्न हो सकता है। यथार्थवादी जिसे वस्तु कहते हैं वही बौद्धो के लिये क्षणिक इन्द्रिय-प्रदत्त का जटिल सम्मिश्रण है। इस प्रकार गन्ध के द्वारा रग का अनुमान वास्तव मे समान हेतु द्वारा एक साथ उत्पत्ति पर आधारित होता है। बौद्ध हेतुत्व को सूक्ष्म रूप से क्षणो की क्रमिकता के अर्थ मे ग्रहण करते हैं। प्रत्येक यथार्थ वस्तु को क्षणो के एक प्रवाह मे निहित किया जा सकता है, और प्रत्येक बाद का क्षण गत क्षणो के सम्मिश्रण पर अनिवार्य निर्भरता के साथ ही उत्पन्न है। सभी यथार्थ वस्तु

"सहसत्ता की समानताओ मे से बहुसख्यक को हेतुत्व-जन्य सिद्ध किया जा सकता है। यह देखना शेष रह जाता है कि कोई ऐसे भी हैं जिन्हे इस प्रकार हेतुत्वजन्य न सिद्ध किया जा सके।"···· "ये सभी हेतुत्व के फल हैं जो किसी पूर्व-व्यवस्था से आरम्भ होते हैं।" "प्रकारो के सह-सयुक्त, गुणो मे वह आगे इस प्रकार कहते हैं (वही पृ० ५२) कि बिना हेतुत्व के भी सह-सत्ताओ के नियम हो सकते हैं।" 'सहसयुक्त गुण' दो विकल्पो के 'सहवर्ती' 'गुणो' अथवा 'समान-सन्दर्भ' के समान है। इस प्रकार प्रो० ए० बेन यद्यपि दबी जबान से ही तथापि सम्बन्धो की दो परस्पर वर्ज्य प्रणालियो के सिद्धान्त को, अर्थात तादात्म्य और तदुत्पत्ति को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। ये (वही पृ० ५२) गन्ध के आभव से युक्त लाल रग के सह-अस्तित्व का (=गन्धाभावाद् रूपानुमान) उदाहरण भी उद्धृत करते हैं जो 'रसाद् रूपानुमानम्' (तुकी० ताटी० पृ० १०५ १८ और बाद) की बौद्ध व्याख्या के समान है।

इसी परम हेतुत्व अथवा प्रतीत्य-समुत्पाद के अधीन है। वाचस्पतिमिश्र[1] परोक्ष रूप से इस बात को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं "किसी गन्ध की उपस्थिति से किसी रग का अनुमान साधारण व्यक्ति करता है। मनुष्यो के पास मास आदि के नेत्र (अर्थात् रुक्ष ऐन्द्रिकता) होते हैं जो परमार्थ-मत् के क्षणो के बीच के परस्पर अन्तर का विभेद नही कर सकते। और समीक्षात्मक दार्शनिको को भी इस बात की अनुमति नही है कि वे अनुभव की सीमाओ से ऊपर उठकर अपने विचारो का अनुसरण करते हुये स्थापित घटनाओ की प्रकृति को परिवर्तित कर दें,[2] क्योकि यदि वे ऐसा करेंगे तो वे समीक्षात्मक दार्शनिक नही रह जायँगे।"[3] यह बहुत कुछ इस बात की परोक्ष स्वीकृति के समान प्रतीत होता है कि एक दार्शनिक के लिये वास्तविक अन्योन्याश्रयत्व को अन्तत हेतुत्वजन्य ही मानना चाहिये। बौद्ध यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यत कोई तथ्य केवल उसी दशा मे किसी अन्य के अस्तित्व को सूचित कर सकता है जब दोनो ही अनिवार्यत· अन्योन्याश्रित हो, और यत समस्त वास्तविक अनिवार्य अन्योन्याश्रयत्व तदुत्पत्ति होता है अत तदुत्पत्ति पर आधारित होने के अतिरिक्त अन्य कोई एकात्मक और अनिवार्य निश्चय हो ही नही सकता। तादात्म्य पर आधारित तथा तदुत्पत्ति पर आधारित होने के रूप मे अनिवार्य सम्बन्धो का विभाजन, इस प्रकार, एक सर्वाङ्गपूर्ण विभाजन है, "क्योकि, धर्मकीर्ति का कथन है कि, जब किसी तथ्य का न तो सत्तात्मक दृष्टि से किसी दूसरे के साथ तादात्म्य होता है, और न वह इस दूसरे तथ्य का फल ही होता है, तब वह इस पर अनिवार्यतः आश्रित नही हो सकता।"

धर्मोत्तर[4] इतना और जोड देते हैं "कोई तथ्य, जिसका सत्तात्मक दृष्टि से न तो किसी तथ्य के साथ तादात्म्य हो और न वह दूसरे निश्चित तथ्य का फल हो, तो वह इस दूसरे तथ्य पर अनिवार्यत आश्रित नही हो सकता जो न तो उसका हेतु है और न सत्तात्मक दृष्टि से वही यथार्थता। इस कारण

---

[1] नाटी० पृ० १०७ १८ और बाद।

[2] अथवा 'वस्तुस्वलक्षण' के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुये। 'स्वलक्षण' शब्द का यहाँ सम्भवत द्विविध अर्थ है।

[3] वही पृ० १०८ १४. "तेषाम् तत्त्व (=परीक्षकत्व) अनुपपत्ते।"

[4] न्याबिटी० पृ० २६ १२ और बाद, तुकी० अनुवाद पृ० ७५।

तादात्म्य अथवा हेतुत्व (तदुत्पत्ति) के अतिरिक्त अन्य कोई भी अनिवार्य सम्बन्ध हो ही नही सकता। यदि किसी वस्तु की सत्ता अनिवार्यत किसी अन्य मे निर्धारित हो, किसी ऐसी अन्य वस्तु से जो न तो उसका कारण हो और न अनिवार्यत वही यथार्यता, केवल तभी अनिवार्य सम्बन्ध किसी अन्य सम्बन्ध (सन्दर्भ के तादात्म्य के नियम, और तदुत्पत्ति के नियम के अतिरिक्त) पर आश्रित हो सकता है। अनिवार्य अथवा आधारभूत सम्बन्ध का वास्तव मे, प्रतीत्य-समुत्पाद अर्थ है। अव, इन दो के, अर्थात् किसी का फल होने की स्थिति के, और किसी के साथ सत्तात्मक (किन्तु तार्किक नही) तादात्म्य होने की स्थिति के अतिरिक्त कोई सम्भाव्य प्रतीत्य-समुत्पाद नही हो सकता। अत किसी वस्तु की आश्रित सत्ता (तथा उसकी अनिवार्य व्याप्ति) या तो उसके किसी निश्चित हेतु के फल होने के आधार पर अथवा किसी एक ही सार-तत्त्व के एक अनिवार्य अश होने के आधार पर ही सम्भव हो सकती है।"

इस प्रकार, निश्चयो का एकात्मक और विभागात्मक के रूप मे, और अनिवार्य निर्भरता का तदुत्पत्ति तथा सत्तात्मक तादात्म्य के रूप मे विभाजन उस दशा मे सर्वाङ्गपूर्ण होगा यदि हम एकात्मक निश्चय को हेत्वात्मक अथवा आनुभविक के रूप मे ग्रहण करें, अर्थात् हम एकीकरण की धारणा से प्रत्येक अनुभवनिरपेक्ष सम्बन्ध को वर्जित कर दें।[१]

---

[१] काण्ट के गुणो के तीन पदार्थों मे से दो—यथार्थ (=विधि) तथा अनुपलब्धि—बौद्धो की तालिका मे साक्षात् उपलब्ध हैं। इनके सम्बन्ध के पदार्थों मे से हेतुत्व भी साक्षात् मिलता है। समवाय-वर्तिता का पदार्थ या तो अपने विधेयो के साथ अधिष्ठान का सम्बन्ध है जो सामान्य रूप से प्रज्ञा के समीकरण का समीपवर्ती है, अथवा यह तादात्म्ययुक्त सन्दर्भों का एकीकरण है। काल और देश का, जो बौद्धो के लिये एकात्मक हैं, तालिका मे कोई पृथक् स्थान नही है क्योंकि काल उन सतत् क्षणो का एकीकरण है जिन्हे तदुत्पत्ति के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है, और देश एक साथ उत्पन्न क्षणो का एकीकरण है जिसे तादात्म्य के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। तालिका मे परिमाण भी एकीकरण की पृथक् पद्धति के रूप मे नही आता क्योंकि समस्त परिमाण इकाइयो का एकीकरण होता है, और समस्त प्रज्ञा या तो चेतन अथवा अचेतन रूप से इकाइयो का एकीकरण है। इस प्रकार बौद्ध तालिका स्वय काण्ट के इस सिद्धान्त के अनुसार निर्मित है कि "विकल्पो के द्वारा अनुभवनिरपेक्ष समस्त विभाजन को द्विधात्मक होना चाहिये"

§ १३. सामान्य और अनिवार्य निश्चय

धर्मकीर्ति[1] कहते हैं कि "अनुभव, दर्शन और अदर्शन, कभी अविनाभाव-नियम की विशुद्ध अनिवार्यता (का ज्ञान) नही उत्पन्न कर सकता। यह सदैव कार्यकारण-भाव-नियमक[2] अथवा स्वभाव-नियमक[3] ही होता है।" दूसरे शब्दो मे, दर्शन और अदर्शन हमारी प्रज्ञा को विकल्पो की रचना की समस्त सामग्री प्रदान करता है, किन्तु ऐन्द्रिक अनुभव स्वय अपने मे अस्त-व्यस्त अन्त प्रज्ञा की एक दुर्व्यवस्था मात्र होता है। विकल्पो की रचना करने के अतिरिक्त, प्रज्ञा, एक व्यवस्थित एकता और क्रमिकता प्रदान करने के लिये इन्हे एक व्यवस्था प्रदान करती है। दूसरे शब्दो मे प्रज्ञा इन्हे गहनता की एक उर्ध्वाधर रेखा के अनुसार तथा विस्तार मे एक अनुप्रस्थ रेखा के अनुसार

(क्रिरी० § ११)। इसी कारण समानता, तथा साथ ही साथ, असमानता पदार्थ नही हैं जैसा कि कुछ दार्शनिको ने माना है। ये विचार अथवा ज्ञान के साथ समव्याप्त हैं। यहाँ तक की प्रत्येक प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे ये सक्रिय सिद्धान्त हैं। आगमन मे भी ये सर्वथा ऐसे ही रहते हैं। किसी तार्किक हेतु का प्रथम पक्ष, अर्थात् समान वस्तुओ मे इसकी उपस्थिति, समानता या सहमति के नियम के अनुरूप है। इसका तीसरा पक्ष अन्तर के नियम के अनुरूप है। प्रो० ए० बेन (लॉजिक २, पृ० ५१) का यह कथन है "समानता का नियम हर सम्भव सम्बन्धो के प्रमाण की सामान्य और आधारभूत प्रणाली है। इस नियम के अन्तर्गत हमे हर प्रकार के सम्बन्धों को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिये, और जहाँ सम्भव हो उन्हे तदुत्पत्ति के अन्तर्गत घटाना तथा जहाँ मान्यता इस प्रणाली के अनुरूप हो वहाँ शुद्ध सहअस्तित्व का सकेत करना चाहिये।" यह बहुत कुछ धर्मोत्तर (पृ० २१ १८, अनुवाद पृ० ६०) के इस कथन जैसा प्रतीत होता है कि "सम्बन्ध या तो तदुत्पत्ति होते है अथवा तादात्म्य, और दोनो ही तीनो लक्षणो से युक्त होते हैं," अर्थात् समानता और अन्तर के नियम, हेतुत्व, और सह-समवाय दोनो की स्थापना करते हैं।

[1] ताटी० पृ० १०५, न्याकण्ड० पृ० २०७-८, मे प्रवा० १-३३, से उद्धृत।

[2] कार्य-कारण-भावो नियमक ।

[3] स्वभावो नियमक ।

व्यवस्थित करती है। इस प्रकार प्रज्ञा एक उर्ध्वाधर रेखा पर हेतु और फल के रूप मे व्यवस्थित यथार्थताओ के एकीकृत टुकडो को उत्पन्न करती है, और एक दूसरे के विरुद्ध सीमित किन्तु स्वभाव-नियम के अनुसार ऐक्यवद्ध स्थिरीकृत विकल्पो की एक प्रणाली को उत्पन्न करती है। इस सन्दर्भ मे यद्यपि धर्मकीर्ति ने विरोध के नियम का उल्लेख नही किया है, तथापि समस्त अनुपलब्धि निश्चयो के सिद्धान्त के रूप मे यह प्रत्यक्ष अभिप्रेत है। इस प्रकार, विरोध का नियम, कार्य-कारण-भाव का नियम, तथा स्वभाव-नियम, ये तीनो ऐसे नियम हैं जिनसे प्रज्ञा मूलत युक्त होती है। ये नियम अनुभव द्वारा अर्जित या निकृष्ट नही होते। ये तो अनुभव के पूर्ववर्ती हैं तथा उसको सम्भव वनाते हैं। इस प्रकार ये अनुभव की दुर्घटनाओ के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करते हैं। ये अनिवार्य और सामान्य सत्य हैं।

यथार्थवादी इन सब को अस्वीकार करते हैं। ये ज्ञान मे समस्त अनिवार्यता और सामान्यता को अस्वीकृत करते हैं। ये इस वात को भी अस्वीकार करते हैं कि प्रज्ञा को उसके आधारभूत तथा अनिवार्य सिद्धान्तो की एक निश्चित सख्या मे विभाजित किया जा सकता है। समस्त ज्ञान अनुभवजन्य होता है अत अनुभव का सतर्कतापूर्वक परीक्षण करना चाहिये तभी वह वहुत कुछ विश्वसनीय सामान्यतायें प्रदान कर सकता है। किन्तु हमे किसी ऐसे नवीन और अप्रत्याशित अनुभव का साक्षात्कार नही करना पडता जो उपस्थित होकर हमारे सामान्यीकरणो को अस्त-व्यस्त कर दे। यत निरपवाद रूप से हमारा समस्त ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है, अत हम सम्वन्धो की किसी सर्वाङ्गपूर्ण तालिका की स्थापना नही कर सकते। सम्वन्ध तो असख्य तथा स्वय जीवन की ही भाँति विविध होते हैं।"[1] इसलिये वाचस्पतिमिश्र[2] यह कहते है कि "हमे इस वात का सतर्क परीक्षण करना चाहिये कि किसी विशेष (अतिरिक्त) अवस्था द्वारा किसी लक्षित होनेवाली क्रमिकता की समानता तो अपेक्षित नही है। यदि हमे ऐसा कुछ न मिले तो यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि ऐसी किसी वात का अस्तित्व नही है। इस वात का निर्णय करने का कि (लक्षित समानता) अनिवार्य है, यही एकमात्र उपाय है।"

---

[1] 'सम्वन्धो यो वा स वा', तुकी० ताटी० पृ० १०९-२३।

[2] ताटी० पृ० ११०-१२।

इस प्रकार, भारत मे उस विवाद के, अर्थात अनिवार्य सत्यो की उत्पत्ति के विवेचन के समानान्तर धारणा मिलती है जिसने योरोपीय दर्शन को एक दीर्घ अवधि तक व्याप्त रक्खा था। यथार्थवाद और विज्ञानवाद के बीच महान विवाद इस समस्या के चतुर्दिक था कि हमारी प्रज्ञा स्वत अपने मे एक विशुद्ध प्रज्ञा, एक ऐसे कोरे कागज जैसी प्रज्ञा को व्यक्त करती है जिस पर अनुभव विषयो तथा उनके सम्बन्धो को अकित करता है, अथवा क्या यह एक ऐसी सक्रिय-शक्ति है जो समस्त अनुभवो के पहले से ही अपने सिद्धान्तो की एक ऐसी शृङ्खला से युक्त होती है जो अन्त प्रज्ञा की विविधता को एक साथ सम्बद्ध करने की अनिवार्य प्रणालियो का निर्माण करती है। भारतीय शब्दावली मे यह प्रश्न इस रूप मे पूछा गया है कि क्या सम्यक ज्ञान सामान्य रूप से और अनुमान विशेष रूप से एक ऐसे शुद्ध प्रकाश को व्यक्त करता है या नही जो प्रदीपवत्[१] हो, जो उन विषयो से अनिवार्यत किसी भी प्रकार सम्बद्ध न हो जिनपर वह आकस्मिक रूप से अपना प्रकाश डालता है, अथवा ज्ञान, तथा तार्किक हेतु विशेष रूप से ज्ञेय विषय से अनिवार्यत सम्बद्ध होता है। इस बाद की दशा मे प्रज्ञा को कुछ ऐसे निश्चित सिद्धान्तो से अवश्य युक्त होना चाहिये जो वैसे आकस्मिक नही हैं जैसे समस्त ऐन्द्रिक अनुभव होते है। इन सिद्धान्तो को अनुभव का पूर्ववर्ती होना चाहिये और उसे सम्भव बनाना चाहिये। इस दशा मे हमारे ज्ञान की उत्पत्ति द्विविध होगी। इसका आकार प्रज्ञाजन्य और आधारभूत सिद्धान्तो की एक निश्चित शृङ्खला से युक्त होगा। इसका विषय-वस्तु ऐच्छिक अनुभव की समस्त आकस्मिकताओ से उत्पन्न होगा। न्याय, वैशेषिक, मीमासा, जैन तथा साख्य आदि सभी भारतीय प्रणालियाँ इस यथार्थवादी दृष्टिकोण से सहमत है कि प्रज्ञा मूलत कोरे कागज जैसी होती है जिसकी एक दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। यह किसी भी आकार से युक्त नही होती, तथा आकस्मिक अनुभव द्वारा न्यूनाधिक आकस्मिक तथ्यो और नियमो से परिपूर्ण होने के पूर्व बुद्धि मे कोई सिद्धान्त निहित नही होते।

दूसरी ओर, बौद्ध यह मानते हे अनिवार्य सिद्धान्तो की एक ऐसी शृङ्खला होती है जो अनुभवरूपी दीपक द्वारा प्रगट नही होती, किन्तु स्वय इस दीपक को ही व्यक्त करती है। विरोध का नियम, तादात्म्य का नियम, और हेतुत्व

---

[१] तुकी० न्याविटी० पृ० १९-२, २५-१९; ४७ ९, तुकी० वात्स्यायन पृ० २-४।

(तदुत्पत्ति) का नियम, ये तीनो तीन ऐसे आयुध है जिनके द्वारा हमारी प्रज्ञा अनुभवो के सग्रह का व्यवसाय करने के पूर्व सुसज्जित होती है। यदि हम प्रत्येक अनुभव के पूर्व इस बात का विश्वास न रखते कि, उदाहरण के लिये, जो धूम हम देखते है उसका अनिवार्यत एक हेतु है, अथवा अधिक शुद्धत धूम का प्रत्येक क्षण गत क्षणो की एक शृखला पर आधारित है, तब हम अग्नि की उपस्थिति का उसके फल की उपस्थिति के आधार पर कभी भी अनुमान न कर पाते। तब सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई भी अनुमान कर ही नही सकता। यदि, जैसा कि यथार्थवादी मानते है, शिशपा और वृक्ष दो भिन्न यथार्थतायें हो जिनका किसी एक ही अधिष्ठान मे एक साथ समवाय एक आकस्मिक, यद्यपि अबाधित, अनुभव द्वारा प्रगट हुआ हो, तब पुन, एक सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई भी यह नही मान सकेगा कि शिशपा अनिवार्यतः और सदैव एक वृक्ष ही है।[1] एक ही वस्तु नील होते हुये अ-नील भी नही हो सकती, ऐसा किसी भी अनुभव के पूर्व ही निश्चित है—अलबत्ता नील और अ-नील हमे आकस्मिक अनुभव से ज्ञात होते हैं।

इस प्रकार यह तथ्य कि हम सामान्य तथा अनिवार्य सत्यो से युक्त होते है, इस तथ्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है कि हम प्रत्येक अनुभव के पूर्व ज्ञान के सिद्धान्तो से युक्त होते हैं, और यह कि हम इनके पदार्थों की एक निश्चित सख्या—न कम न ज्यादा—से युक्त होते हैं।

§ १४. शुद्ध प्रज्ञा के प्रयोग की सीमायें

किन्तु यद्यपि विरोध के, तादात्म्य के तथा तदुत्पत्ति के नियम हमारी प्रज्ञा की मौलिक सम्पत्ति हैं, और यद्यपि इनकी उत्पत्ति किसी भी प्रकार के

---

[1] अथवा हम दूसरा उदाहरण ले सकते हैं कोई भी यह नही मान सकता कि एक सीधी रेखा दो विन्दुओ के बीच की अनिवार्यत और सदैव न्यूनतम दूरी होती है। इस सामान्य निश्चय मे साध्य और विधेय, नि सन्देह हेतुत्व के द्वारा नही बल्कि तादात्म्य के नियम द्वारा ही एकीकृत हैं। समस्त गणितीय निश्चय तादात्म्य के सिद्धान्त पर आधारित निश्चय होते हैं। एक सीधी रेखा तथा न्यूनतम दूरी हमे ऐन्द्रिक अनुभव द्वारा ज्ञात होती है, किन्तु यह निश्चय कि "यही न्यूनतम दूरी है क्योकि यह एक सीधी रेखा है", एक अनिवार्य निश्चय है जो अनुभव की आकस्मिकताओ के आधीन नही है। यह इस आशय मे विभागात्मक है कि यह हेतुत्व पर आधारित नही है।

ऐन्द्रिक अनुभव से स्वतन्त्र है, तथापि ये अनुभव की सीमाओ के बाहर अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार नही कर सकते। ऐसे विषय जो अपनी प्रकृति से प्रत्येक सम्भाव्य अनुभव की सीमा से बाहर हैं, जो तत्त्वमीमांसात्मक हैं, जो "न तो अपने अस्तित्व के देश की दृष्टि से न अपने प्रगट होने के काल की दृष्टि से, और न अपने ऐन्द्रिक गुणो की ही दृष्टि से उपलब्ध हैं", वे शुद्ध बुद्धि द्वारा भी अज्ञेय हैं। धर्मोत्तर[1] कहते हैं कि "इनका किसी अन्य के साथ विरोधत्व, किसी अन्य पर इनकी हेत्वात्मक निर्भरता, किसी अन्य के साथ इनका तादात्म्य, इन सभी का निर्धारण असम्भव है। अत इस बात का निर्धारण असम्भव है कि इनका किससे विरोधत्व है और किससे ये हेत्वात्मक दृष्टि से सम्बद्ध हैं। इस कारण विरोधी तथ्यो, हेतुओ और फलो की अस्वीकृति (तथा स्थापना) उसी समय उचित है जब उनकी (उपलब्धि तथा अनुपलब्धि का) निरीक्षण प्रत्यावर्ती रहा हो। विकल्पों के विरोध, तदुत्पत्ति, और तादात्म्य (प्रत्येक विशेष अवस्था मे) अनिवार्यत ग्राह्य विषयो के अ-प्रत्यक्षीकरण पर आधारित होते हैं, अर्थात् विधि और अनुपलब्धि के अनुभव पर, प्रत्यक्ष और अ-प्रत्यक्ष पर आधारित होते हैं।

जहाँ तक हेत्वात्मक सम्बन्ध का प्रश्न है इसकी प्रत्येक विशेष दशा उस स्थिति मे ज्ञात होती है जब इसकी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के पाँच क्रमिक तथ्यो द्वारा स्थापना होती है[2], जैसे —

(१) परिणाम का अ-प्रत्यक्ष, जैसे उत्पन्न होने के पूर्व धूम का,

(२) इसका प्रत्यक्ष, जब—

(३) इसके कारण, अग्नि, का प्रत्यक्ष हो चुकता है,

(४) इसका अ-प्रत्यक्ष, जब—

(५) इसके कारण का प्रत्यक्ष नही होता।

इस प्रकार (क) फल की दृष्टि से अप्रत्यक्ष की दो दशायें (१ और ४) तथा प्रत्यक्ष की एक दशा (२) होती है, (ख) हेतु की दृष्टि से प्रत्यक्ष की एक (३) तथा अ-प्रत्यक्ष की एक (४) दशा होती है। वे तथ्य जो ऐसे हेत्वात्मक सम्बन्धो का निर्माण करते हैं जिनका हम इन्द्रिय-

---

[1] न्याविटी० पृ० २८२० और बाद, अनुवाद पृ० १०५।

[2] तुकी० न्याकण्ड० पृ० २०५२२ और बाद।

प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्षात्मक निश्चय द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं, किन्तु इस तथ्य का कि ये वास्तव मे हेतुक दृष्टि से सम्बद्ध हैं, हम केवल अनुमानात्मक निश्चय अथवा व्याप्ति के निश्चय द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करते है क्योंकि स्वय हेतुत्व अथवा हेतुक सम्बन्ध इन्द्रियो के माध्यम से हमारी बुद्धि मे प्रवेश नही कर सकते, इन्हे तो प्रज्ञा स्वय अपने साधनो द्वारा सयुक्त करती है। धर्मोत्तर[1] कहते हैं कि "जब कोई फल उत्पन्न होता है तब वास्तव मे हम (एक ऐन्द्रिक तथ्य के रूप मे) स्वय हेतुत्व का अनुभव नहीं करते, बल्कि किसी वास्तविक फल की सत्ता सदैव उसके हेतु की सत्ता की पूर्वमान्यता होती है। अत यह सम्बन्ध (परोक्ष रूप से) सत्य होता है", अर्थात् यह सत् के आधार पर बुद्धि द्वारा निर्मित होता है। किन्तु स्वय हेतुत्व का सिद्धान्त प्रज्ञा की मौलिक निधि है।[2] इसको धर्मकीर्ति ने अपने प्रसिद्ध तथा बहुधा उद्धृत इस सूत्र मे व्यक्त किया है जिसका ऊपर अनुवाद किया जा चुका है।[3]

§ १५. स्वार्थानुमान के दृष्टिकोणो की ऐतिहासिक रूपरेखा

भारत मे न्यायशास्त्र वास्तव मे तर्कशास्त्र से विकसित हुआ है। तर्कशास्त्र के अन्तर्गत स्वार्थानुमान प्रमाण की विधियो मे से एक के रूप मे आता है, किन्तु इसकी भूमिका नगण्य है। यह सार्वजनिक शास्त्रार्थो मे प्रयुक्त अनेक तार्किक कौतुको की प्रचुरता मे खो गया है। महत्व की दृष्टि से इसका क्रमिक उत्थान तर्कशास्त्र के महत्व मे क्रमिक ह्रास के समानान्तर चलता है[4]। हीनयान

---

[1] न्यायबिटी० पृ० ६९,११, अनुवाद पृ० १९२।

[2] नि सन्देह वह हेतुत्व अथवा प्रापकता, जो स्वय सत्ता का, वस्तुस्वलक्षण का पर्याय है, प्रज्ञा का एक पदार्थ नही है। वह तो अ-पदार्थ, समस्त पदार्थों का समान अधिष्ठान है।

[3] प्रवा० १ ३३, तुकी० ऊपर पृ० ३०८।

[4] स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के भारतीय सिद्धान्त की उत्पत्ति निश्चित रूप से देशीय है। मुझे इसकी विदेशी उत्पत्ति का कोई भी निर्विवाद प्रमाण नहीं मिल सका है। 'ज्ञान के प्रमाण' के रूप में इसकी सम्पूर्ण धारणा आरम्भ से ही इसे एक ज्ञानमीमासात्मक प्रकृति प्रदान करती है। एस० सी० विद्याभूषण (इण्डियन लॉजिक, पृ० ३९७ और बाद) एरिस्टॉटिल का प्रभाव मानते हैं "जिसकी रचनाओ का उस समय व्यापक रूप से अध्ययन होता

काल मे ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध परार्थानुमान अथवा स्वार्थानुमान के सम्बन्ध मे कुछ नही जानते थे। किन्तु एक नवीन युग के आरम्भ के साथ, जब प्रमुख सम्प्रदायो की शिक्षाओ को एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया गया तथा उनके आधारभूत ग्रन्थो की रचना हुई, स्वार्थानुमान इनमे से अधिकाश मे ज्ञान के प्रमुख प्रमाणो मे से एक के रूप मे आता है और इसका क्रम तथा महत्त्व केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के ही बाद है। इस युग के दार्शनिक मोर्चे के दाहिने तथा बायें पार्श्व मे हमे केवल दो सम्प्रदाय मिलते हैं जो, यद्यपि विरोधी कारणो से ही, स्वार्थानुमान को सम्यक ज्ञान के प्रमाण के रूप मे स्वीकार नही करते। आस्तिक मीमासक इसे इसलिये अस्वीकार करते हैं कि न तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और न स्वार्थानुमान ही धर्मज्ञान के प्रमाण हैं।[1] दूसरी ओर, भौतिकवादी इसको इसलिये अस्वीकार करते हैं कि इनके लिये साक्षात् इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एक मात्र प्रमाण है।[2] इन दो सीमाओ के बीच हमे न्याय, वैशेषिक, और साख्य सम्प्रदाय मिलते है जिन्होने दिङ्नाग के पूर्ववर्ती काल मे आनुभविक जगत के ज्ञान के द्वितीय प्रमाण के रूप मे अनुमान की परिभाषाये दी। वसुबन्धु के साथ बौद्ध भी इस आन्दोलन मे सम्मिलित हुये

था।" किन्तु आप का यह भी विचार है कि यूनानी पूर्व-विश्लेषणवाद का प्रवेश "अत्यन्त क्रमिक ही रहा होगा क्योकि इनका भारतीय विचार और भाषा मे समन्वय तथा अनुकूलन करना आवश्यक था।" यद्यपि यूनानी और भारतीय पाण्डित्य के ससर्ग की सम्भावना अत्यधिक है, तथापि भारतीय सिद्धान्त मुझे विकास के स्वय अपने पथ का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं। समानताओ की विषय-वस्तु के आधार पर सरलतापूर्वक व्याख्या की जा सकती है, तथा अन्तरो की भारतीय दृष्टिकोणो की मौलिकता के आधार पर व्याख्या की जानी चाहिये।

[1] मीमासासूत्र १.१,२। कुमारिल इत्यादि बाद के मीमासक स्वार्थानुमान की किसी एक विशेष दशा से दूसरे की ओर अग्रसर एक सोपान के रूप मे परिभाषा देते हैं।

[2] एक पुरन्दर नामक व्यक्ति ने यह मानते हुये भौतिकवादियो की स्थिति का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ये लोग तत्वमीमासा तथा धर्म के क्षेत्र मे स्वर्थानुमान के अलौकिक प्रयोग को ही अस्वीकार करते हैं। किन्तु बौद्धो ने यह उत्तर दिया है कि ये लोग स्वार्थानुमान को केवल आनुभविक ज्ञान का प्रमाण भी मानते हैं। तुकी० तसप० प्र० ४३१ २६।

और वादविधि मे इन्होंने स्वय अपनी प्रथम परिभाषा प्रस्तुत की। आचार्य वसुबन्धु से आरम्भ इस, तथा न्याय, वैशेषिक और सांख्य सम्प्रदायो की परिभाषाओ की, और साथ ही साथ, मीमासको की नकारात्मक प्रवृत्ति की दिङ्नाग ने निर्दयतापूर्वक आलोचना करते हुये इन्हे अस्वीकार किया है। न्याय सम्प्रदाय स्वार्थानुमान की ऐसे ज्ञान के रूप में परिभाषा करता है जिसके पूर्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष आता है।[१] इसकी ऐसे ज्ञान के अर्थ मे व्याख्या की गई है जिनका प्रथम सोपान "हेतु और फल के बीच सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण है"।[२] साख्य यह मानते है कि "जब किसी सम्बन्ध का प्रत्यक्ष हो जाता है तब (उसके आधार पर) अन्य तथ्य की स्थापना ही स्वार्थानुमान होता है।"[३] वैशेषिको की परिभाषा मात्र इस बात का उल्लेख करती है कि स्वार्थानुमान (विषय के) लिङ्ग से उत्पन्न होता है।[४] अन्त मे वादविधि मे वसुबन्धु इसकी (अन्य विषय के) साथ "अविभाज्य रूप से सम्बद्ध किसी विषय के ऐसे व्यक्ति के ज्ञान के रूप मे परिभाषा करते हैं जो (प्रत्यक्ष द्वारा) उसके सम्बन्ध मे पूर्व-ज्ञान रखता है।"[५]

इन परिभाषाओ[६] के प्रत्येक शब्द की अभिव्यक्ति की शुद्धता की दृष्टि से कटु आलोचना करने के अतिरिक्त दिङ्नाग इनके विरुद्ध इस सिद्धान्त को रखते है कि "किसी सम्बन्ध का इन्द्रियो के द्वारा कभी भी ज्ञान नही होता।"[७]

---

[१] न्यासू० १ १,५।

[२] न्यावा० पृ० ४६ ८

[३] इस परिभाषा को दिङ्नाग ने प्रसमु० वृत्ति, अध्याय १ ३५ मे उद्धृत किया है और न्यावा० पृ० ५९ १७ मे भी इसे दोहराया गया है।

[४] वैसू० ९.२,१ "लैङ्गिकम्"

[५] प्रसमु० और न्यावा० पृ० ५६ १४ और वाद मे उद्धृत्।

[६] प्रसमु० के द्वितीय अध्याय मे २५-२७ श्लोक वादविधि के दृष्टिकोण के, २७-३० न्याय के, ३०-३५ वैशेषिको के, ३५-४५ साख्यो के, तथा ४५ और बाद मीमासको के विरुद्ध हैं।

[७] प्रसमु० २ २८ 'न सम्बन्ध इन्द्रियेण गृह्यते।" यह शब्दश काण्ट के इन शब्दो (क्रिरी० § १५] के समान है "किसी भी विविध वस्तु का सम्बन्ध हमारे अन्दर इन्द्रियो के माध्यम से प्रवेश नही कर सकता" (=न इन्द्रियेण गृह्यते)।

स्वार्थानुमान विकल्पो से सम्बद्ध होता है, अर्थात् यह सामान्य का विकल्प करता है और "सामान्य को देखा नही जा सकता",[1] यह हमारे भीतर इन्द्रियो के माध्यम से प्रवेश नही कर सकता। यह दृष्टिकोण विशुद्ध विज्ञान के रूप मे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की परिभाषा का साक्षात् परिणाम है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान का "ज्येष्ठतम्" अथवा ऐसा प्रमुख प्रमाण[2] नही है जिसकी दृष्टि से स्वार्थानुमान को एक अधीनस्थ, तथा महत्त्व की दृष्टि से द्वितीय प्रमाण कहा जा सके। दोनो प्रमाणो का बल समान है।[3] इस सन्दर्भ मे स्वार्थानुमान का ग्राह्यता की तुलना मे सामान्य रूप से प्रज्ञा अर्थ है।[4] इन्द्रियाँ मात्र कोई निश्चित ज्ञान नही प्रदान करती। जिनेन्द्रबुद्धि कहते हैं कि "बौद्धेतर मात्र ही यह विचार रखते हैं कि इन्द्रियाँ निश्चित ज्ञान प्रदान कर सकती है।" दूसरी ओर अकेले प्रज्ञा भी सत् का कोई ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति नही रखती। ये दोनो ही प्रमाण या स्रोत अकेले-अकेले समान रूप से शक्तिहीन तथा एक साथ समान रूप से प्रापक हैं। किन्तु प्रज्ञा अथवा स्वार्थानुमान अपने उन सिद्धान्तो के साथ जो इसमे समस्त अनुभव के पूर्व से ही विद्यमान होते हैं, अनिवार्य सत्यो के हमारे ज्ञान की सम्भावना से युक्त होता है। दिङ्नाग का ऐसा ही मत प्रतीत होता है, किन्तु इसके निश्चित निर्धारण मे इन्हे सफलता नही मिल सकी, और बाद मे धर्मकीर्ति ने इसका निर्धारण किया। दिङ्नाग नैयायिको की इस मान्यता का विरोध करते हैं कि यदि हमे हेतुओ का ज्ञान हो तो फलो का पूर्व-सकेत किया जा सकता है, और इसका भी कि हम भावी फलो[5] का उनके हेतुओ की उपस्थिति के द्वारा अनुमान कर सकते है।

---

[1] वही २ २९ = न समान्यम् दृश्यते।

[2] "प्रत्यक्षम् न ज्येष्ठम् प्रमाणम्" तसप० पृ० १६१ २२।

[3] "तुल्य-बलम्", तुकी० न्याबिटी० पृ० ६ १२।

[4] तुकी० न्यावि० १ १२–१७ जहाँ इस सिद्धान्त का विधान है कि इन्द्रियाँ व्यक्ति को, अर्थात् समस्त सम्बन्धो से रहित वस्तुस्वलक्षण का बोध करती है, जबकि स्वार्थानुमान सामान्य का बोध करता है, तुकी० प्रसमु० २ १७ तथा साथ ही साथ वृत्ति और जिनेन्द्रबुद्धि की टिप्पणी उपु० ११५ २ और बाद।

[5] इस दृष्टिकोण से भावी सर्वथा अज्ञेय है। तुकी० विशालामलवती, फोलियो १२४, अध्याय ३, तुकी० न्याबिटी० पृ ४० ८, अनुवाद पृ० १०८।

उनका कथन है कि फल की स्थापना हेतु की उपस्थिति के द्वारा नही की जा सकती। हेतु उपस्थित हो सकता है किन्तु कोई अवरोध उसमे हस्तक्षेप कर सकता है, तथा दूसरा (गौण) हेतु असफल हो सकता है। ऐसी दशा मे फल प्रगट नही होगा।"[1] आपने सांख्यो के सिद्धान्त का भी उस समय विरोध किया है जब वे 'घात्य-घातकभाव'[2] की स्थापना करते है जो हमे, उदाहरण के लिये, ऐसे स्थान पर सर्पो की अनुपस्थिति का अनुमान करने की अनुमति देता है जहाँ नकुलो की बहुलता होती है। इनका कथन है कि कभी-कभी नकुलो के साथ संघर्ष मे सर्प विजयी हो सकता है और तब अनुमान असफल होगा। परन्तु हेतुक उत्पत्ति[3] से अस्थायित्व का अनुमान निश्चित है क्योंकि यह उसी प्रकार तादात्म्य पर आधारित होता है जिस प्रकार किसी वस्तु की सत्ता मे गत क्षण निश्चित होता है क्योंकि यह हेतुक अनिवार्यता पर आधारित होता है।

इस आधारभूत अन्तर के अतिरिक्त, समस्त बौद्धेत्तर सम्प्रदायो मे से वैशेषिक अनुमान की अपनी परिभाषा तथा सम्बन्धो के अपने वर्गीकरण की दृष्टियो से बौद्धो के सर्वाधिक निकट आते हैं।[4] ये चार प्रकार के सम्बन्धो, जैसे कार्य (तदुत्पत्ति), एक ही अधिष्ठान मे सहसमवाय, संयोग (अथवा

जब हम भावी का पूर्वकथन करते है तब यह हेतुत्व (तदुत्पत्ति) के नियम का एक परोक्ष परिणाम होता है—इस नियम का कि प्रत्येक वस्तु अपने हेतुओ पर निर्भर होती है। फल अनिवार्यत अपने हेतुओ पर निर्भर होता है, किन्तु हेतु अनिवार्यत अपने फल का वहन नही करता क्योंकि कोई भी आकस्मिक अवरोध उसमे सदैव हस्तक्षेप कर सकता है।

[1] प्रसमु० २.३० 'न कार्यम् कारणात् सिद्धयति'।

[2] तुकी० वही।

[3] वही।

[4] न्याय के त्रिविध वर्गीकरण (पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट)की स्वय नैयायिको ने ही भिन्न व्याख्यायें की है, तुकी० वात्स्यायन, पृ० १८। इसे दिङ्नाग ने (प्रसमु० २ २६ और बाद) अस्वीकार किया है। सांख्यो के सप्तविध वर्गीकरण का उसी कृति के अध्याय २ ३५ की वृत्ति में और ताटी० १०९.२१ मे उल्लेख है। यह सर्वथा याद्दच्छिक है और इस सम्प्रदाय की अभिजातकालीन कृतियो मे इसका कोई उल्लेख नहीं है।

मात्र व्याप्ति), तथा विरोध अथवा अनुपलब्धि, मानते हैं। यदि सहसमवाय को तादात्म्य मान लिया जाय तथा सयोग की कोटि को सर्वथा छोड दिया जाय तो यह वर्गीकरण धर्मकीर्ति से बहुत भिन्न नही होगा। सयोग या तो स्वय निरर्थक है अथवा अन्य तीन कोटियो को निरर्थक बना देता है। इस चतुर्विध विभाजन का उद्देश्य, जैसा कि वाचस्पति का विचार है, पूर्ण तथा व्यापक होना था जिसमे विभिन्न वर्गों को एक दूसरे से वर्ज्य माना गया है।[१] दिङ्नाग[२] यह उल्लेख करते है कि उनके समय मे वैशेषिको ने किसी विशेष से एक सामान्य पद की ओर अग्रसर होते समय प्रज्ञा की इस सामान्यीकरण की गति की एक अलौकिक अन्त प्रज्ञा के रूप मे व्याख्या की थी, क्योकि प्रत्यक्षत ऐसी गति अनुभव के आधार पर अव्याख्येय थी। फिर भी, सम्बन्धो की एक निश्चित सख्या के विचार का इन लोगो ने बाद में परित्याग कर दिया। प्रशस्तपाद का यह कथन है [३] "यदि सूत्र कार्यादि (सम्बन्ध के पदार्थों के रूप मे) का उल्लेख करते हैं तो यह केवल उदाहरण के लिये है अवधारण के लिये नही। क्यो? क्योकि अनुभव यह सिद्ध करता है कि अन्य सम्बन्ध भी सम्भव हैं। उदाहरण के लिये 'ओकार' का उच्चारण करते हुये अध्वर्यु, अपने से व्यवहित भी होता के अनुमापक होते हैं, अथवा चन्द्रोदय समुद्र की वृद्धि और कुमुद के विकास का अनुमापक होता है, अथवा शरद् ऋतु मे जल की स्वच्छता अगस्त्य नामक नक्षत्र के उदय की ज्ञापक होती है, इत्यादि। ये सभी उदाहरण सूत्र के अन्तर्गत आते हैं जो सम्बन्धो के चार प्रकार का उल्लेख करता है, (यद्यपि ये किसी एक के अन्तर्गत विशेष रूप से सम्मिलित नही है) क्योकि इसका अर्थ (सम्बन्धो का सर्वाङ्गपूर्ण वर्गीकरण प्रस्तुत करना नही, वल्कि) सामान्य रूप से व्याप्ति का उल्लेख करना (और उदाहरण देना) है।"

इस प्रकार, सम्बन्धो की एक विस्तृत तालिका प्रस्तुत करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति का उसी समय परित्याग कर दिया गया जब इस बात का अनुभव किया गया कि अनुभव, जो एक सीमा तक सदैव आपातिक होता

---

[१] नाटी० पृ० १०९.१२ चातुर्विध्यम् त्व् इष्यते।

[२] प्रसमु० वृत्ति० २।

[३] प्रशस्तपा० पृ० २०५.१४।

है, स्वय अपने मे न तो अनिवार्य सत्यो को और न उनकी एक निश्चित सख्या को ही प्रस्तुत कर सकता है।

इसी प्रकार प्रशस्तपाद के शब्द इस बात का परोक्ष सकेत करते हैं कि दिङ्नाग के समय तक मे यह समस्या विवादास्पद हो चुकी थी कि कार्य-कारण भाव के अतिरिक्त भी यथार्थ सम्बन्ध हो सकते हैं अथवा नही।

किन्तु, दिङ्नाग के मन मे यद्यपि सम्बन्धो की वह प्रणाली विद्यमान प्रतीत होती है जिसे हम धर्मकीर्ति की कृतियो मे स्पष्ट रूप से उल्लिखित पाते हैं, तथापि वह उसे व्यक्त करने मे पर्याप्त स्पष्ट नही थे और इस सिद्धान्त के स्पष्ट और अन्तिम निर्धारण का कार्य उनके महान अनुगामी के लिये ही स्थगित रहा। इन दो आचार्यों के बीच के समयो की अवधि मे सम्प्रदाय मे उतार-चढाव भी आये। दिङ्नाग के शिष्य, ईश्वरसेन, ने हमारे ज्ञान मे विशुद्धत अनिवार्य तथा सामान्य सिद्धान्तो की सम्भावना को अस्वीकार किया। इनके अनुसार[1] सर्वज्ञ के अतिरिक्त और किसी को भी विशुद्धत सामान्य तथा अनिवार्य ज्ञान नही हो सकता। इस विषय पर ये वैशेषिको से सहमत थे। इन्हे प्रत्यक्षत- इस बात का विश्वास था कि दिङ्नाग की कृतियो मे वह सिद्धान्त निहित नही था जिसे धर्मकीर्ति ने उनमे ढूंढा था, और इसलिये इस दिशा मे समस्त सन्दिग्धताओ के स्पष्टीकरण तथा सम्बन्धो के पदार्थों की बौद्ध तालिका की अन्तिम स्थापना का कार्य धर्मकीर्ति का उत्तरदायित्व बना रहा।[2]

---

[1] महापण्डित ईश्वरसेन के मत शाक्य-बुद्धि की टीका मे उल्लिखित है और रग्यल-त्शब ने अपने थर-लम मे भी इन्हे उद्घृत किया है। ये यह मानते थे कि 'अर्वग्-दर्शी' इस बात को कभी नही जान सकता कि असमानो में हेतु सर्वथा अनुपस्थित रहता है। सामान्य नियम के अपवाद सदैव सम्भव हैं। इसको उन छ दशाओ के सकेत द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया है जिनकी दृष्टि से यह मत न्यायमुख और प्रसमु० के विभिन्न स्थलो के विरुद्ध पडता है। फिर भी, भाष्यकार प्रज्ञाकर गुप्त इस मत पर लौटते प्रतीत होते हैं कि अनिवार्य सत्यो को अलौकिक अन्त प्रज्ञा द्वारा ढूढा जाता है। तुकी० भाग दो, पृ० १३० नोट।

[2] अत यह स्पष्ट है कि स्वभावानुमान का, जो उत्तरतन्त्र तथा असङ्ग की अन्य कृतियो में आता है, वही अर्थ नही हो सकता जो धर्मकीर्ति की कृतियो मे मिलता है।

§ १६. कुछ योरोपीय समानान्तरतायें

बौद्धन्याय जिसका स्वार्थानुमान के रूप मे विवेचन करता है उसका योरोपीय तर्कशास्त्र अशत निश्चय, और अशत परार्थानुमान के रूप मे विवेचन करता है। दिङ्नाग ने स्वार्थानुमान अथवा 'स्वार्थ के लिये' तर्क तथा परार्थानुमान अथवा परार्थ-अनुमान के बीच एक निश्चित और सुनिर्दिष्ट रेखा खीची है। जैसा कि बाद में देखा जायगा, परार्थानुमान आगमनात्मक-निगमनात्मक तर्क का एक पूर्ण अभिव्यक्त रूप है। यह ज्ञान की एक प्रक्रिया कदापि नही है। इसे केवल लाक्षणिक रूप से ही ज्ञान का एक प्रमाण कहा जा सकता है।[१]

दूसरी ओर, उस अधिकाश सामग्री का जिसका योरोप मे तात्कालिक, अपूर्ण अथवा आभासी अनुमान के रूप मे विवेचन किया गया है, बौद्धो ने स्वार्थानुमान के रूप मे विवेचन किया है। सोपाधिक तर्कवाक्य का, जो प्रथमत हेतु और फल के लिये व्यवहृत है, योरप मे या तो निश्चय अथवा हेत्वाश्रित न्यायवाक्य, अथवा तात्कालिक अनुमान के रूप मे विवेचन किया गया है। यदि कोई फल है तो अनिवार्यत हेतु होगा, यदि हेतु अनुपस्थित है तो फल भी अनिवार्यत अनुपस्थित होगा। डे मॉर्गन का यह विचार है कि 'प्राक्कल्पना को अनिवार्य फल के साथ सम्बद्ध करनेवाले विचार के इस नियम की प्रकृति ऐसी है जो न्यायवाक्य के समक्ष खडे होने तथा उसमे प्रयुक्त होने के योग्य है, इसका उल्टा नही है।" जैसा कि बाद मे दिखाया जायगा, बौद्ध दृष्टिकोण भी सर्वथा ऐसा ही है। इसका कारण इसी तथ्य मे निहित है कि परार्थानुमान किसी भी हेतुक अनुक्रम के प्रत्येक निरीक्षण को एक निगमनात्मक निर्धारण प्रदान करता है। हमारे अनुमानात्मक चिन्तन का एकार्ध भाग हेतुत्व के नियम पर आधारित होता है और तत्सम्बन्धी निश्चय उस अंश मे सदैव अनुमानात्मक होते हैं जिसमे उनका साक्षात् प्रत्यक्ष नही होता। प्रो० ए० बेन यह टिप्पणी करते हैं कि "जब एक वस्तु दूसरे का लक्षण होती है तो एक ही सोपाधिक स्वरूप रहता है," अर्थात् न केवल उसी दशा मे जब फल किसी हेतु की उपस्थिति का लक्षण होता है, वरन् उस दशा मे भी जब फल के अतिरिक्त अन्य लक्षण भी "उस अन्य वस्तु से नित्य सम्बद्ध रहता है"। यत समस्त स्वार्थानुमान और समस्त परार्थानुमान इस तथ्य मे सिमट आता है कि "एक वस्तु दूसरे का लक्षण होती है," अत हम प्रो० बेन की टिप्पणी की इस तथ्य के सकेत के रूप मे व्याख्या कर सकते है कि समस्त स्वार्थानुमान

[१] न्याबिटी० ३२।

या तो हेतुक अथवा अ-हेतुक होता है। और विल्कुल यही, जैसा कि हम देख चुके हैं, बौद्ध दृष्टिकोण है। किसी वस्तु के उसके लक्षण द्वारा ज्ञान का योरोपीय तर्कशास्त्र मे उस स्वयसिद्धि के रूप मे विवेचन किया गया है जिस पर परार्थानुमान आधारित होता है।[1] स्वयसिद्धि से प्रत्यक्षत यहाँ उस अनिवार्य प्रकृति का अर्थ है जिससे हमारा विचार प्रत्येक अनुमानात्मक ज्ञान मे युक्त होता है। इसे 'स्वयसिद्धि' न कह कर अनुमान की परिभाषा कहना तथा परार्थानुमान से पृथक् करना अधिक उचित होता जैसा कि भारत मे दिङ्नाग ने किया है।

जहाँ तक निश्चय और स्वार्थानुमान के बीच विभाजन-रेखा का प्रश्न है उसे भारत मे उससे सर्वथा भिन्न रूप से स्थिर किया गया है जो अधिकाश योरोपीय प्रणालियो मे मिलता है। यत निश्चय, एकीकरण और प्रज्ञा समानार्थी शब्द है, अत समस्त स्वार्थानुमान निश्चय के शीर्षक के अन्तगत निहित है। किन्तु निश्चय या तो एक तथ्य के वक्तव्य से युक्त हो सकता है अथवा दो तथ्यो के बीच अनिवार्य अन्योन्याश्रयत्व के वक्तव्य से। प्रथम को सदैव ही प्रत्यक्षात्मक के रूप मे घटाया जा सकता है, द्वितीय स्वार्थानुमान है। दिङ्नाग, जिनका प्रमुख सिद्धान्त ग्राह्यता और प्रज्ञा मे अन्तर है, शुद्ध विज्ञान, प्रत्यक्षात्मक निश्चय और स्वार्थानुमान मे विभेद करते है। इनका प्रमुख उद्देश्य ग्राह्यता का प्रज्ञा से विभेद करना है, किन्तु परम्परा का अनुसरण करते हुये ये इनका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और स्वार्थानुमान शीर्षको के अन्तर्गत विवेचन करते हैं। किसी एक विकल्प मे अन्त प्रज्ञा की दोनो विविधता का एकीकरण, और दो स्वतन्त्र विकल्पो का एकीकरण प्रज्ञा की सर्वथा दो भिन्न क्रियायें हैं, और इसका काण्ट ने भी अक्सर उस समय उल्लेख किया है जब वह यह करते है कि प्रज्ञा की समस्त क्रियाओ मे एकीकरण होता है "चाहे उस समय जब हम अन्त प्रज्ञा की विविधता को सम्बद्ध करते हैं अथवा उस समय जब अनेक विकल्पो को ही एक साथ सम्बद्ध करते हैं।"[2]

किसी निश्चय का वह सामान्य रूप जिसकी योरोपीय तर्कशास्त्र मे दो विकल्पो के बीच कथित सम्बन्ध (अर्थात् एकीकरण) के रूप मे परिभाषा की गई है, भारतीय दृष्टिकोण मे अनुमानात्मक निश्चय अथवा परार्थानुमान के लिये व्यवहृत होता है। वास्तव मे किसी परार्थानुमान के साध्य-आधारवाक्य मे ही दो विकल्पो (मध्यपद और साध्यपद) के अन्योन्याश्रयत्व को

---

[1] Nota notae est nota rei ipsius.

[2] क्रिरी० § १५ (द्वितीय सस्क०)।

होता है। वास्तव मे काण्ट इसको एक नवीन ज्ञान नही मानते।[२] यह उस व्यक्त किया जाता है। इन दोनो विकल्पो के लिये समान अधिष्ठान अथवा पक्षपद जब व्यक्त नही बल्कि अभिप्रेत होता है, तब सभी विधेयो का यह समान साध्य समस्त वस्तुओ का प्रथम सारतत्त्व होता है। इस प्रकार साध्य-आधारवाक्य वास्तव मे सम्पूर्ण अनुमान को धारण कर सकता है। प्रो० बेन[१] का भी उस समय सवथा यही मत है जब वह यह कहते हैं कि 'किसी सामान्य तर्कवाक्य की विधि मे वास्तविक स्वार्थानुमान क्षीण हो जाता है।" "जब हम यह कह देते हैं कि 'समस्त मानव मर्त्य हैं' तब हम अनुमान का अधिकतम सम्भाव्य विस्तार कर देते हैं। हम आगमनात्मक समापत्ति के अधिकतम सकट को आमन्त्रित कर चुके होते हैं।" हम देख चुके हैं कि किसी सामान्य निश्चय के इस सकटात्मक चरण की उन वैशेषिको ने, जिनसे ईश्वरसेन सहमत प्रतीत होते हैं, एक अतिमानवीय अन्त प्रज्ञा के रूप मे व्याख्या की है। किन्तु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने एक अन्य व्याख्या प्रस्तुत की है।

अब एकात्मक तथा विभागात्मक निश्चयो की समस्या अवशिष्ट रह जाती है। जिस शब्द का हम 'विभागात्मक निश्चय' अनुवाद करते हैं उसका काण्ट की शब्दावली का अनुसरण करने पर शब्दार्थ 'स्वतत्त्व अनुमान' होगा। इस शब्द मे यह तात्पर्य है कि निश्चय का विधेय साध्य के 'स्वतत्त्व' से सम्बद्ध होता है और उसका "केवल साध्य की सत्ता से ही अनुमान किया जा सकता है", अर्थात् केवल साध्य ही, अपने को अनुभव आदि जैसे किसी अन्य स्रोत के अधीन किये बिना ही, विधेय के अनुमान के लिये पर्याप्त होता है। विधेय साध्य से सरलतापूर्वक अनुमित हो सकता है क्योकि यह उसमे पहले से ही निहित होता है। इस निश्चय को कि "शिशपा एक वृक्ष है", काण्ट ने निश्चित रूप से विभागात्मक ही कहा होता। वास्तव मे इसका अर्थ यह है कि "शिशपा-वृक्ष एक वृक्ष है।"

यत प्रज्ञा के सामान्य रूप से समस्त कार्य, तथा विशेष रूप से समस्त निश्चय एकीकरण हैं, अत विभागात्मक निश्चय स्वय अपने मे विरोधी प्रतीत

---

[१] लॉजिक १, पृ० २०६।

[२] भारतीय शब्दावली के अनुसार कोई विशुद्ध विभागात्मक निश्चय 'अनधिगत-अर्थ-अधिगन्तृ' के आशय मे प्रमाण नही होगा। वास्तव मे असग की कृतियो मे 'स्वभानुमान' को 'कार्यानुमान' के साथ समीकृत नहीं किया गया है।

बात को आत्मसात करने की जिसे स्वय हमने ही सम्बद्ध किया है, और तदनन्तर उसके ही एक ऐसे निश्चय मे पुनर्एकीकरण की एक गौण क्रिया है जिसका कोई भी ज्ञानात्मक महत्त्व नही होता।[1] काण्ट कहते हैं कि "विभागात्मक वैधिक निश्चय, इस प्रकार वह होते हैं जिनमे साध्य के साथ विधेय के सम्बन्ध का तादात्म्य के द्वारा बोध किया जाता है, जब कि अन्य निश्चयो को, जिनमे सम्बन्ध का बिना तादात्म्य के बोध किया जाता है, एकात्मक कहा जा सकता है।" इस वक्तव्य से धर्मोत्तर[2] के इन शब्दो की तुलना कीजिये "विधि (अर्थात् विधेय, जिसका विधान किया जाता है) या तो (साध्य से) भिन्न होता है अथवा उसके साथ इसका तादात्म्य होता है।" तथाकथित विभागात्मक निश्चय एकात्मक किन्तु तादात्म्य पर आधारित होते हैं। विशुद्ध एकात्मक निश्चय तादात्म्य से रहित एकीकरण से युक्त होते हैं। भारतीय तथा योरोपीय दृष्टिकोणो का साम्य यहाँ शब्दावली तक विस्तृत मिलता है।

फिर भी, काण्ट के लिये 'तादात्म्य' शब्द का आशय वही कदापि नहीं प्रतीत होता जो बौद्ध न्याय मे मिलता है, और भारतीय पक्ष में तथाकथित विभागात्मक निश्चय को प्रदत्त महत्त्व उस नगण्य स्थान से सर्वथा भिन्न है जो इसे योरोपीय ज्ञानमीमासा मे प्राप्त है। काण्ट पूर्व-अस्तित्व अथवा पहले से उपस्थित ऐसे विकल्पो मे विश्वास रखते थे[3] जिन्हे हम उनके निर्माणक अशो मे विलीन कर सकते हैं। इस प्रकार के विकल्प मे यदि कुछ नवीन बात सयुक्त कर दी जाय तो निश्चय एकात्मक हो जायगा, जैसे यह निश्चय कि "समस्त स्थूल वस्तुयें भारी होती हैं", क्योकि किसी स्थूल वस्तु के प्राचीन

---

[1] जैसा कि बी० रसेल कहते हैं, अपने श्रोताओ से किसी कुयुक्ति को ग्रहण कराने का प्रयास करने वाले सार्वजनिक वक्ता के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति विभागात्मक निश्चय का आश्रय नही लेता। तुकी० प्रॉब्लेम्स, पृ० १२८।

[2] न्यायबिटी० पृ० २४-२०, अनुवाद पृ० ६३।

[3] यद्यपि आप यह कहते हैं कि "पहले बिना स्वय सम्बद्ध किये हम किसी विषय से किसी बात के सम्बद्ध होने को व्यक्त नही कर सकते।" (क्रिटी० § २५, द्वितीय सस्करण)।

विकल्प मे भारीपन का भाव निहित नही है और इसे कुछ नवीन अनुभवो के आधार पर ही उसके साथ सयुक्त किया गया है। किन्तु बौद्धो के लिये समस्त प्राचीन विशिष्टतायें और ऐसे समस्त नवीन गुण जिन्हे उपस्थित विकल्प के साथ सयुक्त किया जा सकता है, उस तादात्म्य द्वारा एकीकृत होता है जो विकल्प के एकत्व मे निहित होता है। दो अ-समान विकल्पो का तादात्म्य उनके विषयात्मक सन्दर्भ के तादात्म्य से निर्मित होता है। शिंशपा तथा वृक्ष दो ऐसे विकल्प नही हैं जिनमे तादात्म्य हो, किन्तु वह वास्तविक वस्तु जिसका इन दोनो ही विकल्पो से सन्दर्भ है उसमे तादात्म्य है। एक ही और उसी वस्तु को जिसे शिंशपा कहा जा सकता है उसे ही वृक्ष भी कहा जा सकता है। काण्ट की शब्दावली के साथ आंशिक साम्य के कारण जिस निश्चय को हमने विभागात्मक कहा है उससे वास्तव मे सन्दर्भों के तादात्म्य के निश्चय का अर्थ है। धर्मोत्तर[1] कहते है कि "उन दशाओ मे भी जहाँ अनुमान तादात्म्य पर (अर्थात् विषयात्मक सन्दर्भ के तादात्म्य पर) आधारित होता है, वहाँ भी एक आश्रित तथा एक स्वतन्त्र भाग होता है। वह आश्रित भाग ही है जो दूसरे की सत्ता को सूचित करने की शक्ति से युक्त होता है। दूसरे भाग को जिसके अधीन किया जाता है वह स्वतन्त्र भाग निगमित भाग होता है।"

शिंशपा और वृक्ष दोनो से यद्यपि एक ही समान विषय का तात्पर्य है, तथापि स्वय इन दोनो मे तादात्म्य नही है। ये अन्योन्याश्रित है, जिससे इनमे से एक अर्थात् आश्रित भाग के उपस्थित होने पर दूसरा स्वतन्त्र भाग भी अनिवार्यत उपस्थित रहता है, किन्तु स्थिति इसके विपरीत नही होती। वृक्ष शिंशपा पर आश्रित नही है। ऐसे भी वृक्ष हो सकते हैं जो शिंशपा नही हैं, किन्तु सभी शिंशपा अनिवार्यत वृक्ष ही होते हैं।[2]

---

[1] न्याविटी० पृ० २६-३, अनुवाद पृ० ७२।

[2] काण्ट कहते हैं कि "प्रत्येक विभागात्मक तर्कवाक्य मे सब इस बात पर होता है कि वास्तव मे विधेय की साध्य के प्रतिनिधित्व मे कल्पना की या नही।" इसका निकष मनोवैज्ञानिक है। धर्मकीर्ति ने यह कहा होता कि विभागात्मक तर्कवाक्य मे सब इस पर निर्भर करता है कि साध्य के प्रतिनिधित्व मे साध्य से ही तार्किक दृष्टि से उद्भूत होने

यह निश्चय कि "वह सब जो घटित होता है उसका कारण होता है", काण्ट के अनुसार एकात्मक है क्योंकि "कारण की धारणा (जो कुछ घटित होता है) उस धारणा से सर्वथा बाह्य है", और "किसी भी प्रकार उस प्रतिनिधित्व मे निहित नही है"। यह भारतीय क्षेत्र मे सर्वथा भिन्न है। ऊपर इस बात की पर्याप्त अर्थों मे स्थापना की जा चुकी है कि जो कुछ भी घटित होता है, अर्थात् वह सब कुछ जिसकी सत्ता है वह अनिवार्यत एक कारण (हेतु) है क्योकि अ-हेतु की सत्ता नही होती, सत् प्रापकता है, प्रापकता एक हेतु है। यह निश्चय इस आशय मे विभागात्मक होगा कि यह तादात्म्य-युक्त सन्दर्भ का निश्चय होगा, क्योकि उसी वस्तु को जिसे सत्तायुक्त कहा गया है उसे ही हेतु भी कहा गया है।[1]

इस निश्चय को कि ५ + ७ = १२ है, धर्मकीर्ति निश्चित रूप से विभागात्मक अथवा सन्दर्भ के तादात्म्य पर आधारित मानेंगे क्योकि इसका यह अर्थ है कि उसी वस्तु को जिसे हम योग के रूप मे बारह कहते हैं, उसे ही ७ + ५ अथवा उस योग का अन्य कोई भी वितरण कह सकते हैं।

हम देख चुके हैं कि ये निश्चय भी कि "प्रत्येक वस्तु अस्थायी है, कुछ भी शाश्वत नही है", इसी आशय मे विभागात्मक हैं। विधेय की साध्य के प्रतिनिधित्व मे कदापि कल्पना नही की गई है, किन्तु वह साध्य में तार्किक दृष्टि से निहित है, यद्यपि इसका प्रमाण अत्यन्त विस्तृत हो सकता है। यह तथाकथित विभागात्मक निश्चय हमारे ज्ञान की सम्पूर्ण परिधि मे नगण्य होने की अपेक्षा उसके प्राय अर्धभाग को व्याप्त करता है।[2]

के रूप मे कल्पना की जा सकती है या की जानी चाहिये।" निकष एक तार्किक अनिवार्यता है तथा इसकी स्थापना कभी-कभी अत्यन्त जटिल होती है।

[1] इसे काण्ट यह कहते समय परोक्ष रूप से स्वीकार करते हैं कि "जो कुछ घटित होता है उसकी धारणा (विकल्प) मे मैं, नि सन्देह, किसी ऐसी सत्ता की कल्पना करता हूँ जो काल द्वारा पूर्वदृष्ट है, और इससे कुछ विभागात्मक निश्चयो का निगमन किया जा सकता है।"

[2] यह निश्चय कि "समस्त मानव मर्त्य है," जे० एस० मिल की व्याख्या के अनुसार 'मर्त्यता' की धारणा को किसी मानव की धारणा के साथ इस आनु-

यदि अनिवार्य सयोग हेतुत्व पर आधारित नही है तो यह तादात्म्य पर आधारित होगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई सम्भावना नही है। तादात्म्य पर आधारित न होने पर अनिवार्य सयोग हेतुत्व पर आधारित होता है। हेतुत्व एक वस्तु की किसी अन्य पर अनिवार्य निर्भरता है।

काण्ट कहते हैं कि ऐसे निश्चय को जिसमे "साध्य के साथ विधेय के सम्बन्ध की तादात्म्य के बिना ही कल्पना की जाती है, एकात्मक कहा जा सकता है।" धर्मकीर्ति इन्हे तदुत्पत्ति कहते हैं क्योकि सम्बन्ध का अर्थ यहाँ एक वस्तु की किसी अन्य पर, किसी ऐसी वस्तु पर निर्भरता है जिसके साथ उसका तादात्म्य नही है। इस प्रकार की अनिवार्य निर्भरता हेतुत्व है। इस प्रकार, एक वस्तु के दूसरे से सम्बद्ध होने का विधान करने वाले समस्त अनुमानात्मक निश्चयो का विभाजन—ऐसो के रूप मे विभाजन जो तादात्म्ययुक्त सन्दर्भ पर आधारित होते हैं, और ऐसो के रूप मे विभाजन जो अ-तादात्म्ययुक्त परन्तु स्वतन्त्र सन्दर्भ पर आधारित होते हैं—सर्वाङ्गपूर्ण है क्योकि यह द्वैधत्व पर आधारित है।[१]

इस प्रकार, भारतीय पक्ष मे समस्त निश्चयो का एकात्मक और विभागात्मक के रूप मे विभाजन अनिवार्य सम्बन्धो के समस्त पदार्थों की प्रणाली का एक अन्तरग भाग है, जबकि काण्ट की प्रणाली मे यह विभाजन उनकी पदार्थों की तालिका के सर्वथा बाहर स्थित है क्योकि उसमे केवल एकात्मक निश्चयो को ही सम्मिलित किया गया है।

भविक निश्चय के प्रति हमारी स्वीकृति के परिणामस्वरूप सयुक्त करना है कि सभी मानव मर्त्य देखे गये है, क्योकि जॉन, जैक, आदि सभी को मर्त्य ही पाया गया है। इसका अर्थ यह होगा कि यद्यपि जॉन, जैक को मर्त्य पाया गया है तथापि यह किसी भी प्रकार निश्चित नही है कि ऐल्फ्रेड को अमर्त्य नही पाया जा सकता। बौद्धो के अनुसार यह निश्चय तादात्म्य पर आधारित है, क्योंकि वह सब जिसकी सत्ता और जिसका हेतु है, अनिवार्यत नश्वर है। अमर्त्य का अर्थ नित्य है और नित्य का अर्थ अ-सत्ता।

[१] काण्ट भी यह कहते हैं कि "विकल्पो के द्वारा किया गया समस्त विभाजन अनुभव-निरपेक्ष रूप से द्वैधत्व होना चाहिये।" (क्रिरी० § ११, द्वि० संस्क०)। ये इस तथ्य से भ्रमित थे कि स्वय इनकी अपनी तालिका मे ऐसा नही था।

इस समय यह हमारा कार्य नही कि हम तर्कशास्त्र के इस क्षेक्ष मे भारतीय और योरोपीय उपलब्धियो के सम्बन्ध मे कोई विस्तृत वक्तव्य दें अथवा इनका तुलनात्मक मूल्याकन करें। अधिक योग्य लेखनियाँ कभी यह कार्य करेंगी। फिर भी, हम ज्ञानमीमासात्मक तर्कशास्त्र के एक विशेष विषय पर भारत और योरप के बीच उल्लेखनीय आशिक साम्य, तथा साथ ही साथ, महान अन्तर की ओर ध्यान दिये बिना नही रह सकते। न्यूनाधिक मात्रा मे इसे स्वीकार किया गया है कि पदार्थों की काण्ट की तालिका तथा 'विभागात्मक और एकात्मक निश्चयो के विवेचन की विधि असफल सिद्ध हुई है। किन्तु योरोपीय दर्शन मे काण्ट की प्रणाली आज भी हिमालय के समान उच्च स्थित है। अनेक प्रतिष्ठित कार्यकर्त्ता इसका न्यूनाङ्कन करने का प्रयास कर रहे हैं, फिर भी अभी न तो उन्हे इसे सवथा नीचे गिराने मे सफलता मिल सकी है और न इसके स्थान पर इसी के समान प्रामाणिक किसी अन्य प्रणाली के द्वारा इसके स्थानान्तरण मे ही। यद्यपि अपने विवरणो मे काण्ट की पदार्थों की तालिका असफल सिद्ध हुई है, तथापि काण्ट का यह दृढ विश्वास कि १) हमारी प्रज्ञा के पास किसी भी अनुभव के पूर्व स्वय अपने सिद्धान्त होने चाहियें, २) कि ये सिद्धान्त सामान्य तथा अनिवार्य निश्चयो के आधार हैं, और ३) यह कि इस प्रकार के सिद्धान्तो की एक सर्वाङ्गपूण—न तो कम न ज्यादा—तालिका होनी चाहिये। इनका यह दृढ विश्वास, जिसने इन्हे उस बारह अवयवो वाली तालिका के समावेश की ओर प्रेरित किया जिसकी कोई आवश्यकता थी ही नही, भारतीय दर्शन के समानान्तर उपायो मे अपनी एक उल्लेखनीय पुष्टि प्राप्त करता है। जहाँ तक विभागात्मक और एकात्मक निश्चयो का प्रश्न है वैहिङ्गर की उस टीका के शताधिक पृष्ठो के अवलोकन से, जो काण्टोत्तर दार्शनिको के परस्पर विरोधी विचारो की एक आश्चर्यजनक विविधता का साराश मात्र प्रस्तुत करते है, पाठको को यह विश्वास हो जायगा कि इस समस्या को एक निराशाजनक अस्तव्यस्तता मे विलीन कर दिया गया है। यद्यपि यह अभी भी एक समस्या ही रह जाता है तथापि न तो इसका समाधान किया गया है और न इसे पृथक् ही किया गया है। अत काण्ट को आज भी इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिये कि उन्होने योरोपीय तर्कशास्त्रो मे सवप्रथम इसका विवेचन किया। अब हम उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये जब कोई अध्यवसायी दार्शनिक हम इस

समस्या के भारतीय समाधान के सापेक्षिक महत्त्व से अवगत करायेगा।[1]

---

[1] इस प्रकार धर्मकीर्ति के अनुसार दो भिन्न अनिवार्यतायें (निश्चय= अविनाभाव-नियम) अथवा दो प्रकार की अनुभव निरपेक्ष निश्चितायें हैं। इनमे से एक किसी एक ही सत् अधिष्ठान मे सह-अधिष्ठित दो विकल्पो के अनिवार्य सयोग से सम्बद्ध है, तथा दूसरी दो भिन्न किन्तु अनिवार्यत अन्योन्याश्रित विकल्पो मे अधिष्ठित दो विकल्पो से। प्रथम को विभागात्मक कहा जा सकता है, और दूसरा प्रत्यक्षत एकात्मक है। हम इस प्रवृत्ति के साथ एरिस्टॉटिल तथा सभी प्रज्ञावादियो के मतो का विभेद कर सकते हैं जिनके लिये प्रत्येक अनुभवविरपेक्ष अनिवार्य ज्ञान विभागात्मक है। काण्ट के साथ भी इसका विभेद किया जा सकता है जिनके लिये यह सदैव एकात्मक ही है। (विभागात्मक निश्चय केवल तादात्म्ययुक्त व्याख्याये मात्र हैं)। किन्तु तादात्म्य के पदार्थ की एक सर्वथा भिन्न परिभाषा देकर धर्मकीर्ति शुद्ध तर्कशास्त्र तथा शुद्ध गणित के तर्कवाक्यो को शुद्ध भौतिकशास्त्र के तर्कवाक्यो की अपेक्षा एक सर्वथा भिन्न आधार प्रदान करने मे सफल हुये है। ज्ञान के इन दोनो प्रकारो को पृथक् रखते हुये धर्मकीर्ति अपेक्षाकृत ह्यूम के अधिक निकट आते है। परन्तु जब ये हेतुक सम्बन्धो की अनुभवनिरपेक्ष अनिवार्यता की स्थापना करते हैं तब ह्यूम की अपेक्षा काण्ट के अधिक निकट आ जाते हैं। विभागात्मक तथा एकात्मक शब्द बहुत भ्रामक हैं। सर्वप्रथम, किसी प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे एकीकरण तथा विभाग का अनुमानात्मक निश्चयो (दो विकल्पो सहित) के एकीकरण और विभाग से विभेद करना चाहिये। इन्हें मिश्रित कर दिया गया है, जैसे देखिये सिग्वर्ट लॉजिक १ १४१। दोनो अनिवार्यताओ (निश्चयो) का स्थिर और गत्यात्मक के रूप मे विभेद करना अधिक अच्छा होता। इस बात का कि मानव बुद्धि की पद्धति के वास्तविक पूर्वंग विभाजन की द्वैधत्व के रूप मे (जैसे विकल्पो के प्रत्येक अनुभव-निरपेक्ष विभाजन के रूप मे) स्थापना की जानी चाहिये, काण्ट को उनके क्रिटीक के दूसरे सस्करण (§ ११) के समय अनुभव हुआ। तब वह एक वर्ग को गत्यात्मक कहते हैं तथा दूसरे को गणितीय। गत्यात्मक प्रत्यक्षत हेतुत्व के अनुरूप है, और गणितीय तादात्म्य के। अपने बारह-अवयवी विभाजन का इस द्विविधता के अन्तर्गत काण्ट द्वारा बलात् वर्गीकरण किसी भी प्रकार स्पष्ट नही है।

अध्याय ३

परार्थानुमान

§ १. परिभाषा

ज्ञात-जगत मे उसके परमार्थ-सत् के धर्मों को ढूढने और उन्हे कल्पना के उन धर्मों से जो ज्ञान की प्रक्रिया मे उनसे सयुक्त हो जाते है पृथक् करने की दृष्टि से हमारे ज्ञान के 'प्रमाणो' का अनुसन्धान करना बौद्ध न्याय का उद्देश्य है। परार्थानुमान ज्ञान का प्रमाण नही है। यह ऐसे तर्कवाक्यो से निर्मित होता है जिनका उपलब्ध ज्ञान को अन्य लोगो को सूचित करने के लिये उपयोग किया जाता है। इसलिये दिङ्नाग ने इसे 'परार्थ' अनुमान कहा है। जब किसी अनुमान को दूसरे व्यक्ति को सूचित किया जाता है तब यह उसकी बुद्धि मे दोहराया जाता है और इसी लाक्षणिक आशय[1] मे इसे एक अनुमान कहा जा सकता है। परार्थानुमान वह हेतु है जो श्रोता के मन मे अनुमान उत्पन्न करता है। अत इसकी यह परिभाषा है[2] "त्रिरूप लिङ्ग का कथन परार्थानुमान है।"

त्रिरूप लिङ्ग क्या हैं यह हम अनुमान के सिद्धान्त द्वारा जान चुके है। ये एरिस्टॉटिल के परार्थानमान के पक्ष-आधारवाक्य और साध्य-अधारवाक्य तथा उसके निगमन के अनुरूप हैं। परार्थानुमान मे ये प्राय एक जैसे हैं, किन्तु इनका क्रम भिन्न है। अनुमान अनिवार्यत एक विशेष बात के उसके किसी अन्य विशेप के साथ समानता द्वारा निगमन की प्रक्रिया है। समस्त विशेपो को एकीकृत करनेवाला तथा कुछ उदाहरणो के उद्धरणो द्वारा सकेतित सामान्य नियम बाद मे दो विशेषो के बीच के सम्बद्ध करनेवाले अवयव के रूप मे आता है। इसके अतिरिक्त, परार्थानुमान सामान्य नियम की घोषणा तथा उसकी पुष्टि करनेवाले उदाहरणो के उद्धरण से आरम्भ होता है, और इसके बाद सामान्य से विशेप का निगमन करता है। इसलिये बौद्ध परार्थानुमान मे आधारवाक्यो का क्रम एरिस्टॉटिल के 'प्रथम आकृति' जैसा ही है। यह

---

[1] उपचारात्।

[2] न्यावि० ३ १, अनुवाद पृ० १०९।

साध्य-आधारवाक्य से आरम्भ होता है और फिर पक्ष-आधारवाक्य तथा निष्कर्ष की ओर बढता है ।[1]

'स्वार्थ के लिये' अथवा अधिक विशुद्धत 'स्वार्थ मे' अनुमान और उस हेतु के आशय मे अनुमान के बीच जो श्रोता के मन मे अनुमान उत्पन्न करता है, इस प्रकार पर्याप्त अन्तर है । प्रथम ज्ञान की एक ऐसी प्रक्रिया है जो तीन पदो से युक्त होती है । द्वितीय किसी उपलब्ध ज्ञान को सूचित करने की प्रक्रिया है तथा तर्कवाक्यो से युक्त होती है ।

इस विषय पर दिङ्नाग की स्थिति को समझने के लिये हमे उनके इस विचार को ध्यान मे रखना होगा कि सम्यक् ज्ञान का प्रमाण क्या होता है । यह एक नवीन विज्ञान का प्रथम क्षण होता है, यह प्रत्यभिज्ञा नही होता ।[2] इसलिये नवीन विज्ञान का केवल प्रथम क्षण ही पूर्णतम आशय मे सम्यक् विज्ञान होता है । प्रत्यक्षात्मक निश्चय पहले से ही बुद्धि का एक आत्मनिष्ठ विकल्प होता है । अनुमान सम्यक् ज्ञान के उस परमार्थ प्रमाण से और भी दूरतर होता है । जब कोई ज्ञान दूसरे को सूचित किया जाता है तब उसके मन मे एक नवीन विज्ञान के प्रथम क्षण को कुछ सीमा तक एक ऐसे नवीन विज्ञान के साथ समन्वित किया जा सकता है जिसके प्रमाण अथवा हेतु वे तर्कवाक्य होते है जिनसे परार्थानुमान निर्मित होता है ।

निम्नलिखित तीन उदाहरण उस अन्तर को स्पस्ट करेंगे जो स्वार्थानुमान के तीन प्रकारो और तदनुरूप परार्थानुमान के तीन प्रकारो के बीच मिलता है ।

---

[1] तुकी० इसके साथ इसी विषय से सम्बद्ध प्रो० बी० अर्डमैन (लॉजिक[3] पृ० ६१४) की अनिर्णायक स्थिति । अपने लॉजिक के अन्तिम सस्करण मे इन्होने एरिस्टॉटेलियन तर्कवाक्यो के क्रम को परिवर्तित करके पक्ष-आधारवाक्य को प्रथम स्थान पर रखने का महत्त्वपूर्ण कदम उठाया था । इन्होने देखा कि यह क्रम हमारे विचार के स्वाभाविक प्रवाह को अधिक निष्ठापूर्वक व्यक्त करता है—अर्थात् इन्होने परार्थानुमान की 'स्वार्थ के लिये' अनुमान के रूप मे कल्पना की । सिग्वर्ट का विचार है कि वास्तविक जीवन मे यह क्रम उक्त दोनो मे से कोई भी हो सकता है क्योकि दोनो ही समान रूप से सम्भव हैं ।

[2] प्रमाणम् = प्रथमतरम् विज्ञानम् = अनधिगत-अर्थ-अधिगन्तृ, तुकी० ऊपर पृ० ७७ ।

स्वार्थानुमान —

१ वाणी की ध्वनियाँ अनित्य वस्तुयें हैं।

क्योकि इनकी यदृच्छा उत्पत्ति होती है, जैसे घटादि।

यह दो विकल्पो, 'अनित्यता' और 'उत्पत्ति', के तादात्म्य पर आधारित अनुमान है।

२ पर्वत पर अग्नि है,

क्योकि वहाँ धूम है, जैसे पाकशाला आदि मे।

यह दो तथ्यो के वीच हेतुक सम्बन्ध (तदुत्पत्ति) पर आधारित अनुमान है।

३ इस स्थान पर कोई घट नही है।

क्योकि हमे किसी का प्रत्यक्ष नही हो रहा है, जैसे हमे आकाश मे उत्पन्न होनेवाले पुष्प का कोई प्रत्यक्ष नही होता।

यह अनुपलब्धि पर आधारित अनुमान है।

इनके अनुरूप परार्थानुमान के तीन प्रकारो का निम्नलिखित रूप होगा —

१ जिसकी भी यदृच्छा उत्पत्ति होती है वह अनित्य होता है, जैसे घटादि, और वाणी की ध्वनियाँ ऐसी ही होती हैं।

२ जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ कुछ अग्नि अवश्य होगी, जैसे पाकशाला आदि मे।

और पर्वत पर इसी प्रकार का धूम है।

३. जव हमे किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नही होता तव हम उसकी उपस्थिति को अस्वीकार करते हैं, जैसे हम आकाश मे उत्पन्न होनेवाले पुष्प की उपस्थिति को अस्वीकार करते हैं।

और इस स्थान पर हम किसी घट का प्रत्यक्ष नही कर रहे हैं यद्यपि उसके प्रत्यक्ष की समस्त स्थितियाँ वर्तमान हैं।

इस प्रकार स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के वीच का अन्तर अनुमानात्मक निश्चय के उस रूप के जो हमारे विचार तथा कार्य की स्वाभाविक प्रक्रिया मे उसका सामान्यतया रूप होता है, तथा एक अन्य ऐसे रूप के वीच का अन्तर है जो सार्वजनिक शास्त्रार्थ तथा विज्ञान के लिये

सर्वोपयुक्त होता है। सार्वजनिक शास्त्रार्थ मे सामान्य तर्कवाक्य को यथोचित रूप से उस तर्क के आधार के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है जिसका व्यवहृत तर्कवाक्य अथवा पक्ष-आधारवाक्य को अनुसरण करना चाहिये, जबकि वास्तविक विचार-प्रक्रिया मे सामान्य निश्चय अपने अनिवार्य रूप मे मन मे कभी भी उपस्थित नही रहता—यह हमारी चेतना की गहराइयो मे प्रच्छन्न प्रतीत होता है, मानो हमारे विचार के प्रवाह को पर्दे के पीछे से नियन्त्रित कर रहा हो।

हमारा विचार एक विशेष से दूसरे पर जाता है और एक हेतु मन को अपना ससूचन देता प्रतीत होता है। उसका विधेय के साथ सामान्य और अनिवार्य सम्बन्ध प्रत्यक्षत भावना मे प्रसुप्त रहता है और अपने को उसी समय प्रगट करता है जब उस पर यथोचित ध्यान दिया जाता है।[१] हमने वैयक्तिक विचार-प्रक्रिया के लिये स्वार्थानुमान नाम को सुरक्षित रक्खा है क्योकि यह एक विशेष से दूसरे पर सक्रमण की स्वाभाविक प्रक्रिया के अधिक अनुरूप है। हमने 'परार्थ' अनुमान के लिये परार्थानुमान नाम को सुरक्षित रक्खा है क्योकि इसकी एरिस्टॉटिल के 'प्रथम आकृति' के साथ वाह्य समानता है। वास्तव मे इस बात का विभेद करना अत्यन्त कठिन होता है कि एक विचार-प्रक्रिया के रूप मे अनुमान, तथा उसी की वाणी मे अभिव्यक्ति के रूप मे अनुमान क्या होता है, क्योकि हम किसी न किसी प्रकार अभिव्यक्त हुये विना विचार-प्रक्रिया का विवेचन नही कर सकते। इस समस्या का व्यवहार मे इस रूप मे समाधान कर लिया गया है कि अनुमानात्मक प्रक्रिया की परिभाषा, उसकी स्वयसिद्धियाँ, उसके नियमो के सूत्र, तथा उन आधारभूत सम्बन्धो का मौलिक प्रश्न जो विचार की एकीकरणात्मक प्रक्रिया का नियन्त्रण करते हैं, इन सब का स्वार्थानुमान के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। दूसरी ओर, परार्थानुमान की आकृतियो (रूपो) की समस्या, तथा हेत्वाभासो की समस्या का परार्थानुमान के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। किन्तु समस्याओ के इस विभाजन तक का पूणतया निर्वाह नही किया जा

---

[१] यह मनोवैज्ञानिक, सम्भवत वह वास्तविक कारण है जिससे कुछ योरोपीय तर्कशास्त्री, जैसे जे० एस० मिल तथा अन्य, साध्य-आधारवाक्य को एक ऐसा सपार्श्विक उल्लेख कहते हैं जो एक विशेष से दूसरे पर मन के सक्रमण मे उसकी सहायता करते हैं। तुकी० सिग्वर्ट उपु० १ ४८०।

सकता। धर्मकीर्ति[1] अनुपलब्धि परार्थानुमान के रूपो का स्वार्थानुमान के अन्तर्गत ही विवेचन करते है क्योकि इनका कथन है कि अनुपलब्धि पर इसके समस्त विभिन्न पक्षो और निर्धारणो के द्वारा वार-वार विचार करने से हमे स्वय अनुपलब्धि निश्चय का सार वोधगम्य हो जाता है।

किन्तु यद्यपि तर्क के आधार के रूप मे सामान्य तर्कवाक्य को प्रथय स्थान पर रखना सर्वथा उचित प्रतीत होता है, तथापि परार्थानुमान का वह रूप जो तिव्वत तथा मगोलिया के विहारिक सम्प्रदायो के व्यवहार म विद्यमान रहा, वहुत कुछ स्वार्थानुमान के ही सक्षिप्त रूप के अन्तगत आता है। शास्त्रार्थ, चाहे वह उपदेशात्मक हो अथवा अनुभवार्थक, न तो सामान्य तर्कवाक्य को प्रस्तुत करने से आरम्भ होता है, और न तर्कवाक्यो का ही उनके अपने रूप मे प्रयोग करता है। प्रत्यर्थी अपने तीन पदो, साध्य, विधेय तथा हेतु (अथवा मध्यपद) का, उन्हे तर्कवाक्को के रूप मे प्रस्तुत करने की परवाह किये विना ही उल्लेख करने से आरम्भ करता है। प्रतिपक्षी तव दो प्रश्नो पर विचार करता है १) क्या हेतु (ह) वास्तव मे साध्य (स) मे पूर्णतया और अनिवार्यत उपस्थित है, और २) क्या हेतु (ह) अनिवार्यत और सामान्यत विधेय (वि) मे उपस्थित है। इसके पश्चात शास्त्रार्थ आरम्भ होता है। यदि आधुनिक अग्रेजी औपचारिक तर्कशास्त्र की शव्दावली मे परिणत कर दिया जाय तो इन दोनो प्रश्नो का यह अर्थ होगा: १) क्या मध्य पक्ष मे वितरित है, और २) क्या मध्य साध्य मे वितरित है। परार्थानुमान के कथन के इस रूप को शताव्दियो के तत्पर व्यवहार द्वारा हेत्वाभासो का पता लगाने के लिये सर्वाधिक सुगम पाया गया है। तर्कशास्त्र का वास्तविक कार्य केवल उसी समय आरम्भ होता है जव तीन पदो को स्पष्ट तथा असदिग्ध रूप से पृथक कर लिया जाता है। अस्तव्यस्त तर्कवाक्यात्मक रूप मे वास्तविक पद अक्सर इतने अधिक प्रच्छन्न हो जाते है कि उनको ढूंढना कठिन हो जाता है।

§ २. परार्थानुमान के अवयव

जैसा कि ऊपर के उदाहरणो मे देखा गया है, परार्थानुमान मे केवल दो ही तर्कवाक्य होते है। जव दिङ्नाग ने अपना तर्कशास्त्रीय परिष्कार आरम्भ

---

[1] न्यावि० २ ४५ और न्यावि० पृ० ३७ ११ और वाद, अनुवाद पृ० १०० और वाद।

किया तो उन्हे नैयायिको के सम्प्रदाय मे स्थापित पञ्चावयवी परार्थानुमान के सिद्धान्त का सामना करना पडा। इस प्रकार के परार्थानुमान को आरोहक और अवरोहक तर्क के पाँच अन्तर्सम्बद्ध स्तरो को व्यक्त करने वाला माना जाता था। यह प्रतिज्ञा से आरम्भ होकर निगमन मे समाप्त होता था जो प्रतिज्ञा की ही पुनरुक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही था। पञ्चावयव इस प्रकार थे।

१ प्रतिज्ञा पर्वत पर अग्नि है।

२ हेतु क्योकि वहाँ धूम है।

३ उदाहाण जैसे पाकशाला इत्यादि मे, जहाँ जहाँ धूम वहाँ वहाँ अग्नि।

४ उपनय और पर्वत पर वैसा ही धूम है।

५ निगमन पर्वत पर अग्नि है।

इन पाँच अवयवो मे से दिङ्नाग ने केवल दो—उदाहरण सहित अन्वय वाक्य और निगमन सहित उपनय—को ही ग्रहण किया। वास्तव मे प्रत्येक अनुमान की ही भाँति प्रत्येक परार्थानुमान मे प्रमुख बात साध्य-आधारवाक्य मे व्यक्त रूप मे दो पदो के अनिवार्य अन्तर्सम्बन्ध का तथ्य है। दूसरी बात के अन्तर्गत अन्वयवाक्य का किसी विशेष के प्रति उपनय आता है। यही अनुमान का वास्तविक उद्देश्य है, अर्थात् किसी विषय का उसके लिङ्ग के ज्ञान के आधार पर ज्ञान। जब इन दो चरणो को सम्पन्न कर दिया जाता है तब परार्थानुमान के उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है, अन्य अवयव निरर्थक है। इस प्रकार यह एक अन्वयवाक्य और उसके किसी व्यक्ति के प्रति उपनय मे निहित होता है।[1]

परन्तु नैयायिको का परार्थानुमान कही अधिक विवरणो से युक्त होता है। सर्वप्रथम इसमे एक पृथक् प्रतिज्ञा तथा एक पृथक निगमन होता है, यद्यपि विषयवस्तु की दृष्टि से निगमन प्रतिज्ञा की ही अन्त मे पुनरुक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नही। इस प्रकार परार्थानुमान एक गणितीय

---

[1] तुकी० वेन लॉजिक, ११४६ 'प्रत्येक प्रामाणिक निगमन के अनिवार्य गठन के अन्तर्गत १) एक सामान्य आधारवाक्य, चाहे विधि या अनुपलब्धि, तथा २) एक उपनयात्मक वाक्य जिसे विधि ही होना चाहिये, आते है।"

निदर्शन के समान प्रतीत होता है। यह साध्य की घोषणा से आरम्भ होता है और इस कथन से समाप्त होता है कि साध्य का निदर्शन कर दिया गया। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति एक शुद्ध प्रतिज्ञा की परिभाषा का विस्तार करते हैं। प्रत्यक्षत इन लोगो के समय विभिन्न सम्प्रदायो के बीच यह एक विवाद का विषय था। ये लोग यह मानते हैं कि सार्वजनिक शास्त्रार्थ मे प्रतिज्ञा का शुद्ध रूप से निर्धारण होना चाहिये। साथ ही साथ ये यह भी मानते हैं कि प्रतिज्ञा प्रत्येक निगमन का एक अनिवार्य अवयव नही है। इसे किसी वाद (शास्त्रार्थ) के समय उस स्थिति मे बिना किसी हानि के ही छोड दिया जा सकता है जब वाद के बीच मे इसे बिना किसी विशेष उल्लेख के ही स्पष्ट रूप से समझ लिया जाता है। इनके अनुसार प्रतिज्ञा निरर्थक या विरोधी नही हो सकती। यह कुछ ऐसी नही हो सकती जिसको सिद्ध करना उपयोगी न हो। साथ ही इसे ऐसा तर्क-वाक्य होना चाहिये जिस पर वादी स्वय विश्वास करता है और जिसे वह सदुद्देश्य के साथ वास्तव मे सिद्ध करना चाहता है। यह एक कुतर्क होगा यदि कोई दार्शनिक ऐसे विचारो से लाभ उठाना चाहे जिन पर वह स्वय विश्वास नही करता। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि यदि एक दार्शनिक, जो वैशेषिक सिद्धान्तो के अनुयायी के रूप मे सुज्ञात है, अपनी प्रतिज्ञा मे सहसा अपने विपक्षियो, मीमासको के वाणी की नित्यता सम्बन्धी सिद्धान्त को ग्रहण कर ले और यदि वह अधिकृत निर्णायको की उपस्थिति मे किसी सार्वजनिक सभा मे ऐसा करे तो उसे और आगे शास्त्रार्थ नही करने दिया जायगा। यहाँ तक कि उसके तर्को को सुनने के पूर्व ही उसकी पराजय की घोषणा कर दी जायेगी।

इस प्रकार नियमो की एक ऐसी शृङ्खला की स्थापना कर दी गई जिनको किसी भी ग्राह्य प्रतिज्ञा के लिये सन्तुष्ट करना आवश्यक था।[1] किन्तु बाद मे सुनिर्धारित प्रतिज्ञा विषयक यह अध्याय क्रमश असहत्वपूर्ण होता गया क्योंकि प्रतिज्ञा के समस्त हेत्वाभास, मिथ्या तर्कों के सिद्धान्त मे विलीन हो गये।

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के अनुसार परार्थानुमान के वास्तविक अवयव, किसी तार्किक प्रक्रिया के अनिवार्य अवयव, इस प्रकार, केवल दो ही, अर्थात् सामान्य नियम तथा उसका किसी वैयक्तिक स्थिति के प्रति उपनय, होते है। इनमे से प्रथम दो पदो के बीच एक अनिवार्य अन्योन्याश्रयत्व की स्थापना

---

[1] तुकी० अनुवाद पर मेरी टिप्पणियाँ, भाग २, पृ० १६० ६ और बाद।

करता है, और द्वितीय इस सामान्य नियम का बाद के प्रश्न के प्रति उपनय करता है। प्रथम को अविनाभाव कहते है।[1] दूसरे को पक्षधर्मता (इस अविनाभाव के तथ्य से) कहते हैं।[2] इसका उदाहरण, इस प्रकार है

ह वि को व्याप्त करता है,

स ह + वि को व्याप्त करता है।

निगमन को वास्तव मे, जैसा कि समस्त योरोपीय तर्कशास्त्रियो ने पाया है[3] उसी मात्रा मे पक्ष-आधारवाक्य से पृथक नही किया जा सकता जिसमे साध्य-आधारवाक्य को पक्ष से। यदि हम इसे एक एक पृथक अवयव का पद प्रदान करें, तब प्रतिज्ञा को, अर्थात् साध्य के रूप मे आरम्भ मे निगमन की ही पुनरुक्ति को यही पद प्रदान करने के लिये पर्याप्त आधार नही होगा जैसा कि नैयायिक वास्तव मे मानते है। दिङ्नाग[4] कहते हैं "मैं उन नैयायिको के सिद्धान्त का प्रतिवाद करता हूं जो प्रतिज्ञा को परार्थानुमान का एक पृथक अवयव मानते है।"

धर्मोत्तर[5] का यह कथन है "निगमन को पृथक रूप से व्यक्त करने की कोई आवश्यकता नही है। यदि निगमित गुण के साथ हेतु के अनिवार्य रूप से व्याप्ति का ज्ञान हो जाय तो (हम साध्य-अधारवाक्य को जान लेते हैं)। तब यदि हम इसी हेतु का किसी निर्दिष्ट स्थान पर उपस्थित होने के रूप मे प्रत्यक्ष करते हैं (अर्थात यदि हम पक्ष-आधारवाक्य को जानते हैं) तब हम निगमन को भी जान चुकते हैं। अनुमित निगमन की पुनरुक्ति का कोई उपयोग नही है।"

इस प्रकार, परार्थानुमान के वास्तविक अवयव वही हैं जिनकी तार्किक हेतु के तीन पक्षो के रूप मे स्वार्थानुमान मे स्थापना की जा चुकी है, किन्तु इनका क्रम परार्थानुमान मे परिवर्तित हो गया है।

ये इस प्रकार हैं —

१ केवल सधर्मियो मे ही } = अविनाभाव
२ विधर्मियो मे कभी नही }
३ साध्य मे सम्पूर्णत = उपनय।

---

[1] अविनाभाव=अनन्तरीयकत्व=अव्यभिचार=व्याप्ति।

[2] पक्ष-धर्मता। इसे मात्र 'पक्ष' भी कहते हैं; तुकी० न्यामु० पृ० १२।

[3] सिग्वर्ट लॉजिक,१ ४७८ नोट।

[4] न्यामु०, टुची का अनुवाद पृ० ४५।

[5] न्याविटी० पृ० ५३ १६; अनुवाद पृ० १५०।

प्रथम दो पक्ष, जैसा कि अभी सिद्ध किया जायगा, केवल निर्धारण के अन्तर को व्यक्त करते हैं, अनिवार्यत. ये दोनो तुल्यार्थक हैं।

§ ३. परार्थानुमान और आगमन

दिङ्नाग[1] कहते हैं कि "तव (जव न तो प्रतिज्ञा, न उपनय, और न निगमन ही प्रथम अवयव हो) क्या उदाहरण का निर्धारण एक भिन्न अवयव को व्यक्त नही करता, क्योकि यह केवल हेतु के अर्थ की ही घोषणा करता है ?" दिङ्नाग का इस विषय पर उत्तर यह है कि "विधि और उपलब्धि के उदाहरणो को पृथक्-पृथक् व्यक्त करना आवश्यक है" (जिससे यह दिखाया जा सके कि पक्ष-आधारवाक्य के विषय मे उपस्थित होने की आवश्यकता के अतिरिक्त हेतु अन्य दो आवश्यकताओ से युक्त है)। परन्तु उराहरण को साध्य-आधारवाक्य से पृथक् नही करना चाहिये। यह एक पृथक् अवयव नही होता। यह तो सामान्य नियम मे ही निहित तथा वास्तव मे उसी के समान होता है।

भारतीय परार्थानुमान वास्तव मे केवल निगमनात्मक तर्क का ही निर्धारण नहीं है। उस आगमन का भी संकेत इसमे निहित होता है जो सदव निगमन के पूर्व आता है। सामान्य नियम अथवा साध्य-आधारवाक्य की ऐसे वैयक्तिक तथ्यो के सामान्यीकरण के द्वारा स्थापना की जाती है जो उदाहरण होते हैं, अर्थात् जो उसका स्पष्टीकरण तथा उसकी पुष्टि करते है। उदाहरण एक वैयक्तिक तथ्य होता है जो स्वय सामान्य नियम से युक्त होता है। उदाहरणो के विना कोई सामान्य नियम नही हो सकता, और यदि वैयक्तिक तथ्यो मे सामान्य नियम निहित न हो तो उन्हे उदाहरण भी नही कहा जा सकता। इस प्रकार उदाहरण और सामान्य नियम अथवा साध्य-आधारवाक्य व्यवहारत एक ही वस्तु हैं। अपूर्ण आगमन के विरुद्ध सुरक्षा की दृष्टि से उदाहरण को विधायक और प्रतिषेधात्मक होना चाहिये। तात्पर्य यह कि साधर्म्य तथा वैधर्म्य की सम्मिलित विधि का अवश्य व्यवहार करना चाहिये। जव किसी भी विधायक उदाहरण को न पाया जा सके, अथवा कोई प्रतिषेधात्मक उदाहरण न मिल सके, तव निगमन सम्भव नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे परिणाम केवल एक हेत्वाभास ही होगा। किन्तु नैयायिक उदाहरण को परार्थानुमान का एक पृथक अवयव, एक पृथक आधारवाक्य मानकर उसकी परिभाषा देते हैं। धर्मकीर्ति के अनुसार यह सर्वथा निरर्थक है, क्योकि

[1] न्यामु० अनुवाद पृ० ४५।

यदि तार्किक हेतु की ठीक-ठीक परिभाषा दी गई हो तो किसी उदाहरण को क्या होना चाहिये इसकी भी परिभाषा दे दी जाती है, इसे पृथक् नही प्रस्तुत किया जा सकता। तार्किक हेतु कुछ ऐसा होता है जो केवल समान उदाहरणों में ही उपस्थित और असमान उदाहरणो मे सदैव अनुपस्थित रहता है। ये उदाहरण और हेतु सहसम्बद्ध होते हैं। ज्योही हेतु की परिभाषा की जाती है त्योही हेतु के साथ इनके सम्बन्ध के कारण इनकी भी परिभाषा हो जाती है। इस विषय पर धर्मकीर्ति अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं[1] "हम लोगो ने तार्किक हेतु की सामान्य रूप से केवल समानो मे उपस्थित तथा प्रत्येक असमानो मे अनुपस्थित होने के रूप में परिभाषा की हैं। आगे हमने इसका भी निर्धारण किया है कि हेत्वाश्रित और विभागात्मक हेतुओ को इन बातो को व्यक्त करना चाहिये प्रथम को एक फल को (जिससे ही उसके अनिवार्य हेतु की उपस्थिति का अनुमान किया जाता है), और द्वितीय को एक अनिवार्यत सहचारी गुण को जो मात्र ही फल के अनुमान के लिये पर्याप्त है। जब हेतु इस प्रकार व्यक्त हो तो यह दिखाया गया है कि (१) उदाहरण के लिये, जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि भी है, जैसे पाकशाला इत्यादि मे, बिना अग्नि के धूम नही होता, जैसे (सरोवर मे, तथा अन्य सभी) असमानों मे, (२) जहाँ कृतकत्व है वहाँ परिवर्तन है, जैसे घट इत्यादि मे, यदि कुछ परिवर्तनरहित है तो वह कृतक नही है, जैसे आकाश। वास्तव मे, अन्यथा किसी प्रकार समानो मे हेतु के उपस्थित होने और समस्त असमानो मे अनुपस्थित होने को दिखाना असम्भव है (इन सामान्य विशिष्टताओ का निदर्शन इन बातो के अतिरिक्त दिखाना असम्भव है) (१) हेतु की उपस्थिति का हेत्वात्मक निगमन अनिवार्यत फल की उपस्थिति का अनुगमन करता है, और यह कि (२) विभागात्मक रूप से निगमित गुण अनिवार्यत विभागात्मक हेतु को व्यक्त करनेवाले तथ्य मे निहित होता है। जब यह दिखा दिया गया तब तदनुसार यह भी दिखा दिया गया कि उदाहरण क्या है, क्योकि तत्त्वत इसमे और कुछ निहित नही होता।

§ ४. परार्थानुमान के आकार

यत परार्थानुमान तर्कवाक्यो मे किसी अनुमान को व्यक्त करने के अतिरिक्त और कुछ नही, अत यह स्पष्ट है कि परार्थानुमान के भी उतने ही प्रकार होंगे जितने अनुमान के। किसी विषय के लिङ्ग द्वारा उस विषय के

---

[1] न्यायबि० ३ १२३, अनुवाद १३१।

ज्ञान के रूप मे अनुमान की परिभाषा की गई है। यह लिङ्ग अथवा तथा-कथित त्रिरूप लिङ्ग दो पक्षो के बीच के निश्चित अन्योन्याश्रयत्व के अतिरिक्त और कुछ नही। तदनुसार परार्थानुमान के उतने ही प्रकार हो सकते हैं जितने दो पदो के बीच सम्बन्ध के प्रकार। हम देख चुके हैं कि दो पदो के बीच तीन और केवल तीन ही, ऐसे निश्चित सम्बन्ध हो सकते हैं जो किसी वस्तु के अन्य के साथ उसके सम्बन्ध के आधार पर उसके ज्ञान को सम्भव बना सकते है। हमे किसी वस्तु का उसके फल के द्वारा, अथवा एक धर्मी होने के द्वारा, अथवा उसके प्रतिषेधात्मक प्रतिरूप द्वारा ही ज्ञान हो सकता है। इसी प्रकार परार्थानुमान भी तीन प्रकार का होगा—हेत्वात्मक, विभागात्मक और प्रतिषेधात्मक। इनका ऊपर उदाहरण दिया जा चुका है।

फिर भी, ये अन्तर परार्थानुमान के विषय-वस्तु पर आधारित हैं, उसके रूप पर नही। ये तार्किक सम्बन्धो पर आधारित हैं जिनके लिये धर्मकीर्ति ने पदार्थों की एक निश्चित तालिका का निर्धारण कर दिया है। एक अन्य अन्तर भी है जो परार्थानुमान के रूप को ही प्रभावित करता है। एक ही तथ्य, किसी विषय के उसके लिङ्ग के माध्यम से अनुमित ज्ञान को दो भिन्न प्रकारो से व्यक्त किया जा सकता है। हम इस अन्तर को आकार या रूप का अन्तर कह सकते हैं। वास्तव मे प्रत्येक लिङ्ग की दो प्रमुख विशिष्टताएँ होती हैं, अर्थात् वह सपक्षो के समान तथा विपक्षो के असमान होता है। दिङ्नाग इस बात पर बल देते हैं कि यह एक ही लिङ्ग होता है, दो नही[1]। कोई भी लिङ्ग एक साथ ही विपक्षो मे अनुपस्थित हुये बिना सपक्षो मे उपस्थित नही हो सकता। किन्तु व्यवहारत, यत लिङ्ग वही होता है अत हम उसके विधायक पक्ष पर ध्यान दे सकते हैं और उसके प्रतिषेधात्मक पक्ष को अभिप्रेत माना जा सकता है, अथवा हम प्रतिषेधात्मक पक्ष पर ध्यान दे सकते हैं और विधायक पक्ष को अभिप्रेत माना जा सकता है। साधर्म्य और वैधर्म्य की मिश्रित विधि ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र को नियन्त्रित करती है, किन्तु यत ज्ञान के विधायक और प्रतिषेधात्मक अशो के बीच तुल्यार्थकता होती है, अत केवल एक पक्ष को, या तो साधर्म्य को अथवा वैधर्म्य को ही, व्यक्त करना मात्र पर्याप्त और उसका प्रतिरूप अभिप्रेत होता है। यही कारण है कि हमे प्रत्येक परार्थानुमान के दो रूप उपलब्ध होते हैं। रूप या आकार से यहाँ किसी अनुमान के पदो की शब्द-व्यवस्था के किसी अस्वाभाविक, तोडे-मरोड़े अथवा

---

[1] तुकी० न्यामु०, अनुवाद पृ० २२।

करता है, और द्वितीय इस सामान्य नियम का बाद के प्रश्न के प्रति उपनय करता है। प्रथम को अविनाभाव कहते हैं।[1] दूसरे को पक्षधर्मता (इस अविनाभाव के तथ्य से) कहते हैं।[2] इसका उदाहरण, इस प्रकार है

ह वि को व्याप्त करता है,
स ह + वि को व्याप्त करता है।

निगमन को वास्तव मे, जैसा कि समस्त योरोपीय तर्कशास्त्रियो ने पाया है[3] उसी मात्रा मे पक्ष-आधारवाक्य से पृथक नही किया जा सकता जिसमे साध्य-आधारवाक्य को पक्ष से। यदि हम इसे एक एक पृथक अवयव का पद प्रदान करें, तब प्रतिज्ञा को, अर्थात् साध्य के रूप मे आरम्भ मे निगमन की ही पुनरुक्ति को यही पद प्रदान करने के लिये पर्याप्त आधार नही होगा जैसा कि नैयायिक वास्तव मे मानते हैं। दिङ्नाग[4] कहते हैं "मैं उन नैयायिको के सिद्धान्त का प्रतिवाद करता हूँ जो प्रतिज्ञा को परार्थानुमान का एक पृथक अवयव मानते हैं।"

धर्मोत्तर[5] का यह कथन है "निगमन को पृथक रूप से व्यक्त करने की कोई आवश्यकता नही है। यदि निगमित गुण के साथ हेतु के अनिवार्य रूप से व्याप्ति का ज्ञान हो जाय तो (हम साध्य-अधारवाक्य को जान लेते हैं)। तब यदि हम इसी हेतु का किसी निर्दिष्ट स्थान पर उपस्थित होने के रूप मे प्रत्यक्ष करते हैं (अर्थात यदि हम पक्ष-आधारवाक्य को जानते हैं) तब हम निगमन को भी जान चुकते हैं। अनुमित निगमन की पुनरुक्ति का कोई उपयोग नही है।"

इस प्रकार, परार्थानुमान के वास्तविक अवयव वही हैं जिनकी तार्किक हेतु के तीन पक्षो के रूप मे स्वार्थानुमान मे स्थापना की जा चुकी है, किन्तु इनका क्रम परार्थानुमान मे परिवर्तित हो गया है।

ये इस प्रकार हैं —

१ केवल सधर्मियो मे ही } = अविनाभाव
२ विधर्मियो मे कभी नही }
३ साध्य मे सम्पूर्णत = उपनय।

---

[1] अविनाभाव=अनन्तरीयकत्व=अव्यभिचार=व्याप्ति।

[2] पक्ष-धर्मता। इसे मात्र 'पक्ष' भी कहते हैं; तुकी० न्यामु० पृ० १२।

[3] सिग्वर्ट लॉजिक, १ ४७८ नोट।

[4] न्यामु०, टुची का अनुवाद पृ० ४५।

[5] न्याबिटी० पृ० ५३ १६; अनुवाद पृ० १५०।

प्रथम दो पक्ष, जैसा कि अभी सिद्ध किया जायगा, केवल निर्धारण के अन्तर को व्यक्त करते हैं, अनिवार्यतः ये दोनो तुल्यार्थक हैं।

§ ३. परार्थानुमान और आगमन

दिङ्नाग[१] कहते हैं कि "तव (जव न तो प्रतिज्ञा, न उपनय, और न निगमन ही प्रथम अवयव हो) क्या उदाहरण का निर्धारण एक भिन्न अवयव को व्यक्त नही करता, क्योकि यह केवल हेतु के अर्थ की ही घोषणा करता है ?" दिङ्नाग का इस विषय पर उत्तर यह है कि "विधि और उपलब्धि के उदाहरणो को पृथक्-पृथक् व्यक्त करना आवश्यक है" (जिससे यह दिखाया जा सके कि पक्ष-आधारवाक्य के विषय मे उपस्थित होने की आवश्यकता के अतिरिक्त हेतु अन्य दो आवश्यकताओ से युक्त है)। परन्तु उराहरण को साध्य-आधारवाक्य से पृथक् नही करना चाहिये। यह एक पृथक् अवयव नही होता। यह तो सामान्य नियम मे ही निहित तथा वास्तव मे उसी के समान होता है।

भारतीय परार्थानुमान वास्तव मे केवल निगमनात्मक तर्क का ही निर्धारण नही है। उस आगमन का भी सकेत इसमे निहित होता है जो सदव निगमन के पूर्व आता है। सामान्य नियम अथवा साध्य-आधारवाक्य की ऐसे वैयक्तिक तथ्यो के सामान्यीकरण के द्वारा स्थापना की जाती है जो उदाहरण होते हैं, अर्थात् जो उसका स्पष्टीकरण तथा उसकी पुष्टि करते हैं। उदाहरण एक वैयक्तिक तथ्य होता है जो स्वय सामान्य नियम से युक्त होता है। उदाहरणो के विना कोई सामान्य नियम नही हो सकता, और यदि वैयक्तिक तथ्यो मे सामान्य नियम निहित न हो तो उन्हे उदाहरण भी नही कहा जा सकता। इस प्रकार उदाहरण और सामान्य नियम अथवा साध्य-आधारवाक्य व्यवहारत एक ही वस्तु हैं। अपूर्ण आगमन के विरुद्ध सुरक्षा की दृष्टि से उदाहरण को विधायक और प्रतिषेधात्मक होना चाहिये। तात्पर्य यह कि साधर्म्य तथा वैधर्म्य की सम्मिलित विधि का अवश्य व्यवहार करना चाहिये। जव किसी भी विधायक उदाहरण को न पाया जा सके, अयवा कोई प्रतिषेधात्मक उदाहरण न मिल सके, तव निगमन सम्भव नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे परिणाम केवल एक हेत्वाभास ही होगा। किन्तु नैयायिक उदाहरण को परार्थानुमान का एक पृथक अवयव, एक पृथक आधारवाक्य मानकर उसकी परिभाषा देते है। धर्मकीर्ति के अनुसार यह सर्वथा निरर्थक है, क्योकि

[१] न्यामु० अनुवाद पृ० ४५।

यदि तार्किक हेतु की ठीक-ठीक परिभाषा दी गई हो तो किसी उदाहरण को क्या होना चाहिये इसकी भी परिभाषा दे दी जाती है, इसे पृथक् नही प्रस्तुत किया जा सकता। तार्किक हेतु कुछ ऐसा होता है जो केवल समान उदाहरणो में ही उपस्थित और असमान उदाहरणो मे सदैव अनुपस्थित रहता है। ये उदाहरण और हेतु सहसम्बद्ध होते हैं। ज्योही हेतु की परिभाषा की जाती है त्योही हेतु के साथ इनके सम्बन्ध के कारण इनकी भी परिभाषा हो जाती है। इस विषय पर धर्मकीर्ति अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं[१] "हम लोगो ने तार्किक हेतु की सामान्य रूप से केवल समानो मे उपस्थित तथा प्रत्येक असमानो में अनुपस्थित होने के रूप मे परिभाषा की हैं। आगे हमने इसका भी निर्धारण किया है कि हेत्वाश्रित और विभागात्मक हेतुओ को इन बातो को व्यक्त करना चाहिये प्रथम को एक फल को (जिससे ही उसके अनिवार्य हेतु की उपस्थिति का अनुमान किया जाता है), और द्वितीय को एक अनिवार्यत सहचारी गुण को जो मात्र ही फल के अनुमान के लिये पर्याप्त है। जब हेतु इस प्रकार व्यक्त हो तो यह दिखाया गया है कि (१) उदाहरण के लिये, जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि भी है, जैसे पाकशाला इत्यादि मे, बिना अग्नि के धूम नही होता, जैसे (सरोवर मे, तथा अन्य सभी) असमानों मे, (२) जहाँ कृतकत्व है वहाँ परिवर्तन है, जैसे घट इत्यादि मे, यदि कुछ परिवर्तनरहित है तो वह कृतक नही है, जैसे आकाश। वास्तव मे, अन्यथा किसी प्रकार समानो मे हेतु के उपस्थित होने और समस्त असमानो मे अनुपस्थित होने को दिखाना असम्भव है (इन सामान्य विशिष्टताओ का निदर्शन इन बातो के अतिरिक्त दिखाना असम्भव है) (१) हेतु की उपस्थिति का हेत्वात्मक निगमन अनिवार्यत फल की उपस्थिति का अनुगमन करता है, और यह कि (२) विभागात्मक रूप से निगमित गुण अनिवार्यत विभागात्मक हेतु को व्यक्त करनेवाले तथ्य मे निहित होता है। जब यह दिखा दिया गया तब तदनुसार यह भी दिखा दिया गया कि उदाहरण क्या है, क्योकि तत्त्वत इसमे और कुछ निहित नही होता।

§ ४. परार्थानुमान के आकार

यत परार्थानुमान तर्कवाक्यो मे किसी अनुमान को व्यक्त करने के अतिरिक्त और कुछ नही, अत यह स्पष्ट है कि परार्थानुमान के भी उतने ही प्रकार होगे जितने अनुमान के। किसी विषय के लिङ्ग द्वारा उस विषय के

---

[१] न्यायबि० ३ १२३; अनुवाद १३१।

ज्ञान के रूप मे अनुमान की परिभाषा की गई है। यह लिङ्ग अथवा तथा-कथित त्रिरूप लिङ्ग दो पक्षो के वीच के निश्चित अन्योन्याश्रयत्व के अतिरिक्त और कुछ नही। तदनुसार परार्थानुमान के उतने ही प्रकार हो सकते हैं जितने दो पदो के वीच सम्वन्ध के प्रकार। हम देख चुके हैं कि दो पदो के वीच तीन और केवल तीन ही, ऐसे निश्चित सम्वन्ध हो सकते हैं जो किसी वस्तु के अन्य के साथ उसके सम्वन्ध के आधार पर उसके ज्ञान को सम्भव वना सकते हैं। हमे किसी वस्तु का उसके फल के द्वारा, अथवा एक धर्मी होने के द्वारा, अथवा उसके प्रतिषेधात्मक प्रतिरूप द्वारा ही ज्ञान हो सकता है। इसी प्रकार परार्थानुमान भी तीन प्रकार का होगा—हेत्वात्मक, विभागात्मक और प्रतिषेधात्मक। इनका ऊपर उदाहरण दिया जा चुका है।

फिर भी, ये अन्तर परार्थानुमान के विषय-वस्तु पर आधारित हैं, उसके रूप पर नही। ये तार्किक सम्वन्धो पर आधारित हैं जिनके लिये धर्मकीर्ति ने पदार्थों की एक निश्चित तालिका का निर्धारण कर दिया है। एक अन्य अन्तर भी है जो परार्थानुमान के रूप को ही प्रभावित करता है। एक ही तथ्य, किसी विषय के उसके लिङ्ग के माध्यम से अनुमित ज्ञान को दो भिन्न प्रकारो से व्यक्त किया जा सकता है। हम इस अन्तर को आकार या रूप का अन्तर कह सकते है। वास्तव मे प्रत्येक लिङ्ग की दो प्रमुख विशिष्टताएँ होती हैं, अर्थात् वह सपक्षो के समान तथा विपक्षो के असमान होता है। दिङ्नाग इस वात पर वल देते हैं कि यह एक ही लिङ्ग होता है, दो नही[1]। कोई भी लिङ्ग एक साथ ही विपक्षो मे अनुपस्थित हुये विना सपक्षो मे उपस्थित नही हो सकता। किन्तु व्यवहारत, यत लिङ्ग वही होता है अत हम उसके विधायक पक्ष पर ध्यान दे सकते हैं और उसके प्रतिषेधात्मक पक्ष को अभिप्रेत माना जा सकता है, अथवा हम प्रतिषेधात्मक पक्ष पर ध्यान दे सकते हैं और विधायक पक्ष को अभिप्रेत माना जा सकता है। साधर्म्य और वैधर्म्य की मिश्रित विधि ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र को नियन्त्रित करती है, किन्तु यत ज्ञान के विधायक और प्रतिषेधात्मक अशो के वीच तुल्यार्थकता होती है, अत केवल एक पक्ष को, या तो साधर्म्य को अथवा वैधर्म्य को ही, व्यक्त करना मात्र पर्याप्त और उसका प्रतिरूप अभिप्रेत होता है। यही कारण है कि हमे प्रत्येक परार्थानुमान के दो रूप उपलव्ध होते हैं। रूप या आकार से यहाँ किसी अनुमान के पदो की शब्द-व्यवस्था के किसी अस्वाभाविक, तोडे-मरोडे अथवा

---

[1] तुकी० न्यामु०, अनुवाद पृ० २२।

ऐसे विपर्यस्त रूप का तात्पर्य नही जिसमे प्रत्येक अनुमान का वास्तविक केन्द्र, दो पदो का सामान्य तथा निश्चित अन्योन्याश्रयत्व सर्वथा विनष्ट हो गया हो। इसका अर्थ दो पदो के बीच निश्चित अन्योन्याश्रयत्व के आधार पर सत् के ज्ञान की दो सामान्य तथा तुल्यार्थक विधियाँ है। हम देख चुके हैं कि यह प्रत्यक्षात्मक निश्चय कि "यह अग्नि है" एक ऐसी वस्तु के ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही जिसका अन्य समस्त अग्नियो से सपक्षत्व तथा समस्त अ-अग्नियों से विपक्षत्व है। किसी अदृश्य अग्नि का उसके लिङ्ग, धूम, के द्वारा ज्ञान भी इसी प्रकार उन समस्त स्थानो के साथ उसके सपक्षत्व का ज्ञान है जो धूम तथा अग्नि के द्विविध लिङ्ग से युक्त हैं, और ऐसे समस्त स्थानो के साथ उसके विपक्षत्व का जहाँ यह द्विविध लिङ्ग अनुपस्थित है। इतना ही नही इस अनुपलब्धि निश्चय की कि "यहाँ कोई घट नही", अपनी प्रतिषेधात्मक प्रकृति के विपरीत भी, अथवा जो भारतीय शब्दविन्यास के अनुसार 'अप्रत्यक्ष' के द्वारा अनुमान है, इन दोनो विधियो, विधायक और प्रतिषेधात्मक के रूप मे व्याख्या की जा सकती है। वास्तव मे हम इस निश्चय को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं —

> प्रत्यक्षात्मकता की समस्त स्थितियो की पूर्ति के विपरीत जिसका प्रत्यक्ष नही होता वह अनुपस्थित है।
>
> इस स्थान पर किसी घट का प्रत्यक्ष नही हो रहा है।
>
> यह अनुपस्थित है।

अथवा हम इसी विचार को वैधर्म्य की विधि द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं। तब हमे ये तर्कवाक्य मिलेंगे —

> प्रत्यक्षात्मकता की समस्त स्थितियो की पूर्ति होने पर जो कुछ भी उपस्थित है उसका निश्चित प्रत्यक्ष होता है।
>
> किन्तु इस स्थान पर ऐसे किसी घट का प्रत्यक्ष नही हो रहा है।
>
> यह अनुपस्थित है।

किसी निश्चित स्थान पर घट की अनुपस्थिति का ज्ञान या तो प्रतिषेध के अन्य उदाहरणो के साथ उसके साधर्म्य अथवा उसकी उपस्थिति के विधायक उदाहरणो के साथ उसके वैधर्म्य के आधार पर होता है। स्वभावत इन्ही दोनो विधियों का तदुत्पत्ति और तादात्म्य पर आधारित आगमनो तथा निगमनो के लिये व्यवहार किया जा सकता है।

साधर्म्य के नियम के अनुसार व्यक्त विभागात्मक निगमन इस प्रकार होगा —

प्रतीत्य-समुत्पाद मे जो कुछ भी अपने हेतुत्व के परिवर्तन से परिवर्तन-शील है वह अशाश्वत है, घटादि की भाँति।
वाणी की ध्वनियाँ परिवर्तनशील हैं।
ये अशाश्वत है।

वैधर्म्य की विधि के अनुसार व्यक्त करने पर इसी निगमन का यह परार्थानुमानात्मक रूप होगा —

जो कुछ भी शाश्वत है वह प्रतीत्य-समुत्पाद के अपने हेतुओ के परिवर्तन से परिवर्तनशील नही है, जैसे आकाश।
किन्तु वाणी की ध्वनियाँ परिवर्तनशील हैं।
ये अ-शाश्वत है।

इसी प्रकार हेत्वात्मक निगमन के भी दो भिन्न आकार हैं। साधर्म्य के नियम के अनुसार व्यक्त होने पर यह हेत्वात्मक परार्थानुमान मिलता है :—

जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, जैसे पाकशाला में।
यहाँ धूम है।
यहाँ अग्नि भी होना चाहिये।

वैधर्म्य के नियम के अनुसार व्यक्त होने पर इसी का यह रूप होगा —

जहाँ अग्नि नही है वहाँ धूम भी नही है, जैसे जल मे।
किन्तु यहाँ धूम है,
यहाँ अग्नि भी होना चाहिये।

साम्धर्य और वैधर्म्य के नियम, इस प्रकार, भारतीय तर्कशास्त्र मे न केवल "ऐसी सरलतम और स्पष्ट विधियाँ हैं जिनसे किसी घटना की पूर्ववर्ती स्थितियो मे से ऐसी स्थिति को पृथक् किया जा सकता है जो उस घटना के साथ एक निश्चित नियम के अनुसार वास्तविक रूप से सम्बद्ध होती है"[1], वरन् ये प्रत्येक प्रकार के सम्बन्धो तथा यहाँ तक कि प्रत्येक प्रकार के निश्चयों की स्थापना करनेवाली विधियाँ भी हैं।[2] एक विधि के अन्तर्गत "उन विभिन्न स्थितियो की परस्पर तुलना आती है जिनमे कोई घटना घटती है", जब कि दूसरी के अन्तगत ऐसी स्थितियो की तुलना जिनमे वह घटना नही घटती।[3]

---

[1] जे० एम० मिल० लॉजिक, १, पृ० ४४८।
[2] तुकी० ए० वेन० लॉजिक, १.८ और २.४६।
[3] जे० एम० मिल० लॉजिक, १, पृ० ४४८।

दिङ्नाग इस बात पर जोर देते हैं कि ये दो भिन्न विधियाँ नही बल्कि साधर्म्य और वैधर्म्य की एक ही मिश्रित विधि है जिनको या तो विधायक दृष्टि से अथवा प्रतिषेधात्मक दृष्टि से ध्यान देकर व्यक्त किया जा सकता है। किसी ऐसे दूरस्थ पर्वत पर जहाँ केवल धूम का ही प्रत्यक्ष हो रहा है, अग्नि की उपस्थिति की या तो इसके ऐसे स्थानो के साथ साधर्म्य के आधार पर स्थापना की जा सकती है जहाँ दोनों घटनाओ को एक साथ होते देखा गया है, अथवा ऐसे स्थानो के साथ वैधर्म्य के आधार पर जहाँ दोनो घटनाओ को कभी भी घटित होते नहीं देखा गया है। ऐसी स्थिति मे साधर्म्य परार्थानुमान के साध्य-आधारवाक्य मे, और वैधर्म्य का नियम व्यतिरेक मे निहित होता है। लिङ्ग के, जैसे वह परार्थानुमान मे आता है, दो पक्ष होते हैं। परार्थानुमान में लिङ्ग का प्रथम पक्ष साध्य-आधारवाक्य के विधायक रूप मे व्यक्त होता है, जब कि इसका द्वितीय पक्ष इस आधारवाक्य के व्यतिरेक मे। किन्तु दोनो ही रूपो को व्यक्त करना आवश्यक नही है क्योकि, जैसा कहा जा चुका है, "साधर्म्य के सूत्र से तदनुसार वैधर्म्य का सूत्र भी अभिप्रेत होता है।"[1] धर्मोत्तर[2] यह कहते हैं कि "जब कोई निर्धारण साधर्म्य को (अथवा अपने फल के साथ हेतु की व्याप्ति को) साक्षात् व्यक्त करता है तब उनका अन्तर, अर्थात् व्यतिरेक (अथवा अन्वय-वाक्य) अभिप्रेत होता है।" "यद्यपि व्यतिरेक को उस दशा मे साक्षात् व्यक्त नही किया जाता जब व्याप्ति को उसके विधायक रूप मे व्यक्त किया गया होता हैं, तथापि वह अभिप्रेत होता है", "क्योकि धर्मकीति[3] का कहना है कि यदि ऐसा न हो तो हेतु की फल के साथ निरपवाद व्याप्ति नही होगी।" दोनो ही विधियाँ दो तथ्यो या धारणाओ के बीच अन्योन्याश्रयत्व के अनिवार्य सम्बन्ध की स्थिति की समान रूप से स्थापना करती हैं। धर्मकीर्ति[4] कहते है कि "इस बात की स्थापना की जा चुकी है कि जो भी स्थिति हो, व्याप्ति के केवल दो ही प्रकार होते है। आश्रित अश या तो उसी स्वभाव को व्यक्त करता है अथवा फल को (जिसकी यह द्वितीय वस्तु हेतु होती है)। व्यतिरेकी अन्वय-वाक्य सदैव ही एक दूसरे का अनुगमन

---

[1] न्यावि० ३ २८, अनुवाद पृ० १४२।

[2] न्याविटी० पृ० ५१.४, अनुवाद पृ० १४३।

[3] न्यावि० ३.२९, अनुवाद पृ० १४३।

[4] वही ३ ३३।

करनेवाले दो तथ्यो के अनिवार्य प्रतीत्य-समुत्पन्नत्व को, अथवा एक ही तथ्य की द्योतक दो धारणाओ के निश्चित सम्बन्ध को व्यक्त करता है। यह प्रतीत्य समुत्पन्नत्व (हेतुक अथवा विभागात्मक) "अपने विधायक रूप मे अन्वय-वाक्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।" "इस प्रकार एक ही अन्वय-वाक्य या तो साक्षात् अथवा अपने व्यतिरेकी रूप मे इस बात की घोषणा करता है कि लिङ्ग सधर्मियो मे उपस्थित और विधर्मियों मे अनुपस्थित है।[1]

इस प्रकार प्रत्येक परार्थानुमान को दो आकारो मे व्यक्त किया जा सकता है जिनमे से एक "nota notae est nota rei ipsius" सूत्र के तथा दूसरा "repugnans notae repugnat rei ipsi" के अनुरूप है। यही दोनो वास्तविक तर्कशास्त्रीय आकार है।

यह कि विशेष निश्चयो का परार्थानुमान मे कोई स्थान नही है, अनुमान के दो पदो के बीच निश्चित और सामान्य सम्बन्ध पर, तथा साध्य की समग्रता मे लिङ्ग की अनिवार्य उपस्थिति पर आधारित परिभाषा का परिणाम है। प्रतिषेधात्मक परार्थानुमान का, जहाँ तक व्यतिरेक को वस्तुत: प्रतिषेधात्मक नही मानना है, पृथक् रूप से विरोध के नियम के विश्लेषण के समय एक वाद के अध्याय मे विवेचन तथा वही आकारो का भी विश्लेषण किया जायगा।

§ ५. परार्थानुमान का महत्व

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि किसी उपलब्ध ज्ञान के शुद्ध निर्धारण और अन्य व्यक्ति को उसे सूचित करने के लिए ही परार्थानुमान एक उपयोगी तथा महत्वपूर्ण विधि है। यह ज्ञान का वास्तविक प्रमाण नही होता। किसी नवीन ज्ञान के अर्जन अथवा विस्तार के लिये इसका कोई महत्व नही है। सर्वप्रथम यह हेतुत्व के परार्थानुमान मे सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। धर्मकीर्ति[2] कहते हैं कि हम उसी समय यह कह सकते हैं कि फल अपने हेतु के अनुमान के लिए तार्किक आधार को व्यक्त करता हैं जब दोनो के हेतुक सम्बन्ध का तथ्य पहले से ज्ञात होता है।" हम तर्कना के किसी भी प्रयास द्वारा उस समय तक प्रत्यक्षीकृत धूम के हेतु का अनुमान

---

[1] वही० ३ ३४।

[2] न्यायविटी० अनुवाद पृ० १३७।

नही कर सकते जब तक हम पहले से यह नही जानते कि वह अग्नि है। किन्तु "पाकशाला तथा अन्य सर्धामियो की दशा मे विधायक तथा प्रतिषेधात्मक अनुभव द्वारा यह स्थापित है कि धूम तथा अग्नि के बीच एक ऐसा निश्चित निरपवाद सहचार है जो एक सामान्य हेतुक (कार्यकारण) सम्बन्ध को व्यक्त करता है।" शुद्ध अनुमान इस सामान्य नियम के किसी विशेष बात के प्रति व्यवहार मे निहित होता है, तथा परार्थानुमान इस तथ्य को अन्य को सूचित करता है। किन्तु परार्थानुमान द्वारा जो कुछ संसूचित किया जाता है उसका अनिवार्य अश फल के अपने हेतु पर अनिवार्य रूप से आश्रित[1] होने का तथ्य है। किस प्रकार इस सिद्धान्त की, और साथ ही साथ इस सम्बन्ध के विशेष विषयवस्तु की तथा इसके आनुभविक और अनुभवनिरपेक्ष अश की स्थापना की गई है इसकी अनुमान[2] के सिद्धान्त मे व्याख्या की जा चुकी है। परार्थानुमान दो या तीन तर्कवाक्यो मे इसी के शुद्ध निर्धारण के अतिरिक्त और कुछ नही करता।

समस्त मानव ज्ञान-सम्बन्धो का ज्ञान है; और निश्चित सम्बन्ध, हम देख चुके हैं कि केवल दो ही अर्थात् तादात्म्य तथा कार्य (तदुत्पत्ति) ही होते हैं। प्रतिषेधात्मक या अनुपलब्धि सम्बन्ध को यहाँ छोड दिया गया है। जैसी कि व्याख्या की जा चुकी है, सम्बन्ध का यहाँ एक पद के दूसरे पर अनिवार्य आश्रयत्व के आशय मे प्रयोग किया गया है, तथा अनिवार्य अन्योन्याश्रयत्व या तो दो सहसत्ताओ के बीच अथवा दो क्रमिक तथ्यो के बीच ही हो सकता है। दो भिन्न वस्तुओ के अनिवार्य सह-अस्तित्व को, हम देख चुके हैं कि, सदैव उनके बीच एक अनिवार्य क्रमिकता अथवा हेतुत्व मे इस प्रकार ढूँढा जा सकता है कि शुद्ध सह-अस्तित्व, ऐसा सह-अस्तित्व जिसे हेतुत्व मे घटाया न जा सके, दो भिन्न तथ्यो के बीच का सह-अस्तित्व नही वल्कि एकमात्र तथ्य की परिधि के भीतर के दो अनिवार्य विकल्पो का सह-अस्तित्व होता है। यह सह-अस्तित्व अथवा सहसमवाय है जो दो भिन्न विकल्पो के समान अधिष्ठान के तादात्म्य मे निहित होता है। अव एक ही अधिष्ठान मे दो विकल्पो के अनिवार्य सहअस्तित्व के आनुभविक विषयवस्तु की, अर्थात् तादात्म्य पर आधारित सह-अस्तित्व की भी अनुभव द्वारा ही स्थापना होती है, किन्तु परार्थानुमान द्वारा नहीं।

---

[1] वही० पृ० १२९।

[2] तुकी० ऊपर पृ० ३०८ और वाद।

परार्थानुमान की सेवायें तर्कना तक मे भी शुद्ध निर्धारण तथा ससूचन तक ही सीमित होती है। धर्मकीर्ति[1] कहते हैं कि "वास्तव मे तार्किक हेतु किसी तथ्य का ज्ञान आकस्मिक रूप से उत्पन्न नही करता, जैसे, उदाहरण के लिए, दीपक (जो ऐसे विषयो का ज्ञान उत्पन्न करता है जिन्हे वह आकस्मिक रूप मे प्रकाशित कर देता है)। किन्तु यह एक तार्किक निश्चय के रूप मे निरपवाद व्याप्ति के निश्चित रूप मे ज्ञान उत्पन्न करता है। किसी तार्किक हेतु का कार्य, वास्तव मे, किसी अनधिगत तथ्य का ज्ञान उत्पन्न करना है, और हेतु की अनधिगत तथ्य के साथ निरपवाद व्याप्ति के निश्चय का सर्वथा यही अर्थ है। (एक प्रारम्भिक चरण के रूप मे) सर्वप्रथम हमे इस बात का निश्चय होना चाहिये कि हमारे तार्किक हेतु की उपस्थिति विधेय फल की उपस्थिति पर अनिवार्यत आश्रित है। (तादात्म्य पर आधारित विभागात्मक निश्चय मे) हमे उस विरोध के नियम[2] के व्यवहार द्वारा ऐसा करना चाहिए जो विरुद्ध को वर्जित करता है। इसके बाद हम परार्थानुमानीकरण करने की ओर अग्रसर होगे और अपनी स्मृति मे अकित अन्वयवाक्य का, उस तर्कवाक्य का उपयोग करेंगे जो हमे यह सूचित करता है कि साध्य की विधेय के साथ निरपवाद व्याप्ति होती है, जैसे "जो कुछ कृतक है वह नित्य नही है।" उसके पश्चात हम इस सामान्य विवरण को विशेष दशाओ के साथ सम्बद्ध कर सकते हैं, जैसे "वाणी की ध्वनियाँ अ-नित्य हैं।" इन (दो तर्कवाक्यो) के बीच साध्य-आधारवाक्य स्मृतिज विवरणो से युक्त होता है, और तार्किक हेतु (तथा उसकी व्याप्ति) के ज्ञान को व्यक्त करता है। वास्तविक परार्थानुमान उस दूसरे चरण मे निहित होता है जिसमे हम पक्ष-आधारवाक्य मे इस बात का स्मरण करते हैं कि ध्वनि की विशेष दशा मे जो हेतुक कृतकता निहित है उसका अ-नित्यता के गुण के साथ अनिवार्य सह-अस्तित्व है। यदि ऐसा है तो किसी अनधिगत वस्तु का ज्ञान (अथवा ससूचन) वस्तुत व्याप्ति के ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसीलिये यह कहा गया है कि (विरोध और तादात्म्य के नियमो पर आधारित) "विभागात्मक निश्चयो का उसी समय उपयोग किया जा सकता है जब इस बात का पहले से ज्ञान हो कि निगमित विशिष्टता अनिवार्यत वही उपस्थित होती है जहाँ हेतु की उपस्थिति निश्चित की जा चुकी होती है,

---

[1] न्यबिटी० अनुवाद पृ० १२९।

[2] 'बाधकेन प्रमाणेन।

अन्य किसी स्थिति मे नहीं।" विधेय हेतु मे निहित होता है और इसलिए तर्किक फल हेतु की उपस्थिति के तथ्य मात्र का अनुगमन करता है।

किन्तु यदि ऐसा है, यदि किसी विभागात्मक निश्चय का निगमित विधेय अपने साध्य मे निहित होने के रूप मे ज्ञात है और साध्य से स्वभावत निःसृत होता है तब उसका निगमन निरर्थक है।

धर्मोत्तर[1] पूछते हैं कि "यदि कोई वस्तु पहले से ही निश्चित है तो उसको ढूँढा क्यो जाय ?" "हम हेतु मे से किसी ऐसी वस्तु के निगमन के लिये तर्क का आश्रय क्यो लें जो हेतु मे पहले से ही विद्यमान है ?"

उत्तर यह है कि यद्यपि किसी विभागात्मक निगमन के हेतु और फल (अथवा विभागात्मक निश्चय के साध्य तथा विधेय) तादात्म्य द्वारा सम्बद्ध होते हैं, तथापि हम इस प्रकार के निगमन अथवा इस प्रकार के निश्चय की ओर अग्रसर हो सकते हैं, अलबत्ता हम पहले से यह जानते हैं कि ये तादात्म्य द्वारा निश्चत रूप से सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार फल से हेतु के निगमन की दशा मे हमें अनुभव के आधार पर इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि घटनायें हेतु तथा फल के रूप मे निश्चित रूप से सम्बद्ध हैं, ठीक उसी प्रकार हमे अनुभव अथवा अन्य किसी स्रोत के आधार पर यह भी ज्ञात होना चाहिये कि एक ही और उसी सत् की दो भिन्न विशिष्टतायें तादात्म्य द्वारा सम्बद्ध होती हैं। इनका तादात्म्य एक अधिष्ठान का तादात्म्य है, यह सह-अधिष्ठानत्व अथवा सह-समवायत्व है[2]।

यद्यपि हमारे सभी विकल्प हमारी प्रज्ञा की रचनायें होते हैं, तथापि उनका बोध, उनका प्रयोजन, उनका उपाश्रयण, उनका वर्जितत्व, इन सभी का अनुभव के द्वारा ज्ञान होता है। ऊपर[3] इस बात की स्थापना की जा चुकी है कि तादात्म्य, तदुत्पत्ति और विरोध के नियम हमारी प्रज्ञा की मौलिक विधियाँ हैं, फिर भी इनका व्यवहार ऐन्द्रिक अनुभव के क्षेत्र तक ही सीमित है। धर्मोत्तर निम्नलिखित उदाहरण देते है।[4] मान लीजिये कोई ऐसा व्यक्ति जिसे सामान्य रूप से वृक्षो के सम्बन्ध मे कोई ज्ञान नही है, एक बहुत ऊँचे अशोक-वृक्ष का प्रत्यक्ष करता है और उसे बताया जाता है कि वह एक वृक्ष है। वह यह सोच

---

[1] न्याविटी० पृ० ४७.१७, अनुवाद पृ० १३१।

[2] अथवा साधर्म्य, जैसा कि सिग्वर्ट (लॉजिक १.११०) मानते हैं।

[3] तुकी० पृ० २९३ और बाद।

[4] न्याविटी० पृ० २४ ३ और बाद, अनुवाद पृ० ६७।

सकता है कि अशोक-वृक्ष की ऊँचाई ही वह कारण है जिससे उसे वृक्ष कहा गया है। एक छोटे अशोक वृक्ष को देख कर वह यह सोच सकता है कि वह वृक्ष नहीं है। तब उसे यह बताया जायगा कि वृक्ष एक सामान्य शब्द है और अशोक उसके अन्तर्गत आनेवाला एक प्रकार। इसके बाद यदि उसे यह सूचित किया जाय कि किसी स्थान पर बिना किसी भी वृक्ष के केवल नग्न चट्टानें है, तो वह जान लेगा कि यदि वहाँ कोई वृक्ष नही हैं तो वहाँ कोई अशोक भी नही होगा। इस प्रकार सभी विकल्पो के उपाश्रयण की "प्रत्यक्ष और अ-प्रत्यक्ष" द्वारा, अर्थात् वैधिक और प्रतिषेधात्मक अनुभव द्वारा उसी प्रकार स्थापना हो जाती है जिस प्रकार दो घटनाओ के बीच हेतु और फल के सम्बन्ध की अथवा दोनो की परस्पर असगति के सम्बन्ध की। दो विकल्पो के बीच के विभागात्मक सम्बन्ध की कभी-कभी तर्कना की एक अत्यन्त जटिल शृङ्खला द्वारा स्थापना होती है। यदि फल हेतु मे निहित है तो इसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, मन मे किसी वास्तविक तथ्य की सदैव उपस्थिति की दृष्टि से नही, ग्रहण करना चाहिये। विभागात्मक सम्बन्ध तार्किक और असीम विस्तार के योग्य होता है यह कभी-कभी अत्यधिक गहराइयो मे प्रच्छन्न रहता है। विभागात्मक सम्बन्ध की प्रत्येक दशा की तदुपयुक्त प्रमाणो के द्वारा स्थापना की जानी चाहिये, ऐसा धर्मकीर्ति[1] का कथन है। इस सिद्धान्त की कि समस्त सत्ताये क्षणिक होती हैं, बौद्धो ने तर्कना के ऐसे दीर्घ प्रयास द्वार स्थापना की है जिसका और अधिक विस्तार किया जा सकता है। इन दो विकल्पो का सम्बन्ध विभागात्मक है, यह विरोध के नियम द्वारा सुरक्षित है। यदि सत्ता प्रतिक्षण परिवर्तित न हो, यदि वह आकाश की भाँति अपरिवर्तनशील हो तो वह सत्ता नही होगी। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उन सभी व्यक्तियो के मन मे, जिनमे सत्ता का विचार उपस्थित है, साथ ही साथ उसकी क्षणिकता का विचार भी उपस्थित होता है। किसी विभागात्मक सम्बन्ध का अर्थ ऐसा निश्चित सम्बन्ध है जो हेतुक नही है क्योकि निश्चित सम्बन्ध केवल दो, अर्थात् तादात्म्य अथवा अ-हेतुत्व और हेतुत्व अथव अ-तादात्म्य, ही होते हैं। एक ही वस्तु को सत्ता तथा उसे ही क्षण भी कहते हैं। ये तादात्म्य (स्वभाव) द्वारा सम्बद्ध हैं। अनिवार्यत. पूर्वगत क्षण की दृष्टि से यह उसका फल होगा। कोई तीसरा क्षणिक सम्बन्ध चाहे तादात्म्य का हो अथवा तदुत्पत्ति का, सम्भव नही है। इस प्रकार के

---

[1] 'यथा-स्वम-प्रमाणै', न्यायविंदि० पृ० ४७५ और वाद।

सम्बन्धो के प्रत्येक पृथक् उदाहरण की, चाहे वह विकल्पो का विभागात्मक सम्बन्ध हो अथवा क्षणो का हेतुक सम्बन्ध, अनुभव द्वारा, अथवा जैसा धर्मकीर्ति कहते है "स्वय प्रमाण" द्वारा स्थापना होनी चाहिये। परार्थानुमान इनके शुद्ध निर्धारण के अतिरिक्त हमारे ज्ञान मे और कोई योगदान नही करता।

§ ६. परार्थ अनुमान के रूप मे परार्थानुमान की ऐतिहासिक रूपरेखा

धर्मोत्तर[१] यह प्रमाणित करते है कि आचार्य, अर्थात् दिङ्नाग, ने ही सर्वप्रथम अनुमान तथा परार्थानुमान के बीच निश्चित तथा दृढ रेखा खीची थी। उन्होने अनुमान की ज्ञान की एक प्रक्रिया के रूप मे, हमारे ज्ञान के दो प्रमाणो मे से एक के रूप मे कल्पना करते हुए उसे 'स्वार्थानुमान' कहा। दूसरे को इन्होने ज्ञान का प्रमाण नही बल्कि एक ऐसी विधि माना जिसके द्वारा किसी श्रोतासमूह के हित के लिये तर्कवाक्यो की एक शृङ्खला द्वारा विश्वसनीय तथा शुद्ध रूप से ज्ञान को व्यक्त किया जा सके। हम देख चुके हैं कि यह मत हमारे ज्ञान के दो प्रमाणो के बीच एक सैद्धान्तिक अन्तर के सिद्धानत का ही परिणाम है। ज्ञान के केवल दो, और मात्र दो ही प्रमाण हैं क्योकि अधिगत 'तत्त्वो' के दो और केवल दो ही प्रकार हैं। इन्द्रियाँ केवल अन्यतम स्थूल और विशेष का बोध करती हैं और अनुमान केवल सामान्य का बोध करता है।[२] ज्ञान के एक ऐसे प्रमाण के रूप मे ग्रहण करने पर जिसका ग्राह्यता के साथ विरोधी अन्तर है, अनुमान तथा प्रज्ञा परस्पर विकार्य शब्द होगे। वास्तव मे हमारे विश्लेषण ने यह दिखाया है कि अनुमान निश्चय के एक प्रकार के अतिरिक्त और कुछ नही, और निश्चय भी प्रज्ञा की पद्धति का ही एक अन्य नाम है। अनुमान सामान्य से उसी प्रकार सम्बद्ध होता है, जिस प्रकार विशुद्ध ग्राह्यता निरपेक्ष विशेष अथवा वस्तुस्वलक्षण का बोध करती है। इस प्रकार के अनुमान को किसी श्रोतासमूह को किसी प्रतिज्ञा को सूचित करने के लिए प्रयुक्त तर्कवाक्यो की एक शृङ्खला मे पृथक् करना चाहिये। इस प्रकार, हमे एक प्रामाणिक लेखक का इस विषय पर कि स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के सिद्धान्तो के आरम्भकर्त्ता दिङनाग थे, न केवल साक्षात् साक्ष्य उपलब्ध

---

[१] न्याविटी० पृ० ४२ ३। तुवी० कीय इण्डियन लॉजिक, पृ० १०६; और रैण्डल इण्डियन लॉजिक पृ० १६०।

[२] तुकी० उपर पृ० ८३ और वाद।

होता है, वरन् हम इस प्रकार के पृथक्करण के तर्क का भी औचित्य सिद्ध कर सकते हैं क्योकि यह इनके दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त का एक साक्षात् परिणाम है।[1]

धर्मोत्तर के वक्तव्य की उन सबसे पुष्टि होती है जो कुछ हम भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास के सम्बन्ध मे जानते हैं। दिङ्नाग के परिष्कार के पूर्व की कृतियो मे 'स्वार्थ' तथा 'परार्थ' अनुमानो का उल्लेख नहीं मिलता। न गौतम, न कणाद, न वात्स्यायन, न और ही किसी ऐसे का वसुबन्धु उल्लेख करते हैं जिसे हम जानते हो। परन्तु दिङ्नागोत्तर प्राय प्रत्येक तर्कशास्त्रीय कृति मे अनुमानो के भेद मिलते हैं। प्रशस्तपाद, जो बहुत सम्भवत दिङ्नाग के समकालीन थे, वह पहले व्यक्ति थे जिन्होने वैशेषिक सम्प्रदाय के तर्कशास्त्र मे इसका समावेश किया।

दिङ्नाग की इस नवीनता का नैयायिको के सम्प्रदाय मे एक भिन्न भाग्य रहा। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि गौतम के मूल सूत्रो मे ज्ञान के प्रमाणो मे से एक के रूप मे अनुमान तथा उस "पञ्चावयवी परार्थानुमान के बीच एक विभेद मिलता है जिसका ज्ञान के चार 'प्रमाणो' के अन्तर्गत नही बल्कि सोलह पदार्थों के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो दिङ्नाग की नवीनता गौतम के इन नियमो से गृहीत अथवा निष्कृष्ट मात्र है। फिर भी, पञ्चावयवी परार्थानुमान को न्याय-सम्प्रदाय मे श्रवणकर्ता के मन मे जागृत होनेवाले अनुमान के रूप मे नही बल्कि किसी अनुमान की प्रक्रिया मे हमारे विचार के क्रमिक सोपानो का निष्ठापूर्ण और पर्याप्त वर्णन माना गया है। किसी अन्य व्यक्ति को अनुमान को सूचित करते समय इन सोपानो को दोहराना चाहिये। यह पञ्चावयवी परार्थानुमान का सक्षिप्त रूप है जो न्यायसम्प्रदाय मे पञ्चावयवी की स्थापना के पूर्व प्रचलित था। इसका उद्देश्य 'जिज्ञासा' से आरम्भ करके अनुमित निष्कर्ष मे समाप्त होनेवाले हमारे अनुमानात्मक ज्ञान के क्रमिक सोपानो का वर्णन करना था। पञ्चावयवी परार्थानुमान के सम्बन्ध मे भी इस सम्प्रदाय मे यही मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रचलित है।

न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक विचार की अवधि तीन क्षणों की होती है। तीसरे क्षण मे वह समाप्त और निष्क्रिय हो जाता है। प्रापक होने के लिये उसे पुन नये सिरे से जगाने की आवश्यकता होती है। अनुमानात्मक प्रक्रिया जिज्ञासा के उस प्रथम क्षण के साथ आरम्भ होती है जो परार्थानुमान के प्रथम अवयव के

[1] तुकी० म्यूसियोन ५, पृ० १६३ और बाद मे मेरा लेख।

रूप मे प्रतिज्ञा को उत्पन्न करता है। हेतु तथा दृष्टान्त इसके पदचिह्नो का अनुसरण करते हुये प्रकट होते है। जब दृष्टान्त का क्षण प्रकट होता है। तब प्रतिज्ञा का क्षण समाप्त और निष्क्रिय हो चुका होता है। किसी एक क्षण मे निहित विचार के रूप मे व्याप्ति, उस निगमन के लिये जिससे यह पक्ष-आधारवाक्य के क्षण द्वारा पृथक होती है, तब तक लुप्त और निष्क्रिय होती है जब तक इसे इस आधारवाक्य मे दुहराया न जाय। इस दुहराने को 'परामर्श'[1] अथवा 'तृतीयलिङ्ग परामर्श' कहते हैं। लिङ्ग का प्रथम विचार पाकशाला मे धूम का प्रत्यक्ष, द्वितीय धूम का पर्वत पर प्रत्यक्ष, और तृतीय इसी का पक्ष-आधारवाक्य के समय परामर्श होता है। इस रूप मे कि "यहाँ वही धूम है जिसकी सदैव अग्नि के साथ व्याप्ति होती है" इस परामर्श को निगमन—"पर्वत पर अग्नि अवश्य है"—के आसन्न तथा तात्कालिक कारण का पद प्रदान किया गया है।

यह स्पष्ट है कि नैयायिक आरम्भ मे अपने पञ्चावयवी परार्थानुमान को किसी श्रोतावर्ग को उपलब्ध ज्ञान सूचित करने वाले तर्कवाक्यो मात्र से युक्त नही मानते थे। फिर भी, दिङ्नाग के दृष्टिकोण को उद्योतकर[2] ने स्वीकार कर लिया था। नैयायिको ने वैशेषिको के उदाहरण को स्वीकार करते हुये अपने तार्किक उपदेश मे 'परार्थ' अनुमान के सिद्धान्त को सम्मिलित कर लिया। 'स्वर्थ' अनुमान तथा 'परार्थ' अनुमान के बीच अन्तर का उल्लेख हमे गङ्गेश के बाद की समस्त कृतियो मे मिलता है।

भारतीय तर्कशास्त्र की एक अन्य विशिष्टता, परार्थानुमानात्मक रूपो के सिद्धान्त के प्रति भी कुछ आवश्यक परिवर्तनो के साथ यही बात कही जा सकती है। इसको कि दो और केवल दो ही वास्तविक रूप होते हैं तथा इस बात को भी कि परार्थानुमान मे विशेष निश्चयो का कोई स्थान नही है, दिङ्नाग के बहुत पहले से से ही विभिन्न सम्प्रदायो ने मान लिया था किन्तु इस तथ्य के वास्तविक अर्थ की खोज का श्रेय दिङ्नाग को ही दिया जाना चाहिये।

भावात्मक तथा अभावात्मक रूपो को जैसा नैयायिको ने स्वीकार किया है, सम्भवत· बिलकुल उसी प्रकार उनसे पूर्व साख्य भी स्वीकार कर चुके थे। किन्तु यथार्थवादी सम्प्रदायो के लिये ये परार्थानुमान के दो स्वतन्त्र रूप या प्रकार हैं, जब कि बौद्धो के लिये प्रत्येक परार्थानुमान को एक या दूसरे रूप

---

[1] 'परामर्श' तुकी० न्यावा० पृ० ४६ १० और बाद।

[2] न्यावा० पृ० १० १० 'विप्रतिपन्न-पुरुष-प्रतिपादकत्वम्।

मे व्यक्त किया जा सकता है क्योकि दोनो ही रूप तुल्यार्थक हैं। इनके स्वातन्त्र्य के प्रमाण के रूप मे नैयायिको ने इस तथ्य को प्रस्तुत किया कि ऐसे भी निगमन होते हैं जो 'केवल-अन्वयिन्' होते है अर्थात् जिनका कोई भी अभावात्मक प्रतिरूप नहीं होता, तथा ऐसे भी जो 'केवल व्यतिरेकिन्' होते है अर्थात् जिनका कोई भी भावात्मक प्रतिरूप नहीं होता। इस वात को बौद्धो ने अस्वीकार किया तथा यह माना कि प्रत्येक निगमन भावात्मक तथा अभावात्मक दोनो होता है—ठीक उसी प्रकार जैसे समस्त नाम और समस्त निश्चय अपने सार रूप मे अनिवार्यत भावात्मक और अभावात्मक होते हैं।

'अग्नि' नाम तथा इस निश्चय का कि 'यह अग्नि है' यह अर्थ है कि एक ऐसा वास्तविक विन्दु है जो एक ओर तो समस्त अग्नियो के समान है तथा दूसरी ओर समस्त अ-अग्नियो से असमान है। कोई भी मध्यवर्ती यहाँ वर्ज्य है अर्थात् अग्नि होने तथा अ-अग्नि होने के बीच मे किसी भी तीसरे प्रकार की सम्भावना[1] नही है। समस्त अनुमानो और परार्थानुमानो के लिये भी यही वात सत्य है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य ही वह प्रथम सम्प्रदाय था जिसने हेतुत्व के अपने सिद्धान्त की स्थापना मे विधायक (भावात्मक) विधि का विस्तृत प्रयोग किया। सांख्य हेतु और फल के अनिवार्य तादात्म्य को, अर्थात् फल की अपने हेतु मे पूर्वस्थिति को मानते थे। इनका उद्देश्य इस प्रकार अपने 'प्रधान' या 'प्रकृति' के प्रिय विचार की पुष्टि करना तथा फलो के समस्त विश्व को इस अद्वितीय और सार्वभौमिक कारण के अन्तर्गत सम्मिलित करना था। इसके प्रमाण के लिये इन लोगो ने पाँच परार्थानुमानो के एक सूत्र की रचना की जिसे 'अवीत-पञ्चकम'[2] कहते है। ये इस प्रकार हैं—

१ यदि फल का पूर्वअस्तित्व न हो तो उसका शून्य से कभी भी सृजन नही हो सकता।
फिर भी उसका सृजन होता है।
अत उसका (अपने उपादान कारण मे) अवश्य पूर्वअस्तित्व होता है।

---

[1] तृतीय-प्रकार-अभाव।

[2] तुकी० न्याकणि० पृ० ३०। 'अवीत' के लिये तुकी० न्यावा० पृ० १२३, सांख्य कौमुदी ५, एच० याकोबी ऑस इण्डियेन्स कल्चर, पृ० ८ और बाद।

२. यदि फल का अपने उपादान-कारण मे पूर्व-अस्तित्व न हो तो उसका इसके साथ साधर्म्य नही होगा। किन्तु वस्त्र का धागो के साथ साधर्म्य होता है उस बुनकर के साथ नही (जो स्वय भी वस्त्र का एक कारण है)।
अत फल का अपने उपादान कारण मे ही पूर्व-अस्तित्व होता है।

३ यदि फल का अपने उपादान कारण मे पूर्व-अस्तित्व न हो, और यदि उसका अन्यत्र ही पूर्व-अस्तित्व हो तो वस्त्र का धागो से उत्पादन नही होगा, बल्कि तृणादि से भी उत्पादन हो सकेगा। फिर भी, वस्त्र का धागो से ही उत्पादन होता है, (चटाई की भाँति) तृणादि से नही।
अत. इसका धागो मे पूर्व-अस्तित्व होता है।

४ किसी वस्तु के उत्पादन की क्षमता के लिये ऐसे पदार्थ की आवश्यकता होती है जिस पर वह केन्द्रित होती है, यदि ऐसे पदार्थ का पूर्व-अस्तित्व न हो तो शक्ति प्रापक नही हो सकेगी।
फिर भी शक्तियाँ प्रापक होती हैं।
अत उनके पदार्थों का भी (अपने उपादान कारण मे) पूर्व-अस्तित्व होता है।

५ किसी भी हेतु का किसी फल के साथ सापेक्षत्व होता है, यदि फलों का पूर्व-अस्तित्व न हो तो हेतु भी सर्वथा होगे ही नही।
परन्तु हेतु का अस्तित्व है।
अत फलो का (अपने हेतुओ मे) अवश्य पूर्व-अस्तित्व होना चाहिये।

ये पाँच मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान, जिन्हे 'अवीतपञ्चकम्' कहा गया है, साख्यो के अनुसार प्रमाण की स्वतन्त्र विधियाँ है। दिङ्नाग[1] के अनुसार ये स्वतन्त्र नही है क्योकि प्रत्येक आवश्यक रूप उस विधायक रूप की भी पूर्वकल्पना करता है जिसके साथ उसका तादात्म्य होता है। धर्मकीर्ति इस बात को विश्वसनीय रूप से प्रमाणित करते हैं कि साधर्म्य के परार्थानुमान और वैधर्म्य के परार्थानुमान वास्तव मे एक ही परार्थानुमान के दो रूप हैं जिनमे से एक सर्वथा उसी बात की स्थापना करता है जिसकी दूसरा। प्रत्येक परार्थानुमान का और प्रत्येक अनुमान का, इस प्रकार, एक साथ ही विधायक और अभावात्मक दोनो ही रूप होता है।[2]

---

[1] तुकी० न्यामु० पृ० २२।

[2] तुकी० definitio est omnis negatio

'केवल-अन्वयिन्' और 'केवल-व्यतिरेकिन्' परार्थानुमान उद्योतकर के अविष्कार है।[१] बौद्धमत तथा उसके समान समस्त वस्तुओ के प्रति अपनी अत्यधिक घृणा से प्रवृत्त होकर ये दिङ्नाग की अनुमान की परिभाषा की, तार्किक हेतु के उनके त्रिपक्षीय सिद्धान्त की, उनके परार्थानुमान के रूपो के सिद्धान्त की और उनके हेत्वभासो की प्रणाली इत्यादि की तीव्र आलोचना करते है। ये (उद्योतकर) इन सिद्धान्तो पर आलोचनाओ की एक धारा प्रवाहित करते हैं जिसका उद्देश्य मानो पाठक को आश्वस्त करने की अपेक्षा उसे भ्रमित करना प्रतीत होता है। इन आविष्कारो के अधिकतम अश को वाद मे छोड दिया गया किन्तु केवल-अन्वयी तथा केवल-व्यतिरेकी तर्कों का सिद्धान्त सदैव के लिये नैयायिक परार्थानुमानात्मक उपदेश का अश बन गया। बौद्धो का प्रिय परार्थानुमान, उदाहरण के लिये, यह कि "वह सब कुछ जिसका कारण है, अनित्य है", नैयायिको के अनुसार केवल अन्वयी अथवा एक तार्किक हेत्वभास होगा। बौद्धो के लिये कोई भी ऐसी वस्तु नही जिसका कारण न हो, क्योकि जिसकी भी सत्ता है उसका अनिवार्यत एक कारण भी है। अ-हेतुक वस्तुओ की सत्ता नही है। किन्तु बौद्ध यह मानते है कि एक अभावात्मक या व्यतिरेकी उदाहरण भी है, जैसे सर्वत्र उपस्थित, अपरिवर्तनशील और गतिरहित ब्रह्माण्डीय आकाश। व्यतिरेकी उदाहरण का वास्तविक होना आवश्यक नही है। तार्किक प्रयोजन के लिये एक विभेदक के रूप मे आकाश जैसा उदाहरण सर्वथा पर्याप्त है।[२]

इस प्रकार का अनुमान कि "जीवित शरीर मे आत्मा होती है क्योकि वह पशुवत् पदार्थों से युक्त होता है", एक "केवल व्यतिरेकी" अनुमान का उदाहरण है। जीवित शरीर की आत्मा के साथ व्याप्ति को प्रमाणित करने वाले कोई अन्वयी उदाहरण नहीं है, किन्तु ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमे ये दोनो गुण एक साथ ही अनुपस्थित हैं। यथार्थवादियो के अनुसार इन उदाहरणो मे जीवित शरीर के आत्मा के साथ अनिवार्य सम्बन्ध को प्रमाणित करने की शक्ति वर्तमान है। बौद्धो के अनुसार ये कुछ भी प्रमाणित नही करते, यह निगमन एक हेत्वाभास है। व्यतिरेकी उदाहरण अन्वयी उदाहरण से उत्पन्न उपनिगमन हैं। यदि अन्वयी उदाहरण न हो तो कोई वास्तविक व्यतिरेकी भी नही हो सकेंगे।

---

[१] न्यावा० पृ० ४८.१० और वाद।

[२] न्यामु० पृ० २७, न्याविटी० पृ० ८७ ३।

§ ७. योरोपीय और बौद्ध परार्थानुमान

भारतीय परार्थानुमान के हमारे वर्तमान ज्ञान की स्थिति मे बौद्ध सिद्धान्त का योरोपीय के विरुद्ध कोई पूर्ण तुलनात्मक वक्तव्य देने का प्रयास करना समयोचित नही प्रतीत होता। फिर भी, भारतीय स्थिति को, उस स्वतन्त्र और मौलिक दृष्टिकोण को जिसे भारतीय तर्कशास्त्रियो ने परार्थानुमान का विवेचन करने मे अपनाया था, कुछ और अच्छी तरह समझने की दिशा मे कुछ सकेत करना यहाँ अनुपयुक्त नही होगा। एरिस्टॉटिल के सिद्धान्त की निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं • (१) सामान्यरूप से परार्थानुमान के सम्बन्ध मे एरिस्टॉटिल के विचार, (२) उदाहरण से एक परार्थानुमान का उनका विचार, (३) आगमन का उनका विचार, (४) परार्थानुमान के वास्तविक अवयव (५) इसके वास्तविक रूप, (६) इसकी स्वयसिद्धि और मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान (न्यायवाक्य) का आशय।

(क) एरिस्टॉटिल और बौद्धो द्वारा परिभाषाये

एरिस्टॉटिल के अनुसार न्यायवाक्य (परार्थानुमान) एक ऐसा 'सभाषण है जिसमे कुछ स्थितियो के निर्धारित होने पर इनके निर्धारित होने के अनिवार्य फलस्वरूप इनसे कुछ भिन्न परिणाम निकलता है"[१]। इस परिभाषा का आशय यह है कि न्यायवाक्य मे (कम से कम) तीन तर्कवाक्य होते हैं और इनमे से एक (निगमन) अन्य दो (आधारवाक्यो) का अनिवार्य निष्कर्ष होता है। फिर भी, यह स्पष्ट है कि न्यायवाक्य केवल 'एक सभाषण' मात्र नही है। किसी 'सभाषण' मे अभिव्यक्ति के अतिरिक्त वह वस्तु भी होती है जिसे उस सभाषण मे व्यक्त किया जाता है। एरिस्टॉटिल ने न्यावाक्य के विषय वस्तु को 'dictum de omni et nullo' के रूप मे व्यक्त किया है जिसाक अर्थ यह है कि "जो कुछ भी किसी वर्ग के सम्बन्ध मे कहा या अस्वीकार किया जाता है वही उस वर्ग के किसी अंश के सम्बन्ध मे भी कहा या अस्वीकार किया जाता है।" इस नियम के अनुसार न्यायवाक्य मे सदैव ही किसी सामान्य से विशेश का निगमन निहित होना चाहिये। न्यायवाक्य के विषय-वस्तु, अथवा इसके एक अन्य नाम, 'स्वयसिद्धि' के कथन की एक अन्य विधि भी है। यह Nota notae est nota rei ipsius का, तथा इसी के सहसम्बन्धी repugnans notae repngnat rei ipsi का सिद्धान्त है। इस 'स्वयसिद्धि' के अनुसार न्यायवाक्य मे किसी वस्तु का उसके मध्यवर्ती लक्षण के द्वारा ज्ञान निहित होता है। यह इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान

[१] ग्रोट का अनुवाद, उपु० पृ० १४३।

की अपेक्षा एक परोक्ष ज्ञान को व्यक्त करता है। हम इस बात का पहले ही उल्लेख कर चुके है कि किसी वस्तु के उसके लक्षण के माध्यम से प्राप्त ज्ञान के रूप मे अनुमान की बौद्धो की परिभाषा nota notae के सिद्धान्त के सर्वथा समान है। अत तर्कवाक्यो के एक अनुक्रम मे इसकी अभिव्यक्ति एरिस्टॉटिल के speech (सभाषण) के समान होगी। इस प्रकार, हमे स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के बीच किये गये बौद्धो के विभेद के समान योरोपीय सिद्धान्त मे भी कुछ सामग्री मिलती है। किन्तु दोनो सिद्धान्तो का महान अन्तर भी इसी विषय मे निहित है।

बौद्धो के स्वार्थानुमान मे, वास्तव मे, कोई तर्कवाक्य होते ही नही, कम से कम वैसे तर्कवाक्य जैसे कि एरिस्टॉटिल के न्यायवाक्य मे सदैव उपस्थिति होते हैं। इस रूप मे ज्ञान को कि 'शब्द अनित्य है, क्योकि वह कृतक है, एक घट के समान' एक ही तर्कवाक्य मे व्यवस्थित कर दिया गया है। महत्त्वपूर्ण अश तर्कवाक्य नही बल्कि उसके तीन पद, और दृष्टान्त की भी गणना कर ली जाय तो उसके चार पद होते हैं। इस प्रकार हमे न्यायवाक्य (परार्थानुमान) की दो सर्वथा भिन्न परिभाषायें मिलती हैं। एक कहती है कि यह एक 'सभाषण' है जिसमे अन्तिम तर्कवाक्य अनिवार्यत अन्य दो आधारवाक्यो का परिणाम होता है। दूसरी का कथन है कि यह एक 'सभाषण' है जो' त्रिरूपलिङ्ग, अर्थात् तीन पदो के परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करता है।

इस प्रकार, स्थिति यह है कि न्यायवाक्य की 'स्वयसिद्धि' के समीकरण के विपरीत भी इन दोनो ही सिद्धान्तो के बीच 'सभाषण' को दिये गये आशय के महत्त्व की दृष्टि से अत्यधिक अन्तर है। एरिस्टॉटिल के लिये 'न्यायवाक्य' सर्वप्रथम, तीन तर्कवाक्यो का एक अनुक्रम और द्वितीयत एक Dictum de omni et nullo है, दिङ्नाग के लिये न्यायवक्य (और स्वार्थानुमान) सर्वप्रथम तीन अन्तर्सम्बद्ध पद हैं, और द्वितीयत दो तर्कवाक्यो का ऐसा अनुक्रम जो एक सामान्य नियम तथा उसके प्रयोग को व्यक्त करता है।

(ख) दृष्टान्त से एरिस्टॉटिल का न्यायवाक्य

एक न्यायवाक्य क्या है और वह उस तथ्य से किस प्रकार भिन्न है जिसे वह अनिवार्यत व्यक्त करता है, इस विभेद के अतिरिक्त एरिस्टॉटिल के सिद्धान्त मे एक और विभेद मिलता है जिसे स्वय एरिस्टॉटिल ने भी स्वार्थ के लिये न्यायवाक्य (Pro nobis) तथा स्वयं अपनी प्रकृति मे न्यायवाक्य

(Notius natura) के बीच विभेद कहा है। 'स्वार्थ के लिये' उपाधि बौद्धो के स्वार्थानुमान के साथ कुछ समानता का सकेत करती है। notıora natura और notıora nobıs के बीच अन्तर को एरिस्टॉटिल ने अपने दर्शन के अन्तर्गत एक प्रमुख बात माना है। इसमे से प्रथम प्रत्यक्ष के निकटतर है— अर्थात् यह मनुष्य की बोधशीलता के अन्तर्गत आता है और अनुभव का निर्माण करता है। द्वितीय चरम अथवा पूर्ण ज्ञान के निकट है और विज्ञान का निर्माण करता है।

एरिस्टॉटिल न्यायवाक्य के अनेक प्रकारो की गणना करते हुये इन्हे 'स्वार्थ के लिये ज्ञान' शीर्षक के अन्तर्गत रखते है। इनमे से दृष्टान्त से न्यायवाक्य तथा आगमन से न्यायवाक्य प्रमुख हैं।

एरिस्टॉटिल का दृष्टान्त से न्यायवाक्य भारतीय स्वार्थानुमान के निकटतम है। दृष्टान्त को यहाँ, ठीक भारत की ही भाँति, तीन पदो, अर्थात् साध्यपद, मध्यपद और पक्षपद, के अतिरिक्त एक चतुर्थपद माना गया है।[1] किसी एक विशेष से सामान्य का और सामान्य के द्वारा अन्य विशेष का अनुमान किया जाता है।

दृष्टान्त के अन्तर्गत सभी नही बल्कि केवल एक अथवा कुछ विशेष ही सम्मिलित होते हैं। इनसे, सर्वप्रथम, सम्पूर्ण वर्ग का अनुमान करने के बाद उसी वर्ग के किसी नवीन और समान विशेष का अनुमान किया जाता है। तर्कनात्मक प्रक्रिया दो भागो से निर्मित होती है जिनमे से एक आरोहक तथा दूसरा अवरोहक भाग होता है। ऐसे सामान्य आधारवाक्य से होते हुये जो यदि स्पष्टत व्यक्त नही होता तो भी दृष्टान्त मे सदैव सम्मिलित रहता, अनुमान किसी एक विशेष दशा से अन्य समान दशाओ की ओर अग्रसर होता है। इस दृष्टिकोण से हमे यही स्वीकार करना होगा कि नैयायिको का पञ्चावयवी परार्थानुमान मात्र ही तर्कनात्मक प्रक्रिया की इस द्विविध गति के प्रति पूर्ण न्याय करता है। वास्तव मे इसके प्रथम तीन अवयवो मे चार पद होते हैं। आधारवाक्यो का क्रम विपरिवर्तित होता है। परार्थानुमान अपने उस निगमन से आरम्भ होता है जो उसकी प्रतिज्ञा भी होता है। तदुपरान्त वह पक्षआधारवाक्य का उल्लेख करता है। तृतीय अवयव दृष्टान्त होता है। साध्य आधारवाक्य एक पृथक् आधारवाक्य नही होता। तव हमे परार्थानुमान का यह रूप मिलता है—

१ प्रतिज्ञा शब्द अनित्य है।

---

[1] ग्रोट उपु० पु० १९१।

२. हेतु . क्योंकि वह उत्पन्न होना है ।

३ दृष्टान्त घट की भाँति ।

यह बुद्धि की उस गति को व्यक्त करता है जिसका वह एक विशेष से दूसरे की ओर अग्रसर होते समय वह अनुसरण करती है । साध्य-आधारवाक्य का पूर्ण बोध नही होता किन्तु यह चेतना की गहराइयो मे कही दबा पडा होता है और उस समय प्रकट होता है जब दूसरा चरण अथवा निगमन आरम्भ होता है । तब परार्थानुमान यह रूप प्राप्त कर लेता है --

१ प्रतिज्ञा शब्द अनित्य है,

२ हेतु क्योंकि यह उत्पन्न होता है ।

३ दृष्टान्त जैसे घट जो, भी उत्पन्न होता है वह अनित्य है ।

४ उपनय शब्द भी उत्पत्तिमान है ।

५ निगमन यह (शब्द) अनित्य है ।

यह सर्वथा वही न्यायवाक्य (परार्थानुमान) है जो दृष्टान्त से न्यायवाक्य की स्थापना के समय एरिस्टॉटिल की दृष्टि मे था । वह इसको स्वार्थ के लिये अनुमान (notiora quoad nos) वर्ग के अन्तर्गत रखते हैं । फिर भी नैयायिको के लिये दमित साध्य-आधारवाक्य के साथ इसके केवल प्रथम तीन अवयव ही स्वार्थानुमान को व्यक्त करते हैं । इसके सम्पूर्ण पाँच अवयवो को ये परार्थानुमान अथवा किसी शास्त्रार्थ मे प्रयोग किया जाने वाला एक पूर्ण न्यायवाक्य मानते हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि जे० एस० मिल का वह प्रख्यात सिद्धान्त जो न्यायवाक्य को दमित सर्वग्रिक साध्यआधारवाक्य सहित जो गत अनुभव का परिणाम होता है, विशेषो मे विशेष के अनुमान की एक प्रक्रिया मानता है, अपनी प्रमुख बातो मे नैयायिको के सिद्धान्त के समान है ।

(ग) अनुमान और आगमन

इस बात को कि सामान्य अथवा साध्य-आधारवाक्य की विशेषो से आगमन द्वारा स्थापना होनी चाहिये, बौद्धो ने और एरिस्टॉटिल ने सामान्य रूप से माना है । न्यायवाक्य आगमन की प्रक्रिया की पूर्वकल्पना करता है और उस पर आधारित होता है । एरिस्टॉटिल असन्दिग्ध रूप से यह कहते हैं कि सामान्य आधारवाक्य केवल आगमन मे ही प्राप्त होते हैं ।[१] जिन तथ्य विशेषो का स्मरण करके तुलना की जाती है वे सामान्य धारणाओ और

---

[१] ग्रोट उपु० पृ० १८७

सयोगो[1] सहित अनुभव का निर्माण करते हैं। धर्मकीर्ति कहते हैं कि "सयोग (अथवा साध्यआधारवाक्य) की तदनुरूप (विशेष) तथ्यो से स्थापना की जानी चाहिये।"[2] यदि वास्तव मे स्थिति ऐसी ही है तो विचार की स्वाभाविक आगमनात्मक-निगमनात्मक प्रक्रिया को दो अलग-अलग भागो, आगमन और निगमन, के रूप मे पृथक् करना असम्भव अथवा सर्वथा कृत्रिम प्रतीत होता है। ये दोनो ही एक दूसरे के पूरक हैं और इन्हे केवल अमूर्तकरण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार पृथक् नही किया जा सकता। जैसा कि हम देखेंगे, यही भारतीय दृष्टिकोण का निष्कर्ष है। हम देखेंगे कि आगमन और निगमन के बीच का सम्बन्ध इतना शक्तिशाली है कि निगमन के आकारो अथवा प्रकारो की उसी समय सम्यक् स्थापना की जा सकती है जब आगमन की प्रमुख विधियो को भी ध्यान मे रक्खा जाय। दोनो भागो मे केवल इसी दृष्टि से एक स्वाभाविक प्रतिपक्षता है कि जीवन मे हम कभी-कभी आगमनात्मक प्रक्रिया पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तथा निगमनात्मक को मानो दमित कर देते हैं। इसे स्वार्थानुमान कहते हैं। अथवा हम आगमन की प्रक्रिया के सिद्ध हो चुके होने की पूर्वकल्पना करके दूसरे भाग, निगमन, की प्रक्रिया की ओर अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित कर देते हैं। भारतीय इसे परार्थानुमान कहते हैं और एरिस्टॉटिल वास्तविक 'न्यायवाक्य' (notius natura)। परन्तु एरिस्टॉटिल 'न्यायवाक्य' नाम का आगमन और निगमन दोनो के लिये व्यवहार करते हैं। इनके विवेचन के अन्तर्गत आगमन से न्यायवाक्य एक अत्यन्त विशेष प्रकार का न्यायवाक्य है जिसमे कोई वास्तविक मध्य पद नही होता क्योंकि कल्पित मध्य साध्य के साथ अन्योन्यता रखता है। आधारवाक्यो का क्रम ठीक वैसे ही विवर्तित होता है जैसे उदाहरण से न्यायवाक्य मे। इससे जो निष्कर्ष निकलता है वह प्रथम या साध्य तर्कवाक्य होता है। एरिस्टॉटिल यह भी कहते हैं कि वास्तविक न्यायवाक्य, जो एक मध्य पद द्वारा अपने को व्यक्त करता है notius natura होता है, यह ज्ञान के लिये अधिक प्रभावशाली तथा पूर्ववर्ती होता है। परन्तु आगमन से न्यायवाक्य हमारे लिये अधिक सरल तथा स्पष्टतर होता है।

---

[1] वही पृ० १९३

[2]. 'यथा-स्वम्- प्रमाणै.' न्याविटि० पृ० ४७,१ और वाद। इस सन्दर्भ मे 'प्रमाण' के अर्थ के लिये देखिये न्याविटी० पृ० ६४, १, ८१, १।

जैसी कि एरिस्टॉटिल ने कल्पना की है, आगमन से न्यायवाक्य का निम्नलिखित रूप होना चाहिये —

निष्कर्ष (प्रतिज्ञा) एक मनुष्य और समस्त दिखाई देने वाली मानवता मर्त्य हैं।

पक्ष-आधारवाक्य ये मानवता की समग्रता को व्यक्त करते हैं।

साध्य-आधारवाक्य सभी मनुष्य मर्त्य हैं।

इस प्रकार का न्यायवाक्य न केवल विशेष से सामान्य की ओर आरोहण करने वाली एक प्रक्रिया है वरन् यह किसी वर्ग की दिखाई देने वाली समग्रता से उसकी सर्वथा समग्रता पर असमर्थनीय रूप से कूद पड़ने की प्रक्रिया से भी युक्त है। फिर भी, एरिस्टॉटिल एक पुनरावृत्त और अबाधित आगमन की कल्पना करते हैं जो अपने साथ निश्चितता और अनिवार्यता के अधिकतम का वहन करता है।[1] सामान्य (notius natura) इस प्रकार मन मे ऐसे विशेषो से आगमन की एक प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होता है जो notiora nobis होते हैं।

यह सत्य है कि दिङ्नाग और एरिस्टॉटिल दोनो ही तर्कना के आगमनात्मक भाग को मान्यता मात्र प्रदान करते हैं, जब कि दोनो ही निगमनात्मक भाग तथा उसका नियन्त्रण करने वाले अभिनियमो का विश्लेषण करते समय विस्तृत सतर्कता का परिचय देते हैं।

कुछ आलोचको ने एरिस्टॉटिल की उनके द्वारा आगमन को एक विशेष प्रकार के न्यायवाक्यो मे परिणत कर देने की विधि की, तथा इस प्रकार, तर्कना की आरोहक और अवरोहक प्रक्रियाओ के बीच के महान अन्तर को मिटा देने की क्रिया की आलोचना की है। ऐसे आलोचको के लिये दोनो प्रक्रियाओ के बीच का मौलिक अन्तर न्यायवाक्य मे निहित निषेधक शक्ति अथवा अनिवार्यता मे, एक ऐसी अनिवार्यता मे स्थित है जिसे आगमन कभी भी प्राप्त नही कर सकता।[2] इनके अनुसार प्रत्येक आगमन मे एक प्रकार का कूदना, असमर्थनीय और किसी विशेष दशा से सामान्य स्थापना की ओर एक असमर्थनीय, एक सशयात्मक कूदना निहित होता है। किन्तु न्यायवाक्यीय निगमन मे कोई असमर्थनीय कूदना नही बल्कि एक विशुद्ध अनिवार्यता होती है। विशेषो की समग्रता और वर्ग-पद के अर्थ के बीच के अन्तर का इन आलोचको के अनुसार एरिस्टॉटिल ने आगमन और न्यायवाक्य के बीच

---

[1] वही पृ० १९२ और बाद।

[2] वही पृ० १९७।

मौलिक विभेद के अस्पष्टोच्चारण के लिये गलत रूप से व्यवहार किया है। एरिस्टॉटिल का यह कथन है "तुम्हे आगमनात्मक न्यायवाक्य मे पक्ष-पद की समस्त विशेषो से निर्मित होने के रूप मे कल्पना करनी चाहिये, क्योकि इन सबसे होकर ही आगमन होता है।"[१] उक्त आलोचको के अनुसार विशेषो से वर्ग पर असमर्थनीय रूप से कूदने का आगमन मे बिना उसे भ्रष्ट किये भी ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु न्यायवाक्य मे इसके ग्रहण को अवश्य अस्वीकार करना चाहिये, क्योकि यह इस विधि की मर्यादा को पतित कर देगा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस तथा अनेक अन्य समस्याओ पर भारतीय दृष्टिकोण पर विचार उचित होगा। कठिनाई स्वय ज्ञान मे ही निहित है। इसका सम्पूर्ण तर्कनात्मक प्रक्रिया को दो भागो मे बाँटकर और इसे केवल एक भाग को समर्पित करके दूसरे ऐसे भाग की प्राप्ति द्वारा अस्पष्टोच्चारण नही किया जा सकता जो प्रथम भाग के दोष से सर्वथा मुक्त हो। निश्चयों की सामान्यता और अनिवार्यता समस्त तर्कशास्त्र का अन्तर्भाग है, इसकी एक न एक प्रकार से व्याख्या की ही जानी चाहिये। जब तक इसकी व्याख्या नही होती, तब तक न तो आगमन और न न्यायवाक्य ही निर्दोष प्रतीत होगे। इनमे, जैसा कि हिन्दुओ का कथन है, एक आन्तरिक व्याधि, एक 'कैन्सर' निहित रहेगा। बौद्धो के समाधान की हम 'अनुमान' के अध्याय मे व्याख्या कर चुके हैं और आगे भी एक बार फिर इस पर विचार किया जायेगा।

(घ) बौद्धों के परार्थानुमान (न्यायवाक्य) मे दो तर्कवाक्य होते हैं

एरिस्टॉटिल की परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि न्यायवाक्य मे तीन तर्कवाक्य होने चाहियें, जिनमे से दो निष्कर्ष के प्रति एक समान कार्य करते हैं और 'आधारवाक्य' होने की समान विशेषता के द्वारा संयुक्त होते हैं। बौद्धो की परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि परार्थानुमान मे केवल दो ही आवश्यक तर्कवाक्य होने चाहियें जिनमे से एक तो हेतु तथा उसके फल के बीच निरपवाद व्याप्ति के सामान्य नियम को व्यक्त करता है तथा दूसरा किसी दिये गये उदाहरण के प्रति इस नियम के प्रयोग को। वास्तव मे पक्ष-आधारवाक्य और निष्कर्ष उससे कही अधिक सकीर्ण है जितना कि दो तथाकथित आधारवाक्य। लॉट्ज़ और सिग्वर्ट का यह कहना

---

[१] वही पृ० २६०।

उचित है कि "पक्ष-आधारवाक्य निष्कर्ष की पूर्वकल्पना करता है।"[1] पक्ष-आधारवाक्य निष्कर्ष सहित पक्ष-धर्मता का निर्माण करता है। यह देखना सरल है कि परार्थानुमान के दो अनिवार्य अवयव आगमन और निगमन के अतिरिक्त और कुछ भी व्यक्त नही करते। वह वास्तविक प्रमाण जिससे किसी परार्थानुमान के निष्कर्ष को सिद्ध किया जाता है, साध्य-आधारवाक्य के साथ नही बल्कि उन विशेष तथ्यो के सग्रह के साथ पक्ष-आधारवाक्य ही होता है जिनसे साध्य,आधारवाक्य का आगमन गृहीत होता है।[2] उदाहरण और उपनय, जैसा कि ऊपर[3] कहा जा चुका है, बौद्ध परार्थानुमान के दो अवयव हैं।

(ङ) प्रतिपरिवर्तन (व्यतिरेक)

भारतीय सिद्धान्त तर्कवाक्यो मे उद्देश्य तथा विधेय के परिवर्तन तथा प्रतिवर्तन का केवल अनुमान और परार्थानुमान के सन्दर्भ मे ही विवेचन करता है। व्यवहृत तर्कवाक्य मे, जो पक्ष-आधारवाक्य और निष्कर्ष का एक सम्मिश्रण होता है, उद्देश्य का एक निश्चित स्थान होता है जिसे परिवर्तित नही किया जा सकता। आधार तर्कवाक्य इस तथ्य को व्यक्त करता है कि हेतु अथवा मध्यपद केवल समानो मे ही उपस्थित तथा असमानो मे सदैव अनुपस्थित होता है। ये साध्य-आधारवाक्य के दो नियम है जो परस्पर एक मे निहित होते हैं, क्योकि यदि हेतु केवल समानो मे ही उपस्थित है तो वह तथ्यत असमानो मे सदैव ही अनुपस्थित होगा। परन्तु विधेय पर हेतु के अनिवार्य आश्रयत्व को व्यक्त करने के लिये दोनो का या तो स्पष्ट अथवा अभिप्रेत रूप से उल्लेख किया जाना चाहिये। केवल समानो मे हेतु की उपस्थिति अन्वय है। इसकी असमानो मे सदैव अनुपस्थिति व्यतिरेक है।

उपनयय की साधर्म्य के आगमनात्मक विधि द्वारा स्थापना होती है। व्यतिरेक की इसी उपनिगमन, वैधर्म्य के नियम, द्वारा स्थापना होती है। दोनो एक ही और उसी तथ्य को व्यक्त करते हैं। ये एक ही विचार को व्यक्त करने की दो विधियाँ हैं। व्यतिरेक की वैधता और इसके तार्किक महत्व को

---

[1] लॉत्स लॉजिक, पृ० १२२, सिग्वर्ट उपु० १ ४७८ मार्क्टिज़ उस समय तक मनुष्य नही हो सकता, जैसा कि पक्ष-आधारवाक्य मे कहा गया है जब तक हमे पहले से ही यह विश्वास न हो कि वह मर्त्य है।"

[2] ग्रोट उपु० पृ० १९९।

[3] तुकी० ऊपर पृ० २७९।

समझना सरल है। यह स्पष्ट है कि यदि मध्यपद साध्य पर अनिवार्यत आश्रित है तो वह साध्य मे सम्मिलित होगा। अत इसके निषेध की परिधि बिल्कुल उसी अनुपात मे साध्य के निषेध की परिधि से बडी होगी जिसमे साध्य मध्य की परिधि से बडा है। वृत्तो के माध्यम से इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है --
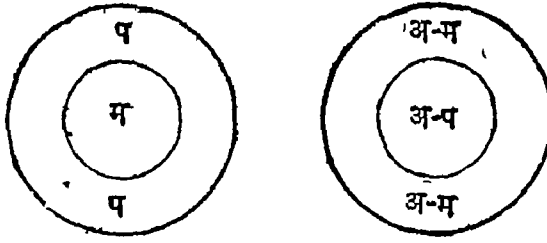
उदाहरण के लिये . "जो कुछ भी कृतक (म) है वह अ-नित्य (प) है," और "जो कुछ भी नित्य (अ-प) है वह कृतक नही (अ-म) हैं", अथवा "जहाँ-जहाँ धूम (म) है वहाँ-वहाँ अग्नि (प) है,' और "बिना अग्नि (अ-प) के धूम नही (अ-म) होता।" 'म' की सम्पूर्ण परिधि 'प' की परिधि मे सम्मिलित है। अ-प बृहत् वृत्त के बाहर रहता है। और यत अ-प बाहर है, अत अ-म और भी अधिक बाहर है। इस प्रकार अ-प का वृत्त सम्पूर्ण अ-म द्वारा आवृत्त है।

यह कि सामान्य अनुपलब्धि परिवर्तित हो सकती है, समानरूप से स्पष्ट है। यदि उद्देश्य और विधेय मे कोई भी सम्बन्ध न हो तो यह असम्बन्धत्व पारस्परिक होग।

परन्तु सामान्य विधि को परिवर्तित नही किया जा सकता। यह एक पद के दूसरे पर अनिवार्य आश्रयत्व को व्यक्त करता है। इस सम्बन्ध को उल्टा नही जा सकता। निष्कर्ष के उद्देश्य की ही भाँति उद्देश्य की उत्पत्ति एक निश्चित स्थिति होती है। अनेक तर्काभासो का कारण इसी नियम की उपेक्षा है। उदाहरण के लिये, यदि यह तर्कवाक्य हो कि "जो कुछ भी कृतक है वह अनित्य है", और हम इसे मात्र परिवर्तित तो हमे यह तर्कवाक्य मिलेगा कि "जो अ-नित्य है वह कृतक है"। यह सन्दिग्ध हेत्वभास होगा क्योकि 'अनित्य' हेतु समान रूप से घटादि सपक्षो मे तथा विद्युतादि असपक्षो मे उपस्थित होगा।

परिवर्तन की समस्या पर एरिस्टॉटिल का विवेचन औपचारिक और व्याकरणिक है। वह उद्देश्य और विधेय के पारस्परिक स्थानो को परिवर्तित करने का प्रयास करते है। तदन्तर वह यह देखते हैं कि कुछ दशाओ मे तो वही प्रक्रिया सम्भव है, जब कि बहुत कुछ अबोधगम्य रूप से अन्य दशाओ मे असम्भव।

योरोपीय तर्कशास्त्रियो मे सिग्वर्ट ऐसा विचार रखते हैं जिसकी भारतीय दृष्टिकोण के साथ समानता है। आप इस बात का आग्रह करते हैं कि एक विधेय होने की स्थिति को "उस पर छोड देना चाहिये जो वास्तव मे विधेय है।"[1] आप कहते है कि "प्रतिपरिवर्तन (व्यतिरेक) का सम्पूर्ण अर्थ उस समय बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है जब हम सम्बन्ध को एक हेत्वाश्रित तर्कवाक्य के रूप मे रखते हैं, और यह मानने की अपेक्षा कि 'सब क' 'ख' है" यह व्यक्त करते है कि "यदि कुछ 'क' है तो वह 'ख' भी है।" इससे यह परिणाम निकलता है कि 'यदि कुछ 'ख' नही है तो वह 'क' भी नही होगा।" "एक श्रेष्ठ आशय तथा (तर्कशास्त्रीय दृष्टि से) मूल्यवान् आशय केवल इन्ही दो दशाओ से अर्थात् (अनुपलब्धि के) विशुद्ध परिवर्तन और प्रतिवर्तन से युक्त होता है। ये सभी ओर से इस स्थापना के अर्थ को व्यक्त करते हैं कि कोई विधेय अनिवार्यत अपने उद्देश्य मे निहित होता है अथवा नही होता। अन्य सभी स्थितियाँ, जो केवल विशेष तर्कवाक्यो मे ही परिणत होती हैं, यह दिखाती हैं कि कोई निश्चित निष्कर्ष सम्भव नही है।"

यही कारण है कि भारतीय सिद्धान्त तर्कशास्त्र के क्षेत्र से विशेष तर्कवाक्यो को सर्वथा वर्जित करता है। तर्कशास्त्र सामान्य और अनिवार्य तर्कवाक्यो का क्षेत्र है।

(च) आकार

एरिस्टॉटिल का तर्कशास्त्र निरपेक्ष और हेत्वाश्रिक न्यायवाक्य मे विभेद करते हुये निरपेक्ष को चार आकारो और १९ योगो मे विभक्त करता है। निरपेक्ष और हेत्वाश्रित के विभाजन पर, इस समस्या पर कि यह विभाजन किस सीमा तक मात्र व्याकरणिक रूप को प्रभावित करता है, अथवा अनुमान के सार से सम्बद्ध है, कुछ टिप्पणी बाद मे की जायगी। किन्तु चार आकारो और १९ योगो मे विभाजन, परिवर्तन के सिद्धान्त की ही भाँति, दोनो ही

---

[1] उपु० १ ४५१।

आधारवाक्यो मे मध्य पद की स्थिति के व्याकरणिक सिद्धान्त पर आधारित हैं। व्याकरणिक दृष्टि से मध्य पद बृहत् मे उद्देश्य और लघु मे विधेय हो सकता है, अथवा इसके विपरीत, लघु मे उद्देश्य और बृहत् मे विधेय, अथवा दोनो मे उद्देश्य, अथवा दोनो मे विधेय हो सकता है। इसके अतिरिक्त आधारवाक्यो मे से एक या तो विशेष हो सकत है अथवा निषेधात्मक। आधारवाक्यो मे से एक के या तो विशेष अथवा निषेधात्मक होने की सम्भावना के साथ मध्य पद की चार मे से प्रत्येक स्थितियो को सयुक्त करने पर १९ वैध योगो की प्रणाली उपलब्ध होती है। इनमे से केवल एक, प्रथम आकार के प्रथम योग (Barbara) को ही एरिस्टॉटिल 'अन्तिम' या 'सत्य मानते हैं। अन्य सब को आकृत्यतरण की एक जटिल प्रक्रिया द्वारा इसमे परिवर्तित किया जा सकता है।

उस समस्त जटिल सिद्धान्त का, जो मध्यकालीन तथा आधुनिक और आकारपरक तर्कशास्त्र के प्राय. सम्पूर्ण प्रासाद का निर्माण करता है, भारतीय क्षेत्र मे सकेत भी नही मिलता। विशेष निष्कर्ष, सर्वप्रथम, भारत मे तर्कशास्त्र के क्षेत्र मे सर्वथा वर्जित है। किसी विशेष निष्कर्ष का अर्थ यह है कि हेतु उद्देश्य की सम्पूर्ण परिधि मे उपस्थित नही है। यह अभिनियम के प्रथम नियम का उल्लङ्घन है और तर्काभास उत्पन्न करता है। निषेधात्मक निष्कर्षों को बौद्धो ने एक विशेष वर्ग के अन्तर्गत रखते हुये इन्हे सामान्य वैधिक निष्कर्षों से सर्वथा पृथक् किया हैं। तीसरे और चौथे न्यायवाक्यीय आकार, इस प्रकार न्यायवाक्य के क्षेत्र से वर्जित हैं। अत इनके आकृत्यतरण और वैधीकरण के जटिल नियम सर्वथा निरर्थक हो जाते हैं। और मध्यपद को बृहत्-आधारवाक्य के विधेय मे तथा लघु के उद्देश्य मे परिवर्तित करने के व्याकरणिक सिद्धान्तो का भी तर्कशास्त्र मे उपयुक्त समावेश नही किया जा सकता। अनुमान के तीन पदो मे से एक (लघु) उद्देश्य होता है, और यही वास्तविक उद्देश्य, तार्किक उद्देश्य है। इसे एक अस्तव्यस्त और विपरीत अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार विधेय के रूप मे परिवर्तित नही किया जा सकता। लघु आधारवाक्य के उद्देश्य और निष्कर्ष के उद्देश्य दोनो एक ही वस्तु हैं और इन्हे किसी भी शुद्ध अभिव्यक्ति मे एक ही स्थान ग्रहण करना चाहिये; यह उपनित वाक्य का उद्देश्य होता हैं। आधारवाक्य अथवा बृहत् तर्कवाक्य का उद्‌देश्य अनिवार्यत मध्यपद है। क्योकि यह तर्कवाक्य मध्य के बृहत् पर अनिवार्य आश्रयत्व को व्यक्त करता है, तथा इस तथ्य को भाषाशास्त्रीय दृष्टि से इसे बृहत् के आवच्छेदन

के अन्तर्गत लाकर व्यक्त किया गया है। सिग्वर्ट[1] कहते है कि "विधेय को वही रहने दो जो विधेय है। इसके स्थान मे प्रत्येक परिवर्तन निरर्थक और व्यर्थ है। इस प्रकार हमारे पास प्रथम आकार के योगो मे से एक योग (Barbara) और द्वितीय आकार के योगो म से एक योग (Cesare) ही बच रहते है जिनमे से यह अन्तिम प्रथम के प्रतिपरिवर्तन के समान है। हम इस बात की पहले ही व्याख्या कर चुके है कि किसी प्रतिपरिवर्तन में मध्य अपने स्थान का वृहत् के साथ परिवर्तन कर सकता है क्योकि ये दोनो ही रूप एक ही और उसी तथ्य को व्यक्त करने की दो भिन्न किन्तु तुल्यार्थक विधियाँ हैं। यह द्विविध अभिव्यक्ति उद्देश्य और विधेय के स्थानो के स्वच्छन्द परिवर्तन का परिणाम नही हैं, बल्कि ये ज्ञान की दो सामान्य पद्धतियो, आगमनात्मक और निगमनात्मक को व्यक्त करती है।

बौद्ध सिद्धान्त परार्थानुमान और स्वार्थानुमान को इनके विषयवस्तु के अनुसार तीन प्रकारो मे विभक्त करता है। ये विभागात्मक, हेत्वात्मक (एकीकरणात्मक) और निषेधात्मक निगमन हैं। आकारात्मक दृष्टि से इनमे से प्रत्येक को या तो साधर्म्य की विधि के अथवा वैधर्म्य की विधि के अनुसार व्यक्त किया जा सकता है। इनमे से प्रथम मिश्रित हेत्वाश्रित न्यायवाक्य का विधायक रूप होगा और द्वितीय विघातक रूप।

दिङ्नाग के अनुसार परार्थानुमान मे केवल यही दो और केवल दो आकार होते हैं जो वृहत् के अन्वय के रूप से, अथवा व्यतिरेक के रूप मे व्यक्त होने के रूप से व्यक्त होते हैं। दोनो ही रूप सदैव सम्भव होते है। दोनो ही एक दूसरे के पूरक होते हैं। दोनो ही एक ही वस्तु को व्यक्त करते है और जब एक व्यक्त होता है तो दूसरा व्यक्त न होने पर भी अभिप्रेत होता है। ये न्यायवाक्यीय अभिनियम के दूसरे और तीसरे नियम अर्थात् केवल सपक्षो मे हेतु की उपस्थिति और असपक्षो में इसकी सदैव अनुपस्थिति के अनुरूप हैं।

---

[1] सिग्वर्ट उपु० १ ४५१। दूसरे आकार के प्रथम योग (Camestres) मे मध्यपद को वृहत् आधारवाक्य का विधेय माना जाता है। किन्तु ऐसा मध्य जो वृहत् आधारवाक्य मे विधेय है, Contradictio in adjecto होता है। यह आधारवाक्यो के अन्तर्विनिमय द्वारा ही सम्भव है। वेन (उपु० पृ० १४०) का यह कथन है· "यहाँ (Camestres) मे मानक निषेधात्मक (Celarent) से कही अधिक विचलन दिखाई पडता है। आधारवाक्य, जिसे सामान्य होना चाहिये, लघु आधारवाक्य है इस प्रकार आधारवाक्यो के सामान्यक्रम मे विपरिवर्तन हो जाता है।

धर्मोत्तर[1] का यह कथन है "अर्थ ही परार्थानुमान का उद्देश्य, वह वास्तविक तथ्य है जिसे उसे व्यक्त करना चाहिये। यह वह तथ्य है जिससे दोनो प्रकार के परार्थानुमान (साधर्म्य के और वैधर्म्य के) निकृष्ट होते हैं। जिस तत्य की स्थापना करना इनका उद्देश्य होता है उसमे किसी प्रकार का अन्तर नही होता। वास्तव में, उद्देश्य एक तार्किक सम्बन्ध को व्यक्त करना होता हैं। ......यद्यपि ये दो भिन्न विधियो को व्यक्त करते हैं, तथापि ये एक ही तार्किक सम्बन्ध के उसी तथ्य को व्यक्त करते है।......अभिव्यक्तियो मे वही तक अन्तर होता है जहाँ तक प्रत्यक्ष अर्थ का सम्बन्ध है, किन्तु उस उद्देश्य की दृष्टि से जिसके लिये इनका प्रयोग होता है, कोई अन्तर नही होता। वास्तव मे, जब साक्षात् और वैधिक व्याप्ति को वृहत् आधारवाक्य मे व्यक्त कर दिया जाता है तब उसका प्रतिपरिवर्तन भी अभिप्रेत होता है ..और इसी प्रकार जब प्रतिपरिवर्तित व्याप्ति को व्यक्त कर दिया जाता है तो उसका वैधिक रूप भी अभिप्रेत होता है।"

अब, यदि न्यायवाक्य के क्षेत्र को योरोपीय आकारपरक तर्कशास्त्र मे १९ योगो मे और भारतीय प्रणाली मे केवल दो योगो मे विभक्त किया गया है, तब ये प्रश्न स्वभावत उठते हैं १) १९ योरोपीय योगो और भारतीय योगो के बीच यदि है तो क्या सादृश्य है ? २) इन दोनो विभाजनो का तुलनात्मक तर्कशास्त्रीय महत्त्व क्या है ? जैसा कि पहले कहा जा चुका है, योरोपीय न्यायवाक्य तीसरे और चौथे आकारो पर इस सन्दर्भ मे विचार करना आवश्यक नही क्योंकि इनसे केवल विशेष निष्कर्ष ही उपलब्ध होते हैं जो स्वय अपने मे आकृत्यतरण की तार्किक दृष्टि से मूल्यहीन हैं। इसी कारण से पहले और दूसरे आकार के तीसरे और चौथे योगो को भी छोड देना चाहिये क्योंकि ये भी केवल विशेष निष्कर्ष ही प्रदान करते हैं। दूसरे आकार का प्रथम योग एक विपर्यस्त अभिव्यक्ति को व्यक्त करता है जिसमे एक वास्तविक तर्काभास प्रच्छन्न है।[2] दूसरे आकार के योगो मे से दूसरा योग (Cesare) बच रहता है जो पहले आकार के पहले योग (Barbara) का प्रतिपरिवर्तन है और इसलिये दिङ्नाग के वैधकि अथवा साक्षात् आकार के अनुरूप है। जहाँ तक पहले आकार के दूसरे योग (Celarent) का प्रश्न है, इसकी निषेधात्मकता भाषात्मक के अतिरिक्त और कुछ नही। हम देखेंगे

---

[1] न्याबिटी० पृ० ४३ २ और बाद, अनुवाद पृ० ११५।

[2] क्योंकि मध्य बृहत्-आधारवाक्य का विधेय नही हो सकता।

कि सभी वास्तविक निषेधात्मक निष्कर्ष इस प्रकार उदाहरण मे आकृत्यतरित हो सकते हैं कि "यहाँ कोई घर नही है क्योकि हमे किसी का प्रत्यक्ष नही हो रहा है।" किन्तु यत सभी नाम, जैसा कि बाद मे दिखाया जायगा, विधायक और निषेधात्मक नाम होते हैं, अत किसी भी विधायक निष्कर्ष को एक प्रकार से निषेधात्मक निश्चय में प्रच्छन्न करना सदैव सम्भव है। उदाहरण के लिये हम यह कह सकते हैं—

सभी मनुष्य चिरकाल तक नही रहते,
सॉक्रेटीज एक मनुष्य है,
वह चिरकाल तक नही रह सकता।

यह निष्कर्ष इस निष्कर्ष से कि "साक्रेटीज मर्त्य है', केवल भाषात्मक दृष्टि से ही भिन्न है। अथवा इस भारतीय प्रकार-उदाहरण को लीजिये—

सभी कृतक वस्तुयें नित्य नही हैं।
शब्द कृतक हैं।
ये नित्य नही हैं।

इस भाषात्मक अन्तर को एक पृथक् योग के रूप मे निर्मित करने का कोई तात्पर्य नही है। यत प्रत्येक निश्चय और प्रत्येक नाम को दोनो ही रूपो मे, अर्थात् विधायक रूप मे और निषेधात्मक रूप मे, व्यक्त किया जा सकता है, अत निषेधात्मक की वास्तविक प्रकृति पर कभी भी विचार किये बिना ही सभी आकारो तथा योगो को द्विगुणित करने की अपेक्षा निषेधात्मक को, जैसा कि भारतीयो ने किया है, अपने विचार की एक ऐसी विशिष्टता के रूप मे ग्रहण करना अधिक सुविधाजनक है जो सर्वत्र प्रगट हो सकती है।

सामान्य तथा विशेष निष्कर्ष वाले योगों के बीच विभेद करने के प्रति भी यही आलोचना की जा सकती है, क्योकि द्वितीय प्रथम मे सम्मिलित है। इस विषय पर धर्मोत्तर[१] अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते है —"किसी अनुमान का उद्देश्य साक्षात् दृश्य तथा अदृश्य भागो का समुदाय होता है। उदाहरण के लिये, जब इस बात का निगमन किया जा रहा है कि शब्द क्षणिक सत्ताओ को व्यक्त करता है तो उस समय किसी शब्द विशेष का ही साक्षात् निर्देश किया जा सकता है जब कि अन्य शब्दो का वास्तविक प्रत्यक्ष नही होता।" दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त प्रकार उदाहरण मे "शब्द पद का अर्थ "सभी शब्द", "कुछ शब्द" और "एक शब्द" है। किन्तु किसी वर्गीकरण मे इन तीनो सम्भावनाओ को तीन भिन्न वर्गो के

---

[१] न्यायबिंदुटी० पृ० ३१.२१, अनुवाद पृ० ८९।

मे रूप रखने का कोई तात्पर्य नही है, क्योंकि इनका अन्तर अमहत्त्वपूर्ण तथा इनका विभेद एक व्यर्थ की सूक्ष्मता है।

अत स्थिति यह है कि दिङ्नाग के दो योग एरिस्टॉटिल के न्यायवाक्य के प्रथम आकार के प्रथम योग (Barbara) और द्वितीय आकार के द्वितीय योग (Cesare) के अनुरूप हैं।

अब हम इस वक्तव्य के कि न्यायवाक्य (परार्थानुमान) के केवल दो ही आकार होते हैं, तथा उस सिद्धान्त के जो इन दो वास्तविक आकारो को १९ योगो की एक कृत्रिम प्रणाली मे प्रच्छन्न करता है, तुलनात्मक महत्त्व पर विचार करेंगे।

कुछ लेखको ने माना है कि दिङ्नाग की तालिका की अपेक्षाकृत अधिक सरलता हीनता का एक चिह्न है। दूसरी ओर अन्य लोगो ने जटिल की अपेक्षा इस सरल सिद्धान्त को ही अधिक उपयुक्त माना है। सिग्वर्ट[1] का यह कथन है "यदि हम उस नियम को, जिसके अनुसार (प्रथम आकार मे) निगमन किया जाता है, उसके समकक्ष सूत्र पर घटा दें तो हमे यह उपलब्ध होगा यदि कोई वस्तु 'म' है तो वह 'प' है। इसके बाद यदि हम यह मान लें कि 'स' 'म' है, तो परिणाम यह होगा कि 'स' 'प' है।"

आप आगे यह कहते हैं "इसी नियम को द्वितीय आकार मे भी अन्तर्निहित होना चाहिये क्योंकि विकल्पो के सरल सम्बन्ध से और कोई परिणाम नही निकल सकता। किन्तु यह हम (अनिवार्य) अनुवर्ती की अनुपस्थिति से उसके (अनिवार्य) पूववर्ती की अनुपस्थिति का निष्कर्ष निकालते है।" यही सिग्वर्ट आगे यह कहते हैं [2] "इसलिये एरिस्टॉटिल के प्रथम दो आकार उसके सर्वथा अनुरूप हैं जो हम एक पहले के खण्ड मे कह चुके हैं," अर्थात् इसके कि न्यायवाक्य के वास्तविक योग केवल दो ही, विधायक तथा विघातक, होते हैं।[3] प्रथम और द्वितीय आकारो के बीच के सम्बन्ध तथा अन्तर को इस सरल तथ्य के आधार पर निश्चित किया जा सकता है कि प्रथम मे हम पूर्ववर्ती आधार की वैधता से उसके अनिवार्य परिणाम (विधायक अथवा निषेधात्मक) की वैधता को निष्कर्ष निकालते हैं जब कि द्वितीय आकार मे हम अनिवार्य परिणाम की अनुपस्थिति मे उसके

---

[1] उपु० १ ४८५।

[2] उपु० १ ४६६।

[3] उपु० १ ४६५।

अनिवार्य पूर्ववर्ती आधार की अनुपस्थिति का निष्कर्ष निकालते हैं।" ये दो आकार मिश्रित हेत्वाश्रित न्यायवाक्य के विधायक और विघातक रूपों के अनुरूप हैं।

जे० एन० कीन्स[1] ने भी इसे स्वीकार किया है। मिश्रित हेत्वाश्रित न्यायवाक्य के दो योगो के सम्बन्ध मे एक वक्तव्य दे चुकने के बाद आप यह टिप्पणी करते हैं "ये योग क्रमश निरपेक्ष न्यायवाक्य के प्रथम और द्वितीय आकारो के समकक्ष हैं। क्योकि हम देख चुके हैं कि आकार १ मे हम आधार से परिणाम पर आते हैं, और आकार २ मे परिणाम की अस्वीकृति से आधार की अस्वीकृति पर।"

काण्ट[2] के अनुसार द्वितीय आकार का नियम यह है कि "जो कुछ भी किसी वस्तु के लिङ्ग का व्याघात करता है वह स्वय उस वस्तु का भी करता है," अर्थात् repugnans notae repugnat rei ipsi। तदन्तर आप यह दिखाते हैं कि द्वितीय आकार प्रतिपरिवर्तन द्वारा सदैव ही प्रथम मे परिवर्त्य है। यह, पुन, बौद्ध सिद्धान्त के अनुरूप है जिसके अनुसार परार्थानुमान के दो आकार साध्य-आधारवाक्य और उसके प्रतिपरिवर्तन के अतिरिक्त, अथवा उन दो नियमो के अतिरिक्त और कुछ नही जिनके अनुसार हेतु की समानो मे उपस्थिति और सभी असमानो में अनुपस्थिति होती है।

यदि हम आकारो और योगो की एरिस्टॉटिल की प्रणाली की आलोचना का सक्षिप्तीकरण करें तो हम देखेंगे कि १) आधारवाक्यो मे उद्देश्य तथा विधेय के स्वाभाविक स्थानो का परिवर्तन सम्बन्धी एरिस्टॉटिल का विचार सर्वथा उचित नही था, २) इसमे विघातकता अथवा प्रतिवर्तन के अतिरिक्त अन्य निषेधात्मक योगो का समावेश असुविधाजनक था, और ३) विशेष निष्कर्षो का समावेश निरर्थक था जो उसी सीमा तक वैध हो सकते थे जिस तक उनका प्रथम आकार मे आकृत्यन्तरण किया जा सकता था। काण्ट[3] कहते हैं कि "इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि सभी चार आकारो मे वैध निष्कर्ष सम्भव हैं। परन्तु तर्कशास्त्र का अभीष्ट जटिलता मे लिप्त होना नही बल्कि उससे निर्लिप्त होना, प्रत्येक वस्तु की खुले सरल रूप मे न कि प्रच्छन्न और विपर्यस्तरूप मे व्याख्या करना है।"

---

[1] फॉर्मल लॉजिक, पृ० ३५२।

[2] अपने लघु प्रबन्ध "Von der falschen Spitzfindigkeit der vier syllogistischen Figuren,, मे।

[3] वही।

"(एरिस्टॉटिल के आकारो की) मिथ्य सूक्ष्मता के प्रति प्रथम प्रवर्तन की खोज सरल है। उस व्यक्ति ने जिसने तीन तर्कवाक्यो मे एक दूसरे के ऊपर तीन पक्तियो मे एक न्यायवाक्य को सर्वप्रथम लिखा था उसने इसे शतरज का तख्ता माना और मध्यपद की स्थितियो मे परिवर्तन करके उसके परिणामो को देखने का प्रयास किया। जब उसने देखा कि इससे वैध निष्कर्ष उपलब्ध हुआ तब उसे उतना ही आश्चर्य हुआ जितना किसी नाम मे वर्णविपर्यास देखने पर होता है। किन्तु एक पर हर्षित होना भी उतना ही बालसुलभ था जितना दूसरे पर।"[1] अत काण्ट एरिस्टॉटिल के सिद्धान्त को 'मिथ्या सूक्ष्मता' कहते हैं। सिग्वर्ट भी उस समय इसी मत से सहमत हैं जब वह इसे 'निरर्थक, निरूपण' कहते हैं। योरोपीयशास्त्र के इन दो नेताओ द्वारा स्थापित दो आकार सर्वथा वही हैं जिनकी दिङ्नाग ने स्थापना की है। 'मिथ्या सूक्ष्मता' और 'निरर्थक निरूपण' भारत मे भी तथा एरिस्टॉटिल से कही अधिक मात्रा मे मिलते हैं। हम देखेंगे कि असमानो और समानो मे हेतु की नौ स्थितियो के दिङ्नाग के परिकलन को और अधिक विस्तृत करने की इच्छा से उद्योतकर ने निरर्थक और असगत निरूपण तथा मिथ्या सूक्ष्मता की विधि का ही अनुसरण किया है। ऐसा करके उन्होंने गलत-सही सब मिलाकर मध्यपद की कुल सख्या को सरलतापूर्वक २०३२ तक पहुँचा दिया है।

(छ) निरपेक्ष और हेत्वाश्रित न्यायवाक्य (परार्थानुमान)

धर्मकीर्ति के अनुसार हमारे तर्क दो महान् सिद्धान्तो, तदात्म्य के सिद्धान्त और तदुत्पत्ति के सिद्धान्त पर आधारित हैं। हम निषेधात्मक तर्कों को छोड कर केवल विधायक तर्कों की कुछ विशेष प्रयोजनो के लिये ही चर्चा करते हैं। हम देख चुके हैं कि तादात्म्य दो विकल्पो का तार्किक तादात्म्य नही है। वह तादात्म्य जो धर्मकीर्ति की दृष्टि मे है, उस सत् का तादात्म्य है जो दो भिन्न विकल्पो मे अन्तर्निहित होता है। ये विकल्प अपनी विषयता के तादात्म्य द्वारा एकीकृत होते हैं। कोई विकल्प शुद्ध कल्पना द्वारा रचित कल्पितार्थ नही बल्कि केवल उस सीमा तक यथार्थ ज्ञान होता है जहाँ तक वह विषयात्मक सन्दर्भ से युक्त होता है। धर्मकीर्ति के सिद्धान्त को इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है दो विकल्पो के सभी तार्किक सम्बन्ध या तो अपने एक ही और उसी विषयात्मक सन्दर्भ के तादात्म्य पर अथवा अपने दो भिन्न सन्दर्भो के अन्योन्याश्रयत्व पर आधारित होते हैं।

दो अन्योन्याश्रित विकल्पो का विषयात्मक सन्दर्भ या तो एक ही हो सकता है, और यदि एक ही नही है तो उसे दो भिन्न किन्तु अनिवार्यत.

अन्योन्याश्रित वस्तुयें ही होना चाहिये। यह निश्चय कि "शिशपा एक वृक्ष है" अथवा यह अनुमान कि "यह एक वृक्ष है क्योकि यह एक शिशपा है" तीन पदो से युक्त है जिनमे मे एक ऐसा सत् है जो अन्य दोनो मे अन्तर्निहित है। दोनो विकल्पो मे एक प्रकार का तादात्म्य भी है, एक परोक्ष तादात्म्य, अथवा जैसा कुछ योरोपीय तर्कशास्त्रियो ने इसे कहना उचित समझा है, एक "आशिक तादात्म्य"[1] है जो इस आशय मे कि ये व्याघाती नही हैं, असगत नही है। एक ही यथार्थता एक साथ ही दो असगत विकल्पो से युक्त नही हो सकती। इनमे उस अश तक तादात्म्य है जहाँ तक ये असगत नही हैं और एक ही तादात्म्य वाली वस्तु हैं। शिशपा अनिवार्यत एक वृक्ष है, यह एक अ-वृक्ष नही हो सकता क्योकि यदि यह वृक्ष न होता तो यह वह न होता जो इसका स्वत्व है। तब हमे एक ऐसा पदार्थ मिलता जो एक ही समय में एक वृक्ष तथा अ-वृक्ष होता। यदि गुण (अथवा विकल्प) असगत हैं तो वे सत् जो ये हैं उनमे अथवा इनके गुणो मे तादात्म्य न होगा,[2] ऐसा बौद्धो का विरोध का नियम कहता है। यह दो विकल्पो के बीच का एक तार्किक नियम है, किन्तु यह यथार्थता का नियम[3] भी है। इस प्रकार ग्रहण करने पर तादात्म्य भी उतना ही यथार्थ सम्बन्ध[4] है जितना तदुत्पत्ति। इतना ही नही, यह तदुत्पत्ति का अनिवार्य उपनिगमन है। तादात्म्य मे विषयात्मक सन्दर्भ एक होता है, तदुत्पति मे यह द्विविध किन्तु अन्योन्याश्रित होता है।

अब, तदुत्पत्ति अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम का सार क्या है ? हम देख चुके हैं कि इसका सूत्र यह है कि 'यह होने पर वह होता है'। यह यथार्थ के प्रत्येक क्षण के अपने तत्काल पूर्ववर्ती क्षणो पर अनिवार्य आश्रयत्व का नियम है। इसकी अभिव्यक्ति एक हेत्वाश्रित निश्चय है। यत यथार्थ के प्रत्येक क्षण के अनुरूप कुछ विकल्प अवश्य होता है और क्षण का किसी विकल्प के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार बोध नही हो सकता, अत यथार्थ के अनुरूप विकल्पो के बीच उस वास्तविक सम्बन्ध के ही समान एक तार्किक सम्बन्ध होना चाहिये जो उन क्षणो के बीच होता है जिनके साथ इन विकल्पो की अनुरूपता होती है। धूम अग्नि से उत्पन्न होता है, अर्थात्

---

[1] सिग्वर्ट उपु० १. ११० और बाद।

[2] 'विरुद्ध-धर्म-ससर्गाद् (धर्मी) नाना।

[3] वस्तुनि अवस्तुनि च, तुकी न्यायबिटी० पृ० ७० २२।

[4] सिग्वर्ट उपु० १.४४२।

निर्बाध क्षणो के एक अनुक्रम के बीच एक हेतुक बन्धन होता है। इन क्षणो के एक अश को अग्नि के विकल्प के शीर्षक के अन्तर्गत रख लिया जाता है और उस बाद के अश को जिसके साथ यह एकीकृत होता है, धूम के विकल्प के अन्तर्गत रखा जाता है। फिर भी, इन विकल्पो का तार्किक सम्बन्ध तदनुरूप यथार्थ के क्षणो के बीच के वास्तविक सम्बन्ध का उल्टा होता है क्योकि तार्किकता का अर्थ अनिवार्यता है, और किसी भी हेतु का फल अनिवार्यत उस हेतु का अनुगमन नही करता। ऐसा कुछ सदैव प्रकट हो सकता है जो किसी फल की उत्पत्ति को प्रतिबन्धित[1] कर सकता है। ऐसा कोई भी हेतुक निश्चय नही है जिसकी अनिवार्यता के सम्बन्ध मे किसी को साक्षात् विश्वास हो सके।[2] किन्तु इसका उल्टा सम्बन्ध अनिवार्यता की विशिष्टता से युक्त होता है। एक फल अनिवार्यत अपने हेतु का फल होता है। यदि यह फल न हो तो इसकी सत्ता ही नही हो सकती, और यह फल भी तब तक नही हो सकता जब तक यह अपने हेतु का अनिवार्य परिणाम न हो। अत. प्रतीत्य-समुत्पाद का तर्कशास्त्रीय नियम वास्तव मे फल का नियम है। यही वह नाम है जो धर्मकीर्ति भी इसे प्रदान करते है।[3] आप इसे 'फल के द्वारा' अनुमान कहते है।[4]

इस आशय मे प्रतीत्य समुत्पाद का तर्कशास्त्रीय नियम प्रतीत्यसमुत्पाद के वास्तविक नियम का उल्टा है। हेतु कोई कारण नही होता। किसी फल के विधेयीकरण (अथवा पूर्वकथन) के लिये हेतु कोई पर्याप्त कारण नही होता। किन्तु कोई भी फल अपने हेतु के पूर्वगत अस्तित्व की निश्चयात्मक स्थापना के लिये पर्याप्त कारण होता है। इस आशय मे प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम उसी अश मे विरोध के नियम का उपाश्रयण है जिस अश मे तादात्म्य का नियम। प्रत्येक वस्तु कोई भी वस्तु नही होगी यदि वह किसी अन्य वस्तु का फल न हो।

अत. प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम का विरोध के नियम के साथ समन्वय करना गलत है। यह बाद वाला नियम एक सामान्य नियम है जो समान

---

[1] 'प्रतिबन्ध-सम्भवात्।

[2] सिग्वर्ट उपु १४१८।

[3] 'कार्य अनुमान = कार्येण-अनुमान'।

[4] हेतु के अन्तिम क्षण और फल के प्रथम क्षण के बीच अनिवार्यता को भी प्रत्यक्षत स्वीकार किया गया है। सुकी० न्याबिटी० पृ० ३९.७२' अनुवाद पृ० ८८।

रूप मे ममस्त सामान्यताओ अ थवा विकल्पो को और समस्त यथार्थताओ अथवा क्षणो को मंचालित करता है। परन्तु प्रतीत्यममुत्पन्नत्व केवल क्षणो की उत्पत्ति को ही मंचालित करता है।

सिग्वर्ट का विचार है कि यह लीब्निज की गलती थी कि उन्होंने हमारे तर्कों के दो महान सिद्धान्तो के रूप मे विरोध के नियम तथा पर्याप्त-हेतु-नियम का ममन्वय कर दिया। क्योकि मिग्वर्ट[1] के अनुमार लीब्निज का पर्याप्त हेतु-नियम प्रतीत्यममुत्पाद के नियम के अतिरिक्त और कुछ नही, और विरोध के तार्किक नियम का प्रतीत्य-समुत्पाद के तार्किक नही वल्कि वास्तविक नियम के साथ ममन्वय गलत था।

अब, धर्मकीर्ति के दृष्टिकोण के अनुमार हमारे पास एक ऐसा पर्याप्त हेतु नियम है जो हमारे समस्त तर्कों का सामान्य नियम है और जिसके दो महान सिद्धान्त, तादात्म्य और प्रतीत्य समुत्पन्नत्व, केवल विशिष्टतायें मात्र हैं। इस नियम को केवल हेतु[2] अथवा त्रिरूपलिङ्ग[3] मात्र कहा गया है। इसका सूत्र, जैसा हम देख चुकें हैं, यह है १) उद्देश्य मे समग्रत उपस्थिति, २) केवल मपक्षो मे, और ३) असपक्षो मे कभी नही। अपने दो प्रमुख आकारो के अनुमार यह नियम अन्वय-व्यतिरेक नियम भी कहलाता है। इमका सूत्र यह है कि हेतु के उपनित होने पर उमका अनिवार्य फल भी उमी प्रकार उपनित होता है, और अनिवार्य फल की अनुपस्थिति मे हेतु भी उमी प्रकार अनुपस्थिति होता है।

प्रतीत्यममुत्पाद के रूप मे देखने पर हेतुत्व का बौद्ध नियम किमी हेत्वाश्रित निश्चय मे व्यक्त होता है जैसे "यह होने पर वह होता है।" इमी प्रकार पर्याप्त-हेतु का बौद्ध नियम भी हेत्वाश्रित निश्चय अथवा हेत्वाश्रित परार्थानुमान मे व्यक्त होता है। इम नियम के अन्वय और व्यतिरेक निश्रित हेत्वाश्रित न्यायवाक्य के विधायक और विघातक रूपो के अनुरूप हैं। यत पर्याप्त हेतु का मामान्य नियम तादात्म्य पर और तदुत्पत्ति पर आधारित नियमो में ममान रूप से यथार्थीकृत होता है, अत हम यह मान सकते हैं कि हमारे ममस्त तर्क इन्हीं दो महान मिद्धान्तो पर आधारित हैं और प्रतीत्यममुत्पन्नत्व के परार्थानुमान का विभागात्मक परार्थानुमान के साथ समान अधिकारपूर्वक अस्तित्व होता है।

---

[1] उपु० १.२५४।

[2] हेतु=ग्तन् च्मिग्म।

[3] त्रिरूपलिङ्ग—च्युल-ग्मुम-तवस।

योरोपीय न्यायवाक्यीय सिद्धान्त ने हेत्वात्मक निगमनो को न्यायवाक्य के एक विशेष प्रकार के रूप मे कभी भी स्वीकार नही किया है। आधुनिक सिद्धान्त यह मानता है कि प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व अथवा प्रकृति मे सामान्यता का सिद्धान्त, यह सिद्धान्त कि वही हेतु वही फल उत्पन्न करता है, आगमन का आधारभूत सिद्धान्त है और आगमन, निगमन अथवा न्यायवाक्य का उल्टा है। न्यायवाक्य या निगमन विभागात्मक तादात्म्य के सिद्धान्त पर आधारित होता है। आगमन अपने निष्कर्षों मे विशुद्ध सामान्यता और अनिवार्यता कभी भी प्राप्त नही कर सकता, जबकि न्यायवाक्यीय निगमन अनिवार्यता कि विशिष्टता से युक्त होता है।

एरिस्टॉटिल का ऐसा विचार नही था। उनके लिये निगमन एक न्यायवाक्य भी था और हेतुत्व विभागात्मक तादात्म्य के सिद्धान्त पर भी आधारित था। उनका हेतुक न्यायवाक्य फल का उसके हेतु से निगमन है। हेतु को एक स्तर पर लाकर उसे मध्य पद के साथ समीकृत कर दिया गया है,[1] और फल निष्कर्ष मे वृहत् पद का स्थान ग्रहण करता है। परन्तु हेतुत्व पर आधारित यह निगमन एक द्वितीय प्रकार[2] का नही है जिसे सामान्य से विशेष के विभागात्मक निगमन के साथ समन्वित कर दिया गया है, इसे इसके अधीनस्थ किया गया है, अथवा इसके विपरीत, विभागात्मक निगमन को हेतुक के अधीनस्थ किया गया है क्योकि सामान्य को हेतु का एक प्रकार माना गया है। एरिस्टॉटिल के लिये हेतु सदैव ही सामान्य है जिसका फल विशेष होता है। किसी वस्तु के हेतु का अनुसन्धान

---

[1] यह सत्य है कि एरिस्टॉटिल भी यह स्वीकार करते हैं कि अक्सर फल इतना अधिक परिस्फुट होता है कि हम उसका मध्यपद के रूप मे व्यवहार करते हैं (ग्रोट पृ० २२३) और इससे उसके अन्योन्य हेतु का निष्कर्ष निकाल लेते हैं। किन्तु इस दशा मे न्यायवाक्य को हेतुक नही माना जाता, वह तो सत्ता का ही ज्ञान होता है।

[2] फिर भी, एरिस्टॉटिल भी यह मानते हैं कि हेतु कभी-कभी वस्तुस्वलक्षण की अनिवार्य प्रकृति होता है और कभी एक वाह्य तथ्य (एनलिट० पोस्ट २ २, ३१; तुकी० ग्रोट, उपु० पृ० २२०)। इस स्थान पर एरिस्टॉटिल यह मानते प्रतीत होते हैं कि प्रत्येक अनुमान के लिये दो मात्र परम आधार या तो सह-समवाय (तादात्म्य) अथवा हेतुत्व (= किसी वाह्य तथ्य पर आश्रयत्व) हैं।

एक मध्यपद का अनुसन्धान है[1]। हेतु और फल का सामान्य सम्बन्ध हमे विशेषो के माध्यम से ज्ञात होता है। एरिस्टॉटिल द्वारा कल्पित हेतु के सभी चार प्रकार उतने ही मध्यपद है जिनसे फल अथवा वृहत निगमित होता है।[2] हेतु का मार फल को उत्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी त्रिकोण का मार उसके तीनो कोणो का योग दो समकोणो के बराबर होने का कारण या आधार है।[3]

एक विभागात्मक सम्बन्ध के रूप मे हेतुत्व की धारणा को एरिस्टॉटिल से ही स्कूलमेन और आधुनिक दर्शन ने भी प्राप्त किया। इसका स्पाइनोजा के Casua sive ratio के साथ समीकरण मे उत्कर्ष हुआ। इसका परिणाम यह रहा कि एक प्रथम प्रकार के रूप मे हेतुक न्यायवाक्य उपेक्षित रहा तथा एक गौण प्रकार के रूप मे उपेक्षित होकर इसका कोई भी अस्तित्व नही रह गया। जब हेतुत्व के विभागात्मक सिद्धान्त को ह्यूम ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तथा काण्ट ने अनुभवातीत रूप से विनष्ट कर दिया तब भी हेतुक न्यायवाक्य को एक द्वितीय प्रकार के रूप मे विभागात्मक के समकक्ष नही स्वीकार किया गया। ह्यूम ने समस्त हेतुक अनुक्रम की अनिवार्यता और सामान्यता को अस्वीकृत किया, और काण्ट ने यद्यपि इनकी एक अनुभवातीत आधार पर स्थापना की तथापि उन्होंने भी इनको हेत्वाश्रित निश्चय के साथ समीकृत किया और निरपेक्ष न्यायवाक्यीय रूप को एकमात्र विभागात्मक निगमनो के लिये छोड दिया।

हेत्वाश्रित निश्चय से हेतुत्व की कोटि के काण्ट के निगमन के सम्बन्ध मे एक सिद्धान्त द्रष्टव्य है जिसके लिये स्वय काण्ट सीधे उत्तरदायी नही हैं किन्तु जो उनके निगमन का ही परिणाम और भारतीय समानान्तरता के प्रकाश मे उल्लेखनीय है। इस सिद्धान्त के अनुसार सह-समवायत्व के सम्बन्ध को निरपेक्ष निश्चय मे व्यक्त किया जाता है जैसे "सभी' क' 'ख' है" 'किन्तु हेतुत्व के सम्बन्ध को हेत्वाश्रित निश्चय मे व्यक्त किया जाता है, जैसे "यदि 'क' है तो 'ख' अनिवार्यत था"। यह सिद्धान्त इस बात को स्वीकार करता प्रतीत होता है कि केवल दो ही महान सिद्धान्त हैं जिन पर हमारे सभी तर्क आधारित होते हैं और ये हैं सह-समवायत्व के सिद्धान्त और हेतुत्व के सिद्धान्त। तदनन्तर सरलतापूर्वक यह दिखाया गया है कि हेत्वाश्रित

---

[1] ग्रोटे उपु० पृ० २४०।

[2] वही, पृ० २४६।

[3] वही।

रूप समान रूप से दोनो के लिये अनुप्रयोगणीय है, यह हेतुक सम्बन्ध के लिये ही एक मात्र रूप से गृहीत नही है।[1] इस सामान्य आधारवाक्य का कि "सभी 'क' 'ख' है" वास्तव मे यह अर्थ है कि यदि कोई वस्तु 'क' है तो वह अनिवार्यत 'ख' है। सम्बन्ध की अनिवार्यता को इस दशा मे ठीक हेतुत्व की दशा की ही भाँति हेत्वाश्रित रूप[2] द्वारा ही व्यक्त किया गया है। इस सामान्य आधारवाक्य का कि "यदि 'क' सदैव 'ख' द्वारा उत्पन्न होता है" अथ यह है कि "यदि 'क' है तो अनिवार्यत कोई 'ख' उसका पूर्ववर्ती था"। इन संशोधनो और सवर्धनो के साथ यह सिद्धान्त भारतीय सिद्धान्त के अनुरूप है। वास्तव मे हमारे समस्त तर्कों को नियन्त्रित करने वाला एक सामान्य नियम है। हम इसे हेतु का नियम अथवा पर्याप्त-हेतु-नियम, अथवा जैसा कि बौद्ध मानवे है, त्रिरूपलिङ्ग नियम कह सकते हैं। यह हेत्वाश्रित निश्चय मे व्यक्त होता है और इसका अर्थ यह है कि हेतु के होने पर फल अनिवार्यत होता है। और यदि अनिवार्य फल अनुपस्थित है तो हेतु भी अनुपस्थित है। इस नियम का एक दूसरा नाम अन्वय-व्यतिरेक नियम है। यह मिश्रित हेत्वाश्रित न्यायवाक्य के विधायक और विघातक रूपो के अनुरूप है। इसके नियमो के सूत्र मे ये तीन बाते हैं उद्देश्य मे उपस्थति, सपक्षो मे केवल, असपक्षो मे कभी नही। यह nota notae est nota rei ipsius तथा Dictum de omni के समान है।[3] यह उन दोनो महान सिद्धान्तो के लिये समान रूप से अनुप्रयोगणीय है जिन पर हमारे समस्त तर्क आधारित होते हैं, अर्थात तादात्म्य के सिद्धान्त तथा हेतुत्व के सिद्धान्त के लिये। वास्तव मे यह भारतीय प्रकार-उदाहरण लीजिये —

> यदि कोई वस्तु कृतक है तो वह नित्य नहीं है, जैसे घटादि।
> यदि वह नित्य है तो वह कभी कृतक नही है, जैसे आकाशादि।
> शब्द कृतक है।
> यह नित्य नही है।

---

[1] तुकी० सिग्वर्ट उपु० २९७, तुकी० बेन लॉजिक, १ ११७ तुकी० जे० एस० मिल लॉजिक, १ ९२, आप यह मत व्यक्त करने वाले पहले व्यक्ति प्रतीत होते हैं कि हेत्वाश्रित निश्चय का निरपेक्ष से तत्त्वत बहुत अधिक अन्तर नही है।

[2] सस्कृत मे 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्'

[3] ये दोनो सूत्र एक ही हैं इस बात को काण्ट सिद्ध कर चुके हैं।

अथवा इसके समकक्ष योरोपीय प्रकार-उदाहरण लीजिये —

यदि कोई प्राणी मनुष्य है तो वह अनिवार्यत मर्त्य है, जैसे यह व्यक्ति और वह व्यक्ति ,

यदि वह अमर है तो वह मनुष्य नही हो सकता, ईश्वर की भाँति ।

यह व्यक्ति एक मनुष्य है,

यह मर्त्य है।

गणितीय निगमन इसी रूप मे आकृत्यन्तरित होते है, जैसे

यदि कुछ एक सीधी रेखा है तो वह अनिवार्यत दो विन्दुओ के वीच की न्यूनतम दूरी है, जसे यह और वह सीधी रेखायें ।

यदि वह न्यूनतम दूरी नही है तो वह सीधी नहीं है, जैसे वक्रादि ।

यह एक सीधी रेखा है,

यह न्यूनतम दूरी है ।

ये निगमन स्वरूपत हेतुक निगमनो से भिन्न नही हैं। वास्तव मे यह भारतीय प्रकार-उदाहरण लीजिये[1] —

जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, जैसे पाकशाला इत्यादि मे ।

जहाँ कभी भी अग्नि नही है वहाँ कोई धूम नही हो सकता, जैसे जलादि मे ।

यहाँ धूम है । यहाँ अग्नि भी है (अथवा थी)

उदाहरणो के इन दोनो वर्गों मे कोई आकारपरक अन्तर नही है । दोनो ही अन्वय और व्यतिरेक के नियम के अन्तर्गत, अथवा त्रिरूपलिङ्ग के अन्तर्गत, अथवा हेत्वाश्रित न्यायवाक्य के दो योगो के अन्तर्गत आते हैं ।[2] अन्तर केवल इसी वात मे है कि हेतुक अनुक्रम की सामान्यता वैसी नही है जैसी कि तादात्म्य पर आधारित सम्वन्ध की सामान्यता तथा अनिवर्यता । इस समस्या का भारतीय समाधान क्या है और किस सीमा तक काण्ट के के विचारो के अनुरूप है इसका स्वार्थानुमान के अध्याय मे उल्लेख किया जा चुका है ।

(ज) सारांश

योरोपीय, प्रमुखत यूनानी, और भारतीय, प्रमुखत वौद्ध प्रणालियो

[1] इस निश्चय की हेत्वाश्रित विशिष्टता को सस्कृत मे इन शव्दो मे व्यक्त किया गया है "यत्र यत्र धूम" अथवा "यो यो धूमवान्" । यह लैटिन quis quis के समान है , तुकी० सिग्वर्ट १ - २८८ ।

[2] हेत्वाश्रित न्यायवाक्य को प्रदत्त महत्व स्टोईको के तर्कशास्त्र की भी एक उल्लेखनीय विशिष्टता है, तुकी० पॉल वार्थ डाइ स्टोआ, पृ० ७४ ।

के अपने तुलनात्मक अध्ययन का संक्षिप्तीकरण करने पर हमे ये बातें मिलती है —

१) मानव बुद्धि मे एक आधारभूत पद्धति होती है जो उसके सारतत्त्व का निर्माण करती है और जिसके अनुसन्धान मे यूनानी तथा भारतीय दोनो ही शास्त्र लिप्त मिलते हैं। दोनो का ही उद्देश्य इस पद्धति के तत्त्व और स्वरूप की स्पस्ट परिभाषा देना है। यह पद्धति अनुमान और न्यायवाक्य (परार्थानुमान) है। बौद्धो के लिये अनुमान वैसा ही है जैसा सामान्य रूप से विचार क्योकि ज्ञान के केवल दो ही प्रमाण, विज्ञान और अनुमान हैं जो वैसे ही हैं जैसे इन्द्रियाँ और प्रज्ञा।

२) दोनो ही ओर अनुसन्धान सामान्य दार्शनिक दृष्टिकोण द्वारा अनुबन्धित है। यूनानी दार्शनिक जगत् का ऐसे अनुभूत विकल्पो की एक व्यवस्थित प्रणाली के रूप मे सर्वेक्षण करता है जिनके सम्पूर्ण तथा आशिक सम्बन्धो तथा विच्छेदो का न्यायवाक्यो मे निर्धारण होता है। भारतीय दार्शनिक जगत् का क्षणो की एक ऐसी प्रवाहमान धारा के रूप मे सर्वेक्षण करता है जिसमे से कुछ क्षण स्थिरीकृत विकल्पो द्वारा प्रकाशित तथा प्रयत्नशील मानवता द्वारा उनकी अर्थक्रिया मे अधिगत होते हैं।

३) यूनानी शास्त्र न्यायवाक्य की तीन तर्कवाक्यो की एक ऐसी श्रृङ्खला के रूप मे परिभाषा करता है जो तीन पदो से युक्त होते हैं और इन तर्कवाक्यो की व्याकरणिक स्थितियो मे परिवर्तन के अनुसार वैध निश्चयो के १९ योग उपलब्ध हो सकते हैं। भारतीय शास्त्र इसकी यथार्थ का बोध करने तथा उसे इन्द्रियप्रत्यक्ष की भाँति साक्षात् नही बल्कि दो अनिवार्यत अन्योन्याश्रित विकल्पो की अधिरचना के माध्यम से परोक्ष रूप से अधिगत करने की विधि के रूप मे परिभाषा करता है।

४) यह तथ्य कि परार्थानुमान अनुमानात्मक विज्ञान की एक आन्तरिक प्रक्रिया से युक्त होता है, योरोपीय शास्त्र मे ज्ञात नही है, बल्कि इसको एक ऐसा अनिष्पन्न तथा अपूर्ण रूप माना गया है जो उद्देश्यो और विधेयो की परस्पर परिवर्तनीय स्थितियो वाले तीन तर्कवाक्यो मे निर्धारित रूप द्वारा पूर्णतया व्यक्त होता है। भारतीय परार्थानुमान, इसके विपरीत, आन्तरिक अनुमान के अधीनस्थ होने के कारण तीन ऐसे पदो के परस्पर अन्योन्याश्रयत्व को निर्धारित करने की एक विधि है जिनका तदनुरूप तर्कवाक्यो मे तार्किक दृष्टि से एक निश्चित स्थान होता है।

५) यद्यपि एरिस्टॉटिल की दृष्टि से न्यायवाक्य समस्त निगमनो और

साथ ही साथ आगमनो का सामान्य रूप है, तथापि उनके अनुगमियो के हाथ मे पड कर यह केवल निगमनो तक ही सीमित हो गया, और आधुनिक समयो मे आगमन ने ज्योही अपना सर उठाया त्योही केवल निगमनो तक ही सीमित न्यायवाक्य की स्थिति और सकटग्रस्त हो गई। अनेक दार्शनिको द्वारा इसे एक ऐसे व्यर्थ के पाण्डित्य को व्यक्त करने वाला घोषित किया गया जो ज्ञान की प्रगति के लिये निरर्थक है। भारतीय पक्ष मे निगमन आगमन से अपृथक्करणीय है। ये दोनो ही परस्पर एक दूसरे को आवृत्त करते हैं। दोनो ही एक दूसरे के औचित्य को प्रमाणित करते हैं। पूर्ववर्ती आगमन के बिना निगमन असम्भव है। यहाँ तक कि विशुद्ध निगमनात्मक शास्त्र भी अन्य की ही भाँति एक आगमनात्मक आधार रखते हैं। दूसरी ओर और अधिक विशेष उदाहरणो के प्रति व्यवहृत हुये बिना आगमन सर्वथा निरर्थक होगा।

६) अत बौद्ध परार्थानुमान में केवल दो ही अवयव, एक आगमनात्मक और एक निगमनात्मक, होते है जो विचार के आधार और व्यवहृत अग्रसारिता के अनुरूप हैं।

७) बौद्ध प्रणाली एक हेतुक परार्थानुमान से युक्त है जो योरोपीय तर्कशास्त्र मे पहले तो विभागात्मक मे विलीन था और बाद मे न्यायवाक्य के क्षेत्र से सर्वथा बहिष्कृत हो गया।

८) बौद्ध प्रणाली तदुत्पत्ति और तादात्म्य (सह-समवायत्व) को दो ऐसे महान सिद्धान्तो के रूप मे समन्वित करती है जिस पर हमारे समस्त तर्क तथा उनकी अभिव्यक्ति, परार्थानुमान, आधारित हैं।

९) इन दो महान सिद्धान्तो का औपचारिक एकत्व पर्याप्त हेतु के एक सामान्य नियम मे व्यक्त है जिसे त्रिरूप लिङ्ग कहते हैं।

योरोपीय शास्त्र मे पर्याप्त-हेतु-नियम, विभागात्मक तथा हेतुक सम्बन्धो, और इससे सम्बद्ध विभागात्मक तथा एकात्मक निश्चयो की समस्याओ का अधिकाशत न्यायवाक्य के सिद्धान्त के बाहर ही विवेचन किया गया है। भारत मे ये इसके अन्तरग अग हैं। बुद्धि हेतु का ही एक अन्य नाम है, और हेतु, पर्याप्त-हेतु अथवा तादात्म्य और तदुत्पत्ति के दो महान् सिद्धान्तो के औपचारिक एकत्व को व्यक्त करने वाले सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नही है। सामान्य रूप से हेतु और अपने तीन नियमो सहित परार्थानुमानात्मक हेतु मे कोई अन्तर नही है।

१०) इन नियमो मे से दूसरे और तीसरे मिश्रित हेत्वाश्रित न्यायवाक्य के विधायक और विघातक रूपो के अनुरूप है। अत दो ही वास्तविक

न्यायवाक्यीय आकार हैं —एक अन्वय तथा दूसरा व्यतिरेक। सभी न्यायवाक्यो का आधारभूत सिद्धान्त मिश्रित हेत्वाश्रित न्यायवाक्य का सिद्धान्त है, अर्थात यह सिद्धान्त कि "भूमि अथवा आधार का एक अनिवार्य परिणाम अनुगमन करता है, और अनिवार्य परिणाम की अनुपस्थिति का तार्किक दृष्टि से आधार या भूमि की अनुपस्थिति अनुगमन करती है।[1]

११) पर्याप्त-हेतु-नियम, यत यह तीन न्यायवाक्यीय नियमो के सूत्र मे व्यक्त है, अत यह मिश्रित हेत्वाश्रित न्यायवाक्य के तुल्यार्थक सिद्धान्त अथवा अन्वय और व्यतिरेक मे भी व्यक्त है। ये तार्किक अनिवार्यता के के नियम को व्यक्त करते हैं। मिश्रित हेत्वाश्रित न्यायवाक्य, जिसका अधिकाश योरोपीय तर्कशास्त्रो मे एक अतिरिक्त, गौण, और अवास्तविक न्यायवाक्यीय प्रक्रिया के रूप मे विवेचन किया गया है, बौद्धन्याय मे उसके एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप मे आता है।

इस प्रकार, बौद्ध और योरोपीय न्यायवाक्यीय सिद्धान्तो मे बहुत अधिक अन्तर है। फिर भी, दोनो ही सिद्धान्त एक ही और उसी केन्द्रीय समस्या का, अर्थात् मानव ज्ञान के सिद्धान्त का अनुसन्धान करते है। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति द्वारा प्रस्तावित समाधान कुछ दृष्टियो से एरिस्टॉटिल की अपेक्षा काण्ट और सिग्वर्ट के अधिक निकट आता है।

एरिस्टॉटिल के आकारो की 'मिथ्या सूक्ष्मता' के विषय पर काण्ट के मत का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। किन्तु काण्ट और बौद्ध सिद्धान्तो के बीच सहमति का यही एकमात्र आधार नही है। इस सम्बन्ध मे काण्ट के निम्न-लिखित विचारो को हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित करना चाहिये। काण्ट कहते हैं कि "किसी वस्तु की उसके लिङ्ग से तुलना करना निश्चय करना है।"" किसी माध्यमिक लिङ्ग (लिङ्ग के लिङ्ग) के माध्यम से निश्चय हमारे तर्क का अनुमान (Vermunftschluss) है।"तदनन्तर आप व्यतिरेक की समस्या की ओर ध्यान दिलाते हैं और ऐसे न्यायवाक्यो को जिनमें वृहत के अन्वय और व्यतिरेक द्वारा निष्कर्ष निकाला जाता है'ratrocinium hybridum"[1]नाम देते हैं। तब आप अन्वय के न्यायवाक्य को एरिस्टॉटिल के प्रथम आकर के साथ, तथा व्यतिरेक के न्यायवाक्य को उनके द्वितीय आकर के साथ समीकृत करते हुये शेष आकारो को निरर्थक और मिथ्या सूक्ष्मता कहते हैं। अन्वय तथा व्यतिरेक के तथ्य को ऐसा महत्त्व प्रदान करते हुये काण्ट ने इस बात को स्वीकार कर लिया है (यद्यपि वह ऐसा कहते नही) कि न्या——

[1]तुकी० "अन्वय-व्यतिरेकी अनुमानम्।"

योगो,विधायक और विघातक, सहित मिश्रित हेत्वाश्रित न्यायवाक्य के सिद्धान्त पर आधारित है। काण्ट कहते है कि यद्यपि चार आकार निरर्थक कूडे के अतिरिक्त और कुछ नही तथापि वह एरिस्टॉटिल के न्यायवाक्य की विशाल मूर्ति को उखाड़ फेकने की आशा नहीं करते। वास्तव मे, जहाँ तक मैंने समझा है, सिग्वर्ट ही एक मात्र ऐसे तर्कशास्त्री थे जिन्होने काण्ट के परामर्श को ग्रहण, और अपने न्यायवाक्यीय सिद्धान्त को मिश्रित हेत्वाश्रित न्यायवाक्य के सिद्धान्त पर स्थापित किया।

वास्तव मे सिग्वर्ट[1] यह मानते हैं कि "समस्त और प्रत्येक अनुमान का सर्वाधिक सामान्य आकार तथाकथित मिश्रित हेत्वाश्रित निष्कर्ष है।" "जब कोई वैध निश्चय 'क' दिया होता है तब यह स्पष्ट है कि दूसरे निश्चय 'ख' को उसी समय इस पर आधारित किया जा सकता है जब इस निरुपाधिक और सामान्य तर्कवाक्य को स्वीकर कर लिया जाय कि "यदि 'क' वैध है, तो 'ख' भी वैध है।"[2] "आधारवाक्यो का क्रम", आप आगे कहते हैं, "प्रत्येक वैयक्तिक दशा मे विचार पर निर्भर करता है।"[3] यह दिङ्नाग के इस दृष्टि-कोण के अनुरूप है कि व्यक्तिगत चिन्तन में हम सामान्यत पक्ष-आधारवाक्य से आरम्भ करते हैं, और सार्वजनिक शास्त्रार्थ मे हमे सामान्य तर्कवाक्य से आरम्भ करना चाहिये।

तदनन्तर आप (सिग्वर्ट) कहते हैं कि "एक सरल वक्तव्य के सभी प्रकार के निगमनो को उन दो रूपो मे ढूँढने योग्य होना चाहिये जिन्हें सामान्यतया मिश्रित हेत्वाश्रित निष्कर्ष के विधायक और विघातक रूप कहते हैं।" एक टिप्पणी मे आप इतना और जोड देते हैं कि "विघातक रूप का सदैव ही तदनुरूप विधायक रूप मे आकृत्यन्तरण हो सकता है।" इस प्रकार आप इन दोनो ही योगो की तुल्यार्थकता को मानते हैं और अपने इस विचार के कारण मानो सांख्यो के विरुद्ध दिङ्नाग का पक्ष लेते हैं।

इसके बाद आप एक टिप्पणी करते हैं जो भारतीय सिद्धान्तो के साथ समानान्तरता के कारण विशेष ध्यान आकर्षित करती है। आप कहते हैं कि "अनुमान के सिद्धान्त के एक और अग्रविकास को इस समस्या का भी विवेचन करना चाहिये कि वह क्या है जो दो निश्चयो 'क' और 'ख' के बीच के सम्बन्ध को अनिवार्य सम्बन्ध बनाता है? क्या इस अनिवार्यता के स्रोत को सीमित

अल्पसंख्यक नियमों मे ही ढूँढना सम्भव नही है ?" इस प्रश्न को केवल प्रस्तुत मात्र किया गया है, इसका कोई उत्तर नही दिया गया है, यद्यपि यह मनोरंजक टिप्पणी अवश्य की गई है कि " तादात्म्य विचारों के बीच का एक सम्बन्ध भी है।" अब, हम देख चुके है कि अनिवार्य आश्रयत्व या अन्य सम्बन्ध दो अन्योन्याश्रित तथ्यो के बीच अ-तादात्म्य है, और यह आश्रित अतादात्म्य तदुत्पत्ति के ही एक अन्य नाम के अतिरिक्त और कुछ नही। भारतीयो के अनुसार, इस दृष्टिकोण से । दो अनिवार्य अनुवर्ती तथ्यो के बीच हेतुत्व और (दो विकल्पो के विपयात्मक सन्दर्भ के बीच) तादात्म्य के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नही होता ।

हम देख चुके है कि वे नियम जिन पर सभी अनिवार्य सम्बन्ध स्थित हैं, अपने भारतीय विवेचन के अनुसार तादात्म्य,त दुत्पत्ति, और विरोध के नियम है ।

इस सम्बन्ध मे परिवर्तन, व्यतिरेक और विशेष निश्चयो पर व्यक्त सिग्वर्ट के विचार कुछ भारतीय धारणाओ के साथ अपनी समानान्तरता के कारण अत्यन्त स्पष्ट हैं। इन विचारो को पहले ही, उद्धृत किया जा चुका है ।

अध्याय ५

हेत्वाभास

§ १. वर्गीकरण

दिङ्नाग ने इस बात को स्पष्ट देखा कि परार्थानुमान के दृढ नियमो के अभिनिय की स्थापना करने के बाद उन्होंने साथ ही साथ हेत्वाभासो के दृढ़ अभिनियमो की समस्या का भी समाधान कर लिया है, क्योकि हेत्वाभास किसी नियम के उल्लङ्घन के अतिरिक्त और कुछ नही। नियम सख्या मे निश्चित है और यदि वे एक व्यवस्थित क्रम मे आवद्ध हैं तो उनका उल्लङ्घन भी तदनुसार सख्या मे निश्चित और एक व्यवस्थित एकत्व के अनुसार क्रमवद्ध किया जा सकने के योग्य होगा। प्रत्येक तर्कवाक्य का तार्किक आशय द्विविध, अर्थात् एक विधायक तथा एक निहित निषेधात्मक होता है। कोई नियम सदैव किसी बात का विधान और साथ ही साथ उसके विपरीत को वर्जित भी करता है। प्रत्येक परार्थानुमानीय नियम तदनुरूप हेत्वाभास की निन्दा भी करता है।[1]

तार्किक अनुमान के, जैसा हम देख चके हैं, ये तीन नियम हैं

(१) निष्कर्ष के उद्देश्य मे हेतु की उपस्थिति, अर्थात् उद्देश्य की सम्पूर्ण परिधि मे इसकी अनिवार्य उपस्थिति।

(२) इसकी केवल सपक्षो मे ही अनिवार्य उपस्थिति, अर्थात् ऐसे सपक्षो मे जिनमे विधेय की समान उपस्थिति के द्वारा समानता हो।

(३) इसकी सभी असपक्षो मे अनिवार्य अनुपस्थिति अर्थात् ऐसे असपक्षो मे जो उनके विपरीत हो जिनमे नियमित गुण उपस्थित हो।

अब, कोई हेत्वाभास या तो प्रथम, अथवा द्वितीय अथवा तृतीय के विरुद्ध होगा। परन्तु यहाँ हमे प्रथम नियम के विरुद्ध हेत्वाभासो तथा सम्मिलित रूप से द्वितीय और तृतीय नियमो के विरुद्ध हेत्वाभासो के बीच अवश्य विभेद करना चाहिये। वास्तव मे दूसरे नियम का उल्लङ्घन साथ ही साथ तीसरे नियम के भी उल्लघ्ङन के विना सम्भव नही है। दूसरे और तीसरे नियम एक ही नियम के

---

[1] न्याविटी० पृ० ६१ १८, अनुवाद १७१।

केवल दो पक्ष मात्र है।[1] यदि हेतु केवल सपक्षो मे ही उपस्थित नही है तो वह स्वभावत या तो समग्रत अथवा अशत असपक्षो मे उपस्थित होगा। इस प्रकार हमे हेत्वाभासो के दो प्रमुख वर्ग ही मिलते हैं—एक तो परार्थानुमानीय अभिनियम के प्रथम नियम के विरुद्ध और दूसरा सम्मिलित रूप से द्वितीय और तृतीय नियमो के विरुद्ध। योरोपीय तर्कशास्त्र की भाषा मे परिणत करने पर इसका अर्थ यह होगा कि हेत्वाभासो का एक वर्ग पक्ष-आधारवाक्य के विरुद्ध होगा और हेत्वाभासो का दूसरा वर्ग साध्यआधारवाक्य के विरुद्ध, अथवा एक पक्षआधारवाक्य का अव्याप्त-हेतु-दोष और दूसरा साध्य-आधारवाक्य का अव्याप्त-हेतु-दोष क्योकि, हम देख चुके हैं कि, अनुमान अथवा परार्थानुमान इन वतो से निर्मित होते हैं -(१) निरपवाद व्याप्ति अथवा अधिक विशुद्धत दो पदो के वीच अनिवार्य आश्रयत्व, और(२) इन दो अन्योन्याश्रित पदो मे किसी यथार्थ का सन्दर्भ। प्रथम तथ्य साध्य-आधारवाक्य मे व्यक्त होता है और द्वितीय पक्ष-आधारवाक्य मे।

यत पक्ष-आधावाक्य यथार्थ के किसी विषय मे तार्किक रचना के सन्दर्भ से युक्त होता है अत इस नियम का उल्लघन यथार्थता के विरुद्ध हेत्वाभास को व्यक्त करेगा। ऐसा हेतु जो यथार्थ के सन्दर्भ की दृष्टि से असफल होता है उसे असिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। दूसरी ओर साध्य-आधारवाक्य हेतु के अपने फल पर अनिवार्य आश्रयत्व की अभिव्यक्ति से युक्त होता है। यदि हेतु एक ऐसे तथ्य को व्यक्त करता है जो फल पर अनिवार्यत आश्रित हो तब उसकी उपस्थिति के साथ फल की भी सदैव उपस्थिति होगी। एक हेतु, जो इस दृष्टि से असफल है, वह यथार्थ के नही वलिक सवादित्व के हेत्वाभास को व्यक्त करेगा, दो पदो की निरपवाद व्याप्ति मिथ्या हो जायगी। कोई निश्चित निष्कर्ष नही निकल सकेगा और तब अनैकान्तिक हेत्वाभास होगा। इस प्रकार, हमे हेत्वभासो के दो प्रमुख वर्ग मिलते हैं—एक तो यथार्थता के विरुद्ध हेत्वाभासो का और दूसरा सवादित्व के विरुद्ध हेत्वाभासो का। यह द्वितीय वर्ग ही विशुद्ध आशय मे हेत्वाभास हैं और इनकी सख्या तथा पद्धति की स्थापना के लिये दिङ्नाग ने एक व्यवस्थित तालिका का निर्माण किया है जिसे वह हेतुचक्र[2] कहते हैं।

सपक्षो और असपक्षो के बीच हेतु की समस्त
इस तालिका मे गणितीय सिद्धान्त के अनुसार '

---

[1]न्याविटी० पृ० २० ५, अनुवाद ५७।

[2] हेतु चक्र को कभी कभी 'हेतुचक्र-डमरू' और
गया है।

परिणाम यह है कि हेतु की केवल नौ ही स्थितियाँ है, न तो कम और न ज्यादा। इनमे से भी केवल दो ही सिद्ध हेतु को व्यक्त करती है तथा शेष सात हेत्वाभास हैं। इन सात मे से भी दो अपने चरम रूप मे हेत्वाभास को व्यक्त करती है। ये दोनो सिद्ध हेतु के सर्वथा विरुद्ध स्थिति को व्यक्त करती है और इन्हे 'विरुद्ध-हेत्वाभास' कहते है।

शेष पांच अनैकान्तिक[1] हैं क्योकि समानो और असमानो के बीच मध्यपद की स्थिति निश्चित नही है। यह या तो समान से बढकर असमानो के निषिद्ध क्षेत्र को भी अतिव्याप्त करता है, अथवा समस्त समानो और साथ ही साथ असमानो को भी आवृत्त करता है, अथवा, अन्तत यह विशुद्धत केवल उद्देश्य तक ही सीमित रहता है और न तो किसी समान मे और न किसी असमान मे ही मिलता है। इस बाद की दशा मे हेतु असाधारण अथवा अव्यापक-अनैकान्तिक[2] होता है और इसलिये कोई फल प्रदान नही करता। इसके विपरीत, यदि हेतु समस्त समानो तथा, साथ ही साथ, समस्त असमानो को आवृत्त करता है तो वह साधारण-अनैकान्तिक अथवा अतिव्यापक[3] हो जाता है और इसलिये किसी भी निष्कर्ष का अवसर नही देता। ये दो हेतु, अर्थात 'अतिव्यापक' और 'अव्यापक' प्रत्यक्षत व्यवहार मे कभी-कभी ही मिलते हैं किन्तु इनके सैद्धान्तिक महत्त्व का न्यूनाङ्कन नही करना चाहिये क्योकि ये उन अधिकतम तथा न्यूनतम सीमाओ का स्पष्ट निर्धारण करते है जिनके बीच ही सिद्ध हेतु उपलब्ध होता है। तब केवल तीन ही अनैकान्तिक हेतु रह जाते है जो विशुद्धतम आशय में अनैकान्तिक या सन्दिग्ध है क्योकि हेतु असमानो के निषिद्ध क्षेत्र को या तो अशत अथवा समग्रत अतिव्याप्त करते हैं।[4] इस प्रकार, समानो और असमानो के बीच हेतु की समस्त सम्भाव्य नौ स्थितियो मे से दो सिद्ध होगी, दो विरुद्ध अर्थात् सिद्ध के विरुद्ध होगी, दो बोध की अधिकतम और न्यूनतम सीमाओ को व्यक्त करेंगी, और शेष तीन निषिद्ध क्षेत्र को अतिव्याप्त करने के कारण अनैकान्तिक अथवा सन्दिग्ध होगी।

इसे दिङ्नाग की नीचे दी जा रही तालिका मे व्यक्त किया गया है। इस तालिका मे समानो मे हेतु की उपस्थिति को 'स' चिह्न से व्यक्त किया गया

[1] अनैकान्तिक=सन्दिग्ध।

[2] असाधारण-हेत्वाभास=अव्यापक-अनैकान्तिक।

[3] साधारण-अनैकान्तिक = अतिव्यापक।

[4] असिद्ध-व्यतिरेकिन्।

है। इसकी तीन अवस्थायें सम्भव है—इसकी समस्त 'स' में उपस्थिति इसकी किसी भी 'स मे उपस्थिति नही (अर्थात् अनुपस्थिति), और इसकी कुछ 'स' मे उपस्थिति। असमानो मे हेतु की उपस्थिति को 'अ' चिह्न द्वारा व्यक्त किया गया है। इसकी भी तीन स्थितियाँ सम्भव है—इसकी समस्य 'अ' मे उपस्थिति, इसकी किसी भी 'अ' मे उपस्थिति नही (अर्थात् अनुपस्थिति), और इसकी कुछ 'अ' मे उपस्थिति। तीन स्थितियो के प्रथम विन्यास की प्रत्येक स्थिति को द्वितीय विन्यास की तीनो स्थितियो मे से प्रत्येक के साथ सयुक्त करने पर हमे समानो और असमानो के बीच हेतु की स्थिति के कुल नौ योग मिलेंगे—न कम न ज्यादा।

इस तालिका मे	"समस्त 'स' मे"	का उल्लेख	३	वार	(१,४ और ७)	मे	मिलेगा।
,, ,, ,,	"किसी भी 'स' मे नही"	,,	३	,,	(२,५ ,, ८)	,,	,,
,, ,, ,,	"कुछ 'स' मे"	,,	३	,,	(३,६ ,, ९)	,,	,,
,, ,, ,,	"समस्त 'अ' मे"	,,	३	,,	(१,२ ,, ३)	,,	,,
,, ,, ,,	"किसीभी 'अ' मे नही"	,,	३	,,	(३,५ ,, ६)	,,	,,
,, ,, ,,	"कुछ 'अ' मे"	,,	३	,,	(७,८ ,, ९)	,,	,,

एक साथ, १८ स्थितियो को ९ योगो मे व्यवस्थित किया गया है। दो योग (४ और ६) हेतु और फल को दृढ रूप से अवस्थित तथा ठीक पथ पर नियमित यात्रा करते हुये व्यक्त करते हैं। अन्य सभी योग ठीक पथ से विचलित हैं। दो (२ और ८) अधिकतम विचलन से युक्त हैं। इनका विचलन घातक है, यही विरूद्ध हेत्वाभास है। इनमे से दो (१ और ५) का केवल सैद्धान्तिक महत्व ही है और ये हेतु की अतिव्यापकता की क्षमता की सीमा को दिखाते हैं। शेष (३, ७, और ९) मे अतिव्यापकता की क्षमता साधारण है। केवल दो दशाओ मे ही व्याप्ति सिद्ध है, सात दशाओ मे व्याप्ति असिद्ध है, इनमे निरपवाद व्याप्ति नही है। इन सभी सात दशाओ मे हेत्वाभास साध्य-आधारवाक्य मे होगा। यदि हेतु साधारण-अनैकान्तिक, अव्यापक-अनैकान्तिक अथवा असाधारण हो तो वह सन्दिग्ध अथवा निष्कर्षरहित होगा। यदि वह इसके विरूद्ध हो तो, यद्यपि निश्चित होते हुये भी, वह अवाञ्छित आशय मे ही निश्चित होगा और सिद्ध के विरूद्ध हेत्वाभास को व्यक्त करेगा।

इस प्रकार, यह, स्पष्ट है कि प्रत्येक हेत्वाभास परार्थानुमानीय अभिनियम के किसी न किसी नियम के अनुरूप है—अर्थात् प्रत्येक हेत्वाभास किसी न किसी नियम का उल्लङ्घन है।[1]

[1] तुकी० न्याबि० और न्याबिटी० पृ० ८०.९, अनुवाद पृ० २२०।

सिद्ध

अनैकान्तिक — अनैकान्तिक

१ समस्त 'स' और समस्त 'अ' — साधारण-अनैकान्तिक	४ समस्त 'स' और कोई 'अ' नही — सिद्ध	७ समस्त 'स' और कुछ 'अ' — अतिव्यापक
२ कोई 'स' नही और समस्त 'अ' — विरुद्ध	५ कोई 'स' नही और कोई 'अ' नही — असाधारण-अनैकान्तिक	८ कोई 'स' नही और कुछ 'अ' — विरुद्ध
३ कुछ 'स' और समस्त 'अ' — अतिव्यापक	६ कुछ 'स' और कोई 'अ' नही — सिद्ध	९ कुछ 'स' और कुछ 'अ' — अतिव्यापक

विरुद्ध (left) — विरुद्ध (right)

अनैकान्तिक — अनैकान्तिक

सिद्ध

यह स्पष्ट है कि यही गणितीय विधि परार्थानुमानीय अभिनियम के प्रथम नियम के लिये भी व्यवहृत हो सकती है। हेतु उद्देश्य मे समग्रत, अशत अथवा सर्वथा नही उपस्थित हो सकता है। इन तीनो सम्भावनाओ को सवादित्व के नौ प्रकारो के साथ सयुक्त करने पर हमे २७ प्रकार के हेतु मिलेंगे जिनमे से केवल चार ही सिद्ध हेतु, अर्थात् सवादक होगे। और अधिक सूक्ष्मताओ का समावेश करने पर हेतुओ की तालिका मे अनन्त वृद्धि की जा सकती हैं।[1] दिङ्नाग के कुछ अनुगामियो ने यह व्यर्थ का श्रम किया है किन्तु स्वय दिङ्नाग इससे विरत रहे। अत्यधिक उपयोगी सिद्धान्त को भी विवेकहीन अतिरजना के द्वारा अनुपपत्ति के रूप मे परिणित कर दिया जा सकता है। महत्त्वपूर्ण और उपयोगी केवल वही आधारभूत विभेद हैं जिनकी स्वय दिङ्नाग ने स्थापना की है, अर्थात् यह कि कोई हेतु या तो १) यथार्थ अर्थात् सिद्ध और सवादक होता है, अथवा २) वह असिद्ध होता है, अथवा ३) विरुद्ध होता है, अथवा ४) अनैकान्तिक, अर्थात् अव्याप्त और असवादक होता है।

साराश यह है एक अनुमान, जिसकी कि परार्थानुमान केवल एक शाब्दिक अभिव्यक्ति होता है, तीन पदो के बीच एक जटिल सम्बन्ध है। इनमे से एक अधिष्ठान अथवा उद्देश्य (उ) है। यह उस परमार्थ सत् के क्षण को धारण अथवा उसे व्यक्त करता है जो अन्य दो अन्योन्याश्रित पदो की अधिरचना द्वारा उद्दिष्ट होता है। इन दोनो मे से एक आश्रित भाग होता है, और दूसरा वह भाग जिस पर प्रथम भाग अनिवार्यत आश्रित होता है। आश्रित भाग, यत यह अनिवार्यत आश्रित होता है अत, उस भाग को ससूचित करने की शक्ति से युक्त होता है जिस पर यह आश्रित रहता है। इस बाद वाले को, इसलिये, तार्किक फल अथवा तार्किक विधेय अथवा बृहत पद (बृ) कहते हैं। साथ ही, आश्रित भाग को अधिष्ठान पर भी उपस्थित रहना चाहिये जिससे वह विधेय को अधिष्ठान से सम्बद्ध कर सके। अत यह हेतु अथवा मध्य पद (म) ही है जिसके द्वारा 'बृ' 'उ' से सम्बद्ध होता है। इस प्रकार, इन तीन पदो के बीच एक द्विविध सम्बन्ध होता है। 'म' सामान्यत, अनिवार्यत और तर्कत 'बृ' पर आधारित होता

---

[1] तुकी० Stosiak Fallacies and their classification according to the early Indian Logicians, art. in Rocznik Orientelisty-czny, t, VI, पृ० १९१-१९८।

है; और 'म' समग्रत और यथार्थत 'उ' पर एक तथ्य के रूप मे उपस्थित रहता है। 'म' की 'उ' पर उपस्थिति अपने फल के रूप मे 'वृ' की 'उ' पर उपस्थिति का वहन करती है। हमारे आज के समय में तिब्बत तथा मंगोलिया मे व्यवहृत बौद्ध परार्थानुमान का यह रूप है—

मेरा 'उ' अमुक अमुक है
मेरा 'वृ' ,, ,, ,,
मेरा 'म' ,, ,, ,,

यह ठीक है अथवा गलत है? अर्थात् क्या 'उ' पर 'म' की उपस्थिति ठीक है या गलत? और क्या 'म' का 'वृ' पर आश्रयत्व ठीक है या गलत? यदि दोनो ठीक हैं तो हेतु निश्चियात्मक और परार्थानुमान आक्षेपरहित है।

यदि यह गलत है तो क्या गलत है? क्या 'म' की 'उ' पर उपस्थिति गलत है? अथवा क्या म' का 'वृ' पर अनिवार्य आश्रयत्व गलत है? प्रथम दशा मे हेतु यथार्थता से और द्वितीय में सवादित्व से रहित होगा।

इस प्रकार, किसी परार्थानुमान की प्रामाणिकता का परीक्षण करने पर केवल तीन ही उत्तर सम्भव हैं। परीक्षित शिष्य उत्तर देंगे कि या तो —

१) हेतु ठीक है। मैं उसे स्वीकार करता हू (=कामम्)
२) हेतु असिद्ध है! (=असिद्धो हेतु)।
३) कोई व्याप्ति नहीं है! (=व्याप्तिर् न भवति)।

वर्गीकरण विशद है। इन तीन के अतिरिक्त और कोई उत्तर सम्भव नहीं हैं। यह कि वादी-प्रतिवादी जो कुछ कहते है उसे वे समझते है और यह कि उनके द्वारा प्रयुक्त पद सन्दिग्ध नही है, यह एक स्वस्पष्ट शर्त है।

हेत्वाभास अपर्याप्त रूप से स्पष्ट पदो के नीचे प्रच्छन्न हो सकता है। इसका विश्लेषण करना चाहिये तथा इसे असन्दिग्ध रूप मे स्पष्ट भी करना चाहिये। अपने मोटे रूप मे कोई हेत्वाभास कभी भी नही अथवा कदाचित ही उपलब्ध होता है। वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि मानव बुद्धि मे सत्य के लिये एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यदि हेत्वाभास को उसे स्पष्ट रूप से दिखा दिया जाय तो वह अन्यथा नहीं जा सकता। अत उपदेशात्मक प्रयोजनो के लिये ऐसे तर्कवाक्यो पर अभ्यास करना उपयोगी है जो सर्वथा गलत हैं, इतने स्पष्ट रूप से गलत कि वे किसी के मन मे कभी उत्पन्न ही नही हो सकते। कोई हेत्वाभास वास्तव मे उसी समय उत्पन्न होता है जब उसकी प्रकृति अस्पष्ट शब्दविन्यास द्वारा प्रच्छन्न हो जाती है। शब्दविन्यास का स्पष्टीकरण हो जाने पर हेत्वाभास का मोटा रूप प्रगट हो

जाता है। एक ऐसे हेत्वाभास का जिसमे न 'म' और 'उ' के बीच और न 'म' और 'बृ' के बीच ही कोई सम्बन्ध होता है, यह उदाहरण है "समस्त भेड अश्व हैं क्योंकि वे गायें हैं।" प्रकार का परार्थानुमान किसी के मन मे कभी नही आया क्योंकि, जैसा कि वाचस्पतिमिश्र ने कहा, है मानवबुद्धि मे सत्य के लिये एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। परन्तु ऐसे प्रसिद्ध तर्कों को, जिनमे न तो कोई यथार्यता है और न कोई व्याप्ति, 'म' तथा 'उ' के बीच और न 'म' तथा 'बृ' के बीच ही किसी प्रकार का सम्बन्ध है, एक प्रच्छन्न रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

निम्नलिखित उदाहरण एक मोटे रूप से ऐसी स्थितियो को व्यक्त करेंगे जिनमे १) या तो दोनो सम्बन्ध ठीक हैं, अथवा २) हेतु यथार्थता से रहित है, अथवा ३) कोई व्याप्ति नही है —

१) वाद का उद्देश्य (उ) एक घट है।[1] तार्किक विधेय (बृ) "एक अनित्य सत्ता"। हेतु (म) "क्योंकि यह विद्यमान है"। हमे यह परार्थानुमान मिलेगा।

जो कुछ विद्यमान है वह एक अनित्य सत्ता है।

घट विद्यमान है।

यह अनित्य सत्ता है।

उत्तर—ठीक है।

२) वाद का उद्देश्य (उ) एक घट है। तार्किक विधेय (बृ) एक "अ–सत्ता" है। हेतु (म) "क्योंकि यह विद्यमान नही है।" तब हमे यह परार्थानुमान मिलेगा —

जो विद्यमान नही है वह सत्ता नही है।

घट विद्यमान नही है।

यह सत्ता नही है।

उत्तर—हेतु असिद्ध। दोष मध्य - आधारवाक्य मे है क्योंकि घट विद्यमान है।

३) वाद का उद्देश्य (उ) एक घट है। तार्किक विधेय (बृ) "एक नित्य सत्ता"। हेतु (म)—"क्योंकि यह विद्यमान है।" तब हमे यह परार्थानुमान मिलेगा —

जो कुछ भी विद्यमान है वह नित्य सत्ता है।

---

[1] दिङ्नाग का उदाहरण 'शब्द' है।

घट विद्यमान है।

यह एक नित्य सत्ता है।

उत्तर—कोई व्याप्ति नही। वृहत आधारवाक्य गलत है क्योकि अनित्य वस्तुयें हैं। आकृतियो के रूप मे परिणत करने पर 'उ' 'म' और 'वृ' के इन सम्बन्धो को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है —

१) जब 'वृ' 'उ' की दृष्टि से सिद्ध है, तो उत्तर है हाँ !

२) जब 'वृ' 'उ' की दृष्टि से असिद्ध है, तो यह प्रश्न होता है क्यो ?

३) जब 'म' (हेतु) 'वृ' की दृष्टि से सिद्ध नही है, किन्तु यह 'उ' की दृष्टि से सिद्ध है, तो उत्तर है कोई व्याप्ति नही !

४) जब 'म' (हेतु)'उ' की दृष्टि से सिद्ध नही किन्तु 'वृ' की दृष्टि से सिद्ध (अथवा असिद्ध भी) है, तो उत्तर है : हेतु असिद्ध है !

यह एक मोटी रूपरेखा है, इसके उदाहरण आगे दिये जायेंगे। प्रत्येक हेत्वाभास इन मोटे रूपो मे से किसी न किसी के रूप मे आकृत्यन्तरित हो सकता है।

§ २. असिद्ध हेत्वाभास

असिद्ध हेत्वाभास क्या है इसे बताया जा चुका है। हम कह चुके हैं कि जब हेतु का उसके फल के साथ निरपवाद सम्बन्ध असन्दिग्ध रूप से स्थापित हो जाता है किन्तु उद्देश्य मे हेतु की उपस्थिति को या तो सर्वथा अस्वीकृत या सन्दिग्ध माना जाता है तब हमे असिद्ध हेत्वाभास मिलता है। दूसरे शब्दो मे जब हेतु का प्रथम पक्ष सिद्ध नही होता अथवा परार्थानुमानीय अभिनियम के प्रथम नियम का उल्लङ्घन होता है तब हमें असिद्ध हेत्वाभास मिलता है।

हम यह भी कह चुके हैं कि योरोपीय सिद्धान्त के शब्दो मे इसे पक्ष-आधारवाक्य का एक हेत्वाभास कहा जा सकता है। जब लघुपद पर हेतु की उपस्थिति या तो असम्भव अथवा सन्दिग्ध होती है तब निष्कर्ष एक हेत्वाभास होता है। इस प्रकार के हेत्वाभास का सरलतम उदाहरण उस समय प्रगट होता है जब कि दो तथ्यो के बीच निरपवाद सम्बन्ध तो लेशमात्र भी सन्दिग्ध नही होता किन्तु वह स्थान सन्दिग्ध होता है जहाँ किसी उदाहरण में उसे व्यवहृत किया जाना चाहिये।

मान लीजिये हम एक मयूर का शब्द सुनते हैं।[1] इसमे कोई सन्देह नही है कि यह शब्द मयूर की उपस्थिति का एक लक्षण है। और हमारे सामने

[1] न्यावि० और न्याविटी० पृ० ६४ १७, अनुवाद पृ० १७७।

अनेक गुफायें हैं जिनमे से किसी मे मयूर छिपा है किन्तु हम इस बात का निर्णय नही कर सकते कि वह किसमे है। ऐसी स्थिति मे निष्कर्ष, जिसे निश्चित होना चाहिये, असम्भव है। वास्तव मे हमे यह स्थिति मिलेगी —

साध्य-आधारावक्य जहाँ कही मयूर का शब्द है वहाँ वह उपस्थित है।

पक्ष-आधारवाक्य शब्द (सम्भवत) उस गुफा से आ रहा है।

निष्कर्ष मयूर (सम्भवत) उस गुफा मे उपस्थित है।

यहाँ निष्कर्ष केवल सम्भाव्य है निश्चित नही, और इसी आशय मे यह एक हेत्वाभास है। यह सन्दिग्धता का हेत्वाभास है। यह सन्दिग्ध का हेत्वाभास नही है। आगे हम देखेंगे कि अनैकान्तिक (सन्दिग्ध) हेत्वाभास का नाम कुछ अन्य प्रकारो तक सीमित है।

किसी अनुमानात्मक निश्चय मे न केवल अन्तरस्थ यथार्थता के सम्बन्ध में सन्दिग्धता ही किसी हेतु को असिद्ध बनाती है वरन् उसकी स्थापित अयथार्थता उसमे उल्लिखित प्रत्येक हेतु को असिद्ध हेत्वाभास मे परिणत कर देती हैं। उदाहरण के लिये, एक पृथक् आध्यात्मिक पदार्थ के रूप मे आत्मा को बौद्ध अस्वीकार करते हैं, यह एक अयथार्थ पदार्थ है। फलस्वरूप एक हेतु के रूप मे जो भी विधेय इसके साथ सम्बद्ध होगा वह एक असिद्ध हेतु होगा।

उदाहरण के लिये, वैशेषिक जीवात्मा को एक ऐसा सर्वगत द्रव्य मानते हैं जो स्वय अपने मे अचेतन और गतिरहित होता है—गति रहित इसलिये कि सर्वगत होता है। सुख-दु ख की भावनायें यद्यपि आत्मा के निहित गुण हैं तथापि ये सर्वगत नही हैं। ये उसके (आत्मा के) केवल उसी भाग मे प्रगट होती हैं जो शरीर और उसके आन्तरिक अवयव की उपस्थिति के साथ एकीभूत होता है। आन्तरिक अवयव और आत्मा के बीच एक विशेष अन्तर्किया एक विशेष क्षण पर सर्वगत आत्मा के एक निश्चित भाग मे किसी सुखद अथवा दु खद भावना को उत्पन्न करती है। जब शरीर अपने को स्थानान्तरित करता है तब भावनायें तदनुरूप उसी व्यक्ति के गतिरहित आत्मा के अन्य भागो मे उत्पन्न हो जाती हैं।

इन विचारो को निम्नलिखित परार्थानुमान के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है ?

साध्य आधारवाक्य ऐसा, द्रव्य, जिसके गुणो को सर्वदेशावस्थित देखा जा सकता है, सर्वगत होता है, जैसे आकाश।

पक्ष-आधारवाक्य आत्मा ऐसा द्रव्य है जिसके गुणो को सर्वदेशावस्थित देखा जा सकता है

निष्कर्ष आत्मा सर्वगत है।

हेतु की उसके फल के साथ निरपवाद व्याप्ति असन्दिग्ध रूप से स्थापित है। साध्य-आधारवाक्य ठीक है किन्तु पक्ष-आधारवाक्य नही। हेतु यथार्थता से रहित है, क्योकि व्यवहार का विषय, यथार्थता का वह विषय जो दो अन्योन्याश्रित विकल्पो की तार्किक अधिरचना द्वारा उद्दिष्ट होना चाहिये, एक कोरी कल्पना है। एक पृथक् सर्वगत द्रव्य के रूप मे आत्मा का कम से कम बौद्धो के लिये कोई अस्तित्व नही है। अत तर्क यथार्थता के एक हेत्वाभास को, बौद्ध परार्थानुमानीय अभिनियम के प्रथम नियम के विरुद्ध हेत्वाभास को व्यक्त करता है।

यद्यपि बौद्धो के मत से एक पृथक् द्रव्य के रूप मे आत्मा सत्तारहित है, और आत्मा से सम्बद्ध प्रत्येक विधेय भी समान रूप से अयथार्थ होगा, तथापि यह उसी समय 'अयथार्थ होगा जब आत्मा लघु पद का, निष्कर्ष के उद्देश्य का स्थान ग्रहण करेगी क्योकि तर्क और यथार्थता के बीच सम्पर्क-बिन्दु यही स्थित है। यदि यथार्थता, अधिष्ठान, अथवा सम्पूर्ण तर्क मे अन्तरस्थ यथार्थता अनुपस्थित है तब असिद्ध हेत्वाभास होगा। अन्य परार्थानुमानो को, जिनमे आत्मा लघुपद का स्थान नही ग्रहण करता, तार्किक सगति की दृष्टि से बौद्धो के आत्मा की अस्वीकृति के विशेष सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति से रहित माना जायगा। उदाहरण के लिये, इस रूप मे अनुमान का कि "जीवित प्राणी आत्मा से युक्त होता है क्योकि वह जीववत् कार्यों से युक्त होता है" जैसा कि आगे दिखाया जायगा, शुद्ध तर्कशास्त्र की दृष्टि से आत्मा की यथार्थता या अनिश्चितता के विवाद मे लिप्त पक्षो के मत से सर्वथा स्वतन्त्र रूप से विश्लेपण किया जायगा। असिद्ध हेत्वाभास लघुपद अथवा पक्ष-आधारवाक्य की यथार्थता या सन्दिग्धता से सम्बद्ध हेत्वाभास है।

यह साधारण व्यवहार की बात है कि सभी सार्वजनिक वादो, तथा साथ ही साथ, सभी तर्कनाओ मे वादी और प्रतिवादी पक्षो द्वारा प्रयुक्त पदो का एक निश्चित और समान अर्थ ही होना चाहिये। यदि एक पक्ष किसी पद को एक आशय मे तथा दूसरा एक भिन्न आशय मे ग्रहण करता है तो उनके बीच कोई नियमित और सद्भावनापूर्ण वाद-विवाद नही हो सकता।

किन्तु जब एक पक्ष सद्भावनापूर्वक एक ऐसे अर्थ मे किसी शब्द का प्रयोग करता है जो उसके विपक्षी को अस्वीकार्य है तब ऐसा हो सकता है कि निगमन उस पक्ष के लिए तो उपयुक्त हो किन्तु उसके विपक्षी के लिये

अयथार्थ (असिद्ध) और अस्वीकार्य होगा। उदाहरण के लिये, जब जैन यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि[1] —

साध्य-आधारवाक्य ऐसा प्राणी जो छाल के उतर जाने पर मर जाता है वह सजीव होता है।

पक्ष-आधारवाक्य वृक्ष ऐसे ही प्राणी हैं।

निष्कर्ष वृक्ष सजीव होते है।

इस तर्क को जैन अपने दृष्टिकोण से सिद्ध या ठीक मान सकते है क्योकि मृत्यु क्या है और सजीव क्या है इन विषयो पर उनका अपना दृष्टिकोण हो सकता हैं। किन्तु बौद्धो के लिये यह तर्क असिद्ध है क्योंकि मृत्यु क्या है और सजीव क्या है इस विषय पर इनकी एक भिन्न परिभाषा हैं। इनके दृष्टिकोण से वृक्ष वह यथार्थ विषय नही हैं जिनमे इन बातो को ढूंढा जा सके। हेत्वाभाम इनके लिये असिद्ध हेत्वाभास, पक्ष-आधारवाक्य का हेंत्वाभास होगा। बौद्ध साध्य-आधारवाक्य के विरुद्ध भी आपत्ति कर सकते है, अर्थात् इस नियम के विरुद्ध कि "छाल के उतर जाने पर जो मर जाता है वह सजीव प्राणी होता है", किन्तु यह एक भिन्न प्रश्न है। प्रस्तुत उदाहरण मे इस नियम का न तो अस्वीकृत किया गया है और न इस पर सन्देह किया गया है। किन्तु यह मान लेने पर कि यह ठीक है, इसका वृक्षो के लिये प्रयोग बौद्धो के दृष्टिकोण से असम्भव है, क्योकि इनके लिये 'मृत्यु' शब्द का एक भिन्न अर्थ है। इनके लिये मृत्यु का अर्थ चेतन जीवन की समाप्ति है और वृक्षो की दशा मे वास्तव मे ऐसा नही देखा जाता।

जैनो[2] के ही एक इसी के समान तर्क को भी कि "वृक्ष सोते हैं क्योकि रात्रि के समय वे अपने पत्तों को बन्द कर लेते हैं," असिद्ध होने के रूप मे अस्वीकृत कर दिया जायगा क्योकि रात्रि के समय सभी वृक्ष नही बल्कि कुछ विशेष प्रकार के ही वृक्ष अपनी पत्तियो को बन्द करते हैं। यह, पुनः पक्ष-आधारवाक्य का एक हेत्वाभाम है। किसी शुद्ध परार्थानुमान मे कोई भी विशेष निश्चय ग्राह्य नही है। यह निश्चय कि "कुछ वृक्ष रात्रि के समय अपनी पत्तियो को बन्द करते हैं" कोई निश्चत निष्कर्ष नही प्रदान करता।

किन्तु इसका उल्टा भी घटित हो सकता है। ऐसा हो सकता है कि पक्ष-आधारवाक्य उस दार्शनिक के लिये अयथार्थ या असिद्ध हो जो स्वय उसे उद्धृक करता है। यह ऐसी दशाओ में हो सकता है जब वह अपने विपक्षी के

---

[1] न्यावि० और न्याविटी० पृ० ६२ १३, अनुवाद पृ० १७३।

[2] न्यावि० और न्याविटी० पृ० १९.७, अनुवाद पृ० ५४।

मत को स्वीकार न करते हुये भी उससे अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन मे लाभ उठाने के लिये उसे उद्धृत करता है। किसी विदेशी और अविश्वसनीय सिद्धान्त से इस प्रकार लाभ उठाने की प्रवृत्ति की दिङ्नाग ने भर्त्सना की है।

उदाहरण के लिये साख्य दार्शनिक यह मानता है कि सुख-दु ख की समस्त वेदनायें स्वय अपने मे अचेतन हैं क्योकि केवल आत्मा ही चेतन है। किन्तु आत्मा परिवर्तनरहित और केवल प्रकाशित मात्र कर सकता है, वह किसी वेदना को धारण नही कर सकता। साख्य-दार्शनिक के लिये वेदनायें मूल प्रकृति की विकास, और इस आशय मे ये इनके लिये नित्य है[1] क्योंकि ये मूल प्रकृति से निर्मित हैं। किन्तु इन्हे अचेतन सिद्ध करने के लिये साख्य दार्शनिक बौद्धो के उस सिद्धान्त का लाभ उठाता है जो किसी भी नित्य सत्ता के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। वेदनायें आती-जाती रहती है किन्तु वे किसी स्थायी द्रव्य में निहित नही होती। तदनन्तर सांख्य यह तर्क प्रस्तुत करता है —यदि वेदनायें अनित्य हैं तो वे आत्म-चेतन नही हो सकती क्योकि चेतना केवल आत्मा का ही नित्य तत्व है।

विपक्षी के सिद्धान्त से इस प्रकार लाभ उठाने की इस विधि की दिङ्नाग ने भर्त्सना की है। यह एक असिद्ध-हेत्वाभास है क्योकि हेतु स्वयं उसी दार्शनिक के लिये असिद्ध है जो उससे पुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है।

असिद्धत्व और असवादित्व का एक सम्मिलित हेत्वाभास भी सम्भव है, किन्तु ऐसी दशाओ मे इसे सामान्यतया एक असिद्ध वर्ग के अन्तर्गत रक्खा जाता है क्योंकि हेतु का असिद्धत्व, उसकी यथार्थ उद्देश्य में उपस्थिति वह प्रथम शर्त है जिसे इसे अवश्य सन्तुष्ट करना चाहिये।[2]

§ ३. विरुद्ध हेत्वाभास

यह सवादित्व अथवा व्याप्ति का हेत्वाभास है। हेतु अथवा मध्यपद को उसके स्वाभाविक फल के साथ नहीं बल्कि उसके विवर्तित फल के साथ, उसके स्वाभाविक फल की अपेक्षा विरोधी अश के साथ निरपवाद व्याप्ति

---

[1] कारण-अवस्थायाम् नित्यम्।

[2] दिङ्नाग चार असिद्धो की गणना करते हैं उभय, अन्यतर, सन्दिग्ध और आश्रय-(धर्मी-) असिद्ध। दूसरी और अन्तिम के उपविभाजन द्वारा धर्मकीर्ति प्रत्यक्षत छ की गणना करते हैं। तुकी० न्यामुख० पृ० १४।

के रूप मे व्यक्त किया जाता है। दिङ्नाग की व्यवस्थित तालिका मे यह दूसरा और आठवाँ स्थान ग्रहण करता है। इसका महत्त्व प्रमुखत' सैद्धान्तिक ही है और यह उस अधिकतम असवादित्व को दिखाता है जो किसी तार्किक हेतु मे उपस्थित हो सकता है। व्यवहार मे एक अप्रच्छन्न और विशुद्ध रूप मे इसका मिलना कदाचित ही सम्भव है। सत्य और संवादित्व के प्रति 'मानव बुद्धि की स्वाभाविक प्रवृत्ति' इस प्रकार के 'हेतु' का तीव्र विरोध करेगी। किन्तु किसी अनिश्चित अस्पष्ट अथवा अपर्याप्त रूप से सम्मिश्रित शब्दावली के पीछे प्रच्छन्न होने की दशा मे अक्सर ऐसा होता है कि यह हेत्वाभास कुछ सत्याभासी तर्कनाओ के अन्तस्तल मे निहित मिलता है। स्थिति सख्या २ और स्थिति सख्या ८ के बीच अन्तर यह है कि प्रथम मे हेतु समस्त असपक्षो मे उपस्थित होता है और द्वितीय मे यह निषिद्ध क्षेत्र के केवल एक भाग मात्र को आवृत्त करता है। इसकी समान विशिष्टता उन समस्त सपक्षो मे हेतु की सर्वथा अनुपस्थिति है जहाँ इसे अनिवार्यत उपस्थित होना चाहिये था। इस प्रकार का प्रच्छन्न विरुद्ध हेत्वाभास उन स्थानो पर मिलता है जहाँ कोई दार्शनिक ऐसा तर्क प्रस्तुत करता है जो विश्लेषण करने पर स्वय उस दार्शनिक द्वारा स्वीकृत आधारभूत सिद्धान्तो के विपरीत सिद्ध होता है। विरुद्ध हेत्वाभास का अप्रच्छन्न रूप निम्नलिखित दो उदाहरणो मे मिलता है।

१) वेद के शब्द नित्य सत्तायें हैं,
क्योकि वे हेतुओ से उत्पन्न हैं।

जो कुछ भी कृतक है वह नित्य है, जैसे आकाश।

व्यक्त व्याप्ति का विपरीत सत्य है। अत प्रस्तुत हेतु विरुद्ध-हेतु है। यह स्थिति सख्या २ पर स्थित है क्योकि यह समस्त सपक्षो, अर्थात् नित्य वस्तुओ, जैसे आकाशादि मे अनुपस्थित है, और यह समस्त असपक्षो, अर्थात् अ-नित्य वस्तुओ, जैसे घटादि मे उपस्थित है।

२) वेद के शब्द नित्य सत्तायें हैं,

क्योकि वे प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न हैं

जो कुछ भी मानव-प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न होता है वह नित्य है।

यहाँ भी पहले की भाँति, हेतु सभी सामानो, अर्थात नित्य वस्तुओ मे अनुपस्थित है। किन्तु पहले उदाहरण से यह इस अर्थ मे भिन्न है कि यहाँ असमानो के सम्पूर्ण निषिद्ध क्षेत्र मे हेतु उपस्थित नही है। यह असमानो के अन्य भाग, जैसे विद्युतादि मे अनुपस्थित है।

प्रच्छन्न विरुद्ध हेतु का एक उदाहरण इस प्रकार है।[1] साख्य दार्शनिक इस बात की स्थापना करना चाहता है कि इन्द्रियाँ किसी की अङ्ग हैं, अर्थात् आत्मा की अङ्ग हैं। आत्मा एक सरल द्रव्य है जब कि इन्द्रियाँ सघातरूप भौतिक निकाय हैं। अत वह इस सामान्य सिद्धान्त की स्थापना करना है कि सहतो की सत्ता सरल के लिये है, अत इन्द्रियो की सत्ता आत्मा के लिये है। इस तर्क की वास्तविक प्रकृति "किसी के लिये अस्तित्व" शब्दो की सन्दिग्धता मे प्रच्छन्न है। वास्तव मे 'किसी के लिये अस्तित्व' का अर्थ उसे साक्षात् या परोक्ष रूप से प्रभावित करना है। और उसे प्रभावित करने का अर्थ उसमे एक परिवर्तन उत्पन्न करना है। किन्तु कोई परिवर्तन केवल एक सघात-रूप वस्तु मे ही उत्पन्न किया जा सकता है, एक स्वभाव मात्र परिवर्तित नही हो सकती।

इस प्रकार, स्थिति यह है कि साख्यो का यह तर्क कि इन्द्रियो का आत्मा के लिये अस्तित्व है, उनके इस आधारभूत सिद्धान्त के विरुद्ध है कि आत्मा एक सरल, असहत और अपरिवर्तनशील द्रव्य है।

प्रच्छन्न विरुद्ध हेतु का यह प्रकार दर्शन मे प्राय अक्सर ही मिलता है। इसे न्याय-सम्प्रदाय के सूत्रो मे पहले ही एक विशेष हेत्वाभास माना गया है। दिङ्नाग इसे अपने विपरीत हेतु के एक प्रकार के रूप मे स्वीकार करते हैं, किन्तु धर्मकीर्ति इसे एक विशेष प्रकार मानना अस्वीकार[2] करते हुये यह कहते हैं कि यह दिङ्नाग द्वारा स्थापित विरुद्ध हेतुओ के दो प्रकारो मे सम्मिलित और उनके हेतुचक्र के दूसरे तथा आठवें स्थानो पर स्थित है।

§ ४. अनैकान्तिक हेत्वाभास

दिङ्नाग के हेतुचक्र के केन्द्र मे ऐसा हेतु स्थित है जो असाधारण है, अर्थात् जिसमे बोधगम्यता की मात्रा न्यूनतम है। इस हेतु का न तो समानो (सपक्षो) मे और न असमानो (असपक्षो) मे ही उपस्थित होने के रूप मे निर्धारण किया जाता है। यह उद्देश्य का समीपवर्ती, और इसीलिये अनिर्णायक होता है। यह कोई हेतु होता ही नही। यदि हम कहे कि वेद के शब्द नित्य हैं क्योकि ये श्रव्य है, तब श्रव्यत्व हेतु उद्देश्य, शब्द मे ही मात्र उपस्थित होगा, यह समस्त समानो (सपक्षो) और साथ ही साथ समस्त असमानो

---

[1] न्यावि० और न्याविटी० पृ० ६३ १३, अनुवाद पृ० १७५।

[2] न्यावि० और न्याविटी० पृ० ७३ ८ और बाद, अनुवाद पृ० २०३ और बाद।

(असपक्षो) मे अनुपस्थित होगा। यह असाधारण और इसीलिये अनिर्णयात्मक होगा। इसकी स्थापना का जब इसका एक अप्रच्छन्न, स्थूल और विशुद्ध रूप से यह असाधारण और इसीलिये अनिर्णयात्मक होगा। इसकी स्थापना का, जब इसका एक अप्रच्छन्न, स्थूल और विशुद्ध रूप से कथन होता है, प्रत्यक्षत केवल एक सैद्धान्तिक महत्व ही होता है। किन्तु, जैसा कि बाद मे देख जायगा, जब यह अपर्याप्त रूप से विश्लेषित और अस्पष्ट विकल्पो अथवा अभिव्यक्तियो में प्रच्छन्न होता है तब, विरुद्ध हेतु की ही भाँति, पर्याप्त व्यावहारिक महत्व प्राप्त कर लेता है। स्थिति जो कुछ भी हो यह निर्णयात्मकता की न्यूनतम मात्रा को व्यक्त करता है, अर्थात् इसकी निर्णयात्मक शक्ति शून्य के बराबर होती है।

इस केन्द्रीय हेत्वाभास के ऊपर और नीचे दो सिद्ध हेतु स्थित हैं। इसके दाहिने और बायें दो विरुद्ध, तथा चारो कोनो पर चार अनैकान्तिक या सन्दिग्ध हेतु स्थित हैं। धर्मकीर्ति कहते हैं[1] कि निश्चितता एक स्थिति है, यह परार्थानुमान का अभीष्ट है और तभी वह निर्णयात्मक होता है। अनिर्णयात्मक ही अनिश्चित है। यह एक ऐसी स्थिति है जब न तो निष्कर्ष और न उसकी अनुपलब्धि का ही निर्धारण किया जा सकता है, किन्तु इसके विपरीत, एक मात्र परिणाम संन्दिग्ध होता है। हम ऐसे हेतु को सन्दिग्ध कहते हैं जो हमे 'एक निष्कर्ष तथा उसकी अस्वीकृति के बीच भ्रमित करता है।"

इन सभी अनैकान्तिक (सन्दिग्ध) हेतुओ की एक समान विशेषता यह है कि साध्य-अधारवाक्य का व्यतिरेक या तो असिद्ध होता है अथवा सन्दिग्ध[2]। यह परार्थानुमानीय अभिनियम के तीसरे नियम का उल्लङ्घन है। असमानो मे हेतु की सर्वथा अनुपस्थिति या तो असिद्ध होती है अथवा सन्दिग्ध। यद्यपि परार्थानुमानीय अभिनियम का तीसरा नियम दूसरे नियम का ही एक दूसरा पक्ष है, तथापि इस नियम का यही वह पक्ष है जिस पर अनैकान्तिकता के सभी हेत्वाभासो मे साक्षात् ध्यान जाता है। अत वसुबन्धु और दिङ्नाग के लिये इन दोनो नियमो के बीच ठीक उसी प्रकार विभेद करना आवश्यक था जिस प्रकार साधर्म्य के परार्थानुमान और वैधर्म्य के परार्थानुमान के बीच, अथवा मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान के विधायक और विघातक रूपो के बीच विभेद करना भी इन लोगो के लिये आवश्यक रहा।

---

[1] न्यावि० पृ० ६५ १८, अनुवाद पृ० १८०।

[2] असिद्ध-व्यतिरेकिन्, सन्दिग्ध-व्यतिरेकिन् वा।

हम कह चुके हैं कि परार्थानुमानीय अभिनियम के तीसरे नियम के साक्षात् उल्लङ्घन से युक्त अनैकान्तिक हेतु के चार प्रकार दिङ्नाग की तालिका के चारो कोनो पर स्थित हैं। इनमे से जो दो बायें ओर के ऊपर तथा नीचे के कोनो पर स्थित हैं, इस समान विशिष्टता से युक्त हैं कि अतिव्यापक हेतु असमानो (असपक्षो) के सम्पूर्ण निषिद्ध क्षेत्र मे उपस्थित है। दो अन्य, जो दाहिने ओर के ऊपर तथा नीचे के कोनो मे स्थित है, ऐसे हेतु से युक्त हैं जो निषिद्ध क्षेत्र के केवल एक भाग मात्र को ही अतिव्याप्त करता है।

यदि हम दिङ्नाग की तालिका के कोनो को मिलाने वाली विकर्ण रेखायें खीचें तो वे एक दूसरे को केन्द्र मे काटेंगी जहाँ असाधारण हेतु स्थित है। ये रेखायें इस केन्द्रस्थ हेतु को उन चारो कोनो से मिलायेंगी जहाँ चार अनैकान्तिक हेतु स्थित हैं। साथ ही साथ, ये विकर्ण रेखायें सन्दिग्ध क्षेत्रो को असन्दिग्ध सिद्ध क्षेत्रो से पृथक् भी करेंगी। हम देख चुके हैं कि चार असन्दिग्ध या सिद्ध हेतु वह दो हैं जो ऊपर के और नीचे के मध्य भागो मे स्थित हैं, तथा अन्य वह दो जो विरुद्ध रूप से असन्दिग्ध तथा बायें और दाहिने मध्य भाग मे स्थित हैं। यह वास्तव मे एक "जादुई चक्र" है।

हेतुओ की तालिका के ऊपरी बायें कोने पर हमे साधारण अनैकान्तिक अथवा अतिव्यापक हेत्वाभास मिलता है। यह एक ऐसा हेतु है जो इसलिये अनिर्णयात्मक है क्योंकि यह समस्त समानो, तथा साथ ही साथ, समस्त असमानो मे भी उपस्थित है। यह भी उसी मात्रा मे अनैकान्तिक है जिसमे असाधारण अथवा व्यापक हेतु। यदि हम कहें कि "वेद के शब्द नित्य हैं क्योंकि वे बोधगम्य हैं",[1] तो बोधगम्यता का हेतु नित्य सत्ताओ, जैसे आकाशादि तथा अनित्य सत्ताओ, जैसे घटादि, दोनो मे ही समान रूप से मिलता है। यह अति-व्यापक होने के कारण ही अनिर्णयात्मक है। जिस प्रकार 'अव्यापक हेतु अपनी निम्नतम सीमा को दिखाना है उसी प्रकार अपनी अधिकतम सीमा को दिखाने के रूप मे इस हेतु का पर्याप्त सैद्धान्तिक महत्व है। अपने नग्न रूप मे यह व्यवहारत कदाचित् ही मिलता है। एक प्रच्छन्न रूप में इसका मिलना न केवल सम्भव ही है, वरन् योरोपीय दर्शन ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करता है जिनमे बोधगम्यता के लिङ्ग से दूरगामी और

---

[1] न्यायबि० और न्यायबिटी०।

महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गये है तथा तर्क के मोटे हेत्वाभास को ढूँढने के लिये अनेक पीढियो के दीर्घ प्रयास की आवश्यकता पडी है ।

तालिका के निचले बायें कोने पर स्थित दूसरा अनैकान्तिक प्रकार ऐसे हेतु से उत्पन्न होता है जो कुछ समानो मे तो उपलब्ध होता है किन्तु असमानो के क्षेत्र को अतिव्याप्त करता हुआ उसे सम्पूर्णत आवृत्त करता है। धर्मकीर्ति यह उदाहरण देते हैं[1] —"शब्द प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न नही होते क्योकि ये अनित्य होते हैं।" 'अनित्यत्व' हेतु अशत समानो मे उपस्थित है, जसे विद्युत मे जो मानवकृति नही है। यह सपक्षो के एक अन्य अश मे अनुपस्थित है, जैसे आकाश मे जो स्वय भी मानव कृति नही है। दूसरी ओर, अनित्यत्व का यह हेतु परार्थानुमान के तृतीय नियम के विरुद्ध समस्त असमानो मे उपस्थित है, जैसे घटादि मे जो मानव कृतियाँ और अनित्य हैं। जहाँ भी मानव प्रयत्न का कृतित्व है वहाँ अनित्यत्व की विशिष्टता भी उपस्थित है। यह हेत्वाभास विरुद्ध के बहुत निकट आता है और अपने नग्न रूप मे कदाचित ही मिलता है। फिर भी १) 'शब्द', २) 'नित्यत्व' अथवा 'अपरिवर्तनशील सत्ता,' और ३) 'प्रयत्नपूर्वक कृतित्व' की अननी उपाश्रित धारणासहित 'हेतुक कृतित्व' अथवा 'परिवतनशील सत्ता' के तीन पदो की ठीक पारस्परिक स्थिति की स्पष्ट स्थापना केवल इनकी उन समस्त पारस्परिक स्थितियो को वर्जित करके ही की जा सकती है जो सिद्ध नही हैं। इनकी ठीक-ठीक तार्किक स्थिति की स्पष्ट और निश्चित स्थापना विभेदीकरण के आधार पर ही की जा सकती है। यदि तार्किक सिद्धान्त इस बात को स्पष्ट रूप से दिखा सकता है कि इस दशा मे क्या वर्जित है तभी वह इस बात को निश्चित रूप से दिखा सकता है कि क्या निहित है। यदि हम एरिस्टॉटिल के इस उदाहरण को कि 'साक्रेटीज मर्त्य हैं क्योकि वह मनुष्य है,' के तीन पदो का वही अन्तर्विनिमय करें, यदि हम साक्रेटीज़, मर्त्य और मनुष्य इन तीन पदो की हर प्रकार की स्थिति का प्रयोग करें जिससे हेत्वाभासी स्थिति वर्जित रहे तो हमे द्वितीय अनैकान्तिक हेत्वाभास का इस रूप मे उदाहरण मिलेगा कि 'साक्रेटीज मनुष्य नही हैं, क्योकि वह मर्त्य है।" इस प्रकार का हेतु विरुद्ध के अत्यन्त निकट है। 'मर्त्य' हेतु असमानो के सम्पूर्ण क्षेत्र को आवृत्त करता है क्योकि समस्त मनुष्य अमर्त्य नही बल्कि मर्त्य हैं। फिर भी यह विरुद्ध हेत्वाभास नही है क्योकि यह समानो के भी एक भाग मे उपस्थित है।

---

[1] न्यावि० और न्याविटी० पृ० ६६८ और बाद, अनुवाद पृ० १८२

मर्त्यत्व जिस प्रकार मनुष्यो मे उपस्थित है उसी प्रकार अ-मानव प्राणियो मे भी उपस्थित है।

अनैकान्तिक हेतु का तीसरा प्रकार, जो तालिका मे दाहिने ऊपरी कोने पर स्थित है, हेतु के सपक्षो के सम्पूर्ण क्षेत्र मे उपस्थित होने और असपक्षो के विरुद्ध क्षेत्र को अशत अतिव्याप्त करने मे निहित है। यह हेत्वाभास सिद्ध हेतु के सर्वाधिक निकट है। यह बहुधा मिलता है। अधिकतर यह एक अवैध व्यतिरेक का परिणाम होता है। यदि प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न समस्त वस्तुये अनित्य है तो यह निष्कर्ष नही निकलता कि सभी अनित्य वस्तु प्रयत्नपूर्वक ही उत्पन्न होती है। यदि धूम सदैव ही अग्नि से उत्पन्न होता है तो यह निष्कर्ष नही निकलता कि अग्नि सदैव धूम उत्पन्न ही करती है। यदि सभी मनुष्य मर्त्य हैं तो यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि सभी मर्त्य प्राणी मनुष्य ही हैं। एरिस्टॉटिल ने भी इस हेत्वाभास को देखा और इसे 'विरुद्ध क्रम का हेत्वाभास' नाम दिया था जिसका अर्थ हेतु तथा उसके तार्किक फल के बीच एक अवैध परिवर्तन है। वास्तव मे इसका पूर्ण महत्त्व तथा अर्थ उस समय स्पष्ट निर्भासित होता है जब नौ अन्य स्थितियो के बीच इसकी स्थिति को, अर्थात् हेतु की समस्त सम्भाव्य स्थितियो की सम्पूर्ण प्रणाली के अन्तर्गत एक तालिका मे इसको स्पष्ट रूप से दिखाया गया हो।

अनैकान्तिक हेत्वाभास का चौथा प्रकार, जो दिङ्नाग की तालिका मे दाहिने निचले कोने पर स्थित है, अपनी दोनो पक्षो मे आशिक उपस्थिति मे निहित है। यह समानो के एक अश मे उपस्थित होता है तथा असमानो के भी एक अश मे। दिङ्नाग[1] यह उदाहरण देते है—"शब्द नित्य हैं क्योकि ये स्थूल नहीं हैं"। स्थूलत्व एक सीमित आयामो की भौतिक सत्ता होनी है। नित्य सत्ताओ के सपक्ष क्षेत्र मे हमे वैशेषिको के नित्य परमाणु मिलते हैं जो स्थूल भी हैं और नित्य भी हैं। किन्तु हमे आकाश भी मिलता है जो सीमित आयामो का स्थूल पदार्थ नही है। अनित्य और परिवर्तनशील सत्ताओं के असपक्ष मे हमे घटादि मिलते हैं जो स्थूल हैं, और हमे कर्म या गति भी मिलती है जो स्थूल नही है। परमाणुओ की तुलना के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकालेंगे कि शब्द अपरिवर्तनशील हैं। गति की तुलना के आधार पर हम यह निकालेंगे कि शब्द परिवर्तनशील हैं। हेतु की स्थिति सर्वथा सन्दिग्ध है। सन्दिग्धता यहाँ अपने अधिकतम स्तर पर मिलती है।

---

[1] न्यावि० और न्याविटी० पृ० ६६ १२, अनुवाद पृ० १८३।

अधिकतम असवादित्य विरुद्ध हेतु मे, अधिकतम व्यापकार्थ अतिव्यापक हेत्वाभास मे, न्यूनतम व्यापकार्थ अव्यापक-अनैकान्तिक मे, तथा अधिकतम सन्दिग्धता इसके चौथे प्रकार मे मिलती है। सरलतम और सर्वाधिक स्वाभाविक हेत्वाभास तीसरे प्रकार मे मिलता है।

§ ५ विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास

सपक्षा और असपक्षो (समानो और असमानो) की दृष्टि से मध्य पद की नौ स्थितियो से स्वतन्त्र रूप से दिङ्नाग एक विशेष हेत्वाभास का उल्लेख करते हुये इसे अनैकान्तिक वर्ग के अन्तर्गत रखते हैं, यद्यपि उनकी तालिका मे इसका कोई स्थान नही है। तालिका को व्यापक तथा उसके अलग अलग एकाशो को परस्पर वर्ज्य माना गया है। प्रस्तुत परवर्ती हेतु को यदि तालिका मे सम्मिलित करना है तो यह एक साथ ही दो स्थानो पर, अर्थात् सिद्ध हेतु (सख्या ४ अथवा ६) के स्थान पर और विरुद्ध हेतु (सख्या २ अथवा ८) के स्थान पर स्थित होगा। यत यह एक साथ ही सिद्ध और विरुद्ध है, अत यह प्रतिसतुलित हो जाता है। प्रत्येक अनकान्तिक हेतु दो विरोधी सम्भावनाओ के बीच दोलन से युक्त होता है। इस प्रकार की सन्दिग्धता की विशिष्टता किसी निश्चय की अनुपस्थिति है। इसमे मानसिक अभिवृत्ति सन्देह की होती है। किन्तु जब दोनो विरोधी समाधानो की समान शक्ति के साथ स्थापना होती है तब मानसिक अभिवृत्ति सन्देह की नही निश्चितता की हो जाती है। ऐसी स्थिति मे एक साथ ही दो निश्चिततायें होती हैं, यद्यपि दोनो ऐसे आधारो पर स्थित होती हैं कि दोनो को विरोध के नियम के अनुसार एक दूसरे को वर्जित करना चाहिये। सामान्यो की यथार्थता सम्बन्धी वैशेषिको के सिद्धान्त को तथा इसके विरोधी सामान्यो की अयथार्थता के सिद्धान्त को विरुद्धाव्याभिचारी के उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया गया है। काल और दिक् की अनन्तता और अन्तता की समस्या, जिसका आरम्भिकतम बौद्ध ग्रन्थो मे निर्धारण किया गया है, सम्भवत अधिक उत्तम उदाहरण होती। दिङ्नाग कहते हैं कि इस प्रकार के विरुद्धाव्यभिचारी प्रमुखत तत्त्वमीमासा तथा धर्म मे सम्भव हैं। आप इस विषय पर यह टिप्पणी करते हैं[1] —"इस ससार में साक्षात् प्रत्यक्ष की शक्ति और धर्मग्रन्थो के प्रामाण्य को (कभी कभी) किसी भी अन्य तर्क से अधिक शक्तिशाली माना जाता है।" इस सीमा के विपरीत भी, धर्मकीर्ति अपने आचार्य पर तर्कशास्त्र के क्षेत्र मे एक तर्कशास्त्रातीत तत्त्व के समावेश का आक्षेप करते हैं। इनका कथन है कि "अनुमान का उपयुक्त क्षेत्र त्रिविध तार्किक

---

[1] न्यायमुख, पृ० ३५ (टुची का अनुवाद)।

सम्बन्ध (अर्थात् उद्देश्य पर हेतु की अनिवार्य उपस्थिति, सपक्षो में इसकी अनिवार्य उपस्थिति, और असपक्षो मे इसकी सर्वथा अनुपस्थिति) है। यह त्रिविधि तार्किक सम्बन्ध, जहाँ तक यह प्रमाण-सिद्ध होता है, अनुमान'' ·· ·· उत्पन्न करता है। अत हम इसे अनुमान का क्षेत्र कहते हैं। ·· ···यत सम्यक् अनुमान मात्र ही हमारा विषयवस्तु है, अत हम किसी ऐसे हेतु का विवेचन नही कर सकते जो एक साथ ही सिद्ध और असिद्ध दोनो है। ··· एक द्विविध हेतु, जो सिद्ध और विरोधी दोनो हो, वह ऐसा कुछ नही होता जो यथार्थ तथ्यो पर आधारित हो।"[1] यत अनुमान तादात्म्य, तदुत्पत्ति और अनुपलब्धि के तीन नियमो मात्र पर आधारित होता है, अत आप आगे कहते हैं कि "एक वास्तविक विरोध हो इसके लिये फल का उसके वास्तविक हेतु के बिना ही, अथवा किसी गुण का उस विकल्प के जिसमें वह निहित होता है सर्वथा बाहर अस्तित्व होना चाहिये। तब अनुपलब्धि को भी उससे कुछ भिन्न होना चाहिये जिसकी हम लोगो ने स्थापना की है।" ये तीन सम्बन्ध—और इनके अतिरिक्त अन्य कोई हो भी नही सकते—विरोध अथवा विरुद्धाव्यभिचारी का कोई अवसर नही प्रदान करते। "जब तर्क वास्तविक वस्तुओ की उपयुक्त रूप से अनुवीक्षित वास्तविक स्थिति पर आधारित होता है ····तब विरुद्धाव्यभिचारी के लिये कोई स्थान नही होता।"[2] ऐसे द्वन्द्वात्मक परार्थानुमान मे, जो अपने सिद्धान्तो को किसी न किसी मताग्रही विश्वासो से ग्रहण करता है और अपने निष्कर्ष का आगमन द्वारा प्राप्त सिद्धान्तो से निगमन नही करता, ऐसे हेत्वाभास सम्भव हैं। इसलिये विरुद्धाव्यभिचारी तर्क का वास्तविक अथवा दिग्दर्शनात्मक परार्थानुमान से अवश्य विभेद करना चाहिये।

§ ६. धर्मकीर्ति के संवर्द्धन

विरुद्धाव्यभिचारी हेतु का धर्मकीर्ति का विरोध उल्लेखनीय है। वास्तव मे दिङ्नाग इस प्रकार के हेत्वाभास पर जोर देते नही प्रतीत होते, और इसके धर्मकीर्ति के मूल्याकन से भी वह तत्वत भिन्न नही है। किन्तु धर्मकीर्ति ने परार्थानुमानीय अभिनियम और हेत्वाभास के प्रकारो के बीच दृढ अनुकूलता पर जोर देने के लिये इस अवसर से लाभ उठाया है। आप कहते हैं कि 'केवल तीन प्रकार के, अर्थात् असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभास ही होते हैं। ये क्रमश उस समय उत्पन्न होते हैं जब या तो एक नियम

[1] न्यायबिंदु टीका पृ० ८० २१ और बाद, अनुवाद पृ० २२१।

[2] वही, अनुवाद पृ० २२२।

अकेले अथवा दो एक साथ या तो असिद्ध अथवा सन्दिग्ध होते हैं।" धर्मोत्तर का कथन है कि "क्रमश का अथ यह है कि प्रत्येक हेत्वाभास उस असिद्धत्व अथवा सन्दिग्धता से निर्धारित होता है जो असिद्धत्व अथवा सन्दिग्धता तत्सम्बन्धी नियम के सम्बन्ध मे निहित होती है।"[1] विरुद्धाव्यभिचारी अथवा प्रतिसतुलित हेत्वाभास का, इस प्रणाली के बाहर होने के कारण, प्रतिवाद किया गया है।

किन्तु तर्कशास्त्र, प्रत्यक्षत, तत्त्वमीमासात्मक और धार्मिक समस्याओ के प्रति सर्वथा विरक्त नही रह सकता। उस शालीन द्वार को जो इसके लिये दिङ्नाग द्वारा खुला छोड दिया गया था, दृढतापूर्वक बन्द कर देने के बाद धर्मकीर्ति इसको एक प्रकार के पृष्ठद्वार से दो अतिरिक्त हेत्वाभासो के रूप मे पुनर्प्रविष्ट कराते हैं। आपका विचार है कि इन दोनो अतिरिक्त हेत्वाभासो को स्वीकृत प्रणाली के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है। सर्वज्ञ, महायानीय दिव्य बुद्ध की धार्मिक समस्या तथा आत्मा की प्रतिसमस्या दोनो मे से प्रत्येक ने हेत्वाभास की अन्तिम०प्रणाली मे धर्मकीर्ति के द्वारा एक अतिरिक्त स्थान प्राप्त किया है।

आत्मा की समस्या को निम्नलिखित परार्थानुमान मे निर्धारित किया गया है[2]. "जीवित शरीर आत्मा से युक्त होता है क्योकि वह श्वास तथा अन्य पशु-क्रियाओ से युक्त होता है।" हेतु असिद्ध नही है क्योकि वह उद्देश्य मे मिलता है, किन्तु उसकी व्याप्ति सन्दिग्ध है। यथार्थवादी यह मानते हैं कि व्याप्ति "विशुद्धत अनुपलब्धि" के रूप मे सिद्ध होती है। पशुक्रियायें निश्चितरूप से ऐसी वस्तुओ मे अनुपस्थित होती हैं जो आत्मा से युक्त नही होती, अत इनकी उपस्थिति विभेद के अनुसार उन सभी स्थानो पर जहाँ ये उपस्थित हैं वहाँ आत्मा की भी उपस्थिति की स्थापना के लिये एक वैध हेतु है। धर्मकीर्ति की इस समस्या की विवेचना विशुद्धरूप से तार्किक है। आप आत्मा की अस्वीकृति के बौद्ध मताग्रह का आश्रय नही लेते।[3] किन्तु तर्कशास्त्र मे आप किसी 'विशुद्ध विधायक' अथवा 'विशुद्ध निषेधक' हेतु को स्वीकार नही करते। तर्क के लिये

[1] न्यावि० पृ० ८० ६, अनुवाद पृ० २२०।

[2] न्यावि० पृ० ७५ २०, अनुवाद पृ० २०८ और बाद।

[3] श्रीधर धर्मकीर्ति के तर्क को उद्धृत करने के बाद उसे अस्वीकार करते हैं। तुकी० न्याकण्ड० पृ० २०४५। इस प्रकार श्रीधर वैशेषिक पद्धति मे उस 'केवल-व्यतिरेक-हेतु' का समावेश करते हैं जिसकी प्रशस्तपाद उपेक्षा करते हैं। तुकी० पृ० २०१।

आप यह मान लेते हैं कि समान और असमान पक्ष हो सकते हैं, अर्थात् आत्मा से युक्त तथा आत्मा से रहित वस्तुयें हो सकती हैं, और यह भी कि यह विशिष्टता कही न कही जीवित और निर्जीव वस्तु मे उपस्थित है, किन्तु आत्मा से युक्त एक वर्ग तथा आत्मा से रहित एक दूसरे वर्ग का अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित नही होता। अभिनियम के दूसरे और तीसरे दोनो ही नियमो का उल्लङ्घन होता है क्योंकि यदि यह मान भी लें कि आत्मा का अस्तित्व कही हैं, तो भी केवल समानो मे ही हेतु की उपस्थिति तथा समस्त असमानो मे उसकी अनिवार्य अनुपस्थिति सन्दिग्ध है। अत हेतु अनैकान्तिक है। आप कहते हैं कि "ऐसे आधारो पर हम न तो जीवित शरीर के साथ एक आत्मा के अनिवार्य सम्बन्ध की स्थापना ही कर सकते हैं और न इसे अस्वीकार कर सकते है।"[1]

सर्वज्ञ परमात्मा के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे धर्मकीर्ति ने एक और हेत्वाभास जोडा है जो दिङ्नाग की हेतु सख्या ७ से थोडा भिन्न है। यह समानो मे उपस्थित होता है किन्तु असमानो मे इसकी अनुपस्थिति सन्दिग्ध रहती है।[2] गत हेत्वाभास मे अभिनियम के दूसरे तथा तीसरे दोनो ही नियमो के सम्बन्ध मे सन्दिग्धता थी। प्रस्तुत हेत्वाभास मे दूसरे नियम का उल्लङ्घन नही होता, किन्तु तीसरे मे यह एक ऐसी समस्या से युक्त है जिसका समाधान नही किया जा सकता। निर्धारण इस प्रकार है "कोई मनुष्य अ-सर्वज्ञ है क्योकि वह वाणी तथा अन्य (मानव प्राणियो के गुणो) से युक्त है।" इस मानव मे वाणी के गुण की उपस्थिति निश्चित है। प्रथम नियम सिद्ध हो जाता है। हेतु 'असिद्ध' नही है। इसकी समानो, अर्थात् असर्वज्ञ साधारण लोगो मे उपस्थिति भी निश्चित है। इस प्रकार दूसरा नियम भी ठीक उतरता है। किन्तु इसकी असमानो मे अनुपस्थिति, अर्थात् सर्वज्ञ प्राणियो मे वाणी के गुण की अनुपस्थिति सदैव के लिये एक समस्या बनी रहती है क्योकि सर्वज्ञ प्राणी एक तत्वमीमासात्मक और तर्कशास्त्रातीत सत्ता है। हम लोग निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि उसका कोई अस्तित्व है ही नही क्योकि कोई भी अभावात्मक निश्चय अनुभव पर आधारित होता है। ऐसी किसी भी वस्तु की अस्वीकृति से कोई लाभ नही है जिसका कभी अनुभव ही नही किया गया। ऐसी अस्वीकृति, जैसा कि आगे अभावात्मक निश्चय के अध्याय मे दिखाया जायगा, किसी भी आशय मे असिद्ध

---

[1] न्यावि० और न्याविटी० पृ० ७९ २३, अनुवाद पृ० २१९।

[2] न्यावि० और विटी० पृ० ६६ १६ और बाद ; अनुवाद पृ० १८४ ौर बाद।

होगी। यत इस प्रकार अभिनियम के तीमरे नियम का उल्लङ्घन होता है, अत हेतु सन्दिग्ध है। दृष्टान्त की उत्पत्ति सम्भवत इस विचार पर आधारित है कि परमार्थ सत् के अनिर्वचनीय होने के कारण सर्वज्ञ इसे उस मानव भाषा मे नही व्यक्त करेगा जो केवल कल्पना द्वारा रचित सामान्य और अस्पष्ट धारणाओ को व्यक्त करने के उपयुक्त है।[1] यह धर्मकीर्ति द्वारा अन्य कृतियों[2] मे व्यक्त विचार के अनुरूप है—अर्थात् यह विचार कि हम सर्वज्ञता का न तो प्रत्यक्ष कर सकते हैं और न उसको व्यक्त ही कर सकते हैं। परमार्थ-सत् की ही भांति सर्वज्ञ भी अनिर्वचनीय या अनभिलाप्य है क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष के अयोग्य है और इसको आरोपित प्रत्येक विधेय चाहे विधायक हो अथवा निषेधक, सदैव अनिश्चयात्मक और सन्दिग्ध रहेगा। दृष्टान्त का निर्धारण विभिन्न तर्कों मे तीन धारणाओ का विशुद्ध औपचारिक समायोजन मात्र हो सकता है। यह दृष्टान्त भी असम्भव नही है कि यह पहले की ही भांति, सर्वथा निषेधात्मक हेतु के नैयायिक सिद्धान्त के विरुद्ध एक आधार से युक्त हो। यत समस्त साधारण व्यक्ति असर्वज्ञ है, अत असाधारण व्यक्ति को सर्वज्ञ होना ही चाहिये। इस निगमन को इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया है कि सर्वज्ञत्व और वाणी परस्पर विरोधी नही हैं। इसमे से एक गुण की उपस्थिति दूसरे की उपस्थिति को अस्वीकृत करनेवाले निष्कर्ष का औचित्य सिद्ध नही करती।[3]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास को स्थानान्तरित करते हुये धर्मकीर्ति द्वारा प्रस्तुत अनैकान्तिक हेत्वाभास के इन दो नये प्रकारो का दिङ्नाग से भिन्नत्व अत्यन्त कम है। इस प्रकार के सभी हेत्वाभास तत्त्वमीमासात्मक वस्तुओ से सम्बद्ध और इसी कारण अनिश्चयात्मक है। ये विशुद्ध तार्किक नही है क्योंकि ये हमे तर्कशास्त्र के क्षेत्र से बाहर स्थानान्तरित कर देते हैं।

§ ७. इतिहास

(क) अपोहवाद (द्वन्द्वन्याय) की नियम पुस्तिकाये

तर्कशास्त्र, अर्थात् सत्यान्वेषणशास्त्र, भारत मे अपने आरम्भिक समय मे सत्यान्वेषण की अपेक्षा त्रुटियो के वर्गीकरण से अधिक सम्बद्ध मिलता है।

---

[1] तुकी० न्याकणि पृ० ११२ २४. 'उपदेशो बुद्धादीनाम् सर्वज्ञत्व-अभाव-साधनम्।

[2] तुकी० सन्तानान्तर-सिद्धि के मेरे रूसी अनुवाद का पृ० ४९।

[3] न्यावि० और न्याविटी० पृ० ७१.१ और बाद, अनुवाद पृ० १९—

निग्रहस्थानशास्त्र विषयक नियम पुस्तिकायें प्रत्यक्षत उस समय भी प्रचलित थी जब प्रमाण की विधि के सिद्धान्त का अभी निर्धारण नही हुआ था। न्याय सम्प्रदाय के सूत्रो के साथ एक इसी प्रकार की नियमपुस्तिका सलग्न है जो प्रत्यक्षत मूल रूप मे एक स्वतन्त्र पुस्तक रही हो सकती है।

जब असङ्ग और वसुबन्धु के समय मे बौद्धो ने तर्कशास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया तब इन लोगो ने भी इस प्रकार की नियमपुस्तिकाओ की रचना की जो न्यायसूत्र के साथ सलग्न पुस्तिका मे वस्तुत बहुत भिन्न नही थी। इस नियमपुस्तिका मे २२ ऐसे उदाहरण निहित हैं जहाँ त्रुटि करने के कारण प्रतिपक्षी को पूर्वपक्षी का निग्रह तथा मध्यस्थ को उसे वाद मे पराजित घोषित करना चाहिये। नियमित वाद मे एक पूर्वपक्षी, एक उत्तरपक्षी या प्रतिपक्षी तथा एक मध्यस्थ की आवश्यकता पडती थी जो स्वय भी टिप्पणी करने तथा प्रश्न पूछने का अधिकारी होता था। निग्रहस्थानशास्त्र प्रत्यक्षत: मध्यस्थ के लिये नियमित था तथा इसकी रचना वादकला के उस दीर्घकालीन अभ्यास और अनुभव का परिणाम थी जिसने निग्रहस्थानो तथा शास्त्रार्थ को नियमित करने वाले नियमो की स्थापना को सम्भव बनाया। वह त्रुटियाँ या निग्रहस्थान जो पूर्वपक्षी पर आरोपित किये जा सकते हैं, इस प्रकार हैं —

१) स्वय अपनी प्रतिज्ञा का (अनुपयुक्त दृष्टान्त द्वारा) उच्छेद (प्रतिज्ञाहानि),
२) (एक ही शास्त्रार्थ मे) अन्य प्रतिज्ञा का ग्रहण (प्रतिज्ञान्तर),
३) विरोधी प्रतिज्ञा (प्रतिज्ञाविरोध)।
४) स्वयं अपनी प्रतिज्ञा का परित्याग (प्रतिज्ञासन्यास)।
५-६) हेतु अथवा आशय को परवर्तित करना (हेत्वान्तर, अर्थान्तर)।
७-१०) निरर्थक, आबोधगम्य, असमक्त अथवा असमयोचित तर्क (निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल)।
११-१२) अभिव्यक्ति मे अपर्याप्तता अथवा अतिरिक्तता (न्यून, अधिक)।
१३) पुनरुक्ति।
१४) अननुभाषण।
१५) अज्ञान।
१६) समस्या को समझने मे असमर्थता (अप्रतिभा)।
१७) पराजय को आसन्न जानकर किसी अन्य कार्य के लिये जाने का बहाना बनाते हुये शास्त्रार्थ को स्थगित करना (विक्षेप)।
१८) मतानुज्ञा।

१९-२०) पर्यनुयोज्योपेक्षण अथवा निरनुयोज्यानुयोग ।
२१) अपसिद्धान्त ।
२२) हेत्वाभास ।

अन्तिम निग्रहस्थान की स्थिति उल्लेखनीय है । यह प्रमुख त्रुटि प्रतीत नही होती किन्तु इसका भाग्य यह रहा कि इसने अन्य सब को पीछे ढकेल कर अपना आधिपत्य जमा लिया । फिर भी, इसी न्यायशास्त्र मे एक अन्य स्थान पर इसे दोहराया गया है जहाँ परार्थानुमान के सिद्धान्त के सन्दर्भ मे पाँच प्राकार के हेत्वाभासो की स्थापना की गई है[1] । यह न्यायसूत्रो के नाम से विख्यात प्रबन्ध की सकर उत्पत्ति का एक परोक्ष प्रमाण है । इस प्रबन्ध की रचना प्रत्यक्षत भारतीय तर्कशास्त्र के विकास के उस काल मे हुई प्रतीत होती है जब परार्थनुमान के एक स्पष्ट सिद्धान्त के महत्त्व का अनुभव किया जाने लगा था । इसके आरम्भिकतम भाष्यकार, वात्स्यायन, परार्थानुमान को पहले ही वास्तविक तर्कशास्त्र अथवा 'परम-न्याय' [2]कहते है । विधायक और विघातक रूपो का ठीक-ठीक प्रयोग, आपके अनुसार पण्डितो की विशिष्टता है ।[3]

फिर भी, परार्थानुमान और स्वार्थानुमान की विवेचना करनेवाला न्यायसूत्र का अश निग्रहस्थानो का विवेचन करनेवाले अध्यायो की तुलना मे कम हैं । निग्रहस्थानो का विस्तार से विवेचन परम्परा का अनुसरण करने के लिए ही किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि वसुबन्धु ने निग्रहस्थान की एक नियमपुस्तिका की रचना की, किन्तु दिङ्नाग ने इस आधार पर इस विषय के अध्याय को छोड देने का निश्चय किया कि इसके अन्तर्गत या तो ऐसी बातें सम्मिलित है जिनका प्रतिवादात्मक परार्थानुमान मे निर्धारण किया जाना चाहिये अथवा ऐसी अनावश्यक बातें सम्मिलित हैं जो तर्कशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आती ही नही । [4]दिङ्नागोत्तर न्याय मे यह अध्याय सवथा लुप्त हो जाता है ।

निग्रहस्थान पर इस अध्याय अथवा पृथक पुस्तिका की ही भाँति आरम्भिक साहित्य मे जाति पर भी अध्याय या पुस्तिकायें मिलती हैं । इस प्रकार के जाति ऐसे प्रतिवादो के समान होते हैं जो यथर्थता से रहित हैं । इस प्रकार के प्रतिवाद

---

[1] न्यासू० १ २ ४
[2] 'परमो न्याय', न्याभा० पृ० ५ ५ ।
[3] 'पण्डित-रूप', वही, पृ० ४३ ७ ।
[4] तुकी० न्यामु० अनुवाद पृ० ७१ ।

अधिकतर मिथ्या समानता पर आधारित प्रतितर्क होते हैं। उदाहरण के लिये, जब पूर्वपक्षी यह कहता है कि "शब्द अनित्य है, क्योकि वह प्रयत्न का फल है, जैसे घट", तब उत्तरपक्षी उसका इस प्रति-युक्ति द्वारा उत्तर देता है कि "शब्द नित्य है क्योकि वह सीमित आयामो का कोई मूर्त पदार्थ नही, जैसे असीम आकाश। जो कुछ भी सीमित आयाम का मूर्त पदार्थ नही है उसे नित्य होना चाहिये", इत्यादि। न्यायसूत्र मे इस प्रकार के जाति के २४ प्रकारो की गणना करानेवाला एक पृथक् अध्याय मिलता है। इसी प्रकार वसुबन्धु ने इस विषय पर एक पुस्तिका की रचना की जिसमे उन्होने इनकी सख्या कम कर दी। दिङ्नाग ने इस अध्याय को सर्वथा छोडा नही है किन्तु उन्होंने प्रकारो की सख्या और घटा कर कुल १४ कर दी है। फिर भी आप इस विषय को बहुत महत्त्व नही देते और कहते हैं कि इस प्रकार के कुतर्कों के असीम[1] प्रकार हैं और इन्हे किन्ही वर्गों के अन्तर्गत नही रक्खा जा सकता। दिङ्नागोत्तर न्याय इस अध्याय को सर्वथा छोड देता है। जाति गलत परार्थानुमान होते हैं और ये उन तार्किक हेत्वाभासो के अतिरिक्त और कुछ नही जिनकी एक व्यापक प्रणाली की दिङ्नाग ने स्थापना की है।

हेत्वाभासो और कुतर्कों के सर्वाधिक प्रचुर स्रोत, छल, का न तो निग्रहस्थानो के अन्तर्गत उल्लेख है और न कुतर्कों के ही अन्तर्गत। इसे एक भिन्न अध्याय के अन्तर्गत रक्खा गया है जहाँ शास्त्रार्थ के विभिन्न प्रकारो का विवेचन किया गया है। छल के तीन प्रकारो का यहाँ उल्लेख है, यथा — वाक्-छल, सामान्य-छल, और उपचार-छल। छल का प्रयोग ऐसा व्यक्ति करता है जो किसी भी प्रकार विजयी अवश्य होना ही चाहता है।

प्राचीन यूनान की ही भाँति-भारत मे भी वाद-विवाद या तो 'वाद' होते थे या 'जल्प-वितण्डा'। दो सदुद्देशी पक्षो अथवा गुरु और शिष्य के बीच किसी वास्तविक वाद मे एक अध्यक्ष की उपस्थिति मे प्रतिज्ञा और प्रति-प्रतिज्ञा का केवल प्रमाण-तर्क द्वारा ही समर्थन किया जाना चाहिये। किन्तु जल्प और वितण्डा मे केवल विजय के लिये उत्सुक उत्तरपक्षी सत्य की कोई भी परवाह किये बिना ही छल, जाति और निग्रहस्थानो का प्रयोग करता है। उसका उद्देश्य श्रोताओ पर धाक जमाना और विजय प्राप्त करना मात्र होता है। छल, जल्प और वितण्डा की सदुद्देशी शास्त्रार्थियो को भी अनुमति थी किन्तु प्रमाण की प्रमुख विधि के रूप मे नही। यदि वह तथ्यो

---

[1] न्यामु० अनुवाद पृ० ७१।

और सम्यक् हेतुओ के द्वारा अपनी प्रतिज्ञा की स्थापना मे सफल हो जाता था किन्तु फिर भी यदि उसका कपटी विपक्षी उस पर आक्षेप करता ही रहता था तो उसे भी उसी प्रकार कुतर्को द्वारा उत्तर देने की अनुमति थी। इसका उद्देश्य उसे सिद्ध करना नही था जो वह साधारण रूप से सिद्ध कर चुका होता था बल्कि आक्षेपो के विरुद्ध सत्य की रक्षा करना तथा विपक्षी के तर्कों की निरर्थकता को सिद्ध करना होता था। जिस प्रकार कँटीली झाडियो के डठलो को रखकर बीज की रक्षा की जाती है उसी प्रकार निष्कपट शास्त्रार्थी को अपने अविवेकशील और कुतर्की विपक्षी की प्रतीत होनेवाली विजय को विसर्जित करने के लिये जल्प-वितण्डा जैसे कँटीले तर्क के प्रयोग की स्वीकृति थी।

(ख) माध्यमिको के प्रतिवादात्मक परार्थानुमान

इस प्रकार, भारत मे दिङ्नाग ने जिस द्वन्द्वात्मक न्याय को प्रचलित पाया वह यद्यपि सत्य की निश्चित स्थापना के लिये नही, तथापि कपटी विपक्षी के विरुद्ध सत्य की रक्षा के लिये छल, जल्प और वितण्डा की अनुमति देता था। द्वन्द्वात्मक पद्धति अपने आरम्भ से ही अत्यन्त विवादशील रही है। जल्प या वितण्डा का प्रयोग करने वाले प्रतिपक्षी के विरुद्ध जल्प या वितण्डा के प्रयोग की अनुमति है। फिर भी, जल्पात्मक या वितण्डात्मक शास्त्रार्थ दो प्रकार का होता है। दोनो की समान विशेषता युक्तियो की सर्वथा उपेक्षा तथा किसी भी प्रकार विजय प्राप्त करना है। किन्तु ऐसा करने मे जहाँ जल्प का आश्रय लेने वाला यह दिखाता है कि वह वास्तविक प्रतिज्ञा का समर्थन कर रहा है वही वह कपटी माध्यमो से उससे मिलती-जुलती प्रतिज्ञा का समर्थन करता है। दूसरा, वितण्डावादी खुले रूप से किसी वास्तविक प्रतिज्ञा का समर्थन नही करता। वह इसका प्रयोग उन सभी युक्तियो को नष्ट करने के लिये करता है जिनका उसके विरुद्ध प्रयोग किया गया होता है। एक प्रकार से इस प्रकार का शास्त्रार्थी ईमानदार होता है क्योकि वह तर्कशास्त्र मे कोई भी विश्वास नही रखता। वितण्डा तब वितण्डा नही रह जाता क्योकि इसकी सर्वाधिक प्रमुख विशिष्टता, उद्देश्य तथा प्रयोजन की कपटता, उपस्थित नही होती। किसी भी शास्त्रार्थ अथवा द्वन्द्वात्मक वाद का उद्देश्य किसी विपक्षी के असत्यवादित्व के लिये उसकी भर्त्सना करना होता है। पूर्वपक्षी उस समय अपने उद्देश्य मे सफल ही कहा जा सकता है यदि वह अपने विपक्षी को स्वय अपने को ही बाधित करने के लिये विवश कर दे।

दार्शनिको के एक वर्ग के अनुसार ऐसा सदैव ही किया जा सकता है। मानव बुद्धि सदैव ही अपना विरोध करती रहती है क्योकि वह स्वभावत अपोहात्मक अथवा द्वन्द्वात्मक होती है। एक यथार्थवादी दार्शनिक, जो तर्कशास्त्र की विषयात्मक यथार्थता के साथ सगति के तथ्य मे विश्वास करता है, यदि इस प्रकार की निषेधात्मक पद्धति का आश्रय लेता है तो वह अपने प्रति असत्य होता है, उसकी विधि एक कपटपूर्ण वितण्डा होती है। किन्तु बौद्धो के लिये सत्य तर्कशास्त्र से सर्वथा भिन्न होता है। बौद्धो के एक वर्ग के लिये तर्कशास्त्र के निषेध से ही सत्य निर्मित होता है। इन लोगो के विश्वास के अनुसार समस्त तर्क के विनाश से ही सत्य प्रकट होता है। यह सत्य योगियो का ससार होता है। पारिशेषविधि[1] से, तर्कशास्त्र के विनाश के अवशेष के रूप मे इसका बोध होता है। यह तर्कशास्त्रातीत होता है। माध्यमिक सम्प्रदाय ने अपने को इसी विधि के साथ समीकृत किया है। चन्द्रकीर्ति[2] इस सम्बन्ध मे अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"वास्तव मे सामान्य नियम तो यही है कि उत्तर पक्षी को विस्तार-पूर्वक तर्क की उसी धारा के साथ सहमत होने के लिये प्रेरित करना चाहिये जिसको कि पूर्वपक्षी अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत करता है। किन्तु (माध्यमिको की स्थिति सर्वथा भिन्न है)। वह किसी स्थापना को अपने पूर्वपक्षी को आश्वस्त करने के लिये प्रमाणित नही करता। उसके पास कोई ऐसे वास्तविक तर्क या दृष्टान्त नही होते (जिनके सम्बन्ध मे वह स्वयं आश्वस्त हो)। वह एक अपनी (प्रति-)प्रतिज्ञा प्रस्तुत करता है और इसे उसी सीमा तक सिद्ध करने का प्रयास करता है जहाँ तक यह पूर्वपक्षी की प्रतिज्ञा के समानान्तर चलते हुये उसको विनष्ट करती है। इस प्रकार वह ऐसी स्थापनायें लाता है जिन्हे सिद्ध नही किया जा सकता। यहाँ तक कि वह स्वय आत्मविरोधी हो जाता है। वह अपने पूर्वपक्षी को अपनी इस (कल्पित प्रतिज्ञा) के प्रति निश्चित रूप से आश्वस्त नही कर सकता। किन्तु क्या इस प्रमाण से भी कोई अधिक तर्कपूर्ण प्रतिवाद हो सकता है कि पूर्वपक्षी स्वय अपनी प्रतिज्ञा की स्थापना कर सकने मे समर्थ नही है? क्या इसके बाद भी और तर्क प्रस्तुत करने की आवश्यकता रह जाती है?"

---

[1] 'पारिशेष्यात्', तुकी ताटी० पृ० २२६।

[2] तुकी० मेरा निर्वाण' पृ० ९५।

इस सम्प्रदाय[1] के अनुसार प्रत्येक परार्थानुमान एक हेत्वाभास होता है क्योंकि उसमे समान शक्ति वाला एक विरोधी अथवा प्रति-परार्थानुमान भी निहित होता है जिसे प्रसङ्गानुमान कहते है। अपनी इस विशिष्टता के कारण ही इस सम्प्रदाय ने एक दूसरा (प्रासङ्गिक-सम्प्रदाय) नाम भी प्राप्त किया है।

इस प्रकार, बौद्ध एकतत्त्ववाद की माध्यमिक-प्रासङ्गिक सम्प्रदाय मे, तार्किक आधारो पर नही बल्कि समस्त तर्कशास्त्र के सर्वथा विनाश के आधार पर स्थापना हुई। फिर भी, तर्क की यह सर्वथा उपेक्षा शीघ्र ही इसी सम्प्रदाय की एक अन्य अभिवृत्ति द्वारा स्थानान्तरित हो गई। इसकी एक नवीन शाखा की उन भव्य (भाव-विवेक) ने स्थापना की जो यह मानते थे कि तार्किक विधियो से सर्वथा बचे रहना असम्भव है। यदि आप इसी बात की स्थापना करना चाहते है कि सभी परार्थानुमान हेत्वाभास हैं, तो आप को स्वतन्त्र अनुमान के रूप मे व्यवस्थित विश्वसनीय तर्क के आधार पर ही ऐसा सिद्ध करना होगा। प्रासङ्गिको के साथ भिन्नता के रूप मे इस नवीन सम्प्रदाय को 'स्वातन्त्रिक' कहा जाने लगा। एक तत्त्ववाद के सिद्धान्तो का परित्याग किये बिना ही सर्वप्रथम असङ्ग ने उन विषयो के अन्तर्गत अपोहवाद तथा तर्कशास्त्र का समावेश कराया जिनका किसी बोधिसत्त्व को अध्ययन करना चाहिये[2], और वसुबन्धु ने न्यायपद्धति के अनुसार अपोहवाद का अध्ययन करते हुये उनका अनुसरण किया। इस प्रकार, इन्होने उस परिष्कार का आरम्भ किया जिसको बाद मे दिङ्नाग और धर्मकीर्ति द्वारा पूर्ण विकास प्राप्त हुआ।

वसुबन्धु द्वारा स्थापित हेत्वाभासो की पद्धति क्या थी इसे हम ठीक-ठीक नही जानते। किन्तु यत परार्थानुमानीय अभिनियम की उन्होने स्थापना की थी, और यत दिङ्नाग के हेत्वाभासो की पद्धति की शुद्ध इसी अभिनियम के अनुसार स्थापना हुई है, और यत इस पद्धति के प्रमुख अश वैशेषिक

---

[1] जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है (दे० पृ० ३५), बाद के वेदान्तियो ने इसे अपनी विधि बना लिया। श्रीहर्ष अपने को सीधे वैतण्डिक पुकारते हुये कहते हैं कि माध्यमिक विधि को तर्कशास्त्र द्वारा उल्टा नही जा सकता।

[2] तुकी० मैत्रेय-असङ्ग के उत्तरतन्त्र का ओबरमिलर का अनुवाद।

सम्प्रदाय मे भी मिलते है, अत हम यह मान सकते हैं कि वसुवन्धु की पद्धति सम्भवत या तो दिङ्नाग के समान अथवा उससे थोडी सी ही भिन्न थी।

दिङ्नाग की प्रणाली ने वैशेपिक और न्याय सम्प्रदायो के उपदेशो को प्रभावित किया था, और अब हम इन सम्प्रदायो के हेत्वाभासो के सिद्धान्त पर इस प्रभाव का अध्ययन करेंगे।

(ग) बौद्धों द्वारा प्रभावित वैशेषिक प्रणाली

कणाद सूत्र शास्त्रार्थ के नियमो अथवा अपोह का विवेचन नही करते। किन्तु इनमे अनुमान की परिभाषा,[1] उन सम्वन्धो की गणना जिन पर अनुमान आधारित होता है,[2] और यह वक्तव्य मिलता है कि हेतु का (उद्देश्य और तार्किक फल के साथ) सम्वन्ध 'सुज्ञात' अथवा निश्चित रूप से[3] स्थापित होना चाहिये। यदि यह निश्चित रूप से स्थापित न हो तो यह अ-हेतु[4] अथवा हेत्वाभास होगा। आगे इन सूत्रो मे कहा गया है कि हेत्वाभास या तो 'अप्रसिद्ध अथवा सन्दिग्ध'[5] हो सकता है। कणाद के समय इन शब्दो का ठीक-ठीक आशय क्या था इसे हम नही बता सकते क्योकि कोई प्राचीन टीका उपलब्ध नही है, किन्तु इनके नामो से हम बहुत अधिक सम्भाव्यता के साथ यह अनुमान कर सकते हैं कि ये हेत्वाभास दिङनाग के दो प्रमुख वर्ग, असिद्ध और अनैकान्तिक, के अनुरूप है। इस बात मे तथा कुछ अन्य मे भी, अपने यथार्थवाद के विपरीत भी वैशेषिक लोग बौद्ध परिष्कार के अग्रवर्ती प्रतीत होते हैं।[6] इस तथा कुछ अन्य कारणो ने ही प्रशस्तपाद को कणाद के सूत्रो मे दिङ्नाग के पूर्ण विकसित परार्थानुमानीय सिद्धान्तो (नि सन्देह इसके ज्ञानमीमासीय आधारो के विना ही) को पढने के लिये प्रोत्साहित किया या नही इस बात का निर्णय हम लोगो के

---

[1] वैसू० ९. १, १।

[2] वही।

[3] वही ३ १, १३।

[4] वही ३ १, १४।

[5] वही ३ १, १५।

[6] साथ ही, वैसू० २ २,२२ मे सन्दिग्ध हेतु की ऐसी परिभाषा है जो वस्तुत दिङ्नाग की सपक्षो (तुल्य-जातीय) और असपक्षो (अर्थान्तर-भूत) दोनो मे उपस्थित होने की परिभाषा के अनुरूप है। प्रशस्तपाद (पृ० २३९ १४) हेत्वाभास के प्रकारो के सम्वन्ध मे इस सूत्र का उल्लेख करते है।

लिये कठिन है।" आप तीन परार्थानुमानीय नियमों के विरुद्ध और अविनियम की व्याख्या से आरम्भ करते हुए यह कहते हैं कि इन नियमों में से एक अथवा दो का उल्लङ्घन अहेतु उत्पन्न करता है जो या तो असिद्ध होगा अथवा सन्दिग्ध या विरुद्ध। आप इस बात को सीधे कहते हैं कि यह काश्यप का, अर्थात् स्वयं कणाद का सिद्धान्त है, यद्यपि उनके सूत्रों में हेत्वाभासों का द्विविध विभाजन (अप्रसिद्ध और सन्दिग्ध) के अतिरिक्त

---

¹ प्रशस्तपाद की दिङ्नाग पर निर्भरता को मैं अपने एक लेख (म्यूजियोन, ५, पृ० १२९ और बाद) में स्थापना कर चुका हूँ। उन्होंने दिङ्नाग से ये बातें ग्रहण की हैं: १) 'स्वार्थ' और 'परार्थ' के रूप में अनुमान का विभाजन, २) त्रिरूप लिङ्ग; ३) चार अग्राह्य प्रतिज्ञायें; ४) हेत्वाभासी दृष्टान्त, ५) हेत्वाभासों के तीन वर्ग जिनको इन्होंने 'अनध्यवसित' वर्ग और जोड़कर चार वर्गों के अन्तर्गत पुनर्वर्गीकृत किया। प्रो० ए० बी० कीथ (इण्डि० लॉजिक, पृ० ३१) ने मुझ पर एक ऐसा मत प्रकट करने का आरोप किया है जिसे मैंने कभी प्रकट ही नहीं किया, कम से कम उस रूप में तो कदापि नहीं जिस रूप में उन्होंने इसे प्रस्तुत किया है, यथा यह कि "दिङ्नाग का तर्कशास्त्र वसुबन्धु के माध्यम से प्रशस्तपाद से निष्कृष्ट हुआ है।" और मैंने कभी यह भी नहीं माना है कि "सूत्रों और प्रशस्तपाद के बीच की अवधि में वैशेषिक सम्प्रदाय में कोई विकास नहीं हुआ।" आज हम यह जानते हैं कि 'त्रैरूप्य' सिद्धान्त वसुबन्धु की कृतियों में पहले से निहित था। यह सत्य है कि मैंने वसुबन्धु तथा प्रशस्तपाद के बीच कुछ सन्दिग्ध समानताओं का, तथा साथ ही साथ बौद्धों, विशेषतः वात्सीपुत्रीयों और वैशेषिकों के बीच कुछ समानताओं का संकेत अवश्य किया है। यहाँ हम एक आरम्भिक समय में पारस्परिक प्रभाव तथा ग्रहण की सम्भावना को अस्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु विकसित त्रैरूप्य सिद्धान्त अनिवार्यतः बौद्ध है। इसका उद्देश्य उस अनिवार्य अविनाभाव की स्थापना करना है जिसे यथार्थवादी अस्वीकार करते हैं। निश्चय का परमार्थ-सत् के साथ सम्बद्ध कुछ अर्थ रखता है। यथार्थवादियों ने इसे पूर्णतया समझा था। वाचस्पति (तात्० पृ० १२७) दिङ्नाग के इस कथन के उद्धरण द्वारा बौद्ध सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं। "अनुमान-अनुमेय-भाव' सत्-असत् की अपेक्षा नहीं रखता (न सद्-असद्-अपेक्षते)।" त्रैरूप्य पर उद्योतकर के तीव्र आक्षेप का भी यही कारण है। इन्होंने किसी वैशेषिक अथवा सांख्य सिद्धान्त के विरुद्ध कदाचित् ही इतना अधिक विरोध दिखाया होगा।

और कुछ नही देखा जा सकता जो अशत बौद्ध प्रणाली के समान है।[1] तदनन्तर आप इस द्विविध विभाजन मे दो अन्य वर्ग जोडते हैं जो दिङ्नाग के विरुद्ध और विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभासो के अनुरूप हैं। इस नवीनता को भी कणाद पर अध्यारोपित करने की दृष्टि से आप मूल सूत्रो का एक योगविभाग[2] करते हुये उनमे दो के, जो वास्तव मे मिलते हैं, स्थान पर चार वर्गों का कृत्रिम सृजन करते है। इस प्रकार आप असिद्ध और अनैकान्तिक हेतु के साथ विरुद्ध और अनध्यवसित हेतु भी जोड देते है। विरुद्ध हेतु एक विरुद्ध हेत्वाभास होता है और उस तथ्य के, जिसकी स्थापना

---

[1] यह उल्लेखनीय है कि सूत्र ३ १, १४–१५ को विपर्यस्त करने के बाद प्रशस्त अपना यह कहकर औचित्य सिद्ध करते हैं (पृ० २०४) कि इस प्रकार सूत्रकार की भी हेत्वाभास की वही प्रणाली हो जायेगी जो काश्यप की थी (एतद् एव आह)। किन्तु आप त्रैरूप्य को किसी सूत्र के साथ सम्बद्ध करने की परवाह नही करते। स्थिति ऐसी है कि त्रैरूप्य सर्वथा काश्यप से निष्क्रष्ट है, किन्तु हेत्वाभास की उनकी प्रणाली, यदि थोडे परिवर्तन का समावेश कर दिया जाय तो, सूत्रो मे भी मिल सकती है। यह रहस्यमय व्यक्ति, काश्यप कौन हैं ? क्या यह दिङ्नाग या वसुबन्धु ही तो नही हैं ?

[2] इस प्रक्रिया को, जो वैयाकरणो मे बहुत प्रचलित है, 'योग-विभाग' कहते है। यह या तो कृत्रिम रूप से दो सूत्रो को एक मे सयुक्त कर देने अथवा एक को दो मे विभाजित करने, तथा इस प्रकार एक नवीन आशय का सृजन कर देने मे निहित है। वैसू० ३ १,१४ को अगले सूत्र के साथ-साथ सयुक्त कर देने से यह आशय निकलता है कि अनपदेश (= अहेतु) या तो 'अप्रसिद्ध', अथवा 'असन्', । अथवा 'सन्दिग्ध' है। तुकी० प्रशस्त० पृ० २०४ २६। 'विरुद्ध' के रूप मे 'अप्रसिद्ध' की व्याख्या करने पर हमे दिङ्नाग का त्रिविध विभाजन मिलता है। किन्तु प्रशस्त का पृ० २३८ ९ और बाद एक चौथा वर्ग भी जोडता है जिसमे दिङ्नाग का 'असाधारण' और 'विरुद्धा-व्यभिचारी' भी आ जाता है और इसे 'अनध्यवसित' कहा गया है। हम इस पद का 'रिक्त और शून्य' अनुवाद कर सकते हैं क्योकि 'अध्यवसाय' का अर्थ 'निश्चय' है ' और 'अनध्यवसित' का 'अ-निश्चय' अर्थ हुआ। इस विषय पर तुकी० याकोबी इण्डि० लॉजिक, पृ० ४८१, कीथ इण्डि० लॉजिक, पृ० १३३, १३९, फैडेगन वैशेषिक सिस्टम, पृ० ३०२।

के लिये यह उद्दिष्ट था, सर्वथा विरुद्ध तथ्य को सिद्ध करता है। यह एक ऐसा हेत्वाभास है जो अपनी चरम सीमा पर होता है। उदाहरण के लिये यह कहने की अपेक्षा कि "यह घोडा नही है क्योकि इसके सीग है" यह ऐसा कहता है कि "यह एक घोडा है क्योकि इसके सीग हैं।" अनध्यवसित हेतु की उत्पत्ति सकर है। सर्वप्रथम, इसमे दिङ्नाग का "असाधारण-हेत्वाभास" अर्थात् इस प्रकार का हेत्वाभास सम्मिलित है कि "शब्द अनित्य (अथवा नित्य) है, क्योकि श्रव्य है।" हम देख चुके हैं कि यह हेत्वाभास दिङ्नाग की तालिका मे निगमनात्मक शक्ति की सीमा के रूप मे केन्द्रीय स्थान (सख्या ५) पर स्थित है।[1] समस्त हेतुओ के इस विपन्नतम रूप के साथ प्रशस्तपाद उस विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास को समीकृत करते हैं जिसे दिङ्नाग ने *'अनैकान्तिक' वर्ग के अन्तर्गत रक्खा है।*[2] प्रशस्तपाद[3] कहते हैं कि "कुछ दार्शनिक (और प्रत्यक्षत इससे दिङ्नाग ही लक्षित हैं) ऐसे हैं जो यह मानते है कि जब (समान शक्ति वाले) दो हेतु एक दूसरे को बाधित करते है तब सन्दिग्धता उत्पन्न होती है और हेतु अनैकान्तिक हो जाता है। किन्तु हम सिद्ध करेंगे इस प्रकार का हेतु 'असाधारण' की ही भाँति 'अनध्यवसित' होता है। प्रत्यक्षत प्रशस्तपाद यह विचार करते हैं कि जब दो हेतु परस्पर विघातक हैं, तब यदि उन पर अलग अलग विचार किया जाय तो वे हेतु होगे,[4] किन्तु एक उद्देश्य मे सम्मिलित होने पर वे 'अहेतु' होगे क्योकि उनका सम्मिलन केवल उद्देश्य मे ही मिलता है। न तो सपक्ष और न अन्यपक्ष ही ऐसे होते हैं जहाँ ऐसा सम्मिलन मिलता हो।[5] यह कृत्रिम और बलात् व्याख्या प्रशस्तपाद कणाद के एक ऐसे सूक्त मे निहित करते हैं जो इससे किसी भी प्रकार सम्बद्ध नही है। दिङ्नाग ने विरुद्धाव्यभिचारी हेतुओ को तत्त्वमीमासा और धार्मिक समस्याओ के क्षेत्र से सम्बद्ध किया है। ऐसे हेतु तर्कशास्त्रातीत और सदैव सन्दिग्ध होते हैं। दोनो विरोधी हेतुओ की शक्ति समान होती है

---

[1] उन कारणो के लिये जिन्होने दिङ्नाग को इसे सम्मिलित करने के लिये बाध्य किया, तुकी० न्यायमुख, अनुवाद, पृ० ३३।

[2] वही, पृ० ३१, ३५, ६०।

[3] पृ० २३९।

[4] फिर भी इन दो असदृश नियमो को एक ही वर्ग के अन्तर्गत रखकर एक संकर उत्पत्ति वाले वर्ग के सृजन का कारण कुछ और ही है, तुकी० नीचे दूसरी टिप्पणी।

[5] वैसू० ३ १,१४, तुकी० प्रशस्तपाद, पृ० २३९ १३।

और कोई भी निर्णय असम्भव होता है। किन्तु प्रशस्तपाद के लिये धर्म के विरुद्ध का अर्थ सत्य के विरुद्ध है। अत आप दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी हेतु को दो भागो मे विभक्त करते हैं। इनमें से एक 'विरुद्ध' वर्ग से सम्बद्ध है और दूसरा अनध्यवसित वर्ग से। धर्म के क्षेत्र मे किसी स्थापित मताग्रह का विरोधी तर्क एक हेत्वाभास है। इसका प्रतिवाद करते हुये इसे उस 'विरुद्ध' वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है जो हेत्वाभास की चरम मात्रा से युक्त है। किन्तु लौकिक तत्त्वमीमासा मे जब दो विरोधी तर्क समान शक्ति से युक्त होते हैं तो वे हेतु को निरर्थक कर देते हैं और उन्हे 'असाधारण' वर्ग के साथ 'अनध्यवसित' प्रकार के अन्तर्गत ही रखना चाहिये।[1]

इस प्रकार प्रशस्तपाद ने, जो वैशेषिक सम्प्रदाय के द्वितीय विधायक थे, अपने सम्प्रदाय मे दिङ्नाग के आकारपरक तर्कशास्त्र के कुछ सिद्धान्तो का समावेश करा कर उसे कुछ रूपान्तरित कर दिया। हेत्वाभासो के रूप मे इन्होने १) चार हेत्वाभासी प्रतिज्ञायें, और २) हेत्वाभासो की उस त्रिविध प्रणाली को ग्रहण किया जिसे इन्होने बाद मे चतुर्विध विभाजन मे पुनर्नियोजित कर दिया। सम्मिलित न्याय-वैशेषिक प्रणाली मे, हम देखेंगे कि,

---

[1] न्यायमुख (अनुवाद, पृ० ३१-३४) से यह स्पष्ट है कि दिङ्नाग के कुछ विरोधी 'असाधारण' (जो हेतुचक्र मे है) और विरुद्धाव्यविचारी (जो हेतुचक्र मे नही है, अथवा जिसे एक साथ ही स्थिति सख्याओ २ और ४ पर स्थित होना चाहिये) को छ अनैकान्तिको की संख्या से वर्जित करते हुये इनकी सख्या कम करके चार कर देते है जो तालिका के चारो कोनो पर (सख्या १, ३, ७ और ९) स्थित हैं। इस प्रकार ये लोग 'असाधारण' और 'विरुद्धाव्यभिचारी' को अनिर्णायक हेतुओ की कोटि तक मे न रखते हुये उसी वर्ग मे फेंक देते हैं जिनमें 'अ–हेतु' स्थित हैं। इन्हे अनध्यवसित मानते हुये प्रशस्तपाद भी सर्वथा यही करते हैं। क्या इसका यह अर्थ है कि इस स्थल पर दिङ्नाग प्रशस्तपाद अथवा अपने किसी अन्य पूर्वगामी का प्रतिवाद करते है ? प्रथम दशा मे यह स्थल मेरे तथा फैडेगन के इस विचार को पुष्ट करेगा कि ये दोनो ही लेखक समकालीन थे तुकी० अलॉ०। टुची (बुद्धिस्ट लॉजिक बिफोर दिङ्नाग, पृ० ४८३) का विचार है कि प्रशस्तपाद ने दिङ्नाग के किसी पूर्वगामी से विचार ग्रहण किये थे, किन्तु अब आपने अपना विचार बदल दिया है, ऐसा प्रतीत होता है, तुकी० न्यायमुख, अनुवाद, पृ० ३१ ५८।

हेत्वाभासी प्रतिज्ञाओ को छोड और हेत्वाभासो की प्रणाली का चतुर्विध विभाजन कर दिया गया है।

निम्नलिखित तालिका दिङ्नाग के प्रशस्तपाद पर प्रभाव और प्रशस्तपाद के भासर्वज्ञ पर प्रभाव को व्यक्त करती है —

हेत्वाभासो की वैशेपिक प्रणाली पर दिङ्नाग के प्रभाव को दिखानेवाली तालिका

वैसू०	दिङ्नाग	प्रशस्तपाद	भासर्वज्ञ
१ असत्	१ असिद्ध	१ असिद्ध	१ असिद्ध
२ सन्दिग्ध	२ अनैकान्तिक (असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी इसी मे सम्मिलित)।	२ सन्दिग्ध (असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी वर्जित)।	२ अनैकान्तिक (असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी वर्जित)।
	३ विरुद्ध	३ विरुद्ध	३ विरुद्ध
		४ अनध्यवसित (=असाधारण+विरुद्धाव्यभिचारी)।	४ अनध्यवसित (=असाधारण)।
			५ सत्-प्रतिपक्ष (=विरुद्धाव्यभिचारी)
	४ पक्षाभास	५ पक्षाभास	६ वाधित (=पक्षाभास)।

(घ) दिङ्नाग से प्रभावित न्याय-पद्धति

बौद्धो के प्रति न्यायसम्प्रदाय का दृष्टिकोण वैशेषिको की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। वस्तुत ये दोनो ही यथार्थवादी सम्प्रदाय एक काम करते है, अर्थात् दोनो ही बिना स्वीकार किये ही एक दूसरे से ग्रहण करते हैं। किन्तु वैशेषिक विनम्र और मितालापी हैं, जब कि इनके विपरीत, नैयायिक निन्दक और आक्रोशी हैं। उद्योतकर त्रिरूपलिङ्ग के दिङनाग के सिद्धान्त को अस्वीकृत करते हैं। वह इसके शब्द-विन्यास तथा विषयवस्तु दोनो पर तीव्र आक्षेप करते हैं। वह कहते हैं कि यह सिद्धान्त ऐसा है जैसे किसी मूर्ख ने इसकी

स्थापना की हो। उद्योतकर के अनुसार तार्किक लिङ्ग का सदैव त्रिरूप होना ही आवश्यक नही है। कुछ वैध निष्कर्ष विधायक उदाहरणो से ही निकाले जा सकते हैं जहाँ विघातक अनुपस्थित हो सकते हैं। अन्य निष्कर्षों के लिये केवल ऐसे विघातक की ही आवश्यकता पडती है जिनमे विधायक का अभाव हो सकता है। इसका अर्थ दिङ्नाग के हेतु की दो अन्य वर्गों से प्रतिपूर्ति करना है। दिङ्नाग के हेतु मे विधायक और विघातक उदाहरण सदैव उपस्थित रहते है (क्योकि दोनो पक्षो से परस्पर दोनो ही अभिहित होते है)। उद्योतकर का तात्पर्य इनमे दो अन्य ऐसे वर्गों को जोड देना है जिनमे एक मे केवल विधायक उदाहरण हो और दूसरे मे केवल विघातक। वास्तव मे विशुद्ध विधायक, विशुद्ध विघातक, और सकर (विधायक-विघातक) के रूप मे तार्किक हेतु के नैयायिक विभाजन के जन्मदाता उद्योतकर हैं। इनके तीव्र आपेक्ष का परिणाम ही विशुद्ध-विधायक और विशुद्ध विघातक वर्गों के सवर्द्धन के साथ दिङ्नाग की पद्धति की स्वीकृति है।

फिर भी, जब उद्योत का लेखक हेत्वाभासो की समस्या का सामना करता है, तो वह पुन वर्गीकरण की दिङ्नाग की प्रणाली को अस्वीकार करने का आडम्बर करता है, किन्तु वस्तुत वह प्रच्छन्न रूप से तथा कुछ सवर्धनो के साथ उसका ही अपनी पद्धति मे समावेश कर लेता है।[1]

---

[1] सपक्षो और असपक्षो के बीच दिङ्नाग की नौ स्थितियो मे उद्योतकर इन्हें और जोड देते है १) पाच स्थितियाँ जिनमे कोई भी असपक्ष नही है, २) तीन स्थितियाँ जिनमें कोई सपक्ष नही है, ३) एक स्थिति जहाँ सपक्ष और असपक्ष दोनो ही अनुपस्थिति हैं, क्योकि उद्देश्य विद्यमान वस्तुओ की समग्रता को आवृत करता है (जैसे कि 'सर्वमनित्यम् कृतकत्वात्', उद्देश्य सभी विद्यमान को आवृत करता है, जहाँ न तो सपक्ष हैं और न असपक्ष)। यह व्याप्ति के १६ प्रकार बना देता है। इसे पक्ष-आधारवाक्य के तीन प्रकारो (उद्देश्य मे समग्रत, उद्देश्य मे अशत, उद्देश्य मे अनुपस्थित) से गुणा करने पर हमे ४८ प्रकार मिलेंगे। अब इन ४८ प्रकारो मे से प्रत्येक मे हेतु या तो सिद्ध हो सकता है अथवा असिद्ध, या तो समर्थ हो सकता है या असमर्थ। ४८ प्रकारो मे से १६-१६ प्रकारो की प्रथम दो शृङ्खलायें और इन्हे ४ से गुणा करने पर हमे ६४+६४=१२८ की सख्या मिलती है। इनमे अविशेषित हेतुओ वाले ४८ मूल प्रकारो को जोड देने पर हमें १७६ की सख्या मिलेगी। किन्तु यह परिकलन-क्रीडा का आरम्भ मात्र है। और अधिक विभेदो के समावेश से अन्तिम सख्या २०३२ निश्चित की गई है।

अपदिष्ट होता है। उद्योतकर यह पूछते हैं कि इस पञ्चविध विभाजन को क्यो सम्मिलित किया गया है, और उत्तर देते हैं कि हेत्वाभासो का एक व्यापक वर्गीकरण प्रस्तुत करना ही इसका उद्देश्य है। "किन्तु (मानव जाति मे) कितने प्रकार के सिद्ध और असिद्ध हेतु प्रचलित है?" यह प्रश्न पूछकर उद्योतकर यह उत्तर देते हैं "काल, वैयक्तिक चरित्र और (प्रत्येक प्रकार की) वस्तुओ से सम्बद्ध स्थितियो द्वारा उत्पन्न प्रकारो की सख्या असीम है। किन्तु निगमित तथ्यो के साथ इनके सम्बन्ध मे सिद्ध और असिद्ध हेतुओ के प्रकारो (अर्थात् हेतु और फल के शुद्ध तार्किक सम्बन्ध के प्रकारो) को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने पर ये सामान्यरूप से एक-सौ-छिहत्तर हैं।" और जब हम नवीन गुणो से उत्पन्न नवीन प्रकारो का परिकलन करते हैं तो, उद्योतकर के कथनानुसार हम सरलता से २०३२ की सख्या तक पहुँच जाते हैं।[1]

अब, इस हास्यास्पद अतिरञ्जना का उद्देश्य क्या है? उद्योतकर इस बात को भली-भाँति जानते हैं कि किसी भी सगत सिद्धान्त को अतिरञ्जना द्वारा असगत बना दिया जा सकता है। इनका उद्देश्य दिङ्नाग की अतिव्याख्या करना तथा सरल पाठक को अपनी आसाधारण चतुरता के प्रदर्शन द्वारा भ्रमित करना है। दिङ्नाग ने एक गणितीय सिद्धान्त के अनुसार हेतु की नौ स्थितियो का निर्धारण किया है। "मैं सरलतापूर्वक गणित के आधार पर लगभग २०३२ स्थितियो की स्थापना करूँगा।" किन्तु उद्योतकर इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनकी यह सख्या अमहत्त्वपूर्ण और आधारभूत सख्या का केवल एक परिमार्जन मात्र है। इसके विपरीत, यह सिद्धान्त महत्त्व-पूर्ण है कि विशुद्ध तार्किक हेत्वाभासो की एक निश्चित सख्या होनी चाहिये और इन्हे एक व्यवस्थित तालिका मे आबद्ध किया जा सकता है। उद्योतकर ने, इस आधारभूत विचार को दिङ्नाग से ग्रहण किया है तथा १७६ अथवा २०३२ की संख्या वास्तव मे दिङ्नाग के नौ प्रकारो पर आधारित एक कृत्रिम और विकसित आडम्बर मात्र है। उद्योतकर यह स्वीकार करते हैं कि, १) किसी भी विशुद्ध तार्किक हेत्वाभास की उत्पत्ति उस समय होती है जब मध्यपद असमानो के निषिद्ध क्षेत्र को अतिव्याप्त करता है, जब

---

[1] तुकी० उद्योतकर की प्रणाली पर प्रो० स्टेसियक की अत्यन्त कौतूहल-वर्धक टिप्पणी जो रोओ० ६, पृ० १९१ और बाद मे प्रकाशित अपने लेख मे उन्होने की है।

यह अतिव्यापकता पूर्ण हो जाती है तब हेतु विरुद्ध बन जाता है, २) यह कि समानो और असमानो मे सत्पक्ष की सम्भाव्य स्थितियो का गणितीय परिकलन किया जा सकता है, और ३) यह कि इस प्रकार परिकलित हेत्वाभासो की संख्या को समानो और असमानो मे हेतु की स्थिति का निर्धारण करने वाले परार्थानुमानीय नियमो की संख्या के साथ सहमति होनी चाहिये। बौद्ध प्रणाली मे ये नियम तीन और हेत्वाभासो के वर्ग भी तीन ही है। उद्योतकर हेत्वाभासो के पाच वर्गों की सत्ता को परिवर्तित करने के लिये स्वतन्त्र नही थे क्योकि इस संख्या को गौतम और वात्स्यायन ने प्रतिष्ठित किया था, किन्तु उन्होने इन लोगो की व्याख्या को सर्वथा परिवर्तित कर दिया और अपनी इस नवीन व्याख्या के अनुसार तीन के स्थान पर पाँच नियमो का निर्माण कर लिया। इस प्रकार विधि की संख्या और निषेध की संख्या के बीच अनुपात की रक्षा हो गई। इनके अनुसार पाँच नियम इस प्रकार है —

१) उद्देश्य मे उपस्थिति।
२) सपक्षो (समानो) मे उपस्थिति।
३) असपक्षो (असमानो) से अनुपस्थिति।
४) विरुद्धाव्यभिचारी न होना।
५) (आरम्भ मे ही) कालातीत न होना।

प्रथम तीन नियम बौद्ध अभिनियम के अनुकूल हैं। चौथा दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी हेतु के अनुसार रचित है। पाँचवां उन ऐसी हेत्वाभासी प्रतिज्ञाओ को स्थानान्तरित करता है जिनको प्रतिज्ञा के रूप मे परित्याग करके इस नवीन सिद्धान्त के अनुसार हेतुओ के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है कि प्रत्येक हेत्वाभास हेतु का हेत्वाभास ही होता है। इनके अनुरूप हेत्वाभासो के पाँच वर्ग इस प्रकार है १) सव्यभिचारी, जो दिङ्नाग के अनैकान्तिक के अनुरूप है, २) विरुद्ध, जो दिङ्नाग के विरुद्ध के अनुरूप है, ३) साध्यसम, जो दिङ्नाग के असिद्ध के अनुरूप है, ४) विरुद्धाव्यभिचारी जो दिङ्नाग के इसी नाम के अनुरूप है, और ५) कालातीत, जो दिङ्नाग से चार पक्षाभासो के अनुरूप है।

निम्नलिखित तालिका न्याय सम्प्रदाय मे हेत्वाभासो की पद्धति के विकास का निदर्शन करती है। यहाँ यह देखा जा सकता है कि भासर्वज्ञ ने जो कुछ ग्रहण किया है वह प्रशस्तपाद द्वारा ग्रहण किये गये होने की पूर्वकल्पना करता है।

हेत्वाभासो की न्याय-पद्धति पर दिङ्नाग के प्रभाव का निदर्शन[1] करनेवाली तालिका

न्यायसूत्र और भाष्य	दिङ्नाग	उद्योतकर	भासर्वज्ञ	गङ्गेश
१. सव्यभिचार	१ अनैकान्तिक	१ सव्यभिचार	१ अनैकान्तिक	१ सव्यभिचार
२ विरुद्ध	२ विरुद्ध	२ विरुद्ध	२ विरुद्ध	२ विरुद्ध
३ प्रकरणसम				
४ साध्य-सम				
५ कालातीत				
	३. असिद्ध	३ साध्य-सम (=असिद्ध)	३. असिद्ध)	३ साध्यसम (=असिद्ध)
	४ असाधारण (अनैकान्तिक मे सम्मिलित)		४ अनध्यवसित (तुकी० प्रशस्तपाद)	
	५ विरुद्धाव्यभिचारी (अनैकान्तिक मे सम्मिलित)	४ प्रकरण-सम	५ सत्-प्रतिपक्ष	४ सत् प्रतिपक्ष
	६ पक्षाभास	५. कालातीत	६ बाधित	५ बाधित

§ ८. योरोपीय समानान्तरतायें

योरोपीय तर्कशास्त्र का कोई भी अन्य अध्याय ऐसा नही है जिसमे हेत्वाभासो के अध्याय की अपेक्षा अधिक निरीह अस्तव्यस्तता का बोलबाला हो। अधिकाश आधुनिक लेखको का विचार यह प्रतीत होता है कि सत्य के अपने मापदण्ड हो सकते हैं किन्तु त्रुटि के नही। त्रुटि के स्रोत और प्रकार, इन लेखको के, अनुसार स्वय जीवन के ही समान अनन्त हैं और इन्हे किसी सगत पद्धति के अन्तर्गत व्यवस्थि नही किया जा सकता। अत इन लेखको ने हेत्वाभासो के अध्याय को सर्वथा छोड देने का निश्चय कर लिया। न

सिग्वर्ट, न बी० अर्डमैन, न गुप्प, न उण्ट, न ग्राइके, न वोमाके इत्यादि, ही इस मौलिक समस्या पर कोई विचार करते हैं। एरिस्टॉटेलियन वर्गीकरण कुछ आधुनिक कृतियो मे भी बना हुआ है। इसके सिद्धान्त को अनार्किक कहा गया है और नवीन व्यवस्थायें प्रस्तावित की गई हैं, फिर भी एरिस्टॉटिल की गणना मे वस्तुत कोई वृद्धि नही की गई है।[1] आर्कबिशप व्हेटली, जिन्होने एक अधिक तार्किक व्यवस्था द्वारा इसमे यथाशक्ति परिष्कार का प्रयास किया है, भी यह मानने के लिये प्रवृत्त हुये है कि "न केवल यही कि किस जाति के साथ हेत्वाभास के प्रत्येक प्रकार को सम्बद्ध किया जाय, वरन् यह भी कि किसी वैयक्तिक हेत्वाभास को ही किस प्रकार के अन्तर्गत रखा जाय, यह बहुधा सन्दिग्धता तथा काल्पनिक चयन की ही बात होती है।" इतना ही नही, स्वय एरिस्टॉटिल भी, तेरह अलग-अलग शीर्षको के अन्तर्गत हेत्वाभासो का निर्धारण तथा वर्गीकरण करने के बाद यह दिखाते हैं कि ये सभी इनमे से एक, प्रतिज्ञान्तर-सिद्धि-दोष, मे आकृत्यन्तरित हो सकते हैं। प्रतिज्ञान्तर-सिद्धि किसी तर्कवाक्य के विरुद्ध प्रस्तुत एक प्रसङ्गानुमान के अतिरिक्त और कुछ नही।[2] प्रत्येक हेत्वाभास,वह चाहे जो कुछ भी हो, या तो उन अभिनियमो अथवा स्थितियो का, जो एक वैध प्रतिज्ञान्तर-सिद्धि अथवा वैध परार्थानुमान का निर्माण करते है, या तो अतिक्रमण करता है अथवा सतोषजनक रूप से पालन करने मे असमर्थ होता है। किसी वैध प्रसङ्गानुमान के नियम भी सर्वथा वही हैं जो किसी वैध परार्थानुमान के होते हैं। उक्त स्वीकृति का स्वाभाविक परिणाम इस बात की स्वीकृति होना चाहिये था कि हेत्वाभासो के प्रकार भी उतने ही होने चाहिये थे जितने कि नियमो के प्रकार। हम देख चुके है कि भारतीय दृष्टिकोण यही है। यत यहाँ तर्कवाक्यो पर नही बल्कि तीन पदो और सर्वाधिक मध्यपद अथवा हेतु पर ध्यान केन्द्रित है। अत तार्किक हेतु के तीन नियमो मे से किसी एक के अथवा एक साथ दो के उल्लङ्घन के रूप मे हेत्वाभास की परिभाषा की गई है। अन्य सब हेत्वाभासो का, जो परार्थानुमानीय अभिनियम के किसी नियम के उल्लङ्घन नही है, अनन्त प्रकार हो सकता है, किन्तु ये विशुद्ध आशय मे हेत्वाभास नही होते। वास्तव मे अभिनियम के प्रत्येक नियम का विवेचन करते समय धर्मोत्तर उन

---

[1] बेन उपु० १. २७८।

[2] ग्रोट उप० पृ० ३९०।

दोषो का सकेत करने की भी सतर्कता प्रदर्शित करते हैं जो उस नियम द्वारा वर्जित हैं।[1] हेत्वाभास के अध्याय के आरम्भ मे ही इनका यह कथन है[2] "यदि कोई त्रिरूप लिङ्ग को वाणी मे निर्धारित करना चाहता है तो उसे शुद्धतापूर्वक ही ऐसा करना चाहिये। यह शुद्धता उस समय प्राप्त होती है जब प्रत्येक नियम के निषेधात्मक प्रतिरूप का भी उसी प्रकार उल्लेख कर दिया जाता है। जब हम यह जानते हैं कि क्या वर्जित करना है, तब हमे इसका श्रेष्ठ ज्ञान हो जाता है कि हमे क्या ग्रहण करना चाहिये।" परार्थानुमान त्रिरूपलिङ्ग के अन्तर्गत किसी तथ्य की शाब्दिक अभिव्यक्ति होना है। यदि इनमे से एक नियम का अकेले अथवा दो का एक साथ उल्लघन किय जाय तो हमे हेत्वाभास ही मिलेगा। "हेत्वाभास वह है जिसमे परार्थानुमान का आभास होता है" किन्तु सत्य नही होता। यह एक ऐसा दोष है जिसमे त्रिरूप लिङ्ग के किसी न किसी नियम का उल्लंघन होता है।"

एरिस्टॉटिल इस सरल तथा प्रत्यक्ष दृष्टिकोण को भी अपना सकने मे क्यो असमर्थ थे इसकी व्याख्या स्वय उनके अभीष्ट द्वारा सरलतापूर्वक हो जाती है। उनका प्रवन्ध, जिसे कभी-कभी हेत्वाभासो का निरूपण करनेवाला बताया जाता है, वास्तव मे वितण्डा की पकड तथा उसके यथोचित प्रतिवाद से सम्बद्ध है। वितण्डा कदाचित ही कभी हेतु के दोष पर आधारित होता है। इसके स्रोत तो अनेक हैं। ये स्रोत तार्किक तो होते ही हैं किन्तु मनोवैज्ञानिक और शाब्दिक भी हो सकते हैं। वितण्डा-विषयक एरिस्टॉटिल का प्रवन्ध जातिशास्त्र-विषयक उन भारतीय प्रवन्धो के समकक्ष है जिनमे हेत्वाभास या तर्काभास कि केवल एक अङ्ग और अपेक्षाकृत एक छोटे से अग के रूप मे ही समस्त सम्भाव्य निग्रहस्थानो का उल्लेख किया गया है।

एरिस्टॉटिल के प्रवन्ध के नाम का वितण्डा-प्रतिवाद अनुवाद किया जा सकता है। यह वितण्डा-प्रतिवाद साक्रेटीज के उस प्रतिज्ञान्तर-सिद्धि का प्रतिरूप है जो किसी प्रतिवादी से सत्य प्राप्त करने के लिये पूछे गये प्रश्नो मे निहित होता है। इसके विपरीत, वितण्डा-प्रतिवाद केवल अस्तव्यस्ता उत्पन्न करने के लिये पूछे गये प्रश्नो मे निहित होता है। यह "प्रतिवाद का एक ऐसा भ्रामक आभास होता है जो साधारण मनुष्यो मे आरोपित होकर उन्हे

---

[1] न्याविटी० पृ० १९६, १९८, १९१० इत्यादि। अनुवाद पृ० ५३ ५४ इत्यादि।

[2] न्याविटी० पृ० ६१.१८ और वाद, अनुवाद पृ० १७१।

इन प्रतिवादो को यथार्थ के रूप मे स्वीकार कर लेने के लिये प्रेरित करता है।"[1] यह उस संस्कृत शब्द 'जाति' के सर्वथा अनुरूप है जिसकी कि 'दूषणाभास' के रूप मे व्याख्या की गई है। हम देख चुके हैं कि इस प्रकार के जाति के २४ प्रकारो की न्यायसूत्रो मे गणना कराई गई है, और इनमे से १४ को दिङ्नाग ने भी स्वीकार किया है। फिर भी ठीक-ठीक अनुरूपता केवल नाम मे ही मिलती है। भारतीय 'आभासी प्रतिवाद' वास्तव मे प्रतिज्ञान्तर-सिद्धि, अर्थात् किसी प्रसङ्गानुमान को व्यक्त करता है। हेत्वाभासी प्रसङ्गानुमान एक ऐसा परार्थानुमान है जो मिथ्या सादृश्य पर आधारित और अपने सकीर्ण आशय मे प्रतिज्ञान्तर-सिद्धि-दोष के अनुरूप है। किन्तु एरिस्टॉटिल के शब्द-दोष उस भारतीय कोटि मे आते हैं जिन्हे 'छल' कहते हैं। इनका संदिग्धता पर आधारित हेत्वाभासो के रूप मे सर्वथा पृथक् विवेचन किया गया है। यह कि एरिस्टॉटिल द्वारा उल्लिखित इस प्रकार के हेत्वाभासो के सभी छ प्रकार तार्किक दोष नही है, स्पष्टतापूर्वक इस तथ्य द्वारा प्रगट हो जाता है कि ज्योही हम इनका किसी विदेशी भाषा मे अनुवाद करने का प्रयास करते है, त्योही ये हेत्वाभास के रूप मे अदृश्य हो जाते हैं। स्वय एरिस्टॉटिल की दृष्टि मे भी ये केवल शाब्दिक मात्र हैं। शेष ७ प्रकारो को इन्होने तो अ-शाब्दिक कहा है किन्तु इनमे से केवल तीन ही विशुद्ध आशय मे तार्किक[1] हैं, शेष मानोवैज्ञानिक अथवा विषयात्मक है।

आर्कविशप व्हेटली हेत्वाभासो का तार्किक और अतार्किक के रूप मे विभाजन करते हैं। किन्तु यह कुछ आश्चर्यजनक ही है कि इनके तार्किक वर्ग के अन्तर्गत अर्ध-तार्किक शीर्षक के नीचे एरिस्टॉटिल के समस्त शाब्दिक हेत्वाभास, जैसे अनेकार्थक दोष, वाक्यछल इत्यादि सम्मिलित हैं। जहाँ तक इनके अ-तार्किक हेत्वाभासो के प्रकार का सम्बन्ध है, इनके शीर्षक से ही यह स्पष्ट है कि ये तार्किक नही है। व्हेटली इस वर्ग के अन्तर्गत आत्माश्रय दोष और प्रतिज्ञान्तरसिद्धि दोष के सभी उदाहरणो को रखते है। ये वास्तव मे तार्किक हेत्वाभास नही है, अर्थात् ये साध्यपद के सम्बन्ध मे और पक्षपद के सम्बन्ध मे मध्यपद के स्थिति-दोष नहीं है। ये इसलिये दोष हैं कि इनमे तीन स्पष्ट रूप से निश्चित पद नही होते। आत्माश्रय-दोष मे

---

[1] Fallacia Accidentis, Fallacia consequentis, Fallacia a dicto secundum quid ad dict'um simpliclfer

साध्यपद होता ही नही क्योकि इसकी मध्य के साथ ही अन्योन्यता होती है। प्रतिज्ञान्तर-सिद्धि-दोष मे मध्यपद निश्चित नही होता।

फिर भी, व्हेटली के विभाजन मे उस समय सत्य के कुछ बीज अवश्य मिलते हैं जब हम इसमे यह समझे कि हेत्वाभासो को दो प्रमुख वर्गों, अनैकान्तिक और असिद्ध, मे विभक्त कर सकते हैं। इनमे से केवल प्रथम ही विशुद्ध आशय मे तार्किक और साध्यपद के दोषो से सम्बद्ध होगे। द्वितीय वर्ग के हेत्वाभास विषय-वस्तु से सम्बद्ध अथवा अर्ध-तार्किक तथा पक्ष पद के दोषो को निर्दिष्ट करेंगे। यह प्राय वही सिद्धान्त है जो वैशेषिक सूत्रो[1] मे आता है और दिङ्नाग की प्रणाली का आधार है। इसका एक बहुत बडा गुण यह है कि यह मानव बुद्धि की स्वाभाविक त्रुटियो और वैतण्डिक के सोद्देश्य वितण्डा के बीच एक दृढ विभाजन रेखा खीचता है। एक वृत्तिक शास्त्रार्थी को सम्पन्नता प्रदान करनेवाली स्थितियो की दृष्टि से प्राचीन यूनान तथा प्राचीन भारत की अवस्थाओ मे प्रत्यक्षत कुछ समानता मिलती है। दोनो ही देशो मे सार्वजनिक शास्त्रार्थ बहुत कुछ प्रचलित था और सर्वजनिक जीवन की इस विशिष्टता ने वृत्तिक शास्त्रार्थियो के एक वर्ग को उत्पन्न कर दिया जो अपने लाभ[2] के लिये अविवेकपूर्ण वितण्डा द्वारा मानव-बुद्धि के स्वाभाविक उत्तरदायित्व का उसे भ्रमित करने के लिये प्रयोग करते थे। वाचस्पतिमिश्र[3] कहते हैं कि मानव बुद्धि मे सत्य के प्रति एक स्वाभाविक पक्षपात होता है। किन्तु साथ ही साथ, इसमे भ्रान्तियो की भी प्रचुरता होती है।[4] जब मिथ्या पाण्डित्य[5] लाभार्थ वितण्डा[6] मे प्रवृत्त होता है तो, उद्योतकर[7] के कथानुसार, तर्कशास्त्र का भविष्य अन्धकारपूर्ण हो जाता है। सदुद्देशी वाद को उपदेशात्मक होना चाहिये।[8] इसे वितण्डात्मक और विवादात्मक नही होना चाहिये।[9] इसे उस समय तक अवश्य

---

[1] वैसू० ३ १,१५ 'असन् सन्दिग्धश्च'।

[2] न्यावा० पृ० १५ २ 'लाभ-पूजा-ख्याति-काम,

[3] न्याकणि० पृ० १५१ १५ 'बुद्धेर् भूतार्थ-पक्षपात।'

[4] न्यावा० पृ० २१ २१ 'पुरुष-धर्म एव भ्रान्तिर् इति'।

[5] ताटी० पृ० २९.७ पण्डित-व्यञ्जन'।

[6] न्यावा० पृ० १५ २ 'तीर्थ-प्रतिरूपक प्रवाद'।

[7] न्यावा० 'न्याय-विप्लवोऽसौ'।

[8] वही पृ० २१ १८. वादस्य शिष्यादि-विषयत्वात्।

[9] वही 'न शिष्यादिभि सह अप्रतिभादि-देशणा कार्या।'

चलते रहना चाहिये जब तक कि पूर्वपक्षी आश्वस्त नही हो जाता।[1] इन स्थितियो मे हेत्वाभास एक इच्छात्मक वितण्डा नही बल्कि तार्किक प्रमाण का स्वाभाविक प्रतिरूप होता है।[2] अत हमे मानव बुद्धि के आनुषंगिक वास्तविक तार्किक दोषो और वैतण्डिको तथा विवादियो द्वारा बिछाये गये जाल मात्र के बीच विभेद अवश्य करना चाहिये। एरिस्टॉटिल का प्रमुख उद्देश्य वैतण्डिको का आवरण उठाना है। अत उनकी गणना के अन्तर्गत वास्तविक हेत्वाभास अत्यन्त कम स्थान पाते है।

यत इस क्षेत्र मे योरोपीय तर्कशास्त्र एरिस्टॉटिल के नियन्त्रण से अपने को मुक्त कर पाने मे सफल नही हो सका है, अत वह हेत्वाभासो की एक सुदृढ प्रणाली की स्थापना करने मे असफल हो गया है।

इसके विपरीत, हम देख चुके है कि दिङ्नाग ने अपने परार्थानुमानीय अभिनियम के अनुरूप हेत्वाभासो की अपनी प्रणाली की स्थापना की है। इस प्रकार वह उनका छल पर आधारित समस्त प्रवादो और मनोवैज्ञानिक दोषो के साथ स्पष्ट विभेद करते है।

धर्मकीर्ति इसी दिशा मे एक पग और आगे बढ गये है। हम देख चुके है कि उन्होने दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास पर इसलिये आपत्ति की कि उनके मत से तार्किक विचार की स्वभाविक धारा मे इस प्रकार का हेत्वाभास असम्भव है।[3] नियमों के अभिनियम द्वारा नियन्त्रित ठीक पथ से विचार विचलित हो सकता है, किन्तु वह दोनो कार्य नही कर सकता, अर्थात् एक साथ ही इस प्रकार विचलित और अविचलित दोनो नही हो सकता कि ठीक और गलत दोनो एक साथ ही हो। इस उदाहरण-विशेष पर धर्मकीर्ति के तर्क अत्यधिक उपदेशप्रद हैं। ये उनके परार्थानुमान, अथवा हेतु के, जो दोनो एक ही बातें हैं, सिद्धान्त का पूर्णतया उद्घाटन करते हैं। वास्तव मे हेतु क्या है ? यह उद्देश्य मे समग्रत उपस्थिति, समानो मे ही केवल उपस्थिति, और असमानो मे सदैव अनुपस्थिति है। ये नियम इसके सम्बन्ध की दो दिशाओ मे स्थापना करते है, अर्थात् उद्देश्य के प्रति और विधेय के प्रति। एक नियम का अकेले अथवा इनमे से दो का एक साथ मानव विचार-क्रिया के स्वाभाविक प्रवाह मे अनजाने मे ही उल्लङ्घन हो सकता है, किन्तु ऐसा नही हो सकता कि इनमे

---

[1] 'यावद् असौ बोधितो भवति,' वही।

[2] 'प्रमाण-प्रतिरूपकत्वाद् धेत्व् अभासानाम् अविरोध,' वही।

[3] न्याबि० ३ ११२-११३; अनुवाद पृ० २२० और बाद।

से किसी का एक साथ ही उल्लङ्घन और अनुल्लङ्घन दोनो ही हो। अपने विषय-वस्तु की दृष्टि से परार्थानुमान क्या है ? यह या तो तादात्म्य का, या तदुत्पत्ति का, अथवा अभाव का एक उदाहरण होता है।[1] अन्य कोई भी अनिवार्य और सामान्य सम्बन्ध नही है। मानवबुद्धि त्रुटिवशात् वास्तविक सम्बन्ध को दोषपूर्ण रूप से प्रस्तुत कर सकती है, किन्तु अपने स्वाभाविक प्रवाह मे यह दोनो कार्य नही कर सकती, अर्थात् उसे ठीक-ठीक तथा ग़लत दोनो ही रूपो मे एक साथ प्रस्तुत नही कर सकती। अत. वास्तव मे कोई विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास हो ही नही सकता।

हम लोगो के लिये अभी हेत्वाभासो के एरिस्टॉटेलियन और भारतीय वर्गो के बीच समानता पर विस्तार से विचार करना शेष रह जाता है। किन्तु, सर्वप्रथम हमे ऐसे उदाहरणो पर विचार कर लेना चाहिये जब किसी प्रामाणिक एरिस्टॉटेलियन परार्थानुमान को दिङ्नाग एक हेत्वाभास मानेंगे। उदाहरण के लिये, यह परार्थानुमान कि "साक्रेटीज़ निर्धन है, साक्रेटीज़ बुद्धिमान है, अत कुछ निर्धन व्यक्ति बुद्धिमान है," तृतीय आकार के अनुसार एक प्रामाणिक न्यायवाक्य होगा। इसमे तीन तर्कवाक्य है, तीन पद हैं, और मध्य दोनो ही तर्कवाक्यो मे वितरित है किन्तु दिङ्नाग के लिये यह निश्चय कि "कुछ निर्धन व्यक्ति बुद्धिमान हैं" अनुमानात्मक निश्चय है ही नही। यह जो कुछ है वह केवल एक प्रत्यक्षात्मक निश्चय, निरीक्षण का निश्चय मात्र हो सकता है। क्योकि कोई अनुमान क्या होता है ? यह एक पद के दूसरे पर अनिवार्य और सामान्य आश्रयत्व, और दोनो ही पदो का एक साथ ही एक ही स्थान पर अनिवार्य सन्निपात होता है। अब, यदि परार्थानुमान का यह आकार हो कि "जो भी बुद्धिमान है वह सदैव निर्धन होता है, साक्रेटीज बुद्धिमान है, उसे अनिवार्यत निर्धन होना चाहिये", तो यह अपने रूप मे एक वास्तविक अर्थात् अनिवार्य निगमन होगा। किन्तु इस रूप मे कथित होने पर इसका हेत्वाभास स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि पक्ष आधारवाक्य ठीक है—साक्रेटीज मे बुद्धि उपस्थित है—, तथापि इस आधार पर हम यह निर्णय नही कर सकते कि साक्रेटीज़ अनिवार्यत निर्धन ही है, क्योकि निरपवाद व्याप्ति नही है। हेतु, "बुद्धि", दिङ्नाग की तालिका मे स्थिति सख्या ९ पर अवस्थित है। यह कुछ समानो—निर्धन व्यक्तियो—मे उपस्थित है, और साथ ही कुछ असमानो—धनिक व्यक्तियो—मे भी उपस्थित है। हेतु अनैकान्तिक है, और इसके आधार पर कोई निष्कर्ष सम्भव नही है। यह कि निर्धनता का कभी कभी बुद्धि के साथ सन्निपात हो

[1] वही, अनुवाद पृ०२२२।

सकता है, एक ऐसा तथ्य है कि जिसका कोई महत्त्व नही है, क्योकि "कभी-कभी" निर्धनता का उसके विरोधी, धनिकता, के अतिरिक्त अन्य सब के साथ सन्निपात हो सकता है। नियमित परार्थानुमान मे विशेष निश्चयो के लिये कोई स्थान नही है।

प्रोफेसर ए० बेन[१] का भी कुछ भिन्न आधारो पर यह विचार है कि इस प्रकार के उदाहरणो जैसे "साक्रेटीज निर्धन है, साक्रेटीज बुद्धिमान है, अत कुछ निर्धन व्यक्ति बुद्धिमान है," के परीक्षण द्वारा हमे इन्हे न्यायवाक्य के क्षेत्र से बहिष्कृत कर देने के अच्छे आधार प्राप्त हो सकते है। यहाँ 'हेतु की कोई गति नही है", यहाँ "समतुल्य तर्कवाक्य-रूप अथवा अनन्तरानुमान है।"[१] धर्मोत्तर[२] ने भी इस मानक भारतीय उदाहरण[३] के प्रति कि "मोटा देवदत्त दिन के समय भोजन नही करता, अत वह रात्रि के समय भोजन करता है", यही विचार प्रगट किये है। तुल्य तर्कवाक्य वह होते हैं जिनमे अर्थ मे कोई परिवर्तन नही होता। यदि दो पदो के बीच एक सामान्य तथा अनिवार्य सम्बन्ध की स्थापना करने और इसका किसी प्रस्तुत दृष्टान्त मे प्रयोग करने का अर्थ हो तभी इसे न्यायवाक्य शीर्षक के अन्तर्गत लाया जा सकता है।

दूसरी ओर, एरिस्टॉटिल द्वारा तार्किक माने गये कुछ हेत्वाभासो को दिङ्नाग ने इसलिये छोड दिया है कि ये हेत्वाभासी तर्कों के क्षेत्र के अन्तर्गत नही आते क्योकि ये न तो पक्षपद और न साध्यपद की दृष्टि से मध्यपद की यथार्थ स्थिति को प्रभावित करते हैं। आत्माश्रय-दोष ऐसा ही हेत्वाभास है। अपने मोटे रूप मे थाकृत्यन्तरित होने तथा क्रमश नित्य, अनित्य, शब्द के प्रकार-उदाहरण के लिये व्यवहृत होने पर यह हेत्वाभास इस आकार मे उपलब्ध होगा "शब्द अनित्य हैं, क्योकि ये अनित्य हैं", अथवा "नित्य क्योकि नित्य हैं"। बौद्धो के अनुसार यहाँ कोई हेतु है ही नही।[४] अत

---

[१] लॉजिक, १ १५९, तुकी० कीन्स उपु० पृ० २९९।

[२] न्याबिटी० पृ० ४३ १२, अनुवाद, पृ० ११५।

[३] मीमासक इसे अर्थापत्ति, प्रशस्तपाद (पृ० २२३) एक अनुमान, और बौद्ध तुल्य-तर्कवाक्य मानते है।

[४] एरिस्टॉटिल की परिभाषा ऐसी है तर्कवाक्य का निष्कर्ष के साथ तादात्म्य है। किन्तु जर्मन नियम पुस्तिका, ऐन्टीबार्बेरस लॉजिकस इसकी ऐसी परिभाषा देता है जिसके अनुसार प्रत्येक हेत्वाभास आत्माश्रय दोष होगा'

पूर्वपक्षी को इस प्रश्न के ही रूप मे उत्तर देना चाहिये कि क्यो ? हमे हेतु समझाइये। शब्द अनित्य है क्योकि वह अनित्य है ऐसा कहना केवल यही कहने के समान है "शब्द अनित्य है"। यह व्यवहार मे उस समय एक हेत्वाभास हो सकता है जब प्रच्छन्न हो तथा इसे ढूँढ पाना कठिन हो। इस रूप मे इसका भारतीय तर्कशास्त्रियो ने अक्सर ही उल्लेख किया है,[1] किन्तु सिद्धान्त हेतु की समस्त स्थितियो की एक विशुद्ध तार्किक प्रणाली मे इसका कोई स्थान नही है क्योकि इसमे कोई हेतु है ही नही। यहाँ तक कि यह असाधारण हेतु कि "शब्द अनित्य है, क्योकि वह श्रव्य है", जो किसी हेतु की सर्वथा न्यूनता को व्यक्त करता है, फिर भी एक हेतु है। यह इस साध्य-आधारवाक्य की कि "जो कुछ श्रव्य है वह अनित्य है", कल्पना करता है। किन्तु आत्माश्रय दोष मे साध्य-आधारवाक्य इस आकार मे आकृत्यन्तरित होगा . "जो कुछ भी अनित्य है, वह अनित्य है", और इसका अर्थ हेतु की सर्वथा अनुपस्थिति तथा यह प्रतिप्रश्न है कि "हमे हेतु दो"।

विशुद्धत तार्किक एरिस्टॉटिल के केवल तीन ही हेत्वाभास है १) उपाधि दोष, २) शाब्दिक दोष, और ३) फलवाक्य -विधान दोष।

इनमे यह विशिष्टता समान रूप से उपस्थित है कि ये सभी एक सामान्य विधायक के त्रुटिपूर्ण परिवर्तन हैं। जैसा कि बौद्धो ने कहा होता, व्यतिरेक की स्थापना[1] नही होती। ये साध्य-आधारवाक्य के हेत्वाभास हैं[2]। इनमे हेतु का विधेय पर कोई सामान्य तथा अनिवार्य आश्रयत्व नही है। निष्कर्ष यह कि इस प्रकार के हेतु से विधेय निगमित नही हो सकता। ये सभी ऐसे हेतु हैं जिन्हें दिङ्नाग अनैकान्तिक और विरुद्ध वर्गों के अन्तर्गत रखते है।

इन हेत्वाभासो का दिङ्नाग के तदनुरूप वर्गों के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध है —

---

[1] साध्य-सम, सिद्ध-साधन।

[2] अथवा दूसरे शब्दो मे, ये अव्याप्त मध्यपद के अनुरूप हैं क्योकि सामान्यगुण की मध्यपद मे व्याप्ति इसकी सर्वथा व्याप्ति के लिये आवश्यक है (वेन उपु० १,१६३)। इस रूप मे कहे जाने पर यह एकमात्र अथवा सामान्य तार्किक हेत्वाभास को व्यक्त करता है। यह कौतूहलवर्धक है कि कुछ योरोपीय तर्कशास्त्रियो ने एरिस्टॉटिल पर इसको, जो कि एकमात्र वास्तविक तार्किक हेत्वाभास है, सर्वथा छोड देने का आक्षेप किया है।

१. उपाधि दोष :—एरिस्टॉटिल यह उदाहरण देते हैं कि "कोरिस्कुस मनुष्य नही है, क्योंकि वह सॉक्रेटीज नही है जो एक मनुष्य है", अथवा यह कि "यह एक व्यक्ति कोरिस्कुस नही है, क्योंकि यह एक मनुष्य है, जबकि एक मनुष्य कोरिस्कुस नही है"। इन दोनो ही उदाहरणो को असिद्ध हेतु के अन्तर्गत वर्गीकृत नही किया जा सकता क्योंकि हेतु उद्देश्य पर उपस्थित है। किन्तु हेतु की विधेय के साथ निरपवाद व्याप्ति की स्थापना नही होती। पूर्वपक्षी को, जिसके समक्ष ये परार्थानुमान प्रस्तुत किये जाते हैं, यह उत्तर देना चाहिये कि "कोई व्याप्ति नही है"। हेत्वाभास साध्यसाधारवाक्य मे है। प्रथम उदाहरण मे कोरिस्कुस उद्देश्य है, अ-मनुष्य विधेय हैं, अ-साक्रेटीज हेतु है। यह व्याप्ति कि "जो भी साक्राटीज नही है वह मनुष्य नही है" सन्दिग्ध है। अ-मनुष्यो (सपक्षो) मे अ-साक्रेटीज हैं, और मनुष्यो (अ-सपक्षो) मे भी। हेतु स्थिति सख्या ९ पर है। यह कुछ समानो (सपक्षो) मे और साथ ही साथ कुछ असमानो (असपक्षो) मे भी उपस्थित है। कोई निष्कर्ष सम्भव नही है। दूसरे उदाहरण मे 'यह एक' उद्देश्य, 'अ-मनुष्य' विधेय, और 'कोरिस्कुस' हेतु है। यहाँ भी कोई व्याप्ति नही है। अभिप्रेत व्याप्ति यह है कि "जो भी कोरिस्कुस (इस नाम के अन्तर्गत एकीकृत समस्त घटनाये) है, वह मनुष्य नही है।" इसका विपरीत सिद्ध है, हेतु की विधेय के साथ असगति है। यह एक विरुद्ध हेत्वाभास है और इस लिये इसे विरुद्ध वर्ग के अन्तर्गत रखना चाहिये। इसकी स्थिति सख्या ८ है कोरिस्कुस कभी भी अ-मनुष्यो (समानो) मे उपस्थित नही है, और कुछ मनुष्यो (असमानो) मे सदैव उपस्थित है।

इन कुछ असमान हेत्वाभासो को एकत्र करके एरिस्टॉटिल प्रत्यक्षत इसलिये प्रथम स्थान पर रखते है क्योंकि उपाधि (कोरिस्कुस सॉक्रेटीज नही है) से एक सामान्य नियम (कोरिस्कुस मनुष्य नही है) के तर्क का कौतुक वैतण्डिको मे बहुत प्रचलित था।

२. द्वितीय हेत्वाभास, अशाब्दिक, का प्रथम से कदाचित ही विभेद किया जा सकता है। एरिस्टॉटिल का उदाहरण यह हैं "इथियोपियन के दाँत सफेद और त्वचा कृष्ण होती है, अत वह एक साथ ही कृष्ण और अकृष्ण होता है। "दाँत सफेद और त्वचा कृष्ण" हेतु स्थित-सख्या २ पर स्थिति और विरुद्ध वर्ग के अन्तर्गत आता है। यह समानो (कृष्ण और अकृष्ण समग्रत) मे कभी नही, और सभी असमानो (अशत कृष्ण और अशत अकृष्ण) मे सदैव उपस्थित मिलता है।

३, फलवाक्यविधान-दोष सर्वाधिक स्वाभाविक हेत्वाभास है। इसमे हेतु असमान क्षेत्र को भी कुछ-कुछ अतिव्याप्त करता है। यह सिद्ध हेतु के निकटतम है और इसका वितण्डात्मक महत्त्व बहुत अधिक नही है। साध्य आधारवाक्य एक सामान्य विधायक के गलत परिवर्तन को व्यक्त करता है। हेतु उस समय स्थिति सख्या ७ पर होता है जब वह समानो की सम्पूर्ण परिधि मे और, साथ ही साथ, कुछ असमानो मे भी उपस्थित रहता है। अथवा उस समय स्थिति सख्या ९ पर होता है जब वह दोनो ही पक्षो मे, अशत समानो के एक अश मे तथा असमानो के अंश मे भी, उपस्थित रहता है। उदाहरण "यह एक चोर है, क्योकि यह रात्रि के समय बाहर चलता है।" यह स्थिति सख्या ९ है, क्योकि रात्रि के समय बाहर चलने वाले लोग दोनो पक्षो मे, चोरो मे और, साथ ही साथ, अ-चोरो मे भी मिलते हैं।

४ प्रतिज्ञान्तरसिद्धि-दोष अथवा एक ऐसे आधारवाक्य से निष्कर्ष निकालना जो वास्तव मे एक अनिवार्य आधारवाक्य नही है, और प्रश्नछल विशुद्धत तार्किक हेत्वाभास नही है क्योकि ये मिथ्याधारणा मे निहित हैं।

यद्यपि सभी हेत्वाभास मिथ्याधारणा पर आधारित होते हैं, सभी, जैसा कि एरिस्टॉटिल कहते हैं, न्यूनाधिक प्रतिज्ञान्तरसिद्धि-दोष होते हैं, तथापि विशुद्धत तार्किक वही हैं जो इन बातो से उत्पन्न होते हैं १) समानो और असमानो के बीच मध्यपद की गलत स्थिति, ये साध्यआधारवाक्य के हेत्वाभास होते हैं। २) निष्कर्ष के उद्देश्य के सम्बन्ध मे मध्यपद की गलत स्थिति, ये पक्ष-आधारवाक्य के हेत्वाभास होते। अत किसी न्यायवाक्य के विशुद्ध तार्किक मूल्याकन के लिये उसके तीनो पदो को पृथक्, तथा १)'म' का 'उ' के साथ, और २) 'म' का 'सा' के साथ क्या सम्बन्ध है इसका परीक्षण कर लेना चाहिये। प्रतिज्ञान्तर उत्तर, अननिवार्य आधारवाक्य के प्रस्तुतीकरण, और प्रश्न के अनेकत्व के हेत्वाभास हो ही नही सकते यदि तीनों पदो को उनके असन्दिग्ध रूप मे व्यक्त किया जाय। ये हेत्वाभास व्यावहारिक जीवन मे अक्सर ही मिलते हैं किन्तु ये तार्किक नही मनोवैज्ञानिक होते हैं। अत न्यायवाक्य का ऐसे तर्कवाक्यो द्वारा नही जो सरलतापूर्वक भ्रामक हो, बल्कि तीनो पदो 'उ', 'म' और 'सा' को पृथक् करके बिना किसी प्रकार की सन्दिग्धता के लेश के ही निर्माण करना ही अधिक श्रेयस्कर है। तिब्बत और मगोलिया के विद्यालयो मे इसी विधि का अनुसरण किया जाता है। 'म' का 'उ' के साथ और 'म' का 'सा' के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष हो जाता है। पूर्वपक्षी का उत्तर तब केवल या तो 'हाँ,'

अथवा 'हेतु असिद्ध ?', अथवा 'कोई व्याप्ति नही !' मात्र ही हो सकता है। इस वाद वाले उत्तर को तब दो विरुद्ध हेतुओ (स्थिति स० २ और ८), चार अनैकान्तिको (स० १, ३, ७ और ९) और एक असाधारण (स० ५) मे विभक्त किया जा सकता है। विरुद्धाव्यभिचारी हेतु को भी, जो तालिका मे एक साथ ही दो स्थानो (स० ४ अथवा ६, के साथ संयुक्त स० २ अथवा ८) पर स्थिति हो सकता है, जोड दिया जा सकता है। कोई अन्य स्थिति सम्भव नही है। दिङ्नाग की तालिका विषद् है। यह हेत्वाभासो की समस्या मे एक क्रमबद्धता तथा व्यवस्थित एकत्व ला देती है। किसी हेत्वाभास को किस वर्ग के अन्तर्गत रक्खा जाय इस सम्बन्ध मे कभी कोई सन्दिग्धता हो ही नही सकती।

एरिस्टॉटिल उस समय दिङ्नाग के समाधान के अत्यन्त निकट आ जाते हैं जब वह यह कहते हैं कि उस पूर्वपक्षी को, जिसके समक्ष कोई मिथ्या प्रतिवादात्मक न्यायवाक्य प्रस्तुत किया गया हो, इस बात का परीक्षण करना चाहिये कि "आधारवाक्यो मे से किसमे और किस रूप मे किसी न्यायवाक्य का मिथ्या प्राकट्य उत्पन्न हुआ है।" यदि एरिस्टॉटिल इसी सिद्धान्त तक रह गये होते, और यदि उन्होने सभी शाब्दिक तथा मनोवैज्ञानिक कारणो को एक ओर रख दिया होता तो वह भी सम्भवत दिङ्नाग जैसी ही प्रणाली पर आ गये होते।

खण्ड ४

अभाव

अध्याय १

अनुपलब्धि-निश्चय

§ १. अनुपलब्धि का स्वरूप

यत बौद्ध प्रत्येक विज्ञान को बाह्यार्थ के किसी न किसी क्षण का साक्षात् अथवा परोक्ष विज्ञान मानते हैं, और यत तर्कशास्त्र मे इनकी जो रुचि है वह भी आकारपरक नही बल्कि ज्ञानमीमासात्मक है, अत इनके लिये अनुपलब्धि की समस्या विशेष कठिनाइयो से युक्त है। इसीलिये इसका एक असामान्य पूर्णता के साथ विवेचन किया गया है। वास्तव मे अनुपलब्धि क्या है? क्या यह विज्ञान है? क्या यह यथार्थता का विज्ञान है? क्या यह साक्षात् अथवा परोक्ष विज्ञान है? अर्थात् इसका प्रत्यक्ष के अन्तर्गत विवेचन करना चाहिये अथवा अनुमान के अन्तर्गत? प्रथमदृष्ट्या यह अ-विज्ञान, विज्ञान का निरसन प्रतीत होता है। अथवा यदि यह विज्ञान ही है तो इसे अ-यथार्थ का, अर्थात् शून्य का विज्ञान होना चाहिये। फिर भी इसकी सत्ता है और यह एक प्रकार का विज्ञान प्रतीत होता है—वह भी शून्य का नही बल्कि कुछ का विज्ञान। यथार्थवादी सम्प्रदायो द्वारा प्रस्तुत समाधान का ऊपर बौद्धो की सत्ता की धारणा का विवेचन करते समय प्रसङ्गश उल्लेख किया जा चुका है। इनके लिये अनुपलब्धि या तो विज्ञान की एक विशेष पद्धति है अथवा सत्ता की एक पद्धति।

बौद्धो की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। इन लोगो के लिये, जैसा कि हम देख चुके हैं, सत्ता किसी क्षण के परमार्थ-सत् की द्योतक है और इसका विज्ञान ही तदनुरूप विशुद्ध विज्ञान है। असत् अथवा अनुपस्थित वस्तु एक कल्पना है जो कोई भी साक्षात् विज्ञान नही उत्पन्न कर सकती। किन्तु किसी ऐसी विधायक वस्तु का, जिसने विज्ञान उत्पन्न किया है, बुद्धि उसमे उस वस्तु की अनुपलब्धि निहित होने के रूप मे विश्लेपण कर सकती है जिसकी सत्ता इस प्रकार अनुपलब्ध होती है। इसलिये अनुपलब्धि कभी भी बुद्धि की उस प्रकार की साक्षात् अथवा मौलिक अभिवृत्ति नही

है जैसा कि विशुद्ध विज्ञान या 'विधि' होता है,[१]। यह सदैव ही प्रज्ञा का कार्य होता है जो स्मृतिजन्य कल्पनाओं को प्रस्तुत करके किसी विज्ञान के उसके अनुपलब्ध पक्ष का विश्लेषण करती है। यदि हमें इस प्रकार का विज्ञान हो कि "यहाँ कोई घट नहीं है" अथवा यह कि "घट का अभाव है", तो साक्षात् विज्ञान, ६७४ विज्ञान अनुपस्थित घट द्वारा नहीं बल्कि रिक्त स्थान द्वारा उत्पन्न होता है। अनुपस्थित घट एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो स्मृति से उत्पन्न तथा बुद्धि द्वारा रचित है, उसका इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हुआ है। इस सीमा तक तो बौद्ध दृष्टिकोण आक्षेपरहित प्रतीत होता है और यथार्थवादियों को इसका सामना करने में अधिकतम कठिनाई का सामना करना पड़ा है। फिर भी, अपने अत्यन्त यथार्थवाद के कारण इन्हें इसका प्रतिवाद करना भी आवश्यक था। ये 'अनुपस्थित' के विशुद्ध विज्ञानत्व को स्वीकार नहीं कर सकते। अतः ये यह कल्पना करते हैं कि अनुपस्थित वस्तु किसी प्रकार वास्तव में रिक्त स्थान से सम्बद्ध है।[२] बौद्धों के लिये, यथार्थत्व और विज्ञानत्व में, विज्ञान और कल्पना में एक निश्चित रेखा कि स्थापना करने के बाद, अनुपलब्धि के विज्ञानत्व की मान्यता में यथार्थता और अयथार्थता के बीच विचलित होने की कोई आवश्यकता नहीं थी। अनुपस्थित वस्तु का इन्द्रियों द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष करने का प्रतिवाद करने में इन्हें कोई कठिनाई नहीं थी। किन्तु यह प्रश्न बना ही रहा कि इस प्रकार के अनुपलब्धि निश्चय को कि "कोई घट नहीं है", इस प्रकार का सविकल्पक-प्रत्यक्ष कि "यह एक घट है" माना जाय अथवा इसे उस अनुमानात्मक निश्चय के वर्ग में रखा जाय जिसमें किसी अनुपस्थित वस्तु का उसके दृश्य-लिङ्ग के आधार पर विज्ञान होता है? क्योंकि हम देख चुके हैं कि, अनुमान अनिवार्यतः ऐसी वस्तु का विज्ञान है जो गोचर-क्षेत्र में उपस्थित नहीं होती। फिर भी, सविकल्पक प्रत्यक्ष और अनुमान के बीच की विभाजन रेखा प्रखर नहीं है, क्योंकि विशुद्ध विज्ञान की तुलना में प्रत्येक प्रत्यक्ष अत्यधिक मात्रा में स्मृतिज धर्मों और प्रज्ञात्मक एकीकरणों से युक्त होता है। दूसरी ओर, प्रत्येक अनुमान को प्रज्ञा की एक प्रक्रिया, विशुद्ध विज्ञान के आधार पर निर्मित एक विकल्प[३], के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकार तब यह एक

---

[१] विशुद्ध विज्ञान 'विधि' है—विशुद्ध विधायकता।

[२] स्वरूप सम्बन्ध-विशेषण-विशेष्य-भाव, द्वारा सम्बद्ध।

[३] 'एकम् विज्ञानम् अनुमानम्' तुकी० न्याकणि० पृ० १२५।

दृश्य और एक अदृश्य अंश मे, एक अ-रचित और एक रचित अश से, एक अ-कल्पित और एक कल्पित अश से युक्त होगा। इस अनुमान को कि "पर्वत पर अग्नि है क्योकि मैं धूम देखता हूँ", धूम-अग्नि के ऐसे एकीकरणात्मक रूप मे रचित आकार के रूप में देखा जा सकता है जिसका आधार एक विज्ञान है। इसमें कोई सैद्धान्तिक अन्तर नही है, केवल मात्रा का भेद है, अनुमान मे कल्पना प्रमुख है। इस अनुपलब्धि-निश्चय में कि "यहाँ कोई घट नही है क्योकि मुझे किसी का प्रत्यक्ष नही हो रहा है," कल्पना उसी प्रकार प्रमुख है। इसलिये अनुपलब्धि को अनुमानात्मक विज्ञान के वर्ग मे रखना चाहिये, यद्यपि इसे एक दृश्य अश और एक अदृश्य अश, एक कल्पित अश और एक अ-कल्पित अश से युक्त एकमात्र विकल्प के रूप मे भी देखा जा सकता है।

इस प्रकार, अनुपलब्धि प्रमुखत. कल्पना है। अनुपलब्धि का किसी अनुपस्थित वस्तु के एक विधायक प्रत्यक्षीकरण (अनुपस्थिति उपस्थित है) पर आधारित माननेवाले यथार्थवादियो के स्पष्ट विरुद्ध बौद्ध यह कहते हैं कि यह एक उपस्थित वस्तु के प्रतिषेधात्मक प्रत्यक्षीकरण (उपस्थिति अनुपस्थित है) पर आधारित है। किसी अनुपस्थित वस्तु का प्रत्यक्ष असम्भव है, एक विरोध है। यदि यह प्रत्यक्ष हैं तो वस्तु उपस्थित है, वह अनुपस्थित नही हो सकती। किन्तु वह किस प्रकार उपस्थित है ? वह कल्पना मे उपस्थित है और इसका यह अर्थ है कि उसके प्रत्यक्ष के लिये आवश्यक समस्त स्थितियो की पूर्ति हो जाती है। यदि वह उपस्थित होती तो उसका प्रत्यक्ष अनिवार्य था, किन्तु वह अनुपस्थित है, इसलिये उसकी केवल कल्पना होती है, किन्तु प्रत्यक्ष नही, उसका कल्पना मे प्रत्यक्ष होता हैं। सिग्वर्ट[1] इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं कि, साधारण, यथार्थवादी दृष्टिकोण से यह तर्कवाक्य कि 'यहाँ कोई अग्नि नहीं है," अथवा यह कि "अग्नि प्रज्वलित नही हो रही है", विरोधत्व से युक्त है। यदि वह प्रज्वलित नही हो रही है तो वह अग्नि किस प्रकार है ? कोई व्यक्ति, जिससे चूल्हे मे देखने के लिये कहा गया है और जो वहाँ उस अग्नि को नही पाता जिसे पाने की उसे आशा थी, यह उत्तर देता है कि वहाँ कोई अग्नि नही है, जिसका अर्थ यह है कि प्रत्याशित अग्नि वहाँ नही है। धर्मोत्तर[1] यह समाधान प्रस्तुत करते हैं "किसी वस्तु, जैसे घट, का उस समय प्रत्यक्ष कैसे सम्भव

---

[1] न्याबिटी० पृ० ३३.८ और बाद, अनुवाद पृ० ६२।

है जब वह अनुपस्थित है ? ऐसा कहा जाता है कि वह प्रत्यक्ष-योग्य है यद्यपि वह अनुपस्थित है, क्योकि उसका प्रत्यक्षत्व कल्पित है[1] हम इसकी इस रूप मे कल्पना करते हैं 'यदि वह इस स्थान पर उपस्थित होता तो उसका प्रत्यक्ष निश्चित रूप से होता।' प्रस्तुत उदाहरण मे एक वस्तु, जो यद्यपि अनुपस्थित है, प्राक्कल्पनात दृश्य है। और वह वस्तु क्या है जिसकी इस प्रकार कल्पना की जा सकती है ? वह वह वस्तु है जिसके रिक्त स्थान का प्रत्यक्ष हो रहा है क्योकि उसके प्रत्यक्ष के लिये आवश्यक समस्त स्थितियाँ पूर्ण हैं। हम कब इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि समस्त अनिवार्य स्थितियाँ पूर्ण हैं ? जब हम उसी एक ही विज्ञान की क्रिया मे सम्मिलित अन्य वस्तु का वास्तविक प्रत्यक्ष करते हैं (अर्थात्, जब हम अपनी अनुपलब्धि के प्रतिरूप, उस रिक्त स्थान का वास्तविक प्रत्यक्ष करते हैं जहाँ अनुपलब्ध वस्तु के उपस्थित होने की कल्पना की गई है)। हम "विज्ञान की उसी क्रिया मे सम्मिलित" ऐसी दो अन्तर-सम्बद्ध वस्तुओ को कहते हैं जो उसी इन्द्रिय को उपलब्ध होती हैं, अर्थात् ऐसे को जिस पर चक्षु अथवा अन्य इन्द्रिय का एक साथ ही ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। वास्तव मे जब दो ऐसी वस्तुयें हमारे सामने होती है तो हम अपने प्रत्यक्ष को इनमे से एक तक ही सीमित नही कर सकते, क्योकि जहाँ तक प्रत्यक्ष की सम्भावना की बात है इनमे कोई अन्तर नही होता। इसलिये, यदि हम एक का वास्तव मे प्रत्यक्ष करते हैं तो हम स्वभावत इस बात की कल्पना करते हैं कि यदि दूसरा भी उपस्थित होता तो हम उसका भी इसी प्रकार प्रत्यक्ष करते, क्योकि अनिवार्य स्थितियो की समग्रता पूर्ण है। इस प्रकार, उस वस्तु को एक कल्पित प्रत्यक्षत्व प्रदान कर दिया जाता है। इसी प्रकार की वस्तु के अ-विज्ञान को अभाव कहते हैं, किन्तु यह एक परिकल्पित दृश्यता की अनुपलब्धि है। इसलिये उसी स्थान को जहाँ से घट अनुपस्थित है, और उसी विज्ञान को जो उस पर उद्यत है, एक सम्भाव्य दृश्यता की अनुपलब्धि के रूप मे ग्रहण किया जाता है, क्योकि यही अनुपलब्धि निश्चय की वास्तविक प्रमाण है। कोई अनुपस्थित वस्तु तथा साथ ही साथ उसका विज्ञान ही अनुपलब्धि है, अथवा उस वस्तु का रिक्त अधिष्ठान तथा उसका प्रत्यक्ष ही अनुपलब्धि है। प्रत्येक विज्ञान, जहाँ तक वह विज्ञान है, यथार्थ का विज्ञान है और "फल-स्वरूप", धर्मोत्तर आगे कहते हैं, "अनुपलब्धि जहाँ तक वह अनुपलब्धि है, ज्ञान की एक सरल अनुपस्थिति नही बल्कि एक विधायक यथार्थ और उसका समर्थक

---

[1] न्याबिटी० पृ० २२ १७ और बाद अनुवाद पृ० ६३ ।

विज्ञान है। विज्ञान की सरल, निर्विशेष अनुपस्थिति को, क्योंकि वह किसी भी प्रकार की स्थापना से युक्त नही होती, कोई ज्ञान सूचित नही कर सकता। किन्तु जब हम एक ऐसे अभाव की चर्चा करते हैं जिसका स्वरूप परिकल्पित प्रत्यक्षत्व का अभाव है, तो इन शब्दो से अनिवार्यत एक ऐसे रिक्त स्थान मात्र की उपस्थिति अभिप्रेत है जहाँ वह वस्तु अनुपस्थित है किन्तु उसी स्थान का विज्ञान हो रहा है। यह स्थान इसी सीमा तक स्थान है जहाँ वस्तु का अनिवार्यत प्रत्यक्ष हुआ होता, अर्थात् उपस्थित होने पर ठीक उसी प्रकार प्रत्यक्ष हुआ होता जिस प्रकार उसके रिक्त स्थान का प्रत्यक्ष हो रहा है।"

इस प्रकार, अनुपलब्धि को सत्त्वमीमासात्मक, तथा साथ ही साथ, तार्किक, दोनो ही रूपो मे ग्रहण किया गया है। इसका अर्थ रिक्त स्थान की उपस्थिति तथा, साथ ही साथ, उसके विज्ञान का तथ्य भी है।

§ २. अनुपलब्धि एक अनुमान है

अभी तक यह देखा गगा है कि अनुपलब्धि इस नियम का अपवाद नही है कि समस्त विज्ञान यथार्थ का विज्ञान होता है। अयथार्थ अथवा अ-सत्ता, जिनका प्रथम दृष्टि मे अनुपलब्धि के रूप मे विज्ञान प्रतीत होता है, अपने को एक कल्पित अयथार्थ के रूप मे प्रगट करते हैं। यथार्थ, सत्ता, वस्तु, ये सब पर्यायवाची हैं, ऐसा हमे भूलना नही चाहिये। ये विज्ञानत्व, असत्ता, आकृति अथवा विकल्प के विरोधी हैं जो सभी अयथार्थता के विभिन्न नाम हैं। किन्तु एक गलत विज्ञानत्व भी है, जैसे "आकाश मे पुष्प" जो एक ऐसा विज्ञानत्व है जिसका यथार्थ से कोई सम्पर्क नही है। साथ ही एक ऐसा विज्ञानत्व भी होता है जो सगत अथवा विश्वसनीय विज्ञानत्व और यथार्थ के सम्पर्क से युक्त होता है, जैसे वास्तविक पुष्प जो विज्ञान द्वारा प्रगट परमार्थ-सत् के किसी क्षण के सम्पर्क मे होता है। अनुपलब्धि इस द्वितीय प्रकार का ही यथार्थ या सत् है। यह एक विचार, एक कल्पना है, किन्तु यह एक विश्वसनीय विचार, एक विकल्प, ऐसे ज्ञान का प्रमाण है जो हमारी अर्थ-क्रियाओ का निर्देशन कर सकता है।

किन्तु यदि अनुपलब्धि यथार्थ के क्षण के ऐसे विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही जिसका मानसिक रचनायें अनुगमन करती हैं, तब यह उस प्रत्यक्ष से सिद्धान्तत भिन्न नही है जो स्वयं भी एक ऐसा विज्ञान है जिसका प्रत्यक्षीकृत वस्तु का आकार अनुगमन करता है। यह ऐसी अनुपस्थित वस्तु का विज्ञान नहीं जिसके लक्षण मात्र का प्रत्यक्ष होता है। यह लक्षण के द्वारा उस वस्तु का विज्ञान नही है जिसका वह लक्षण है। दूसरे शब्दो मे यह

अनुमान नही है। इसमे ज्ञात से अज्ञात की ओर विचार की गति निहित नहीं होती। और यत इन दो, अर्थात् एक साक्षात् और एक परोक्ष, के अतिरिक्त ज्ञान के अन्य कोई प्रमाण नही हैं, अत यह सिद्धान्तत प्रत्यक्ष से भिन्न नही वल्कि उसके साथ इसका सारूप्य होगा। एक विधायक और एक अभावात्मक प्रत्यक्ष, एक विधायक और एक अभावजन्य प्रत्यक्षात्मक निश्चय होगा, जैसा कि यथार्थवादी मानते हैं ? वास्तव मे यदि अनुपलब्धि का किसी रिक्त स्थान तथा उसके विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई वास्तविक अर्थ नही है तब यह अनुमान कि "यहाँ कोई घट नही है क्योकि मैं कोई घट नही देख रहा हूँ," इसके अतिरिक्त कि "यहाँ कोई घट नही है क्योकि यहाँ कुछ नही" अथवा "मुझे यहाँ किसी घट का प्रत्यक्ष नही हो रहा है क्योकि मैं किसी का प्रत्यक्ष नही कर रहा हूँ" अन्य किसी भी अर्थ से युक्त नही होगा। धर्मोत्तर[1] का यह कथन है "एक अनुपस्थित घट को इसलिये उपस्थित कहते हैं क्योकि उसकी उपस्थित होने के रूप मे कल्पना की जाती है, उसका एक ऐसे स्थान मे प्रत्यक्षत्व की समस्त साधारण स्थितियो मे विज्ञान होता है जहाँ उसके स्थित होने की आशा की जाती है। यह स्थान अनुपस्थित घट का प्रतिरूप होता है और उसके साथ विज्ञान की एक ही क्रिया मे सम्बद्ध होता है किन्तु इस समय रिक्त है'। इसलिये[2] हम जिसे अनुपलब्धि अथवा प्रत्यक्ष का अभाव कहते हैं वह उसके साथ सम्बद्ध वस्तु की विधायक सत्ता, तथा उस वस्तु के विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही।' दूसरे शब्दो मे[3] "जिसे उपस्थित घट की अनुपस्थिति कहा जाता है (अथवा जो एक अनुपस्थित घट है) वह यथार्थ के एक विधायक प्रत्यक्ष[4] के अतिरिक्त और कुछ नही।" धर्मकीर्ति[5] कहते हैं कि "यदि यह यथार्थ हो तो अनुपलब्धि असम्भव होगी"। दूसरे शब्दो मे यदि अनुपस्थिति अथवा अ-सत्ता एक यथार्थ होता, जैसा कि यथार्थवादी मानते हैं, तब अभाव का विज्ञान सम्भव ही नही हो सकता था, तब यह विज्ञान की ही अनुपस्थिति, एक सर्वथा रिक्तता होगी। किन्तु इसकी कल्पना होती है—ऐसी कल्पना नही जैसे "आकाश मे

---

[1] न्याबिटी० पृ० २८ १८ और बाद, अनुवाद पृ० ८०।

[2] वही, पृ० २८ २०।

[3] वही, पृ० २८ २२।

[4] 'अर्थ-ज्ञान', वही।

[5] न्याबि० पृ० २७ १७।

पुष्प'' वल्कि एक सत्तायुक्त वस्तु के वास्तविक प्रत्यक्ष के आधार पर कल्पना। इसीलिये यह एक प्रामाणिक ज्ञान का प्रकार और अर्थ-क्रिया का कारण होता है।

अ-सत् की समस्या के सम्बन्ध मे बौद्धो और यथार्थवादियो के परस्पर अरोप-प्रत्यारोप का सत्-विषयक बौद्धो के विचार का निवेचन करते समय ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। यथार्थवादी, बौद्धो के असत् पर, शून्य तथा कुछ नही होने का आक्षेप करते हैं क्योकि यह स्वयं अपने मे, अपने अधिष्ठान से पृथक् कुछ नही। इसका कोई भिन्न एकत्व नही होता और यह अपने विधायक प्रतिरूप मे ही सम्मिलित होता है। इसके विपरीत, बौद्ध यथार्थवादियो पर यह आक्षेप करते हैं कि ये (यथार्थवादी) 'वास्तविक अभाव', 'विग्रहवान-अभाव,' भिन्नमूर्ति अभाव,' या यो कहिये कि 'आयुष्मान् अभाव' मानते हैं, जो विश्लेषण के बाद केवल कल्पना मात्र सिद्ध होते हैं। फिर भी, एक विधायक प्रत्यक्ष के आधार पर कल्पित अयथार्थ अभाव उस सरल प्रत्यक्ष से सिद्धान्तत भिन्न नही होता जो एक विज्ञान और उसका अनुगमन करने वाली प्रज्ञा द्वारा रचित आकार से युक्त होता है। यह ऐसा कुछ नही होता जिसका किसी अन्य तथ्य से निगमन किया जाय, अर्थात् यह 'साध्य' नही होता कोई अनुमान नहीं होता वल्कि सिद्धि होता है। परिकल्पित वस्तु के प्रत्यक्ष न करने के तथ्य का एक ऐसे मध्यपद के रूप मे आश्रय नही लिया जा सकता जिससे उसकी अनुपस्थिति का निगमन किया जाय क्योकि उसकी अनुपस्थिति उस स्थान पर उसकी कल्पित उपस्थिति से अतिरिक्त और कुछ नहीं जो रिक्त है। फिर भी, यत दिङ्नाग और धर्मकीर्ति इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की, प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे एक विशुद्ध ऐन्द्रिक धर्म के रूप मे परिभाषा देते हैं, और यत अनुपलब्धि, जहाँ तक वह अनुपलब्धि है, विज्ञान नही हैं अत ये फिर भी, ज्ञान के प्रमाण के रूप मे अनुपलब्धि को अनुमान के क्षेत्र मे रखते हैं जिसमे प्रज्ञा के विकल्पात्माक कार्य या अश प्रमुख होता है।

इसके अतिरिक्त, यदि किसी वस्तु, जैसे घट, की अनुपस्थिति ऐसी है जिसका प्रत्यक्ष होता है, ऐसी नही जिसका अनुमान किया जाय, तो एक रिक्त स्थान के इस प्रकार के प्रत्यक्ष के व्यावहारिक परिणाम वस्तु के साक्षात् इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से इतने अधिक भिन्न होते हैं कि ये अनुपलब्धि को परोक्ष विज्ञान के वर्ग के अन्तर्गत रखने के हमारे विचार के औचित्य को सिद्ध कर

---

[1] तुकी० न्यायविटी० पृ० २९,९, अनुवाद पृ० ८४, नोट ४ तुकी तमप० ४७९ २२ और ४७३ २।

देते हैं। धर्मकीर्ति[1] कहते हैं कि "घट की अनुपस्थिति वास्तव मे निगमित नही होती, निगमित तो कही अधिक उस अनुपलब्धि के व्यावहारिक परिणाम होते है।" ये परिणाम क्या हैं? ये सभी जब निर्दिष्ट प्रकार के अभावात्मक प्रत्यक्ष पर आधारित होते है तो ये अभावात्मक तर्कवाक्य तथा तदनुरूप अर्थ-क्रिया और, साथ ही साथ, उसकी सफल समाप्ति होते है।[2] फिर भी, एक अन्य प्रकार की अनुपलब्धि, एक ऐसा अभाव भी होता है जो किसी कल्पित उपस्थिति का अभावात्मक विज्ञान नही बल्कि एक अनुपस्थिति का, एक अकल्पित अथवा अकल्पनीय उपस्थिति का अभावात्मक विज्ञान होता है। यह सम्यक्ज्ञान का प्रमाण नही होता और अर्थक्रिया की ओर प्रवृत्त नही करता। अनुपस्थिति के इस प्रकार के अभावात्मक विज्ञान के कुछ मनोरजक विवरणो का थोडा और बाद मे विवेचन किया जायगा।

उन आधारो के सम्बन्ध मे, जो हमे, अनुपलब्धि या प्रतिषेध को अनुमान के क्षेत्र मे रखने के लिये प्रेरित करते है, धर्मोत्तर[3] इस प्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं। "क्या यह नही कहा गया है कि यह निश्चय कि कोई 'घट नही है,' इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा, एक रिक्त स्थान के प्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न है? और अब हम इस निश्चय को इस प्रत्यक्ष से अनुमान द्वारा निगमित व्यावहारिक परिणामो के अन्तर्गत रखते है। (हाँ! हम इसे अस्वीकार नही करते!)। यत रिक्त स्थान का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा विज्ञान होता है, और यत यह अनुपलब्धि-निश्चय कि "यहाँ कोई घट नही है" प्रत्यक्ष के साक्षात कार्य द्वारा-उत्पन्न निश्चय है—उस कार्य द्वारा जो वस्तु को हमारी इन्द्रियो के समक्ष उपस्थित करता है, अत यह सर्वथा सत्य है कि रिक्त स्थान के प्रत्यक्ष का तत्काल अनुगमन करने वाला अनुपलब्धि निश्चय एक प्रत्यक्षात्मक निश्चय है। वास्तव मे जिसकी पूर्वव्याख्या की जा चुकी है उसके अनुसार अनुपलब्धि निश्चय इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात् उत्पन्न होता है, क्योकि संज्ञा मे (विशुद्ध विज्ञान के बाहर) हमारे समक्ष एक रिक्त स्थान के अस्तित्व के निश्चय को उत्पन्न करने की मात्र क्षमता होती है। फिर भी, अनुपलब्धि का उपयुक्त कार्य अनुगमन करने वाले अगले स्तर से निर्मित होता है। वस्तुओ का प्रत्यक्ष नही भी हो सकता, किन्तु यह केवल सन्दिग्धता मात्र को उत्पन्न करता है (यह प्रश्न उठता है कि इनमे से क्या उपस्थित हो सकता है)। जब तक इस सन्दिग्धता

---

[1] न्याबिटी० पृ० २९ १०, अनुवाद पृ० ८३।

[2] न्याबिटी० पृ० २९ २२, अनुवाद पृ० ८४।

[3] वही, पृ० ३००१, अनुवाद ८४।

का निवारण नही हो जाता, अनुपलब्धि का कोई व्यावहारिक महत्त्व नही होता, यह हमारी अर्थ-क्रियाओ को निर्देशित नही कर सकती। तब कल्पना आगे आती है, और इस प्रकार एक प्रतिषेधात्मक निगमन के रूप मे अनुपलब्धि अ-सत्ताओ के विचार को एक व्यावहारिक महत्त्व प्रदान् करती है। यत किसी वस्तु का, जिसकी हम किसी निर्दिष्ट स्थान पर उपस्थित होने के रूप मे कल्पना करते है, वास्तव मे प्रत्यक्ष नही होता, अत हम ठीक इसीलिये यह निश्चय करते हैं कि "वह वहाँ नही है।" फलस्वरूप, एक कल्पित उपस्थिति की यह अनुपलब्धि एक अनुमान है जो एक अ-सत्ता के उपलब्ध विकल्प को जीवन प्रदान करता है, यह स्वयं विकल्प की नये सिरे से रचना नही करता। इस प्रकार, स्थिति यह है कि अनुपलब्धि निश्चय अपना व्यावहारिक महत्त्व आक्षिप्त कल्पना से अनुमान के द्वारा ही प्राप्त करता है, यद्यपि यह वास्तव मे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न होता है और ऐसे अनुमान की एक निगमनात्मक प्रक्रिया द्वारा जीवन मे व्यवहृत होता है जिसका तार्किक हेतु एक अनुपलब्धि निश्चय के तथ्य मे निहित होता है। इसलिये एक अनुपलब्धि निश्चय हमारे पदो को उस समय निर्देशित करता है जब हम किसी अ-सत्ता के विचार का जीवन मे व्यवहार करते है।"[1]

§ ३. अनुपलब्धि-परार्थानुमान के प्रकार।

मात्र अनुपलब्धि का आकार

अभी तक अनुपलब्धि के स्वभाव और कार्य की स्थापना की गई। इसका स्वभाव सदैव ही किसी न किसी हेत्वाश्रित प्रत्यक्षत्व मे अकृत्यन्तरित होता है। वाह्य जगत् मे कोई अनुपलब्धि नही है। अनुपलब्धि कभी भी यर्थार्थ का साक्षात् विज्ञान नही है। फिर भी, परोक्ष रूप से अनुपलब्धि के अनुरूप एक बाह्य यथार्थ होता है और यह उसके अधिष्ठान का यथार्थ है। इस अधिष्ठान तथा इसके विज्ञान को भी अनुपलब्धि का स्वरूप कहा जा सकता है। अपनी इस विशिष्टता के कारण अनुपलब्धि, यद्यपि कल्पना के क्षेत्र से सम्बद्ध होते हुये भी, "अर्थ और प्रमाणिकता" से युक्त होती है। इसका कार्य हमारी अर्थ-क्रिया का एक विशेष प्रकार से निर्देशन करना है। यह ज्ञान का एक परोक्ष प्रमाणिक स्रोत है। यह ज्ञान अनुमानात्मक प्रकार का होना है जिसमे हेत्वा-

---

[1] तुकी० इसके साथ विण्डेलबाण्ड का यह सिद्धान्त कि अनुपलब्धि एक द्वितीय निश्चय, एक पुनर्निश्चय है। तुकी० नीचे योरोपीय समानान्तरताओ का खण्ड।

सभी सम्भव योगो पर विचार करने पर हमे अनुपलब्धि परार्थानुमान के ग्यारह आकार मिलते है। परार्थानुमान के अवयवो के रूप मे केवल सामान्य निश्चय ही स्वीकृत है। विशेष निश्चयो को या तो कोई भी तार्किक निष्कर्ष नही माना जाता अथवा ये सभी हेत्वाभास होते है।

ग्यारह अनुपलब्धि आकर इस प्रकार है। सर्वप्रथम —

स्वभावानुपलब्धि —यह आकार प्रत्येक प्रत्यक्षात्मक अनुपलब्धि निश्चय मे निहित होता है। फिर भी यह प्रत्यक्षात्मक निश्चय नही होता क्योकि जिस वस्तु का विज्ञान होता है वह अदृश्य होती है। उसका उसके उस लक्षण से विज्ञान होता है जो अ-प्रत्यक्ष होता है। यत निगमित भाग उस भाग से बहुत भिन्न नही होता जिससे वह निगमित होता है, और यत अ-प्रत्यक्ष अ-उपस्थिति (अथवा अनुपस्थिति) व्यवहारत एक ही वस्तु है, अत यह माना जाता है कि निगमित भाग एक ऐसे विशेष प्रकार के व्यवहार मे निहित होता है जो प्रतिषेध निश्चय का अनुवर्ती होता है। सामान्य रूप से प्रत्येक विज्ञान अर्थ-कार्य की सन्नद्धता के अतिरिक्त और कुछ नही। अनुपलब्धि के आकारो का स्वय अपने से विभेद नही किया जा रहा है। इसका स्वरूप सदैव एक ही, अर्थात् हेत्वाश्रित दृश्यता का उच्छेद होता है। किन्तु वह परिणाम जो इस प्रतिषेध से उत्पन्न होते हैं, भिन्न हैं। अनुपलब्धि के सूत्र इन्ही के अनुसार विभेदित हैं। स्वभावानुपलब्धि का परिणाम एक तदनुरूप व्यपार है। नि सन्देह, एक विधायक प्रत्यक्षात्मक निश्चय को भी उसके प्रत्यक्षत्व के तथ्य के द्वारा प्रत्यक्षीकृत वस्तु की उपस्थिति का अनुमान माना जा सकता है, और निगमित परिणाम, तब भी तदनुरूप व्यवहार होगा। किन्तु अन्तर मूर्त आकार की उस तात्कालिक स्पष्टता मे निहित होता है जो प्रत्यक्ष की विशिष्टता है और जो इसका अनुपस्थित वस्तुओ के अस्पष्ट आकार से विभेद करती है जिनसे अनुमान सम्बद्ध होता। इसका एक भिन्न स्वभाव और एक भिन्न कार्य होता है, है, तथा इसके आकारो का विधायक परार्थानुमान के आकारो से पृथक् विवेचन किया जाना चाहिये।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वभावानुपलब्धि को साधर्म्य के नियम के अनुसार एक सूत्र मे और, साथ ही साथ, वैधर्म्य के अनुसार एक सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है। प्रथम इस प्रकार होगा —

साध्य-आधारवाक्य एक प्रत्यक्षयोग्य वस्तु के प्रत्यक्ष का तदनुरूप प्रतिषेधात्मक व्यवहार अनुगमन करता है।

श्रित दृष्टता का तथ्य उस मध्यपद का स्थान ग्रहण करता है जो अधिष्ठान को अनुपलब्धि के साथ सम्बद्ध करता है। हेत्वाश्रित प्रत्यक्षत्व, इस प्रकार, अनुपलब्धि का सामान्य रूप है जो उसके प्रत्येक विशेष मे उपस्थित होता है। एक परार्थानुमान के रूप मे प्रस्तुत करने पर हम, जैसा कि प्रत्येक अनुमान मे होता है, साधर्म्य के नियम अथवा वैधर्म्य के नियम का वरण कर सकते हैं। इस प्रकार, हमे विप्रकृष्ट तथ्य के साथ साधर्म्य के द्वारा व्यक्त उपलब्धि, और विप्रकृष्ट तथ्य के साथ वैधर्म्य के द्वारा व्यक्त उपलब्धि मिलेगी, अर्थात् हमे एक विधायक रूप से व्यक्त उपलब्धि और एक प्रतिषेधात्मक रूप से व्यक्त अनुपलब्धि मिलेगी। अनुपलब्धि को व्यक्त करने की प्रतिषेधात्मक विधि का परिणाम विधि द्वारा उसका निगमन होगा क्योकि प्रत्येक द्विविध प्रतिषेध का परिणाम सदैव ही विधायक होता है। इन परार्थानुमानो के आकारो को यही आगे दिखाया जायगा। ये केवल आकारपरक प्रकार हैं, जिनमे केवल निर्धारण अथवा अभिव्यक्ति का ही अन्तर है। अभी भी हमे यह नही बताया गया कि वे वस्तुयें क्या हैं जिन पर अनुपलब्धि सन्निविष्ट होती है।

अनुपलब्धि या तो किसी वस्तु पर अथवा किसी सम्बन्ध पर सन्निविष्ट होती है। हम देख चुके हैं कि वस्तुयें पाँच पदार्थों मे उपविभाजित हैं, और सम्बन्ध केवल दो, अर्थात् अस्तित्वात्मक अनिवार्य तादात्म्य और अस्तित्वात्मक अनिवार्य फल (इसे तदुत्पत्ति भी कहते हैं) के रूप मे उपविभाजित हैं। वस्तुओं के पाँच पदार्थ, अर्थात् व्यक्ति, जाति, गुण, कर्म, और द्रव्य, मात्र अनुपलब्धि के विषय हो सकते हैं। ये अनुपलब्धि, जहाँ तक यह अनुपलब्धि है, के वर्गीकरण का कोई आधार प्रदान नही करते। किन्तु सम्बन्धो को, अन्योन्याश्रयत्व के सम्बन्ध होने के कारण, एक भिन्न प्रकार से एक आश्रित भाग के उस भाग के साथ सम्बन्ध के रूप मे जिस पर वह आश्रित होता है, तथा इसके विपरीत स्वतन्त्र भाग के आश्रित के साथ सम्बन्ध के रूप मे देखा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे इसे हेतु के फल के साथ और इसके विपरीत फल के हेतु के साथ, व्यापक के व्याप्य के साथ और व्याप्य के व्यापक के साथ सम्बन्ध के रूप मे देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, ये अन्तरप्रतिनिविष्ट भी हो सकते हैं, जिस दशा मे हमे ऐसे सम्बन्ध मिलेंगे जिनमें कोई वस्तु दूसरी से सम्बद्ध है जब कि यह दूसरी वस्तु, प्रथम के हेतु की दृष्टि से व्याप्य हो सकती है। एक या दूसरे को अस्वीकृत करने मे हमारी अनुपलब्धि तदुत्पत्ति + तादात्म्य के द्विविध सम्बन्ध पर आधारित होगी।

सामान्य नियम की स्थापना के बाद परार्थानुमानीय प्रक्रिया पक्ष-आधारवाक्य ("इस स्थान पर हमे किसी प्रत्यक्षयोग्य घट का प्रत्यक्ष नही हो रहा है") मे एक विशेष दृष्टान्त के प्रति इसके प्रयोग का इ गित करने की ओर अग्रसर होती है। प्रस्तुतीकरण अथवा कल्पना द्वारा एक सत्तारहित घट को जिस प्रकार प्रत्यक्षत्व की सभी अनिवार्य स्थितियो मे रखा गया है, हेत्वाश्रित रूप से इस प्रकार के हेत्वाश्रित निश्चय मे निहित है कि "यदि इस स्थान पर घट उपस्थित होता, तो मुझे उसका अवश्य प्रत्यक्ष होता, किन्तु मुझे किसी का प्रत्यक्ष नही हो रहा है, अत वह उपस्थित नही है।"

इस प्रकार, स्थिति यह है कि प्रत्येक प्रतिषेधात्मक अनुभव को एक ऐसी विशेष स्थिति मानना चाहिये जो इस ;सामान्य नियम से अभिप्रेत है कि उन्ही वस्तुओ का अनस्तित्व होता है जिनका अन्य परिस्थितियो मे हम प्रत्यक्ष कर सकते थे। दूसरी ओर, जिन वस्तुओ का हम प्रत्यक्ष नही करते और जिन्हे हेत्वाश्रित रूप से प्रत्यक्षत्व की स्थितियो मे रक्खा नही जा सकता, अर्थात् ऐसी वस्तुओ का जो अपने स्वभाव से ही अकल्पनीय हैं, प्रतिषेध नही किया जा सकता क्योकि अनुपलब्धि कल्पना के उच्छेद के अतिरिक्त और कुछ नही।

स्वभावानुपलब्धि के इसी आकार को वैधर्म्य के नियम के अनुसार भी व्यक्त किया जा सकता है। तब हमे अनुपलब्धि की एक प्रतिषेधात्मक अभिव्यक्ति, एक विप्रकृष्ट प्रतिषेध, अर्थात् एक ऐसा विधायक सामान्य तर्कवाक्य रखना होगा जिससे अनुपलब्धि अनुगमित होगी। इसका सूत्र इस प्रकार है—

साध्य-आधारवाक्य गोचर क्षेत्र मे उपस्थित वस्तु का, प्रत्यक्षत्व की अन्य समस्त स्थितियो के पूर्ण हो जाने पर अनिवार्य प्रत्यक्ष होता है।

दृष्टान्त जैसे कि नीलपट, इत्यादि।

पक्ष–आधारवाक्य यहाँ, प्रत्यक्षत्व की समस्त स्थितियो के पूर्ण होने पर भी किसी घट का प्रत्यक्ष नही हो रहा है।

निष्कर्ष यहाँ कोई घट नही है।

अनुपलब्धि के स्वभाव की समस्या के अनुसन्धान के लिये यहाँ हम वैधर्म्य के नियम का आश्रय लेते हैं। हम दो ऐसे उदाहरणो की तुलना करते हैं जिनमे प्रत्ययान्तर-साकल्य है। यदि किसी उदाहरण मे, जिसमे अनुसधानाधीन घटना आती है, अर्थात् जहाँ हम यह कह सकते हैं कि

दृष्टान्त जिस प्रकार आकाश में पुष्प के प्रत्यक्ष का उसे तोड़ने की क्रिया अनुगमन नहीं करती।

पक्ष-आधारवाक्य इस स्थान पर हमे किसी घट का, जो प्रत्यक्षयोग्य है, प्रत्यक्ष नही हो रहा है।

निष्कर्ष इस स्थान पर हमे घट उपलब्ध नही होगा।

पक्ष-पद को यहाँ इस विकल्प "इस स्थान पर" द्वारा व्यक्त किया गया है। यह सम्पूर्ण तर्कना मे अन्तर्निहित यथार्थ का अधिष्ठान है। साध्य-पद को तदनुरूप प्रतिषेधात्मक व्यवहार के विकल्प "हमे वह यहाँ उपलब्ध नही होगा" द्वारा व्यक्त किया गया है। मध्यपद प्रतिषेध्य वस्तु की हेत्वाश्रित उपस्थिति के उच्छेद द्वारा निर्मित है। साध्य-आधारवाक्य इनकी व्याप्ति का सकेत करता है। वास्तव मे, जैसा कि एम० एच० बर्गसॉ इसे व्यक्त करते हैं, "उच्छेद से प्रतिषेध तक जो कि अपेक्षाकृत अधिक सामान्य प्रक्रिया है, केवल एक ही सोपान है।" धर्मोत्तर कहते हैं कि "इसका अर्थ प्रत्यक्ष-योग्य वस्तु के प्रत्यक्ष न होने की परिस्थिति उसके सम्बन्ध मे प्रतिषेधात्मक अर्थ-क्रिया का अवसर प्रदान करती है।"[1] अ-प्रत्यक्ष व्याप्य अश, और आश्रित अश हेतु है। अनुपलब्धि अथवा प्रतिषेधात्मक व्यवहार व्यापक अश है जो अधिक सामान्य क्रिया तथा अश है, प्रतिबन्ध-विषय निश्चित अनुबन्ध है।

यह वक्तव्य कि तार्किक हेतु अनिवार्यत अपने फल के साथ सम्बद्ध होता है, निरपवाद व्याप्ति का वक्तव्य है। परार्थानुमान के अभिनियम के नियमो अनुसार है, अर्थात् हेतु और उसके फल के बीच (अथवा उद्देश्य और विधेय के बीच) निरपवाद व्याप्ति इन बातो मे निहित है १) विधेय की उद्देश्य पर अनिवार्य उपस्थिति (कभी भी अनुपस्थिति नही), और २) उद्देश्य की उपस्थिति मे एकमात्र विधेय के क्षेत्र मे, उसके बाहर कभी नही।[2]

उदाहरण एक वैयक्तिक दृष्टान्त की ओर सकेत करता है जिसका कि व्याप्ति को व्यक्त करने वाला सामान्य तर्कवाक्य आगमन द्वारा सामान्यीकरण है। प्रत्येक कल्पित वस्तु, ऐसी वस्तु जो केवल कल्पना मे ही उपस्थित है, ऐसी वस्तु का उदाहरण है जिसका यथार्थ अस्तित्व नही होता। सामान्य नियम को सिद्ध करने वाले तथ्यो के इस सन्दर्भ द्वारा व्याप्ति की पूर्ण स्थापना हो जाती है।

---

[1] न्याबिटी० पृ० ४४१, अनुवाद पृ० ११७।

[2] न्याबिटी० पृ० ४४.४ और बाद, अनुवाद पृ० ११८।

सामान्य नियम की स्थापना के बाद परार्थानुमानीय प्रक्रिया पक्ष-आधारवाक्य ("इस स्थान पर हमे किसी प्रत्यक्षयोग्य घट का प्रत्यक्ष नही हो रहा है") मे एक विशेष दृष्टान्त के प्रति इसके प्रयोग का इंगित करने की ओर अग्रसर होती है। प्रस्तुतीकरण अथवा कल्पना द्वारा एक सत्तारहित घट को जिस प्रकार प्रत्यक्षत्व की सभी अनिवार्य स्थितियो मे रखा गया है, हेत्वाश्रित रूप से इस प्रकार के हेत्वाश्रित निश्चय मे निहित है कि "यदि इस स्थान पर घट उपस्थित होता, तो मुझे उसका अवश्य प्रत्यक्ष होता, किन्तु मुझे किसी का प्रत्यक्ष नही हो रहा है, अत वह उपस्थित नही है।"

इस प्रकार, स्थिति यह है कि प्रत्येक प्रतिषेधात्मक अनुभव को एक ऐसी विशेष स्थिति मानना चाहिये जो इस सामान्य नियम से अभिप्रेत है कि उन्ही वस्तुओ का अनस्तित्व होता है जिनका अन्य परिस्थितियो मे हम प्रत्यक्ष कर सकते थे। दूसरी ओर, जिन वस्तुओ का हम प्रत्यक्ष नही करते और जिन्हे हेत्वाश्रित रूप से प्रत्यक्षत्व की स्थितियो मे रखा नही जा सकता, अर्थात् ऐसी वस्तुओ का जो अपने स्वभाव से ही अकल्पनीय है, प्रतिषेध नही किया जा सकता क्योकि अनुपलब्धि कल्पना के उच्छेद के अतिरिक्त और कुछ नही।

स्वभावानुपलब्धि के इसी आकार को वैधर्म्य के नियम के अनुसार भी व्यक्त किया जा सकता है। तब हमे अनुपलब्धि की एक प्रतिषेधात्मक अभिव्यक्ति, एक विप्रकृष्ट प्रतिषेध, अर्थात् एक ऐसा विधायक सामान्य तर्कवाक्य रखना होगा जिससे अनुपलब्धि अनुगमित होगी। इसका सूत्र इस प्रकार है —

साध्य-आधारवाक्य गोचर क्षेत्र मे उपस्थित वस्तु का, प्रत्यक्षत्व की अन्य समस्त स्थितियो के पूर्ण हो जाने पर अनिवार्य प्रत्यक्ष होता है।

दृष्टान्त जैसे कि नीलपट, इत्यादि।

पक्ष–आधारवाक्य यहाँ, प्रत्यक्षत्व की समस्त स्थितियो के पूर्ण होने पर भी किसी घट का प्रत्यक्ष नही हो रहा है।

निष्कर्ष यहाँ कोई घट नही है।

अनुपलब्धि के स्वभाव की समस्या के अनुसन्धान के लिये यहाँ हम वैधर्म्य के नियम का आश्रय लेते हैं। हम दो ऐसे उदाहरणो की तुलना करते हैं जिनमे प्रत्ययान्तर-साकल्य है। यदि किसी उदाहरण मे, जिसमे अनुसधानाधीन घटना आती है, अर्थात् जहाँ हम यह कह सकते हैं कि

यहाँ नही है'', तथा एक अन्य उदाहरण मे जिसमे यह घटना नही आती, अर्थात् जहाँ कोई अनुपलब्धि नही है, जहाँ हम यह नही कह सकते कि "यह यहाँ नही है," क्योकि यह यहाँ है—यदि इन दोनो उदाहरणो मे प्रत्येक स्थिति समान रूप से हो, अर्थात् प्रत्यान्तर-साकल्य[१] के अतिरिक्त प्रत्यक्षत्व की समस्त स्थितियाँ पूर्ण हो, जैसे ऐसी वस्तु का अप्रत्यक्ष जिसकी प्रत्यक्षत्व की समस्त अनिवार्य स्थितियो मे स्थित होने के रूप मे हेत्वाश्रित दृष्यता हो, तो वह एक स्थिति जो प्रथम उदाहरण मात्र मे आती है और बाद वाले मे नही आती, अनुपलब्धि की घटना की हेतु अथवा अनिवार्य अश होगी। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि अनुपलब्धि का स्वभाव हेत्वाश्रित दृष्यता के उच्छेद मे निहित है। हम देख चुके हैं कि साधर्म्य के नियम के आधार पर भी यही परिणाम प्राप्त हो सकता है। तब हम एक ऐसे उदाहरण की तुलना करते हैं जिसमे एक स्थान विशेष मे एक कल्पित घट को अनुपस्थित कहा गया है, क्योकि यदि वह उपस्थित होता तो उसका प्रत्यक्ष अवश्य होता। हम इसकी अन्य उदाहरणो से तुलना करते हैं जहाँ वस्तुओ को निश्चित रूप से अनुपस्थित कहा जाना चाहिये, क्योकि ये केवल कल्पित

---

[१] प्रत्ययान्तर, प्रत्ययान्तर-साकल्यम्, साकल्यम् = सन्निधि, तुकी० न्याबिटी० पृ० २२-२३-२३ १। अ-प्रत्यक्ष को उपलब्धि का कदाचित ही कारण कहा जा सकता है क्योकि अनस्तित्व और उसके विज्ञान का भी इसी प्रकार इस पद से ग्रहण होता है, तुकी न्याबिटी० २८ २२ "अर्थ ज्ञान एव प्रत्यक्षस्य घटस्य अभाव उच्यते।" अनुपलब्धि विप्रकृष्ट प्रत्यक्ष मे निहित होता है। विप्रकृष्ट प्रत्यक्ष और सामान्य रूप से विप्रकृष्टत्व मे सम्बन्ध विभागात्मक है, प्रथम द्वितीय का उद्दिष्ट भाग है और व्यापकार्थ मे उसे धारण करता है। इसलिये अ-प्रत्यक्ष से अनस्तित्व का अनुमानात्मक स्तर स्वीकार है, क्योकि प्रथम अनिवार्यत द्वितीय का एक अश है। यह द्रष्टव्य है कि ए० बेन ने, आगमन के द्वितीय अभिनियम के अपने निर्धारण मे "अथवा हेतु का एक अनिवार्य अश" इन शब्दो को छोड़ दिया है, जो जे० स्टु० मिल के निर्धारण मे मिलते हैं। यदि श्री मिल ने यह कहा होता कि "वह स्थिति मात्र जिसमे दो दृष्टान्त भिन्न हैं, या तो फल है अथवा घटना का अनिवार्य अंश", तो उनका वक्तव्य उस बौद्ध दृष्टिकोण के अनुकूल हो जाता जिसके अनुसार वस्तुओ के बीच केवल दो प्रकार के ही सम्बन्ध, अर्थात् तादात्म्य (= विरोध का निश्चय) और तदुपत्ति होते हैं। प्रत्येक दशा के विषयवस्तु की समानो और असमानो दोनो से ही आगमन द्वारा स्थापना की जाती है।

हैं, जैसे, उदाहरण के लिये, आकाश मे पुष्प, खरगोश के सर पर सीग, बॉझ का पुत्र इत्यादि। मात्र वही स्थिति, जिसमे इन उदाहरणो का प्रथम के साथ साधर्म्य है अनुपस्थित वस्तु की कल्पित उपस्थिति है। यही स्थिति अनुपलब्धि की हेतु अथवा अनिवार्य अश है। इस प्रकार, अनुपलब्धि का स्वभाव एक हेत्वाश्रित उपस्थिति के उच्छेद मे निहित है। यहाँ वैधर्म्य का नियम यह कहना है कि फल के उच्छेद के साथ हेतु का भी उच्छेद हो जाता है। यह एक मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान है जो विघातक रूप मे व्यक्त है। वास्तव मे साध्य-आधारवाक्य यह कहता है कि —

यदि कोई वस्तु उपस्थित है तो, यह मान लेने पर कि उसके प्रत्यक्ष मे अन्य कोई अवरोध नही है, उसका प्रत्यक्ष होगा। किन्तु एक स्थान विशेष पर उसका प्रत्यक्ष नही है। फलस्वरूप वह अनुपस्थित (उपस्थित नही) है।

सामान्य तर्कवाक्य यह व्यक्त करता है कि प्रत्यक्ष-योग्य किसी वस्तु के अस्तित्व का, उस समय जब अनिवार्य स्थितियो की समग्रता पूर्ण होती है तो, प्रत्यक्ष निरपवाद रूप से अनुगमन करता है। सत्ता अ-सत्ता का प्रतिषेध है, और विज्ञान अ विज्ञान का प्रतिषेध है। इसलिये हमे यहाँ साधर्म्य के नियम के अनुसार व्यक्त सामान्य आधारवाक्य का व्यतिरेक मिलता है (जहाँ अ-प्रत्यक्ष को अ-सत्ता के साथ व्याप्ति के रूप मे प्रस्तुत किया गया है)। उद्देश्य के प्रतिषेध को विधेय बनाया गया है, और विधेय के प्रतिषेध को उद्देश्य। इस प्रकार, सामान्य आधारवाक्य यह व्यक्त करता है कि फल के प्रतिषेध की हेतु के प्रतिषेध के साथ निरपवाद व्याप्ति है क्योकि प्रथम प्रतिषेध द्वितीय पर निर्भर है। यदि अनस्तित्व का प्रतिषेध है, अर्थात् यदि सत्ता का विधान है, तो प्रत्यक्ष (अ-अप्रत्यक्ष), यदि मार्ग मे कोई अन्य अवरोध नही हैं तो, अवश्य अनुगमन करेगा। फल की (अर्थात् अनस्तित्व की) अनुपस्थिति मे अनिवार्यत हेतु की (अर्थात् अ-प्रत्यक्ष की) अनुपस्थिति अनिवार्यत निहित होती है। किन्तु हेतु उपस्थित है। अत उसके फल को भी अवश्य उपस्थिति होना चाहिये। दूसरे शब्दो मे यह कि समस्त अनिवार्य स्थितियो की पूर्ति के बाद भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, अत वह उपस्थित नही है, उसका स्थान विशेष पर अस्तित्व नही है। हेतु की अनुपलब्धि सदैव ही व्यापक को व्यक्त करती है जिसमे फल की अनुपलब्धि व्याप्य होने के कारण अधीनस्थ होती है। जब वैधर्म्य के नियम का व्यवहार होता है तब सदैव यह दिखाना आवश्यक है कि निगमित फल, जो यहाँ हेत्वाश्रित

दृष्यता का अ-प्रत्यक्ष है, के उच्छेद मे हेतु का उच्छेद अनिवार्यत निहित होता है।

§ ४. शेष दस आकार

अनुपलब्धि परार्थानुमान के शेष दस आकार "किसी कल्पित दृष्यता की अनुपलब्धि को साक्षात् व्यक्त नही करते, बल्कि ये किसी अन्य की विधि अथवा अनुपलब्धि को व्यक्त करते हैं, और यह हेत्वाश्रित दृष्यता की स्वभावानुपलब्धि मे अनिवार्यत. आकृत्यन्तरित हो जाते हैं।"[1] इसलिये ये, यद्यपि परोक्ष रूप से ही, स्वभावानुपलब्धि के प्रच्छन्न सूत्रो के अतिरिक्त और कुछ नही।

ग्यारह आकारो का क्रम प्रत्यक्षत निगमन की उत्तरोत्तर जटिलता के अनुसार निर्धारित है। यह स्वभावानुपलब्धि के आकार से आरम्भ होकर प्रतिषेध्यकारण के विरुद्ध कार्य की उपलब्धि (कारणविरुद्धकार्योपलब्धि) मे समाप्त होता है। दस आकारो को दो प्रमुख वर्गों के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है। एक वर्ग के अन्तर्गत् सभी सूत्र आते हैं जो कारण-विरुद्ध कार्य की अनुपलब्धि के निगमन मे निहित होते हैं। इस वर्ग मे सात आकार, अर्थात् ४ से ८ और १०–११, आते हैं। दूसरे वर्ग मे तीन आकार, अर्थात् २,३ और ९, आते हैं जो एक अन्य अनुपलब्धि का निगमन करते हैं। दूसदे शब्दो मे ये प्रतिषेध्य के कार्य की अनुपलब्धि का अथवा प्रतिषेध्य के व्याप्य के व्यापक धर्म की अनुपलब्धि का निगमन करते हैं।

दूसरा आकार प्रतिषेध्य के कार्य की अनुपलब्धि मे निहित है, जैसे —

साध्य-आधारवाक्य जहाँ धूम नही है, वहाँ उसके अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाले कारण नही हैं।

पक्ष-आधारवाक्य यहाँ धूम का अभाव है।

निष्कर्ष यहाँ उसके अप्रतिबद्धसामर्थ्यवाले कारण नही है।

"यहाँ" शब्द से इगित स्थान पक्षपद के अनुरूप है। धूम के अप्रतिबद्ध-सामर्थ्यवाले कारणो की उपस्थिति का तथ्य साध्यआधारवाक्य के, और "धूम का अभाव" मध्यपद के अनुरूप है। यदि हम "धूम का अभाव" शब्द को एक विधायक रूप मे ग्रहण करे तो परार्थानुमान Celarent प्रकार का होगा। अन्यथा यह तीन प्रतिषेधात्मक तर्कवाक्यो से युक्त होगा और एरिस्टॉटिल के नियम को बचाने के लिये इस बात को स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही है कि द्विविध प्रतिषेध से युक्त साध्य आधार-वाक्य विधायक है; तब आकार Camestres होगा।

[1] न्याबिटी० पृ० ३७७, अनुवाद पृ० १००।

हेतु की उपस्थिति से उसके फल की अनिवार्यता के निगमन को बौद्ध तर्कशास्त्र मे सुरक्षित नही माना गया है क्योंकि हेतु सदैव अपना फल उत्पन्न नही करता। अन्तिम क्षण तक कोई न कोई अप्रत्याशित तथ्य हस्तक्षेप कर सकता है जिससे उसका फल घटित न हो, इसलिये, जैसा कि तदुत्पत्ति के बौद्ध-सिद्धान्त का परीक्षण करते समय हम देख चुके हैं, केवल अन्तिम क्षण ही यथार्थ हेतु, प्रापकता का यथार्थ क्षण, अथवा परमार्थ-सत् होता है। अत एक अनुपस्थित फल से अनुपस्थित हेतु के अनुमान मे हेतु अप्रतिवद्ध-सामर्थ्यवाले हेतु, अर्थात् फल के तत्काल पूर्ववर्ती अन्तिम क्षण का द्योतक है।

तर्कना के इस आकार का उस समय उपयोग होता है जब हेतु अदृश्य होते हैं। उनकी कल्पित हेत्वाश्रित दृश्यता का प्रतिषेध होता है।

अगला, तीसरा आकार भी एक ऐसा उदाहरण है जब एक तथ्य की अनुपलब्धि का दूसरे तथ्य की अनुपलब्धि से निगमन होता है किन्तु इनके बीच का सम्बन्ध हेतुत्व पर आधारित नही होता। यह अधिष्ठान के तादात्म्य पर आधारित है। यह प्रतिषेध्य के व्याप्य के व्यापक धर्म की अनुपलब्धि है। जैसे—

साध्य-आधारवाक्य : जहाँ वृक्षो का अभाव है वहाँ स्वभावत शिंशपा नही हैं।

पक्ष-आधारवाक्य इस स्थान पर वृक्ष का अभाव है।
निष्कर्ष इस स्थान पर शिंशपा का भी अभाव है।

पक्षपद "इस स्थान" शब्द से, साध्य "शिंशपा का अभाव" शब्द से, और मध्य "वृक्ष का अभाव" शब्द से व्यक्त है। गत उदाहरण की ही भाँति यह आकार भी तीन प्रतिषेधात्मक तर्कवाक्यो से युक्त है और इसे या तो Celarent अथवा Camestres आकारो मे व्यवस्थित किया जा सकता है। व्यापक धर्म का यहाँ मात्र अनुपलब्धि से निर्धारण होता है। व्याप्य की अनुपस्थिति तादात्म्य के नियम पर आधारित है।

इस तथा अगले आकारो में यथार्थवादी सम्प्रदाय दो तथ्यो अथवा विकल्पो के बीच निरपवाद सम्बन्ध की स्थापना मे सन्तुष्ट हैं और न तो इस सम्बन्ध की प्रकृति का ही अनुसन्धान करते हैं और न हमे यही बताते हैं कि दो पदो के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध होता है तथा वह किस नियम पर आधारित होता है। बौद्धो के अनुपलब्धि परार्थानुमान के सभी आकारो को एक ही Celarent आकार के और कुछ को Cemestres के अन्तर्गत ला दिया जायगा। किन्तु बौद्ध सिद्धान्त इस मान्यता से आरम्भ

होता है कि तथ्यो और विकल्पो के बीच केवल दो प्रकार के सम्बन्ध, एक विरोध के नियम पर आधारित और दूसरा तदुत्पत्ति के नियम पर आधारित, होते हैं, तथा इस दृष्टिकोण के अनुसार परार्थानुमानीकरण की पद्धति ग्यारह योग प्रस्तुत कर सकती है जिनमे से यद्यपि सभी आकार मे Celarent तथापि प्रतिषेधात्मक तर्कना के भिन्न प्रकार हैं। इस विभाजन पर "परार्थानुमानीय आकारो की मिथ्या सूक्ष्मता" का आक्षेप नही किया जा सकता, बल्कि ये विज्ञान के दो आधारभूत नियमो के साथ अपने सम्बन्ध पर आधारित आकारो के वर्गीकरण है।

चौथा आकार प्रतिषेध्य के स्वभाव से विरुद्ध की उपलब्धि मे निहित है, जैसे —

साध्य-आधारवाक्य जहाँ प्रापक अग्नि है वहाँ शीतस्पर्श नही है।

पक्ष-आधारवाक्य यहाँ प्रापक अग्नि है।

निष्कर्ष यहाँ शीतस्पर्श नही है।

यह आकार Celarent है और विरोध के नियम के अनुसार तादात्म्य द्वारा सम्बद्ध तथ्यो का द्योतक है। ताप का, जो कि शीत का विरोधी है, साक्षात् अनुभव नही है, और ताप वर्जित अग्नि का प्रत्यक्ष हो रहा है, अन्यथा अन्य आकार का आश्रय लेना होता। इस आकार का ऐसी स्थितियो मे प्रयोग होता है जहाँ अग्नि का दृष्टि द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु द्रष्टा और अग्नि को पृथक् करने वाली दूरी के कारण ताप का अनुभव नही हो सकता। इस प्रकार एक कल्पित शीतस्पर्श की अनुपलब्धि है।

अगला, पाँचवा आकार, विरोध के सम्बन्ध के अतिरिक्त हेतुत्व के सम्बन्ध के समावेश सहित गत का ही परिवर्तित रूप है। यह प्रयिषेध्य से विरुद्ध कार्य की उपलब्धि है, जैसे —

साध्य-आधारवाक्य जहाँ धूम है वहाँ शीतस्पर्श नही है।

पक्ष-आधारवाक्य यहाँ धूम है।

निष्कर्ष यहाँ शीतस्पर्श नही है।

नि सन्देह यहाँ ऐसे धूम का तात्पर्य है जो पर्याप्त शक्तिशाली अग्नि की उपस्थिति का सूचक है। इस आकार का उस स्थिति मे प्रयोग किया जाता है जब अग्नि और शीतस्पर्श दोनो का ही साक्षात् अनुभव नही होता। जब शीतस्पर्श का साक्षात् अनुभव होता तो प्रथम अनुपलब्धि आकार के अनुसार स्वभावानुपलब्धि का ही प्रयोग किया गया होता। जहाँ अग्नि का साक्षात् प्रत्यक्ष हो वहाँ अनुपलब्धि के चौथे आकार, स्वभावविरुद्धोपलब्धि का ही प्रयोग करना

चाहिये। किन्तु जब दोनो ही इन्द्रियो की पहुच के बाहर हो तब इस आकार, अर्थात् विरुद्धकार्योपलब्धि का प्रयोग होता है।

अगला, छठवाँ आकर प्रतिषेध्य के विरुद्ध मे व्याप्त धर्मान्तर की उपलब्धि में निहित है। यह एक और जटिलता का समावेश करता है किन्तु, फिर भी, यह दो ऐसे तथ्यो के विभागात्मक सम्बन्ध पर आधारित है जिनमे से एक दूसरे का अग है, जैसे —

साध्य-आधारवाक्य जो हेत्वान्तर की अपेक्षा रखता है वह नित्य नही है।

पक्ष-आधारवाक्य आनुभविक वस्तुओ का नाश विशेष हेतुओ की अपेक्षा रखता है।

निष्कर्ष यह नित्य नही है।

यह बौद्धो के क्षणिकवाद या क्षणिक सत्ता के सिद्धान्त के विरुद्ध यथार्थवादियो का तर्क है। बौद्ध यह मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु का नाश अनुभव-निरपेक्ष रूप से निश्चित है क्योंकि सत्ता का स्वभाव ही ऐसा है। सत्ता और नाश तादात्म्य के द्वारा सम्बद्ध है। जिसकी भी यथार्थ सत्ता और उत्पत्ति है वह स्वभावत नित्य नश्वर है। यथार्थवादी यह तथ्य प्रस्तुत करते हैं कि प्रत्येक नाश का हेतु होता है, जैसे उदाहरण के लिये, घट काल द्वारा विनष्ट नही होता बल्कि हथौडे के प्रहार से नष्ट होता है। यह आकस्मिक हेतुत्व अ-हेतुत्व का विरुद्ध धर्मी है और अहेतुत्व नित्यत्व अथवा शाश्वतत्व के आधीन है। नित्यत्व के अभाव को, इस प्रकार एक ऐसी अधीनस्थ विशिष्टता के सकेत द्वारा दर्शाया गया है जो नित्यत्व के विरुद्ध है। हेतुत्व, अ-हेतुत्व और नित्यत्व की धारणाओ का सम्बन्ध विरोध और तादात्म्य के नियम पर आधारित है।

यत प्रस्तुत उदाहरण मे प्रत्यक्षत हम अमूर्त धारणाओ से सम्बद्ध हैं, अत यह प्रश्न उठता है कि हेत्वाश्रित प्रत्यक्षत्व की अनुपलब्धि के सिद्धान्त को यहाँ सदैव प्रत्येक अनुपलब्धि का स्वभाव माना जा सकता है या नही। धर्मोत्तर[1] कहते हैं कि "विधेय अथवा साध्यपद 'नित्यत्व' की यथार्थता का प्रतिषेध करते समय वास्तव मे हमें इस प्रकार तर्क करना चाहिये - यदि हमारे समक्ष प्रस्तुत तथ्य नित्य होता तो हमे उसके नित्य स्वभाव का कुछ अनुभव होता, फिर भी, किसी नित्य स्वभाव का कभी भी अनुभव नही हुआ, अत यह नित्य नही है।" निष्कर्ष यह कि जब हम नित्यता का प्रतिषेध करते हैं तो यह प्रतिषेध किसी ऐसी वस्तु का द्योतक होता है जिसे प्रत्यक्षत्व की समस्त स्थितियो मे हेत्वाश्रित रूप से रखा गया होता है। यहाँ तक कि किसी प्रेत

[1] न्याविटी० पृ० ३३.१३, अनुवाद पृ० ९४।

की, जिसे अदृष्य माना जाता है, उपस्थिति का प्रतिषेध करते समय भी हम एक क्षण के लिये उसके प्रत्यक्ष-योग्य होने की कल्पना करके ही ऐसा कर सकते हैं। केवल इसी प्रकार हम ऐसे के निश्चयो पर पहुँच सकते हैं कि "यह घट है" "यह प्रेत नही है"। बौद्धो के निश्चय के सिद्धान्त तथा विज्ञान-विकल्प के युग्म के साथ इसके तादात्म्य से यह साक्षात् निष्कर्ष निकलता है कि कोई भी सर्वथा अमूर्त विचार नही होता, प्रत्येक अमूर्त विचार, यदि वह किसी न किसी प्रकार विज्ञान से सयुक्त नही है तो, "आकाश मे पुष्प" है।

अनुपलब्धि का सातवाँ आकार, पुन, एक परोक्ष अनुपलब्धि और तदुत्पत्ति पर आधारित है। यह प्रतिषेध्य के कार्य के विरुद्ध की उपलब्धि है, जैसे —

साध्य-आधारवाक्य जहाँ भी अप्रतिबद्धसामर्थ्यवाली अग्नि है वहाँ अप्रतिबद्धसामर्थ्यवाले शीत के कारण नही हैं।

पक्ष-आधारवाक्य किन्तु यहाँ अ-प्रतिबद्धसामर्थ्यवाली अग्नि है।

निष्कर्ष अत यहाँ शीत के अप्रतिबद्धसामर्थ्यवाले कारण नही हैं।

शीत उत्पन्न करनेवाले तत्त्वो की उपस्थिति के साक्षात् प्रत्यक्ष की कोई सम्भावना न होने के कारण हम उनकी उपस्थिति की कल्पना कर लेते हैं और तब इस धारणा का कुछ दूरी पर साक्षात् प्रत्यक्ष अग्नि की दीप्ति की ओर संकेत करके प्रतिषेध करते हैं। हमे इस आकार का उस समय अवश्य उपयोग करना चाहिये जब न तो स्वय शीत का और न उसके कारणो का ही साक्षात् प्रत्यक्ष हो सकता है। जहाँ शीत का अनुभव हो सकता है वहाँ दूसरे आकार, कार्यानुपलब्धि, जैसे "यहाँ अप्रतिबद्धसामर्थ्यवाले शीत के कारण नही है, क्योकि यहाँ शीत नही है", का प्रयोग करेंगे। और जब इसके कारण विज्ञान में उपलब्ध हो तब हम प्रथम आकार, स्वभावानुपलब्धि का प्रयोग करेंगे जैसे "यहाँ शीत के कोई कारण नही हैं क्योकि हम उनका अनुभव नही कर सकते हैं। यहाँ निगमन अशत तदुत्पत्ति पर और अशत विरोध के नियम पर आधारित है। अग्नि की उपस्थिति शीत की अनुपस्थिति के साथ विरोध के नियम द्वारा सम्बद्ध है। शीत के कारणो की अनुपस्थिति अग्नि की अनुपस्थिति के साथ तदुत्पत्ति के नियम द्वारा सम्बद्ध है।

अगला, अनुपलब्धि का आठवाँ आकार, पुन, मात्र तादात्म्य और विरोध के नियमो पर आधारित है। यह प्रतिषेध्य के व्यापक से विरुद्ध की उपलब्धि मे निहित है, जैसे —

साध्य-आधारवाक्य जो नाम से सम्बद्ध है वह किसी ऐन्द्रिक उद्दीपक द्वारा उत्पन्न मात्र-प्रतिभास नही है।

उदाहरण ईश्वर, वस्तु इत्यादि।

पक्ष-आधारवाक्य हमारे विचारो मे से कोई नाम के साथ सम्बद्ध है।

निष्कर्ष वह एक मात्र-प्रतिभास नही है।[1]

यहाँ जिसका प्रतिषेध है वह वस्तु से आने वाले ऐन्द्रिक उद्दीपक द्वारा उत्पन्नत्व का तथ्य है। यह विशिष्टता उस तथ्य के आधीन है जो नाम प्राप्त करने के अयोग्य है, और इसका उस तथ्य के साथ विरोधत्व है जो नाम प्राप्त करने के योग्य है। अत इस बाद वाले तथ्य की स्थापना हो जाने पर अभिलाप्य विचारो के प्रतिभास मात्र होने की सम्भावना वर्जित हो जाती है।

इस दशा मे भी इस बात का प्रतिषेध करने मे कि इस उदाहरण में भी अभिलाप्य विचारो के प्रतिभास मात्र होने का प्रतिषेध करने मे हमे इस प्रकार का विचार उत्पन्न करने वाले एक प्रतिभास मात्र की कल्पना करने का प्रयास करना चाहिये और फिर एक निरपेक्ष प्रतिषेध द्वारा कल्पना की प्रगति को अवरुद्ध कर देना चाहिये, एक विकल्प के रूप मे अभिलाप्य विचार और एक अनभिलाप्य प्रतिभास का अन्तर्सम्बन्ध और अन्योन्याश्रयत्व तादात्म्य और विरोध के नियमो पर आधारित है। यह सत्तात्मक तादात्म्य द्वारा एक अनुपलब्धि निगमन है। प्रतिषेध्य की हेत्वाश्रित प्रत्यक्षता को छठवें आकार की भाँति समझना चाहिये।

अनुपलब्धि का नवाँ आकार एकमात्र तदुत्पत्ति के सिद्धान्त पर आधारित है। यह प्रतिषेध्य के कारण की अनुपलब्धि है, जैसे —

साध्य-आधारवाक्य जहाँ अग्नि का अभाव है वहाँ धूम नही है।

पक्ष-आधारवाक्य यहाँ अग्नि का अभाव है।

निष्कर्ष यहा धूम नही है।

इस आकार का उस समय प्रयोग किया जाता है किसी हेतु जब के फल का साक्षात् प्रत्यक्ष नही हो सकता। जब उसकी किसी गोचर स्थान मे उपस्थिति की कल्पना की जा सकती हो तो हम स्वभावानुपलब्धि के आकार का उपयोग करेंगे।

इसी साध्य-आधारवाक्य का वैधर्म्य के नियम के अनुसार व्यक्त एक विधायक परार्थानुमान के लिये भी प्रयोग किया जा सकता है। तब यह भारतीय आगमनात्मक-निगमनात्मक परार्थानुमान के सामान्य प्रकार को व्यक्त करेगा जिसमे आगमन वैधर्म्य की विधि पर आधारित होता है और

---

[1] ताटी० पृ० ८८ १७ और बाद।

यह मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान के विघातक रूप को व्यक्त करता है। वास्तव मे तब हमे यह उदाहरण मिलेगा

साध्य-आधारवाक्य जहाँ अग्नि का अभाव है वहाँ धूम नही है।

पक्ष-आधारवाक्य किन्तु यहाँ धूम है।

निष्कर्ष यहाँ अग्नि है।

अनुपलब्धि परार्थानुमान का दसवाँ आकार, पुन एक द्विविध सम्बन्ध पर आधारित है जिसमे से एक तदुत्पत्ति पर और दूसरा विरोध के नियम पर आधारित है। यह प्रतिषेध्य के कारण के विरुद्ध की उपलब्धि है, जैसे —

साध्य-आधारवाक्य · जहाँ अप्रतिबद्धसामर्थ्यवाली अग्नि है वहाँ रोमहर्ष नही हो सकता।

पक्ष-आधारवाक्य यहाँ ऐसी अग्नि विशेष है।

निष्कर्ष यहाँ रोमहर्ष नही हैं।

इस आकार का उस समय प्रयोग किया जाता है जब न तो शीत का, यद्यपि उपस्थित होने पर, साक्षात् अनुभव और न रोमहर्षादि उसके लक्षणो का ही साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। तब इनकी कल्पना कर ली जाती है और फिर सामर्थ्यवान अग्नि की उपस्थिति के सकेत द्वारा इनको अवरुद्ध कर दिया जाता है। रोमहर्ष का शीत के साथ सम्बन्ध तदुत्पत्ति के नियम पर आधारित है। शीत का अ-शीत अथवा अग्नि के साथ सम्बन्ध विरोध के नियम पर आधारित है।

अनुपलब्धि परार्थानुमान का अन्तिम, ग्यारहवाँ आकार एक अन्य हेतुक सम्बन्ध द्वारा और भी जटिल है। यह प्रतिषेध्य कारण के विरुद्ध कार्य की उपलब्धि है, जैसे —

साध्य-आधारवाक्य जहाँ धूम है वहाँ रोमहर्ष नही है।

पक्ष-आधारवाक्य यहाँ धूम है।

निष्कर्ष यहाँ रोमहर्षादि नही है।

उन दशाओ मे जहाँ रोमहर्ष को साक्षात् देखा जा सकता है, हम इसका स्वभावानुपलब्धि से ही प्रतिषेध करेंगे। उन दशाओ मे जहाँ इसका कारण, शीत की सवेदना, का साक्षात् अनुभव हो सकता है वहाँ इसके प्रतिषेध के लिये हम नवें आकार, कारणानुपलब्धि, का प्रयोग करेंगे। उन दशाओ मे जहाँ अग्नि का प्रत्यक्ष हो रहा है वहाँ हम अनुपलब्धि परार्थानुमान के दसवें आकार, कारणविरुद्धोपलब्धि, का प्रयोग करते हैं। किन्तु जब इनमे से

तीनो का साक्षात् प्रत्यक्ष नही हो सकता तब हम निगमित तथ्य की उपस्थिति की कल्पना करके एक अनपलब्धि परार्थानुमान मे प्रतिवाद करते हैं जिसमे कारणविरुद्धकार्योपलब्धि होती है। यह आकार भी, इस प्रकार, अनिवार्यत एक प्रतिवादित ससूचन के अतिरिक्त और कुछ नही। इस प्रकार, प्रथम आकार शेष सभी दस आकारो को अपने मे सम्मिलित कर लेता है। कोई अन्य आकार सम्भव नही है। उदाहरण के लिये, विरुद्ध व्याप्य की उपलब्धि कोई प्रमाणिक आकार नही प्रदान करेगी। वह केवल एक विशेष निश्चय ही प्रदान करेगी और हम देख चुके है कि, सभी विशेष निश्चय भारतीय तर्कशास्त्र मे प्रमाणिक तर्कना के क्षेत्र से वहिष्कृत हैं।

§ ५. अनुपलब्धि का महत्त्व

हमने बौद्ध नैयायिको का उनके अनुपलब्धि के सूक्ष्म विश्लेषण में अध्ययन किया। स्वभावानुपलब्धि तथा निगमित अनुपलब्धि के प्रत्येक सम्भव प्रकार का परीक्षण किया गया। सर्वत्र इसे एक ही सिद्धान्त मे निहित देखा गया। यह एक प्रतिषेधात्मक सचूचन है। यह यथार्थ का साक्षात् बोध करने की विधि नही है। इस रूप मे भी इसका हमारे व्यवहार को निर्देशित करने मे कुछ महत्त्व है। यह परोक्ष 'अर्थ' और प्रामाणिकता से युक्त है, किन्तु फिर भी, यह सर्वथा निरर्थक और अनावश्यक प्रतीत होता है। हमारे ज्ञान के, जो स्वभावत यथार्थ का विज्ञान है, क्यो सम्पूर्ण प्रदेश का अर्धभाग अन्य कुछ नहीं बल्कि प्रतिषेधात्मक सचूचन से सम्बद्ध हो ?[1] यतः यथार्थ तथा उसके विज्ञान के बीच का सम्बन्ध हेतुक होता है—विधायक ज्ञान यथार्थ का उत्पाद होता है—अत यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि अनुपलब्धि-ज्ञान को यथार्थ के अभाव का उत्पाद होना चाहिये। भारत के तथा पाश्चात्य देशो के अनेक दार्शनिक सप्रदायो का ऐसा ही दृष्टिकोण है। किन्तु यह एक त्रुटि है। यथार्थ सत्ता और अ-सत्ता से निर्मित नही है। यथार्थ सदैव सत्ता है। [य]ह प्रश्न बना ही रह जाता है कि हमारे ज्ञान का सम्पूर्ण अर्धभाग संचूचनो [क]े प्रतिषेध मे व्यस्त है, जबकि इसका यथार्थ के साक्षात् विज्ञान के लिये [प्र]त्यक्षत एक श्रेष्ठतर उपयोग हो सकता था? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार [ह]ै। यद्यपि सत्, असत् और सत् से निर्मित नही, और ज्ञान भी ज्ञान और अ-ज्ञान से निर्मित नही, तथापि प्रत्येक प्रत्यक्ष एक ऐसे प्रत्यक्ष मे निहित होता है जो उसी वस्तु के अप्रत्यक्ष का अनुवर्ती होता है, अर्थात् जो किसी-

---

[1] तुकी० सिग्वर्ट उ० पु० १ १७१।

मात्र अ-प्रत्यक्ष का नही, किसी सर्वथा अदृश्य के अप्रत्यक्ष का नही बल्कि स्वय अपनी हेत्वाश्रित दृश्यता के अभाव का अनुवर्ती होता है। ऐसा प्रत्यक्ष जो अप्रत्यक्ष के व्यवधानो से विच्छिन्न न हो वह प्रत्यक्ष होगा ही नही। प्रत्यक्ष सदैव ही विच्छिन्न प्रत्यक्ष, अर्थात् उसी वस्तु के अप्रत्यक्ष के व्यवधानो से पृथक्कृत प्रत्यक्ष होता है। इसलिये अ-प्रत्यक्ष इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सीमा का कभी अतिक्रमण नही कर सकता। अनुपलब्धि अ-प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और कुछ नही, और अ-प्रत्यक्ष सदैव ही एक सम्भव प्रत्यक्ष का द्योतक होता है, इसे हमारे ज्ञान को ऐन्द्रिक अनुभव की सीमा के भीतर रखना चाहिये।

इस समस्या पर धर्मोत्तर इन पक्तियो मे अपना विचार प्रगट करते है[1] "यत अनुपलब्धि का प्रत्येक प्रकार ऐसी वस्तुओ का द्योतक है जिन्हे प्रत्यक्षत्व की स्थितियो मे रक्खा जा सकता है, और जो इसीलिये दृश्य होते हैं, अत इस कारण प्रत्येक अनुपलब्धि हेत्वाश्रित प्रत्यक्षत्व की एक स्वभावानुपलब्धि के अतिरिक्त प्राय और कुछ नही।" अनुपलब्धि के अन्य सब प्रकार, साथ ही या तो विरोध के नियम पर अथवा तदुत्पत्ति के नियम पर आधारित होते हैं। किन्तु इन दोनो ही नियमो का अधिकार-क्षेत्र सम्भव अनुभव की सीमा से बाहर नही जाता। यदि किसी विकल्प के स्थूलत्व और बोध को कोई वस्तु बाधित करती है, अथवा किसी वस्तु के हेतु अथवा फल को कोई वस्तु बाधित करती है, तब हम अनुपलब्धि का निश्चय करते हैं। वही लेखक[2] यह कहता है कि "हम जब भी (स्थापित) तथ्यो के उपाश्रयण के बाधित होने का, अथवा उनके (स्थापित) हेतुक सम्बन्ध के बाधित होने का बोध करते हैं तब हमे अनिवार्यत इस बात से अवगत होना चाहिये कि हमे उनका एक प्रत्यक्ष और, साथ ही साथ, प्रत्यक्ष का पूर्ववर्ती अ-प्रत्यक्ष हो चुका है। अब ये वस्तुय जिनका (एकान्तरित रूप से) प्रत्यक्ष और अ-प्रत्यक्ष हो चुका है, अनिवार्यत प्रत्यक्षयोग्य हैं। इसलिये, विरोध के नियम पर आधारित सभी आकारो जैसे, उदाहरण के लिये, चौथे आकार स्वभावविरुद्धोपलब्धि मे, तथा तदुत्पत्ति पर आधारित सभी आकारो, जैसे उदाहरण के लिये नवें आकार कारणानुपलब्धि मे, हमे यह समझ लेना चाहिये कि विरोधी तथ्यो की (हेतु की अथवा फल की) अनुपलब्धि केवल दृश्य या ग्राह्य अनुभव की ही द्योतक है।"

---

[1] न्याबिटी० पृ० ६८ ६, अनुवाद पृ० १०२।

[2] न्याबिटी० पृ० ३८.११ अनुवाद पृ० १०३।

§ ६. विरोध और हेतुत्व केवल आनुभविक क्षेत्र मे ही

इस प्रकार, इस बात की स्थापना की गई कि अनुपलब्धि के सभी सम्भाव्य प्रकार केवल ग्राह्य तथ्यो के आधार पर ही सम्भव हैं। दूसरी ओर, इस बात की भी स्थापना की गई कि ये सभी प्रकार उन दो आधारभूत नियमो पर आधारित हैं जिन पर ही सम्बन्धो का हमारा समस्त ज्ञान आधारित है, अर्थात् तादात्म्य और तदुत्पत्ति (कार्य-कारणभाव) के नियमो पर। निष्कर्ष यह है कि उस क्षेत्र को, जिसमे ये दो आधारभूत नियम क्रियाशील होते है, अनुभव ही होना चाहिये। इस अनुभव के क्षेत्र के बाहर निरपेक्ष के क्षेत्र मे न तो अनुपलब्धि के लिये कोई स्थान है और न विरोध के लिये। इस निरपेक्ष या परमार्थ क्षेत्र की अ-सत्ता नही होती। इसमे केवल शुद्ध, निरपेक्ष, अ-सम्बद्ध सत्ता मात्र ही होती है और इसलिये इसमे न तो कोई विरोध हो सकता है और न कोई तदुत्पत्ति। इसलिये धर्मकीर्ति[1] कहते हैं कि "दोनो आधारभूत नियम आनुभविक वस्तुओ के अतिरिक्त अन्य किसी पर अपने अधिकार क्षेत्र का विस्तार नही करते" इस वाक्य की व्याख्या मे धर्मोत्तर[2] यह कहते हैं "जो वस्तुये उपलब्ध और अनुपलब्ध होती है उनसे भिन्न वस्तुयें तत्त्वमीमामात्मक होती हैं जो कभी उपलब्ध नही होती। इनके किसी से विरोध, इनके किसी से कार्यकरण भाव की कल्पना भी असम्भव है। इसलिये इस बात का निर्धारण असम्भव है कि इनका किनके साथ विरोध है, और किनके साथ इनका कार्यकारणभाव है। इस कारण विरोधी तथ्यो (तथा साथ ही साथ कार्यों अथवा कारणो) का उसी समय प्रतिषेध उचित है जब उनकी उपलब्धि और अनुपलब्धि की बारम्बारता देखी जा चुकी हो।" किसी भी अन्य विरोध की अथवा किसी भी अन्य कार्यकारणभाव की इस प्रकार स्थापना हो जाने पर, असगत तथ्यो का उसी समय प्रतिषेध किया जा सकता है जब वे दृश्य हो, अर्थात् जब वे उपलब्ध और अनुपलब्ध दोनो हो। वास्तव मे विरोध उसी समय होता है जब किसी एक पद की उपस्थिति होने पर हम दूसरे की अनुपस्थिति का स्पष्ट अनुभव करते हैं।[3] कार्यकारणभाव की उस समय स्थापना होती है जब कार्य की अनुपलब्धि पर एक अन्य तथ्य, उसका कारण, भी अनुपलब्ध होता है। विकल्पो के उपाश्रयण

---

[1] न्यावि० पृ० ३८.१९,, अनुवाद पृ० १०४।

[2] न्याविटी० पृ० ३८.२०, अनुवाद पृ० १०४।

[3] वही, पृ० ३९.२, अनुवाद पृ० १०५।

को उस समय स्थापित माना जाता है जब कि व्यापक का अनुपलब्धि पर व्याप्य की भी अनिवार्यत अनुपलब्धि होती है। वास्तव मे हमे इस तथ्य के प्रति जागरूक होना चाहिये कि हमारे विकल्पो की व्याप्ति और उनका व्यापकार्थ अनुपलब्धि पर आधारित होता है। 'वृक्ष, और 'शिशपा' पदो की तुलनात्मक व्याप्ति उस समय ही निश्चित होती है जब हम यह जानते हैं कि यदि किसी स्थान विशेष्य पर वृक्षो का अभाव है तो वहाँ शिशपा का भी निश्चित अभाव होगा। और किसी वस्तु की अनुपलब्धि का ज्ञान सदैव ही उसकी कल्पित उपलब्धि के प्रतिषेध से ही उत्पन्न होता है। इसलिये यदि हम विरोध के, कार्यकारणभाव के, अथवा भिन्न व्याप्ति के कुछ उदाहरण स्मरण करते हैं तो हमे अपनी स्मृति मे कुछ प्रतिषेधात्मक अनुभवो को भी अवश्य रखना होगा। दृश्य की अनुपलब्धि ही अभाव के हमारे विकल्पो का आधार है, जो विरोध, कार्यकारणभाव और उपाश्रयण के नियमो के हमारे ज्ञान का विषय है। "यदि हमारी स्मृति मे कुछ तदनुरूप दृष्य-अनुपलब्धि नही है तो हम विरोध और अन्य सम्बन्धो को स्मरण नही कर सकेंगे। इस दशा मे किसी तथ्य का अभाव एक असगत तथ्य की उपलब्धि से अथवा अपने कारण की अनुपलब्धि इत्यादि से अनुसरित नही होगा। यत उस दृष्य-अनुपलब्धि को, जो उस समय हमे हुई थी जब हमने किसी अव्याप्ति अथवा कार्य-कारणभाव को सर्वप्रथम ग्रहण किया था, हमारी स्मृति मे अवश्य उपस्थित होना चाहिये, अत यह स्पष्ट है कि अनुपलब्धि ज्ञान सदैव ही किसी कल्पित उपलब्धि के वर्तमान अथवा पूर्व, प्रतिषेध पर आधारित होता है।,,[1]

§ ७. अतीन्द्रिय विषयों की अनुपलब्धि

अनुपलब्धि का बौद्ध-सिद्धान्त, निश्चय के बौद्ध-सिद्धान्त का ही एक साक्षात् परिणाम है। हम देख चुके हैं कि, निश्चय का आधारभूत रूप प्रत्यक्षात्मक निश्चय, अथवा—जो एक ही बात है—इस रूप मे कि "यह एक घट है" एक सविकल्पक निश्चय है। इस प्रकार का निश्चय वाह्यार्थ से सम्बद्ध प्रत्येक विकल्प मे निहित होता है, और इस आशय में विकल्प और अध्यवसाय (निश्चय)[2] विकार्य शब्द हो जाते हैं। इसलिये अनुपलब्धि एक प्रयासित सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रतिषेध में निहित है, और इस कारण प्रत्येक अनुपलब्धि दृष्य की, ऐसी वस्तुओ की अनुपलब्धि है जिनकी उपलब्ध

---

[1] न्याविटी० पृ० ३९९, अनुवाद पृ० १०६।

[2] विकल्प=अध्यवसाय।

होने के रूप मे कल्पना की जा सकती है। एक अदृष्य प्रेत की उपस्थिति की अनुपलब्धि, हम देख चुके हैं कि, केवल उसकी उपस्थिति की, अर्थात् उसके दृष्य रूप मात्र की ही अनुपलब्धि है। किन्तु यथार्थवादी और तर्कबुद्धिवादी वैशेषिक और साख्य कुछ अतीन्द्रिय वस्तुओ[1] की चर्चा करते हैं, अर्थात् ऐसी वस्तुओ की जो स्वभावत अदृश्य होती हैं, जिन्हे इन्द्रियो के समक्ष कभी भी प्रस्तुत नही किया जा सकता, जो 'अदृष्य' होती है। इस प्रकार के विषयो की अनुपलब्धि अथवा अ-प्रत्यक्ष "अ-प्रत्यक्षयोग्य का अ-प्रत्यक्ष" (अदृश्य की अनुपलब्धि) है। कल्पित दृष्यता की अनुपलब्धि सम्यक ज्ञान का एक प्रमाण है, क्योकि यह अभावव्यवहारकारी होता है। किन्तु ऐसे विषयो का अ-प्रत्यक्ष अथवा अनुपलब्धि, जिनकी इन्द्रियो के समक्ष उपस्थिति की कल्पना ही नही की जा सकती प्रमाण नही है क्योकि यह अभावव्यवहारकारी नही हो सकते। धर्मकीर्ति[2] पूछते हैं कि इस प्रकार की अनुपलब्धि का स्वभाव और कार्य क्या है ? और आप यह उत्तर देते हैं कि इसका स्वभाव "ज्ञान की साक्षात् और परोक्ष दोनो ही विधियो को वर्जित करना" तथा इसका कार्य वही है जो एक अनिश्चयात्मक निश्चय का कार्य होता है। दूसरे शब्दो मे यह एक सशय या अनिश्चय है। तत्वमीमासात्मक विषयो के सम्बन्ध मे कोई साक्षात् अथवा परोक्ष ज्ञान नही है। इनके सम्बन्ध मे केवल अनिश्चय, अर्थात् समस्यायें ही हैं। तत्त्वमीमासात्मक विषय अ-विषय हैं, तत्त्वमीमासात्मक निश्चय अनध्यवसाय हैं। अनिश्चित अध्यवसाय एक आत्मविरोधी पद है। विकल्प अ-विकल्प है, और तत्त्वमीमासात्मक कोई भी अनिश्चय एक समस्या या प्रश्न, और हम देख चुके हैं कि कोई निश्चय या अध्यवसाय एक उत्तर, एक निर्णय होता है।

धर्मोत्तर[3] यह व्याख्या करते हैं "कोई विषय तीन प्रकार से विप्रकृष्ट हो सकता है, अर्थात् देश, काल और स्वभाव से।" इसका अर्थ यह है कि तात्विक विषय कालातीति, देशातीत और ग्राह्य यथार्थ से अतीत होता है। "इस प्रकार के विषयो के सम्बन्ध मे अनुपलब्धि सशयहेतु होती है। अब, इस प्रकार के हेतु का स्वभाव क्या है? इसका स्वभाव प्रत्यक्ष अनुमाननिवृत्तिलक्षण होता है। इसका अर्थ यह है कि यह ज्ञान होता ही नही क्योकि ज्ञान का स्वभाव वास्तव मे ज्ञान-ज्ञेय स्वरूप होता है।"

---

[1] अदृश्य-अनुपलब्धि।

[2] न्यावि० पृ० ३९ १९; अनुवाद पृ० १०७।

[3] न्याविटी० पृ० ३९ २१, अनुवाद पृ० १०७।

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान के बीच, नियम और उसके ज्ञान के बीच, अथवा यथार्थ और तर्क के बीच एक सम्बन्ध होता है। इसीलिये यह प्रश्न[१] किया गया है कि "यदि प्रमाण प्रमेय की सत्ता को सिद्ध करता है तो यह आशा करना स्वभाविक ही होगा कि प्रमाण का अभाव प्रमेय के अभाव की प्रतिपत्ति होगा।"

इस प्रश्न का धर्मकीर्ति[२] इस प्रकार उत्तर देते हैं: "प्रमाण की निवृत्ति होने पर भी अर्थ का अभाव असिद्ध ही है।" इसका अर्थ यह है कि यदि कोई अर्थ विधायक रूप से अप्रत्यक्षयोग्य हो तो विघातक रूप से भी उसका प्रत्यक्ष नही किया जा सकता। तात्त्विक विषय की न तो स्थापना की जा सकती है और न उसका प्रतिषेध ही किया जा सकता है। वह सदैव एक संशय बना रहता है।

धर्मोत्तर[३] इसकी यह व्याख्या करते हैं "जब कारण अवर्तमान होता है तब कार्य भी नही होता, और जब एक व्यापक अवर्तमान होता है तब व्याप्य भी नही होता।" अनिवार्य अन्योन्याश्रयत्व के केवल दो ही सम्बन्ध, एक कार्यकारणभाव और दूसरा सहसमवाय, हो सकता है। यदि ज्ञान अनिवार्यत यथार्य से सम्बद्ध है तो यह किस प्रकार का सम्बन्ध है? यह कार्यकारण-भाव है अथवा तादात्म्य है? यदि ज्ञान किसी यथार्थ का कारण हो, अथवा यह किसी यथार्थ का व्यापक हो, तब ज्ञान का अभाव तत्सम्बन्धी यथार्थ के अभाव को भी सिद्ध करेगा। किन्तु ज्ञान इनमे से कोई भी नही। इसलिये इसका अभाव कुछ भी सिद्ध नही करता। ज्ञेय यथार्थ और ज्ञान के बीच का सम्बन्ध अवश्य हेतुक होता है, यथार्थता ही ज्ञान उत्पन्न करती है। कारण की वैधर्म्यता कारणत्व की असम्भाव्यता को सिद्ध नही करती। प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व के सिद्धान्त के अनुसार यह हेतुक अन्योन्याश्रयत्व को निवृत्त नही करती। यत प्रत्येक यथार्थ अपने कारणो का कार्य होता है, अत किसी कार्य के उपलब्ध होने पर हम सदैव ही उसके कारण की यथार्थता का वैध निगमन कर सकते हैं। इसलिये प्रमाण से उसके प्रमेय के यथार्थ का निगमन वैध है। प्रमाण का अस्तित्व तत्सम्बन्धी प्रमेय के अस्तित्व को तो

---

[१] न्याविटी० पृ० ४०१, अनुवाद, पृ० १०७।

[२] न्यावि० पृ० ४०; अनुवाद पृ० १०७।

[३] न्याविटी० पृ० ४०४, अनुवाद पृ० १०८।

सिद्ध करता है, किन्तु इसका विपरीत कथन सत्य नही है। किसी वस्तु के प्रमाण का अभाव उस वस्तु के भी अभाव को सिद्ध नही करता। धर्मोत्तर[1] का यह कथन है "प्रमाण प्रमेय की सत्ता को सिद्ध करता है, किन्तु प्रमाण का अभाव प्रमेय के भी अभाव की व्यवस्था नही कर सकता।"

यह सत्य है कि धर्मकीर्ति के अनुपलब्धि परार्थानुमान के दूसरे आकार के अनुसार कार्य की अनुपलब्धि कारण की अनुपलब्धि को सिद्ध कर सकती है। कार्य की अनुपलब्धि तब सम्भव है जब, उदाहरण के लिये, धूम की अनुपलब्धि के आधार पर हम इसके कारण, अग्नि, का प्रतिषेध करते है। धर्मोत्तर[2] यह व्याख्या करते है कि "यत कारण वास्तव मे अपने कार्यो को अनिवार्यत उत्पन्न नही करते, अत जब हमे कार्य की अनुपलब्धि होती है तब हम ऐसे कारणो की ही अनुपलब्धि का निगमन कर सकते है जो अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाले हो, अन्य की नही। और ये कारण क्या हैं? "अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाले कारण ही वह कारण होते हैं जो (क्षणो की पूर्वगामी सस्कृत शृङ्खला के) अन्तिम क्षण मे विद्यमान होते हैं, क्योकि अन्य पूर्वगामी क्षणो के सामर्थ्य के प्रतिबद्ध हो जाने की सम्भावना को कभी भी वर्जित नही किया जा सकता।" तब यदि हम यह कहते हैं कि एक मानसिक व्यापार के रूप मे अनुपलब्धि का एक बाह्यार्थ में एक कारण अवश्य होना चाहिये, तो यह इसी आशय मे सत्य होगा कि वह अनुपलब्धि तक भी किसी वस्तु का, अर्थात् यथार्थ के एक अनिश्चित क्षण का एक विधायक ज्ञान है।

ये विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये एक धर्म के रूप मे बौद्धमत के हृदय पर प्रहार करते हैं। बुद्ध की, सर्वज्ञ की सत्ता यहाँ दाँव पर है। वह निश्चित रूप से एक तात्त्विक सत्ता हैं, और अभी-अभी ऊपर निर्धारित सिद्धान्तो के अनुसार उनके सम्बन्ध मे न तो कुछ निर्धारित किया जा सकता है और न किसी बात को अस्वीकार ही किया जा सकता है। यदि उन्हे सत्ता के, परमार्थ सत्ता के ही साथ समीकृत कर दिया जाय तब नि सन्देह, उन्हे अस्वीकार नही किया जा सकता। सत्ता अ-सत्ता नही हो सकती। किन्तु इस प्रकार की सत्ता के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान नही प्राप्त किया जा सकता— न तो समर्थन के रूप मे और न प्रतिषेध के रूप मे।

§ ८. भारतीय विकास

अनुपलब्धि के बौद्ध सिद्धान्त की मौलिकता तथा उन तर्कों ने जिनके

[1] न्याबिटी० पृ० ४०८; अनुवाद पृ० १०८।

[2] न्याबिटी० पृ० ३१ १०, अनुवाद, पृ० ८८।

आधार पर इसकी पुष्टि की गई, भारतीय तर्कशास्त्र के क्षेत्र मे एक क्रान्ति का श्रीगणेश कर दिया। इससे भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय इस विषय पर अपने-अपने दृष्टिकोणो पर इस रूप मे पुनर्विचार के लिये विवश हो गये जिससे कि वे जहाँ तक सम्भव हो इस नवीन सिद्धान्त को अपने उन आधारभूत मतो के अन्तर्गत ग्रहण कर सके, जिन्हें नि.सन्देह वे त्याग नही सकते थे। कुछ सम्प्रदायो ने बौद्ध सिद्धान्त को प्राय सम्पूर्णत और कुछ ने अशत ग्रहण कर लिया, किन्तु कुछ ने इसका दृढतापूर्वक विरोध भी किया। बौद्ध, वास्तव मे, यह मानते थे १) यथार्थ सत्ता और अभाव मे विभक्त नहीं है, यह केवल सत्ता मे ही निहित है। २) फिर भी, एक विशेष प्रकार के अभाव की, अर्थात् अभाव-व्यवहार का निर्देश करने वाले ज्ञान की एक विधि के रूप मे विषयात्मक वैधता है। ३) अनुपलब्धि यथार्थं के ज्ञान की प्रत्यक्ष विधि नही है, यह एक परोक्ष विधि है और इसलिये इसे अनुमान के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। ४) इस प्रकार के अनुमान मे तार्किक हेतु "अप्रत्यक्ष" अर्थात् एक प्रतिषेध्य हेत्वाश्रित इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है।

इन चारो बातो मे से नैयायिको ने केवल अन्तिम को ही ग्रहण किया, किन्तु इसकी इस प्रकार व्याख्या की कि इसका सम्पूर्ण महत्त्व ही समाप्त हो गया। वात्स्यायन[१] यह स्वीकार करते हैं कि अभाव का एक हेत्वाश्रित निश्चय के रूप मे ज्ञान होता है। यदि वस्तु की सत्ता होती तो उसका ज्ञान भी अवश्य हुआ होता। फिर भी, यह उनके इस आधारभूत दृष्टिकोण मे हस्तक्षेप नही करता कि यथार्थ सत्ता और अभाव दोनो मे निहित है, और इन दोनों का ही इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा प्रत्यक्ष होता हैं। हेत्वाश्रित की, जिससे वस्तु के अभाव की उपलब्धि होती है, इन्द्रियो द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष के एक विशेष प्रकार के रूप मे, और अभाव की सत्ता की एक प्रकार के अतिरिक्त धर्म के रूप मे व्याख्या की गई है। एक अनुपस्थिति घट, तथा उस स्थान के बीच जहाँ से वह अनुपस्थित है, एक विशेष्य-विशेषण-भाव होता है। यह सम्बन्ध न तो सयोग होता है और न समवाय, बल्कि एक स्वभाव सम्बन्ध होता है। फिर भी, यह विषयात्मक दृष्टि से यथार्थ होता है और इन्द्रियो द्वारा इसका प्रत्यक्ष हो सकता है। इस प्रकार, इन्द्रियो और अनुपस्थित विषय मे एक वास्तविक सन्निकर्ष होता है, अर्थात् अनुपस्थिति एक यथार्थता है।

वैशेषिक यथार्थवाद मे अपने प्रतिद्वन्द्वी, नैयायिको से पर्याप्त भिन्न रहे। इन लोगो ने यह स्वीकार किया कि अभाव सत्ता नहीं है, और यह भी कि

[१] न्याभा० पृ० २५।

ऐसी कोई सत्ता नही है जिसे अभाव कहा जा सके।[1] अत इसका इन्द्रियो द्वारा विज्ञान नही हो सकता,[2] किन्तु इसका अनुमान मे ज्ञान हो सकता है,[3] जैसे उस समय जब जिस किसी कार्य का अनुत्पादित्व उसके कारण की अनुपस्थिति के निगमन के लिये पर्याप्त आधार होता है। इन लोगो ने यह स्वीकार किया कि इस प्रकार का अनुमान एक सम्भव प्रत्यक्ष के अनुपलम्भत्व मे निहित है।[4] फिर भी, यह लोग अनुपस्थित वस्तु और उसके प्रत्यक्षीकृत रिक्त स्थान के बीच विशेष्य-विशेषण-भाव की यथार्थता को स्वीकार करते रहे। इनके लिये अनुपस्थित वस्तु का प्रत्यक्ष एक स्वतन्त्र नही बल्कि परस्पर अपेक्ष प्रत्यक्ष था।[5] इस आधार पर वैशेषिको ने किसी प्रकार नैयायिको से समझौता कर लिया और जब ये दोनो सम्प्रदाय बाद मे मिश्रित हो गये तब नैयायिक विचारो को उसमे समन्वित कर लिया गया।

अनेक अन्य समस्याओ की ही भाँति अनुपलब्धि की समस्या पर भी मीमासक दो उप-सम्प्रदायो मे विभक्त थे। प्रभाकर ने, जो "बौद्धो के मित्र थे"[6] बौद्ध-सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। यह इस बात को मानते थे कि अभाव कोई पृथक यथार्थता नही है और अनुपलब्धि एक प्रमाण नही है। रिक्त स्थान बाह्य यथार्थता है, अनुपस्थिति वस्तु-कल्पना है। रिक्त स्थान का इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष होता है, जब कि अनुपस्थित वस्तु का एक ऐसे अनुपलब्धि-निश्चय मे प्रतिषेध किया जाता है जो उसकी कल्पित उपस्थिति का निग्मन करता है।[7] किन्तु इस सम्प्रदाय का बहुसख्यक वर्ग, जो कुमारिलभट्ट का अनुयायी था, अपने प्राचीन

---

[1] तुकी० न्याकण्ड० पृ० २२६ २१, जहाँ न्यायवार्तिककार को सपक्ष मे उद्धृत किया गया है किन्तु अनुपलब्धि के साक्षात् प्रत्यक्ष को अस्वीकार किया गया है।

[2] वही, पृ० २२५.१६, २३।

[3] प्रशस्त० पृ० २२५,१४।

[4] ये यह मानते हैं कि "योग्य-अनुपलम्भ-प्रतिपादक", किन्तु ये यह स्वीकार नही करते कि "भूतलस्यैव अभावस्य प्रत्यक्षता", तुकी० न्याकण्ड० पृ० २२६।

[5] वही पृ० २२६ २३

[6] "बौद्ध-बन्धु प्रभाकर;" तुकी० याकोबी के फेस्टश्रिफ्ट मे मेरा लेख।

[7] शास्त्रदीपिका, पृ० ३२६ और बाद।

आचार्य उन शबरस्वामी के प्रति अक्षरश निष्ठावान बना रहा जिन्होंने यह प्रतिपादित किया था कि "ज्ञान के किसी प्रमाण का अभाव वस्तु के अभाव को सिद्ध करता है।"[१] इस वर्ग ने बौद्धो के इस सिद्धान्त को अस्वीकृत कर दिया कि अभावात्मक वस्तु एक कल्पित वस्तु है। इन लोगो ने न केवल अभाव को एक बाह्य यथार्थ ही माना वरन् अभाव के द्विविध यथार्थ, एक विषयात्मक और एक आत्मनिष्ठ, को भी स्वीकार किया। इन लोगो के विचार से यह मत शबर के शब्दो से अनुसरित था। विषयात्मक अभाव विषय की वास्तविक अनुपस्थिति है—या तो उसकी उत्पत्ति के पूर्व, अथवा उसके विनाश के उपरान्त, अथवा एक विषय के सम्बन्ध मे दूसरे का अभाव या 'अन्यत्व' अथवा निरपेक्ष अभाव। ये चारो प्रकार के अभाव विषयात्मक यथार्थ हैं। आत्मनिष्ठ अभाव हर प्रकार के प्रमाण का अभाव या उसकी अप्रापकता है। जब न तो प्रत्यक्ष, न अनुमान, और न ज्ञान का अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध होता है तब ज्ञान के प्रमाण का यह अभाव स्वय एक नवीन प्रमाण बन जाता है। इस प्रकार, विषय का यथार्थ अभाव ज्ञान के सभी प्रमाणो के यथार्थ का ज्ञेय प्रमाण बन जाता है।[२] अभाव किसी विषय का अभाव और तदनुरूप प्रमाण का अभाव दोनो ही है। इस सम्प्रदाय ने इस बात को अस्वीकार करके कि अनुपस्थित वस्तु कल्पित होती है, बौद्धो और प्रभाकर के मतो का विरोध किया। इन लोगो ने इस बात को अस्वीकार करके कि अभाव का इन्द्रियो द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष हो सकता है, नैयायिको का विरोध किया। अभाव का अनुमान द्वारा ज्ञान होने को अस्वीकार करके इन लोगो ने वैशेषिको का भी विरोध किया। ये यह मानते थे कि अभाव स्वयं एक विशेष और पूर्वग प्रमाण है जो अनुमान के साथ समन्वित किन्तु उसके अधीनस्थ नही है।[३]

इस प्रकार हमे एक विधायक और एक निषेधात्मक के रूप मे तार्किक सिद्धान्त के द्विविध प्रभाव का उदाहरण मिलता है। एक पक्ष एक नवीन विचार के प्रभाव के सम्मुख नम्र होकर अपने सिद्धान्त का परित्याग और

---

[१] "अभावोपि प्रामाण्याभावो नास्तीत्य अस्य अर्थस्य असन्निकृष्टस्य"।

[२] श्लोकवार्तिक (अभाव) पृ० ४७३ और बाद। शास्त्रदी० पृ० ३२२ और बाद।

[३] अनुपलब्धि के 'भाट्ट-मीमासक' सिद्धान्त की न्यायकण्ड० पृ २२७५ और बाद मे अलोचना की गई है।

उसे नवीन तथा विदेशी सिद्धान्त द्वारा स्थानान्तरित कर देता है। दूसरा पक्ष नवीनता को अस्वीकार करके प्राचीन विश्वास को दृढ करता हुआ उसको एक अत्यन्त दूरस्थ किन्तु तार्किक रूप से निगमित परिणामो तक विकसित करता है।

पाण्डित्यवादी वेदान्त ने अनुपलब्धि को एक विशेष प्रकार का प्रमाण माना है जो प्रत्यक्ष, अनुमान, तथा अन्य प्रमाणो के साथ समन्वित है। इनका अनुपलब्धि का सिद्धान्त बौद्धो से गृहीत है। यह मानना कि अनुपलब्धि सम्यक् ज्ञान का एक प्रमाण है, यह मानने के ही समान है कि यह निश्चयात्मक है, आवश्यक निश्चय से युक्त है, और इस आशय मे प्रतिषेध नही बल्कि निश्चय, परमार्थसत् का निश्चय है। वास्तव मे पाण्डित्यवादी वेदान्त के अनुसार ज्ञान के इसके सभी प्रमाण ब्रह्म-ज्ञान, एक मात्र यथार्थता के ज्ञान, एक और अद्वितीय के ज्ञान है। जिस प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्ष "यह एक घट है" के निश्चय मे 'इदन्ता' धर्म के रूप मे विशुद्ध यथार्थ का ज्ञान है, उसी प्रकार अनुपलब्धि भी "यह घट नहीं है" अथवा "यह एक रिक्त स्थान है" जैसे निश्चयो मे 'इदन्ता' धर्म का यथार्थ ज्ञान है। इन निश्चयो का 'यह' (इदन्ता) एक अनुभवातीत 'इदन्ता' है। बौद्धन्याय के वस्तु-स्वलक्षण को पाण्डित्यवादी वेदान्त मे परमब्रह्म के परमार्थ-सत् के साथ समीकृत किया गया है।[1]

§ ९. योरोपीय समानान्तरताये

(क) सिग्वर्ट का सिद्धान्त

अनुपलब्धि की समस्या का योरप मे सिग्वर्ट ने ठीक उसी प्रकार समाधान किया है जिस प्रकार धर्मकीर्ति (और अंशत दिङ्नाग) ने इसका भारत मे समाधान किया है। इसलिये, अपने अपने कार्य-क्षेत्रो मे इन दो तर्कशास्त्रियो की, जिनमे से एक भारत मे ७ वी शताब्दी मे और दूसरा जर्मनी मे १९ वी शताब्दी मे हुआ था, अपनी-अपनी स्थितियो मे कुछ समानता मिलती है। जिस प्रकार अनुपलब्धि पर भारतीय दृष्टिकोण के इतिहास को धर्मकीर्ति के पहले की स्थितियो, उनके परिष्कारो और अन्य सम्प्रदायो पर इन सबके प्रभावो का विवेचन करना चाहिये, ठीक उसी प्रकार योरोपीय पक्ष मे हमे सिग्वर्ट के पूर्व की स्थिति, इनके परिष्कारो

---

[1] तुकी० वेदान्तपरिभाषा और न्यायमकरन्द मे सर्वत्र।

ग्रौर आधुनिक समयो मे इसके परिणामो का भी विवेचन करना आवश्यक है।

एरिस्टॉटिल को अनुपलब्धि का विधि के स्तर पर ही विवेचन करने में कोई कठिनाई नही हुई। इनके लिये ये दोनो ही ज्ञान की स्वतन्त्र, समान रूप से पूवर्ग और समन्वित पद्धतियाँ हैं। फिर भी, इन्होने अपनी कोटियो के अन्तर्गत न तो अनुपलब्धि को ही सम्मिलित किया और न अभाव को ही। इस प्रकार ये एक अभावात्मक सत्ता की अनिवार्यता से भी बच गये। फिर भी, यह तथ्य कि अनुपलब्धि उतना पूर्वग नही है जितना विधि, इतना स्पष्ट है कि यह एरिस्टॉटिल की दृष्टि से सर्वथा बच नही सका होगा। उनकी यह टिप्पणी है कि "विधि अनुपलब्धि का पूर्ववर्ती होता है—ठीक उसी प्रकार जैसे सत्ता अभाव की पूर्ववर्ती होती है।"[1] इस विचार ने इन्हे निश्चय या तर्कवाक्य की परिभाषा के अन्तर्गत अनुपलब्धि को भी विधि के ही स्तर पर रखने से विरत नही किया। इस अभिवृत्ति को योरोपीय तर्कशास्त्र के क्षेत्र मे मध्ययुग से होते हुए सिग्वर्ट के पूर्व तक के आधुनिक समयो मे निष्ठापूर्वक सुरक्षित रक्खा गया। काण्ट इस आशय मे परम्परागत तर्कशास्त्र मे विचलित नही हुये, यद्यपि, जैसा कि उनकी अत्यन्य उपदेशात्मक टिप्पणियो मे से एक[2] से प्रतीत होता है, भावी सिद्धान्त उनके मन मे उपस्थित था। फिर भी, उन्होने इसे बहुत महत्त्व नही दिया, और इसे उनके हाथो कोई विकास भी प्राप्त नही हुआ। एरिस्टॉटिल के लिये विधि और अनुपलब्धि सत्ता और अभाव के तार्किक प्रतिरूप हैं। काण्ट के लिये विधि और अनुपलब्धि निश्चय के ऐसे रूप है जिनसे यथार्थता और अभाव के

---

[1] एनल पोस्ट० १. २५, ८६ बी ३३, तुकी० अर्डमैन लॉजिक [3], पृ० ४९५, नोट ४,

[2] आप का यह कथन है (क्रिरी० पृ० ५०८, द्वितीय सस्करण पृ० ७०९). "अनुपलब्धि-निश्चय का उपयुक्त प्रयोजन त्रुटियो को बचाना है। इसलिये ऐसी दशाओ मे जहाँ त्रुटि कभी भी सम्भव न हो, त्रुटिपूर्ण ज्ञान को बचाने के लिये उद्दिष्ट अनुपलब्धि-तर्कवाक्य, नि सन्देह, अत्यन्त सत्य हो सकते हैं, किन्तु ये रिक्त होते हैं, ये किसी प्रयोजन की पूर्ति नही करते और इसलिये अक्सर एक अध्यापक की इस सुज्ञात उक्ति के समान व्यर्थ प्रतीत होते हैं कि सिकन्दर सेना के विना किसी देश को विजित नही कर सका होगा।"

पादार्थों का निगमन होता है। ये घटना मात्र के जगत के दो समन्वित पक्षों को व्यक्त करते हैं।

सिग्वर्ट इस कथन से आरम्भ करते हैं कि एरिस्टॉटिल तथा वे सभी तर्कशास्त्री जिन्होने निश्चय को या तो विधि अथवा अनुपलब्धि मानने मे और इस विभाजन को परिभाषा मे सम्मिलित करने मे एरिस्टॉटिल का अनुसरण किया उस सीमा तक ठीक थे जहाँ तक सभी निश्चयो को व्यापक रूप से इस प्रकार विभक्त किया गया है, और इस सीमा तक भी कि सामान्य रूप से निश्चय किसी उद्देश्य के विधेय के विधायन अथवा प्रतिषेध द्वारा ही सम्भव है, किन्तु ज्ञान की इन दो पद्धतियो को समान रूप से पूर्वग और परस्पर स्वतन्त्र होने के रूप से समन्वित करने मे ये ठीक नहीं थे[1]। "अनुपलब्धि सदैव ही प्रयासित एकीकरण के विरुद्ध केन्द्रित होती है और उद्देश्य तथा विधेय को सम्बद्ध करने के या तो आन्तरिक रूप से उत्पन्न अथवा बाह्य प्रयोजित आरोप[2] की पूर्वकल्पना करती है।" तदनुसार "किसी प्रतिषेध का उसी समय श्रेष्ठ अर्थ होता है जब वह एक ऐसे प्रयास से उत्पन्न होता है जिसका कि अनुपलब्धि निश्चय मे निरसन होता है।" विधायक निश्चय को एक पूर्ववर्ती प्रतिषेध की आवश्यकता नहीं पडती, जब कि प्रत्येक अनुपलब्धि की यह एक अनिवार्य शर्त है कि विचार मे एक प्रयासित विधि को इसका पूर्ववर्ती अवश्य होना चाहिये।[3]

---

[1] उपु० १ १५५।

[2] Zumuthung=आरोप।

[3] सिग्वर्ट के सिद्धान्त का एक उल्लेखनीय पूर्वाभास जे० एस० मिल के लॉजिक मे मिलता है। (१ पृ० ४४)। अभाववाचक नामो का विवेचन करते समय आप कहते हैं कि ये नाम "विधायक और प्रतिषेधात्मक दोनों ही एक साथ हैं।" 'अन्ध' जैसे नाम दण्ड और पाषाण, जो यद्यपि देखते नही, के लिये नही व्यवहृत हो सकते। ये एक गुण के अभाव के और इस तथ्य के द्योतक हैं कि इनकी उपस्थिति की स्वभावत आशा की जाती थी।" इसलिये केवल काव्य को छोड़कर हम कभी भी यह नही कह सकते कि पाषाण अन्धे हैं। तदनन्तर ऐसे पाषाणो के उदाहरण को जो देखते या बोलते नही, सिग्वर्ट ने १,१७२, ब्राडले, १.११९ और अन्य ने भी दोहराया है।

वास्तव मे स्थिति ऐसी ही है "कि अनुपलब्धि का केवल एक प्रयासित विधायक निश्चय के समक्ष ही अर्थ होता है", यह उस समय एकदम स्पष्ट हो जाती है जब हम इस पर ध्यान देते है कि विधायक विधेयो की एक सीमित संख्या को ही किसी उद्देश्य के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है,जब कि ऐसे विधेयो की जिनका प्रतिषेध किया जा सकता है, सख्या असीम है ।[1] फिर वास्तव मे प्रतिषेध वही होते है जिनकी उपस्थिति की आशा करना स्वभाविक है । ये निश्चय कि "चूल्हे मे अग्नि नही है" अथवा "यह गरज नही रहा है"[2] ऐसी वस्तुओ के निश्चय हैं जिनका अभाव है । एक अभावात्मक वस्तु का निश्चय किस प्रकार सम्भव है ? केवल कल्पना मे !—अभावात्मक वस्तु की कल्पना करके । एक अनुपलब्धि निश्चय ऐसी अभावात्मक वस्तु से सम्बद्ध होता है जिसकी हेत्वाश्रित रूप से उपस्थित होने की कल्पना कर ली जाती है । इसलिये प्रत्याशित और सरलतापूर्वक कल्पनीय वस्तुओ की अनुपलब्धि स्वाभाविक है । किन्तु यह उस समय हास्यास्पद बन जाती है जब प्रतिषेध्य की उपस्थिति की कभी भी आशा ही नही की जा सकती । यदि "चूल्हे मे अग्नि नही है" ऐसा कहने की अपेक्षा किसी ने यह कहा होता कि "उसमे हाथी नही है" तो, यद्यपि अग्नि और हाथी दोनो ही अनुपस्थित हैं, तथापि द्वितीय निश्चय विचित्र प्रतीत होगा क्योंकि वह अप्रत्याशित है ।

यदि हम सिग्वर्ट के इस वक्तव्य से धर्मकीर्ति के सिद्धान्त की तुलना करें तो उल्लेखनीय साम्य मिलेगा । हम देख चुके हैं कि, बौद्ध दार्शनिक समस्त विज्ञानो के साक्षात् और परोक्ष के रूप मे विभाजन से आरम्भ करता है । अनुपलब्धि को परोक्ष वर्ग के अन्तर्गत रक्खा गया है जिसे वह अनुमान[3] कहता है । यहाँ तक कि अनुपलब्धि के सरलतम उदाहरण, जैसे यह निश्चय कि "यहाँ कोई घट नही है" का भी प्रत्यक्ष के रूप मे नही वल्कि एक परोक्ष ज्ञान, एक अनुमानात्मक अनुपलब्धि के रूप मे विवेचन किया गया है । इस प्रकार के निश्चय का पूर्ण अर्थ इस प्रकार है "यत सामान्य प्रत्यक्ष की सम्पूर्ण स्थितियाँ ठीक है, अत यदि इस स्थान-विशेष पर घट उपस्थित होता तो उसका प्रत्यक्ष अवश्य होता; किन्तु उसका वास्तविक प्रत्यक्ष नही हुआ,

---

[1] वही १, १५६

[2] वही १ १६८

[3] अनुमान—अनुमान-विकल्प ।

इसलिये हमे यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि वह अनुपस्थित है।"[1] अनुपलब्धि का सरल निश्चय, इस प्रकार, एक पूर्ण मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान के रूप मे आकृत्यन्तरित हो जाता है। धर्मोत्तर[2] पूछते है कि "किसी स्थान विशेष पर अनुपस्थित वस्तु का किस प्रकार ज्ञान होता है" और स्वय इसका यह अत्यन्त स्वाभाविक उत्तर देते है कि "उसकी कल्पना कर ली जाती है"। यह कल्पना इस प्रकार के हेत्वाश्रित निश्चय के रूप मे की जाती है "यदि इस स्थान-विशेष पर घट उपस्थित होता तो उसका प्रत्यक्ष होता, किन्तु यत उसका प्रत्यक्ष नही हुआ अत हम उसकी उपस्थिति का प्रतिषेध कर सकते है।" अनुपलब्धि का तथ्य मध्य पद है जिससे घट की अनुपस्थिति का निगमन किया गया है। अनुपलब्धि निश्चय, यहाँ तक कि अत्यन्त स्वाभाविक, अर्थात् अप्रत्यक्षत्व का निश्चय भी, एक अनुमान होता है। इस तथ्य का कि धर्मकीर्ति इसे अनुमान कहते हैं, जब कि सिग्वर्ट एक प्रतिषेधात्मक निश्चय की चर्चा करते हैं, कोई महत्त्व नही है, क्योकि अनुमान का यहाँ परोक्ष ज्ञान अर्थ है। प्रतिषेध एक परोक्ष ज्ञान है और एक हेत्वाश्रित विधि के निषेध मे निहित होता है।

इस प्रकार, अनुपलब्धि की खोज तथा इसके अर्थ के स्पष्ट निर्धारण का श्रेय भारत मे धर्मकीर्ति को और योरप मे सिग्वर्ट को दिया जाना आवश्यक है। एक मौलिक तार्किक समस्या के इस सान्निपात को दर्शन के तुलनात्मक इतिहास की एक उल्लेखनीय घटना मानना चाहिये।

ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो ही दार्शनिको ने प्राय एक समान विधि से ही यह खोज की है। सिग्वर्ट कहते हैं कि एरिस्टॉटिल के एक प्रासगिक कथन के अनुसार किसी विधायक तर्कवाक्य मे उद्देश्य और विधेय के एकीकरण से विभेद करते हुये उद्देश्य और विधेय के पृथक्करण के रूप मे परिभाषा देकर अनुपलब्धि-निश्चय के स्वतन्त्र पद की रक्षा करना असम्भव है। सिग्वर्ट[3] कहते हैं कि "किसी निश्चय का विधेय कभी भी एक सत्ता नही होता, इसकी एक पृथक् सत्ता के ऐसे रूप मे कल्पना ही नही की जा सकती जिसे उद्देश्य से वास्तव मे पृथक् माना जा सके।"

---

[1] न्यायबिटी० पृ० ४९ १७, अनुवाद पृ० १३८।

[2] न्यायबिटी० पृ० २२ ८; अनुवाद पृ० ६२।

[3] वही १ १७०

यह पृथक्करण उस यथार्थता मे वर्तमान नही होता जो हमारे निश्चय में उद्दिष्ट होती है।[1] "किसी वस्तु का केवल उसके गुण के साथ और गुण का केवल उस वस्तु के साथ ही अस्तित्व होता है। दोनो एक अपृथक्करणीय एकत्त्व का निर्माण करते हैं।" "यदि हम सरलतम, प्रत्यक्षात्मक निश्चय को[2] ही लें, तो बाह्यार्थ का विज्ञान के साथ सादृश्य एक सर्वथा आन्तरिक सम्बन्ध होता है और हम यह नही मान सकते कि किसी निश्चय के धर्मो का सम्बन्धीकरण, समान विषयात्मक धर्मों के सम्मिलन के समकक्ष है[3]।" हम जानते हैं कि भारतीय दृष्टिकोण भी बिल्कुल यही है जिसके अनुसार वास्तविक निश्चय प्रत्यक्षात्मक होता है जो किसी विज्ञान को उसके बाह्यार्थ के साथ एकीकृत करते हुये इन्हें उद्देश्य के जो सदैव एक सत्ता होता है, विधेय के साथ जो कभी भी सत्ता नही होता, सम्बन्ध के एकीकरण मे परिणत कर देता है।

यदि विधेय सदैव ही एक उद्देशात्मक रचना हो, चाहे विधायक अथवा प्रतिषेध्य, तो विधि और अनुपलब्धि का अन्तर एक ही सत्ता की प्रत्यक्ष और परोक्ष अभिव्यक्ति के अन्तर मे परिणत हो जाता है। एरिस्टॉटिल उस समय एक उचित बात का ही सकेत करते हैं जब वह यथार्थ सत्ता, 'हॉक एलिक्विड' को समस्त विधेयीकरण का समान उद्देश्य मानते हुये अभाव की किसी कोटि की कल्पना ही नही करते।

(ख) विप्रकृष्ट योजक और प्रतिषेध्य विधेय

अनुपलब्धि के प्रति सामान्य दृष्टिकोण मे समानता के परिणामस्वरूप प्रतिषेधात्मक निपात के उपयुक्त स्थान की समस्या के उत्तर मे एक और समानता मिलती हैं। यत निश्चय उद्देश्य, विधेय और योजक से युक्त होता है, अत यह पूछना स्वाभाविक है कि अनुपलब्धि योजक के साथ ही स्थित होती है अथवा विधेय के साथ। स्पष्ट है कि यह उद्देश्य के साथ स्थित नही

---

[1] वही १.१०४। सभी योरोपीय तर्कशास्त्रियो की ही भाँति सिग्वर्ट के मन मे वह निश्चय है जिसे भारतीय विभागात्मक (स्वभाव-अनुमान) कहते हैं, क्योकि हेतुत्व पर आधारित अनुमानात्मक निश्चय मे उद्देश्य और विधेय दो भिन्न सत्ताओ के द्योतक होते हैं।

[2] Benennungsurtheil.

[3] वही।

हो सकती। निश्चय के ज्ञानमीमांसीय रूप मे उद्देश्य एक वास्तविक विशेष, 'इदन्ता' धर्म होता है जो स्वय सत्ता होता है और अभाव नही हो सकता। किन्तु विधेय सदेव ही एक सामान्य होता है जिसका विधायन या प्रतिषेध हो सकता है। इस प्रकार-उदाहरण मे कि "यह वह है" योजक का प्रतिषेध हो सकता है और तब हमे यह प्रकार मिलेगा कि "यह वह नही है", अथवा विधेय का प्रतिषेध हो सकता है और तब हमे यह प्रकार मिलेगा कि "यह अ-वह है"। सिग्वर्ट यह मानते हैं कि अनुपलब्धि सदैव योजक को प्रभावित करती है। योजक का ही प्रतिषेध होता है विधेय का नही। आप यह टिप्पणी करते हैं कि 'प्रतिषेधात्मक योजक' नही हो सकता क्योकि प्रतिषेधात्मक योजक एक विरोधत्व है। केवल ऐसा ही योजक हो सकता है जिसका प्रतिषेध हो। इस विचार के अनुसार एक प्रतिषेधात्मक विधेय का निश्चय विधायक होगा क्योकि योजक का प्रतिषेध नही होगा। एरिस्टॉटिल[1] का भी यही मत है जिनके लिये non homo और nonjustus जैसे विधेय विधायक, यद्यपि अनिश्चित, हैं और non est justus जैसा निश्चय प्रतिषेधात्मक किन्तु est non-justus जैसा निश्चय विधायक है। और काण्ट का भी ऐसा ही मत रहा होगा जिन्होने इन प्रतिषेधात्मक अथवा अनन्त विधेयो को 'सीमित' तथा तदनुसरित निश्चय को अनिश्चित कहा है। सिग्वर्ट के दृष्टिकोण का उण्ट[2] ने सशक्त विरोध किया है जिनके लिये प्रतिषेधात्मक विधेय का निश्चय अनुपलब्धि-निश्चयो का प्रमुख वर्ग है, जब कि प्रतिषेधात्मक योजक का निश्चय, जिसे ये 'पृथक्करण निश्चय' कहते हैं, अल्प महत्त्व ही रखता है। बी० अर्डमैन[3] कुछ आरम्भिक विचलन के बाद यह निर्णय करते हैं कि प्रतिषेधात्मक विधेय का निश्चय प्रतिषेधात्मक ही रहता है, और ब्राड्ले[4] भी ऐसा करते हैं।

अब, सिग्वर्ट के मत तथा उसने जिस विवाद को उत्पन्न किया है उसको देखते हुये बौद्ध तर्कशास्त्र की क्या स्थिति है ?

धर्मकीर्ति के अनुसार अनुपलब्धि किसी उपस्थिति की प्रयासित विधि के विरुद्ध केन्द्रित होती है, और फलस्वरूप यह योजक के, यदि योजक का अर्थ सत्ता और उपस्थिति है तो, विरुद्ध केन्द्रित होती है। प्रतिषेधात्मक

---

[1] तुकी० ग्रोटे० उपु० पृ० १२२

[2] लॉजिक[2], पृ० २२६, नोट।

[3] लॉजिक,[3] पृ० ५००।

के नियम जो विरोध, तादात्म्य और तदुत्पत्ति के नियम हैं। तादात्म्य और तदुत्पत्ति के विधायक नियमों की विरोध के प्रतिषेधात्मक नियम के साथ अन्तक्रिया के द्वारा अनुपलब्धि के कौन से आकार उत्पन्न होते हैं इसका ऊपर[1] उल्लेख किया जा चुका है और यहाँ उसको पुन दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु, यद्यपि यह सत्य है कि अनुपलब्धि-निश्चय मे प्रतिषेध योजक को प्रभावित करता है, तथापि हमे यह नही भूलना चाहिये कि सत्तावाचक क्रिया का जो योजक को व्यक्त करती है, द्विविध कार्य होता है १) सत्ता को व्यक्त करना, और २) विधेय मे योजक का कार्य करना। इसके सर्वथा अनुकूल प्रतिषेधात्मक योजक का भी द्विविध कार्य होता है १) अभाव को व्यक्त करना, और २) सम्बन्ध का प्रतिषेध करना, अर्थात पृथक्त्व को व्यक्त करना। जैसा कि सिग्वर्ट टिप्पणी करते हैं, यह सत्य है कि पृथक् करने वाला योजक अपने आप मे विरोधत्व है, फिर भी, तब योजक केवल नाम मे ही योजक होगा। वास्तव मे अ-समानता के आशय मे यह पृथक्त्व का एक चिह्न होगा। और यत. इस प्रकार का पृथक्करण केवल दो विकल्पो के बीच ही मिल सकता है, अत इस प्रकार का निश्चय सदैव दो विकल्पो का निश्चय, अथवा एक अनुमान-विकल्प, एक साध्य-आधारवाक्य होता है। यह फिर प्रत्यक्षात्मक निश्चय नही रह जाता। फिर भी, प्रत्यक्षात्मक-निश्चय का स्थानापन्न तत्व अनुमान के पक्ष-आधारवाक्य मे होगा, जैसे —

---

[1] सिग्वर्ट उपु० पृ० १७९ और बाद, ऐसे नियम अथवा नियमो की खोज करते प्रतीत होते है जो इस बात की व्याख्या कर सकें कि क्यो कुछ विकल्प स्वभावत विरुद्ध होते हैं और अन्य नहीं। आप प्रतिषेध के लिये कोई आधार चाहते हैं। आप का कहना है कि विरुद्धत्व कुछ ऐसी बात है जो हमारी अभिव्यक्तियो के विषयवस्तु और उनके सम्बन्धो के वास्तविक स्वभाव के साथ "दी" होती है। और ब्राड्ले, जो सिग्वर्ट का इस अनुसन्धान मे अनुसरण करते हैं, "गुणो के आत्मनिष्ठ मानसिक प्रत्यावर्तन" मे, अर्थात उस मानसिक अभेद्यता मे एक समाधान पाते हैं जो भौतिक अभेद्यता के एक उपचारछल के अतिरिक्त और कुछ नही। हम देखेंगे कि भारतीयों के अनुसार विरुद्धत्व साक्षात अथवा परोक्षरूप मे सदैव ही विरोध के नियम पर आधारित होता है। अन्य किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।

साध्य-आधारवाक्य · जहाँ भी कोई भी वृक्ष हैं ही नही वहाँ शिंशपा भी नही हो सकते ।

पक्ष-आधारवाक्य यहाँ कोई वृक्ष नही है (=प्रत्यक्ष) ।

निष्कर्ष यहाँ कोई शिंशपा नही है ।

निष्कर्ष को इस विधान के साथ ही लेना चाहिये कि "यदि ये उपस्थित हो और इनके प्रत्यक्ष मे हस्तक्षेप करनेवाली कोई बात हमे अवरुद्ध न करे तो हम इन्हे देख सकते हैं ।" इस प्रकार, सभी दशाओ मे अनुपलब्धि को एक हेत्वाश्रित दृश्यता के अभाव मे घटना आवश्यक है । यह आपत्ति नही की जा सकती कि अमूर्त विकल्प भी हो सकते है जिन्हे दृश्य या अदृश्य नही माना जा सकता क्योकि बौद्ध दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक विकल्प को साथ ही साथ एक प्रत्यक्षात्मक निश्चय भी होना चाहिये, उसे यथार्थता का द्योतक होना चाहिये अन्यथा वह ज्ञान के क्षेत्र से बाहर होगा ।

जो कुछ ऊपर व्याख्या की गई है उससे यह माना जा सकता है कि अनुपलब्धि निश्चय मे कोई योजक होता ही नही, क्योकि अभाव के ऐसे निश्चयो मे सत्तावाचक क्रिया का न तो योजक अथवा सयोग का अर्थ होता है और न प्रतिषेधात्मक योजक अथवा पृथक्करण का यहाँ इसका अपने एक अन्य आशय, सत्ता के आशय में प्रयोग होता है । इसके प्रतिषेधात्मक रूप का अर्थ तब एक स्थान-विशेष पर किसी वस्तु विशेष की अनुपस्थिति होता है, किन्तु दो गुणो के बीच पृथक्करण अथवा प्रतिषेधात्मक गुण का विधेयन अर्थ नही होता । एक प्रतिषेधात्मक गुण एक विभेदक गुण के अतिरिक्त और कुछ नही, और सभी गुण विभेदक होते है, ऐसा कोई नही होता जो इस आशय मे विभेदक और प्रतिषेधात्मक न हो । प्रतिषेधात्मक विधेयो के बौद्ध सिद्धान्त का, तथा अनुपलब्धि की समस्या से अपृथक्करणीय कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओ का आगे विवेचन किया जायगा । इनका विवेचन तो किया ही जायगा, इनके भारतीय रूप की, विरोध के नियम के सन्दर्भ मे योरोपीय रूपो के साथ तुलना भी की जायगी ।[1]

---

[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिक सत्तावाचक क्रिया के द्विविध कार्य से पूर्णतया अवगत थे । यह कौतूहलवर्धक है कि तिब्बती और मंगोलियन राष्ट्रो ने इन दोनो कार्यों को कभी भी अस्त-व्यस्त नही किया होगा क्योकि इनकी भाषाओ में इनकी अभिव्यक्ति के लिये दो

(ग) निश्चय और पुनर्निश्चय

अनेक दार्शनिको, जैसे फास मे बर्गसाँ, इग्लैण्ड मे ब्राड्ल और बोसाँके ने सिग्वर्ट के सिद्धान्त को पूर्ण सहमति के साथ स्वीकार कर लिया, किन्तु अन्य, जैसे उण्ट, ने इसे अस्वीकृत कर दिया, और बी० अर्डमैन ने इसे महत्त्वपूर्ण परिमार्जनो के साथ स्वीकार किया। यहाँ विण्डलबैण्ड के दृष्टिकोण का उल्लेख उपयोगी होगा क्योकि इसकी भारतीय समानान्तरतायें स्वय समस्या पर कुछ प्रकाश डाल सकती है। इस सिद्धान्त[1] के अनुसार प्रत्येक निश्चय द्विविध होता है। वह एक निश्चय और एक पुनर्निश्चय (Beurtheilung) से युक्त होता है। यह द्वितीय प्रथम के सम्बन्ध मे निश्चय होता है (ein Urtheil uber ein Urtheil)। विधि और अनुपलब्धि को समन्वित करके इन्हे एक ही स्तर पर रक्खा गया है। किन्तु ये दोनो ही पुनर्निश्चय वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ये निश्चय नही है। आरम्भ मे निश्चय मे कोई निर्णय नही होता—वह न तो विधायक होता है और न प्रतिषेधात्मक। इस प्रकार, सिग्वर्ट का सिद्धान्त प्रतिषेधात्मक निश्चय की एक विशिष्टता के रूप मे इन पर जो परोक्षत्व तथा आत्मनिष्ठत्व की प्रकृति का आरोप करता है उसका ही विण्डलबैण्ड ने विधि तक विस्तार कर दिया है, और तब ज्ञान के दोनो ही आधरभूत प्रकारो को परवर्ती और परोक्ष होने के रूप मे समन्वित कर दिया है। लॉत्स इस द्वितीय स्तर को, जो प्रथम की प्रामाणिकता या अ-प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे निर्णय से युक्त होता है, एक परवर्ती "अतिरिक्त-विचार" (Nebengedanke) कहा है। बी० अर्डमैन तो "पुनर्निश्चय" शब्द को सुरक्षित रखते हैं, किन्तु ब्रेण्टानो और बर्गमैन प्रथम स्तर को मात्र प्रस्तुतीकरण कहना उचित मानते हुये निश्चय शब्द को

सर्वथा भिन्न शब्द मिलते हैं। तिब्बती मे 'योद' और 'मेद' क्रियाओ को कभी भी 'यिन' और 'मिन' के साथ उलझाया नहीं जा सकता। प्रथम जोडे का क्रमश उपस्थिति और अनुपस्थिति अर्थ है, और दूसरे का सयोग और पृथक्त्व। किन्तु योरप मे दोनो अर्थ सदैव मिश्रित रहे। सर्वप्रथम जिसने विभेद का स्पष्ट वर्णन किया वह फ्रान्सीसी दार्शनिक लरोमिगिरे था, और अस्पष्टता के उल्लेख तथा पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये हॉब्स, जेम्स मिल, और जे० एस० मिल जैसे व्यक्तियो के समस्त पाण्डित्य की आवश्वकता पडी। तुकी० ग्रोट. उपु० पृ० ३८७।

[1] डब्लू विण्डलबैण्ड बी० १९२१।

द्वितीय स्तर के लिये सुरक्षित रखते हैं। इन लोगो के अनुसार, अभी जब न तो विधि है और न उपलब्धि तब कोई निश्चय भी नही हो सकता। वास्तविक निश्चय द्वितीय स्तर मे निहित होता है जिसे विलण्डेवैण्ड ने तो पुर्नर्निश्चय"[1] कहा है किन्तु इन लोगो के अनुसार यही वास्तविक निश्चय है। यह वाद का मत धर्मकीर्ति के इस मत को प्रभावित किये बिना कि अनुपलब्धि निश्चय एक कल्पित विधि का प्रतिषेध करने वाला परोक्षज्ञान होता है, उनके साथ पूर्ण सहमत है।

ऊपर[2] हम ज्ञान के दो सोपानो, जो मानव मन की दो भिन्न क्षमताओ के अनुरूप हैं, के अन्तर के सम्बन्ध मे धर्मकीर्ति की अत्यन्त स्वविशिष्टता युक्त उक्ति को उद्धृत कर चुके हैं। इनका कहना है कि "(मात्र) विज्ञान किसी को आश्वस्त नही करता, यदि यह किसी का बोध करता है तो यह निश्चय के रूप मे नही बल्कि मात्र-प्रतिभास के रूप मे ही ऐसा करता है (न निश्चयेन, किंतर्हि, तत्-प्रतिभासेन)। केवल जहाँ तक (यत्राशे) यह एक परवर्ती निश्चय (अथवा निर्णय) उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, वही तक यह ज्ञान के प्रमाण की (वास्तविक मर्यादा) का स्वरूप ग्रहण करता हैं।" यह परवर्ती निश्चय वास्तव मे ज्ञान मे एक द्वितीय सोपान होता है, किन्तु, तब, प्रथम सोपान किसी भी निश्चय से युक्त नही होता। फिर भी, इस आधारभूत विभेद का विधायक और प्रतिषेधात्मक के रूप मे निश्चय के विभाजन से कोई सम्बन्ध नही है। प्रत्येक निश्चय मात्र-प्रतिभास अथवा मात्र प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध मे द्वितीय सोपान ही होता है। परन्तु प्रत्येक अनुपलब्धि निश्चय उस प्रयासित विधि का द्वितीय सोपान होता है जिसका इसके द्वारा प्रतिषेध होता है। विण्डेलबैण्ड का सिद्धान्त उस समय स्पष्ट रूप से असमर्थनीय प्रतीत होने लगता है जब हम उसे एक मात्र-वास्तविक निश्चय, अर्थात् प्रत्यक्षात्मक निश्चय के लिये व्यवहृत करते हैं। वास्तव मे इस सिद्धान्त की शक्ति पर यह निश्चय कि "यह एक घट है" स्वय अपने मे न तो किसी विधि से युक्त होगा और न किसी अनुपलब्धि से। किन्तु तब एक पुर्नर्निश्चय अथवा द्वितीय निश्चय आता है जो हमे या तो यह बताता है कि "यह सत्य है कि यहाँ एक घट है" अथवा यह कि "यह

---

[1] तुकी० "ज्ञानस्य तत्-प्रामाण्यस्य च स्वतस्त्वम् परस्त्वम्" जिसका ऊपर पृ० ७७ पर उल्लेख किया जा चुका है।

[2] तुकी० ऊपर पृ० २८५।

मिथ्या है कि "यहाँ एक घट है"। यह स्पष्टत एक असीम प्रतिगमन (अनवस्था दोष) की ओर ले जाता है, किन्तु साथ ही साथ, यह सिग्वर्ट और धर्मकीर्ति के सिद्धान्तो की सत्यता का एक मुखर प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। विण्डेलवैण्ड[1] इस बात को स्वीकार करते हैं कि एक निश्चय क्या है यह प्रश्न उपयुक्त परिभाषा के चतुर्दिक घूमता रहता है, और यह कि यदि शुप्पे तथा अन्य के मतो पर भी ध्यान दिया जाय तो पुनर्निश्चय पहले ही निश्चय मे निहित होगा क्योकि इस मत के ही अनुसार—जो हम देख चुके हैं कि भारतीय मत भी है—विकल्प और निश्चय के बीच कोई अन्तर नही है। "प्रत्येक विकल्प की विधि मे सत्ता का पहले से ही निहित होना न केवल निश्चय का एक उपयुक्त रूप है, वरन् यह सामान्य रूप से प्रत्येक निश्चय का विशुद्धतम और स्वाभाविकतम आधारभूत प्रकार है।" हम देख चुके हैं कि भारतीय सिद्धान्त ऐसा ही है। "विकल्प और निश्चय के बीच पारम्परिक विभेद इन स्थितियो मे उस प्रयोजन के लिये निरर्थक प्रतीत होता है जो सामान्यतया तर्कशास्त्र[2] का होना है, अर्थात् विचार के रूपो की एक मानव प्रणाली की स्थापना के प्रयोजन के लिये। विभाजन व्यावहारिक है तार्किक नही। ....तब इसके अतिरिक्त और कुछ शेष नही रहता कि उस जटिल प्रतिभास के लिये जिसका निश्चय के द्वारा विचार किया जाता है, प्रत्येक निश्चय की व्याख्या की जाय।" भारतीयो के अनुसार फिर भी, वास्तविक निश्चय सत्तात्मक नही बल्कि प्रत्यक्षात्मक होता है। सत्ता, अर्थात् विधि, तब प्रत्येक निश्चय मे उसके विधेय के रूप मे नही बल्कि अनिवार्य उद्देश्य के रूप मे निहित होती है। यदि वास्तविक निश्चय, इस सरल प्रकार जैसे "यह घट है" मे निहित एकीकरण, तादात्म्य, और विषयीकरण मे उपलब्ध हो तब हमे भारतीय सिद्धान्त मिलेगा।

इसी प्रकार विण्डेलवैण्ड निश्चय के भारतीय सिद्धान्त की अन्य प्रमुख बातो के, उन बातो के जो अनुमानात्मक निश्चय तथा उनमे व्यक्त सम्बन्धो की कोटियो[3] से सम्बद्ध हैं, अत्यन्त निकट आते हैं। "वह सत्ता जिसका इस निश्चय में कि 'यह एक गुलाब का फूल है' ग्रहण होता है वह, विण्डेलवैण्ड के अनुसार, उस सत्ता से सर्वथा भिन्न है जो इस निश्चय मे निहित है कि 'विद्युत गर्जन उत्पन्न करता है'।" यदि हम इन दोनो उदाहरणो को धर्मकीर्ति

---

[1] वही पृ० १८१।

[2] वही पृ० १८२।

[3] तुकी० वही, पृ० १८३-१८४।

कि इन उदाहरणो मे परिणत कर दें कि "शिशपा एक वृक्ष है" और "धूम अग्नि से उत्पन्न होता है," तो हम देखेंगे कि विण्डेलबैण्ड यहाँ सभी सम्बन्धो के उन आधारभूत और व्यापक विभेद के निकट आते हैं जो तादात्म्य और तदुत्पत्ति पर आधारित हैं। यत इस तर्कवाक्य मे कि "शिशपा एक वृक्ष है" दो विकल्प हैं, अत इसमे दो प्रत्यक्षात्मक निश्चय कि "यह एक शिशपा है" और "यह एक वृक्ष है" भी सम्मिलित हैं। एक इसी समान विचार सिग्वर्ट[१] ने भी काण्ट के इस उदाहरण के प्रति व्यक्त किया है कि "विद्वान् व्यक्ति अ-पण्डित नही होता"। इसमे भी सिग्वर्ट इन दो प्रत्यक्षात्मक निश्चयो का विभेद करते हैं "क विद्वान है" और "'क, अ-पण्डित है"[२]।

---

[१] उपु० १ १८६।

[२] इस सम्बन्ध मे हम सम्भवत इस बात की व्याख्या का प्रयास कर सकते हैं कि विण्डेलबैण्ड के "पुनर्निश्चय" के कुछ विचित्र सिद्धान्त के तल मे क्या है। दो विकल्पो का निश्चय, जो सामान्यत सभी निश्चयो का रूप माना जाता है, वास्तव मे एकीकरण की यथार्थता के विधान के किसी भी तत्त्व से युक्त नही होता। उदाहरण के लिये, यह निश्चय कि "यह एक गुलाब का फूल है" व्याप्ति का अथवा साध्य-आधारवाक्य का निश्चय है जो विकल्पो के सवादित्व अथवा एकत्व मात्र का विधान करता है। इनकी यथार्थता का वास्तव मे द्वितीय सोपान पर इस पक्ष-आधारवाक्य मे विधान होता है कि "यह एक गुलाब है" और फलस्वरूप एक फूल है। यह पक्ष-आधारवाक्य, साध्य-आधारवाक्य में ससूचित एकीकरण से सम्बद्ध यथार्थता अथवा सत् के एक प्रकार का पुनर्निश्चय प्रतीत होता है। साध्य-आधारवाक्य के सम्बन्ध मे अनुमान और निश्चय के बीच अस्तव्यस्तता ने पक्ष-आधारवाक्य मे निहित पुनर्निश्चय के सम्बन्ध मे अस्तव्यस्ता को उत्पन्न किया है। पुनर्निश्चय के तल में हमें पक्ष-आधारवाक्य के समान ही एक कार्य मिलता है। यही कारण है कि विण्डलबैण्ड का सिद्धान्त प्रत्यक्षात्मक अथवा वास्तविक निश्चय के लिये व्यवहृत होने पर इतना विचित्र प्रतीत होता है। यह कह चुकने के बाद कि "यह एक घट है" इसी को इस पुनर्निश्चय मे दोहराने की कोई आवश्यकता नही है कि "यह सत्य है कि यह एक घट है।"

अध्याय २

विरोध का नियम

§१. विघरो की उत्पत्ति

हम देख चुके हैं कि,[1] प्रत्येक निश्चय और प्रत्येक विकल्प की, जैसा कि इन्हे बौद्धन्याय मे समझा गया है, उत्पत्ति, एक अनिश्चित अन्त प्रज्ञा की विविधता मे वितर्क करने और इस विविधता मे से एक ऐसे विषय पर विचार मे निहित है जिसके सन्दर्भ मे शेष विचार दो साधारणतया असमान भागो में विभक्त होगे। एक ओर हमे सपक्षो की अपेक्षाकृत सीमित सख्या मिलेगी, और दूसरी ओर असपक्षो की असीमित अथवा अपेक्षाकृत कम सीमित संख्या मिलेगी। सपक्ष असपक्ष से 'अन्य' होगा और असपक्ष सपक्ष से अन्य होगा। ये दोनो ही भाग परस्पर एक दूसरे की अनुपस्थिति को व्यक्त करेंगे जिनके बीच मे किसी तृतीय प्रकार का अभाव होगा। प्रत्येक चेतन विचार अथवा ज्ञान, इस प्रकार एक द्वैधीकरण को व्यक्त करता है। चेतना के सक्रिय भाग का और ज्ञान मे उसकी स्वाभाविकता का द्वैधीकरण की क्रिया से आरम्भ होता है। ज्योही हमारा बौद्धिक चक्षु स्फुरित होना आरम्भ करता है हमारा विचार विरोधत्व में अवस्थित हो चुका होता है। जिस क्षण हमारा विचार वितर्क करना छोड देता है और किसी वाह्यार्थ पर इस प्रकार विचार केन्द्रित कर लेता है कि आन्तरिक रूप से वह यह निश्चय उत्पन्न कर सके कि "यह नील है", उसी क्षण हम सवाद के विश्व को दो असमान अर्धों मे विभक्त कर देते हैं जिनमे से एक 'नील' का सीमित भाग होता है और दूसरा अ-नील का अपेक्षाकृत कम सीमित भाग। 'नील' का निश्चित विचार अ-नील के निश्चित वर्जित्व से अधिक और कुछ नही। यह एक ऐसे सीमाविन्दु का निर्धारण है जिसमे स्वय मे कोई नीलत्व नही होता किन्तु जिसके एक ओर 'नील' होता है और दूसरी ओर अ-नील। ठीक इसी प्रकार किसी वस्तु, जैसे "अग्नि", का ज्ञान प्राप्त करने मे हम साथ ही साथ यह विचार करते हैं कि "यह यहाँ अग्नि है" और "वह वहाँ अग्नि नहीं है", इन दोनो के बीच कोई तीसरा प्रकार नही होता। ये दोनो भाग केवल सापेक्ष होते हैं यह

---

[1] तुकी० ऊपर पृ० २४७ और वाद।

इस तथ्य से स्पष्ट प्रगट होता है कि द्विविध प्रतिषेध विधि के बराबर होता है। अ-अग्नि नहीं-अग्नि है क्योंकि अग्नि अ-अग्नि नहीं है। जब दो भाग एक ही सविकल्पक के अन्तर्गत न्यूनाधिक सतुलन रखते हैं तब इसका बहुत महत्त्व नहीं रह जाता कि कौन सा भाग विधायक रूप से व्यक्त होगा और कौन सा प्रतिषेधात्मक रूप से, जैसे उदाहरण के लिये, उष्ण और शीतल, प्रकाश और अन्धकार, नित्य और अनित्य अथवा अ-अनित्य और अनित्य। किन्तु अधिकांश दशाओ मे सपक्ष भाग दोनो भागो में से वह भाग होता है जिस पर दूसरे की अपेक्षा हम अधिक ध्यान देते हैं तथा विधायक रूप से व्यक्त करते हैं और तब सहसम्बद्ध भाग प्रतिषेधात्मक रूप से व्यक्त होता है। इस प्रकार सक्रिय रूप से विचार करने अर्थात् एकीकरणात्मक रूप से विचार करने का अर्थ द्वैधीकरणात्मक रूप से विचार करना है। "एकीकरण"[1] और "द्वैधीकरण"[2] विचार के प्रति अपने प्रयोग मे पर्यायवाची हैं और चेतना के विशुद्ध निर्विकल्पक अंश, विशुद्ध विज्ञान को छोडकर चेतना की प्रत्येक क्रिया को व्याप्त करते हैं। विकल्प, आकार, प्रस्तुतीकरण, निश्चय और अनुमान को विचार-कल्पना अथवा सविकल्पक-कल्पना की भाँति द्वैधीकरण के अन्तर्गत रक्खा जायगा। यह विशुद्ध विज्ञान का विरोधी होगा।

अब, विरोध का नियम इस तथ्य की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं कि सर्व ज्ञान द्वैधीकरणात्मक और सापेक्ष होता है। हम किसी वस्तु का सक्रिय ज्ञान या निर्धारण उसका ऐसे के साथ विरोध करके ही कर सकते हैं जो वह नही है।

दोनों भागों में से प्रतिषेधात्मक भाग विधायक भाग की अनुपलब्धि अथवा अभाव मे निहित होता और यह अनुपलब्धि स्वयं या तो कुछ मात्र 'अन्य' अथवा कुछ इसके विरुद्ध मे निहित होगी। अभाव, इस प्रकार, सामान्य विकल्प है 'अन्यत्व' और विरोध इसके अधीनस्थ हैं। धर्मोत्तर[3] कहते हैं कि "असपक्ष और विरुद्ध का तब तक बोध नही हो सकता जब तक कि सपक्ष का अभाव उपलब्ध नही होता। इसलिये अन्यत्व और विरोधत्व को सपक्ष की अनुपलब्धि को व्यक्त करने वाला माना जाता है क्योकि इन 'अन्यत्व' और 'विरोधत्व' का ऐसा ही आशय है।

---

[1] एकीकरण=कल्पना।

[2] द्वैधीकरण=विकल्प।

[3] न्याविटी० पृ० २१६; अनुवाद पृ० ५९।

अनुपलब्धि की सपक्ष के साक्षात् अभाव के रूप में कल्पना की जाती है। अग्नि के सम्बन्ध मे असपक्ष इन बातो को आवृत्त करेगा : १) अग्नि की स्वभावानुपलब्धि; २) अग्नि से अन्य किसी की उपलब्धि; ३) किसी ऐसे की उपलब्धि जिसका अग्नि के साथ विरोध हो और जो अग्नि के विरुद्ध हो। 'अन्य' और 'विरुद्ध' स्वभावानुपलब्धि के विचार की पूर्व-कल्पना करते हैं।

विरुद्धत्व अथवा विरोध द्विविध प्रकार का होता है : यह या तो दो वस्तुओ का प्रापक, आक्रामक विरोधत्व होता है जिसका समाघात के बिना सहअस्तित्व हो ही नही सकता, जैसे उष्ण और शीतल, अथवा यह दो ऐसी वस्तुओ का स्वभाविक तार्किक विरोधत्व होता है जिनमे से एक का दूसरे में 'पूर्ण' प्रतिषेध होता है, जैसे नील और 'अ-नील'। यह विरोध है, यही तार्किक है, यही लाक्षणिक विरोध है।

§ २. तार्किक विरोध

विश्व में सब और प्रत्येक वस्तु, चाहे वह वास्तविक हो या कल्पित, 'अन्यत्व' के नियम के अधीन है और इसी कारण वह वह है जो वह है अर्थात् वह विश्व की अन्य सब वस्तुओं से भिन्न अथवा पृथक् है। इस नियम को तादात्म्य का नियम भी कहा जा सकता है क्योंकि यह इस बात का निर्धारण करता है कि वस्तु वह है जो वह है, उसका स्वयं अपने से तादात्म्य है। किन्तु बौद्धो के अनुसार कोई भी समान वास्तविक वस्तुयें नहीं हैं। कोई वस्तु भिन्न क्षणो मे अथवा भिन्न स्थानों पर एक ही नही रहती। काल और स्थान का प्रत्येक परिवर्तन वस्तु को 'अन्य' वस्तु बना देता है। शान्तिरक्षित कहते हैं कि "यदि नील एक व्यापक यथार्थ होता, अर्थात् यह एक ऐसा यथार्थ होता जिसका सर्वत्र अपने से तादात्म्य है तो तादात्म्य की कोई सीमा निर्धारित नही की जा सकेगी क्योंकि समानता सर्वत्र मिलती है 'सर्व' तब 'समग्र' बन जायगा, विश्व एक और अद्वितीय हो जायगा[1]।" इसलिये विश्व मे प्रत्येक वस्तु पृथक् है।[2] प्रत्येक वस्तु स्वय अपने में ही विशुद्धत यथार्थ है। प्रत्येक परमार्थ-सत् स्वलक्षण है-। तादात्म्य का अर्थ अग्राह्य का तादात्म्य है। वस्तुयें तादत्म्ययुक्त अथवा समान वही तक होती

---

[1] तस० पृ० ४९३ ३-४; तुकी० तसंप० पृ० ४९३.१९ और बाद।

[2] सर्वम् पृथक्।

है जहाँ तक हमे भेद का अग्रहण होता है।[1] वह नियम जिसके अनुसार दो वस्तुओ मे 'निषिद्ध एकत्व'[2] होता है, विरोध का नियम है। बौद्ध-दर्शन मे परमार्थ-सत् क्षण का सत् है, वास्तविक या परमार्थ हेतुत्व क्षण का अर्थ-क्रियाकारित्व है। ठीक इसी प्रकार परमार्थ भेद भी वस्तुओ के स्वलक्षणो का भेद है।

फिर भी, यह आदर्श विरोध का नियम हमारे जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओ के लिये कोई उपयोग नहीं रखता। यह विकल्पो के निर्माण और हमारी अर्थक्रियाओ के निर्देशन मे हमारी सहायता नही कर सकता। धर्मोत्तर[3] कहते हैं कि "विषयो के कोई भी दो युग्म निरपवाद रूप से परस्पर अपने मे दूसरे के प्रतिषेध को सम्मिलित रखते हैं।" आप आगे कहते हैं कि "किन्तु वह क्या है जिसका हम किसी अन्य मे अभाव मान सकते है? यह नियताकार होता है, अनियताकार नही, जैसे, उदाहरण के लिये (परमार्थसत् का) क्षणिकत्व इत्यादि। यत सर्ववस्तुयें, नीलादि, क्षणिक स्वरूपात्मक होती हैं, अत इस तथ्य की कोई सीमा नही होती। क्षणिकत्व के परिहार से कुछ भी दृश्य नहीं हो सकता।" यहाँ बौद्ध अपने अनुपलब्धि के सिद्धान्त द्वारा अनियताकार निश्चय अथवा अनियताकार विकल्प की अनिश्चितता से बच जाता है। धर्मोत्तर पूछते हैं कि "वास्तव मे यह अभाव अनियताकार क्यों हो?" जहाँ तक यह उस प्रतिषेध्य के निश्चित आकार से युक्त है-जिसकी उपस्थिति की कल्पना की गई है, वहाँ तक यह अनियताकार नही है। यह अभाव का एक कल्पित मूर्त रूप है और इसलिये जब किसी अनुपलब्धि निश्चय में हम किसी स्थान विशेष पर एक निश्चित वस्तु की अनुपस्थिति का स्पष्ट प्रत्यक्ष करते हैं तब हम उसका एक अनियताकार अभाव के रूप मे नही बल्कि एक नियताकार के रूप मे प्रत्यक्ष करते हैं, चाहे यह आकार वास्तव मे अनुभूत हो या केवल कल्पित।

धर्मकीर्ति विरोध के नियम की प्रत्येक वस्तु, चाहे वह यथार्थ हो या कल्पित, की उस विशिष्टता के रूप में परिभाषा कहते हैं जिसके कारण प्रत्येक वस्तु अपने को दो भागो के युग्म मे प्रस्तुत करती है जिनमे से एक दूसरे का पूर्ण प्रतिषेध करता है। आप कहते है कि किसी ऐसे युग्म मे विरोध होता

---

[1] भेदाग्रहात्

[2] निषिद्ध-एकत्व, तुकी० न्याविटी० पृ० ७०.१९, अनुवाद पृ० १९७।

[3] वही।

है जिसकी लक्षणता परस्पर-परिहार मे स्थित होती है,जैसे भाव और अभाव।"[1] अत्यन्त[2] पारस्परिक त्याग का किसी भी तृतीय प्रकार के अभाव से युक्त परस्पर-परिहार अर्थ है। सत्त्वमीमासात्मक दृष्टिकोण के अनुसार परस्पर विरोध को भाव और अभाव कहा जायगा, जब कि तार्किक दृष्टिकोण से इसे एक ही और उसी वस्तु की विधि और अनुपलब्धि कहेगे। गतिशीलता की दृष्टि से देखने पर इसे पारस्परिक प्रतिकर्षण कहेगे। स्थिरत्व की दृष्टि से देखने पर यह स्थिति और विरोध होगा। एक सम्बन्ध के रूप मे एक समभित सम्बन्ध अथवा सहसम्बन्ध, एक ऐसा सम्बन्ध होगा जिसमे एक तथ्य अन्य के साथ उसी प्रकार सम्बन्ध होता है जिस प्रकार यह अन्य तथ्य प्रथम तथ्य के साथ। यह एक अन्योनित सम्बन्ध नही बल्कि पूर्ण अन्योन्यत्व है। शान्तिरक्षित कहते हैं कि एक भाग मे उसका लेशमात्र भी नही होता जो दूसरे मे होता है।[3] इसलिये इस नियम को तृतीय-प्रकारअभाव नियम भी[4] कह सकते हैं क्योकि केवल दो ही भाग होते है जिनके बीच समग्र विभक्त होता है। इसे द्विविध अनुपलब्धि नियम भी कह सकते हैं क्योकि एक भाग दूसरे का उसी मात्रा मे प्रतिषेध्य होता है जितना कि यह दूसरा प्रथम का प्रतिषेध्य होता है। यदि 'क' ठीक उसी प्रकार 'अ-क' से सम्बद्ध है जिस प्रकार 'अ-क' 'क' से सम्बद्ध है, तब यह स्पष्ट है कि 'अ-क' का प्रतिषेध 'क' के बराबर होगा। यदि नील मे इसके अ-नील के साथ विरोध से अधिक कुछ नहीं तब यह स्पष्ट है कि अ-नील का विरोध स्वयं नील के अतिरिक्त और कुछ नही होगा। यत सर्ववस्तुयें सापेक्ष हैं, अत क्षण के परमार्थ सत् को छोडकर प्रत्येक वस्तु स्वय अपने प्रतिषेध के प्रतिरूप के अतिरिक्त और कुछ नही। भारतीय यथार्थवादी, सम्भवत, ठीक हैं जब वह यह मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु भाव और अभाव से युक्त होती है, किन्तु भाव और अभाव दोनो के उपन्यास करने और यह विस्मृत कर देने मे गलत है कि ये वास्तविक यथार्थता, जो मात्र निरपेक्ष और अ-सापेक्ष है, के एक धर्म पर स्थित मानसिक अधिरचनायें मात्र हैं। इन अधिरचनाओ का हमारे उस विकल्प द्वारा निर्माण होता है जो द्वैधीकरण के सिद्धान्त पर कार्य करता है। अशत ठीक वह माध्यमिक और वेदान्ती भी हैं जो इसके विरुद्ध मत

[1] न्याविटी० पृ० ६९.२०, अनुवाद पृ० १९२।

[2] अत्यन्त-त्याग = परिहार = परित्याग=तृतीय-प्रकार-अभाव

[3] तसंप० पृ० १.६; तुकी० पृ० ४८६ २०।

[4] तसप० पृ० ३९०।

का प्रतिनिधित्व करते हैं, अर्थात् इसका कि प्रत्येक वस्तु सापेक्ष और इसलिये अयथार्थ है—ठीक उसी प्रकार जैसे एक 'छोटा और एक लम्बा", जिनमे से छोटा लम्बे के प्रतिषेध से अधिक अथवा लम्बा छोटे के प्रतिषेध से अधिक कुछ नही। किन्तु ये लोग भी, पुन प्रत्येक सापेक्ष कल्पना मे अन्तर्निहित क्षण के सत् को अस्वीकार करने मे गलत हैं। अनुभवातीत सत् के आधार पर हमारी कल्पना द्वारा रचित एक कल्पित संवृति-सत् के जगत को मानने मे उक्त दोनो सीमाओ के दोष से केवल सौत्रान्तिक-योगाचर सम्प्रदाय का समीक्षात्मक सिद्धान्त ही बच पाता है।

§ ३. गत्यात्मक विरोध

अत्यन्त परिहार अथवा पारस्परिक प्रतिकर्षण की प्रकृति को युग्म के विरोधी भागो पर केवल लाक्षणिक रूप से ही आरोपित किया जा सकता है। ये एक दूसरे की सत्ता के साथ हस्तक्षेप किये बिना, एक द्वारा अधिकृत क्षेत्र पर दूसरे के अतिक्रमण के बिना भी घनिष्ठ सान्निध्य के साथ शान्तिपूर्वक रह सकते हैं। यह एक वास्तविक पारस्परिक प्रतिकर्षण नहीं बल्कि तार्किक है।

फिर भी, विरोध का एक प्रकार ऐसा है जो तार्किक होने के अतिरिक्त, साथ ही साथ, वास्तविक अथवा गत्यात्मक भी है। व्यासाभिमुख भाग न केवल एक द्वारा दूसरे के तार्किक प्रतिषेध होते हैं वरन् वे, इसके साथ-साथ एक दूसरे के युयुत्सु विरोधी भी होते है। उपयुक्तत यह लाक्षणिक विरोध जैसी तार्किक विरोध की अवस्था कदापि नहीं, इसे प्रतियुयुत्सु हेतुत्व भी कहा जा सकता है। ऐसी दशा मे दोनों विरोधी भाग पारस्परिक स्थितियो से एक दूसरे को बहिष्कृत करने के लिये परस्पर प्रयत्नशील रहते हैं। प्रकाश और अन्धकार मे से दोनो एक दूसरे के अत्यन्त प्रतिषेध हैं। इस दृष्टि से इनके बीच विरोध का एक तार्किक सम्बन्ध है। प्रकाश अन्धकार की पूर्ण अनुपलब्धि है और अन्धकार प्रकाश की पूर्ण अनुपलब्धि के अतिरिक्त और कुछ नही। फिर भी दोनो का घनिष्ठ सान्निध्य के साथ शान्तिपूर्वक सहअस्तित्व नही हो सकता—ठीक उसी प्रकार जैसे नील और अ-नील दोनो के बीच नित्य एक युद्ध चलता रहता है, एक दूसरे के क्षेत्र पर अधिकार प्राप्त करने के लिये दोनो ही नित्य प्रयत्नशील रहते हैं। इस प्रकार के विरोध की धर्मकीर्ति[1] यह परिभाषा देते हैं "अविकल कारणवाले विद्यमान

---

[1] न्याबिटी० पृ० ६८ ३, अनुवाद पृ० १८७।

पदार्थ का यदि अन्य के उपस्थित होने पर सहसा अभाव हो जाय तब यह विकल्प होता है कि इन दोनो के बीच (वास्तविक) विरोध है, जैसे शीत-स्पर्श और उष्णस्पर्श का विरोध।" इस परिभाषा मे जिस पर हमे ध्यान देना चाहिये वह "विरोधी पदार्थों के कारणो का अविकलत्व" है। क्या वह शीत, जो किसी सन्धिस्थल पर निरपवाद रूप से उष्ण का पूर्ववर्ती होता है, उष्ण का कारण अथवा कारणो मे से एक है? क्या वह प्रकाश, जो किसी सन्धिस्थल पर निरपवाद रूप से अन्धकार का निरपवाद रूप से अनुगमन करता है उस अन्धकार का फल होता है? क्या निरपवाद रूप से पूर्वगामी रात्रि निरपवाद रूप से अनुगमन करनेवाले दिन की कारण अथवा कारणो मे से एक है? ये ऐसे प्रश्न हैं जिन्होंने दार्शनिको को सदैव से उलझन मे डाला है। बौद्धो का उत्तर सकारात्मक है। हम बौद्धो के प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का परीक्षण कर चुके हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार यथार्थ सत् का प्रत्येक बिन्दु उन पूर्ववर्ती तत्त्वों की समग्रता के क्रियात्मक आश्रयत्व से उत्पन्न होता है जो सब उसके कारण होते हैं। इस समग्रता में न केवल विधायक परिमाण ही व्यवस्थित होते हैं वरन् प्रतिषेधात्मक परिमाण भी सम्मिलित होते हैं जो अनुगमन करने वाली घटना को प्रगट होने से वंचित नहीं करते[1]। यदि किसी घटना के कारणो की समग्रता मे व्याघात आ जाता है और उन तत्त्वों मे से जिन्होने उसके प्रगट होने को रोका नही, एक तत्त्व घट जाता है तो वह घटना अदृश्य हो जाती है और उसके कारणों की समग्रता का व्याघात अनुगमन करनेवाली घटना का कारण या कारणो मे से एक बन जाता है। इसी आशय में आनेवाला प्रकाश पूर्ववर्ती अन्धकार से उत्पन्न होता है। यह प्रकाश पूर्ववर्ती अन्धकार की सत्ता को धारण करने वाले हेतुओ की न्यूनता से उत्पन्न होता है। ऐसी दशाओ में पूर्ववर्ती भाग अनुगमन करनेवाले भाग को उत्पन्न करनेवाला कारण अथवा कारणो मे से एक होता है। यदि एक भाग दूसरे का विरोधी है तो वह साथ ही साथ 'किंचित-कर'[2] भी होता है, अर्थात् दूसरे की उत्पत्ति मे परोक्ष रूप से भाग लेता रहता है।

---

[1] तुकी० ऊपर पृ० १५४।

[2] तुकी० न्याविटी० पृ० ६८९, तुकी० तसप० पृ० १५७.७ 'अकिंचित करो विरोधी'। अर्थ यह है कि क्षण-विशेष एक कारण के रूप मे प्रापक होता है किन्तु विरोध के रूप में नहीं क्योंकि विरोध बुद्धि द्वारा कल्पित होता है।

न तो प्रापक विरुद्धत्व की सभी दशाओ मे विरोध पूर्ण ही होता है। प्रकाश अ प्रकाश का पूर्ण विरोध है। प्रकाश और अ-प्रकाश के बीच मे कोई मध्यवर्ती नही होता। यहाँ तृतीय-प्रकार-अभाव का नियम पूर्णतया व्यवहृत है। किन्तु यथार्थ घटनाओ के रूप मे विचार करने पर प्रकाश और अन्धकार के बीच सदैव मध्य मे कुछ होता है। यदि परिवर्तन बिल्कुल सहसा हो, यदि प्रकाश सहसा उत्पन्न हो जाय, तो भी उस स्थान[1] पर जहाँ पूर्ववर्ती क्षण मे पूर्ण अन्धकार का साम्राज्य था, सन्धिप्रकाश का कम से कम एक मध्यवर्ती क्षण अवश्य होता है। परिवर्तन को, यदि वह उतना शीघ्र उत्पन्न हो जितना सम्भव है, फिर भी, कम से कम तीन क्षणो की आवश्यकता होती है अन्धकार का अन्तिम क्षण, प्रकाश का प्रथम क्षण, और दोनो के बीच परिवर्तन होने के लिये कम से कम एक क्षण।

यदि काल की दृष्टि से विरोध पूर्ण नही होता तो वह देश की दृष्टि से भी पूर्ण नही हो सकता। जब एक विशाल कमरे मे प्रकाश उत्पन्न होता है तो अन्धकार का उसके केवल एक ऐसे भाग में ही नाश होता है जो दीपक के निकटतम है।[2] शेष भाग मे या तो सधिप्रकाश या अन्धकार होता है। प्रकाश उतनी ही दूर तक उत्पन्न होता है जितनी दूर तक उसको उत्पन्न करनेवाली प्रापक शक्तियो का सामर्थ्य उत्पन्न कर सकता है।

प्रकाश और अ-प्रकाश के बीच तार्किक विरोध की दशा मे स्थिति इससे सर्वथा भिन्न होती है। यह विरोध पूर्ण होता है। प्रकाश और अ-प्रकाश के बीच कोई सन्धिप्रकाश नहीं होता। सन्धिप्रकाश अ-प्रकाश मे सम्मिलित होता है। देश की स्थितियो से भी यह विरोध प्रभावित नही होता। प्रकाश सर्वत्र और सदैव अ-प्रकाश का प्रतिषेध है। प्रकाश और अप्रकाश के बीच का सम्बन्ध तार्किक अनिवार्यता से लक्षित होता है जो यथार्थ घटनाओ के रूप में प्रकाश और अन्धकार के बीच के सम्बन्ध की दशा मे नही होता।

भिन्न वेदनाओ के सम्बन्ध मे विवाद का अर्थ भी ऐसा ही है। हीनयान यह मानता था कि आनन्द और कष्ट के बीच मध्य मे एक नि स्पृह वेदना भी होती है। किन्तु तर्कशास्त्रियो ने यह उत्तर दिया कि नि स्पृह वेदना को, यत यह आनन्द नही है अत, कष्ट की कोटि मे रखना चाहिये,[3]

---

[1] न्याविटी० पृ० ६८ १९ और बाद, अनुवाद पृ० १८९।

[2] वही, पृ० ६८.१५, अनुवाद पृ० १८९।

[3] ताटी० पृ० ६५ १ और बाद।

क्योकि परस्पर परिहार करने वाले केवल दो ही भाग होते हैं—आनन्द और अ-आनन्द, वाञ्छित और अवाञ्छित। यथार्थवादियो ने यह आपत्ति की कि यदि निःस्पृह वेदना को इसलिये कष्ट के अन्तर्गत रखना चाहिये कि यह आनन्द नहीं है, तब इसे इसी प्रकार आनन्द के अन्तर्गत भी रक्खा जा सकता है क्योकि यह कष्ट नही है। विवाद का समाधान इस तथ्य के संकेत द्वारा हुआ कि आनन्द और कष्ट के बीच दो विरोध है—एक बिना किसी तृतीय मध्यवर्ती प्रकार के तार्किक विरोध, और दूसरा वास्तविक जिसके बीच एक संक्रमण-भाग भी है।

किन्तु यदि इस प्रकार के विरोध का सम्बन्ध इस रूप मे हेतुत्व की दशा मे परिणत हो सकता है तो क्या इसे विरोध कहना अनुपयुक्त नही है? क्या यह मात्र हेतुत्व नही है? आरम्भिक वैशेषिको का यही मत रहा प्रतीत होता है जिन्होने प्रापक विरोधत्व के रूप मे ग्रहण करते हुये विरोध के सम्बन्ध को 'घात्य-घातक-भाव'[1], दो वस्तुओं के बीच एक स्वाभाविक द्वेष कहा, जैसे नेवले और सर्प की स्वाभाविक और असमझौतापूर्ण शत्रुता। प्रापक विरोधत्व के सम्बन्ध की प्रकृति को 'निवर्त्य-निवर्तक-भाव' के सम्बन्ध के समान मानने मे आपत्ति नहीं की गई है, किन्तु इसे इतना विशेषित कर दिया गया है कि निवर्त्य और निवर्तक "अवधियाँ"[2] हैं। इसलिये विरोध की उस प्रकार की परिभाषा जो प्रापक विरुद्धत्व मे निहित है, इस विशिष्टता से युक्त है कि अदृश्य होनेवाली घटना को 'अवधि' से अवश्य युक्त होना चाहिये। अधिक्रमण करनेवाली घटना के लिये भी समान रूप से ऐसा ही कहा जा सकता है—इसे भी अवधि से अवश्य युक्त होना चाहिये। प्रतीत्य-समुत्पाद के आशय मे हेतुक सम्बन्ध अदृश्य होने वाली घटना, जिसकी कुछ अवधि होती है, और अधिक्रमण करने वाली अथवा विरुद्ध घटना जो पुनः कुछ समय तक होती है, के बीच प्राप्त होता है। यह लाक्षणिक प्रतीत्य-समुत्पाद होता है वास्तविक प्रतीत्य समुत्पाद नही, क्योंकि हम देख चुके हैं कि वास्तविक प्रतीत्य समुत्पाद केवल प्रापक क्षणो के बीच ही होता है। अन्धकार कही जाने वाली शृङ्खला का अन्तिम क्षण प्रतीत्य समुत्पाद के आशय मे, प्रकाश कही जाने वाली शृङ्खला के प्रथम क्षण का हेतु होता है। किन्तु प्रकाश और अन्धकार केवल क्षण नही होते। ये जो हैं वह, अर्थात् प्रकाश और अन्धकार की घटनायें, केवल उसी

---

[1] तुकी० वैसू० ३ १, ११।

[2] 'भवत=प्रबन्धेन वर्तमानस्य,' न्याबिटी० ६९१।

समय बनते हैं जब ये कुछ क्षणो तक विद्यमान रहते हैं। फलस्वरूप प्रापक विरोध और यथार्थ प्रतीत्य समुत्पाद मे यह अन्तर है यथार्थ सत्ता की ही भाँति यथार्थ प्रतीत्य समुत्पाद भी केवल मात्र क्षणो से ही सम्बद्ध होता है, जब कि प्रापक विरोध क्षणो की एक राशि और क्षणो की ही दूसरी राशि के बीच होता है, इसकी रचना भी, स्वय इन राशियो की ही भाँति हमारी बुद्धि करती है। दूसरे शब्दो मे प्रापक विरोध का सम्बन्ध परमार्थ सत् नही होता, यह वस्तुस्वलक्षण से नही बल्कि कल्पित घटना से सम्बद्ध होता है। इस बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि विरोध का तार्किक नियम वस्तु स्वलक्षण के लिये व्यवहृत नही होता। साथ ही साथ, यह इसकी तार्किक प्रकृति से भी स्पष्ट है क्योंकि तार्किकता विचारित होती है और विचार कल्पना है परमार्थ-सत् नही।

धर्मोत्तर[1] के शब्दो से ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध तर्कशास्त्रियों मे इस समस्या पर विवाद था कि प्रापक विरोध का सम्बन्ध यथार्थ है या केवल तार्किक, यह अनुभवातीत यथार्थ है अथवा केवल सांवृत्तिक। धर्मोत्तर ने इस समस्या का इस रूप मे समाधान किया है · जिस प्रकार दो प्रकार के हेतुत्व होते हैं—एक अनुभवातीत और यथार्थ जो क्षणों के बीच प्राप्त होता है, और दूसरा एक पदार्थ और लाक्षणिक होने के रूप मे घटनाओ के बीच प्राप्त होता है, उसी प्रकार प्रापक विरोध भी दो प्रकार का होता है। किन्तु जो क्षणो के बीच प्राप्त होता है वह मात्र प्रतीत्य-समुत्पाद होता है, और प्रतीत्य-समुत्पाद विरोध नही है। कमलशील[2] इस बात की इस रूप मे व्याख्या करते हैं · "कुछ भाव ऐसे होते हैं जो अन्य भावो की मन्दता के कारण होते हैं। ये तब उत्पन्न होते हैं जब (इन भावों का निर्माण करने वाले) क्षणो के क्रम का क्रमश ह्रास होने लगता है, जैसे शीतादि के लिये अग्नि। किन्तु अन्य भाव ऐसे नही होते; ये अपकर्ष-हेतु नही होते, जैसे वही अग्नि (अपने द्वारा उत्पन्न) धूमादि के लिये। अब, यद्यपि उपरोक्त प्रति-रूपों के बीच, ह्रास उत्पन्न करने वाले भावों और अपकर्षित होने वाले भावो के बीच कार्य-कारण-भाव होता है, तथापि सामान्य मानव अपने सत्यज्ञान के प्रति अज्ञानान्धकार से अवरुद्ध होने के कारण, अज्ञानवश यहाँ विरुद्धत्व मान लेता है। (यह विरुद्धत्व है)। यह विरोध अनेक रूपो मे प्रकट होता है, जैसे शीत अग्नि के विरुद्ध है, प्रदीप का वायु से

[1] न्याविटी० पृ० ६९.११ और बाद; अनुवाद पृ० १९२।

[2] तसप० पृ० १५६ २७ और बाद।

विरोध है, अन्धकार का आलोक से विरोध होता है, इत्यादि। फिर भी, परमार्थ-सत् वस्तुओ (जैसे वस्तुस्वलक्षणो) मे बाध्य-बाधक भाव नही होता। यही कारण है कि आचार्य (धर्मकीर्ति) ने अपने को इस प्रकार व्यक्त किया है [1] "जब एक पदार्थ उतनी देर तक विद्यमान रहता है जब तक उसके कारणो की अविकलता अनवरुद्ध रहती है, और फिर अन्य के (जो उसका विरुद्ध है) उत्पन्न होने पर अभाव को प्राप्त होता है, तब यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनो मे (गत्यात्मक) विरोध है (ठीक उसी प्रकार जैसे शीत-स्पर्श और उष्णस्पर्श मे विरोध है)।" (आचार्य कहते हैं कि) 'विरोध अनुगत होता है' जिसका अर्थ यह है कि यह विरोध हमारी बुद्धि के द्वारा कल्पित है, यह परमार्थ सत् नही है।"

§ ४. 'अन्यत्व' का नियम

अन्यत्व का नियम एक आश्रित नियम है। यह विरोध के नियम पर आश्रित है। वास्तव मे नील और अ-नील विरोधी हैं, क्योंकि ये परस्पर एक दूसरे के पूर्ण निषेध को व्यक्त करते हैं। किन्तु नील और पीत भी विरोधी हैं, क्योकि पीत भी अ-नील का एक अश है। इसलिये ये केवल आशिक विरोधी हैं, अर्थात् एक दूसरे के लिये ये केवल 'अन्य' हैं। इस प्रकार, नील और अ-नील साक्षात् विरोधी हैं, किन्तु नील और पीत परोक्ष रूप से विरोधी है क्योकि पीत अनिवार्यत अ-नील है, "यह अनील होने से बच नही सकता।[2] जिस प्रकार हम यह अनुपलब्धि निश्चय कि "इस स्थान विशेष पर कोई घट नहीं है", घट की इस स्थान-विशेष पर उपस्थित होने की हेत्वाश्रित कल्पना करके और इस ससूचन के प्रतिषेध के बाद ही करते हैं, ठीक उसी प्रकार हम यह निश्चय भी कि नील पीत नही है, एक पीत पर नील की हेत्वाश्रित कल्पना और इस कल्पित उपस्थिति के प्रतिषेध द्वारा ही करते हैं। यह बात विशेष रूप से और स्पष्टत तब निगमित होती है जब रंग के किंचित विभेदनीय आभावो की तुलना की जाती है। इनको देखने के बाद एक-दूसरे के स्थान पर कल्पना करके तब, यदि इनका विभेद ग्राह्य हुआ तो इन्हे भिन्न, अथवा विभेद अग्राह्य हुआ तो समान कहा जाता है। अन्तर तो सदैव होगा ही, हाँ यह अत्यन्त सूक्ष्म हो सकता है।

---

[1] तुकी० न्याविटी० पृ० ६८;३, अनुवाद पृ० १८७।

[2] न्याविटी० पृ० ७० ३।

तादात्म्य केवल अन्तरो की सीमा है; यह "अग्राह्यों का तादात्म्य" है। यदि कोई पदार्थ अपने स्वभाव से अदृश्य है, यदि उसका स्वभाव ऐसा है कि वह कभी दृश्य नही हो सकता, तब भी उस पर किसी स्थान विशेष पर दृश्य उपस्थिति का आरोप करने के बाद ही उसे 'अन्य' कहा जा सकता है, अर्थात उसकी उपस्थिति का प्रतिषेध किया जा सकता है। जब अन्धकार मे अपने सामने किसी सीधे लम्बे पदार्थ को देखकर हम यह निश्चय नही कर पाते कि वह कोई खम्भा है या मनुष्य, तब हम केवल प्रतिषेध्य की उपस्थिति की एक क्षण के लिये कल्पना कर लेने के बाद ही किसी निश्चय पर पहुँचते हैं। तब आन्तरिक रूप से हम यह निश्चय करते हैं कि "यह खम्बा है, यह मनुष्य नही है।" इस विषय पर धर्मोत्तर को हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। वह यह मानते हैं कि विधि और अनुपलब्धि (उपस्थिति और अनुपस्थिति) का साक्षात् विरोध है, किन्तु पदार्थों के युग्म के दोनो सदस्य उसी सीमा तक विरोधी (अथवा परस्पर-परिहारी) होते हैं जिस सीमा तक वे एक दूसरे मे परस्पर अनिवार्य रूप से एक दूसरे की अनुपलब्धि को सम्मिलित करते हैं। अब वह पदार्थ क्या है जिसकी अनुपलब्धि अनिवार्यतः (युग्म के) दूसरे भाग में सम्मिलित होती है? वह एक नियताकार पदार्थ होता है, कोई अनियताकार नही, जैसे उदाहरण के लिये क्षणिकत्व। 'क्योकि, हम देख चुके हैं कि, क्षणिकत्व प्रत्येक (यथार्थ) वस्तु, नील या अन्य किसी यथार्थ वस्तु, मे अन्तर्निहित परमार्थ सत् का स्वभाव है। इसलिये (ऐसी अनियताकार वस्तु, जैसे सामान्य रूप से सत्ता के) परिहार द्वारा किसी दृश्य का ज्ञान नही हो सकता।" धर्मोत्तर यह कहते हैं कि किसी वस्तु का एक ऐसी सर्वव्यापक प्रकृति, जैसे सामान्य रूप से सत्ता, के साथ विभेद करने पर किसी भी दृष्यता का ज्ञान नही हो सकता। एक नियताकार वस्तु का दूसरे अनियताकार नही बल्कि नियताकार वस्तु के साथ विभेद करना ही ज्ञान है। किन्तु आप आगे यह कहते हैं "किन्तु क्या बात ऐसी नही है कि अनुपलब्धि (अथवा अभाव) स्वय अपने मे (सर्वथा) अनियताकार है?" (अर्थात् 'अ-क' अनियताकार है?)। इसका आप यह उत्तर देते हैं "यह अनिवार्यत अनियताकार क्यो हो? ('अ-क' क्यो अनियताकार हो?) जहाँ तक अनुपलब्धि (जैसा कि हम इसे समझते हैं) एक कल्पित उपस्थिति का प्रतिषेध है, वहाँ तक यह एक कल्पित अनुपस्थिति है जिसका उस सीमा तक एक नियत आकार होता है जहाँ तक यह एक (निश्चित) यथार्थ पदार्थ के नियत आका

साथ ही दो विरोधी धर्मों से युक्त नही हो सकती। यदि हम "दो विरुद्ध धर्मों" के स्थान पर एक ही धर्म की उपस्थिति और अनुपस्थिति को स्थानान्तरित कर दें तो हमे यह एरिस्टॉटिलियन सूत्र मिलेगा "एक ही का एक साथ एक के और एक ही पक्ष के अधीनस्थ[1] और अ-अधीनस्थ होना असम्भव है।" फिर भी यह अर्थ उससे सर्वथा भिन्न है जो बौद्ध अपने सूत्र मे निहित करते हैं। एरिस्टॉटिल के अनुसार एक ही भिन्न समयो और भिन्न पक्षो मे एक अधीनस्थ और अ-अधीनस्थ हो सकता है, अथवा भिन्न-भिन्न समयो मे एक ही वस्तु दो विरोधी धर्मों से युक्त हो सकती है, जैसे कोई वस्तु किसी क्षण शीतल और दूसरे क्षण उष्ण हो सकती है।[2] बौद्धो के अनुसार कोई वस्तु कभी भी दो विरोधी धर्मों से युक्त नही हो सकती। यदि ऐसा प्रतीत होता है कि वह दो धर्मों से युक्त है तब वह वास्तव मे एक वस्तु नही होती, वह सर्वथा दो वस्तुयें होती हैं, जैसे, शीतल वस्तु और उष्ण वस्तु। बौद्धो की स्थिति इससे भिन्न हो भी नही सकती थी। जब कोई वस्तु एक नित्य पदार्थ और अपने परिवर्तन-शील गुणो से निर्मित होती है तो धर्म परिवर्तित हो सकते हैं और वस्तु एकात्मक रहेगी। किन्तु जब पदार्थ सर्वथा अनुपस्थित है और वस्तु केवल प्रवाहमान धर्मों से ही निर्मित्त है तब धर्म का प्रत्येक परिवर्तन वस्तु का परिवर्तन होगा। विरोध के नियम के विश्लेषण से हम देख चुके हैं कि मात्र "अन्यत्व" विरोध मे सम्मिलित होता है। यदि पीत का नील से मात्र भिन्नत्व

विरुद्ध धर्मों के साथ संयुक्त हो जाती है तो वह अपने एकात्मकत्व से रहित होकर अन्य वस्तु हो जाती है। और विरुद्ध धर्म क्या हैं ? ये काल, दिक्, और स्वभाव (ग्राह्य धर्म इत्यादि) हैं। यदि किसी वस्तु की एक काल मे सत्ता है तो यह मानना विरुद्धत्व है कि उसी की अन्य काल या क्षण में भी सत्ता है। यदि वह वस्तु एक स्थान-विशेष पर विद्यमान है तो यह मानना विरुद्धत्व है कि वह अन्य स्थान पर भी विद्यमान है। यदि किसी वस्तु का विषय या स्वभाव एक है तो यह मानना विरुद्धत्व है कि एक अन्य विषय सहित एक "अन्य" के रूप मे वह वही वस्तु है। जो नील स्वभाव है उसे अनील नही बनाया जा सकता, एक सहस्र कुशल व्यक्ति भी नील स्वभाव का अ-नील में परिवर्तन नही कर सकते। नि सन्देह इसका यह अर्थ नही है कि व्यावहारिक जीवन मे किसी वस्तु के रग को बदला नही जा सकता। इसका केवल यह अर्थ है कि नील-स्वभाव स्वय अ-नील नही हो सकता। नील का एकात्मकत्व कुछ ऐसा नही है जिसकी स्वय अपने से सत्ता हो; यह तो अ-नील के साथ इसके विरोध के आधार पर कल्पित होता है। विरोध का नियम नीले के यथार्थत्व को नष्ट करता है और, साथ ही साथ, उसके विज्ञानत्व का अ-नील के साथ उसके विरूद्धत्व के आधार पर निर्माण करता है।

विरोध के नियम का एक और निर्धारण अथवा प्रमाण इस तर्क मे उपलब्ध होता है.[1] "जो कुछ "परिच्छिन्न"[2] है उसे "व्यवच्छिन्न"[3] भी अवश्य होना चाहिये, और यह ठीक उसी मात्रा मे व्यवच्छिन्न होता है जिसमें यह परिच्छिन्न होता है। जैसे एक मणि उसी समय व्यवच्छिन्न अर्थात् निश्चित रूप से प्रस्तुत होती है जब वह परिच्छिन्न अर्थात् अ-मणियो, मनको इत्यादि के विरुद्ध होती है, और यह उसी मात्रा मे व्यवच्छिन्न होती है जिसमे यह परिच्छिन्न होती है। कल्पना, अथवा विकल्प, अथवा मणि का विषय ठीक उसी सीमा तक निश्चित होगा जहाँ तक उसका अ-मणियो के साथ विरुद्धत्व होगा, और यह बिलकुल अ-मणियो मे सम्मिलित धर्मों पर आश्रयत्व के रूप मे ही होगा। फिर भी, इस नियम से मणि के काल और दिक् की स्थितियाँ भी उद्दिष्ट हैं। क्योकि कोई मणि केवल एक काल, दिक् और इन्द्रिय-ग्राह्यता की स्थिति मे ही निहित होती है। मणि का काल अन्य

साथ ही दो विरोधी धर्मों से युक्त नही हो सकती। यदि हम "दो विरुद्ध धर्मों" के स्थान पर एक ही धर्म की उपस्थिति और अनुपस्थिति को स्थानान्तरित कर दें तो हमे यह एरिस्टॉटेलियन सूत्र मिलेगा : "एक ही का एक साथ एक के और एक ही पक्ष के अधीनस्थ[१] और अ-अधीनस्थ होना असम्भव है।" फिर भी यह अर्थ उससे सर्वथा भिन्न है जो बौद्ध अपने सूत्र मे निहित करते हैं। एरिस्टॉटिल के अनुसार एक ही भिन्न समयो और भिन्न पक्षो मे एक अधीनस्थ और अ-अधीनस्थ हो सकता है, अथवा भिन्न-भिन्न समयो मे एक ही वस्तु दो विरोधी धर्मों से युक्त हो सकती है, जैसे कोई वस्तु किसी क्षण शीतल और दूसरे क्षण उष्ण हो सकती है।[२] बौद्धो के अनुसार कोई वस्तु कभी भी दो विरोधी धर्मों से युक्त नही हो सकती। यदि ऐसा प्रतीत होता है कि वह दो धर्मो से युक्त है तब वह वास्तव मे एक वस्तु नही होती; वह सर्वथा दो वस्तुयें होती हैं, जैसे, शीतल वस्तु और उष्ण वस्तु। बौद्धो की स्थिति इससे भिन्न हो भी नही सकती थी। जब कोई वस्तु एक नित्य पदार्थ और अपने परिवर्तन-शील गुणो से निर्मित होती है तो धर्म परिवर्तित हो सकते हैं और वस्तु एकात्मक रहेगी। किन्तु जब पदार्थ सर्वथा अनुपस्थित है और वस्तु केवल प्रवाहमान धर्मों से ही निर्मित्त है तब धर्म का प्रत्येक परिवर्तन वस्तु का परिवर्तन होगा। विरोध के नियम के विश्लेषण से हम देख चुके हैं कि मात्र "अन्यत्व" विरोध मे सम्मिलित होता है। यदि पीत का नील से मात्र भिन्नत्व है और वह इसका विरोधी नहीं है, तब भी वह विरुद्ध होगा क्योकि पीत अ-नील मे सम्मिलित है और प्रत्येक अ-नील नील का विरुद्ध है। इसलिये विरुद्ध धर्मों से युक्त होने का अर्थ केवल भिन्न होना है। इसलिये कोई वस्तु, जो दो ऐसे भिन्न धर्मों से युक्त है जिनमे से एक दूसरे मे सम्मिलित नही है, एक वस्तु नही होती, बल्कि वह दो पृथक् वस्तुओ को व्यक्त करती है।

एक अन्य किंचित भिन्न निर्धारण इस प्रकार कहता है 'एक विरुद्ध धर्म के सयोग से वस्तु अन्य हो जाती है।'[3] तात्पर्य यह कि कोई वस्तु यदि

---

[१] *υπαρχει*

[२] हमें हेराक्लिटस के विच्छिन्न अशो मे भी यही उदाहरण मिलता है, किन्तु वहाँ इसका अर्थ यह है (अथवा माना गया है) कि उष्णता और शीतलता का एक ही वस्तु मे सह-अस्तित्व हो सकता है। इसे विरोध के नियम के विरुद्ध उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

[३] न्यायविटीं० पृ० ४२, अनुवाद पृ० ८।

विरुद्ध धर्मों के साथ संयुक्त हो जाती है तो वह अपने एकात्मकत्व से रहित होकर अन्य वस्तु हो जाती है। और विरुद्ध धर्म क्या हैं ? ये काल, दिक्, और स्वभाव (ग्राह्य धर्म इत्यादि) हैं। यदि किसी वस्तु की एक काल मे सत्ता है तो यह मानना विरुद्धत्व है कि उसी की अन्य काल या क्षण में भी सत्ता है। यदि वह वस्तु एक स्थान-विशेष पर विद्यमान है तो यह मानना विरुद्धत्व है कि वह अन्य स्थान पर भी विद्यमान है। यदि किसी वस्तु का विषय या स्वभाव एक है तो यह मानना विरुद्धत्व है कि एक अन्य विषय सहित एक "अन्य" के रूप मे वह वही वस्तु है। जो नील स्वभाव है उसे अनील नही वनाया जा सकता, एक सहस्र कुशल व्यक्ति भी नील स्वभाव का अ-नील में परिवर्तन नही कर सकते। नि सन्देह इसका यह अर्थ नही है कि व्यावहारिक जीवन मे किसी वस्तु के रग को वदला नही जा सकता। इसका केवल यह अर्थ है कि नील-स्वभाव स्वय अ-नील नही हो सकता। नील का एकात्मकत्व कुछ ऐसा नही है जिसकी स्वय अपने से सत्ता हो, यह तो अ-नील के साथ इसके विरोध के आधार पर कल्पित होता है। विरोध का नियम नीले के यथार्थत्व को नष्ट करता है और, साथ ही साथ, उसके विज्ञानत्व का अ-नील के साथ उसके विरूद्धत्व के आधार पर निर्माण करता है।

विरोध के नियम का एक और निर्धारण अथवा प्रमाण इस तर्क मे उपलब्ध होता है :[1] "जो कुछ "परिच्छिन्न"[2] है उसे "व्यवच्छिन्न"[3] भी अवश्य होना चाहिये; और यह ठीक उसी मात्रा मे व्यवच्छिन्न होता है जिसमें यह परिच्छिन्न होता है। जैसे एक मणि उसी समय व्यवच्छिन्न अर्थात् निश्चित रूप से प्रस्तुत होती है जब वह परिच्छिन्न अर्थात् अ-मणियो, मनको इत्यादि के विरुद्ध होती है, और यह उसी मात्रा मे व्यवच्छिन्न होती है जिसमे यह परिच्छिन्न होती है। कल्पना, अथवा विकल्प, अथवा मणि का विषय ठीक उसी सीमा तक निश्चित होगा जहाँ तक उसका अ-मणियो के साथ विरुद्धत्व होगा, और यह विलकुल अ-मणियो मे सम्मिलित धर्मों पर आश्रयत्व के रूप मे ही होगा। फिर भी, इस नियम से मणि के काल और दिक् की स्थितियाँ भी उद्दिष्ट हैं। क्योंकि कोई मणि केवल एक काल, दिक् और इन्द्रिय-ग्राह्यता की स्थिति मे ही निहित होती है। मणि का काल अन्य

---

[1] न्यायविटी० पृ० ६९.२२ और वाद, ताटी पृ० ९२ १५ और वाद।

[2] नम-पर-छद-प।

[3] योन्स-सु-छद-प।

सब कालों के परिहार, अर्थात् प्रस्तुत क्षण-विशेष के अतिरिक्त अन्य सब क्षणों के परिहार द्वारा निर्णीत होगा। और उसकी 'दिक्' की स्थिति भी ऐसे ही निर्णीत होगी। इस प्रकार यह परमार्थसत् के क्षण मे, हॉक एलिक्विड में, परिणत हो जायगी, जिसकी कोई अवधि नही होगी, और ज्योही उत्पन्न होगी त्योही अदृश्य हो जायगी। इस प्रकार, बौद्धो का विरोध का नियम कुछ सीमा तक, मणि के तादात्म्य की रक्षा करता है—एक सवृत्त (घटना) के रूप मे उसके विज्ञानात्मक तादात्म्य की रक्षा करता है, किन्तु उसके वास्तविक तादात्म्य को नष्ट करके ही यह वस्तु स्वलक्षण के रूप मे उसकी रक्षा कर पाता है।

फिर भी, कुछ ऐसे धर्म और विकल्प भी हैं जो यद्यपि परस्पर 'अन्य' होते हुये भी विरोधी नही हैं, जैसे, उदाहरण के लिये, नील और कमल अथवा अधिक उपयुक्तत किसी क्षण विशेष का 'नीलत्व' और 'कमलत्व'। ये विरुद्ध नही हैं, एक ही वस्तु मे इनका सन्निपात विरुद्धत्व नही है। बौद्ध पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार ये एकात्मक हैं। बौद्ध सिद्धान्त के इस अश का आगे परीक्षण किया जायेगा।

§ ६. विरोध पर अन्य भारतीय सम्प्रदाय

विरोध का नियम भारत मे 'विरुद्ध-धर्म-संसर्ग' नाम से विख्यात विशिष्टत एक बौद्धो का नियम है। बात ऐसी नही है कि अन्य सम्प्रदायो ने विचार के सभी आधारभूत नियमो में से इस "सुज्ञात और सर्वाधिक सशक्त नियम को अस्वीकृत किया अथवा इसकी उपेक्षा की, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी उस समय तक इस नियम को ऐसा स्वप्रत्यक्ष मानते रहे जिसकी व्याख्या की आवश्यकता ही नही थी, जब तक कि अन्तत बौद्धो ने इसकी समस्या का विवेचन आरम्भ नही किया।

वैशेषिक सूत्र मे दो ऐसे तथ्यो के बीच यथार्थ सम्बन्ध के रूप मे विरोधत्व का सिद्धान्त निहित है जो एक दूसरे के साथ विरोधत्व के बन्धन से सम्बद्ध हैं।[१] यह यथार्थ अथवा गत्यात्मक विरोध है जिसका प्रत्यक्षत हेतुत्व के एक प्रकार के रूप मे विवेचन किया गया है। इस सम्प्रदाय के वास्तविक तार्किक अश तक मे तार्किक विरोध का कोई उल्लेख नही है। हम देख चुके हैं कि विरोधी तार्किक हेतु को इस सम्प्रदाय मे बौद्ध प्रभाव के कारण ही एक विशेष हेत्वाभास के रूप मे सम्मिलित किया गया है।[२]

---

[१] वैसू० ३ १ १०–१२।
[२] तुकी० ऊपर पृ० ४१८

इसके विपरीत, न्यायसूत्र यथार्थ तथ्यो के बीच एक सम्बन्ध के रूप मे विरोध की उपेक्षा करते हैं किन्तु इन सूत्रो मे भी एक ऐसा हेत्वाभास मिलता है जिसे विरोधी हेतु कहा गया है।[1] ऐसा हेतु वह होता है जो पूर्वपक्षी की प्रतिज्ञा को नष्ट करता है। यह दो निश्चयो का विरोध है जिनमे से एक उसका विरोध करता है जिसकी दूसरा स्थापना करता है।

साख्य-प्रणाली भी यथार्थ तथ्यो के सम्बन्धो के प्रकार के अन्तर्गत एक विरोध के सम्बन्ध से युक्त है[2] और इस दृष्टि से यह प्रणाली भी वैशेषिक-प्रणाली के ही स्तर पर स्थित है। हम लोगो को यह आशा होनी चाहिये थी कि साख्य, यत समवाय[3] पदार्थ के विरुद्ध अपने सघर्ष मे ये बौद्धो के मित्र थे, अत इन लोगो को कुछ सीमा तक विरोधी धर्म के सिद्धान्त मे बौद्धो के साथ होना था, किन्तु इस प्रणाली के उन ग्रन्थो मे जो आज उपलब्ध हैं ऐसा कोई तार्किक सिद्धान्त नही मिलता।

हम देख चुके[4] है कि बौद्धो के लिये विरोध का नियम इनके क्षणिकवाद के सिद्धान्त की पुष्टि की दिशा मे प्रमुख तर्कों मे से एक है। यदि कोई यथार्थ विरुद्ध तथा काल के परस्पर परिहारी क्षणो को और दिक् के परस्पर परिहारी क्षणो को अपने मे सम्मिलित नही कर सकता तो वह मात्र एक क्षण मे परिणत हो जाता है। इस तर्क के उत्तर मे नैयायिको ने विरोध के नियम की स्वय अपनी परिभाषा[5] प्रस्तुत की जो इस प्रकार है "विरोध का अर्थ यह है कि दो वस्तुओ का एक ही देश और काल मे सहअस्तित्व नही हो सकता। सिद्धान्तत यह इस निर्धारण से भिन्न नही है कि "एक ही और वही धर्म एक ही वस्तु के एक ही काल मे अधीनस्थ और अ-अधीनस्थ नही हो सकता," अथवा इस सूत्र मे भी भिन्न नही है कि "एक ही देश मे एक ही वस्तु का एक ही काल मे अस्तित्व और अभाव नही हो सकता।" यत यथार्थ-वादियो के लिये अस्तित्व (सत्ता) और अनस्तित्व (अभाव) यथार्थ विषय हैं अत इनकी एक ही देश और काल मे उपस्थिति असम्भव है। यह निर्धारण इस सिद्धान्त पर आधारित है कि दो भौतिक वस्तुओ के लिये एक ही समय

---

[1] न्यासू० १ २,६

[2] तुकी० ताटी० पृ० १३१ २७।

[3] ताटी० पृ० १३१ १५।

[4] तुकी० ऊपर १२३

[5] तुकी० जयन्त, पृ० ६०

मे एक ही देश मे होना सामान्यरूप से असम्भव है। विरोध का तार्किक सिद्धान्त, इस प्रकार, पदार्थ की अभेद्यता के भौतिक सिद्धान्त पर आधारित है। धर्मोत्तर[1] कहते हैं कि उस गत्यात्मक जुगप्सा के नियम तक के लिये यह ठीक निर्धारण नही होगा जो विरोध का एक आश्रित भाग ही है, एक ऐसा भाग जिसके व्यवहार का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है। धर्मोत्तर[2] आगे कहते हैं कि सभी परमाणु इस समान विशिष्टता से युक्त होते हैं कि वे उसी स्थान को ग्रहण नही कर सकते जहाँ अन्य सहवर्ती स्थित हो। किन्तु इतना ही पर्याप्त नही है। प्रापक विरोध इस बात मे निहित है कि एक निश्चित स्थान पर एक वस्तु की सत्ता का उस दूसरी वस्तु की सत्ता द्वारा प्रापक विरोध होता है जो प्रथम को उसके स्थान से च्युत करके स्वय उसका स्थान ग्रहण कर लेने के लिये प्रयास करती है।

विरोध के नियम के सम्बन्ध मे जैनो ने, प्रत्यक्षत एक बहुत बाद के समय मे, एक पृथक् स्थिति ग्रहण की है। ये लोग विरोध के नियम को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। साथ ही, जब बौद्ध मत के सस्थापको और साख्यो के बीच सघर्ष छिडा, जब साख्य यह प्रतिपादित करने लगे कि "सब कुछ नित्य है" क्योकि 'प्रकृति' नित्य है, और बौद्धो ने यह कहा कि "सब अ नित्य है" क्योकि प्रकृति एक कल्पना है, तब जैनो ने इन दोनो पक्षो का विरोध करते हुये यह माना कि "सब कुछ एक साथ ही नित्य और अ-नित्य दोनो है।" इस सिद्धान्त के अनुसार हम किसी विषय के किसी धर्म की न तो सम्पूर्णत स्थापना कर सकते हैं और न तो उसको सम्पूर्णत अस्वीकृत ही कर सकते हैं। स्थापना अथवा प्रतिषेध दोनो असत्य है। वास्तविक सम्बन्ध स्थापना और अस्वीकृति के मध्य मे कही है। यूनान के एनेक्सागोरस के सिद्धान्त की भाँति यह अस्वीकृति विरोध के नियम की अपेक्षा तृतीय-प्रकार-अभाव के नियम के विरुद्ध अधिक केन्द्रित है। फिर भी, सामान्यो और विशेषो की समस्या मे जैनो ने विरोध के नियम के विरुद्ध साक्षात् प्रतिरोध की प्रवृत्ति अपनाया है।[3] ये यह मानते हैं कि कोई भी मूर्त विषय विशेषीकृत सामान्य है, अर्थात् एक साथ ही सामान्य और विशेष दोनो है। एक आरम्भिकतम बौद्ध सम्प्रदाय, वात्सीपुत्रीयो, का भी ऐसा ही दृष्टिकोण प्रतीत

---

[1] न्याबिटी० पृ० ६९५ और बाद।

[2] वही।

[3] तस० और तसप० पृ० ५५५ और बाद, तुकी० श्लोकवार्तिक, शून्यवाद, २१९

होता है। ये लोग उस हीनयान सिद्धान्त के विरुद्ध थे जो आत्मा को अस्वीकृत करते हुये पुद्गल के असम्बद्ध और पृथक् धर्मों की सत्ता मानते थे जिन्हे मूर्त आकार मे एकमात्र हेतुक नियम ही एक साथ आवद्ध रखते हैं। ये यह मानते थे कि पुद्गल, जो इन धर्मों से वना है, अर्ध-यथार्थ है। इनके अनुसार पुद्गल कुछ ऐसा है जिसका एक साथ अस्तित्व और अनस्तित्व दोनो है।[1]

एकतत्त्ववादी माध्यमिको और वेदान्तियों द्वारा विरोध के नियम की उपेक्षा पर कुछ टिप्पणी आगे की जायगी। इस अध्याय मे जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि विरोध का नियम अनुभव के क्षेत्र से वाहर, वस्तु-स्वलक्षण के क्षेत्र तक अपने अधिकार का विस्तार नही करता। यद्यपि धर्मोत्तर कहते हैं कि सभी विषय, चाहे वह सत् हो या असत्, विरोध के नियम के आधीन हैं,[2] तथापि इन सन्दर्भ मे उनका गत्यात्मक विरोध की सोपाधिक यथार्थता मे तात्पर्य है। शीत और उष्ण, दोनो ही यथार्थ हैं क्योकि ये दोनो क्षणो के द्योतक हैं, ये स्वय दो क्षण नही हैं। इस प्रकार का विरोध, अत यह ऐसी ही वस्तुओ को प्रभावित करता है जिनकी कुछ अवधि या सत्ता होती है, अत इसे उन वस्तुस्वलक्षणो तक विस्तृत नही किया जा सकता जो सत्तारहित वस्तुयें हैं। परमार्थ-सत् मे कोई विरोध नहीं हो सकता क्योकि यहाँ विरोधी भाग एकीभूत हो जाते हैं।

§ ४. कुछ योरोपीय समानान्तरतायें

सिग्वर्ट तादात्म्य, विरोध, और विरुद्धत्व आदि शब्दो के प्रति अपनी असन्तुष्ट मनोभावना को इन शब्दो मे व्यक्त करते है। इनका[3] कथन है कि "ये शब्द दर्शन मे अव अनुपयोगी हो गये हैं क्योकि इनके व्यवहार के सम्बन्ध मे भाषा की एक महान अस्तव्यस्तता व्याप्त हो गई है।" हम देख चुके हैं कि व्यावहारिक अंग्रेज, जे० एन० कीन्स, हमे अनुपलब्धि के विषय को न छूने का परामर्श देते है क्योकि "इसकी व्याख्या का कोई भी प्रयास इस पर प्रकाश डालने की अपेक्षा इसे अस्पष्ट ही अधिक कर देता है।"[4] फिर भी, यह निराशाजनक स्थिति हमे विरत नही वल्कि भारतीय दृष्टिकोण

---

[1] तुकी० अभिको० IX और मेरा "सो॰ थ्योरी ऑफ दि वुद्धिस्ट्स।"

[2] न्याविटी० पृ० ७० २२।

[3] लॉजिक[3], १, पृ० १६७-१६८, तुकी० १, पृ० १०८।

[4] फॉर्मल लॉजिक,[4] पृ० १२०।

के साथ तुलना के लिये और प्रोत्साहित ही करती है। इस प्रोत्साहन की पृष्ठभूमि मे यह आशा है कि तुलना विषय को अस्पष्ट करने की अपेक्षा उस पर सम्भवत कुछ प्रकाश डालने की दिशा मे योगदान देगी।

(क) तृतीय-प्रकार-अभाव का नियम

आधुनिक योरोपीय तर्कशास्त्र के तीन आधारभूत विचार के नियमो—तादात्म्य, विरोध और तृतीय प्रकार-अभाव के नियमो के समकक्ष भारतीय पक्ष मे हमे मात्र एक विरोध का नियम मिलता है जिसे विरुद्ध-धर्म-सम्सर्ग[1] का सिद्धान्त कहते है। यह स्थिति एरिस्टॉटिल के विचार के ही समान है जिन्होने मात्र विरोध के नियम को सम्पूर्ण मानव विचार के "सर्वाधिक सशक्त और सर्वाधिक ज्ञात" सिद्धान्त के रूप मे पृथक् किया था।[2] इनके लिये दो अन्य नियम इसी नियम के परिणामो या पक्षो के अतिरिक्त और कुछ नही। विरोध का नियम वास्तव मे तृतीय-प्रकार-अभाव के नियम के अतिरिक्त और कुछ नही क्योकि *αντιφασις* (लाक्षणिक विरोध) का मात्र विरुद्धत्व से, दो परस्पर विरोधी पक्षो के बीच किसी भी मध्यवर्ती पक्ष की अनुपस्थिति के तथ्य द्वारा ही विभेद किया गया है। धर्मकीर्ति[3] कहते है कि "विरोध परस्पर परिहार है॥"[4] 'परि' हार किसी भी मध्यवर्ती का सर्वथा परिहार है। एरिस्टॉटिल भी यही कहते है "विरुद्धो के विरोधी भागो के मध्य मे कुछ भी नही होता[5]।" हम देख चुके हैं कि प्रत्येक ज्ञान ऐसे यथार्थ क्षण का विज्ञान है जो सपक्षो मे विद्यमान होता है और असपक्षो से उसका विभेद होता है। सपक्ष या समान तादात्म्य के सिद्धान्त द्वारा एकीकृत होते हैं, असपक्षो या असमानो से इनका विरोध के नियम द्वारा विभेद होता है, और परिहार तृतीय-प्रकार अभाव के नियम द्वारा होता है।[6] किन्तु ये तीनो तीन भिन्न सिद्धान्त नही है। यह तो अपने तीन पक्षो मे एक ही आधारभूत सिद्धान्त है। जब इस निश्चय मे कि "यह नील है" हमे एक नील

---

[1] = विरोध।

[2] तुकी० सिग्वर्ट ३पृ० ११९१।

[3] न्याबिटी० पृ० ६९ २१, अनुवाद पृ० १९३।

[4] परस्पर-परि-हार = परि-त्याग, वही। परि = पूर्ण।

[5] मेटा० १,७, १०५७, ३३।

[6] सपक्ष-विपक्षाभ्याम् तृतीय-अभाव।

का ज्ञान होता है तब प्राग्भवीय-विकल्प-वासना के कारण हम वाद के विश्व मे से दो भागो, एक नील और दूसरे अ-नील, की कल्पना करते है। वह सब कुछ जिसे नील के अन्तर्गत नही रखा जा सकेगा अनिवार्यत· अ-नील होगा। कोई तीसरी सम्भावना नही हो सकती। कुछ दोनो का मध्यवर्ती नही हो सकता। विरोधी विरुद्धत्व का ऐसा ही स्वभाव है।[1]

(ख) द्विविध अनुपलब्धि

धर्मकीर्ति की परिभाषा से एक और महत्वपूर्ण परिणाम निकलता है। विरोध केवल 'परिहार' मात्र ही नही बल्कि 'परस्पर' परिहार है। तात्पर्य यह कि क तथा अ-क एक दूसरे का परस्पर परिहार करते हैं। दोनो मे ठीक उसी प्रकार स्वय कोई विधायकता नही है जिस प्रकार दोनो मे स्वय कोई प्रतिषेधात्मकता भी नही है। इनका प्रतिषेध पारस्परिक है। 'क' 'अ-क' का उसी मात्र मे परिहार करता है जिसमे 'अ-क' 'क' का परिहार करता है। दूसरे शब्दो 'क' 'अ-क' का परिहार करता है, इसका अर्थ यह है कि 'क' क' के परिहार का परिहार करता है, क्योकि 'अ-क' 'क' के ही परिहार के अतिरिक्त और कुछ नही। 'क' 'अ क' का परिहार करता है इसका अर्थ यह है कि स्वय 'क' 'क' के परिहार के परिहार को व्यक्त करता है, अर्थात् क=—(—क)। इसी प्रकार, इसके विपरीत, 'अ-क' उसी मात्रा मे 'क' के परिहार को व्यक्त करता है जिस मात्रा मे 'क' 'अ-क' के परिहार को व्यक्त करता है। दूसरे शब्दो मे (—क)=—क जैसे कि क =—(—क)। यह द्विविध अनुपलब्धि का प्रसिद्ध सिद्धान्त है जिसे अधिक उपयुक्तत परस्पर अनुपलब्धि का सिद्धान्त कहना चाहिये; और परस्पर अनुपलब्धि लीब्निज-काण्ट सूत्र के अनुसार व्यक्त विरोध के सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नही।

जिस प्रकार तृतीय प्रकार-अभाव का नियम एक पृथक् सिद्धान्त नही बल्कि स्वय विरोध का नियम ही है, उसी प्रकार द्विविध अनुपलब्धि का सिद्धान्त भी, पुन, इसी विरोध के नियम के अतिरिक्त और कुछ नही। इस

---

[1] एरिस्टॉटिल द्वारा इसे प्रदत्त 'ऐन्टीफेसिस' नाम इसकी सत्त्वमीमासात्मक की अपेक्षा तार्किक प्रकृति की ओर सकेत करता है। यह "प्रतिवाद" है "प्रति-सत्ता" नही है। किन्तु ग्रोट (उपु० पृ० ५७९) का विचार है कि विरोध के सूत्र तथा तृतीय-प्रकार-अभाव के सूत्र का एरिस्टॉटिल मे तार्किक और सत्त्वमीमासात्मक दोनो अभिप्राय है।

यह अर्थ है कि मानव विचार अपोहात्मक या द्वन्द्वात्मक होता है। यत हमारे अगले अध्यायो मे से एक मे बौद्धो की अपोह-विधि का उद्घाटन और विवेचन किया गया है, अत हम इस समय अपने उल्लेख को उतने सकेत तक ही सीमित रक्खेंगे जो विरोध के नियम और उसकी योरोपीय समानान्तरताओ के सम्बन्ध मे आवश्यक है।

(ग) तादात्म्य का नियम

इस नियम को साधारणतया इस प्रकार कहा जाता है कि 'क' 'क' है" अथवा "जो 'है' वही 'है' और इसे सभी तार्किक विधियो के सिद्धान्तो के रूप मे ठीक उसी प्रकार दिया गया है जिस प्रकार इसके उपनिगमन, विरोध के नियम को इस रूप मे कि "'क' 'अ क' नही है' सभी अनुपलब्धि का सिद्धान्त माना गया है। इस प्रकार के सूत्रो की पर्याप्तता पर शका की गई है।

इस नियम की कभी कभी इस प्रकार व्याख्या की जाती है कि इससे वक्तव्य मे अन्तर के विपरीत भी आशय के तादात्म्य का अर्थ निकलता है। तब बौद्ध इसे अस्वीकृत कर देंगे क्योकि इनके लिए भाषाई अन्तर तर्क के क्षेत्र मे नही आते। धर्मोत्तर[1] कहते हैं कि यदि इन दो तर्कवाक्यो का कि "मोटा देवदत्त दिन के समय कुछ नही खाता" और "वह रात्रि के समय खाता है" एक ही तथ्य को व्यक्त करने के लिये प्रयोग किया जाय तो इनमे कोई अनुमान निहित नही होगा। इनमे तो एक ही तथ्य दो भाषाओ मे व्यक्त किया गया है। तर्कशास्त्र मे इन पर विचार नही किया जाना चाहिये क्योकि तर्कशास्त्र हेतुत्व के द्वारा दो भिन्न तथ्यो के अनिवार्य सम्बन्ध से अथवा तादात्म्य के द्वारा दो भिन्न विकल्पो के अनिवार्य सम्बन्ध से सम्बद्ध है, भिन्न शब्दो के अर्थ से नही।

तब तादात्म्य का नियम हमारे ज्ञानो की ऐसी निश्चयता के नियम के रूप मे व्यक्त होता है जिसके साथ वस्तुओ की एक अवधि की अनुरूपता होनी चाहिये। वाचस्पति इसे 'प्रत्यभिज्ञा भगवती'[2] कहते हैं जिसका अर्थ यह है कि हम इस बात को मान सकते हैं कि "यह वही मणि है जिसे मैं पहले देख चुका हू" अथवा यह कि "यह वही देवदत्त है जिसे मैं एक अन्य स्थान पर देख चुका

---

[1] न्याबिटी० पृ० ४३ १२, तुकी० ऊपर पृ० ४३८ नोट।

[2] तुकी० न्याकणि० पृ० १२५ ८।

हू।" इन प्रकारों की निश्चयता के बिना न तो ज्ञान, न ग्राह्य वाणी, और न अर्थक्रियायें ही सम्भव हो सकती है। बौद्ध स्वयं भी ज्ञान की 'अविसंवादक सम्यक् ज्ञान'[1] के रूप मे परिभाषा करते है जिसका अर्थ संवादी और निश्चित अनुभव है जो प्रत्यभिज्ञा के बिना असम्भव है। फिर भी निश्चयता और तादात्म्य का सतत् गतिशील, सतत् परिवर्तनशील सत्ता मे कोई चिह्न नही मिलता। निश्चयता और तादात्म्य तार्किक है, ये हमारी बुद्धि मे होते है बाह्यजगत मे नही। इस प्रकार स्थिति यह है कि तादात्म्य के नियम के बदले हमे बौद्धदर्शन मे एक 'एकत्व-अध्यवसाय'[2] अथवा 'एकत्व-कल्पना' का नियम मिलता है। एकात्मक वस्तुयें अलीक बाह्यत्व[3] हैं।

किन्तु यदि बौद्ध इस बात पर जोर देते है कि परमार्थसत् मे कोई वास्तविक तादात्म्य नही होता, तो ये समान जोर के साथ इस बात को भी कहते हैं कि तर्कशास्त्र मे कोई परिवर्तन भी नही होता। आकार, यथार्थ पर आरोपित सामान्य स्वभावो की प्रकृति, अविकार्य और नित्य है। संसार मे कोई भी शक्ति ऐसी नही है जो सत्ता को परिवर्तित करके उसे अ-सत्ता मे परिणत कर दे। सर्वशक्तिमान देवता इन्द्र स्वयं भी वस्तुओ के स्वलक्षण[4] को, उनके यथार्थ स्वभाव को परिवर्ति नही कर सकते। बौद्ध दर्शन मे ज्ञान का समस्त नाटक, प्लेटो की पद्धति की ही भांति, सर्वथा परिवर्तनरहित आकारो और सतत परिवर्तनशील यथार्थता के बीच विरोधत्व मे निहित है।

सिग्वर्ट ने एक कुछ भिन्न तादात्म्य के नियम का परामर्श दिया है। यह निश्चय के सिद्धान्त से सीधे सम्बद्ध है और इस पर यहाँ अवश्य विचार किया जाना चाहिये, क्योंकि यह बौद्ध नैयायिको के निश्चय के सिद्धान्त तथा उनके ही तादात्म्य के नियम के साथ साम्य की कुछ जिज्ञासापूर्ण विशिष्टताओ तथा साथ ही साथ, एक जिज्ञासापूर्ण विभेद से युक्त है।

सिग्वर्ट के अनुसार एक ऐसा तादात्म्य का नियम अवश्य होना चाहिये जो किसी निश्चय मे उद्देश्य तथा विधेय के एकत्व का सिद्धान्त हो और जो इस एकत्व को विषयात्मक यथार्थता तथा निश्चयता प्रदान कर सके।[5] यह

---

[1] 'अविसंवादकम् सम्यग्-ज्ञानम्', तुकी० न्याबिटी० पृ० ३

[2] एकत्व-अध्यवसाय = कल्पना, तुकी० भाग २, पृ० ४०६, ४०९।

[3] तुकी० भाग २, पृ० ४११

[4] तुकी० न्याकणि० पृ० १२४ १३।

[5] सिग्वर्ट लॉजिक[3], १ १०५ और बाद, तुकी० जे० कीन्स उपु० पृ० ४५१, ब्राड्ले उपु० पृ० १४२।

साधर्म्य और विपर्यीकरण का नियम है। इनका कथन है कि उस यथार्थवादी सिद्धान्त को निश्चित रूप से अस्वीकृत कर देना चाहिये जो यह मानता है कि निश्चय के तत्त्वो के बीच वही सम्बन्ध होता है जो यथार्थता के तदनुरूप विषयात्मक तत्त्वो मे। यथार्थता कभी भी 'अनुरूप', अर्थात् तर्क के बराबर और समान नही होती। विषयात्मक यथार्थता मे उद्देश्य और विधेय एकीकृत इन्द्रियविषयक सम्पूर्ण होता है,।[1] प्रज्ञा, इन्हें निश्चय मे पुन एकीकृत करने के लिये पृथक् करती है। कोई ऐसा यथार्थ-लक्षण नही है जो तर्क-लक्षण के अनुरूप हो।[2]

इस प्रकार रचित विधेय सदैव एक सामान्य होता है, जबकि उद्देश्य सदैव कुछ अद्वितीय होता है। सामान्य केवल हमारी बुद्धि मे विद्यमान रहता है, जबकि विषयात्मक यथार्थता में केवल अद्वितीय का ही अस्तित्व होता है।"[3] इसके अतिरिक्त भी, बाह्यविषयो का कोई अस्तित्व भी होता है या नही, एह एक तत्त्वमीमासात्मक समस्या है जिससे तर्कशास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध नही है।[4] इस निश्चय से कि "यह हिम है" न केवल उद्देश्य और विधेय का एकत्व ही अभिप्रेत है, वरन् विभिन्न समयो मे भिन्न लोगो के लिये विभिन्न दृष्टिकोणो से विषय "हिम" के निश्चयत्व के आशय मे इनका विषयात्मक यथार्थ भी अभिप्रेत है। निश्चय का रचनात्मक कार्य सर्वथा एक ही रहता है चाहे हम यथार्थवादियो के साथ यह माने कि हमारी कल्पना के पीछे एक स्वतन्त्र यथार्थता स्थित होती है, अथवा विज्ञानवादियो के साथ यह मानें कि यह यथार्थता हमारी कल्पनाओ के निश्चयत्व के तथ्य मात्र मे आकृत्यन्तरित हो जाती है। हम देख चुके हैं कि, बौद्ध नैयायिक का बिलकुल यही दृष्टिकोण है। ये इस बात को मानते हैं कि निश्चय दोनो ही दशाओ मे एक मानसिक विकल्पमात्र ही रहता है, चाहे हम बाह्य संसार को माने या नही[5] तब निश्चयत्व के नियम को तादात्म्य का नियम कहेंगे। यह नियम समस्तज्ञान

---

[1] वही, १ १०४ ungeschiedene Einheit, तुकी० तमप० पृ० १५७५ 'सर्वात्मना उत्पद्यते'।

[2] वही- १ १०५

[3] वही १ १०७ नोट।

[4] वही, १.१०५, तुकी० दिङ्नाग के ये शब्द "अनुमान-अनुमेय-भावो न सद्-असद् अपेक्षते," ताटी० पृ० १२७।

[5] तुकी० ऊपर० पृ० ७४

की, समस्त वाणी की, और समस्त अर्थक्रिया की एक अनिवार्य स्थिति होगा। किन्तु इस प्रकार के नियम के लिए सिग्वर्ट 'तादात्म्य' नाम पर आपत्ति करते हैं, क्योंकि उद्देश्य और विधेय के बीच तादात्म्य (निरर्थक पुनरुक्ति के अतिरिक्त) कभी भी पूर्ण नहीं है। 'आंशिक तादात्म्य' शब्द, जिसका कुछ तर्कशास्त्रियों ने परामर्श दिया है, विरोधी है क्योंकि आंशिक तादात्म्य का अर्थ अ-तादात्म्य है। इसलिये आप इसे साधर्म्य[1] का नियम अथवा एकात्मक स्थिति का नियम[2] कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

एक विषयीकरण के कार्य के रूप में निश्चय के उस दृष्टिकोण के, जो हम देख चुके हैं कि बौद्धों का भी दृष्टिकोण है, सम्बन्ध में सिग्वर्ट की दो टिप्पणियों पर अवश्य ध्यान देना चाहिये क्योंकि इनकी भारतीय दृष्टिकोण के साथ महत्त्वपूर्ण समानान्तरता है। आप कहते हैं कि सामान्य होने के कारण विधेय, अन्त प्रज्ञा में विशेष की स्पष्टता की तुलना में, सदैव ही अस्पष्ट होता है।[3] यह उद्देश्य के मूर्त एकत्व के केवल एक भाग का ही द्योतक है। आप यह भी कहते हैं कि निरीक्षण के दोहराने मात्र से तादात्म्य कभी उत्पन्न नहीं होता। यह तो "दो अथवा अधिक स्थायी रूप से पृथक् विकल्पों के बीच विषय के अन्तर की अनुपलब्धि से उत्पन्न होता है।"[4] यह विचार, अर्थात् यह कि तादात्म्य केवल भेद-अग्रह है और इससे अधिक और कुछ भी नहीं, यह कि यह विधि-स्वरूप है[5], हम आगे देखेंगे कि, सामान्य नामों के बौद्ध-सिद्धान्त का आधार है। इस प्रकार तादात्म्य अथवा साधर्म्य के नियम को, यदि व्याख्या न भी करें तो, उद्देश्य के मूर्त स्पष्ट यथार्थत्व के और विधेय के अस्पष्ट तथा सामान्य विज्ञानत्व के बीच एकत्व के तथ्य को निश्चित करने वाला माना जाता है।

---

[1] Ubereinstimmung

[2] In-eins setzung

[3] सिग्वर्ट उपु० १ १११, तुकी० न्याकणि० पृ० २६३ १२ न विकल्पानुबन्धस्य स्पष्टार्थ प्रतिभासता, तुकी० तसप० पृ० ५५३ ९।

[4] वही, १ ४२, यह 'भेद-अग्रह' का भारतीय सिद्धान्त है जिसका 'अभेद-ग्रह' के यथार्थवादी सिद्धान्त के साथ विभेद किया जा सकता है, तुकी० ताटी० पृ० ५६।

[5] वास्तविक विधि केवल ग्राह्य यथार्थता, वस्तु = विधि = प्रत्यक्ष=विधि-स्वरूप, होती है, तुकी० ऊपर पृ० २२८।

हम देख चुके है कि बौद्ध इस तथ्य को 'सारूप्य'[1] का नियम पुकारते हैं और निश्चय का सम्पूर्ण बौद्ध सिद्धान्त इसी नियम पर आधारित है।

बौद्ध जिसे तादात्म्य का नियम कहते है वह एक अनिवार्यत भिन्न नियम है। सरूप्यता का नियम सभी प्रत्यक्षात्मक निश्चयो का द्योतक है, अर्थात् ऐसे निश्चयो का जिनमे एक विधेय होता है। तादात्म्य का नियम केवल दो विकल्पो वाले निश्चयो के एक निश्चित प्रकार का, अर्थात् विभागात्मक निश्चयो का द्योतक है। अत एक विकल्प के निश्चय, और दो विकल्पो के निश्चय अथवा सवादित्व के निश्चय के बीच के विभेद के अत्यधिक महत्त्व को यहाँ अवश्य ध्यान मे रखना चाहिये। ऐसे निश्चय मे उद्देश्य और विधेय दोनो सामान्य और अस्पष्ट होते है उद्देश्य की मूर्त स्पष्टता अनुपस्थित होती है। इन्हे दो विधेयो का निश्चय कहा जा सकता है। फिर भी, सिग्वर्ट अपने साधार्म्य के नियम के ही अन्तर्गत किसी प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे उद्देश्य और विधेय के दोनो सम्बन्धो को रखते हैं—अर्थात् "यह हिम है" को, और दो विकल्पो को एकीकृत करने वाले निश्चय मे इनके सम्बन्ध जैसे "हिम श्वेत हैं" को। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार ये निश्चय के सर्वथा भिन्न रूप हैं और इनके तल मे सर्वथा भिन्न सिद्धान्त निहित हैं। दो विकल्पो को एकीकृत करनेवाला निश्चय इनके बीच संवादित्व का निश्चय है, इनके विषयात्मक यथार्थ का नही। विषयात्मक यथार्थ एक अन्य, इस प्रकार के निश्चय मे निहित है. "यह हिम है, यह श्वेत है", अथवा "यह श्वेत हिम है"। वास्तविक उद्देश्य यहाँ 'तथता' मे निहिन है। यह सवादित्व 'हिम' को 'श्वेत' के साथ सम्बद्ध करने की यह सभाव्यता, वास्तव मे इन दोनों ही विकल्पो के विषयात्मक सन्दर्भ के तादात्म्य मे निहित है। यह तादात्म्य का एक वास्तविक नियम है, किन्तु यह हमारे निश्चय के केवल एक भाग से ही, अर्थात् विभागात्मक निश्चय से ही सम्बद्ध है, जिसे भारतीय व्याख्या के अनुसार अधिक उपयुक्त एकत्व-अध्यवसाय कहना चाहिये।

सिग्वर्ट अपने साधर्म्य-तादात्म्य के नियम को इस प्रकार विस्तृत करते हैं कि हमारे निश्चयो का द्वितीयार्ध भी इसी के अन्तर्गत आ जाय। इनका यह कथन है[2] "यह वास्तविक तादात्म्य भिन्न कालो मे विषयो के अन्तर

---

[1] तुकी० ऊपर २६१।

[2] उपु० पृ० १ १०९।

तादात्म्य के नियम की कुछ इसी समान व्याख्या सर डब्लू० हैमिल्टन के तर्कशास्त्र मे मिलती है। यद्यपि इस नियम के परम्परागत स्वरूप कि 'क' 'क' है, से असहमत होते हुये भी ये इसे किसी व्यापकार्थ मे एक सम्पूर्ण विकल्प और उसके भागो के बीच तादात्म्य की स्थापना करनेवाले नियम के अर्थ मे ग्रहण करते हैं। यह हमे शिंशपा के वृक्ष के साथ समीकरण का स्मरण दिलाता है क्योकि 'वृक्ष' विकल्प 'शिंशपा' विकल्प का एक गुण या भाग है। सर डब्लू० हैमिल्टन तादात्म्य के इस सिद्धान्त को "समस्त तार्किक विधि के सिद्धान्त" के रूप मे प्रस्तुत करते है। किन्तु जे० एस० मिल यह ठीक ही टिप्पणी[1] करते है कि इसे केवल विभागात्मक निश्चयो की दशा मे ही विधि की प्रकृति के सम्यक विवरण के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है। तदनन्तर आगे आप यह कहते है कि तब हमे "उतने ही आधारभूत सिद्धान्त मानने होगे जितने सम्बन्धो के प्रकार हैं"।[2]

यह अन्तिम टिप्पणी व्यगात्मक है। श्री मिल का प्रत्यक्षत यह विचार है कि सम्बन्धो के प्रकार असीम है और इन्हे किसी पद्धति के अन्तर्गत आत्मसात नही किया जा सकता। किन्तु बौद्ध श्री मिल के इस परामर्श को पूर्ण सद्भावनापूर्वक दोहरायेगा। बौद्ध सम्बन्ध को अनिवार्य आश्रयत्व समझता है और इस प्रकार के सम्बन्धो के केवल दो ही आधारभूत प्रकारो को स्वीकार करता है। उसे, "जितने प्रकार के सम्बन्ध हैं उतने ही प्रकार के आधारभूत सिद्धान्तो" की आवश्यकता से विरत नही किया जा सकता क्योकि सम्बन्ध असीम नही बल्कि दो ही प्रकार के होते है। सम्बन्ध के ये दो प्रकार या तो तादात्म्य अथवा अ-तादात्म्य के सिद्धान्त पर आधारित हैं। यह दूसरा भी हेतुत्व के सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नही।[3]

---

[1] An Examination of Sir W. Hamilton's Philosophy. (6th Ed)p 484,

[2] वही पृ० ४८२।

[3] यह बात अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिये कि मिल के विभागात्मक निश्चय का क्षेत्र बौद्धो की अपेक्षा कही अधिक सकीर्ण है। आप कहते है (वही, पृ० ४८४) कि "एकीकरणात्मक निश्चय मे विधेयीकृत गुण को एक अश के रूप मे नही बल्कि विकल्प का निर्माण करने वाले गुणो के समूह के साथ-साथ एक ही उद्देश्य मे विद्यमान होने के रूप मे कल्पना की गई है।" किन्तु किसी उद्देश्य मे विद्यमान होना उसका एक भाग होना ही है, अर्थात् एक ही विषयात्मक सन्दर्भ से सयुक्त होना है।

(घ) दो योरोपीय तर्कशास्त्र

विरोध के नियम पर आते हुये हमें यह टिप्पणी अवश्य करनी चाहिये कि योरप मे दो तर्कशास्त्र है, जिनमे से एक विरोध के नियम पर आधारित है और दूसरा विरोध के नियम की उपेक्षा पर। प्रथम अ-विरोध का तर्कशास्त्र है एक ऐसा तर्कशास्त्र जो विरोध से बचता और उससे अपनी रक्षा करता है। इसकी एरिस्टॉटिल ने स्थापना की थी और आधुनिक योरप मे भी यह उसी की परम्परा से प्राप्त हुआ है। काण्ट के द्वारा इसे ज्ञानमीमासा के क्षेत्र मे एक प्रबल प्रवेश मिला है जहाँ यह आज भी विद्यमान है।

दूसरा तर्कशास्त्र विरोध का तर्कशास्त्र है। यह एक ऐसा तर्कशास्त्र है जिसके अनुसार यथार्थता केवल विरुद्धो से निर्मित है क्योकि सभी वस्तुयें विरुद्धो से उत्पन्न होती है और तदनुरूप विचार मात्र विरोध के अतिरिक्त और कुछ नही। प्रथम, अथवा वास्तविक तर्कशास्त्र की दृष्टि से देखने पर इस द्वितीय तर्कशास्त्र को अ-तर्कशास्त्र ही कहना होगा। यह प्राचीन यूनान मे एरिस्टॉटिल के पहले विद्यमान था और एरिस्टॉटिल ने इस पर घातक प्रहार किया। फिर भी, मध्ययुगीन योरप मे यह एन० कुसानो के हाथो पुनरुज्जीवित होकर गत शताब्दी के प्रथमार्द्ध मे हीगल की प्रणाली मे पूर्णता को प्राप्त हुआ। उस शताब्दी के द्वितीयार्द्ध मे परित्यक्त होकर यह अब कुछ दार्शनिक क्षेत्रो मे पुनः पुनरुज्जीवित होने की प्रवृत्ति व्यक्त कर रहा है। हीगल ने अपने "साइन्स आफ लॉजिक" मे स्पष्ट रूप से भारतीयो[1] का उल्लेख किया है और अपने विरोध के तर्कशास्त्र की पुष्टि मे भारतीय सिद्धान्तो को उद्धृत भी करते हैं। ये बौद्धो के तथाकथित "शून्य" के सिद्धान्त को उद्धृत करते हैं। इनका ज्ञान यद्यपि अत्यन्त परोक्ष और छिछला था, तथापि इन्होने यह ठीक ही अनुमान किया था कि 'शून्य' केवल अनुपलब्धि मात्र नही बल्कि विशुद्ध परमार्थ-सत् का एक विधायक सिद्धान्त है—एक ऐसे सत् का जहाँ सत्ता का अभाव के साथ तादात्म्य हो जाता है। प्रत्यक्षत हीगल अनेक दार्शनिको की स्वय अपने प्रिय विचारो को प्राचीन बताने की स्वाभाविक प्रवृत्ति से निर्देशित थे। किन्तु इनके अनुमान की हमारे माध्यमिक सम्प्रदाय के वर्तमान ज्ञान द्वारा पुष्टि होती है। हमने इस सम्प्रदाय पर एक स्वतन्त्र पुस्तक[2] लिखी है और इसलिये उसके परिणामो को यहाँ दोहराने की आवश्यकता नही है।

---

[1] Wissenschaft der Logik I p. 98

[2] The Conception of Buddhist Nirvana p 53

(ङ) हेराक्लिटस

बौद्धों के नित्य परिवर्तन के सिद्धान्त तथा, हेराक्लिटस के इफेसियन सत्त्वमीमांसा के सिद्धान्त के बीच उल्लेखनीय साम्य का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।[1] इससे भी अधिक उल्लेखनीय यह तथ्य है कि इस समान सत्त्वमीमांसा ने विरोध के नियम के सम्बन्ध में विरुद्ध परिणामों को उत्पन्न किया है। हेराक्लिटस इस नियम को सीधे अस्वीकार करता था, जब कि बौद्धों ने, जैसा कि हम देख चुके हैं, अपने क्षणिकवाद के सिद्धान्त की स्थापना में एक सशक्त तर्क के रूप में इसका आश्रय लिया है।

वास्तव में, बौद्धों की ही भाँति, हेराक्लिटस यह मानता था कि परमार्थ-सत् एक प्रवाहमान सत् है। इसमें कोई स्थायित्व है ही नहीं। इसकी या तो एक ऐसी प्रवाहमान नदी से तुलना की जा सकती है जो किसी एक स्थान विशेष पर कभी भी वही नहीं होती, अथवा एक अग्नि की लपट से जो एक बार उठती हैं और एक बार समाप्त हो जाती है।[2] ये स्फुरण एक गति से प्रगट होते हैं क्योंकि इनमें एक 'सामञ्जस्य', एक हेतु, एक 'लागस' होता है, सत् के प्रवाहमान स्फुरण को एक सामान्य नियम नियन्त्रित करता रहता है। इस सीमा तक तो यह सिद्धान्त बौद्धों से भिन्न नहीं है। सामञ्जस्य के एक सामान्य नियम के अधीन नित्य परिवर्तन के रूप में सत् की धारणा का हीनयान के उन क्षणिक धर्मों के साथ घनिष्ठ साम्य है जो प्रतीत्यसमुत्पाद की धर्मता के अनुसार प्रकट होते हैं। फिर भी दोनों में महान अन्तर यह है कि एक भौतिक दर्शनिक होने के कारण हेराक्लिटस एक ऐसी व्यापक पूर्वग प्रकृति में विश्वास करता था जिसमें सत् के परिवर्तन होने वाले स्फुरण विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार नित्य परिवर्तन का इनका सिद्धान्त बौद्धों की अपेक्षा साख्यों के अधिक निकट आता है। इनके फ्रैग्मेण्ट्स में न तो किसी विप्रकृष्ट द्रव्य का कोई चिह्न है और न सत् के निरपेक्ष क्षण के सिद्धान्त का ही कोई स्पष्ट संकेत है।[3] इनके तालबद्ध स्फुरण सम्भवत एक अवधि से युक्त यथार्थ के छोटे

---

[1] तुकी० ऊपर पृ १२३।

[2] Diels 30

[3] यद्यपि यह सिद्धान्त हेराक्लिटस के 'अवधि' की अस्वीकृत में लिप्त है, जिसके अनुसार "है" और "नहीं" दोनों ही समान तथा एक साथ ही सत्य हैं, जब कि दोनों में से कोई भी पृथक रूप से एक को वर्जित करके

एक ही समवायिकारण की अभिव्यक्ति होते हुये भी एककालिक नही है। कारण और कार्य के तादात्म्य की केवल कालधर्म की उपेक्षा करके ही स्थापना की जा सकती है। हेराक्लिटस द्वारा विरोध के नियम की सीधी अस्वीकृति, सर्वप्रथम, इस बात की उपेक्षा पर आधारित है जो बौद्धो के लिये यथार्थ का अनिवार्य भाग अर्थात् काल का क्षण है। कार्य कभी भी उसी क्षण के आधीन नही होता जिसके कि कारण होता है। प्रत्येक यथार्थ वस्तु वही तक यथार्थ है जहाँ तक वह कारण है, और कारण सदैव कार्य का पूर्ववर्ती क्षण होता है। हम देख चुके हैं कि इस बौद्ध दृष्टिकोण का तार्किक फल यथार्थ अवधि की पूर्ण अस्वीकृत और सर्वयथार्थता को क्षण मे परिणत कर देना है।

इस प्रकार स्थिति यह है कि प्रवाहमान यथार्थ के एक ही विचार ने हेराक्लिटस को विरोध के नियम को अस्वीकृत करने तथा बौद्धो को इसी नियम की स्थापना की ओर प्रवृत्त किया है।

वह विरुद्धत्व जो हेराक्लिटस को कारण और कार्य के बीच मिला है, वही है जैसा कि धर्मकीर्ति द्वारा प्रतिपादित विरुद्धत्व का प्रथम प्रकार।[1] यह एक गत्यात्मक अथवा वास्तविक विरुद्धत्व है, जैसे शीतल और उष्ण मे। इसका तार्किक विरुद्धत्व अथवा विरोध (लाक्षणिक विरोध) से विभेद करना चाहिये। धर्मकीर्ति का उदाहरण, शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श के विरोध का उदाहरण, हेराक्लिटस के उदाहरणो मे भी मिलता है। इस प्रकार का विरोध सब यथार्थ वस्तुओ के बीच नही बल्कि कुछ के बीच ही मिलता है। हम देख चुके हैं कि धर्मोत्तर किस प्रकार अन्धकार के प्रकाश में परिवर्तन की हेतुत्व के रूप मे व्याख्या करते हैं। कमलशील[2] इस बात पर जोर देते है कि इन उदाहरणो के लिये विरुद्धत्व अथवा विरोध जैसे शब्दो का प्रयोग सर्वथा भ्रामक है। इनका कहना है कि "कुछ वस्तुयें ऐसी हैं जो किन्ही अन्य वस्तुओ मे क्रमिक ह्रास की कारण हो जाती हैं, जैसे, उदाहरण के लिये, अग्नि ह्रास होते हुये शीत का कारण है। वस्तुओ के अन्य युग्मो, जैसे अग्नि और धूम, के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध नही होता। यद्यपि प्रथम उदाहरण मे हेतुत्व के अतिरिक्त और कुछ नही है, तथापि उस कारण को जो अपकर्ष का हेतु है, अज्ञानान्धकाराच्छन्न सामान्य मानवता असत्य रूप से विरुद्धत्व मान लेती है। इस प्रकार मनुष्य यह मान लेता है कि अग्नि शीत की विरोधी है, वायु प्रदीप का विरोधी है, आलोक अन्धकार का

---

[1] न्यायबिटी० पृ० ६८, अनुवाद पृ० १८७।

[2] अशत ऊपर पृ० ४९० पर उद्धृत।

विरोधी है। किन्तु परमार्थ सत् मे, परमार्थ वस्तुओ मे कोई वाध्य बाधक भाव नही हो सकता। सत् सर्वात्मना निष्पन्न होता है, और उसके स्वभाव को किसी अन्य मे परिवर्तित कर सकना शक्य नही है। यदि हम इन उभयत पाश को प्रस्तुत करें कि किसी वस्तु का परिवर्तन स्वय वस्तु से भिन्न कुछ होता है, अथवा वह भिन्न नही होता, तो भी दोनो दशाओ मे एक सत्ता को दूसरी सत्ता मे परिवर्तित नही किया जा सकता (सत्ता को अ-सत्ता मे परिवर्तित करना तो दूर की बात है)। वास्तव मे किसी असत् को किसी भी प्रकार किसी अन्य मे परिणत नही किया जा सकता क्योंकि वह असत् है। इस प्रकार, दोनो ही दशाओ मे (चाहे प्रतिरूप सत्ता हो या अ-सत्ता) कल्पित विरोध वास्तविक नही हो सकता। यही कारण है कि आचार्य ने विरोधी यथार्थताओ के विरोध का विवेचन करते समय इस प्रकार अपना विचार प्रकट किया है "जब कि अविकल कारण वाले विद्यमान पदार्थ का अन्य के उपस्थित होने पर सहसा अभाव हो जाय तब यह विकल्प होता है कि इन दोनो के बीच (वास्तविक) विरोध है, जैसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श का विरोध।" आचार्य कहता है कि यह 'विकल्प' होता है कि दोनो के बीच विरोध है। यहाँ विकल्प का आशय यह है कि यह हमारी प्रज्ञा द्वारा निश्चित होता है, इसका यह आशय नही है कि (क्षणो के रूप मे वस्तु-स्वलक्षणो के बीच) वास्तविक विरोध है।

जब शीत और उष्ण की एक ही विद्यमान द्रव्य के परिवर्तित होने वाले धर्मों के रूप मे कल्पना की जाती है तो इनके हेतुक रूप से अन्तर सम्बद्ध होने की कल्पना की जा सकती है, और कुछ सीमा तक, कालगत स्थिति की उपेक्षा के द्वारा दोनो को एकात्मक भी कहा जा सकता है, किन्तु यदि सत् या यथार्थ को क्षणिक माना जाय तो उसमे कोई वास्तविक विरोध नही हो सकता। तब विरोध केवल लाक्षणिक और इससे विरोध के नियम के अनुसार प्रज्ञा द्वारा कल्पित विकल्पो का ही तात्पर्य होगा।[1]

(च) हेराक्लिटस के फ्रैग्मेण्ट्स में हेतुत्व और तादात्म्य

हेराक्लिटस द्वारा कल्पित ऐसे विरुद्ध के अधिकाश उदाहरण जिन्हे वह वास्तव मे एकात्मक समझते हैं, हेतुत्व के उदाहरण हैं। नूतन और पुरातन, जीवन और मृत्यु, उष्ण और शीत, एक ही वस्तु मे परिवर्तन के उदाहरण हैं। हेतु अपने फल का सहसम्बन्धी होता है। अपने फल के बिना किसी

[1] तुकी० न्याबिटी० पृ० ७०, १३, अनुवाद पृ० १९६।

हेतु का अस्तित्व नहीं हो सकता। दोनों ही अन्योन्याश्रित होते हैं। तादात्म्य की धारणा की अस्पष्टता के कारण अन्योन्याश्रयत्व की सरलतापूर्वक एकत्व और तादात्म्य के रूप में व्याख्या की जा सकती है। फल अपने हेतु के "साथ" होता है। यतः फल की हेतु के बिना सत्ता नहीं हो सकती अतः ऐसा कहा जाता है कि वह अपने हेतु "में" विद्यमान अथवा पूर्व विद्यमान होता है। दर्शन का इतिहासकार "साथ" से "में" में यह संक्रमण हमारे ईसवीसन् से कई शताब्दी पूर्व सांख्यदर्शन में और योरप में १९ वीं ईसवी में हीगल के दर्शन में भी देखता है।[1] इस संक्रमण का यूनान में एरिस्टॉटिल ने उद्घाटन किया है, जिसने उन्हें अपने तादात्म्य के नियम के निर्धारण में काल की स्थिति के समावेश के लिये भी विवश किया है।

किन्तु हेगलिज़्म के विरुद्धों के सभी सन्निपात हेतुत्व के ही उदाहरण नहीं हैं। ये अनेक ऐसे एकात्मक विरुद्धों को उद्धृत करते हैं जिनकी हेतुत्व के रूप में विवेचना नहीं की जा सकती। पुण्य और पाप, स्वच्छ और गन्दा, सम्पूर्ण और भाग, एक और अनेक, इत्यादि में तादात्म्य है, किन्तु ये सभी हेतुत्व के, अर्थात् ऐसी दो वस्तुओं के उदाहरण नहीं हैं जो काल के अन्तर्गत एक दूसरे का अनिवार्य अनुगमन करती हों, बल्कि एकात्मक विपर्यात्मक सन्दर्भ के उदाहरण हैं जिनमें एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से

[1] तुकी० इनके फेनॉमेनॉलोजी (लासन का सं०, पृ० १०) की प्रस्तावना का प्रख्यात स्थल, जहाँ यह इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि कली फूल द्वारा हटाई और बाधित होती है, तथा फल फूल को पौधे की एक मिथ्या सत्ता बना देता है। आप कहते हैं कि "ये रूप केवल भिन्न ही नहीं हैं बल्कि एक दूसरे को अपदस्थ करते हैं और एक दूसरे के साथ असंगत हैं।" फिर भी एक आंगिक सम्पूर्णता के ये अनिवार्य अवयव हैं, और इसी आशय में पौधे के एक एकात्मक विकल्प में निहित होने के रूप में इनमें तादात्म्य है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार हीगल यहाँ इन चार बातों को विपर्यस्त करते हैं १) मात्र हेतुत्व का सम्बन्ध, जैसे अग्नि और धूम, २) प्रापक जुगुप्सा का सम्बन्ध, जैसे अग्नि और शीत, ३) विरोध, जैसे एक ही दृष्टि में और एक ही क्षण में शीत और अ-शीत, और ४) संक्रमण का वह तादात्म्य जिसमें वस्तु जैसा कि कमलशील प्रस्तुत करते हैं, स्वय अपने विनाश को व्यक्त करती है, अर्थात् सत्ता और अभाव एकीभूत हो जाते हैं। यह हमें परस्पर एक दूसरे के साथ होने और एक दूसरे में होने के रूप में विरुद्धों के बीच अभेद की ओर अग्रसर करता है।

भिन्न-भिन्न मान लिया गया है। एक वस्तु जो सामूहिक रूप से एकत्व है वही भागो से निर्मित होने के रूप मे विचार करने पर नानात्व से युक्त हो जाती है। एक ही वस्तु एक दृष्टिकोण से पुण्य होगी और दूसरे से पाप। इसी प्रकार एक ही वस्तु दो दृष्टिकोणो से स्वच्छ अथवा गन्दी, अनुकूल या प्रतिकूल, गतिशील अथवा शान्त इत्यादि हो सकती है। ये ऐसे उदाहरण हैं जिन्हे बौद्ध दृष्टिकोण से भी एकात्मक कहना चाहिये। हम देख चुके हैं कि तादात्म्य का आशय यहाँ विषयात्मक सन्दर्भ का तादात्म्य है। विषयात्मक यथार्थता, वस्तु, एक ही और वही है, अर्थात् तादात्म्ययुक्त है। उसकी आरोपित विशिष्टतायें भिन्न हैं अथवा दृष्टिकोण के अनुसार विरुद्ध तक हो सकती हैं। अनेक उन इतिहासकारो, दार्शनिको और भाषावैज्ञानिको से, जिन्होंने हेराक्लिटस के फ्रैगमेण्ट्स की विभिन्न व्याख्यायें दी है,[१] मुझे एक ऐसा भी मिला है जिसने उनके उदाहरणो के दो समूहो के बीच इस मौलिक अन्तर की ओर ध्यान आकर्षित किया है। जी० टी० डब्लू० पैट्रिक[२] कहते है कि "इन फ्रैगमेण्ट्स मे विरुद्धो के दो स्पष्ट वर्ग हैं जिन्होने यद्यपि हेराक्लिटस की बुद्धि मे अस्तव्यस्त होते हुये भी, ऐतिहासिक दृष्टि

[१] यह कि व्याख्या मे अत्यधिक विचलन है, बहुत आश्चर्यजनक नही है, विशेषत तब जब हम इस पर भी विचार करते हैं कि स्वय अपने समय मे भी हेराक्लिटस एक 'स्पष्ट' दार्शनिक के रूप मे विख्यात था, और इस पर भी कि उसकी कृतियो के केवल थोडे से फ्रैगमेण्ट्स ही हम तक पहुँच सके हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है—जे० एस० मिल के अनुसार—कि "पूर्वगामियो के मत के सम्बन्ध मे ज्ञान की शुद्धता की कोई भी ऐसी सीमा नही है, जो किसी विचारक को स्वय उसके अपने मन मे उपस्थित विचारो की अस्तव्यस्तता का निरास कर के उसे उनके अर्थों की एक भ्रामक व्याख्या करने से विरत कर सके।" प्रसिद्ध एफ० लसाले ने इन फ्रैगमेण्ट्स में एक पूर्ण विकसित हीगल को पढा है, और हमारे अपने समय मे, अथवा अत्यन्त परिश्रमपूर्वक और व्यापक रूप से रचित कृति मे, एम० ए० डाइनिक (मास्को, १९२९) भी इन फ्रैगमेण्ट्स मे एक पूर्ण विकसित कार्लमार्क्स को पढते हैं। ऐसी अतिरंजनाओ के सम्बन्ध मे स्वय मार्क्स के क्या विचार थे उन्होने एन्जेल को लिखे पहली फरवरी, १८५८ के एक पत्र मे उल्लेख किया है।

[२] 'नेचर' पर हेराक्लिटस की कृतियो के दो फ्रैगमेण्ट्स, बाल्टीमोर, १८८९, पृ० ६३।

से विकास के दो भिन्न पथो को अग्रसर किया है। प्रथम, विरुद्धो का वह एकत्व है जो इस तथ्य का परिणाम है कि ये दोनो अनन्त रूप से एक दूसरे मे प्रवाहित हो रहे हैं... दोनो एक ही हैं क्योकि दोनो एक दूसरे के पारस्परिक परिवर्तन हैं। किन्तु अब हमारे समक्ष विरुद्धो का एक अन्य वर्ग है जिसके लिये यह तर्क व्यवहृत नही हो सकता। इनका कहना है कि "पाप और पुण्य दोनो एक ही है।" यह विरुद्धो का वह तादात्म्य है जो सापेक्षवाद के प्रोटोगोरियन सिद्धान्त मे विकसित हुआ था। विरुद्धो के तादात्म्य के इस द्वितीय वर्ग के विरुद्ध रक्षा करने के लिये ही एरिस्टॉटिल ने अपने नियम मे "एक ही दृष्टि से" का समावेश किया था। एकात्मक विरुद्धो के इस वर्ग का अत्यन्त मुखर उदाहरण 'एक' और 'अनेक' का तादात्म्य है। यह एक ऐसा तादात्म्य है जिसने प्लेटो की बुद्धि को भी भ्रमित कर दिया था और जिसकी उन्होनें अपनी कृति के कुछ सर्वाधिक विवेकपूर्ण पृष्ठो में विवेचना की है। दोनो ही वर्ग इस दृष्टि से एकीकृत हैं कि इन्हे सदैव सत्ता और अभाव के तादात्म्य के रूप मे घटाया जा सकता है। हेराक्लिटस कहते हैं कि "एक ही नदियो मे उतरते समय हम उनमे एक साथ उतरते और नही भी उतरते हैं, हमारी उनमे सत्ता होती है और सत्ता नही भी होती है।"[1] विरुद्धो का तादात्म्य सत्ता और अभाव का तादात्म्य है, जो हीगल का मौलिक मत है। एरिस्टॉटिल तथा आधुनिक तर्कशास्त्री भी इनका यह कहकर विरोध करते हैं कि एक ही वस्तु का "१) एक ही समय मे और २) एक ही दृष्टि से सत्ता तथा अभाव दोनो नही हो सकता।"

यहाँ भारतीय दृष्टिकोण से जो कौतूहलवर्धक है वह यह तथ्य है कि हम उन तथ्यो की द्विविध प्रकृति मे, जिन पर ही विरोध के नियम की हेराक्लिटस की अस्वीकृति आधारित है, तथा साथ ही साथ एरिस्टॉटिल के इसके निर्धारण मे दो ऐसे आधारभूत सम्बन्धो के बीच अन्तर को स्पष्ट देख सकते हैं जिनपर समस्त तर्कना, बल्कि समस्त विचारणा आधारित है। ये सम्बन्ध हेतुत्व और तादात्म्य के हैं। अन्योन्याश्रयत्व के ये दो अनिवार्य और सामान्य सम्बन्ध ऐसे हैं जो पदार्थो की भारतीय तालिका तथा, साथ ही साथ, अनुमान के भारतीय सिद्धान्त के भी आधार हैं।

(छ) इलियाटिक[2] विरोध का नियम

ऊपर उद्धृत[3] कमलशील के स्थल पर हमे एक ऐसा तर्क मिलता है जो

---

[1] फ्रैग्मेण्ट्स, ४९।

[2] इलिया से सम्बद्ध यूनानी दार्शनिको का एक सम्प्रदाय।

[3] तुकी० पृ० ४०८ और ४२७।

भारतीय दर्शन मे अवसर ही प्रयुक्त हुआ है। यह तर्क अपने प्रगट स्वरूप मे प्राय वैसा ही प्रतीत होता है जैसा कि एरिस्टॉटिल के पूर्व यूनानी दर्शन मे भी प्रचलित था। यह तर्क यह कहता है कि "वस्तु के स्वभाव को कभी भी परिवर्तित नही किया जा सकता"। यदि कोई वस्तु स्वभावत एक सत्ता है तो उसे अ-सत्ता मे कभी भी परिवर्तित नही किया जा सकता। अ-सत्ता कुछ नही है;[1] वह न तो हेतुक दृष्टि से प्रापक होती है, न विचारणीय है और न उसका उपदेश ही किया जा सकता है। किसी वस्तु का स्वभाव बस उसका स्वभाव ही होता है क्योकि वह काल और सापेक्षता के आधीन नही होता। यदि कोई एकत्व है, यदि वह एक है, तो उसे सर्वात्मना[2] ऐसा होना चाहिये, अर्थात वह अनिवार्यत, सर्वेव के लिये और निरपवाद रूप से "नानात्व" नही हो सकता। ससार के सैकडो कुशल व्यक्ति मिलकर भी किसी नील स्वभाव को पीत मे,[3] अथवा किसी एकत्व को अ-एकत्व मे परिणत नही कर सकते। स्पष्ट रूप से स्वीकृत यह सिद्धान्त ही इसका कारण है कि क्यो हेराक्लिटस ने इस बात को विरोध के रूप मे ग्रहण किया कि एक ही वस्तु उष्ण और अ-उष्ण, सम्पूर्ण और भाग, एकत्व और नानात्व, इत्यादि, नही हो सकती। और यही वह कारण है जिससे एरिस्टॉटिल ने, इस सिद्धान्त के विरुद्ध युद्ध करते हुये, किसी वस्तु के तादात्म्य को काल और सम्बन्ध की स्थितियो से सीमित करने की आवश्यकता का अनुभव किया था। कोई वस्तु एक ही समय मे और एक ही दृष्टि से सत्ता और अ-सत्ता नही हो सकती। एरिस्टॉटिल के पहले यह समस्या समाधान के योग्य ही नही प्रतीत होती थी। पर्मेनाइडिस यह मानता था कि "अ-सत्ता की सत्ता नही होती", और यत सभी सापेक्ष और परिवर्तनशील वस्तुओ मे किसी न किसी रूप मे अभाव निहित था, अत इसने यह माना कि केवल गतिरहित सम्पूर्ण की ही वास्तविक सत्ता है। प्लेटो इस त्रिविधपाश, Est unum, Non est unum, Est Multa, Non est Multa,[4] का समाधान ढूंढने मे भ्रमित थे क्योकि unum और Multa इनके लिये ऐसे निरपेक्ष रूप थे जो सापेक्ष तथा परिवर्तनशील नही हो सकते थे। इसी कारण ये गति से विराम पर सक्रमण की व्याख्या करने मे भी भ्रमित थे।

---

[1] तुकी० तसप० पृ० १५७७ "असतो अवस्तुत्वान् न किंचित् क्रियते।"

[2] वही।

[3] तात्टी० पृ० ३३९ ११।

[4] तुकी० ग्रोट प्लेटो, २, पृ० ३०२ और बाद।

यत गति अ`र विराम इनके लिये निरपेक्ष रूप थे, और ससार का कोई भी कुशल व्यक्ति गति के रूप या स्वभाव को अ-गति मे परिवर्तित नही कर सकता था, अत यह सक्रमण उतना ही अकल्पनीय हो जाता है जितना सत्ता से अ सत्ता पर सक्रमण।

इस प्रकार, यूनानी दर्शन मे हमे एरिस्टॉटिल के पहले विरोध का एक ऐसा नियम मिलता है जो एरिस्टॉटेलियन नियम से सर्वथा भिन्न है। श्री स्वेण्ड रेनफ, जिन्होने अभी हाल मे इस समस्या पर एक विस्तृत और गहन अध्ययन किया है, दोनो परस्पर विरोधी नियमो का इस प्रकार वर्णन करते हैं। एरिस्टॉटिल से पहले का नियम यह कहता है कि "अ-सत्ता कभी भी सत्ता नही है। किसी भी दृष्टि से, किसी भी प्रकार, किसी भी समय, और किसी भी स्थिति मे यह सत्ता नही है[1]।" एरिस्टॉटिल भी यह कह सकते थे कि "अ-सत्ता का कोई अस्तित्व नही है', किन्तु इसका उनके अनुसार यह अर्थ होगा कि "जो किसी दृष्टि से, किसी समय विशेष पर, और किसी स्थिति मे, इत्यादि, एक अ-सत्ता है वह उसी दृष्टि से, उसी समय मे और उसी स्थिति मे एक सत्ता भी नही हो सकता,' अथवा जैसा कि वह इसे प्रस्तुत करते हैं कि "यह असम्भव है कि एक ही और उसी वस्तु का एक ही समय और एक ही दृष्टि से अस्तित्व और अभाव दोनो हो।" श्री स्वेण्ड रेनफ इस मान्यता को व्यक्त[2] करते हैं कि "निरपेक्ष विकल्पो का तर्कशास्त्र"[3] योरप तक ही सीमित नही है। इनका विचार है कि "बहुत सम्भवत हमे यह तर्कशास्त्र कही अधिक विस्तृत स्तर पर और योरप की अपेक्षा कम सीमित मात्रा मे भारतीय दर्शन मे प्रचलित मिलेगा।" अब, जहाँ तक बौद्धो का सम्बन्ध है, यह अत्यधिक उल्लेखनीय है कि उसी तर्क का जिसका पर्मेनाइडिस ने अपने एकतत्त्ववाद की स्थापना के लिये और प्लेटो ने अपने नित्य आकारो की स्थापना के लिये प्रयोग किया है, बौद्धो ने एक सर्वथा विरुद्ध उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रयोग किया है। ऊपर उद्धृत कमलशील का स्थल अपने तर्क द्वारा क्षणिकवाद के सिद्धान्त की पुष्टि करना चाहता है। हम उसे देख चुके है जिस प्रकार बौद्ध तर्क अग्रसर होता है। यदि यथार्थता परिवर्तित होती रहती है तो वह सदैव और अनिवार्यत परिवर्तनशील है। वह स्वय परिवर्तन

---

[1] स्वेण्ड रेनफ इबी० पृ० १६०।

[2] वही, पृ० २०७।

[3] Die Logik der Absoluten Vieldeutigkeit, जैसा कि वह इसे पुकारते हैं।

ही है, क्योकि सत्ता का अर्थ परिवर्तन है। यदि वह, यहाँ तक कि, क्षण में भी परिवर्तित नही होती तो वह कभी भी परिवर्तित होगी ही नही। अत एक ही वस्तु उष्ण और फिर शीतल नही हो सकती। जो उष्ण है उसका उष्ण स्वभाव है, वह "सम्पूर्णत," अर्थात सदैव के लिये उष्ण है। बौद्धो के लिये परिणाम यह है कि उष्ण और शीत दो भिन्न वस्तुयें हैं। भिन्न कभी भी एक नही हो सकते। "विरुद्ध धर्म के ससर्ग से कोई वस्तु अन्य वस्तु हो जाती है"[1]—ऐसा बौद्धो का विरोध का नियम है।

(ज) प्लेटो

बौद्ध पद्धति की प्लेटो की पद्धति से तुलना करते समय इन बातो पर हमारा ध्यान अवश्य जाना चाहिये —

१) दोनो ही पद्धतियाँ ग्राह्य जगत के प्रवाहमान यथार्थ से और उसके आकारो अथवा विकल्पो के अविकार्य स्थायित्व से सम्बद्ध हैं।

२) इसलिये प्रत्येक ज्ञान इस निश्चय के उदाहरण मे परिणत हो जाता है कि "प=क"[2], जिसमे 'क' नित्य अविकार्य हैं, यह सदैव 'क' ही रहता है और कभी भी 'अ-क'[3] मे परिवर्तित नही हो सकता, जब कि 'प' नित्य परिवर्तनशील है, यह कभी भी वही 'प' नही रहता और सदैव 'प' से 'अ-प' मे सक्रमित होता रहता है।

३) किन्तु दोनो जगतो का सम्बन्ध बौद्ध दर्शन मे उसका ठीक उल्टा है जो प्लेटो मे मिलता है। आकार का जगत प्लेटो के लिये आधारभूत है और सतत् परिवर्तनशील इन्द्रियग्राह्य यथार्थता इसका क्षीण प्रतिभास है। बौद्ध नैयायिको के लिये, इसके विपरीत, स्पष्टार्थता ही आधारभूत जगत है, जबकि स्थिर विकल्प इसके अस्पष्ट और सामान्य प्रतिभास हैं।

४) इसलिये परमार्थ जगत, प्लेटो के लिये आकारो का बोधगम्य जगत है, परिवर्तन का इन्द्रियग्राह्य जगत इनके लिये परमार्थ असत् है। इसके विपरीत, बौद्धो के लिये परमार्थसत् नित्य परिवर्तन मे निहित इकाई है, यह इन्द्रियग्राह्य क्षण है। दूसरी ओर स्थायी विकल्पो का जगत इनके लिये केवल कल्पना मे ही विद्यमान रहता है।

---

[1] 'विरुद्ध-धर्म-ससर्गाद् अन्यद् वस्तु', तुकी न्याबिटी० पृ० ४२।

[2] तुकी० नप्ले० पृ० १५१,१५२,३९०,४०३, ४०८।

[3] वही, पृ० १५५।

निर्धारण के अनुसार कोई सत्ता केवल दो ही स्थितियो मे, अर्थात् "एक ही समय मे" और "एक ही दृष्टि से" अ-सत्ता नही हो सकती।[1]

८) विरोध का बौद्ध नियम इलियाटिक नियम का एक विरुद्ध उपनिगमन है। जिस प्रकार इलियाटिको के लिये केवल नित्य सत्ता ही अविरुद्ध होती है, ठीक उसी प्रकार बौद्धो के लिये केवल इन्द्रिय-ग्राह्य क्षण ही अविरुद्ध होता है। प्रत्येक अवधि, प्रत्येक विस्तार, प्रत्येक निश्चितता प्रत्येक विकल्प मे अनिवार्यत विरोध होता है क्योकि यह "अन्यत्व" से युक्त होता है अर्थात् अनन्तरत्व के साथ सत्ता और अ सत्ता दोनो से युक्त होता है।

इस प्रकार, स्थिति यह है कि प्लेटो और बौद्ध दोनो ही इस बात पर सहमत हैं कि जब यथार्थता के प्रति तर्क का प्रयोग होता है तब विरोध उत्पन्न होता है।[2] बौद्ध कहते हैं कि यह प्रयोग केवल अत्यन्त विलक्षण वस्तुओ मे सालक्षण्य[3] के विकल्प द्वारा ही सम्भव होता है। ग्राह्य यथाथता मे विरुद्ध धर्मों का एक सतत मिश्रण होता रहता है, अर्थात् विरुद्धत्व की प्रचुरता होती है। एक ही वस्तु एकत्व और नानात्व, बडी और छोटी, पाप और पुण्य, इत्यादि, इत्यादि, प्रतीत होती है। किन्तु शुद्ध विकल्पो मे, 'स्वय' विकल्पो मे, प्लेटो के अनुसार कोई विरोध नही होता।[4] बौद्धो के अनुसार स्वलक्षण वस्तुओ, अर्थात् विशुद्ध विज्ञान और उन क्षणो मे जो सत्त्वमीमासा-त्मक दृष्टि से इनके अनुरूप होते हैं, कोई विरोध नही होता।[5]

---

[1] नप्ले० पृ० १९७, तुकी० एस० रेनफ उपु० पृ० १५६

[2] एस० रेनफ उपु० पृ० १५३।

[3] अत्यन्त-विलक्षणानाम् सालक्षण्यम्=सारूप्यम्। इस प्रकार प्लेटो का *παρουσια* सस्कृत 'सारूप्य' के अनुरूप है। तुकी० एस० रेनफ उपु०पृ० १८०।

[4] नप्ले० पृ १९७, एस रेनफ उपु० पृ० १५३।

[5] ब्राड्ले उपु० पृ० १४८, इस बात मे प्रत्यक्षत काण्ट के विचार से सहमत हैं जिसका हीगेल के विरुद्ध बौद्धों के साथ कुछ साम्य है। आप एक कल्पित हीगल को इस प्रकार अपनी भर्त्सना करते हुये प्रस्तुत करते हैं "और तब इस निकृष्ट प्रेत-वस्तु स्वलक्षण को विरोध से बचाने के लिये तुम सम्पूर्ण संवृत जगत् को, उस सत्व को जो तुम जानते हो या जान सकते हो, सर्वथा अस्त-व्यस्तता मे फेक देने के लिये तैयार हो।" मैं नही जनता कि ब्राड्ले का उस समय क्या मत रहा होता जब वह बौद्धो की वस्तु-स्वलक्षण की धारणा से परिचित होते। सम्पूर्ण जगत को अस्तव्यस्तता मे नही फेंका गया है, वल्कि क्षण के परमार्थ सत्, जो द्वन्द्वात्मक नही है, और समस्त

साथ ही यह अभाव भी है क्योंकि जिस क्षण यह प्रगट होता है उसी क्षण अदृश्य भी हो जाता है जिसके बाद दूसरा क्षण इसका अनुगमन करता है। सहसा परिवर्तन का प्लेटो का क्षण वही है जिसे बौद्ध 'विजातीय क्षण उत्पाद' कहते हैं, किन्तु यह स्वयं अपने मे नही बल्कि गत क्षणो की एकीकृत शृङ्खला के सम्बन्ध मे ही विजातीय होता है। प्लेटो एक विशेष आकार के रूप मे काल के विषयात्मक यथार्थ को स्वीकार करते हैं। इस काल की बौद्धो के लिये कोई सत्ता नही है। प्रत्येक क्षण परिवर्तन का क्षण है। इस प्रकार परिवर्तन ही सत्ता का नित्य रूप हो जाता है। जिसे प्लेटो स्पष्ट अथवा आमूल परिवर्तन की व्याख्या करने वाले क्षण के रूप मे मानने के लिये प्रवृत्त हुये वह सतत् प्रवाहमान है, वह विशुद्ध सत्ता है, वह नियत आकारो के जगत् मे अन्तर्निहित सूक्ष्म परिवर्तन है। परिवर्तन का यह निरपेक्ष क्षण है, विरोध के एरिस्टॉटेलियन नियम के लिये एक चुनौती है क्योंकि यह एक साथ ही सृजन और विनाश से, सत्ता और अभाव से युक्त है। ग्रोट यह ठीक ही टिप्पणी करते हैं कि "यह उस सिद्धान्त का एक उदाहरण प्रतीत होता है जिसका लासेल हेराक्लिटस को श्रेय देते हैं, अर्थात् प्रतिषेधात्मकता और विधायकता का सतत् अभिप्राय, प्रत्येक विशेष का सामान्य में सतत् विलय, और एक विशुद्ध विशेष के रूप मे सतत् पुनर्प्राकट्य"[१]। हेराक्लिटस की इस व्याख्या में लासेल, जैसा कि सुविज्ञात है, केवल अपने गुरु हीगल के चरण-चिह्नो का अनुसरण करते हैं जिसने विरोध के नियम की अपनी अस्वीकृत को हेराक्लिटस के *εναντιοδρομια* के साथ समीकृत किया था।

इस प्रकार, भारतीय दर्शन मे हमे तादात्म्य और अ-तादात्म्य, परिवर्तन रहित स्वभावो का निरपेक्ष तादात्म्य और परिवर्तनशील ग्राह्य यथार्थ का निरपेक्ष अ-तादात्म्य, दोनो ही मिलता है। क्षणिकवाद के सिद्धान्त की पुष्टि में दोनो का ही उपयोग किया गया है। इनमे से प्रथम इलियाटिक विरोध के नियम के समान है। द्वितीय की बौद्धविरोध के नियम द्वारा पुष्टि होती है।

(झ) काण्ट और सिग्वर्ट

"विरोध रहित" यथार्थ विरुद्धत्व तथा "विरोध के द्वारा" तार्किक विरुद्धत्व के बीच स्पष्ट विभेद, जिस विभेद पर धर्मकीर्ति ने अत्यधिक जोर दिया है, को अशत उन्ही तर्कों और उदाहरणो के साथ काण्ट ने

---

[१] जी० ग्रोट प्लेटो २, पृ० ३०९ नोट।

सिद्धान्त का, जो "विशुद्ध तार्किक" है, प्रत्यक्षत वही अर्थ है जो श्री स्वेण्ड रेनफ निरपेक्ष विकल्पो के तर्क का अर्थ मानते हैं।[1]

यह इस नियम के इलियटिक निर्धारण पर ही लौट आता है। "क अ-क नही है" यह तार्किक दृष्टि से पर्मेनाइडिम के *ουχ εστι μη ειναι* के ममान है। काण्ट व्याख्या करते हुये कहते हैं. "यदि मैं यह कहना चाहूँ कि एक व्यक्ति जो अविद्वान है, वह विद्वान नही है, तो मुझे इस स्थिति को भी जोडना होगा कि "एक ही समय मे" क्योकि कोई व्यक्ति जो किसी एक समय मे अ-विद्वान् है, दूसरे ममय मे विद्वान् हो सकता है। किन्तु यदि मैं कहू कि "कोई अविद्वान् व्यक्ति विद्वान नही है," तब यह तर्कवाक्य विभागात्मक होगा क्योकि "विद्वानत्व" की विशिष्टता अब उद्देश्य के विकल्प का अग बन जाती है जिसमे कि प्रतिषेधात्मक तर्कवाक्य, विरोध के नियम से और "एक ही समय मे" की स्थिति को जोडे बिना ही साक्षात् प्रत्यक्ष हो जाता है।

इस समस्या मे भारतीय तर्कशास्त्र की दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण है वह अकेले स्वय विरोध का नियम नही बल्कि वह प्रकाश भी है जो यह बौद्धो के आशय मे निश्चय तथा अनुमान के सिद्धान्त पर डालता है। सिग्वर्ट काण्ट के निर्धारणो का विरोध करते हुये उनके द्वारा एरिस्टॉटिल के सूत्र को सम्बोधित आपत्तियो को अस्वीकृत करते हैं। सिग्वर्ट का विचार है कि काण्ट का सूत्र एरिस्टॉटिल से सर्वथा भिन्न है। अत काण्ट की आलोचना "केवल हवा मे प्रहार" मात्र है। काण्ट ठीक ही यह टिप्पणी करते हैं कि एरिस्टॉटिल का सूत्र दो ऐसे विधेयो का द्योतक है जो विरोधी हैं। इन्हे एक ही और उसी उद्देश्य के लिये एक साथ तो व्यवहृत नही किया जा सकता किन्तु ये क्रमिक रूप से व्यवहृत हो सकते हैं। अत आप विधेयो मे से एक को उद्देश्य मे परिणत कर देते हैं और इस प्रकार दो विकल्पो के निश्चय का निर्माण करते हैं. "क' 'अ-क' नही है"। तब निश्चय विभागात्मक विशुद्ध तार्किक हो जाता है और काल द्वारा प्रभावित नही होता। इस रूप मे यह विकल्पो का उनकी निरपेक्ष स्थिति मे द्योतक है। एरिस्टॉटिल की दृष्टि में जो था वह इससे सर्वथा भिन्न है। उनकी दृष्टि मे दो निश्चय थे जिनमे मे एक दूसरे के द्वारा नष्ट हो जाता है। अब, भारतीय दृष्टिकोण से

[1] Logik der absoluten Vieldeutigkeit (=Eindeutigkeit) der Begriffe

सिद्धान्त का, जो "विशुद्ध तार्किक" है, प्रत्यक्षत वही अर्थ है जो श्री स्वेण्ड रेनफ निरपेक्ष विकल्पो के तर्क का अर्थ मानते हैं।[1]

यह इस नियम के इलियटिक निर्धारण पर ही लौट आता है। "क अ-क नही है" यह तार्किक दृष्टि से पर्मेनाइडिम के *ουχ εστι μη ειναι* के समान है। काण्ट व्याख्या करते हुये कहते हैं "यदि मैं यह कहना चाहूँ कि एक व्यक्ति जो अविद्वान है, वह विद्वान नही है, तो मुझे इस स्थिति को भी जोडना होगा कि "एक ही समय मे" क्योकि कोई व्यक्ति जो किसी एक समय मे अ-विद्वान् है, दूसरे समय मे विद्वान् हो सकता है। किन्तु यदि मैं कहू कि "कोई अविद्वान् व्यक्ति विद्वान नही है," तब यह तर्कवाक्य विभागात्मक होगा क्योकि "विद्वानत्व" की विशिष्टता अब उद्देश्य के विकल्प का अग बन जाती है जिसमे कि प्रतिषेधात्मक तर्कवाक्य, विरोध के नियम से और "एक ही समय मे" की स्थिति को जोडे बिना ही साक्षात् प्रत्यक्ष हो जाता है।

इस समस्या मे भारतीय तर्कशास्त्र की दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण है वह अकेले स्वय विरोध का नियम नही बल्कि वह प्रकाश भी है जो यह बौद्धो के आशय मे निश्चय तथा अनुमान के सिद्धान्त पर डालता है। सिग्वर्ट काण्ट के निर्धारणो का विरोध करते हुये उनके द्वारा एरिस्टॉटिल के सूत्र को सम्बोधित आपत्तियो को अस्वीकृत करते हैं। सिग्वर्ट का विचार है कि काण्ट का सूत्र एरिस्टॉटिल से सर्वथा भिन्न है। अत काण्ट की आलोचना "केवल हवा मे प्रहार" मात्र है। काण्ट ठीक ही यह टिप्पणी करते हैं कि एरिस्टॉटिल का सूत्र दो ऐसे विधेयो का द्योतक है जो विरोधी हैं। इन्हे एक ही और उसी उद्देश्य के लिये एक साथ तो व्यवहृत नही किया जा सकता किन्तु ये क्रमिक रूप से व्यवहृत हो सकते हैं। अत आप विधेयो मे से एक को उद्देश्य मे परिणत कर देते हैं और इस प्रकार दो विकल्पो के निश्चय का निर्माण करते हैं : "क' 'अ-क' नही है"। तब निश्चय विभागात्मक विशुद्ध तार्किक हो जाता है और काल द्वारा प्रभावित नही होता। इस रूप मे यह विकल्पो का उनकी निरपेक्ष स्थिति मे द्योतक है। एरिस्टॉटिल की दृष्टि मे जो था वह इससे सर्वथा भिन्न है। उनकी दृष्टि मे दो निश्चय थे जिनमे मे एक दूसरे के द्वारा नष्ट हो जाता है। अब, भारतीय दृष्टिकोण से

[1] Logik der absoluten Vieldeutigkeit (=Eindeutigkeit) der Begriffe

दो विकल्पो का निश्चय व्याप्ति का निश्चय और इसलिये एक अनुमानात्मक निश्चय अथवा अनुमान, या एक साध्य-आधारवाक्य है। यह वास्तव मे दो निरपेक्ष विकल्पो का एक विभागात्मक सयोग है। इस प्रकार का सयोग कालगत स्थितियो पर निर्भर नही करता। किन्तु कालगत स्थित उस समय पुन प्रगट होगी जब विकल्पो को यथार्थता मे सम्बद्ध किया जायगा, और यह कार्य सदैव पक्ष-आधारवाक्य तथा निष्कर्ष मे किया जाता है। वास्तव मे तब हमे निम्नलिखित निर्धारण मिलेगा —

साध्य-आधारवाक्य जो विद्वान है वह अविद्वान नही है ('क' 'अ-क' नही है)।

पक्ष-आधारवाक्य यह एक व्यक्ति विद्वान (एक विशेष विषय मे) है।

निष्कर्ष यह अ-विद्वान नही है (एक ही समय में और एक ही विषय की दृष्टि से)।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार उपयुक्त निश्चय सदैव ही इस 'तथता' धर्म द्वारा व्यक्त होता है जो काल-स्थिति से युक्त होता है। विरोध का नियम दो ऐसे निश्चयो का द्योतक है जो विरोधी हैं, जैसे "यह (यहाँ, अभी विद्वान है", "यह (यहाँ, अभी) विद्वान नही है"[1]।

सिग्वर्ट[2] का दृष्टिकोण बिल्कुल भारतीय के समान है। आप पूछते हैं कि "काण्ट का उदाहरण कि "एक अ-विद्वान मनुष्य विद्वान है" एक विरोध से युक्त है? क्योंकि विधेय 'विद्वान' एक ऐसे उद्देश्य के लिये व्यवहृत है जो निहित रूप से एक अन्य निश्चय, वह विद्वान नही है, से युक्त है"। काण्ट का उदाहरण दो निश्चयो मे कि "क विद्वान है" और "क विद्वान नही है" मे आक्रत्यन्तर्गत हो जाता है। यह अपने में इन दोनो निश्चयों की विधि से युक्त है केवल इसीलिये यह विरोध से युक्त है।

उद्देश्य को 'क'[3] सकेत द्वारा व्यक्त करने तक तो सिग्वर्ट के तर्क का भारतीय के साथ सन्निपात पूर्ण है। यह उनके इस सामान्य मत से भी

---

[1] प्रसगश काण्ट यहाँ दो विकल्पो के निश्चय को, अर्थात् विकल्पो को एकीकृत करनेवाले निश्चय को, दो विधेयो का निश्चय कहते है। इनका यह कथन है - "भ्रम केवल इस स्थिति से उत्पन्न होता है कि प्रथम और द्वितीय विधेय, दोनो एक ही समय व्यवहृत हैं।" (तुकी० क्रिरी० पृ० १२५)

[2] लॉजिक, ११८६।

[3] किंचिद् इदम्।

सहमत है कि "सभी यथार्थ और वास्तविक निश्चय" अनिश्चित उद्देश्य से युक्त होते हैं। उदाहरण के लिये, यह निश्चय कि "यह गुलाब पीला है" इस प्रत्यक्षात्मक अथवा यथार्थ निश्चय मे आकृत्यन्तरित होता है कि "यह पीला है"।[1] वास्तविक तार्किक उद्देश्य सदैव ही प्रतिपादक "यह" से व्यक्त होता है और यह अनुमित होता है कि विषयात्मक यथार्थता के लिये उद्दिष्ट प्रत्येक विकल्प एक विधेय है। भारतीय दृष्टिकोण से यह मानने मे काण्ट सर्वथा ठीक है कि एरिस्टॉटिल का सूत्र दो विधेयो का द्योतक है, किन्तु इन विधेयो मे से एक को उद्देश्य में परिणत कर देने मे ये ठीक नही हैं।[2]

---

[1] लॉजिक, १.१४२।

[2] यह कुछ कौतूहलवर्धक ही है कि, एरिस्टॉटिल द्वारा विरोध के नियम के निर्धारण जैसे मौलिक प्रश्न पर योरोपीय शास्त्र के दो प्रमुख उन्नायको, काण्ट और सिग्वर्ट, के बीच विवाद की कोई प्रतिक्रिया नही हुई। तर्कशास्त्र के किसी भी परिवर्ती लेखक ने, जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस विवाद मे हस्तक्षेप करने की या सिग्वर्ट और एरिस्टॉटिल का अथवा काण्ट का पक्ष लेने की परवाह नही की। बी० अर्डमैन (लॉजिक, पृ० ५११ और ५१३) ने बिना किसी तर्क के, और दो सूत्रो के आरम्भकर्ताओ का उल्लेख किये बिना ही, दोनो को प्रस्तुत किया है। फिर भी इन्होने बात को इस प्रकार से प्रस्तुत किया है जिससे ऐसा पतीत होता है काण्ट का सूत्र आधारभूत है और एरिस्टॉटिल का सूत्र उसका परिणाम। इसके ठीक विपरीत जे० एन० कीन्स (उपु० पृ० ४५५) का मत प्रतीत होता है। ब्राड्ले (उपु० पृ० १४६) की टिप्पणियाँ सम्भवत सिग्वर्ट के उत्तर के रूप मे उद्दिष्ट हैं। जे० एस० मिल उस समय भारतीय समाधान के अत्यन्त निकट आ जाते है जब वह यह कहते हैं (हैमिल्टन के दर्शन की समीक्षा, अध्याय २१ मे) कि "प्रामाणिक तर्कना प्रतिषेधात्मक विकल्प है"। किन्तु अपने लॉजिक (२ ७, §५) मे इनका विचार है कि विरोध का नियम अनुभव से सामान्यीकरण है। ए० फाण्डर (लॉजिक पृ० ३४२) सिग्वर्ट के सूत्र को स्वीकार करते प्रतीत होते है। हमे ऐसी आशा थी कि ये काण्ट के सूत्र को ही विशुद्ध तार्किक (विभागात्मक) के रूप मे ग्रहण करेंगे। ये सिग्वर्ट के अनुपलब्धि के सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक होने के रूप मे प्रतिवाद (पृ० २२८) करते हैं और अनुपलब्धि की कोई व्याख्या नही करते।

(ञ) विरोध का एरिस्टॉटिल का सूत्र और धर्मकीर्ति का सम्बन्धों का सिद्धान्त

निश्चय, अनुमान (व्याप्ति) सम्बन्ध, और विरोध के इन सभी भारतीय सिद्धान्तो मे एक आन्तरिक और स्वाभाविक सम्बन्ध है। और यदि हम विरोध के एरिस्टॉटेलियन सूत्र को ध्यान से देखें तो हमे भारतीय सिद्धान्त की आत्मा इसके पर्दे के पीछे स्थित मिलेगी। वास्तव मे, उस समय सिग्वर्ट ठीक थे (उससे कहीं अधिक ठीक जितना उन्हे विश्वास था) जब उन्होने यह माना कि यह तर्कवाक्य कि "विद्वान मनुष्य अविद्वान नहीं है", दो निश्चयो जैसे "क विद्वान है" और "क अ-विद्वान है" से युक्त है। क्योंकि जैसा कि काण्ट ने स्पष्ट रूप से देखा था, कोई भी निश्चय अन्त प्रज्ञा की विविधता को एक सामान्य विकल्प के आधीन कर देने मे निहित है। अत यह सदैव इस रूप मे आकृत्यन्तरित हो जाता है कि 'क' 'ख' है। यह एक विकल्प का निश्चय है। दो विकल्पो को, या तो विभागात्मक अथवा एकीकरणात्मक सिद्धान्त के अनुसार सयुक्त करने वाला निश्चय, सिग्वर्ट ठीक ही मानते हैं कि, अनिवार्यत भिन्न होता है। यह साध्य-आधारवाक्य है, व्याप्ति का निश्चय है। यह कि पक्ष-आधारवाक्य अपने स्वभाव मे एक प्रत्यक्षात्मक निश्चय को व्यक्त करता है, वात्स्यायन से आरम्भ होकर भारतीय तर्कशास्त्रियो को स्पष्ट रहा है।[1] भ्रम से बचने के लिये, सम्भवत 'निश्चय'[2] शब्द को उस प्रत्यक्षात्मक निश्चय के लिये सुरक्षित रखना अधिक अच्छा होगा जो एक सत्तात्मक निश्चय, अथवा यथार्थता का निश्चय होता है, और दूसरे निश्चय को व्याप्ति या अनुमान नाम दिया जाय, जैसा कि हिन्दुओ ने किया है, क्योकि यह यथार्थता का नहीं बल्कि सवादित्व का निश्चय होता है। इस दृष्टि से साध्य और पक्ष-आधारवाक्यो का अत्यधिक अन्तर इस तथ्य द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि साध्य-आधारवाक्य के हेत्वाभास असवादित्व अथवा अनैकान्तिकता के हेत्वाभास होते हैं, जब कि पक्ष-आधारवाक्य के हेत्वाभास, जैसी कि हेत्वाभासो के अध्याय मे व्याख्या की जा चुकी है, असिद्ध

---

[1] न्याभा० पृ० ५४' "उदाहरणम् प्रत्यक्षम्, उपनय उपमानम्"। और न्यावा० यह व्याख्या करता है "यथा प्रत्यक्षे न विप्रतिपद्यते, एवम् उदाहरणोऽपीति (उपनय)", अर्थात् पक्ष आधारवाक्य (उपनय) इन्द्रिय प्रत्यक्ष के सन्दर्भ से युक्त होता है।

[2] अध्यवसाय = विकल्प।

हेत्वाभास होते हैं। यह निश्चय कि 'हिम श्वेत है', दो विकल्पो की व्याप्ति का विधान करता है। यह निश्चय कि "यह हिम है" केवल विकल्प 'हिम' की विषयात्मक यथार्थता का विधान करता है। यह एक विकल्प तथा तदनुरूप यथार्थता के सारूप्य का निश्चय है। यह एक सत्तात्मक निश्चय भी है। इस व्याकरणिक आशय मे नही कि "हिम की सत्ता है"। सत्ता, अर्थात वास्तविक मूर्त सत्ता कभी भी तार्किक विधेय नही होती,[1] यह तो सभी विधेयीकरणो का समान उद्देश्य होती है। किन्तु इस प्रकार का निश्चय सत्तात्मक है क्योकि हिम विषय की विषयात्मक यथार्थता का विधान करता है, केवल दो विकल्पो की व्याप्ति मात्र नही है।

विरोध के नियम का द्विविध निर्धारण निश्चयो की द्विविध प्रकृति के सर्वथा अनुरूप होता है। प्रत्यक्षात्मक अथवा सत्तात्मक निश्चयो मे यह दो निश्चयो के बीच का विरोध है जो परस्पर एक दूसरे का विनाश करते है। व्याप्ति के निश्चयो मे यह सभी विभागात्मक अनुमानो का सिद्धान्त और स्वय विभागात्मक निश्चय ही होता है जैसा कि काण्ट इसे चाहते थे। एरिस्टॉटेलियन और काण्टियन सूत्र भिन्न हैं क्योकि ये भिन्न वस्तुओ के द्योतक है।

निश्चयो की द्विविध प्रकृति सत्तावाचक क्रिया के द्विविध आशय के भी अनुरूप है। इस द्विविध आशय के तथ्य का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, अर्थात् यह विधेयीकरण मे योजक का और सत्ता को व्यक्त करने का कार्य करता है। अब यह स्पष्ट है कि इस क्रिया द्वारा सत्ता का अर्थ केवल सत्ता-

---

[1] भ्रामकता से बचने के लिये हमे यह नही भूलना चाहिये कि सत्ता या यथार्थ, जो सभी विधेयो का समान उद्देश्य होता है वह वस्तुस्वलक्षण स्पष्टार्थ के अनुरूप क्षण होता है जो यद्यपि अनभिलाप्य विज्ञान होता है। एक और सत्ता है, जो पूर्णतया अभिलाप्य, सामान्य विकल्प है। यह एक विधेय के रूप मे भी भली प्रकार प्रगट हो सकती है, जैसे "एक वृक्ष की सत्ता है" (अथवा अधिक उपयुक्तत "इस वृक्षत्व मे सत्ता सम्मिलित है"),"यह एक वृक्ष है, इसकी सत्ता है"। सत्ता के इस प्रकार के अमूर्त विकल्प को प्रमाणसमुच्चय मे उद्धृत किया गया है। दिङनाग को एक ऐसे आक्षेप से बचाने के लिये इसे ध्यान मे रखना आवश्यक है जिससे काण्ट बच नही सके हैं। अर्थात् इस आक्षेप से कि इन्होने एक अविद्यमान वस्तुस्वलक्षण का, एक ऐसी वस्तु का आविष्कार कर दिया जो स्वय उनके ही सिद्धान्त के अनुसार न तो विद्यमान थी और न रह सकी (!)।

त्मक अथवा,प्रत्यक्षात्मक निश्चयो से ही सम्बद्ध है। दूसरी ओर, योजक के रूप मे यह दो विकल्पो की व्याप्ति को व्यक्त करनेवाले तर्कवाक्यो मे कार्य करता है।

इसलिये हमे इस नियम के अपवाद पर ध्यान देना चाहिये कि कोई निश्चय या तर्कवाक्य उद्देश्य, विधेय और योजक से युक्त होता है। हेतुत्व पर आधारित निश्चयो मे भाषायी के अतिरिक्त अन्य कोई योजक होता ही नही। निःसन्देह हम यह कह सकते है कि "धूम अग्नि का उत्पाद है" किन्तु इसका अर्थ यह नही कि धूम कुछ है, वल्कि यह है कि धूम कुछ का उत्पाद है। इस प्रकार, किसी प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे सत्ता अथवा यथार्थता को व्यक्त करने-वाला शब्द अवश्य होना चाहिये। इसका 'यह है', अथवा 'यहाँ है,' अथवा मात्र 'है' जैसा रूप होता है जो सत्ता के अर्थ को व्यक्त करता है। यह प्रतिषेधात्मक निश्चयो मे भी 'वहाँ नही है' के रूप मे उपस्थित रहता है। किसी विभागा-त्मक व्याप्ति मे तादात्म्य को व्यक्त करने वाला कोई शब्द अवश्य होना चाहिये, और योजक के अर्थ मे सत्तावाचक क्रिया है। अन्ततः, हेतुत्व पर आधारित व्याप्ति मे उत्पाद को व्यक्त करनेवाला एक शब्द अवश्य होना चाहिये।

इसलिये, निश्चय उद्देश्य, विधेय, और एक ऐसे शब्द से युक्त होता है जिसका या तो १) सत्ता, अथवा २) तादात्म्य (योजक), अथवा ३) हेतुत्व अर्थ होता है। यह अत्यन्त कौतूहलवर्धक ही है कि विरोध के नियम का एरिस्टॉ-टेलियन निर्धारण वास्तव में त्रिरूप लिङ्ग—जो बौद्ध नैयायिकों का आधार-भूत नियम है—की पूर्वकल्पना करता है। एरिस्टॉटिल वास्तव मे विरोध के नियम के निर्धारण मे अनिवार्य आश्रयत्व (नियत-प्रतिबन्ध) के केवल दो और मात्र सम्बन्धो का समावेश करने मे ठीक थे, उससे कही अधिक ठीक जितना वह समझते थे। यही वह सम्बन्ध है जिसकी धर्मकीर्ति ने समस्त तार्किक विचारो मे अन्तर्निहित होने के रूप मे स्थापना की है। वास्तव मे विभिन्न समयो मे विभिन्न देशो के दार्शनिको द्वारा विरोध के नियम की अस्वीकृति का स्रोत क्या है ? यह सदैव ही दो भिन्न तथ्यो अथवा विकल्पो के अनिवार्य अन्योन्याश्रयत्व और उनके तादात्म्य के बीच विभेद का अभाव है। फल की उसके हेतु के बिना सत्ता नही हो सकती क्योकि दोनो अनिवार्यतः अन्योन्याश्रित हैं। शिथिल भाषा मे, एक अर्ध-काव्यात्मक कल्पना की उडान मे, हम इन्हे एकीकृत और एकात्मक कह देते है। तब हमे एक ही समय मे सत्ता और अभाव दोनो मिलेंगे, जो हीगल का मौलिक मत है।

किन्तु विरोध का बौद्ध-नियम इस परिणाम मे हस्तक्षेप करते हुये कहता है कि "सर्ववस्तुयें पृथक् हैं" और कोई वास्तविक तादात्म्य होता ही नही।

एक सत्ता, प्रापक सत्ता, निश्चित रूप से हेतु है, उसका एक फल 'होता' है किन्तु वह स्वयं उसका फल नही होती। दूसरी ओर, दो भिन्न विकल्प एक ही विषयात्मक सत् पर आरोपित हो कर उसका दो भिन्न दृष्टिकोणो से वर्णन कर सकते हैं। ये विकल्प तब एक ही सत् से सम्बद्ध होने के कारण सयुक्त होते हैं। इस दृष्टि से इनमे तादात्म्य है। यहाँ बौद्धो का तादात्म्य का नियम हस्तक्षेप नहीं करता बल्कि इस प्रकार के तादात्म्य की पुष्टि करता है। फिर भी, एकात्मक केवल सामान अधिष्ठान होता है, विकल्प तो भिन्न ही होते हैं।

योरप के दो तर्कशास्त्रो, तथा साथ ही साथ, भारतीय दर्शन का विवाद इन दो अनिवार्य सम्बन्धो की एक भिन्न व्याख्या पर आधारित है। एक तर्कशास्त्र—योरप मे हेराक्लिटस से हीगल तक और भारत में उपनिषदो से माध्यमिक और वेदान्तियो तक—यह मानता है कि अनिवार्य रूप से अन्योन्याश्रित वस्तुओ मे से एक की दूसरे के बिना सत्ता नही हो सकती, अत ये न केवल एक दूसरे के विरुद्ध वरन् एक दूसरे मे निहित होने के रूप मे एकात्मक भी हैं। दूसरा तर्कशास्त्र—योरप मे एरिस्टॉटिल से सिग्वर्ट तक और भारत मे बौद्धो और नैयायिको तक—यह उत्तर देता है कि "जो विरुद्ध है वह एक ही नही होता"।[1]

समस्त आनुभविक सम्यक् ज्ञान अबाधित ज्ञान होता है, और केवल दो ही ऐसे महान सिद्धान्त हैं जिन पर यह अबाधित ज्ञान आधारित है। ये हेतुत्व और तादात्म्य हैं। अबाधित ज्ञान को हेतुत्व की दृष्टि से, अर्थात भिन्न काल की दृष्टि से अबाधित होना चाहिये, और अपने विषयात्मक सन्दर्भ की दृष्टि से, अर्थात् एक ही सत के भिन्न पक्षो की दृष्टि से अबाधित होना चाहिये। अत विरोध के नियम के उपयुक्त निर्धारण को इन दो सामान्य सम्बन्धो का अवश्य ध्यान रखना चाहिये जिनकी उपेक्षा आनुभविक ज्ञान को विचलित करके उसे विरोधी बना देता है। इस प्रकार स्थिति यह है कि एरिस्टॉटिल यद्यपि अनजान मे, विरोध के नियम के अपने निर्धारण मे धर्मकीर्ति के सम्बन्धो के सिद्धान्त की एक परोक्ष किन्तु अत्यन्त सशक्त पुष्टि करते हैं। इनका नियम वास्तव मे उस बात के एक परोक्ष और प्रच्छन्न सन्दर्भ से युक्त है जो धर्मकीर्ति के अनुसार वह तीन सिद्धान्त है जो हमारी बुद्धि[2] अथवा

---

[1] तुकी० हर्बट का यह निर्धारण 'Entgegensetztes ist nicht einer lei और बौद्धो का यह निर्धारण "यद् विरुद्धम् (= विरुद्ध-धर्म संसृष्टम्) तन नाना", सदस० पृ० २४

[2] त्रिरूपस्य लिङ्गस्य त्रीणि रूपाणि।

हमारे तार्किक विचार का निर्माण करते हैं, अर्थात् विरोध, तुदुत्पत्ति और तादात्म्य के सिद्धान्त। अपनी इस त्रिविध बुद्धि द्वारा हम सत् का परोक्ष ज्ञान, अर्थात् अनुमानात्मक ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस त्रिरूप यन्त्र के बिना हम सत् का साक्षात्, अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं; किन्तु विशुद्ध इन्द्रिय-ज्ञान केवल एक अनिश्चित विज्ञान मात्र होता है।

योरप और भारत के विभिन्न तर्कशास्त्रों में हमें विरोध के अनेक नियम मिलते हैं १) अपने दो प्रकारों—एक पर्मेनाइडिस का और दूसरा हेराक्लिटस का—में इलियाटिक नियम, २) प्लेटो का नियम, जो परिवर्तन को भ्रम में परिवर्तित कर देता है, ३) बौद्ध नियम जो स्थिरता को भ्रम में परिवर्तित कर देता है, ४) एरिस्टॉटिल का नियम, जो भारतीय यथार्थवादियों का भी नियम है, और जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु स्थिरत्व और परिवर्तन से एकान्तरित होती रहती है, और अन्तत ५) हीगल का नियम जो अपने विकल्पों के केन्द्र में गतिशील यथार्थ का समावेश करके यथार्थता और तर्कशास्त्र के समस्त अन्तरों को मिटा देता है।

अध्याय ३

सामान्य

§ १. कर्म की समानता द्वारा स्थानान्तरित वस्तुओं की स्थिर सामान्यता

सामान्यो से सम्बद्ध भारतीय सिद्धान्तो को दो वर्गो—यथार्थवादी और विज्ञानवादी—मे विभक्त किया जा सकता है।[1] यथार्थवादी यह मानते है कि प्रत्येक सामान्य की उन सभी व्यक्तियो से जिनमे यह उपस्थित होता है निरपवाद रूप से सम्बद्ध एक पृथक् इकाई के रूप मे बाह्य-जगत मे सत्ता होती है। विज्ञानवादी, जिन्हे विकल्पवादी और वस्तुशून्य-प्रज्ञप्तिवादी भी कहा जा सकता है, यह मानते है कि केवल व्यक्ति ही वास्तविक सत्ताये होते है, और सामान्य केवल आकार मात्र, विकल्प मात्र, अथवा सज्ञामात्र[2] होते है।

यथार्थवादी, पुन समवाय के अतिरिक्त यथार्थ को एक पृथक् सत्ता मानने वालो मे और इस प्रकार की सत्ता की यथार्थता अथवा आवश्यकता को अस्वीकार करनेवालो मे विभक्त है। समवाय को मानने वाले भी उनमे विभक्त है जो यह मानते है कि समवाय यथार्थता का इन्द्रियो द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष होता है, और उनमे जो यह मानते है कि उसकी यथार्थता का प्रत्यक्ष नही होता बल्कि यह अनुमित होती है। वैशेषिक एक अनुमित समवाय मानते है और नैयायिक प्रत्यक्ष समवाय। जैन, मीमासक, और सांख्य कोई समवाय मानते ही नही,[3] और बौद्ध सामान्यो की यथार्थता को ही सर्वथा अस्वीकार करते है। बौद्ध नैयायिको के सिद्धान्त को विज्ञानवाद, वस्तुशून्य प्रज्ञप्तिवाद, विकल्प वासनावाद, सारूप्यवाद, शक्तिवाद, और अपोहवाद कहते है। यह विज्ञानवाद है क्योंकि यह इस बात को मानता है कि सामान्य केवल आत्मनिष्ट विचार मात्र है। यह वस्तुशून्य-प्रज्ञप्तिवाद और विकल्प-वासनावाद इसलिये है क्योकि ये विचार आकार और विकल्प ही है और इन्हे नामो या सज्ञाओ के साथ सयुक्त किया जा सकता है। यह

---

[1] भारतीय दर्शन की कदाचित ही कोई ऐसी कृति है जिसमे सामान्यो की समस्या का विवेचन नही किया गया है। बौद्ध सिद्धान्त का सर्वश्रेष्ठ उद्घाटन कुमारिल के श्लोकवार्तिक के आकृतिवाद के अध्याय मे, तस० और तसप० के सामान्यवाद और स्याद्वाद के अध्यायो मे तथा अपोहवाद की सभी कृतियो मे मिलता है। तुकी० भाग २, पृ० ४०४।

[2] सज्ञामात्र = वस्तुशून्य-विकल्प।

[3] तुकी० तसप० पृ० २६२ २२।

सारूप्यवाद इसलिये है क्योंकि यह आकार का किसी वाह्य यथार्थता के अर्थक्रियाकारी क्षण के साथ सारूप्य मानता है। यह शक्तिवाद इसलिये है क्योंकि यह मानता है कि यथार्थता ऐसे सस्कारो से युक्त होती है जो आकार उत्पन्न कर सकते है। यह अपोहवाद इसलिये है क्योंकि यह मानता है कि सभी विकल्प सापेक्ष और द्वन्द्वात्मक होते हैं।

सारूप्यवाद का निश्चय के एक सिद्धान्त के रूप मे परीक्षण किया जा चुका है। शक्तिवाद और अपोहवाद का अव परीक्षण किया जायगा।

इन सभी सिद्धान्तो की वस्त्र के एक टुकडे को सत्ता और ज्ञान के विभिन्न विवेचनो द्वारा व्याख्या की जा सकती है। नैयायिकों के लिये यह तीन इकाइयो से युक्त है धागा, वस्त्रत्व और वस्त्रत्व का धागो मे समवाय। ये तीनो ही वास्तविक पृथक् वाह्य इकाइयाँ है और तीनो ही दृष्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हो सकती हैं। वैशेषिको के लिये समवाय अनुमित है प्रत्यक्ष नही, किन्तु धागे तथा उनमे वस्त्रत्व की उपस्थिति दोनो का प्रत्यक्ष होता है। जैनो, साख्यो और मीमासको के लिये कोई समवाय है ही नही। इनके लिये केवल दो ही इकाइयाँ हैं—धागे और वस्त्रत्व। ये दोनों विना किसी मध्यमस्थ समवाय के ही सीधे सयुक्त हैं। वौद्ध नैयायिको के लिये यहाँ केवल विशुद्ध-सत् का एक क्षण मात्र है जो हमारी कल्पना को वस्त्र के आकार के निर्माण के लिये उद्दीप्त करता है। यह अन्तिम सिद्धान्त दो सर्वथा विजातीय वस्तुओ के सारूप्य का सिद्धान्त है। यह शक्तिवादी सिद्धान्त है। यथार्थ वैयक्तिक वस्तुयें द्रव्य नही वल्कि शक्तियाँ हैं जो हमारी चेतना मे आकारो को उत्पन्न करने की शक्ति रखती हैं।

शान्तिरक्षित कहते है कि "वस्तुयें, अर्थात् हेतुजन्य वस्तुयें (स्वलक्षण होती हैं)," और उनमे अन्य वस्तु का लेशमात्र भी मिश्रण नही होता।[१] सत् निरपेक्ष विशेषो से युक्त होता है। उसमे सामान्य का प्रत्येक लेश अनुपस्थित होता है। सामान्यता, समानता, सम्वन्ध अथवा कोई भी सामान्य सदैव कल्पित होता है। तव यथार्थ विशेष्य और उसके सर्वथा विजातीय ज्ञान मे क्या सम्वन्ध होता है, क्योकि ज्ञान सदैव ही कोई सामान्य होता है? इसका उत्तर निम्नलिखित है।

स्वलक्षण वस्तुओ मे किसी भी समान द्रव्य का कोई लेश नही होता। इनमे द्रव्य की कोई समानता कैसे हो सकती है, क्योकि जैसा हम देख चुके

---

[१] तसप० पृ० १.९, तुकी० पृ० ४८६ २०।

है, इनमे कोई द्रव्य होता ही नही ? ये शक्तियाँ है, द्रव्य नही। किन्तु हमे यह मानने से कुछ भी विरत नही कर सकता कि वस्तुयें या शक्तियाँ, जो सर्वथा असमान हैं, समान फल उत्पन्न करती हैं।[1] उदाहरण के लिये गुडुची को चिकित्साविज्ञान मे ज्वरशामक प्रभाव उत्पन्न करने वाला माना गया है। आकार या वस्तु की दृष्टि मे इसकी चिकित्साविज्ञान मे ज्ञात अन्य किसी भी ऐसी ओषधि के साथ कोई समानता नही है जिसे इसी के समान, इससे अधिक शक्तिशाली या क्षीण ज्वरशामक प्रभाव उत्पन्न करनेवाली माना गया हो। इनकी समानता द्रव्य की समानता नही बल्कि समान अथवा प्राय समान प्रभाव उत्पन्न करने की समानता है। यदि सामान्य बाह्य यथार्थ वस्तु, ऐसी स्वलक्षण वस्तु जैसे कि यथार्थ विशेष होता है, हो तो इस सामान्य का हमारी बुद्धि मे अनिवार्यत एक साक्षात् प्रतिभास होगा। तब बुद्धि का कार्य केवल निर्विकल्पक ग्राहकता होगा, किन्तु ऐसा नही होता।

बौद्ध नैयायिक उस बात को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हैं जिसे हमने धर्मकीर्ति का प्रयोग कहा है,[2] अर्थात् इस तथ्य को कि जब किसी निरीक्षक का चित्त अन्यत्र-गत होता है,[3] जब उसका ध्यान कही और लगा होता है, तब किसी विषय से आनेवाला उद्दीपन, चाहे वह अपनी पूर्ण शक्ति का उपयोग करे, इन्द्रियो का ग्राहक कार्य चाहे पूरी तरह सम्पन्न हो, किन्तु कोई प्रत्यभिज्ञा नही होगी क्योकि "चित्त अन्यत्र गत है"। निरीक्षक को कोई भी ज्ञान नही होगा। उसके ध्यान को विषय पर और इन्द्रियो की ग्राह्यता पर केन्द्रित होना चाहिये, गत अनुभवो का स्मरण करना चाहिये, नाम और उसके अभिप्राय का पुनराह्वान होना चाहिये, यह सब होने पर ही निरीक्षक को ज्ञान होना आरम्भ होगा और प्रत्यभिज्ञा होगी।[4] इसका अर्थ क्या है ? इसका यह अर्थ है कि प्रत्यभिज्ञा इन्द्रियो से भिन्न एक पृथक् शक्ति है। प्रत्यभिज्ञा बुद्धि की वह स्वाभाविक क्रिया है जो निर्विकल्पक ऐन्द्रिक यन्त्र के कार्य के बाद आरम्भ होती है। यदि किसी नाम का गुणार्थ कोई बाह्य यथार्थता हो, यदि यह विषय मे स्थित कोई नित्य आकार हो,

---

[1] तसप० पृ० ४९७ १६, तुकी० वही, पृ० २३९ २७ और बाद।

[2] तुकी० ऊपर पृ० १७७।

[3] 'अन्यत्र-गत-चित्त', तुकी० तस० पृ० २४१ १२।

[4] 'सकेत-मनस्कारात् सद्-आदि प्रत्यया इमे जायमानास् तु लक्ष्यन्ते, न अक्षव्यापृत्य्-अनन्तरम्', तस० पृ० २४० १७।

ऐसा आकार जिसमे विषय सम्मिलित हो, तो उद्दीपक ज्योही इन्द्रियो तक पहुँचे त्योही प्रत्यभिज्ञा सीधे उत्पन्न हो जायगी। कार्य अभ्यासगत हो तो ध्यानगत अनुभव और नाम का स्मरण अत्यन्त तीव्र गति से चलते हैं।[1] किन्तु यदि यह अभ्यासगत न हो तो वह क्रमिक रूप से और स्वसवेदन द्वारा उद्घाटित होगा। यदि किन्ही ओषधियो की ज्वरशामक क्षमता उनमे स्थित किसी नित्य रूप को व्यक्त करती हो तो वह सदैव वही रहेगी और कभी परिवर्तित नही होगी। किन्तु हम जानते हैं कि यह प्रत्येक वैयक्तिक दशा मे परिवर्तित होती रहती है। यह ओषधि के गुण पर निर्भर करता है, और यह गुण, पुन उस खेत, उसकी खेती, खाद आदि के गुण पर निर्भर करता है जहाँ उसे उगाया गया है।[2] अत यह प्रत्येक वैयक्तिक दशा पर पृथक् रूप से निर्भर रहता है। किसी एक दशा मे उसका लेशमात्र भी नही होता जो अन्य मे मिलता है। सामान्य एक भ्रम है, यह केवल सज्ञा मात्र है जो अपने अनुरूप किसी भी व्यापक यथार्थ से रहित है। कमलशील कहते हैं कि 'हम इस बात को सिद्ध कर चुके हैं कि, विशेष स्वलक्षण जो उसके अधिष्ठान को व्यक्त करता है, जो किसी नाम द्वारा व्यपदिष्ट है, प्रज्ञा के अपोह द्वारा स्पर्शित नही होता। किन्तु आनुभविक (परमार्थ नही) सत् जिसका रूप कल्पना-शिल्पी द्वारा निर्मित होता है, बाह्य नही बल्कि अन्तर्मात्रा-आरूढ होता है। ऐसे लोग जो दृश्य और विकल्प के भेद को नही जानते, यह देखकर कि किसी विषय का रूप बाह्य है, उसके पीछे ऐसे दौडते है मानो वह सचमुच बाह्य हो। किन्तु यह इस बात को प्रमाणित नही करता कि वह वास्तव मे बाह्य होता है। बाह्य विषयो के प्रति हमारा व्यवहार हमारे प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे आनुभविक जगत की बाह्यरूपता पर आधारित होता है[3], किन्तु वास्तव मे ये हमारे चित्त की आत्मनिष्ठ कल्पना को व्यक्त करते हैं। यही कमलशील[4] आगे यथार्थवादियो से इस प्रकार कहते हैं "जो तुम सिद्ध करना चाहते हो वह यह है कि अनुगामी प्रत्यय[5] पिण्डादि से व्यतिरिक्त किसी के द्योतक होते है।[6] किन्तु यह अयुक्त है, क्योकि (इन

---

[1] तसप० पृ० २४०.२५।

[2] तसप० पृ० २४०.५।

[3] 'वही-रूपतया अध्यवसित।

[4] वही पृ० २४३ १७ और बाद।

[5] अनुगामि-प्रत्ययानाम्।

[6] क्योकि तुम सामान्य को एक पृथक् एकत्व मानते हो।

तदनन्तर इसकी प्रज्ञा द्वारा एक ऐमे आकार के रूप मे कल्पना होती है जो सामान्य और इसीलिये असत् है। यह वस्तु को एक सामान्य चित्र के रूप मे प्रस्तुत करता है। प्रथम क्षण का ज्ञान विधायक ज्ञान है, यह विशुद्ध सत् का विज्ञान करता है। क्या आकार का ज्ञान भी विधि-स्वरूप होता है ? नही यह केवल विभेदात्मक होता है, जैमा कि हम आगे देखेंगे।

§ २. सामान्यों की समस्या का इतिहास

सामान्यो की ममस्या ने प्रत्यक्षत भारतीय विचारको का ध्यान एक अत्यन्त आरम्भिक समय मे ही आकर्पित किया था। ऐसे दार्शनिको के नाम उद्धृत किये गये हैं जो दर्शन के पूर्व-इतिहाम के अर्ध-पौराणिक युग से सम्बद्ध और जो सामान्यो, विशेपो और नामो के साथ इनके सम्बन्धो पर विचार कर चुके थे।[१]

प्रथम ऐतिहासिक काल, अर्थात् सांख्य के आरम्भकाल मे सम्भवत उन दो प्रमुख मतो के आरम्भ को रखना चाहिये जिनके बीच वाद के समयो मे विभिन्न सम्प्रदाय विभक्त थे। हेतु और फल के बीच एकत्व के सिद्धान्त के साथ-साथ ही सम्भवत सामान्य और विशेप के एकत्व का भी सिद्धान्त अवश्य विकसित हुआ होगा। हेतु और फल के बीच विच्छेद और सभी सत्ता के सूक्ष्म धर्मों मे विभक्त होने के साथ ही साथ, प्रयत्यक्षत सामान्यो की यथार्थता की अस्वीकृति के बौद्ध मत का भी विकास हुआ होगा।

एक वाद के समय मे उन न्याय और वैशेपिक सम्प्रदायो मे समवाय के सिद्धान्त का आरम्भ हुआ होगा, जिनमे विपक्षियो के आक्षेप से अधिक पुष्ट होकर यथार्थवाद इस सीमा तक अवस्थित हो गया जो दर्शन के इतिहास मे अद्वितीय घटना है।

भारतीय चिन्तन के तृतीय युग मे, जब दर्शन के मञ्च पर प्रमुख कलाकारो की पारस्परिक स्थितियाँ व्यवस्थित कृतियो मे निर्धारित हो चुकी थी, हमे मामान्यो की स्थिति का निम्नलिखित वितरण मिलता है।

---

[१] तसप० पृ० २८२ २४ "जाति पदार्थ इति वाजप्यायन (सम्भवत 'वजप्यायन-कात्यायनौ, पाठ है), द्रव्यम् इति व्यादि, उभयम् पाणिनि" तुकी० रुबेन न्यायसूत्र, पृ० १९५ और वाद; और ओटो स्ट्रॉस त्मीगे० १९२७, पृ० १३५ और वाद।

सम्भवतः आदि में हमें न्याय और वैशेषिक का सर्वथा यथार्थवाद मिलता है। ये अन्त के सर्वास्तिवाद में प्रकट होते हैं।

मध्य में जैन, मीमांसा और सांख्य सम्प्रदायों के उदार यथार्थवादी स्थित हैं, जो सम्भवतः आरम्भिकतम मत को व्यक्त करते हैं।

अत्यन्त वाम में बौद्ध स्थित हैं जिनका एक बाद के समय में वेदान्तियों ने भी अनुसरण किया।

कुछ आस्तिक सम्प्रदायों में अतिरंजित यथार्थवाद के सम्भवतः परोक्ष कारण बौद्ध थे।

वैशेषिक सम्प्रदाय के सूत्रों में से एक में यह वक्तव्य मिलता है कि "सामान्य और विशेष बुद्ध्यपेक्ष हैं"[१]। इस सूत्र की अयथार्थ के अर्थ में सापेक्षवाद के रूप में व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि इस सम्प्रदाय की सामान्य प्रवृत्ति अत्यन्त यथार्थवादी है। इस सम्प्रदाय के अनुसार वस्तुयें एक साथ ही अपेक्षिक और यथार्थ दोनों हो सकती हैं।[२] सूत्र का मात्र यही अर्थ है कि सामान्यों के सामान्यता की विभिन्न मात्रायें होती हैं और ये मात्राये परस्पर सापेक्ष हैं। यह सम्प्रदाय न केवल समवाय, अर्थात् विशेष में एक सामान्य की व्यक्तिगत स्थिति[३] को ही स्वीकार करता है वरन एक दूसरे पदार्थ की स्थिति को भी मानता है जिसे विशेष[४] कहते हैं। यतः सभी वस्तुयें, एक ओर, अन्य वस्तुओं के समान होती हैं, और दूसरी ओर अन्य वस्तुओं से भिन्न होती हैं, अत यथार्थवाद प्रत्येक वस्तुमात्र में इन दोनों ही, अर्थात समानता और असमानता, दोनों की

---

[१] वैसू० १ २ ३।

[२] 'अपेक्षिको वास्तवश् च कर्तृ-करणादि-व्यवहार',
तुकी० श्रीधर, १९७ २६।

[३] सामान्यानि स्व-विषय-सर्व-गताति,' प्रशस्त० पृ ३१४ १९।

[४] प्रशस्त० पृ० ३२१, २ और बाद. यह प्रश्न पूछा गया है कि प्रत्येक परमाणु मे एक 'विशेष' की अतिरिक्त स्थिति के बिना भी, योगि सम्भवत अपने असाधारण चक्षुओ मात्र से परमाणुओ के बीच भेद के देख सकते हैं। इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया गया है। वैसू० १ २,५-६ के अनुसार सामान्य और विशेष सभी द्रव्यो, गुणो और कर्मो मे स्थित होते हैं, किन्तु परम द्रव्यो मे केवल विशेष ही स्थित होते हैं। प्रशस्तपाद के भाष्य में ये परम विशेष ही बचे रहे हैं।

उपस्थिति मानता है। प्रत्येक परमाणु एक विशिष्ट यथार्थता को आश्रय देता है जिसे विशेष कहते हैं। सभी परमार्थ सर्वगत यथार्थतायें, जैसे काल, दिक्, आकाश, आत्मा, इत्यादि, ऐसे परम विशेष से युक्त होते हैं जो इन्हें एक दूसरे मे मिश्रित हो जाने स बचाता है। ये यथार्थ विशेष पृथक इकाइयाँ होते हैं जिनका इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष होता है। परमाणुओ और सर्वगत द्रव्यो मे इन्हे साधारण मनुष्यो के चक्षुओ से नही देखा जा सकता, किन्तु योगि, जो चक्षु की विशिष्ट क्षमता रखते हैं, अपने चक्षुओ से इनका साक्षात् प्रत्यक्ष कर सकते है। यथार्थवाद इससे और आगे नही बढ सकता।

ऊपर उल्लिखित समवाय के प्रत्यक्षत्व की समस्या पर विभेद के अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय मे यथार्थवादी विचार मे कदाचित ही कोई परवर्ती परिवर्तन या विकास हुआ। वैशेषिक नित्य सामान्यो के सर्वगतत्व की समस्या पर झगडते रहे। इनका एक दल यह मानता था कि ये वही उपस्थित होते हैं जहाँ तदनुरूप विशेष होते हैं। दूसरा दल यह मानता था कि ये न केवल ऐसे ही स्थानो मे वरन् इनके बीच के व्यवधानो मे भी, यद्यपि अप्रगट रूप से, उपस्थित होते हैं।[1] प्रशस्तपाद प्रथम मत से सहमत थे[2], और इसका ही इस सम्प्रदाय के आधिकारिक मत के रूप मे समावेश किया गया है।

सामान्यो की बौद्धो की अस्वीकृति दो कालो मे विभक्त है। प्रथम काल, हीनयान काल मे, निमित्त-उद्ग्रहण, एकीकरण, सामान्यता और जाति-नाम-कल्पना को या तो चित्त-संप्रयुक्त अथवा रूपचित्त-विप्रयुक्त सस्कार माना जाता था। द्वितीय काल मे, नैयायिको के समय मे, सामान्यो को विकल्प माना और विशेषो की विषयात्मक यथार्थता के साथ इनका विभेद किया गया।

ऐसा कोई मत नही है जो अपनी सामान्यत्व-विरोधी प्रवृत्ति में हीनयान बौद्धमत की समता कर सके। यहाँ जो सामान्य के अनुरूप है उसे 'सञ्ञा'[3] कहा गया है। यह शब्द व्याकरण के इसी नाम के शब्द के सामान ही है, किन्तु यहाँ इसे 'चैत्त' (= चित्तसप्रयुक्त-सस्कार) कहा गया है। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय इसे 'चित्त-विप्रयुक्त सस्कार'[4] मे परिणत कर देता है।

---

[1] तुकी० न्यावि० और न्यबिटी० पृ० ८२ १८ और बाद, अनुवाद पृ० २२५।

[2] प्रशस्त० पृ० ३११ १४, तुकी० श्रीधर पृ० ३१२.२१।

[3] चित्त-विप्रयुक्त-सस्करो में निहित 'नाम-संस्कार'।

[4] निकाय-सभागता = जाति। सर्वास्तिवादियों ने इसका चित्त-विप्रयुक्त-सस्कार के रूप मे वर्गीकरण किया है। तुकी० मेरा सेक० पृ० १०५।

यह स्पष्ट है कि यहाँ जिसे सामान्यत्व अथवा सामान्य कहा गया है, उसे विशेषों की एक समता में परिगणित कर दिया गया है। इसी प्रकार जाति को भी यहाँ एक पृथक् शक्ति के रूप में परिगणन कर दिया गया है जो कुछ ऐसी इकाइयों को संयुक्त करता है जिनमें स्वत कुछ भी सामान्य नहीं माना गया है।

इस आधारभूत विचार ने जातिनाम-कल्पना[1] के रूप में जाति के दिङ्नाग के वर्गीकरण में स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त की है। यह एक वस्तुशून्य-प्रज्ञप्तिवाद है, किन्तु ऐसा कि इसका विकल्प वासनावाद के साथ विभेद नहीं किया जा सकता क्योंकि विकल्प और नाम एक ही भूमि को आवृत्त करते हैं।

§ ३ कुछ योरोपीय समानान्तरतायें

भारतीय मध्ययुगीन तर्कशास्त्र भी योरप के मध्ययुग की ही भाँति, यथार्थवाद और वस्तुशून्य-प्रज्ञप्तिवाद के बीच विवाद से पूर्ण है। दोनों ही पक्षों की अपनी-अपनी स्थितियाँ ईसा की ५वी से ८वी शताब्दियों में बौद्धन्याय के सृजनात्मक काल में निश्चित हुई थी। इस समय के बाद दोनो ही मत स्थिर हो चुके थे और इनकी परस्पर स्थितियाँ बिना किसी उल्लेखनीय परिवर्तन के ही यथावत् बनी रही। भारत में सम्प्रदाय अपने आधारभूत सिद्धान्तो को कदाचित ही परिवर्तित करते हैं। यदि ये बने रहते हैं तो इनकी एक परिवर्तनरहित स्थिति ही रहती है। मान लीजिये कि प्लेटो का सम्प्रदाय अपने उत्पत्ति के देश में समस्त राजनीतिक विप्लवो के बीच से होता हुआ, शैली और साहित्यिक रूप के प्राय नगण्य परिवर्तनो के साथ आज भी अपने पुराने सिद्धान्तो का ही प्रवर्तन कर रहा है,—बिल्कुल यही स्थिति भारतीय यथार्थवाद की है। बौद्ध नैयायिको के सम्प्रदाय की समाप्ति के साथ-साथ भारत में वस्तुशून्य-प्रज्ञप्तिवाद भी समाप्त हो गया, किन्तु तिब्बत में यह लगभग एक सहस्र वर्ष से भी अधिक समय से आज तक सर्वथा एक ही मत का प्रतिपादन करता आ रहा है।

भारतीय यथार्थवादी यह मानते थे कि सामान्य एक वास्तविक सत्ता है और बाह्य-जगत के विषयो में निवास करता है। यह १) एकत्व, २) नित्यत्व, और ३) अनेक समवेतत्व से युक्त होता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्ति विशेष में यह किसी प्रकार अपनी पूर्णता और नित्यता के साथ निवास करता है। बौद्धो ने उत्तर दिया कि सामान्य १) संज्ञामात्र है २)

[1] तुकी० ऊपर

यह वस्तुशून्य विकल्प भी है, और ३) यह कि विकल्प अन्य-व्यावृत्त,[1] अर्थात् प्रतिषेधात्मक है। केवल यही मानने पर कि विकल्प प्रतिषेधात्मक है, हम सामान्य के प्रत्येक विशेष मे सामान्य के एकत्व, नित्यत्व और अनेक समवेतत्व की अन्यथा सर्वथा निरर्थकता को समझ सकते है।

योरोपीय सघर्ष और भारतीय विवाद के बीच एक निश्चित समानान्तरता है। इनके सामान्य आधारो मे तो समानता है किन्तु विवरणो मे नही।

प्रथम विभेद यह है कि भारत मे समस्या इन्द्रियप्रत्यक्ष के दो भिन्न सिद्धान्तो के साथ घनिष्ठ रूप से सयुक्त थी। यथार्थवादी एक निराकार चेतना को और बाह्य विशेष तथा उसमे स्थित सामान्य दोनो के इन्द्रियो द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष को मानते थे। वस्तुशून्यप्रज्ञप्तिवादियो ने इन सामान्यो को बाह्य से आन्तरिक जगत मे स्थानान्तरित कर दिया और आकारो मात्र, अर्थात् मात्र सामान्यो के आन्तरिक जगत के सम्मुख विशेष मात्र के बाह्य जगत को मानने लगे। विज्ञान उसी प्रकार आकारो से सम्बद्ध हो गया जिस प्रकार विशेष सामान्यो से। वस्तुशून्य-प्रज्ञप्तिवाद इस मत पर आधारित हुआ कि विज्ञान और प्रज्ञा दो सर्वथा विजातीय मानसिक क्षमतायें है जो यद्यपि एक विशिष्ट हेतुक सम्बन्ध द्वारा एकीकृत है, क्योकि आकार सदैव विज्ञानो पर क्रियात्मक आश्रयत्व से उत्पन्न होते हैं।

दूसरा मौलिक अन्तर प्रथम का ही परिणाम है। विशेष की बौद्ध धारणा योरोपीय से सर्वथा भिन्न है। विज्ञान मे गृहीत विशेष मात्र विशेष होता है जिसमे अन्यत्व अथवा सामान्यता का कुछ भी लेश नही होता। योरप का समस्त सम्प्रत्ययवाद (विकल्प-वासनावाद) और नाममात्रवाद (वस्तुशून्य-प्रज्ञप्तिवाद) एक ऐसे विशेष की धारणा पर आधारित है जो एक मूर्त सामान्य के अतिरिक्त और कुछ नही।[2] भारत मे, जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, विभाजन-रेखा सर्वथा विशेष और सर्वथा सामान्य के बीच स्थित है, न कि मूर्त और अमूर्त सामान्य के बीच, क्योकि ये दोना ही सामान्य और दोनो अमूर्त हैं। अन्तर केवल अमूर्तकरण की मात्रा का है।

---

[1] अपोह।

[2] डन्स स्कोटस ने वैयक्तिकता की पूर्वग प्रकृति पर जोर दिया है किन्तु फिर भी इसे एक द्रव्यीभूत जातीयता मानते हैं। गिलॉम ड' ओकम ने यह कहा कि विशेष यथार्थ है और सामान्य वैयक्तिकताओ के हमारे अन्त प्रज्ञात्मक ज्ञान द्वारा एकत्र किये जाते हैं। यह भारतीय दृष्टिकोण के बहुत निकट है, किन्तु फिर भी एक विशुद्ध और निरपेक्ष विशेष की धारणा अनुपस्थित है।

इन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विभेदो के साथ हम यह मान सकते हैं कि भारत मे स्पर्धा का स्वरूप योरोपीय मध्य युगो की स्पर्धा के समान था।[१]

आधुनिक योरोपीय दर्शन की ओर उन्मुख होने पर यह कल्पना सरल हो जाती है यदि हम यह मान लें कि एक गोल मेज पर बैठ कर सामान्यो की समस्या पर वाद-विवाद करने के लिये बैठे हुये बर्कले और लॉक को दिङ्नाग ने क्या उत्तर दिया होता। इसको कि "सामान्य और विशेष" मानसिक विचार हैं, और इसको भी कि ये "प्रज्ञा[२] के आविष्कार और अगी" है दिङ्नाग ने तत्काल स्वीकार कर लिया होता। किन्तु "विचार मात्र" मूर्त और विशेष भी हो सकते हैं इसको उन्होने जोर देकर अस्वीकार किया होता। यदि सामान्य अनिवार्यत बुद्धिगाह्य है तो यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक बुद्धिग्राह्य वस्तु अनिवार्यत एक सामान्य है। सीधी रेखा जो ज्यामिति मेज पर खीचती है वह विशेष है, किन्तु सीधी रेखा जो हमारी बुद्धि मे है वह सामान्य है। वह अनन्त है। वह सर्वकालो और सर्वदेशो की सभी सीधी रेखाओ को व्यक्त करती है। यह कहना कोई अर्थ नही रखता कि विशेष होते हुये यह अन्य विशेषो का भी "प्रतिनिधित्व" करता है। एक वस्तु होना और विरुद्ध वस्तु को भी व्यक्त करना, विशेष होना और सामान्य को व्यक्त करना असम्भव है।

यह कि "विचार मात्र" कुछ "शक्तियो"[३] के कार्य के अतिरिक्त और कुछ नही, पुन एक भारतीय विचार है। किन्तु यह शक्ति केवल "अपने अगी" को उत्पन्न करने के लिये प्रज्ञा को उद्दीप्त करने की शक्ति मात्र है। यह, पुन, नील के मात्र विचार के विकल्प की शक्ति का, और गो, अश्व, वृक्ष, न्याय, अनन्तता, नित्यत्व, तथा स्थूलत्व आदि के प्राथमिक गुणो की रचना करने की शक्ति का भी समान रूप से द्योतक है। यह सत्य है कि सभी विचारो को किसी न किसी विशेष के सम्पर्क मे अवश्य होना चाहिये किन्तु ये विशेष

---

[१] इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि एबेलार्ड ने सर्वथा नाममात्रवाद और सर्वथा यथार्थवाद के बीच मध्यस्थता के प्रयास मे ऐसे विचारो को व्यक्त किया था जो अंशत भारत मे मिलते हैं। उन्होने यह माना था कि सामान्य सज्ञा से अधिक होता है, यह एक विधेय, यहाँ तक कि स्वाभाविक विधेय होता है। हम देख चुके हैं कि एक साधारण धारणा के रूप में सामान्य सदैव ही प्रत्यक्षात्मक निश्चय का विधेय होता है, अत सभी सामान्य विधेय के अतिरिक्त और कुछ नही।

[२] लॉक का एसे, बुक ३, अध्याय ३, § १ .

[३] वही, बुक २, अध्याय २१, § २।

अथवा विशेष के लिये पर्याप्त कभी नही होते। लॉक कहते हैं कि सामान्य विचारो के सम्बन्ध में ये केवल "सकेत मात्र"[२] होते हैं।

बर्कले की इस मान्यता का कि कोई सामान्य विचार नही बल्कि विशेषो के लिये सामान्य नाममात्र होते हैं, "जिनमे से कोई भी नाम विरक्त भाव से बुद्धि मे प्रगट होता है", का दिङ्नाग ने सम्भवत इस प्रकार उत्तर दिया होता नाम भी उतने ही सामान्य हैं जितने विचार। नाम प्राप्त करने की क्षमता, उस समय किसी आकार का विभेदात्मक सकेत बन जाती है जब उसका विज्ञान से विभेद किया जाता है। सभी नामयोग्य पदार्थ उतने ही सामान्य हैं जितने वह नाम जिनसे उन्हे उपाधित किया जाता है। यथार्थता कि दृष्टि से किसी अमूर्त विचार और नाम मे कोई अन्तर नही है।

यदि हम यह मान लें कि धर्मकीर्ति भी उक्त सिमपोसियम मे उपस्थित होते तो उन्होने लॉक को सम्बोधित करते हुये अपनी विशिष्ट शैली मे इस प्रकार अपना मत व्यक्त किया होता "तुम यह मानते हो कि कुछ विचार पर्याप्त होते हैं और अन्य नही, कुछ विचार सरल और वैयक्तिक होते हैं, और अन्य प्रज्ञा के अगी होते हैं जो वस्तुओ मे बाहर से सयुक्त कर दिये जाते हैं। किन्तु क्यो ? वह सार्वभौम सम्राट कौन है जिसके आदेश से विचारो के एक वर्ग को पर्याप्त कहा गया है और दूसरे को नही ? विचार तो विचार ही हैं, ये यथार्थ नही हैं। या तो सभी अपर्याप्त हैं अथवा कोई भी नही।" किन्तु जब लॉक यह मानते हैं कि पदार्थ और कुछ नही बल्कि विभिन्न प्रकार के विज्ञानो को उत्पन्न करने वाली "शक्तियाँ" हैं और यह कि बुद्धि मे होने के कारण तदनुरूप विचारो की बाह्य पदार्थों के साथ उससे अधिक समानता नही रह जाती जितनी कि उनके नामो की "हमारे विचारो" के साथ समानता होती है—तब धर्मकीर्ति इस विशिष्टता को सामान्य रूप से सभी "विचारो" तक विस्तृत कर देना तत्काल स्वीकार कर लेते।

योरोपीय तर्कशास्त्र में यथार्थवाद और नाममात्रवाद के बीच का विवाद अनिर्णीत ही बना रहा। विवादरत पक्षो ने मैदान छोड दिया। अधिकाश आधुनिक तर्कशास्त्रियो ने निरर्थक और दु साध्य समझकर इस विषय का परित्याग कर दिया। फिर भी, मारबर्ग और हुसर्ल के सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनमे प्लेटोनिक विचारो की नवीन व्याख्या के प्रयास मिलते है। इतना ही नही, यहाँ तक कि अनुभववादी सम्प्रदाय भी आवश्यकता के दबाव मे पडकर

---

[२] वही बुक २, अध्याय ८, § ७; ८, § १० और § १७।

इसी समाधान का आश्रय लेने के प्रति अप्रवृत्त नही है। यह कल्पना करना सरल है कि इन आधुनिक मतो का धर्मकीर्ति ने किस प्रकार उत्तर दिया होता। हुसर्ल से उन्होने इस प्रकार बात की होती "तुम यह मानते हो कि विज्ञानगत विषयो की वास्तविक सत्ता होती है,[१] यह कि ये कोरी कल्पना मात्र नही हैं,[२] यह कि ससार मे ऐसी कोई व्याख्यात्मक बुद्धि नही है जो विज्ञानगत विषयो का सर्वथा प्रतिवाद कर सके।[३] दूसरी ओर तुम यह भी मानते हो कि सामान्य की विज्ञानात्मक सत्ता और विशेष की वास्तविक सत्ता मे अन्तर है।[४] हम आपत्ति नही करते। यथार्थ अग्नि वह है जो जलती है और पकाती है। विज्ञानात्मक अग्नि वह है जो हमारी बुद्धि मे है। हमने सामान्य अग्नि के अपनी बुद्धि मे अस्तित्व को कभी अस्वीकृत नही किया है।[५] किन्तु विशेष अग्नि वाह्य जगत मे है, वह परमार्थ सत् को, अर्थक्रियाकारी क्षण को व्यक्त करती है।"

प्लेटोनिक विचारो के समर्थन मे नेटॉर्प के तर्कों का धर्मकीर्ति ने वहुत सम्भवत इस प्रकार उत्तर दिया होता "तुम यह मानते हो कि प्लेटो का सिद्धान्त इस निश्चय मे परिणत हो जाता है कि म = क, जहाँ 'म' मूर्त और विशेष को तथा 'क' सामान्य को व्यक्त करता है।[६] दोनो का अस्तित्व है क्योकि प्लेटो के लिये "अस्तित्व" का "म धर्म का पूर्ण निर्धारण" अर्थ है।[७] हम इस पर आपत्ति नही करते। हम केवल इतना और जोड देते हैं कि "परमार्थ-सत्" मूर्त विशेष है, सामान्य नही जैसा कि प्लेटो ने माना है"। हुसर्ल के शब्दो के व्यवहार को परिवर्तित करते हुए धर्मकीर्ति ने यह कहा होता कि "ससार की कोई भी व्याख्यात्मक बुद्धि इस स्पष्ट तथ्य की उपेक्षा नही कर सकती कि यथार्थ अग्नि वह है जो जलती और पकाती है, किन्तु विज्ञानात्मक अग्नि जो हमारी बुद्धि मे है वह निसन्देह विशेष अग्नि का "पूर्णतया निर्धारण" कर सकती है किन्तु न तो जल सकती

---

१ लॉजिक उण्ट०[२], २, १२४।

२ वही, पृ० १२५।

३ वही, पृ० १२६।

४ वही, पृ० १२५।

५ इस प्रकार के सत् को "स्वरूप सत्ता" कहते हैं, तुकी० सदस० पृ० २६।

६ नेट्रॉप प्लेटो, पृ० ३९०।

७ वही, पृ० ३९१।

है और न पका सकती है।"[1] हमे परमार्थ-सत् और कल्पना मे अनिवार्यत विभेद करना ही चाहिये। कल्पना एक मानसिक यथार्थता है जो केवल एक कल्पना के रूप मे ही यथार्थ है।

यह कि यथार्थता की दो सर्वथा भिन्न धारणायें है, बौद्धमत का सर्वाधिक सामान्य रूप मे ज्ञात तथ्य है। प्राचीन परिभाषा यह है कि सत्ता का अर्थ प्रमेयत्व[2] है। सत्ता बारह आयतनो[3] मे विभाजित है जिनमे से अन्तिम आयतन समस्त मानसिक धर्मों को धारण करता है।[4] किन्तु महायान ने इस रूप मे परिभाषा को परिवर्तित कर दिया है कि "जो अर्थक्रियाकारी है वही सत् है".[5] और ऐसा केवल बाह्य परम मूर्त और विशेष क्षण ही होता है। आन्तरिक विषय विज्ञान और आकार होते हैं। आकार सदैव सामान्य होते हैं। ये विशुद्ध कल्पना (अथवा आकाश मे पुष्प)[6] तथा ऐसी कल्पना मे विभक्त है जिनका क्षण के सत् के साथ एक परोक्ष अथवा 'सामान्य' सम्बन्ध होता है। ये अन्तिम अनिवार्यत सामान्य ही होती हैं।[7]

---

[1] इस विषय पर बौद्ध अनुभववादी सम्प्रदाय के समान हैं। तुकी० डब्लू० जेम्स एसेज इन रैडिकल एम्पिरिसिज्म, पृ० ३२–३३, और बी० रसेल एनिलिसिस ऑफ दि माइण्ड, पृ० १३७ और बाद—इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर के साथ कि परमार्थ-सत् केवल क्षण ही होता है।

[2] 'यत् प्रमेयम् तत् सत्'। कभी कभी नैयायिको की भी यही परिभाषा है जो 'सत्ता-सामान्यम्' और 'स्वरूप-सत्ता' मे विभेद करते हैं। तुकी० न्यायकणि० का प्रामाण्यवाद सम्बन्धी प्रकरण, पृ० १६२ और बाद।

[3] द्वादश-आयतनानि=सर्वम् ज्ञेयम्।

[4] धर्म आयतन = धर्मा।

[5] यद् अर्थ-क्रिया-कारि तत् सत् = परमार्थ-सत्।

[6] अनुपाख्य।

[7] बौद्धो के परार्थानुमान के सिद्धान्त द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है। क्योकि साध्य आधारवाक्य का वह सवादित्व अर्थ है जो विकल्पो की और उनके नियमो की परोक्ष यथार्थता है, और साध्य-आधारवाक्य का अर्थ इन विकल्पो से किसी ऐन्द्रिक धर्म के परमार्थ-सत् का सन्दर्भ है; यह अन्तिम ही परमार्थ सत् है।

बर्ट्रांण्ड रसल[1] के अनुसार बाह्य विशेष और मानसिक सामान्य के बीच का सम्बन्ध हेतुक होता है। यह बौद्ध-सिद्धान्त के उस अंश के अनुरूप है जो विभिन्न विशेषो द्वारा उत्पन्न विभिन्न उद्दीपको के बीच समानता के द्वारा सामान्य की यथार्थता को स्थानान्तरित कर देता है। इसके अतिरिक्त हेतुत्व ही पर्याप्त नही है। इसके अतिरिक्त भी, विशेष और तदनुरूप सामान्य के बीच एक "सारूप्य" होता है। इस सारूप्य का क्या अर्थ है, इसका अगले अध्याय मे विवेचन किया जायगा।

---

[1] एनेलिसिस ऑफ माइण्ड, पृ० २२७ बाह्य निरीक्षण के लिये उपलब्ध तथ्य प्रमुखत अभ्यास होते हैं जिनकी यह विचित्रता होती है कि ऐसे उद्दीपको के प्रति भी अत्यन्त समान प्रतिक्रियायें उत्पन्न होती हैं जो अनेक दृष्टियो से परस्पर भिन्न होते हैं।" तुकी० आउट लाइन ऑफ फिलॉसफी, पृ० १७२ और बाद।

अध्याय ४

अपोह

§ १. दिङ्नाग का नामों का सिद्धान्त

अब हम दिङ्नाग के ज्ञान के नाटक के अन्तिम दृष्य पर पहुँच चुके हैं। कार्यकलाप की अभिजात एकता तथा स्थान की एकता इस नाटक की विशिष्टता है। नाटक मे केवल दो ही पात्र हैं जो ज्ञान के मञ्च पर सदैव प्रगट होते रहते है। ये सत् और विज्ञानत्व हैं। प्रथम प्रवाहमान है और द्वितीय स्थिर। प्रथम को क्षण कहा गया है और द्वितीय को विकल्प, अथवा कभी-कभी केवल न्याय। सत् को हम प्रथम दृष्य मे उसकी वास्तविक शुद्धता मे देख चुके हैं जो अबोधगम्य और अनभिलाप्य किन्तु स्पष्ट और साक्षात् प्रतिभासित होता है। धर्मोत्तर[1] इसे एक कौतुक कहते है जो जितना ही स्पष्ट उतना ही कम बुद्धिग्राह्य होता है। दूसरे दृष्य मे हमने विकल्प मे सत के एक परोक्ष अथवा सोपाधिक प्रतिभास को देखा है। निश्चय ने अपना एक ऐसे कार्य के रूप मे उद्घाटन किया है जो असगतिपूर्ण प्रतीत होनेवाले सत् और विज्ञानत्व को एक साथ ला देता है। अनुमान निश्चय के ही एक विस्तार के रूप मे प्रगट हुआ है जिसका कार्य सत् को अनुमित विकल्पो के साथ सम्बद्ध करना है। इस सम्बन्धीकरण का पर्याप्त हेतु दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यद्यपि अधीनस्थ पात्रो, तादात्म्य और तदुत्पत्ति, द्वारा व्यक्त हुआ है। ये एकात्मक क्षण को, तथा दो भिन्न किन्तु अन्योन्याश्रित क्षणो को व्यक्त करते हैं। नाटक के इस द्वितीय दृष्य को, जो विकल्पो तथा परमार्थ सत् के साथ उनके सम्बन्ध के पदार्थों की स्थापना करता है, बोधालव-समीक्षा कहा जा सकता है जो संवेदनालव-समीक्षा विषयक प्रथम दृष्य का अनुसरण करता है। अन्तिम दृष्य मे सत और वाणी के सम्बन्ध को प्रस्तुत किया गया है। अनभिलाप्य को फिर भी, नामो से, यद्यपि परोक्ष रूप से ही, उपाधित किया जा सकता है, और तब नाटक के प्रणेता के लिये सत् के प्रति नामो के व्यवहार को व्यक्त करना, सत् के उस अश की स्थापना करना भी आवश्यक हो जाता है जिसका ये नाम परोक्ष रूप से स्पर्श कर सकते हैं। जैसा कि देखा जायगा, यत नाम सत् का केवल अपोहात्मक रूप से ही स्पर्श कर

[1] अपोह प्रकरण मे।

सकते है, अत नाटक के अन्तिम दृश्य को बौद्ध-नाममात्रवाद अथवा वस्तुशून्य प्रज्ञप्तिवाद कहा जा सकता है जो बौद्ध अपोहात्मक विधि का भी दृश्य है। एक प्रख्यात उदाहरण का अनुसरण करते हुये, इस प्रकार हमे एक सवेदनालम्ब समीक्षा, एक बोधालम्ब समीक्षा और एक अनुभवातीत अपोहवाद मिलेगा, अनुभवातीत इसलिये क्योकि तर्कशास्त्र यहाँ परमार्थ सत् के साथ सम्बद्ध हो जाता है।

वास्तव मे हमारे ज्ञान मे भाषा का क्या कार्य है ? क्या यह ज्ञान का वास्तविक स्रोत है ? क्या यह इन्द्रियो और बुद्धि से भिन्न एक पृथक् स्रोत है ? अथवा दो प्रमुख स्रोतो मे से एक मे सम्मिलित गौण स्रोत है ? प्रथम दृष्टि मे यथार्थ ज्ञान के स्रोत के रूप मे शब्द-प्रामाण्य की मर्यादा को अस्वीकृत नही किया जा सकता, क्योकि, यहाँ विश्लेषित प्रणाली के अनुसार यथार्थ ज्ञान का स्रोत या प्रमाण क्या है ? हम देख चुके है कि, यह अबाधित अनुभव या अर्थ-सवाद है। यथार्थ ज्ञान सफल ज्ञान है। यह प्रत्येक सफल अर्थक्रिया का पूर्वगामी है। बाह्यार्थ हमारे ज्ञानात्मक सयन्त्र पर एक उद्दीपन उत्पन्न करता है। यथार्थता से उद्दीप्त होकर यह सयन्त्र उस वस्तु के आकार की कल्पना करता है जिससे उद्दीपन उत्पन्न हुआ रहता है। इस आकार से निर्देशित होकर हम कार्य करते हैं, और यदि आकार ठीक है तो कार्य सफल हो जाता है और वस्तु प्राप्त हो जाती है। मान लीजिये हमे यह सूचना मिलती है कि नदी के किनारे एक वृक्ष है और उस वृक्ष मे पाँच सेब फले है। तब हम नदी के किनारे जाकर वृक्ष को ढूँढ लेते है और सेबो तक पहुँच जाते है। कार्य सफल है क्योकि शब्द का प्रामाण्य ठीक था। किन्तु क्या इसका, जैसा कि कुछ दार्शनिको ने माना है, यह अर्थ है कि शब्द बाह्य यथार्थ की पर्याप्त अभिव्यञ्जना है; यह कि विषय और उसके नाम के बीच का सम्बन्ध मौलिक और नित्य है, यह कि सत् नामो के साथ गुँथा हुआ है और नाम के बिना कोई सत् नही होता, यह कि फलस्वरूप नाम सत् के पूर्वगामी होते है, यह कि भाषा एक प्रकार की जैवशक्ति है जो हमारे विकल्पो का निर्माण और यहाँ तक कि इन विकल्पो के ही अनुसार स्वय सत् का निर्माण करती है ? आगे हम देखेंगे कि ये सभी विचारधारायें दार्शनिक भारत मे व्यक्त हुई हैं। इन सब का बौद्धो ने जोरदार विरोध किया है। भाषा ज्ञान का एक पृथक् प्रमाण नही है और नाम सत का साक्षात् अथवा पर्याप्त अभिव्यञ्जक नही है। नाम आकारो अथवा विकल्पो के अनुरूप होते है और केवल सामान्यो को ही व्यक्त करते हैं। इस प्रकार, ये किसी भी प्रकार सत् के साक्षात् प्रतिभास

नही हं, क्योकि सत् विशेषो से निर्मित होता है सामान्यो से नही। अर्थक्रिया द्वारा सामान्यो तक नही पहुँचा जा सकता। विकल्पो और नामो की ही भाँति ये भी परोक्ष अथवा सत् के सोपाधिक[1] प्रतिभास होते हैं। ये सत् की केवल प्रतिध्वनि[2] और यथार्थ नही वल्कि तार्किक होते हैं। सत् का एक परोक्ष ज्ञान होने के कारण भाषा उस अनुमान से भिन्न नही है जिसकी स्वय भी ज्ञान की एक परोक्ष पद्धति के रूप मे परिभाषा की गई है। नाम एक मध्यपद है जिसके द्वारा उसके विषय का ज्ञान होना है। मध्यपद और वृहत् पद यहाँ विषयात्मक सन्दर्भ के तादात्म्य पर आधारित है, निगमन विभागात्मक है, और त्रिरूप हेतु की पूर्ति हो जाती है जैसे १) इस वस्तु को घट कहते हैं, २)जहाँ भी ऐसी वस्तुयें मिलती है उन्हे घट कहते हैं,३) यह नाम किसी अ-घट के लिये कभी व्यवहृत नही होता। फिर भी यह सिद्धान्त—यह कि तार्किक हेतु की ही भाँति नाम भी सत् के परोक्ष चिह्न होते हैं—दिङ्नाग के सिद्धान्त की प्रमुख विशिष्टता नही है। वह आगे यह भी कहते है कि सभी नाम प्रतिषेधात्मक अथवा जैसा हम कह सकते हैं, अपोहात्मक होते हैं।

इस प्रकार मानव बुद्धि के स्वाभाविक अपोह का भारत मे वौद्ध नैयायिको द्वारा नामो के सिद्धान्त के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। यह एक प्रकार का वस्तुशून्य-प्रज्ञप्तिवाद ही है। इस वात को भली-भाँति समझा गया है कि विकल्प और नाम एक ही भूमि को आवृत्त करते हैं क्योंकि विकल्पात्मक विचार की एक नामयोग्य विचार के रूप मे परिभाषा की गई है—एक ऐसे विचार के रूप मे जो नाम के साथ एकीभूत हो सकता है। दिङ्नाग कहते हैं कि "नाम विकल्पो मे उत्पन्न होते हैं, और इसके विपरीत विकल्प भी नाम मे उत्पन्न हो सकते हैं।" इसलिये, नाम के अभिप्राय का निर्धारण वैसा ही है जैसा कि विकल्पो की आधारभूत प्रकृति का निर्धारण। विकल्पो के सिद्धान्त को नामो के सिद्धान्त के अन्तर्गत ला दिये जाने की उन विशेष ऐतिहासिक स्थितियो

---

[1] यह कि भारतीय साक्षात् और परोक्ष प्रतिभास मे स्पष्ट विभेद करते थे, पार्थसारथि (श्लोकवा० पृ० ५५९) के इस स्थल से स्पष्ट है. "ज्ञानाकारम् स्वलक्षणम् वा भासमाणाम् अनुभासते, शब्दम् इव प्रति-शब्द" वास्तव मे ज्ञानाकार भासमान स्वलक्षण को अनुभासित करता है। भासमान= प्रतिभास वैसा ही होता है जैसा दर्पण का प्रतिविम्ब (आदर्शवत्), और अनुभास एक परोक्ष अथवा सोपाधिक प्रतिभास है।

[2] तुकी० गत टिप्पणी मे उद्धृत स्थल।

द्वारा सरलता से व्याख्या हो जाती है जिनसे बौद्ध सिद्धान्त उत्पन्न हुआ। कुछ सम्प्रदायो के लिये भाषा हमारे ज्ञान का एक विशेष प्रमाण है जो आधारभूत, परमार्थ तथा इन्द्रियो और बुद्धि के साथ समन्वित है। इन सिद्धान्तो के उत्तर मे दिङ्नाग यह वक्तव्य देते हैं:[१]

शब्दो से निष्कृष्ट ज्ञान (सिद्धान्तत) अनुमान से भिन्न नही होता। वास्तव मे कोई नाम केवल विरुद्ध अर्थ के प्रतिषेध द्वारा ही अपने अर्थ को व्यक्त कर सकता है, जैसे उदाहरण के लिये, "उत्पत्तिमान" शब्द (अपने अर्थ को केवल नित्य अथवा उत्पत्तिरहित वस्तुओ के विभेद द्वारा ही व्यक्त कर सकता है)।

इस बात का कि शब्दो से निष्कृष्ट ज्ञान (सिद्धान्तत) अनुमान से भिन्न नही होता, अर्थ यह है कि यह परोक्ष ज्ञान है। ज्ञान वास्तव मे या तो साक्षात् अथवा परोक्ष, या तो इन्द्रियो से उत्पन्न अथवा बुद्धि से उत्पन्न, या प्रत्यक्ष अथवा अनुमान (विकल्प) हो सकता है। शब्दो से गृहीत ज्ञान साक्षात् नही होता, सवेदना नही होता। यह तो परोक्ष और अनुमान से गृहीत ज्ञान के ही समान होता है। इस प्रकार साक्षात् और परोक्ष ज्ञान के विभेद के रूप मे इन्द्रियो और बुद्धि की एक नवीन विशिष्टता को प्रस्तुत किया गया है। इन्द्रियाँ विधि, विधि-स्वरूप[२] होती हैं। बुद्धि अपोहात्मक होती है, अर्थात् यह सदैव प्रतिषेधात्मक होती है। इसका विधान कभी भी साक्षात्, कभी भी शुद्ध नही होता। यह स्वय अपने अर्थ का, अनिवार्यत किसी अन्य अर्थ के प्रतिषेध द्वारा ही विधान करती है। "श्वेत" शब्द सभी श्वेत वस्तुओ के ज्ञान को ससूचित नही करता। ये वस्तुयें अनन्त हैं और कोई भी ऐसी सभी वस्तुओ को नही जानता। और न यह (श्वेत शब्द) इन्द्रियो द्वारा गृहीत बाह्य सत्ता के रूप मे "श्वेतत्व" के सामान्य रूप के ज्ञान को ही ससूचित करता है। किन्तु यह श्वेत और अश्वेत के बीच एक विभाजन-रेखा का द्योतक है जिसका श्वेत की प्रत्येक वैयक्तिक स्थिति मे ज्ञान होता है। श्वेत का अश्वेत के द्वारा और अश्वेत का श्वेत के द्वारा ज्ञान होता है। गो और गोत्व की दशा मे भी ऐसा ही होता है। इसका अ-गो के विभेद के द्वारा ज्ञान होता है। "उत्पत्तिमान" का विकल्प नित्यत्व के साथ विभेद के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु से युक्त नही है। प्रतिषेध पारस्परिक है। उत्पत्तिमान होने का अर्थ नित्यत्व का प्रतिषेध और नित्यत्व का अर्थ उत्पत्तिमान होने का प्रतिषेध है। यत प्रत्येक विकल्प की

---

[१] प्रमा० समु० ५ १।

[२] तुकी ऊपर पृ० २२७।

दशा मे और प्रत्येक नाम की दशा मे यही होता है, अत हम इस आशय मे हीगल के साथ यह कह सकते हैं कि "प्रतिषेधात्मकता ही जगत् की आत्मा है"। किन्तु हीगल ने जगत् मे तर्कशास्त्र के अतिरिक्त और कुछ नही छोडा है, इसलिये उनके जगत् में प्रतिषेध के अतिरिक्त और कुछ नही है। बौद्धो के दृष्टिकोण के अनुसार तर्कशास्त्र के अरिरिक्त एक वास्तविक सत् भी है जो न तो प्रतिषेधात्मक है और न अपोहात्मक। विकल्प तथा तर्क, ये सभी प्रतिषेधात्मक और अपोहात्मक होते हैं। सत् या वस्तु स्वलक्षण विधि, विधि स्वरूप है, यह अ-अपोहात्मक है। प्रतिषेध या अनुपलब्धि ने अन्तत अपने वास्तविक स्वरूप को प्रगट कर दिया। अन्त मे हम इस कठिन प्रश्न का कि "आखिर ससार मे अनुपलब्धि की क्या आवश्यकता है ? अकेले विधि ही पर्याप्त है!", अव उत्तर दे सकते हैं। ज्ञान सत् का एक विधायक ज्ञान है। यदि अनुपलब्धि भी सत् का ज्ञान है, तो इन दोनो की क्या आवश्यकता है। अव हमारे पास इसका उत्तर है। साक्षात् ज्ञान विधि है, परोक्ष ज्ञान अनुपलब्धि है। किन्तु शुद्ध विधि केवल विज्ञान है, जब कि शुद्ध तर्क सदैव अपोहात्मक, अर्थात प्रतिषेधात्मक होता है। यह सिद्धान्त कि ज्ञान के केवल दो ही प्रमाण हैं, इन्द्रियाँ और बुद्धि, अब एक नवीन और गहन आधार प्राप्त करता है। इन्द्रियाँ और बुद्धि न केवल ज्ञान के साक्षात् और परोक्ष प्रमाण के रूप मे ही वरन् विधि और अनुपलब्धि, अ-अपोहात्मक और अपोहात्मक प्रमाण के रूप मे भी सम्बद्ध हैं।

अपनी महान कृति मे शब्द द्वारा ससूचित ज्ञान का विवेचन करनेवाले अध्याय को दिङ्नाग इस वक्तव्य से आरम्भ करते हैं कि शाब्दिक ज्ञान साक्षात् नही वल्कि अनुमानात्मक, सापेक्षिक और अपोहात्मक होता है। तदनन्तर ये अन्य सम्प्रदायो के विभिन्न सिद्धान्तो की समीक्षा करते है। ये इस सिद्धान्त को कि नाम सामान्यो को व्यक्त करते हैं, 'अनन्त व्यभिचार'[1] के कारण अस्वीकृत करते हैं। इनकी आलोचना इस मत के विरुद्ध केन्द्रित है कि सामान्य एक विशेष मे स्थित वास्तविक सत्ता है और इसका इन्द्रियो के द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। सामान्य विशेषो की एक अनन्तता को आवृत्त करता है जिसका साक्षात् प्रत्यक्ष नही हो सकता। तदनन्तर आप इस वैशेषिक-सिद्धान्त को अस्वीकृत करते हैं जिसके अनुसार नाम "विभेदो" को व्यक्त करते हैं। यह सिद्धन्त स्वय इनके प्रतिषेधात्मक नामो के सिद्धान्त के साथ घनिष्ठ साम्य

---

[1] 'आनन्त्याद् व्यभिचाराच् च,' वही, श्लोक २, तुकी० तसप० पृ० २७७-२७ "न जातिशब्दो भेदानाम् वाचक आनन्त्यात्"।

प्रगट करता है किन्तु ये इसे इसके यथार्थवाद के कारण अस्वीकृत करते है। हम देख चुके हैं कि वैशेषिक, वास्तव मे, यह मानते थे कि प्रत्येक विशेष सत्ता मे एक वास्तविक "विशेष", एक वास्तविक "अन्यत्व" स्थित होता है जिसके कारण प्रत्येक वैयक्तिक वस्तु और यहाँ तक कि प्रत्येक परमाणु का भी अन्य वस्तुओ के साथ विभेद किया जा सकता है। आप नैयायिको के इस सिद्धान्त[1] को भी अस्वीकृत कर देते हैं कि नाम वस्तुओ की तीन कोटियो, अमूर्त सामान्य, मूर्त सामान्य, और विशेष, को व्यक्त करते है। सर्वथा विशेष सर्वथा अनभिलाप्य होता है, और मूर्त सामान्यो का अमूर्त सामान्यो से विभेद नही करना चाहिये। दोनो ही सामान्य हैं और दोनो ही अमूर्त है। नाम नि सन्देह सामान्यो को व्यक्त करते है, किन्तु किस प्रकार के सामान्यो को ? ये सामान्य हमारी बुद्धि मे होते हैं, इनकी रचना कल्पनाशक्ति द्वारा होती है, और ये अनिवार्यतः प्रतिषेधात्मक, सापेक्षिक तथा अपोहात्मक होते हैं। विभिन्न मतो को अस्वीकृत करने के बाद, दिङ्नाग इसे पुन दोहराते हैं कि शब्द द्वारा उत्पन्न ज्ञान "विरुद्ध के प्रतिषेध" की विधि, अर्थात् प्रतिषेधात्मक अथवा अपोहात्मक रूप से सत् का ज्ञान प्राप्त करता है।

दिङ्नाग के मूल के इस स्थल[2] पर जिनेन्द्रबुद्धि अपनी टीका को रोक कर अपने सिद्धान्त का निम्नलिखित साराश देते हैं, जिसका मैं यहाँ पूरा अनुवाद दे रहा हूँ।

§ २. नामों के प्रतिषेधामत्क अर्थ के सिद्धान्त पर जिनेन्द्रबुद्धि

(क) सभी नाम प्रतिषेधात्मक है

(प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, अध्याय ५ ११) "इसलिये किसी शब्द का अर्थ विरूद्ध अर्थ के प्रतिषेध मे निहित होता है"। "इसका अर्थ (जैसा कि "उत्पत्तिमान" आदि शब्दो मे स्पष्ट देखा जाता है) यह है कि शब्द स्वय अपने अर्थ मे विरुद्ध के प्रतिषेध को भी धारण करते हैं। (इस सिद्धान्त का आरम्भ मे उल्लेख किया जा चुका है और अब इसकी) समस्त विरोधी मतो की अस्वीकृति द्वारा स्थापना की गई है।"

(जिनेन्द्रबुद्धि, फ० २८५, अ०१) इन शब्दो का यह अर्थ है कि (उन सभी यथार्थवादी मतो की जो यह मानते है कि शब्द वास्तविक) सामान्यो को

---

[1] न्यासू० २ १ ६५

[2] तुकी० विशाल-अमलवती, तञ्जूर, म्दो० भाग ११५ (पेकिंग) पृ० २८५ और बाद।

व्यक्त करते हैं. अस्वीकृति का साराश प्रतुत करने मे दिङ्नाग केवल अपने सिद्धान्त (जिसका उन्होंने आरम्भ मे ही उल्लेख किया है) की स्थापना करते है। यहाँ कोई यह आपत्ति कर मकता है कि, मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान (जिसे साख्य मम्प्रदाय एक स्वतन्त्र साक्ष्य के रूप मे स्वीकार करता है) के विघातक रूप की समीक्षा तथा अस्वीकृति के समय जो कुछ व्याख्या की गई है उसके अनुमार अन्य के मतो का प्रतिवाद कर देने से ही स्वय अपने मिद्धान्त की स्थापना नही होती। किन्तु यह अपत्ति नही की जा सकती क्योकि स्वय (दिङ्नाग के) अपने सिद्धान्त का आरम्भ मे ही उल्लेख किया गया है जहाँ वह कहते हैं कि "जिस प्रकार 'उत्पत्तिमान' जैसे शब्द मे शब्द का स्वार्थ सदव ही विरुद्ध के प्रतिपेध द्वारा व्यक्त होता है।" इस प्रकार यह मिद्ध हुआ कि शब्द-प्रामाण्य (सिद्धान्तत) अनुमान से भिन्न नही है। (३८५, अ० ३) उन लोगो के सिद्धान्त की अस्वीकृति से जो यह मानते है कि शब्द ज्ञान का एक पृथक प्रमाण है और यह कि शब्द सामान्यो और (विशेपो) को साक्षात् विवि के द्वारा व्यक्त करता है, आचार्य के उसी सिद्धान्त की, इस सिद्धान्त की कि भाषा सामान्यो को विधि के द्वारा नही बल्कि अनुपलब्धि के द्वारा व्यक्त करती है, स्थापना हो जाती है।[1] (२८५ अ०४) ये शब्द एक प्रस्तावनात्मक टिप्पणी हैं। दिङ्नाग स्वय अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित और प्रमाणित करना चाहते हैं।

(२८५.अ०४) अब, (क्या 'प्रतिपेध' शब्द) यहाँ स्वभावानुपलब्धि का द्योतक है अथवा अन्य किसी विशेप प्रकार का? और इसमे क्या परिणाम निहित है? यदि यह प्रतिपेध्य की स्वभावानुपलब्धि है, तो मूल के साथ विरोध होगा जहाँ यह कहा गया है कि शब्द विरुद्ध की अस्वीकृति द्वारा "स्वय अपने अर्थ" को व्यक्त करते हैं क्योकि (सामान्यतया) किसी अन्य की मात्र अस्वीकृति, स्वय अपने (साक्षात्) अर्थ के वक्तव्य से स्वतन्त्र रूप से की जाती है। (२८५ अ०६) तब अर्थ का एक भाग अनुपलब्धि द्वारा ससूचित होगा। शब्द तब एक (अभिप्रेत) अनुपलब्धि के रूप मे एक विशेष (निहित) अर्थ को व्यक्त करेगा। द्विविध अर्थ के इस सिद्धान्त को माननेवालो का दिङ्नाग के मूल द्वारा विरोध हो जाता है।[2]

---

[1] जि० यहाँ दिङ्नाग द्वारा प्रयुक्त 'व्यवस्थित' शब्द की, विभिन्न सिद्धान्त की अस्वीकृत के बाद स्वय उनके अपने सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध होने के रूप मे व्याख्या करते हैं। यह कुछ निरर्थक सी टीका है।

[2] २८५ अ ७ की पक्ति का प्रथम अश मुद्रण दोप के कारण दोहराया गया है।

(२८५ अ०७) किन्तु यदि ('प्रतिषेध शब्द) एक विशेष प्रकार की अनुपलब्धि[1] का द्योतक् है, तब विरुद्ध का समान रूप से प्रतिषेध करने वाले मत (अर्थात् समान रूप से दो भिन्न कार्य करने—विरुद्ध का प्रतिषेध करने और स्वय अपने अर्थ का विधान करनेवाले मत) को अस्वीकृत किया गया है। वास्तव मे तब अर्थ यह है कि जिस प्रकार अनुपलब्धि के निपात का प्रतिषेध के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नही है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्द का विरुद्ध के प्रतिषेध के अतिरिक्त और कोई कार्य नही हो सकता।

(२८५ ब०१) किन्तु क्या द्विविध अर्थ का मत वास्तव मे एक भिन्न मत है ? इस मत का दोष (अर्थात् यह दोष कि यह दिड्नाग के मूल का विरोध करता है) क्या इस (अन्यमत) तक विस्तृत नही हो सकता (क्योकि दिड्नाग शब्द के स्वय अपने अर्थ की चर्चा करते हैं) ? नही, ऐसा नही हो सकता ! क्योकि विरुद्ध का प्रतिषेध (प्रत्येक शब्द का) व्यावर्तक अर्थ होता है। और (दिड्नाग के वक्तव्य के साथ) कोई विरोध नही है, क्योकि शब्द का स्वय अपना अर्थ विरुद्ध का प्रतिषेध ही है (और कुछ अन्य नही)। इसे यहाँ 'विरुद्ध प्रतिषेध' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। वास्तव मे दिडनाग के मूल शब्दो का उद्देश्य यह है कि शब्द "विभेद के द्वारा" स्वय अपने अर्थ को व्यक्त करता है।

(२८५. ब०२) एक और विचार ! (हम अन्वय और व्यतिरेक का परार्थानुमान के दो भिन्न आकारों, एक विधि और दूसरे अनुपलब्धि, के लिये प्रयोग करते हैं)। यदि हम कुछ विशेष कहते हैं तो हम समझते है कि वह कुछ अन्य से भिन्न है। कुछ कहने के अभ्यास को एक अन्वय और व्यतिरेक के रूप मे समझा जाता है। शब्द, इस प्रकार, विधि तथा प्रतिषेध के अभिव्यञ्जक होते हैं। इस प्रकार इस सम्बन्ध का केवल एक ही भाग है जिसे विरुद्ध के प्रतिषेध के रूप मे ही समझना चाहिये (२८५ ब० ४)। किन्तु यहाँ यह कहा गया है कि शब्द व्यावृत्त रूप से विशेष अर्थ के ही द्योतक होते हैं (ऐसे अर्थों के जो विरुद्ध के प्रतिषेध मे निहित होते हैं)। (विधि और विरुद्ध की अनुपलब्धि के बीच केवल एक ही अर्थ है) ऐसा कोई सम्बन्ध नही कि एक दूसरे को उपलक्षित करेगा।

(२८५.ब० ४) फिर भी, क्या साधारण जीवन मे हम वाणी के शब्दो को या तो केवल विधि के आशय मे अथवा केवल अनुपलब्धि के ही आशय मे नही ग्रहण करते ?

---

[1] इस विशेष अनुपलब्धि को 'पर्युदास' भी कहते हैं।

नही ऐसा नही है ? (शब्द केवल अनुपलब्धियो को, केवल विभेदो को ही व्यक्त करते हैं।) क्योकि विना किसी निहित अनुपलब्धि के शुद्ध विधि निरर्थक है। (यह कोई निश्चित फल प्रदान नही करती)। (२८५ व० ६)। इसी प्रकार हम शुद्ध अनुपलब्धि पर भी अपने को आधारित नही कर सकते। तदनुरूप अन्वय के विना कोई व्यतिरेक नही होता, और व्यतिरेक के विना अन्वय भी नही हो सकता।[1] अन्वय (अथवा विधायक व्याप्ति)[2] को साक्षात् अर्थ माना जाता है, किन्तु साथ ही साथ एक अनुपलब्धि (अथवा व्यतिरेक) के विना ऐसा असम्भव है। स्वय अपने अर्थ से किसी अन्य अर्थ के प्रतिषेध में ही व्यतिरेक निहित होता है। ऐसा सोचा भी नही जा सकता कि निहित अन्वय के विना भी व्यतिरेक हो सकता है।

(२८५ व० ७) ठीक इसी कारण शब्द दो भिन्न कार्यों को, अर्थात् विरुद्ध अर्थ के प्रतिषेध और स्वय अपने अर्थ के विधायक वक्तव्य के कार्य को सम्पन्न नही करता, क्योकि किसी शब्द के स्वय अर्थ का स्वभाव उसके अन्य अर्थों से भिन्न होने मे ही निहित होता है। ज्योही कोई शब्द व्यक्त होता है त्योही हम सीधे इस बात का अनुभव कर लेते हैं कि विरुद्ध अर्थ प्रतिषेधित है।

(२८५. व० ८) ठीक जिस प्रकार जब हम यह कहते हैं 'यमज भ्राता'। यत यमज का निर्माण करने के लिये एक युग्म की आवश्यकता होती है अत जब एक का उल्लेख होता है तब हम अनिवार्यत समझ लेते हैं कि दूसरा यमज भी है, उसी प्रकार किसी भी ऐसे वर्ग में जिसमे दो इकाइयाँ होती है उसमे केवल दो ही होने के कारण जब एक का उल्लेख होता है तब उसका दूसरे से विभेद भी होता है।

(२८६ अ० २) (यह आपत्ति की गई है कि)[3] यदि शब्द विरुद्ध के प्रतिषेध के द्वारा ही अपने कार्य को समाप्त कर ले तो हमे उसके विधायक आशय को व्यक्त करने के लिये अन्य शब्द को ढूँढना होगा। किन्तु यह त्रुटि है, क्योकि शब्द आशयत विरुद्ध का प्रतिषेध करता है। वास्तव मे कोई भी

---

[1] तुकी० न्याबिटी० पृ० ७८ २२ एकस्य, अन्वयस्य व्यतिरेकस्य वा, यो (अ) भाव निश्चय स एव अपरस्य द्वितीयस्य भाव-निश्चय-अनन्तरीयक।

[2] "अन्वय-व्यतिरेक" वही है जो भाव-अभाव", तुकी० न्याबिटी पृ० ७९ ७ अन्वय व्यतिरेकौ भावाभावौ।

[3] भामह द्वारा। तुकी० तस० और तसप० पृ० २९१।

शब्द स्वयं अपने अर्थ के ससूचन मात्र के द्वारा समस्त विरुद्धो के प्रतिषेध को भी सूचित कर देता है, क्योकि यह ससूचित (प्रतिषेधात्मक) अर्थ (उसके विधायक अर्थ से) अपृथक्करणीय है।

(२८६ अ० ४) अत यह मानने मे लेश मात्र भी विरोध नहीं है कि किसी शब्द का "स्वय अपना अर्थ" अनुपलब्धि मे निहित होता है।

(ख) सामान्यो की उत्पत्ति

(२८६. अ०४) अब आगे (उसे प्रतिषेधात्मक रहने दो !) यह (प्रतिषेधात्मक अर्थ) किसको व्यक्त करता है ? यह एक ऐसे सामान्य रूप को व्यक्त करता है जिसे वक्ता उपाधित करना चाहता है। यह वास्तव मे अनिवार्यत किसी शब्द से ही सम्बद्ध होता है। इसलिये शब्द ही उसका प्रमाण है जो वक्ता व्यक्त करना चाहता है।

(२८६ अ०५) फिर भी, यदि शब्द से कोई (वास्तविक) सामान्य अभिप्रेत हो, तो यह कैसे होता है कि एक (मूर्त) मानसिक आकार को शब्द के अनुरूप वस्तु मान लिया जाता है ? (हाँ वास्तव मे !) यह मानसिक आकार ही वह है जो (सम्पूर्ण) सामान्य का निर्माण करता है। (२८६-अ०६) कैसे ? (यह मानसिक आकार एक सामान्य है, क्योकि यह अनेक हेतुओ के सम्मिलित परिणाम को व्यक्त करता है)। (उदाहरण के लिये) एक दृष्य सवेदना को लीजिये। यह (एक प्रणाली के अनुसार)[१] दृष्येन्द्रिय, किसी प्रतिभास, और ध्यान का सम्मिलित उत्पाद होता है, अथवा (यथार्थवादियो के अनुसार) यह आत्मा तथा उसके अन्त करण, वाह्येन्द्रिय और बाह्य विषय के साथ अन्तर्क्रिया द्वारा उत्पन्न होता है। ये सभी तत्त्व पृथक् इकाइयाँ हैं। इनमे कोई व्यापक सामान्य एकत्व नही है (किन्तु एक साथ मिलकर ये एक सम्मिलित परिणाम उत्पन्न करते हैं। ठीक इसी प्रकार शिशपा और अन्य अकेले विषय अपने मे किसी भी परस्पर व्यापक यथार्थ एकत्व के बिना भी, प्रत्येक निरीक्षक द्वारा स्वय अपने चित्त मे पृथक् रूप से अनुभूत होने पर भी, मात्र एकीकृत आकार को प्रस्तुत करते हैं। ये हमारी कल्पना-शक्ति को उद्दीप्त करते हैं और (इस कल्पना के अनेक कार्य) एक अभेद प्रतिभास की रचना करते हैं जो विकल्प-विज्ञान बन जाता है।

(२८६ अ० ८) और यह (एकमात्र आकार) किसी प्रकार हमे ऐसे विभिन्न रूपो (की वस्तुओ की एक शृङ्खला) को इस प्रकार प्रस्तुत करता है मानो ये भिन्न नही हैं। यह विशिष्टीकृत (विशेष) और विशेषक

---

[१] तुकी० मेरा सेक० पृ० ५४ और बाद।

(सामान्य) के बीच एकत्व को प्रस्तुत करता है। आरोपण के द्वारा यह स्वयं अपने अविभेदीकृत प्रतिभास को इस (वैयक्तिक वस्तुओं के नानात्व) पर आरोपित कर देता है। विकल्पो की इस शक्ति का स्वभाव इस बात मे निहित है कि यह वैयक्तिक रूपो के भेद को मिटा देता है (और उनको एक सामान्य रूप से स्थानान्तरित कर देता है)।

(२८६ व०१) अब इस (विशुद्ध आन्तरिक प्रतिभास) को अज्ञानी मानवता द्वारा एक वाह्य वस्तु मान लिया जाता है। इसका इस प्रकार विस्तार कर दिया जाता है कि यह अनेक भिन्न व्यक्तियो को आवृत्त करे, उन्हे वाह्य जगत मे प्रक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करे, और उन्हे हेतुक प्रभावोत्पादकता से युक्त कर दे।

(२८६ व० २) इस प्रकार एक विशुद्ध मानसिक वस्तु एक वाह्य वस्तु मे परिणत हो जाती है। इसका वाह्य जगत मे इस प्रकार प्रक्षेपित और प्रपञ्चित प्रसार कर दिया जाता है जैसे यह उतनी ही यथार्थ वस्तुयें बन जाना है। और साधारण मानवो के विचार का ऐसा अभ्यास होता है कि वह इस प्रक्षेपण को एक वास्तविक सामान्य मान लेता है।[1] (२८६.व० ३) तव यह कैसे होता है कि हम यह मान लेते हैं कि किसी शब्द का अर्थ इस प्रकार का सामान्य है और यह कि यह विरुद्ध के प्रतिषेध मात्र मे निहित है? (हाँ,वास्तव मे!) यह सामान्य विरुद्ध के प्रतिषेध के अतिरिक्त और कुछ नही। (२८६ व० ३) तव यह कैसे होता है कि जो कुछ प्रत्येक वाह्य वस्तु का अन्य वस्तुओ से विभेद करता है वह विरुद्ध के प्रतिषेध के (मानसिक व्यापार के अतिरिक्त और कुछ नही)? वास्तव मे "भेद", "विरुद्ध का प्रतिषेध", "उसको स्पष्ट करना जो भिन्न है", आदि एक ही वात को व्यक्त करने की विविध विधियाँ हैं, क्योकि हम इस वात को नही मानते कि भेद उस वस्तु से ऊपर और अधिक कुछ होता है जो भेद से युक्त होती है।

(२८३ व५) इसलिये (यह प्रश्न (उठता है)। (यदि हमारे ज्ञान और हमारी वाणी सत्य से युक्त तथा हमे सत् के साथ सम्बद्ध करते हैं, और यदि सत् केवल विशेष मात्र मे ही निहित होता है, जव कि वाणी केवल सामान्यो और केवल अनुपलब्धि को ही व्यक्त करती है) तव यह कैसे हो सकता है

---

[1] शब्दार्थ "वस्तुओ का यह प्रक्षेप और प्रपञ्च सदैव ही वुद्धि मे सम्पूर्णत इस प्रकार स्थित होते हुये कि जैसे वह वाह्य हो, विषयी द्वारा अपने विचार की प्रणाली के अनुसार एक समान्य मान लिया जाता है।

कि किसी बाह्य विशेष का यह वही स्वभाव, वस्तुस्वलक्षण, किसी ऐसे मे परिवर्तित हो जाता है जिसका स्वभाव मानसिक और प्रतिषेधात्मक है ? (२८६ ब०५) यह प्रश्न समीचीन नही है। अनुभवातीतवादी दार्शनिक, जो परमार्थ-सत् के अनुसन्धान मे लिप्त है, (सत् और विज्ञानत्व के बीच के) विभेद को सदैव जान सकते हैं, किन्तु अन्य लोग नही जान सकते। (साधारण मनुष्य इन्हे सदैव ही विपर्यस्य कर देंगे) क्योकि ये यह सोचते हैं कि वही आकार जो उनके चित्त में है सत् और अर्थक्रियाकारी हो सकता है। इनका विश्वास होता है कि जब हम किसी वस्तु को सर्वप्रथम देखते और उसे नाम प्रदान करते हैं, तब तथा साथ ही साथ, उस वस्तु के प्रति व्यावहारिक प्रतिक्रिया के क्षण मे भी वह वही वस्तु रहती है जैसी कि हमारी कल्पना मे रचित होती है, (इनका यह विश्वास होता है कि सत का विचार के साथ सादृश्य होता है)। (२८६ ब० ७) अत यदि वह हम पर अपना यह मत आरोपित करें कि विरुद्ध का प्रतिषेध एक बाह्य सत् है, तो यह उनके विचार मे अभ्यास के अनुरूप ही होगा। किन्तु विद्वान् व्यक्ति, जैसे कि परमार्थ सत् के अनुसन्धान मे अभ्यस्त होते हैं, कभी भी एकत्व (और मामान्य की यथार्थता) मे विश्वास नहीं करेंगे, क्योकि प्रत्येक प्रतिभास (और प्रत्येक वस्तु) अपने मे पृथक् है।

(२८६ ब०८) साथ ही, हमारी बुद्धि द्वारा सामान्य विचारो के उत्पादन का एक मात्र आधार वही विरुद्ध का प्रतिषेध है। हम कह चुके हैं कि शब्दो का अर्थ विरुद्ध के प्रतिषेध मे निहित होता है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि (सामान्य अपने स्वभाव मे प्रतिषेधात्मक होते हैं)। (२८६ ब० ८) (वास्तव मे इस प्रकार की प्रतिषेधात्मक सामान्यता ही एक मात्र ऐसी है) जो स्वयं सत् मे निहित होती है और जिसे बिना विरोधत्व के स्वीकार किया जा सकता है।

(२८७ अ० १) अत यह मानना किसी भी प्रकार विरुद्ध नही है कि वह सत् जो समान आकारों के आधार को व्यक्त करता है, विरुद्ध के प्रतिषेध के अतिरिक्त और कुछ नही। (भिन्न वैयक्तिक वस्तुयें वास्तव मे समान उद्दीपन उत्पन्न करती हैं) इस प्रकार परिणामो का एक ऐसा एकत्व उत्पन्न होता है जो ऐसे व्यक्तियो को पृथक् कर देता है जो उसी परिणाम को उत्पन्न नही करते। (एक ही उद्दीपन उत्पन्न करने वाली वस्तुयें) तब एक (अनुभवातीत) भ्रम का कारण बन जाती हैं और एक ऐसे व्यापक आकार की रचना करती हैं जिसका एक सामान्य जैसा रूप होता है। इस प्रकार यह

सिद्ध है (कि सामान्य एक आन्तरिक उत्पाद है जो भ्रामक रूप से एक बाह्य सत् के रूप मे प्रगट होता है)।

(ग) यथार्थवादियों के साथ विवाद

(२८७ अ०२) इसके प्रति वह (यथार्थवादी) जो मामान्यो (के बाह्य सत्) को मानते हैं यह आपत्ति करते हैं। यदि कोई 'वृक्ष' किसी 'अ-वृक्ष के प्रतिषेध से अधिक कुछ न हो तो हम वृक्ष के प्रथम ज्ञान की कभी भी व्याख्या नही कर सकेंगे। वास्तव मे किसी वृक्ष के प्रथम ज्ञान के समय अभी हम यह नही जानते कि अ-वृक्ष क्या है। तब यदि इस प्रश्न का कि "अ-वृक्ष क्या है' हम यह उत्तर दें कि "वह वृक्ष नही है", तथा इस प्रश्न का कि "वृक्ष क्या है", हम यह उत्तर दें कि "वह अ-वृक्ष नही है" तो इसका अर्थ एक चक्रवत् तर्क होगा। अत विरुद्ध के प्रतिषेध मात्र से ही एक मात्र सापेक्ष वस्तु का, जिसका अभी हमारी बुद्धि मे कोई स्वतन्त्र आधार नही है, नाम निर्धारित करना असम्भव है।

(२८७ अ० ५) (अनुभवातीतवादी) फिर भी, यदि तुम परम्परया एक (यथार्थ) सामान्य 'वृक्ष' का एक नाम निर्धारित कर देते हो, तो अ-वृक्षो को प्रत्यादिष्ट करते हो या नहीं? मान लिया कि तुम उनको प्रत्यादिष्ट करने के लिये तैयार हो, किन्तु पहले से यह जाने बिना कि वृक्ष क्या होता है, तुम यह नही जान सकोगे कि किस प्रकार ऐसा करें। उस समय, वास्तव मे, ग्रहण करने वाला (मानव चित्त) अभी यह नही जानता कि वृक्ष क्या है। वह अभी मात्र इस इच्छा से समस्या के निकट जाता है कि यह जान सके कि वृक्ष क्या है और अ-वृक्ष क्या। और इसे न जानते हुये वह शब्द के अभिप्राय से अ-वृक्षो का प्रतिषेध करना कैसे जानेगा?

बिना उसे जाने, विरुद्ध का प्रतिषेध किये बिना ही निर्मित शब्द से, अपने व्यावहारिक जीवन-व्यापार मे उसके लिये (वृक्षो से अ-वृक्षो का) विभेद करना उसी प्रकार असम्भव होगा, जिस प्रकार उसके लिये शिशपा का (यदि वह पहले से यह नही जानता कि अ-शिशपा क्या होता है) विभेद करना असम्भव है। (२८७ अ० ७) यदि हम किसी वस्तु को उसका पहले से (अन्य वस्तुओं से) विभेद किये बिना ही, कोई नाम प्रदान करते हैं तो हम अपने व्यावहारिक व्यापार मे ऐसा विभेद नही कर सकेंगे कि जो कुछ हम चाहते हैं उस तक पहुँच सकें तथा जो नही चाहते उससे बच सकें। (२८७ अ०८) वास्तव मे, यदि हम 'वृक्ष' नाम को, इस शब्द के सामान्य अर्थ का शिशपा आदि

इसके प्रकारो से विभेद किये बिना ही, सामान्य रूप से वृक्षो के साथ सयुक्त कर दें तो, मान लीजिये कि हम शिंशपा नही वल्कि किसी अन्य प्रकार की लकडी चाहते हैं तो, हम यह नही जान सकेंगे कि किस प्रकार व्यवहार करे। (२८७.ब०१) साथ ही, यदि हम पहले से अ-वृक्षो से विभेद किये बिना ही 'वृक्ष' शब्द का सामान्य रूप से वृक्षो के लिये प्रयोग करें तो हम,विरोधत्व मे पड जायँगे॰। (२८७ ब०१) किन्तु इसे ऐसे ही रहने दें(जैसी कि स्थिति है)! यथार्थवादी, जो यह मानता है कि सामान्य यथार्थ वस्तुयें हैं, एक अन्य तर्क भी प्रस्तुत करता है। (वह कहता है) तुम जो भी चाहते हो उसका प्रतिषेध करो, तुम (मात्र प्रतिषेध से) कुछ भी प्राप्त नही कर सकते ! किन्तु अपने सम्मुख स्थित वस्तु की ओर सीधे सकेत करके हम उसके नाम का पारम्परया निर्धारण कर सकते हैं और कह सकते हैं कि "यह एक वृक्ष है"। इस प्रकार, या तो उस सामान्य को जिसका कि परम्परा के समय स्वय प्रत्यक्ष होता है, अथवा उस सामान्य को जो (प्रत्यक्षीकृत वस्तु के साथ) सम्बद्ध है, अपने व्यवहार मे उस समय पहचान सकेगें जब हम या तो उस तक पहुँचना चाहेगे अथवा उससे बचना चाहेगे।

(२८७,ब०३) (इस प्रकार सिद्धान्त के सम्बन्ध मे) स्थिति यह है कि व्यवहार के लिये परिणाम (यथार्थवादी के लिये और अनुभवातीतवादी के लिये) एक ही नही होगा! यथार्थवादी वृक्ष को पहचानेगा और यह भी जानेगा कि किस प्रकार व्यवहार किया जाय।

(२८७ ब०३): (अनुभवातीतवादी) नही ! परिणाम "एक ही नही होगे"! (वे बिल्कुल एक ही होगे !) (वास्तव मे इस द्विधा पर विचार कीजिये)। जब तुम किसी मात्र वस्तु की ओर संकेत करते हुये कहते हो कि "यह एक वृक्ष है" तब तुम इस शब्द का किसी नियन्त्रण के साथ प्रयोग करते हो या बिना किसी नियन्त्रण के साथ ? प्रथम दशा मे अर्थ यह होगा कि "मात्र यही एक वृक्ष है, अन्य कोई नही"। यदि तुमने पहले कभी भी कोई वृक्ष नही देखा है, और यदि तुम यह बिल्कुल नही जानते कि अ-वृक्ष क्या है, तो यह नाम किस प्रकार किसी निश्चित अर्थ को सूचित करेगा ? (२८७ ब०५) किन्तु यदि तुम बिना किसी नियन्त्रण के ही यह कहो कि "यह एक वृक्ष है, किन्तु अन्य वस्तुयें भी ऐसी हैं जो "वृक्ष है", तब इस प्रकार सूचित व्यक्ति, मान लो वह उस समय वृक्षो के ससर्ग मे आने से बचना चाहता है तो, किस प्रकार व्यवहार करेगा ? यथार्थवादियो के लिये भी कठिनाई वही है ! (उन्हें भी यह जानना आवश्यक है कि अ-वृक्ष क्या होते हैं)।

(२८७ व०५) (यथार्थवादी)· मैं यह मानता हूँ कि जव तुमने इन्द्रियो द्वारा किसी वस्तु का प्रत्यक्ष कर लिया तो वह वस्तु किसके विरुद्ध है और उससे विभेद करना जो वह नही है) यह जानना सरल होता है। इस आशय मे (यथार्थवादी सिद्धान्त) कठिनाई का परिहार करना है। (२८७ व०६) इस प्रकार के निश्चित विषय के, वह चाहे जो कुछ भी हो, साक्षात् इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से युक्त होने पर जव हम आन्तरिक रूप से यह अनुभव करते हैं कि अन्य विषय की दशा मे एक अन्य रूप वाला अन्य चित्र हमारी बुद्धि मे उपस्थित है, जव हम यह अनुभव करते हैं कि यह रूप उस वस्तु से भिन्न है जिसे उस समय देखा गया था जव उसके नाम का सर्वप्रथम ससूचन मिला था, तव हम वृक्षो का विजातीय अ-वृक्षो के साथ विभेद कर सकते हैं। ठीक तभी हम इस वात को भली भाँति जान लेते हैं कि "ये मात्र ही वृक्ष हैं" और यह स्वत अनुमित होगा कि "वह समस्त वस्तुयें जिनमे (यह रूप) प्रतिभासित नही है अ-वृक्ष हैं"। (२८७ व०८) यह (सिद्धान्त जो एक ही वस्तु के साक्षात् प्रत्यक्ष पर अपने को आधारित करता है) परस्पर परिहारवाद[1] के अनुसार असम्भव हो जाता है क्योकि इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्षीकृत रूप एक वस्तु है, और उस वस्तु का जो प्रथम नामकरण के समय हमारे समक्ष खडी थी, वाद मे फिर कभी भी प्रत्यक्ष नही होता। और यदि उसका विज्ञान हो भी तो उस मूर्त विशेष वृक्ष का जो प्रथम नामकरण के समय देखा गया था, किसी अन्य वृक्ष मे कभी भी वोध नही होता। हम यह कभी नही कह सकते कि "यह वही वृक्ष है (जिसे हमने पहले देखा है)।" अत पलाश अथवा वृक्षो का अन्य कोई भी प्रकार उस विशेष प्रत्यक्षीकृत वृक्ष से उसी मात्रा मे भिन्न होगा, जिसमें वह किसी घर अथवा अन्य किसी भी वस्तु से भिन्न है क्योकि किसी भी ऐसे व्यापक रूप को (जो वृक्षो के समस्त प्रकारो मे समानरूप से विद्यमान हो और सव को एक यथार्थ जाति मे एकीकृत करता हो) स्वीकार नही किया गया है।

(२८८ अ०२) (अनुभवातीतवादी) किन्तु ठहरो, देखो! तुम्हारा यह सिद्धान्त अनुपलब्धि के समान है! (तुम ऐसी व्यापक यथार्थताओ को मानते हो जो एक ही वर्ग की वस्तु मे यथार्थत विद्यमान होती हैं, हम ऐसी पृथक् वस्तुओ से, जो अपने मे किसी व्यापक एकत्व से युक्त नहीं हैं, उत्पन्न समान उद्दीपको को स्वीकार करते हैं)। (२८८ अ०३) वास्तव मे ये वस्तुयें (वृक्ष)

---

[1] परिच्छेदवाद।

प्रत्येकश पृथक् वस्तुयें (एक चिदणु) हैं। किन्तु, फिर भी, इनमे से प्रत्येक, अपने स्वभाव से प्रत्यभिज्ञा के एक ही और उसी प्रभाव को उत्पन्न करती है जो अन्य वस्तुयें (अ-वृक्ष) उत्पन्न नही करती। इस प्रकार का विभेदात्मक निश्चय कि "ये वस्तुयें हमारी प्रत्यभिज्ञा का कारण हैं अन्य नही", उत्पन्न करने के बाद मानव बुद्धि इस प्रकार वाद के विश्व को इन दो वर्गों मे विभक्त कर देती है। इसी कारण मेरी यह प्रत्यभिज्ञा (यद्यपि) परोक्ष रूप से एक एकात्मक वस्तु का बोध करती है, क्योंकि यह एक ऐसी वस्तु से ही उत्पन्न है जिसका परिणाम एकात्मक है (इसलिये नही कि कोई एकात्मक बाह्य वस्तु विद्यमान है)। (२८८ अ०४) इस प्रकार एक ही परिणाम उत्पन्न करने वाली हमारी बुद्धि की द्वैधीकरणात्मक प्रक्रियायें उस प्रत्यभिज्ञा मे निहित होती हैं जो विषयीकरणात्मक सविकल्पक निश्चय मे बाह्य जगत मे प्रक्षेपित सामान्य का रूप प्राप्त कर लेती है। ये द्वैधीकरण पृथक् वैयक्तिक आकरो के रूप मे प्रगट होते हैं, और बाह्यत्व से युक्त, हेतुक प्रापकता से युक्त, तथा एक प्रकार के निरपवाद सम्बन्ध से युक्त प्रतीत होते है।

(घ) व्यक्तियो का अनुभव मानव मन का स्वीकृत अनुभव बन जाता है

(२८८ अ० ६) प्रत्यक्षात्मक निश्चय किसी के अपने मानसिक आकार की बाह्य वस्तु की प्रकृति से युक्त होने के रूप में स्थापना करता है। इस प्रकार इसकी कल्पना मे रचना होती है। प्रत्येक विषयी अपने अन्त करण मे स्वयं अपने आकारो का अनुभव करता है। फिर भी, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की कल्पनात्मक प्रतिक्रियायें एक दूसरे से सहमत होती हैं। यह एक ही चक्षुरोग से ग्रसित दो व्यक्तियो के दृष्यानुभव के बिल्कुल समान होता है। ये दोनो ही दो चन्द्रमा देखते हैं, यद्यपि इनमे से प्रत्येक अपने आन्तरिक अनुभव मे केवल स्वय अपने ही आकार को रखता है तथापि दोनो यह मानते हैं कि वे एक ही बात (दो चन्द्रमा) देख रहे हैं।

(२८८. अ० ७) इसलिये, भ्रम के कारण, हम एक ही सामान्य को विभिन्न वस्तुओ मे व्याप्त होने के रूप मे देखते हैं। उन दूरस्थ वृक्षो से तुलना करते हुये ये (यहाँ) भी वृक्ष ही हैं इस प्रकार (सामान्य अर्थ के विर्धारण मे) वे वस्तुयें वर्जित होती हैं जो (इस प्रकार के भ्रामक बाह्यकृत) आकारो को उत्पन्न करने की हेतु नही है। तब हम स्वभावत यह अनुभव करते है कि विरुद्ध रूपधारी समस्त वस्तुयें अ-वृक्ष हैं।

(ङ) निष्कर्ष

एक ऐसी पृथक् वस्तु के रूप मे प्रत्यक्षीकृत वस्तु, जो, फिर भी, साथ ही साथ उपलब्ध और अनुपलब्ध होगी, जो इस प्रकार एक वृक्ष और अ-वृक्ष के बीच अन्तर उत्पन्न करेगी, जो एक ऐसी एकत्व होगी जिसका इन्द्रियो से प्रत्यक्ष हो सकता है—ऐसी वस्तु (अर्थात् सामान्य वस्तु) की कोई सत्ता नही है, क्योकि इनका (वृक्ष और अ-वृक्ष का) उस प्रकार पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष नही होता जैसे दण्ड और दण्ड धारण करनेवाले का। (२८८ ब० १) इनका इस प्रकार बोध नही हो सकता क्योकि इनमे एक दूसरे का परोक्ष लिङ्ग नही है। (ये अपोहात्मक रूप से सयुक्त हैं—एक ही वस्तु एक साथ ही वृक्षो की विधि और अ-वृक्षों की अनुपलब्धि है)।

(२८८ ब० २) एक ही रूप जिसका एक वैयक्तिक वस्तु में प्रत्यक्ष होता है, उसी का अन्य मे भी प्रत्यक्ष होता है। यदि कोई ऐसी वस्तु हो जो एक साथ ही इस निश्चित रूप मे युक्त हो और न हो, जो एक साथ ही वृक्ष हो और अ-वृक्ष भी हो, तभी हमे ऐसा यथार्थ व्यक्ति मिल सकता है जो स्वयं अपने मे वृक्ष हो।

(२८८ ब० २) हमारे विपक्षी शब्दो के प्रतिषेधात्मक अर्थ के सिद्धान्त के स्वभाव से अनभिज्ञ हैं। वे हमारे ऊपर एक ऐसे सिद्धान्त को आरोपित करते हैं जो कभी भी हमारा था ही नही। वे यह मानते हैं कि इस सिद्धान्त का अर्थ प्रत्येक यथार्थता की सीधी अस्वीकृति है और इसके लिये वे हमारा अपमान करने के लिये सदैव तत्पर रहते हैं। अनुपलब्धि के स्वभाव के इस गम्भीर उद्घाटन मात्र से ही हम लोगो ने उनकी समस्त आपत्तियो का निरास कर दिया है, और इस प्रकार हम मानते हैं कि हमारा शत्रु पराभूत हो गया।
उसका प्रतिवाद करके दिङ्नाग ने एक अत्यन्त महान कार्य किया होगा, और इस विशद विषय पर इतना विवेचन पर्याप्त।

§ ३. शब्दो के प्रतिषेधात्मक अर्थ पर शान्तिरक्षित और कमलशील

निम्नलिखित वक्तव्य, कुछ भिन्न वाक्य-विन्यास के साथ, शब्दो के प्रतिषेधात्मक अर्थ (अपोह) से सम्बद्ध दिङ्नाग के बिलकुल उसी सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है। यह वक्तव्य शान्तिरक्षित और उनके टीकाकार कमलशील का है।[1] यह इस तथ्य पर अधिक जोर देता है कि हमारी वाणी के शब्द, यद्यपि साक्षात्

[1] तुकी तसप० पृ० २७४-३६६ (शब्दार्थपरीक्षा)।

रूप से विकल्प अथवा समान्य को व्यक्त करते हुये, परोक्ष रूप से विशेप सत् वस्तु के द्योतक होते हैं। ये वस्तु को भी अनुपलब्धि कहते हैं क्योंकि वह स्वयं अपने में अद्वितीय, त्रैलोक्यव्यावृत्त होती है। वह अर्थात्मक अनुपलब्धि, अर्थात् एक प्रतिषेधात्मक विकल्प की विधायक अधिष्ठान होती है। प्रमुख विचार यहाँ भी वही है जिस पर जिनेन्द्रबुद्धि ने जोर दिया है, अर्थात् यह कि शब्द प्रतिषेध के द्वारा ही स्वय अपने अर्थ को व्यक्त करते हैं। अत शब्द प्रतिषेधात्मक होते हैं। प्रतिषेध के विना ये कुछ भी व्यक्त नही करते। यह किसी भी अर्थ को केवल अपोहात्मक रूप से ही व्यक्त कर सकते हैं, अर्थात् परस्पर प्रतिषेध के युग्मो मे ही व्यक्त करते है। लॉत्स[1] उस समय इस सिद्धान्त के अत्यन्त निकट आते हैं जब वह यह कहते हैं "किसी विषय की विधायक अभिव्यक्ति और प्रत्येक अन्य का प्रतिषेधात्मक परिहार दोनो इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होतें हैं कि हम विधि के मात्र अर्थ को व्यक्त करने के लिये ऐसी अभिव्यक्तियो का आश्रय ले सकते हैं जो केवल प्रतिषेधात्मक होती हैं (?)"। यह विल्कुल दिङ्नाग की प्रतिज्ञा है, यद्यपि इसे कुछ विस्मय के साथ व्यक्त किया गया है। फिर भी, लॉत्स का विचार है कि नामो मे एक विधायकता होती है, और यह कि प्रतिषेध यहाँ (नामो और विकल्पो मे विधि से सर्वथा भिन्न होता है। बौद्धो के अनुसार वास्तविक विधि कहाँ स्थित होती है यह नीचे के विवरण से स्पष्ट हो जायगा। अब हम शान्तिरक्षित को उद्धृत करते हैं।

(३१६. २५) निषेध द्विविध होता है, ऐसा वह कहते हैं। यह या तो पर्युदास होता है अथवा प्रसज्यप्रतिषेध। पर्युदास विरुद्ध की विधि से युक्त होता है। यह भी द्विविध, अर्थात् बुद्धयात्मक और अर्थात्मक होता है।

(३१७ २) सोपाधिक निषेध का बुद्धयात्मक प्रकार वह बुद्धि-प्रतिभास होता है जिसका हमे प्रत्यक्षात्मक निश्चय[2] मे ज्ञान होता है (जैसे कोई सामान्य) जिसका एक ही और वही रूप अनेक वस्तुओ मे व्याप्त होता है।[3]

सोपाधिक निषेध का अर्थात्मक प्रकार विशुद्ध सत् की उस स्थिति को व्यक्त करता है जिससे प्रत्येक विजातीय व्यावृत्त होता है (यह स्वलक्षण है)[4]।

---

[1] लॉजिक [2], § ११।

[2] अध्यवसित।

[3] अर्थात् किसी वस्तु मे जो सामान्य होता है वह केवल विरुद्ध का प्रतिषेध होता है।

[4] "अपोह, जो अर्थात्मक होता है, विजातीय-व्यावृत्त स्वलक्षण वस्तु (अर्थ) का स्वभाव होता है।

(३१७ ५) अब बुद्धयात्मक स्वरूप का निदर्शन किया जायगा।

ऊपर[1] यह कहा जा चुका है कि जिस प्रकार हरीतकी आदि का, इनमे किसी एक ही सामान्य रूप की उपस्थिति के विना भी, एक ही ज्वरशामक गुण होता है, ठीक उसी प्रकार शवल और कृष्ण इत्यादि गो यद्यपि स्वभावत पृथक् वस्तुयें हैं तथापि ये अपने मे किसी सामान्य सत् के विना भी एक ही समान आकार की हेतु होती हैं। यह एकार्थकारित्व साम्य है। इन समान अर्थ-कारित्वो के आधार पर, इनके एक मध्यवर्ती अनुभव से एक विकल्पात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इस विकल्पात्मक ज्ञान मे वस्तु का आकार, उसका प्रतिविम्व, उसका आभास प्रगट होता है।[2] (अभास और वस्तु मे) तादात्म्य हो जाता है (किन्तु यह आभास एक अपोहात्मक विकल्प सिद्ध होता है) और इसके लिये विरुद्ध प्रतिषेध अथवा अपोह नाम व्यवहृत होता है। यह एक सविकल्पक और मानसिक[3] होता है जिसमे कुछ भी वाह्य नही होता (यह विषयी के मस्तिष्क मे ही होता है)। यह केवल अध्यवसित होता है (अर्थात् एक वाह्य के रूप मे इसकी कल्पना मात्र होती है)।

(३१७ २५) किन्तु तव अपोह नाम (उस प्रकार को जो अपोह प्रतीत[1] ही नही होता) क्यो दिया गया है? इसके चार कारण हैं (एक प्रमुख तथा तीन व्युत्पन्न)। प्रमुख इस प्रकार है। आकार स्वयं अन्यव्यावृत्त होने के कारण प्रगट होता है (यदि यह अन्य-व्यावृत्त न हो तो यह कुछ भी प्रतिभासित नही करेगा)। इसे अपोह इसलिय कहते हैं कि यह अन्यव्यावृत्त, अश्लिष्ट वस्तु होता है।[4]

किन्तु, यद्यपि वाह्य विशेष पदार्थ के लेश से युक्त न होते हुये भी सामान्य आकार उससे त्रिविध रूप से सम्बद्ध होता है

१) आकार हमारी अर्थ-क्रिया के निर्देश का कारण होता है और हमे विशेष वाह्यर्थ तक पहुँचाता है। इस प्रकार आकार को विशेष अर्थ का हेतु माना जाता है, यद्यपि यह वास्तव मे उसका फल होता है।

२) अथवा, इसके विपरीत, किसी अर्थक्रिया द्वारा हस्तगत अर्थ को ही उसका कारण माना जाता है (यद्यपि वह इसका फल भी होता है), क्योकि

---

[1] तस० पृ० २३९ १९, तुकी० तसप० पृ० ३२९ ७ और ४९७ १५।

[2] अर्थ-आकार, अर्थ-प्रतिविम्वक, अर्थ-आभास।

[3] ज्ञानेन समानाधिकरण्यम्।

[4] अश्लिष्ट वस्तु = अन्य-असम्बद्ध-वस्तु।

सामान्य अकार विशेष अर्थ के साक्षात् इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का फल होता है। यह वह निमित्त होता है जिससे आकार उत्पन्न होता है।

३) यह विशेष वस्तु के साथ उसके (सामान्य) आकार का, जो सविकल्पक के अतिरिक्त और कुछ नही, तादात्म्य स्थापित करने का मानव-बुद्धि का एक साधारण भ्रम है।

(३१८ ९) अब हम अर्थात्मक अपोह पर आते हैं।

अपोह शब्द (परोक्ष रूप से) स्वलक्षण के लिये भी व्यवहृत हो सकता है, क्योंकि यह अन्य से व्यावृत्त होता है अथवा अन्य के निषेध से युक्त होता है। विरुद्ध के प्रतिषेध की विशिष्टता भी उपस्थित होती है जो अभिप्रेत होती है। अत, इस प्रकार यह सूचित होता है कि अपोह का अर्थ परोक्ष[1] रूप से स्वलक्षण[2] के लिये व्यवहृत होता है।

(३१८ १५) प्रसज्यप्रतिषेध का लक्षण क्या है?

प्रसज्यप्रतिषेध का अर्थ यह है कि गो अ-गो नही है। इस दशा मे विरुद्ध के प्रतिषेध का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है।

(३१८ १८) इस प्रकार अपोह के त्रिविध रूपो का प्रतिपादन करने के बाद इन्हें शब्दार्थ से सयुक्त किया जा रहा हैं।

शब्द प्रथम प्रकार के अपोह को व्यक्त करता है क्योंकि शब्द बाह्यार्थ के साथ समीकृत आकार को उत्पन्न करता है (यह आकार अपोहात्मक होता है)।

(३१८ २१) किसी शब्द का अर्थ वही होता है जो किसी शब्द के द्वारा किसी ज्ञान को ससूचित करते समय (हमारी चेतना मे) प्रतिभासित होता है। जब किसी शब्द का ज्ञान होता है तब न प्रसज्यप्रतिषेध अध्यवसित होता है और न हमे किसी अर्थ का वैसा साक्षात् आभास ही होता है जैसा कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मे होता है। तब क्या होता है? हमे केवल शाब्दिक ज्ञान होता है जो किसी बाह्यार्थ का द्योतक होता है। इसलिये किसी शब्द का यथार्थ अर्थात्मा वस्तु मे ही निहित होता है अन्य कुछ मे नही क्योंकि शाब्दिक ज्ञान मे यह आकार वस्तु से समीकृत रूप मे प्रगट होता है।
(३१८ २६) किसी वस्तु तथा उसकी शाब्दिक उपाधि के बीच कार्य-कारण भाव होता है। किसी शब्द का अर्थ उस आकार मे निहित होता है जो

[1] 'न मुख्यत' पाठ।

[2] यह अनुमित होता है कि 'स्वलक्षण' का मुख्य अर्थ 'विधिस्वरूप' है।

इसके द्वारा उत्पन्न होता है। (३१९७) इसलिये (हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध की गई आपत्ति, अर्थात्) यह आपत्ति कि निषेध मात्र वह नही होता जो किसी शब्द के उच्चारण के समय ज्ञान मे अवभासित होता है", आधारहीन है। हमने इस बात को कभी भी स्वीकार नही किया है कि किसी शब्द का अर्थ निषेध मात्र होता है।

(३१९९) . इस प्रकार, स्थिति यह है कि अपोह वस्तु के प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और कुछ नही। यह उसके नाम से साक्षात् उत्पन्न होता है। इसलिये यह शब्द का मुख्यार्थ होता है। दो अन्य अर्थ (स्वलक्षण और प्रसज्य-प्रतिषेध) गौण होते हैं अत. इन्हे मानने मे कोई विरोध नही है। (३१९ १२) : जब यह अर्थ, अर्थात् आकार के रूप मे अर्थ, किसी शब्द द्वारा साक्षात् सूचित होता है तब अपोह अथवा प्रसज्यप्रतिषेध अभिप्रेत रूप से संसूचित होता है। कैसे ? गो के प्रतिभासित प्रतिबिम्ब का स्वभाव इस तथ्य में निहित है कि वह अन्य प्रतिबिम्ब का स्वभाव, अर्थात् अश्वादि के प्रतिबिम्ब का स्वभाव नही है। इस प्रकार प्रसज्य-प्रतिषेध एक गौण अर्थ है जो (प्रत्येक स्पष्ट प्रतिबिम्ब) से अपृथक्करणीय है।

(३१९ २१) विशेष का, स्वलक्षण का अर्थात्मा (मुख्य अर्थ का भी एक फल है)। यथार्थ वस्तु तथा नाम का सम्बन्ध परोक्ष और कार्य-कारण-भावात्मक होता है।[1]

(३१९ २३) सर्वप्रथम हम वस्तु का व्यवस्थित आन्तरिक अनुभव करते हैं। तब शब्द के द्वारा उसे व्यक्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। तब वाणी के अग क्रियाशील होते हैं और एक शब्द का उच्चारण होता है। जब शब्द इस परम्परया रूप से बाह्य वस्तु, जैसे अग्नि इत्यादि, से सम्बद्ध होता है, तब हम विशेष वस्तु को विजातीय व्यावृत्त रूप से अधिगम करते हैं।

---

[1] तुकी० बी० रसेल एनेलिसिस ऑफ माइण्ड, पृ० २२७ . "इस मत के अनुसार (जो कि यथार्थ सामान्यों के ज्ञान के यथार्थ विषय होने का, ब्रेण्टानो का मत है) एक विशेष 'बिल्ली' का प्रत्यक्ष हो सकता है जबकि सामान्य "बिल्ली" का विकल्प। किन्तु सामान्यो के विवेचन की इस सम्पूर्ण विधि को उस समय छोड देना होता है जब अपने 'विषय' के साथ किसी मानसिक घटना के सम्बन्ध को केवल परोक्ष और हेतुक माना जाता है (='पारम्पर्येण कार्यकारण-लक्षण- प्रतिबन्ध ', तसप० पृ० ३१९ २२)। नि सन्देह मानसिक विषय सदैव विशेष(?)होता है, और इसका क्या "अर्थ" है इस समस्या का समाधान इसके हेतुक सम्बन्धो को जानने के अतिरिक्त अन्यथा नही किया जा सकता।

(३१९ २५) इसलिये अपोह के दूसरे और तीसरे अर्थ, अर्थात् प्रसज्य-प्रतिषेध और अन्यव्यावृत्त स्वात्मा, अपोह के गौण अर्थ होते हैं। (मुख्य अर्थ प्रतिबिम्ब अथवा विकल्प होता है जो अन्यव्यावृत्त होता है)।

(३२० ७) (यह आपत्ति[1] कि इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द केवल निषेध को व्यक्त करते हैं और यह कि इसलिये विधि को व्यक्त करने के लिये कुछ अन्य ढूँढना आवश्यक है, आधारहीन है), क्योंकि हम यह मानते हैं कि विशेष यथार्थ वस्तु शब्द द्वारा भी सूचित होती है। और यह अर्थ विधि है, निषेध नही। यह शब्द का परोक्ष अर्थ है। जब हम यह कहते हैं कि शब्द "वाचक है" तब इसका यह अर्थ है कि यह एक निषेध उत्पन्न करता है जो इसके विकल्प के अध्यवसाय मे सम्मिलित होता है, यह एक ऐसे प्रतिबिम्ब को उत्पन्न करता है जो अन्य समस्त आकारो से व्यावृत्त होता है और जो स्वय अपने विशेष वस्तु का भी अन्य समस्त वस्तुओ से विभेद करता है।

इस प्रकार, हमारे आचार्य (दिङ्नाग) के इस सिद्धान्त मे कोई विरोधत्व नही है (यह शब्दो के अर्थ मे विधि के लिये कोई भी स्थान छोड़े बिना निषेध मात्र को ही स्वीकार नही करता)।

(३१५ १५)। "यथार्थवादी उद्योतकर का प्रति-सिद्धान्त यथार्थ सामान्यो को मानता है जिनमे से प्रत्येक एक यथार्थ एकत्व, नित्य सत्ता और प्रत्येक विशेष मे सम्पूर्णत निहित सत्ता को व्यक्त करता है। यह इस यथार्थ सामान्य की उपस्थिति ही होती है जो इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान को निश्चितता और स्थिरता प्रदान करती है। किन्तु हमारे आचार्य दिङ्नाग यह उत्तर देते हैं कि यह निषेधात्मक (अथवा व्यावर्तक) अर्थ (उन सभी गुणो से युक्त है जिन्हें यथार्थ सामान्यो मे निहित माना गया है)। इनमें एकत्व होता है क्योकि ये प्रत्येक विशेष मे एक ही होते हैं। ये नित्य होते हैं क्योकि इनका निषेधात्मक अधिष्ठान कभी भी नष्ट नही होता (वह प्रत्येक परिवर्तित होनेवाले व्यक्ति मे वही बना रहता हैं)। ये प्रत्येक व्यक्ति मे अपनी सम्पूर्णता के साथ समवेत होते हैं। ये एकत्व, नित्यत्व और अनेक-समवेतत्व से युक्त होते हैं (यद्यपि निषेधात्मक मात्र अथवा सापेक्ष मात्र होते हैं)। इस प्रकार शब्दो का अर्थ अपोहात्मक, अर्थात् अन्यव्यावृत्त होता है। यह सिद्धान्त ग्राह्य है, क्योकि (यथार्थवादी सिद्धान्त की तुलना मे) इसमे अनेक अनुकूलतायें हैं।[2]

---

[1] भामह की, तुकी० तसप० पृ० २९१ ७।

[2] दिङनाग के अपोह पर जिनेन्द्रबुद्धि, शान्तिरक्षित और कमलशील की टीकाओ के अतिरिक्त मूलत में इसी विषय पर धर्मोत्तर की एक टीका

बौद्ध अपोहात्मक विधि का स्वरूप ऐसा ही है। यह इस बात को मानता है कि सभी विकल्प तथा उन्हें व्यक्त करने वाले शब्द प्रतिषेधात्मक होते हैं क्योकि ये स्वय अर्थ को विरुद्ध के प्रतिषेध द्वारा व्यक्त करते हैं। कुछ व्याख्याकारो के अनुसार, यत हीगल की द्वन्द्वात्मक विधि का भी आधारभूत अर्थ ऐसा ही है, अत किसी अन्य शब्द के अनुपलब्ध होने के कारण उसे भी बौद्ध अपोहात्मक विधि ही कहेंगे। किन्तु हमे इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि बौद्धो के अनुसार हेतु और फल के बीच कोई विरोध नही होता (मात्र अन्यत्व होता है) और न तो विकल्प का स्वविकास ही होता है। विकास और कर्म सत् से सम्बद्ध हैं, तर्कशास्त्र से नही[1]।

किन्तु दूसरी ओर, बौद्ध अपोहात्मक विधि वस्तुशून्यप्रज्ञप्तिवाद और यथार्थवाद के विवाद का समाधान प्रस्तुत करती है। यत विकल्प विशुद्धत प्रतिषेधात्मक होते हैं, अत उनकी सामान्यता, उनकी स्थिरता और उनके समवायत्व की मानसिक, तार्किक और अपोहात्मक होने के रूप मे व्याख्या की गई है। वस्तुओ के नानात्व मे सामान्य का एक साथ ही समग्रत और सतत् रूप से उस समय उपस्थित होना कोई विरोध नही है यदि वह अन्य वस्तुओ से विभेद का लक्षण हो। यत सभी विकल्प और नाम प्रतिषेधात्मक हैं, अत बौद्धो ने सम्भवत यही कहा होता कि हीगल की यह घोषणा ठीक थी कि निषेधत्व विश्व का आत्मा है। फिर भी, विश्व न केवल आत्मा से ही

(अपोहनाम-प्रकरण, तज्जूर, म्दो भाग ११२, २५२-२६४) का अनुवाद देना चाहता था। यह सम्भवत इस विषय का सर्वश्रेष्ठ उद्घाटन है। किन्तु यह इतना विशाल है कि प्रस्तुत भाग मे सम्मिलित किया जाना सम्भव नही है। साथ ही भाग दो पृ० ४०३ और बाद मे अनूदित वाचस्पतिमिश्र का साराश इसी कृति पर आधारित है। यद्यपि इस सिद्धान्त का मूल विषय एक ही, तथापि प्रत्येक विवेचन स्वय अपनी विधि का अनुसरण करता है। वाचस्पति की विवेचना से यह देखा जा सकता है कि धर्मोत्तर ने भेद-अग्रह के रूप मे ही अपोह सिद्धान्त पर विशेष जोर दिया है। यह बाह्य विषय तथा उसके हमारे आत्मनिष्ठ आकारो के तादात्म्य, तथा इन आकारो के विषयात्मक आकारो की यथार्थता मे विश्वास के भ्रम की व्याख्या करता है।

[1] जो विरोधी अपोह और विरुद्ध अपोह मे विभेद करते हैं (जैसे क्रोचे) वह यह देखेंगे कि बौद्ध केवल प्रथम को ही स्वीकार करते हैं, और दूसरे का त्याग।

वरन् शरीर से भी युक्त है। बौद्धो के अनुसार विश्व का शरीर क्या है यह हम आगे देखेंगे।

§४. बौद्ध अपोह के विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा

बौद्धो की अपोहात्मक विधि का नगण्य किन्तु कुछ समस्याओ को प्रभावित करनेवाले विशिष्ट बीजो से क्रमश प्रज्ञा के एक ऐसे सामान्य सिद्धान्त के रूप मे विकास हुआ जिसकी ज्ञान के एक विशेष स्रोत के रूप मे प्रकृति को अपोहात्मक अनुभव किया गया। इसके विकास के तीन कालो का विभेद किया जाना चाहिये; १) आरम्भिक काल (हीनयान), २) आरम्भिक महायान, और ३) नैयायिको का समीक्षात्मक सम्प्रदाय।

आरम्भिकतम विवरणो मे यह वक्तव्य मिलता है कि बौद्धमत के सस्थापक ने कुछ तत्त्वमीमासीय प्रश्नो का उत्तर देना अस्वीकार किया है। ये प्रश्न इस प्रकार हैं १) ससार की उत्पत्ति से सम्बद्ध चार प्रश्न, अर्थात, कोई उत्पत्ति है, कोई उत्पत्ति नही है, अथवा दोनो स्थिति है या दोनो नही, २) चार इसी प्रकार के प्रश्न ससार के अन्त से सम्बद्ध, ३) शरीर और आत्मा के तादात्म्य से सम्बद्ध चार प्रश्न; और ४) मृत्यु के बाद योगि का पश्चात जीवन होता है या नही, इस विषय से सम्बद्ध दो प्रश्न। यह देखा जा सकता है कि यहाँ विशिष्ट चतुर्विधपाश के रूप मे प्रश्नो का निर्धारण वैसा ही है जैसा कि इसी समान समस्याओ के लिये प्लेटो ने अपने पर्मेनाइडिस मे प्रयोग किया है।[1]

[1] बुद्ध पर अपनी प्रख्यात पुस्तक मे, जो आज बौद्धदर्शन का एक साधारण विवरण प्रस्तुत करने जैसा ही प्रभाव उत्पन्न करती है, प्रोफेसर एच० ऑल्डेनबर्ग ने, फिर भी, बौद्धमत के आरम्भ से ही इसकी अपोहात्मक प्रकृति के तथ्य को ध्यान से ओझल नही किया है। उनका कहना है कि "सोफिस्ट लोग उस स्थान पर अनुपस्थित नही हो सकते जहाँ किसी सॉक्रेटीज को आना है।" किन्तु केवल कूटतर्क (सोफिस्ट्री) के रूप मे ही अपोह आरम्भिक बौद्धमत मे विद्यमान नही है। जब यह अनन्त और निरपेक्ष की समस्याओ का विवेचन करना आरम्भ करता है तब इसमें हमे मानव बुद्धि के स्वाभाविक अपोह के भी दर्शन होते हैं। प्रो० ऑल्डेनबर्ग इस अपोह को सामान्य रूप से चतुरतापूर्ण मानते हैं किन्तु इस गुणानुशीलन का बहुत महत्त्व नही है क्योंकि यह एक ऐसे समय मे किया गया है जब अभी दु ख, सस्कार, धर्म, और प्रतीत्य समुत्पाद जैसे शब्दो को न तो भली प्रकार समझा ही जाता था और न इनका ठीक-ठीक अनुवाद हो पाया था। ये शब्द ऐसे हैं कि इनके बिना बौद्ध मत की कल्पना ही नही की जा सकती।

यदि हम इन प्रश्नो के पण्डित्यपूर्ण निरूपण को छोड दें तो १४ प्रश्न केवल दो आधारभूत समस्याओ से सम्बद्ध मिलते है। ये समस्यायें हैं तादात्म्य की तथा निरपेक्ष स्वभाव की। कुछ प्रश्नो के कथन मे तथा उनके समाधान मे भी काण्ट के विप्रतिषेधो के साथ समानता निरपवाद है और इसने विद्वानो[1] के ध्यान को आकर्षित किया है।

ये ऐसी समस्यायें हैं जिनका उत्तर न तो हां है, न नही है, न दोनो है, और न कोई भी नही है। ये सर्वथा उत्तररहित प्रश्न है, किन्तु मानव बुद्धि स्वभावत इनका सामना करती है। इनका विवेचन करने मे हमारा तर्क अपोहात्मक, अर्थात स्व-विरोधी हो जाता है।

माध्यमिक सम्प्रदाय ने इस निर्णय को सामान्य रूप से मानव प्रज्ञा तथा निरपवाद रूप से सभी विकल्पो तक विस्तृत कर दिया है। ये सभी विश्लेषण करने पर विरोधत्व से युक्त प्रतीत होते हैं। मानव बुद्धि एक भ्रम के तर्क से युक्त होती है, क्योकि इसके विकल्पो के अनुरूप कोई विषय नही होते। ये ऐसे अशो से युक्त होते हैं जो एक दूसरे को निराकृत करते हैं।

माध्यमिको की विधि की केन्द्रीय धारणाओ का चन्द्रकीर्ति इन शब्दो मे साराश प्रस्तुत करते हैं।[2]

"बालसुलभ मानवता[3] पदार्थ और (रूपादि) का (उनके द्वैधत्व के) तल[4] मे प्रवेश किये विना ही विकल्प करती है। ‥ ‥ किन्तु इस प्रकार के सभी कल्पित (अपोहात्मक) विकल्प विचार के एक ऐसे चिरकालिक अभ्यास का निर्माण करते हैं जो अनादि-ससार का ही समकालीन है। (विश्व के मौलिक एकत्व) के विचित्र प्रपञ्च"[5] की प्रक्रिया मे इनका आरम्भ होता है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय, विषय तथा उसको व्यक्त करने वाले

---

[1] तुकी० ओ० फ्राके का काफि०, पृ० १३७ १३८, तुकी० मेरा निर्वाण पृ० २१ और २०५। अनन्त विभाजन के विप्रतिषेध के लिये तुकी० नीचे वाह्यससार की यथार्थता विषयक अध्याय और एस० शेयर प्रसन्नपाद, पृ० xxix

[2] माध्य० वृत्ति० पृ० ३५० ।

[3] बाल-पृथग-जन

[4] अयोनिश ।

[5] विचित्र प्रपञ्चात्।

विषयी, कार्यावाहक और कार्य, कारण और कार्य, घट और पट, मुकुट और यान, स्त्री और पुरुष, लाभ और हानि, सुख और दु ख, यश और अपयश, प्रशस्ति और आक्षेप, इत्यादि , के (अपोहात्मक युग्मो मे) विकल्पो की सृष्टि होती है।''[1] ये सभी सासारिक प्रपञ्च उस समय विना कोई चिह्न छोड़े ही सापेक्षता के शून्य मे विलीन हो जाते हैं जब समस्त पृथक् सत्ता के स्वभाव के सापेक्ष (और परम असत्) होने का ज्ञान हो जाता है।''

अपने उदाहरणो मे चन्द्रकीर्ति यहाँ विरोध और विरुद्धत्व दोनो को एक साथ ही रखते हैं। एक घट और एक पट एक परोक्ष विरुद्धत्व है क्योकि पट अ-घटो की कोटि मे आता है। पुरुष और स्त्री का विरुद्धत्व एक व्यापक द्वैधत्व है। आक्षेप और प्रशसा, अथवा अधिक शुद्धत आक्षेप और अ-आक्षेप का विरुद्धत्व ''पूर्ण और परस्पर-परिहारी अथवा विरोध है। प्रज्ञा द्वारा रचित प्रत्येक वस्तु, जैसा कि जिनेन्द्रबुद्धि कहते हैं, युग्मो मे ही रचित होती है। ये सभी यमज भ्राता होते हैं जो प्रज्ञा के क्षेत्र मे जन्म लेते हैं। ऐसे युग्मो के अश अपनी सापेक्षता अथवा अपनी परिभाषाओ के परस्पर प्रतिषेधत्व के कारण एक दूसरे को निराकृत करते हैं। परिणाम यह है कि जैसा कि काण्ट का कथन है ''सभी प्रतिषेध अनुपलब्ध होता है'', अथवा माध्यमिको की भाषा मे ''सर्वभावस्वभाव-शून्यता''[2] या ''निष्प्रपञ्च'' होता है।

बौद्ध नैयायिको का सम्प्रदाय, यद्यपि प्रज्ञा के समस्त विकल्पो की अपोहात्मक प्रकृति को पूर्णतया स्वीकार करता है, तथापि ज्ञान के समग्रत असत् पर आपत्ति करता है और अपोहात्मक विकल्पो के प्रत्येक युग्म के पीछे एक स्वलक्षण की अ-अपोहात्मक सत्ता मात्र को स्वीकार करता है।

दिङ्नाग का सिद्धान्त अपने तार्किक पक्ष मे अशत वैशेपिको के सम्प्रदाय मे मान्य कुछ दृष्टिकोणो से प्रभावित हुआ हो सकता है। इस सम्प्रदाय ने उस 'विशेप' पदार्थ के आधार पर अपना नाम प्राप्त किया हो सकता है जिसको यह प्रत्येक विशेष, परमाणुओ और सर्वगत द्रव्यो मे स्थित एक विषयात्मक यथार्थ मानता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने मे निहित समानता और असमानता दोनो से युक्त होती है।[3] यदि हम इन

---

[1] तुकी० द्वैधत्व के इन उदाहरणो की उन उदाहरणो से जो लासन ने हीगल के 'डायलेक्टिकल मेथड' की प्रस्तावना में दिये हैं।

[2] सर्व-धर्म-शून्यता।

[3] तुकी०ऊपर पृ०। ५३९ वैसू० १ २,६ के शब्द य ~ करते हैं कि

दोनो निहित पदार्थों को एक 'विशेष' मे ही परिणत कर दें, और इसकी भावगर्भ प्रकृति को अलग हटा दें तो हमे दिङ्नाग के सिद्धान्त का सार मात्र, अर्थात् सर्वथा प्रतिषेधात्मक और सर्वथा मानसिक सामान्य मिलेगा। इस विषय तथा कुछ अन्य मे भी वैशेषिकों और बौद्ध नैयायिकों के बीच उस सब मौलिक अन्तर के विपरीत भी कुछ समानता है, जो प्रथम के यथार्थवादी सिद्धान्तो और द्वितीय के विज्ञानवादी सिद्धान्तो के कारण दोनो के बीच मिलता है।

आपोहात्मक नामो के दिङ्नाग के सिद्धान्त की भी वैसी ही गति हुई जैसी सामान्य रूप मे बौद्ध न्याय की। यह भी बौद्ध मत के उत्पत्ति के देश मे बौद्धमत के लुप्त होने के बाद बना नही रह सका। बौद्ध मत के साथ ही यह सिद्धान्त भी तिब्बत चला गया जहाँ यह आज भी वर्तमान है। भारत मे इस सिद्धान्त का उदय होने के साथ अन्य सब सम्प्रदायो ने विरोध किया। यहाँ तक कि प्रभाकर भी, जो बौद्धो के मित्र कहे जाते हैं और जिन्होंने इनके अनुपलब्धि के सिद्धान्त का अनुसरण किया, अपोहात्मक नामो को मानने मे इनका साथ नही दे सके। यदि वह इसे मान लेते तो सम्भवत वे मीमासक नही रह जाते। दिङ्नाग के सिद्धान्त के विरुद्ध युद्ध मे मीमासक अग्रणी बन गये। एक ऐसा सम्प्रदाय जिसका वाणी और शब्दो का मूल्याकन धार्मिक श्रद्धा की समस्त प्रकृति मे युक्त है, जिसके लिये ससार एक ऐसी नित्य विधायक सत्ता है जो अपने द्वारा व्यक्त वस्तुओ के साथ एक नित्य एकत्व के साथ विद्यमान रहती है, जिनके लिये ससार सर्वप्रथम पवित्र वेदमय था—ऐसा सम्प्रदाय वास्तव मे किसी भी ऐसे सिद्धान्त से केवल हतप्रभ ही होगा जो शब्दो या नामो को केवल विभेद के पारम्परिक चिह्नो मात्र मे परिणत कर देता है। और वे नैयायिक भी इस सिद्धान्त को अनुकूल नहीं मान सके जो यह मानते थे कि शब्दो के विधायक अर्थों की ईश्वर ने स्थापना की है। हर प्रकार के यथार्थवादियो के तर्क प्राय एक ही जैसे है — विधायक वस्तुयें होती हैं और प्रतिषेधात्मक वस्तुयें होती हैं। यथार्थता सत्ता

सत्ता मे एक ओर तो केवल सामान्य होता है और कोई विशेष नही, जब कि दूसरी ओर परमाणुओ और सर्वगत द्रव्यो मे केवल विशेष होता है और कोई सामान्य नही। किन्तु प्रशस्तपाद तो पहले ही केवल अन्त्य-विशेष ही मानते हैं। बाद की परिभाषा 'अत्यन्त व्यावृत्ति-हेतु' और 'स्वतो व्यवरकत्वम्' बौद्धो के 'व्यावृत्ति = अपोह' के साथ कुछ समानता सूचित करती है।

और अभाव से निर्मित है। विधायक वस्तुयें विधायक नामो से व्यक्त होती हैं और प्रतिषेधात्मक वस्तुयें प्रतिषेधात्मक निपात 'अ' को जोड देने से।

भामह,[1] जो साहित्यशास्त्री थे, इस आधार पर दिङ्नाग के सिद्धान्त को अस्वीकृत करते हैं कि यदि शब्द वास्तव में सभी प्रतिषेधात्मक हो तो विधायक वस्तुओ को व्यक्त करने के लिये अन्य शब्दो को होना चाहिये। यदि 'गो' शब्द का अर्थ वास्तव मे 'अ-गो' का निषेध हो तो एक अन्य ऐसा शब्द भी होना चाहिये जो सीग, थन तथा अन्य विशिष्ट चिह्नो से युक्त इस पालतू जानवर के विधायक प्रत्यक्ष जैसे एक भिन्न तथ्य को व्यक्त कर सके। किसी शब्द के दो भिन्न और, यहाँ तक कि विपरीत अर्थ नही हो सकते। यत अपोह के सिद्धान्त के अनुसार निषेधात्मक अर्थ प्रमुख है और विधायक उसी का अनुसरण करता है, अत किसी गो का ध्यान करने मे पहले हमे 'अ-गो' का विचार होगा और उसके बाद ही 'गो' का गौण विचार आयेगा।

इस आपत्ति का इस बात द्वारा निरसन हो जाता है कि बौद्ध इस बात को कदापि नही मानते कि प्रतिषेधात्मक अर्थ ही पहले अपने को सूचित करता है और विधायक उसी का अनुसरण करता है। इसके विपरीत, बौद्ध यह मानते हैं कि विधायक ही साक्षात् है, किन्तु यह निषेधात्मक के बिना कुछ नही। दोनो वास्तव मे एक ही हैं।

कुमारिल[1] की प्रमुख आपत्ति इस तर्क मे निहित हैं जब बौद्ध यह मानता है कि 'गो' का अर्थ निषेधात्मक, अर्थात् 'अ-गो' है, तब वह केवल दूसरे शब्दो मे उसी मत को व्यक्त करता है जो यथार्थवादी मानते हैं, अर्थात इसको कि विधायक जाति 'गो' मे एक वास्तविक विषयात्मक यथार्थ है, । यदि 'अ-गो' एक ऐसा निषेध है जिससे विरुद्ध की विधि अभिप्रेत है, तब 'अ-गो' का निषेध वही होगा जो 'गो की विधि। वास्तव मे, बौद्धो के अनुसार 'अ-गो नही' शब्द से किस प्रकार का विषय सूचित होता है ? क्या यह उस रूप मे व्यक्ति है जिसमे कि यह समस्त विस्तारो से रहित अपना स्वलक्षण है ? ऐसा असम्भव है, क्योकि इस प्रकार की वस्तु अनभिलाप्य है। अत इस बात को मानना ही चाहिये कि गो वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति मे गो का एक अभिलाप्य स्वभाव विद्यमान होता है। यही सामान्य स्वभाव यथार्थवादियो का 'सामान्य' है।

किन्तु यदि 'अ-गो' से बौद्धो का तात्पर्य विरुद्ध की विधि के विना निषेध मात्र है, तो यह विशुद्ध विज्ञानवाद, वाह्यससार के यथार्थ की

---

[1] तसप० पृ० २९१ ७ और वाद।

अस्वीकृत है। मीमांसकों ने एक वर्णात्मक सिद्धान्त के रूप में इसका विरोध किया है, अब यही नामों के आपोह के सिद्धान्त के वेश में पुनः प्रगट होता है।

यथार्थवादियों के तर्क अनेक, तथा अनेक प्रकारों और सूक्ष्मताओं से युक्त है। इन सबको यहां उद्धृत करना व्यर्थ है। ये सभी इस एक आधारभूत रूप मे परिणत हो जाते है कि यथार्थ नाम होते हैं जो सामान्य हैं, सामान्य यथार्थ बाह्य वस्तुयें हैं जिनका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है, निषेधात्मक वस्तुयें भी हैं जो स्वयं भी ऐसी यथार्थतायें हैं जिनका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है।

किन्तु, यद्यपि सभी प्रकार के यथार्थवादियों ने दिङ्नाग के सिद्धान्त को अस्वीकृत किया है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के नैयायिकों द्वारा गृहीत निषेधात्मक परिभाषाओं की विधि पर इस सिद्धान्त का परोक्ष प्रभाव अवश्य बना रहा। ये लोग अपनी सभी परिभाषायें निषेधात्मक पक्ष के द्वारा, विरुद्ध के प्रतिषेध के तथ्य के द्वारा ही करते हैं। वाणी की यह सुज्ञात और स्वाभाविक विशिष्टता है कि, किसी अभिव्यक्ति को अधिक स्पष्टता प्रदान करने के लिये हम उस बात का भी अवश्य उल्लेख करें जिसके वह विरुद्ध है। किन्तु नैयायिक ऐसी दशाओं तक मे विरुद्ध परिभाषा की विधि का ही प्रयोग करते हैं जहाँ तार्किक स्पष्टता के लिये यह सर्वथा व्यर्थ है। उदाहरण के लिये, व्याप्ति की इस रूप मे परिभाषा करने के स्थान पर कि यह फल का उसके हेतु के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है, ये यह परिभाषा करते हैं कि यह "फल के सर्वथा अभाव के प्रतिरूप के साथ" हेतु का सम्बन्ध है। यह कहने के बदले कि धूम तार्किक हेतु है, इसका "धूम के सर्वथा अभाव के प्रतिरूप" के वेश मे उल्लेख किया गया है।[1] इस प्रकार की घुमा कर प्रस्तुत की गई परिभाषायें बाद के न्याय मे बहुत प्रचलित तथा इसकी एक विशिष्टता हैं।

§ ५. योरोपीय समानान्तरतायें; (क) काण्ट और हीगल

गत पृष्ठों मे हमने सभी नामों और सभी विकल्पों के निषेधात्मक स्वभाव से सम्बद्ध दिङ्नाग के सिद्धान्त का उल्लेख किया है। जहां तक सम्भव हो सका है हमने इस सिद्धान्त को स्वयं दिङ्नाग तथा उनके भारतीय टीका-

---

[1] 'हेतु-समानाधिकरण-अत्यन्त-अभाव-प्रतियोगि-साध्य समानाधिकरण्यम्", जहाँ 'हेतु' धूम है और 'साध्य' अग्नि। तुकी० तर्कसंग्रह (अथाले) पृ० २४७, और पृ० २८९, तथा सर्वत्र।

कारो के शब्दो मे ही प्रस्तुत किया है। हमने इसे अपोह का सिद्धान्त कहा है। हम इसको प्रतिषेधात्मक अथवा सापेक्षता का सिद्धान्त भी कह सकते थे। इन नामो के पक्ष मे उत्कृष्ट आधार हैं जो यदि साक्षात विकार्य नही तो कम से कम एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। प्रस्तुत कृति मे अनुसरित विधि के अनुसार अब हम योरोपीय दर्शन के इतिहास से कुछ समानान्तरताओ को उद्धृत करेंगे, जो समानता और असमानता के द्वारा भारतीय दृष्टिकोण पर प्रकाश डाल सकती हैं, और साथ ही साथ, दिङ्नाग के सिद्धान्त को व्यक्त करने के लिये "डायलेक्टिक्स" शब्द के हमारे चुनाव की पुष्टि भी कर सकती हैं। प्राचीन यूनान तथा मध्यकालीन योरप की कुछ ऐसी समानान्तरताओ को छोडकर जिनका विरोध के नियम के अन्तर्गत उल्लेख किया जा चुका है, अब हम आधुनिक दर्शन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं।

काण्ट के अनुसार द्वन्द्वन्याय (डायलेक्टिक) भ्रान्ति का तर्कशास्त्र[1] है किन्तु प्रत्येक भ्रान्ति का नही। भ्रम के दो[2] प्रकार हैं जिनमें से एक आनुभविक अथवा सरल है और दूसरा मानव तर्क की उस समय उत्पन्न स्वाभाविक भ्रान्ति है जब वह इन चार समस्याओ, जैसे १) तादात्म्य २) अनन्त विभाजकता, ३) मुक्त सकल्प, और ४) एक अनिवार्य परमात्मा, का विवेचन करता है। ये ऐसे चार विप्रतिषेध हैं, अर्थात ऐसी समस्यायें हैं जिनका तार्किक दृष्टि से न तो हाँ मे और न तो नही मे ही उत्तर दिया जा सकता है, और इसलिये ये मानव तर्क की एक स्वभाविक भ्रान्ति को व्यक्त करती हैं। यह न्यूनाधिक मात्रा में हीनयान विचारधारा के अनुरूप है जिसके अनुसार ससार की उत्पत्ति की समस्या, इसके अन्त की समस्या, अनन्त विभाजकता की समस्या, तथा नित्य परमात्मा की सत्ता की समस्या इन सभी समस्याओ का न तो विधायक आशय मे समाधान किया जा सकता है और न निषेधात्मक आशय मे ही। इसी प्रकार महायान बौद्धमत भी दो प्रकार की भ्रान्तियाँ मानता है—एक मुख्य भ्रान्ति और दूसरी एक त्रुटि मात्र। प्रथम को मानव बुद्धि का अन्तर-उपप्लव भी कहते हैं।[3] फिर भी मुख्य भ्रान्तियो की सूची बहुत बढ गई है क्योकि प्रत्येक सामान्य और प्रत्येक विकल्प को मानव बुद्धि की स्वाभाविक भ्रान्ति का परिणाम माना गया है।

---

[1] काण्ट 'द्वन्द्वन्याय' शब्द के इस प्रयोग को प्राचीनो पर अरोपित करते हैं। क्रि॰पृ॰४९। तुकी॰ फिर भी, ग्रोट एरिस्टॉ॰ पृ॰ ३७९।

[2] वही, पृ॰ २४२।

[3] तुकी॰ तसंप॰ पृ॰ ३२२७।

यह हीगल के दृष्टिकोण के उस समय समान है जब वह चार विप्रनिषेधो की सीमित संख्या के काण्ट के सिद्धान्त का उत्तर देते हुये यह कहते हैं कि “विप्रनिषेध उतने ही हैं जितने कि विकल्प ।”[1] प्रत्येक विकल्प, जहाँ तक वह विकल्प है, द्वन्द्वात्मक होता है । काण्ट के अनुसार समस्त आनुभविक वस्तुयें, तथा साथ ही सारे तदनुरूप आकार और विकल्प द्वन्द्वात्मक नही होगे । ये वस्तुयें हमे 'प्रदत्त' होती हैं । यद्यपि अन्त प्रज्ञा की विविधता से युक्त होने के रूप मे ये भी कल्पना द्वारा रचित होती हैं, तथापि ये 'प्रदत्त' होती हैं । ये इन्द्रियो को प्रदत्त होती हैं किन्तु प्रज्ञा उनकी एक बार फिर पुन रचना करती है ।[2] काण्ट[3] के कुछ व्याख्याकार वस्तुओ की इस द्विविध उत्पत्ति, अर्थात एक बार इन्द्रियो को प्रदत्त होने और दूसरी बार रचित होने की धारणा मे कुछ भ्रमित हैं । ये उस विषय पर काण्ट मे निर्णयशक्ति की कमी देखते हैं । भारतीयो के अनुसार केवल सत्ता मात्र और विशेष, अर्थात् स्वलक्षण ही 'प्रदत्त' होता है । शेष सब कुछ कल्पना तथा मानव प्रज्ञा के स्वाभाविक अपोह द्वारा रचित होता है । यदि हम काण्ट की इस प्रकार व्याख्या करें कि 'प्रदत्त केवल वस्तु स्वलक्षण है—और कुछ लोग कहते हैं कि इनके मूल ग्रन्थ मे इस प्रकार की व्याख्या का सर्वथा अभाव नही है[4]—तब इस विषय पर इनके और भारतीयो के बीच समानता होगी । आनुभविक वस्तुयें तब एक सर्वथा अनुभवातीत यथार्थता के आधार पर ही रचित होगी । किन्तु ये अपोहात्मक रूप से रचित नही होगी, जब कि दिङ्नाग के अनुसार ये अपोहात्मक रूप से भी रचित होगी, जैसे अनन्तता इत्यादि की धारणायें ।”[5] यह हीगेलियन दृष्टिकोण के अनुरूप है । हीगल कहते हैं कि “किसी विकल्प की सामान्यता का उसकी निषेधात्मकता के द्वारा निश्चय होता है । कोई विकल्प उतनी ही दूर तक स्वयं अपने साथ एकात्मक होता है जितने तक वह स्वय अपने निषेध का निषेध होता

---

[1] विस डर लॉजिक, १ १८४ ।

[2] क्रिरी० पृ०४० । बौद्धो के अनुसार केवल 'प्रथम क्षण' ही 'प्रदत्त' (निर्विकल्पक) होता है ।

[3] जैसे, उदाहरण के लिये पॉलसेन काण्ट,[2] पृ०१७१ ।

[4] तुकी० विशेष रूप से एबरहार्ड के विरुद्ध इनका लेख, पृ०३५ (कर्चमैन)

[5] तुकी० ऊपर । यहाँ तक कि 'प्रमेयत्व' जैसी सामान्य धारणाओ तक की एक कल्पित 'अप्रमेयत्व' के रूप मे व्याख्या की जानी चाहिये । तुकी० तसप० पृ० ३१२. २१ मे उद्धृत दिङ्नाग के हेतुमुख के स्थल ।

है।"[1] यह बहुत कुछ इस भारतीय सिद्धान्त के समान प्रतीत होता है कि सभी सामान्य अन्यव्यावृत्त-रूप होते है, जैसे एक गो स्वय अपने निषेध के निषेध से अधिक कुछ नही—यह अ-गो नही है। हीगल[2] कहते है कि "द्वन्द्वन्याय अन्य मे, अर्थात् अ-आत्मा मे स्वात्मा का नित्य चिन्तन है।" ये कहते है कि "निषेधात्मकता विधायकता भी है। विरुद्ध का परिणाम सर्वथा नास्ति या शून्य नही बल्कि स्वय अपनी विशेष विषयवस्तुओ का एक अनिवार्य निषेध होता है।"[3] अपने विप्रतिषेधो की स्थापना करने के समय काण्ट ने जो 'कार्य किया वह हीगल के अनुसार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था[4], क्योकि तब तर्क की एक अनिवार्यता के रूप मे द्वन्द्वन्याय पुन समर्थित हो गया। "किसी भी विकल्प की निश्चितता उसकी विधि के रूप मे स्थापित निषेधात्मकता है।" स्पाईनोजा की भी यही मान्यता है—omnis determinatio est negatio—और इसका असीम महत्त्व है।[5]

इतनी दूर तक तो हीगल के द्वन्द्वन्याय और दिङ्नाग के सिद्धान्त के बीच पूर्ण समानता है। किसी विकल्प का अर्थ विरुद्ध का प्रतिषेध (अपोह) है। प्रतिषेधात्मकता पारस्परिक होती है। विधि सापेक्षिक होती है, यह स्वय अपनी विधि ही नही होती बल्कि प्रतिषेध भी होती है। अत हीगल[6] यह मानते है कि "प्रकाश प्रतिषेधात्मक है और अन्धकार विधायक है, पुण्य प्रतिषेधात्मक है और पाप विधायक है।"

फिर भी, हीगल और आगे बढते है। काण्ट के अनुसार किसी विरोधी के दोनो ही विरुद्ध भाग एक दूसरे को निराकृत करते हैं और पारिणाम शून्यात्मक होता है (nihil negativum irrepraesentabile)।[7] हीगल के अनुसार ये दूसरे को निराकृत नही करते, परिणाम शून्यात्मक नही बल्कि "स्वय अपने विशेष विषयवस्तुओ का निषेध मात्र होता है।"[8] सम्भवत् इसका अर्थ यह है कि सभी विकल्पो को निषेधात्मक घोषित कर देने के बाद हीगल किसी प्रकार की वास्तविक विधि को ढूढना अपना उत्तरदायित्व समझते हैं। तब वह यह कहते हैं कि विधि और निषेध दोनो बिल्कुल एक ही हैं।"[9] किसी वस्तु का अभाव उसकी सत्ता मे निहित एक क्षण है।[10] वह कहते हैं कि "सत्ता

---

[1] विस० डर लॉजिक, २ २४०। [2] एनसाइक्लो० पृ० १९२।
[3] वि० डर लॉजिक, १. ३६ [4] वही २ ४९१
[5] वही १ १०० [6] वही २ ५५
[7] पृ० २५ (कर्चमैन)। [8] वीस० उर लॉजिक १ ३६
[9] वही २ ५४ [10] वही २. ४२।

अपने अन्य, अपने अभाव के साथ एकात्मता है।" इस प्रतिज्ञा से कि "प्रत्येक वस्तु वही होती है जहाँ तक कि अन्य होती है, इसकी अन्य के द्वारा सत्ता होती है, स्वय अपने अभाव मे वह वह होती है जो वह है,'—इस प्रतिज्ञा से आप इस प्रतिज्ञा पर आते हैं कि "सत्ता वही है जो अभाव है" अथवा "विधि और प्रतिषेध बिल्कुल एक ही है।"[1] एक तार्किक के रूप मे दिङ्नाग, इसके विपरीत यह विचार रखते हैं कि "जो कुछ अन्य है वह एक ही नही है"[2]। यह सत्य है कि एक अन्य दृष्टिकोण मे, तर्कातीत दृष्टिकोण से, एकतत्त्ववादी के रूप मे दिङ्नाग संसार के अद्वितीय द्रव्य के अन्तर्गत समस्त विरुद्धत्व का परम तादात्म्य तथा सगम स्वीकार करेंगे। वह सम्पूर्ण की इस "शून्यता"[3] को स्वीकार करेंगे। किन्तु इस धार्मिक और तत्त्वमीमांसात्मक दृष्टिकोण का तार्किक के साथ सतर्क विभेद करना चाहिये।

प्रज्ञा और तर्क के विभेद के द्वारा, जो विभेद काण्ट से गृहीत है, दृष्टिकोण की द्विविधता (जो हमे दिङ्नाग मे भी मिलती है) हीगल मे बनी हुई है। वह कहते हैं[4] कि "प्रज्ञा निश्चित है और विषय के अन्तर कोटढतापूर्वक पकडती है। किन्तु तर्क निषेधात्मक और द्वन्द्वात्मक होता है।" तर्क के लिये विधि और निषेध मे कोई अन्तर नही हैं, किन्तु प्रज्ञा के लिये यह अन्तर सर्वमहत्त्वपूर्ण है। तर्क प्रज्ञा की सभी परिभाषाओ का विसर्जन कर देता है और समस्त अन्तरो को एक अविभेदीकृत सम्पूर्णता मे विलीन कर देता है।

हीगल और दिङ्नाग के बीच एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर है। हीगल शुद्ध विज्ञान मे प्रत्यक्ष स्वलक्षण[5] को उसी प्रकार अस्वीकार करते हैं जिस प्रकार हमारे ज्ञान के दो विजातीय स्रोतो के रूप मे इन्द्रियो और प्रज्ञा के बीच के अन्तर को अस्वीकार करते हैं। इनके लिये इन्द्रियाँ आत्मा की विक्रियायें हैं।[6]

---

[1] वही २. ५५ [2] यद् विरुद्ध-धर्म-ससृष्टम् तन् नाना।

[3] प्रज्ञापारमिता = शून्यता = ज्ञानम् अद्वयम्।

[4] वीस० डर लॉजिक १, ६।

[5] तुकी० फेनॉमिनॉलोजिक, पृ० ४२७, वी० ड० लॉजिक, २.४४० और बाद।

[6] एनसाइ० §४१८। फिर भी, इस विचार का कि ग्राह्यता मात्र विकल्परहित होती है, दिङ्नाग के निर्विकल्पक क्षण के लिये भी व्यवहार हो सकता है।

इन्द्रियो, प्रज्ञा तथा तर्क की तीन ज्ञानात्मक शक्तियो से सम्बद्ध काण्ट, हीगल और दिङ्नाग की परस्पर स्थितियो का मोटे रूप से साराश उपस्थित करते हुये हम निम्नलिखित बातो की स्थापना कर सकते हैं।

१) काण्ट तीन ज्ञानात्मक शक्तियाँ मानते हैं—इन्द्रियाँ, प्रज्ञा, और तर्क। इनमे से केवल तर्क ही अपोहात्मक या द्वन्द्वात्मक है।

२) हीगल इन्द्रियो तथा प्रज्ञा के अन्तर को मिटा कर प्रज्ञा तथा तर्क के बीच सम्बन्ध की स्थापना करते हैं। सभी विषयो या विकल्पो को प्रज्ञा अ-द्वन्द्वात्मक रूप से देखती है, किन्तु तर्क द्वन्द्वात्मक रूप् से।

३) दिङ्नाग प्रज्ञा और तर्क के बीच के अन्तर को मिटाते हुये केवल इन्द्रियों और प्रज्ञा के बीच एक मौलिक अन्तर मानते हैं। तब इन्द्रियाँ ज्ञान की अ-अपोहात्मक प्रमाण होती हैं, जब कि प्रज्ञा सदैव ही अपोहात्मक होती है।

४) काण्ट और दिङ्नाग जिस प्रकार इन्द्रियो और प्रज्ञा के बीच एक मौलिक अन्तर मानने मे सहमत हैं, उसी प्रकार स्वलक्षण को समान रूप से ज्ञान का परमार्थ और अ-अपोहात्मक प्रमाण मानते हैं। दूसरी ओर हीगल, स्वलक्षण के अपोहात्मक विनाश मे फिख्ते और शेलिङ्ग का अनुसरण करते हैं।

५) काण्ट की प्रणाली मे सत् (स्वलक्षण) तर्क से पृथक् है। हीगल की प्रणाली मे दोनो मिश्रित[1] हो जाते हैं। दिङ्नाग की प्रणाली मे तर्क के स्तर पर इन्हें पृथक् रक्खा गया है किन्तु ज्ञानमीमासात्मक स्तर पर एकतत्त्ववादी सम्पूर्णता में इनका विलय कर दिया गया है।

(ख) जे० एस० मिल और ए० बेन

अन्तत अब हम यह जान चुके हैं कि कोई भी ऐसा निश्चित विचार नही हो सकता जो प्रतिषेध भी न हो। ऐसा विचार जो किसी भी बात का प्रतिषेध नही करेगा वह किसी का विधान भी नही कर सकेगा। दिङ्नाग कहते हैं कि प्रत्येक शब्द अपने अर्थ को प्रतिषेध (अपोह) के द्वारा व्यक्त करता है। यहा मानना गलत है कि प्रतिषेध एक निहित परिणाम है। शब्द स्वयं प्रतिषेधात्मक होता है। प्रतिषेधात्मकता ससार की आत्मा है। अपोह अथवा परस्पर प्रतिषेध प्रज्ञा द्वारा निर्मित सभी निर्धारणो की प्रतिषेधात्मकता है।

---

[1] फिर भी, सत्ता मात्र की हीगल की धारणा, जो अभाव जैसी ही है, एक सीमा तक उस भारतीय क्षणिकवाद का स्मरण कराती है जो स्वयं अपने ही नाश को व्यक्त करता है।

ज्योंही हमारे मानसिक चक्षु स्पन्दित होने लगते हैं और हम अपनी भावना को शाब्दिक चिह्नों द्वारा व्यक्त करने के लिये अभिव्यक्ति को ढूँढना आरम्भ करते हैं त्योंही विषय विरोध से युक्त हो जाता है और हमारा विचार अपोहात्मक हो चुकता है।[1]

बुद्धि ज्योंही विकल्प करना आरम्भ करती है, अर्थात इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत सामग्री पर अपोहात्मक रूप से सक्रिय होती है त्योंही वह कुछ का प्रतिषेध कर चुकी होती है। इसलिये प्रज्ञा का वास्तविक नाम विकल्प, द्वैधीकरण[2], अथवा दो भागों में विभाजन है। इन दो भागों में से एक दूसरे का पूर्ण प्रतिषेध करता है।

अब हम प्रतिषेध (अपोह) पर कुछ योरोपीय दार्शनिकों के मतों को यह दिखाने के लिये उद्धृत करेंगे कि ये सदैव ही उस समाधान की खोज करते रहे हैं जो भारतीय सिद्धान्त में न्यूनाधिक उपलब्ध है।

जे० एम० मिल[3] का विचार है कि विधायक नाम होते हैं और प्रतिषेधात्मक नाम भी होते हैं। किन्तु कौन विधायक हैं और कौन प्रतिषेधात्मक यह निश्चित करना सरल नहीं है क्योंकि प्रतिषेधात्मक अक्सर विधायक रूप से तथा विधायक अक्सर प्रतिषेधात्मक रूप से व्यक्त होते हैं, जैसे "असुखकर" शब्द विधायक है जिसका वास्तविक अर्थ "दुःखकर" है, 'निरुद्यमी" शब्द प्रतिषेधात्मक है जिसका वास्तविक अर्थ "काम न करने वाला" है। तब यदि हम यह पूछें कि कौन से शब्द विधायक हैं और कौन से प्रतिषेधात्मक, तो प्रत्यक्षतः कोई उत्तर नहीं मिलेगा। ये प्रतिषेधात्मक हैं, इतना ही पर्याप्त है। मिल तब यह टिप्पणी करते हैं कि वैधिक भाषा में "शिष्ट" शब्द "अपराधी" "पुरोहित", "सैनिक" और "राजनीतिक" आदि का उल्टा है। इसका अर्थ यह होगा कि "शिष्ट" शब्द प्रतिषेधात्मक है। यदि यह किसी निषेध से युक्त न हो तो इसका कोई अर्थ नहीं होगा। किन्तु यदि "शिष्ट" प्रतिषेधात्मक है तो हम यह क्यों न कहें कि सभी शब्द प्रतिषेधात्मक हैं, क्योंकि वह कहते हैं कि "प्रत्येक विधायक शब्द के लिये एक तदनुरूप प्रतिषेधात्मक शब्द का निर्माण किया जा सकता है" और हम यह कभी भी जान नहीं सकते कि कोई शब्द-विशेष विधायक उद्देश्य से बना है या प्रतिषेधात्मक। यह टिप्पणी अपने में प्रतिषेधात्मक नामों के दिङ्नाग के सिद्धान्त के बीज से युक्त है।

---

[1] पल० पृ० ७ और बाद।

[2] विकल्प=द्वैधीकरण = एकीकरण।

[3] लॉजिक, १.४३ और बाद।

जे० एस० मिल[1] की एक अन्य टिप्पणी भी भारतीय विचारो के समक्ष उपस्थित करने पर अत्यन्त कौतूहलवर्धक बन जाती है। वह कहते है कि "शब्दो का एक ऐसा वर्ग है जिसे "अभाववाचक" कहते हैं। अपने आशय मे ये एक विधायक और एक प्रतिषेधात्मक दोनो के सम्मिलित आशय के समान होते हैं। ये किसी ऐसी वस्तु के नाम होते हैं जिसमे किसी गुण की उपस्थिति की आशा की जाती थी किन्तु जो इसमे है नही। उदाहरण के लिये "अन्धा" शब्द को लीजिये जो "न-देखने" के बराबर नही है, क्योकि यह केवल ऐसी ही वस्तुओ के लिये व्यवहृत हो सकता है जो देख सकते हैं अथवा देख सकते थे, अर्थात् जिनसे देखने की आशा थी।" यह टिप्पणी प्रतिषेध सम्बन्धी दिङ्नाग और सिग्वर्ट के सिद्धान्त के बीज से युक्त है और इसे अभाववाचक शब्दो तक ही सीमित नही करना चाहिये बल्कि सभी प्रतिषेधात्मक शब्दो तक विस्तृत कर देना चाहिये। निष्कर्ष प्रत्यक्षत यह होगा कि सभी शब्द "विधायक और प्रतिषेधात्मक दोनो एक साथ" होते हैं क्योकि किसी न किसी प्रकार सभी अभाववाचक होते हैं।

इस निष्कर्ष की बेन ने दृढतापूर्वक स्थापना की है जिसका परिणाम, जिसकी उन्हे आशा नही थी, यह हुआ कि उन पर हीगलवादी नास्तिकता मे पतित होने और अनुभववादियो की आस्था के साथ विश्वासघात करने का आक्षेप किया गया।[2]

---

[1] सम्भवत लॉक (एसे, बुक २, अ० ८, § १-२) के "अभाववाचक हेतुओ से विधायक विचारो द्वारा सूचित। ये "वास्तविक विधायक" विचार होते हैं, यद्यपि इनका हेतु के उद्देश्य मे एक अभाव हो सकता है।

[2] ब्राडले लॉजिक[2], पृ० १५८ "यह निश्चित रूप से मनोरजक और विधि की विडम्बना ही होती यदि अनुभववादी सम्प्रदाय हीगल की मौलिक त्रुटि कर बैठता। प्रो० बेन के "सापेक्षता के नियम" ने, जिसको जे० एस० मिल ने मान्यता प्रदान की है, कम से कम इसी दिशा मे बहक जाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। हमारे ज्ञान की, जिस रूप मे यह है, दो गुणो के परस्पर प्रतिषेध के रूप मे व्याख्या की गई है। इनमें से प्रत्येक की एक विधायक सत्ता भी है क्योकि अन्य की प्रतिषेध्य के रूप मे उपस्थिति है।" (इमोशन्स, पृ० ५७१)। मैं यह नही कहता कि प्रो० ए० बेन की इस अशुभसूचक उक्ति का अर्थ वास्तव मे वही है जो वह कहते हैं, किन्तु उन्होने इतना पर्याप्त कह दिया है कि वह उन्हें एक करार पर लाकर खडा कर देता है। यदि

वास्तव मे उन्होंने यह माना है कि सभी शब्द एक साथ ही विधायक और निषेधक होते हैं, यह कि ऐसी कोई विधि नही है जो साथ ही साथ निषेध भी न हो और न ऐसा कोई निषेध ही है जो साथ ही साथ विधि भी न हो। इससे यह अनुमित होता है कि स्वयं अपने मे कोई विधि नही है, और न स्वयं अपने मे कोई निषेध, बल्कि प्रत्येक शब्द विधि के साथ ही साथ निषेध भी करता है। यह प्राय दिङ्नाग के मत का ही साराश है और प्रो० ए० बेन उस गर्त का अनुभव किये बिना ही जिसमे वह गिर रहे हैं, इसी को मानते हैं। उन्होंने प्रत्यक्षत इस बात का विचार ही नही किया कि प्रतिषेधात्मकता ससार की आत्मा है। उनका विचार था कि विधायक वस्तुयें होती हैं और प्रतिषेधात्मक भी, तथा एक ही शब्द दोनो को व्यक्त करता है (¹)। किन्तु यदि एक ही नाम विधायक और साथ ही साथ निषेधक, दोनो की अभिधा है तो यह निश्चित करना सर्वथा असम्भव हो जाता है कि कौन सी वस्तुयें विधायक हैं और कौन निषेधक। बेन[1] कहते हैं कि "वास्तव मे विधि और निषेध को सदैव अपने स्थानो के परस्पर परिवर्तन के लिये तैयार रहना चाहिये।" तब एकमात्र सम्भव निष्कर्ष यही है कि सभी निषेधात्मक है क्योकि सभी एक दूसरे के निषेधक हैं।

हम देख चुके हैं कि काण्ट[2] एक तार्किक और यथार्थ विरोध के बीच महत्त्वपूर्ण विभेद करते है। वह कहते हैं कि "तार्किक विरुद्धत्व मे, अर्थात् विरोध मे केवल उसी सम्बन्ध पर ध्यान दिया जाता है जिसके द्वारा किसी वस्तु के विधेय परस्पर एक दूसरे को, तथा विरोध के द्वारा उनके फलो को निराकृत करते हैं।" दोनो मे से कौन विधायक है और कौन वास्तव मे निषेधक, इस पर ध्यान नही दिया जाता। किन्तु प्रकाश और अन्धकार,

---

अनुभववादी सम्प्रदाय को तथ्यो का कोई ज्ञान था तो वे अवश्य यह जानते रहे होगे कि हीगल का अपराध त्रुटि मे नही बल्कि 'सापेक्षता' मे निहित था। एक बार प्रो० बेन के साथ यह कह दीजिये कि "हम केवल सम्बन्धो को ही जानते हैं," एक बार यह कहिये कि ये सम्बन्ध प्रतिषेध और विधि के बीच होते हैं, तो आप अभिजात हीगलवाद के मुख्य सिद्धान्त को मान चुके होगे।

[1] लॉजिक, १,५८

[2] तुकी० एसे० ऑन नेगेटिव मैग्नीच्यूड्स पृ० २६ (कर्चमैन सस्करण)। तकी० क्रिटी०।

शीत और उष्ण आदि का विरोध गत्यात्मक है। विरुद्ध के दोनो ही भाग यथार्थ हैं। यह विरुद्धत्व तार्किक विरोध नही बल्कि यथार्थ अन्यत्व और गत्यात्मक विरुद्धत्व है।

हम देख चुके हैं कि धर्मकीर्ति ने भी इसी सिद्धान्त को व्यक्त किया है।[१] वह कहते हैं कि परस्पर परिहार सभी वस्तुओ को आवृत्त करता है चाहे वह सत् हो या असत। दूसरी ओर, गत्यात्मक विरोध केवल कुछ यथार्थ युग्मों मे ही उपस्थित होता है। नील और अ-नील के बीच विरोध तार्किक है। प्रथम द्वितीय का उतना ही प्रतिषेध्य है जितना द्वितीय प्रथम का। नील और पीत के बीच, घट और पट के बीच का विरोध केवल अन्यत्व मात्र है। धर्मोत्तर कहते हैं कि "सभी परमाणु एक ही स्थान को ग्रहण नही करते किन्तु उनकी अवधि एक दूसरे के साथ हस्तक्षेप नही करती।" ये सभी शान्तिपूर्वक निकट सान्निध्य मे विद्यमान रहते हैं।

अब, काण्ट और धर्मकीर्ति द्वारा इतने स्पष्ट रूप से विभेदित इन दो प्रकार के विरोधो को एक ओर बेन ने तथा दूसरी ओर हीगल ने सम्मिश्रित कर दिया है। बेन[२] कहते है कि 'कोई यह मान सकता है कि एक कुर्सी एक निरपेक्ष और असम्बद्ध तथ्य है जिसमे कोई भी विरुद्ध, विपरीत अथवा सह-सम्बद्ध तथ्य निहित नही है। किन्तु स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है।" इससे वह अ-कुर्सी भी अभिप्रेत है जिसका अर्थ अत्यन्त विस्तृत है। इस प्रकार, बेन के अनुसार, कुर्सी केवल अ-कुर्सी का प्रतिषेध है और अ-कुर्सी केवल कुर्सी का प्रतिषेध। दोनो ही भाग एक दूसरे के प्रतिषेधक हैं।

(ग) सिग्वर्ट

सिग्वर्ट ने उसी समस्या को लिया है जिसने जे० एस० मिल, ए० बेन, और एफ० एच० ब्राडले को भ्रमित किया और जो वही प्रतीत होती है जिसका दिङ्नाग ने अपनी महान् कृति के पाँचवें अध्याय मे विशद विवेचन किया है। दिङ्नाग कहते हैं कि "सभी शब्द प्रतिषेधात्मक हैं"। "कुछ नाम, तथाकथित 'अभाववाचक' नाम, एक साथ ही प्रतिषेधात्मक और विधायक दोनो होते हैं", ऐसा मिल का कथन है। "सभी नाम सदैव ही

---

[१] न्यायबिटी० पृ० ७० २२।

[२] लॉजिक, १६१।

एक साथ प्रतिषेधात्मक और विधायक होते हैं," ऐसा बेन कहते है। ब्राड्ले[1] का कथन है कि "सतर्क रहिये! क्या आप का आशय सचमुच वही है जो आप कहते है? आप हीगेलियन द्वन्द्वात्मकता के गर्त मे गिर रहे हैं।" और ऐसा प्रतीत होता है कि सिग्वर्ट ने ब्राड्ले के सतर्कतासूचक संकेत को सुन लिया। उन्होने वह सब कुछ सतर्कता बरती है जिससे हीगेलियन गर्त मे न गिरे। किन्तु इन्हे इसमे कहाँ तक सफलता मिल सकी है उसे हम आगे देखेंगे।

इनका[2] कहना है कि "इस सिद्धान्त को कि सभी वस्तुयें हाँ और नहीं से, सत्ता और अभाव से युक्त होती है, सबसे पहले थॉमस कैम्पानेला ने, जैसा कि ट्रेण्डेलेन्बर्ग ने सकेत किया है, व्यक्त किया था। इस मत के अनुसार किसी निश्चित वस्तु की उतनी ही सत्ता होती है जितनी कि वह अन्य नही है।' 'यह मनुष्य है'—यह विधायक है, किन्तु यह इसलिये मनुष्य है क्योकि यह न तो पाषाण है, न तो सिंह है, न गर्दभ है, इत्यादि।" सिग्वर्ट इस दृष्टिकोण को अस्वीकृत करते हैं क्योकि यह पूर्ण हीगलवाद का मार्ग प्रशस्त करने वाली एक खतरनाक नास्तिकता है, क्योकि यह तर्क और यथार्थता की अस्तव्यस्तता से युक्त हैं। किन्तु आप यह स्वीकार करते हैं कि तब वह प्रतिषेध की व्याख्या करने मे असमर्थता का अनुभव करते हैं। वह कहते हैं[3] कि "प्रश्न इस बात का है कि हमे यथार्थता के ससार के ज्ञान के लिये उन आत्मनिष्ठ परिधियो की क्या आवश्यकता है जिनमे हमारे प्रतिषेधात्मक विचारो के कोई भी प्रतिरूप ढूढे नही जा सकते।" इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया गया है। सिग्वर्ट प्रत्यक्षत प्रतिषेधात्मकता के मूल्य पर हीगलवाद के अन्तर्गत चले जाते है। सभी नामो को विधायक होना चाहिये क्योकि प्रतिषेधात्मक नामो का कोई प्रतिरूप ढूढा नहीं जा सकता।

तदनन्तर आप आगे यह पूछते है कि क्या असवादित्व की प्रतिषेध द्वारा व्याख्या की जा सकती है? 'मनुष्य' की प्रत्येक 'अ-मनुष्य' के साथ असगति है। एक ही वस्तु एक साथ ही मनुष्य और अ-मनुष्य नही हो सकती।

---

[1] लॉजिक, २ पृ० १५८ ।

[2] लॉजिक, १ १७१ ।

[3] वही ।

किन्तु एरिस्टॉटिल का अ मनुष्य (ουχ ανθρωπος) वास्तविक नही है।[1] इसका अर्थ मनुष्य को छोडकर बाद के विश्व का सब कुछ है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य का आकार अनुपस्थित है। सिग्वर्ट कहते हैं कि 'मनुष्य के आकार की अनुपस्थिति स्वय अपने मे अन्य आकार नही है।" इस प्रकार 'अ-क' के यथार्थ न होने के कारण सिग्वर्ट यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उन सभी वस्तुओ के बीच कोई विरुघत्व नही है जो 'क' और 'अ-क' के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। इनका एक दूसरे के निकट विना किसी सघर्ष के ही सह-अस्तित्व हो सकता है। यह कि इनको एक ही उद्देश्य का विधेय नही वनाया जा सकता, अनुभव द्वारा ज्ञात सत्यता है जिसकी 'प्रतिषेध द्वारा व्याख्या नही की जा सकती। इस प्रकार सिग्वर्ट प्रतिषेध का विसर्जन कर देते हैं और हीगलवाद के खतरो के अन्तर्गत चले जाते हैं। 'मनुष्य' नाम विशुद्ध विधायक है और इसमे कोई प्रतिषेध नही है, तथा 'अ-मनुष्य' नाम सर्वथा कुछ नही है।[2]

फिर भी, सिग्वर्ट के अनुसार एक स्थिति ऐसी है,[3] जहाँ 'प्रतिषेध के द्वारा विरोध की उत्पत्ति को अस्वीकार करना असम्भव प्रतीत होता है।"

---

[1] सिग्वट काण्ट के असीम निश्चय पर व्यग करते हुये उसे हास्यास्पद बताना चाहते हैं (वही, पृ० १८२-१८५)। लॉत्स क्रोधपूर्वक इस पर आक्रमण करते हैं (लॉजिक[2], पृ० ६२)। किन्तु एच० कोहेन इसका पक्ष लेते हैं (लॉजिक, पृ० ७४)। बौद्धो के दृष्टिकोण से असीम निश्चय के विरुद्ध समस्त अपभाषणो को इस बात के सकेत द्वारा त्याग दिया गया है कि 'अ-क' उसी मात्रा मे यथार्थ है जिस मात्रा मे 'क', क्योकि ऐसा कोई 'क' नही है जिसका 'अ-क' से निहित अन्तर न हो। दोनो ही अपोहात्मक हैं। साथ ही 'क' भी उतना ही असीम है जितना 'अ-क'। यह निश्चय कि "यह श्वेत है", दो असीमितताओ के बीच विभाजन-रेखा को व्यक्त करता है। इसे सिग्वर्ट परोक्ष रूप से उस समय स्वीकार करते प्रतीत होते हैं जब वह कहते हैं कि "श्वेत" को सीमित करना चाहिये अन्यथा यह भी असीम होगा। तुकी० वही, पृ० १८२।

[2] सिग्वर्ट प्रत्यक्षत यह सोचते हैं कि मनुष्य और सिह के विकल्पो मे उसी समय परस्पर विरोध होगा जब सिह मनुष्य पर आक्रमण करके उसका भक्षण कर जायगा।

[3] वही, पृ० १८५।

'अभाववाचक' नाम ऐसे ही हैं।[1] "क्या इसके अतिरिक्त कि 'अन्धता' का अर्थ 'न देखना' है, अन्य किसी प्रकार देखने और अन्धता के बीच सम्बन्ध को व्यक्त करना वास्तव में सम्भव है?" "अन्धता" तब दृष्टि का मात्र अभाव होगा और प्रतिषेध द्वारा उत्पन्न विरोध से युक्त होगा।" तब सर्वथा एक ही बात होगी चाहे हम एक भाग को अस्वीकार करें और दूसरे भाग की स्थापना करें, चाहे हम यह कहें कि "वह देखता नही" अथवा यह कि "वह अन्धा है"। इस प्रकार देखने का अर्थ होगा "अन्धता नही" और "अन्धता का अर्थ होगा "न देखना"। कम से कम कुछ नाम स्वय अपने मे प्रतिषेधक होंगे, और तब हीगलवाद का सकट पुन आसन्न होगा। सिग्वर्ट[2] कहते हैं कि "ऐसा नही है" इसकी स्थापना के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है। यदि मनुष्य नही देखता तो यह कारण नही बताया जाता कि वह नही देखता। किन्तु यदि यह कहा जाय कि वह अन्धा है तब उससे यह सूचित होता है कि वह सयन्त्र, जिससे वह देख सकता था, नष्ट हो गया है।" मनुष्य, प्रत्यक्षत, ध्यान की कमी या दूरी के कारण भी अपनी दृष्यशक्ति के ह्रास के विना ही देखने मे असमर्थ हो सकता है। तब वह "नही देखता होगा" किन्तु अन्धा नही होगा।

कोई भी व्यक्ति प्रोफेसर सिग्वर्ट जैसे असाधारण सूक्ष्मबुद्धि तर्कशास्त्री को इस प्रकार की लचर दलील प्रस्तुत करता देखकर आश्चर्य करेगा। वह यह भूल गये प्रतीत होते हैं कि कोई मनुष्य एक साथ ही और एक ही आशय मे 'अन्ध' और अ-अन्ध दोनो नही हो सकता। किन्तु वह भिन्न समयो मे और भिन्न आशयो मे भलीभाँति 'अन्ध' और 'अ-अन्ध हो सकता है। तब वास्तव मे देखना और अन्धता एक दूसरे को निराकृत नही करेंगे। अन्यथा ये दोनो निश्चित रूप से एक दूसरे को निराकृत करने वाले हैं, अर्थात् दोनो ही विधायक और दोनो ही प्रतिषेधक हैं।

इस प्रकार यह स्थापना करने के वाद कि अभाववाचक नाम वास्तव मे विधायक होते है, सिग्वर्ट इस अगले स्तर की स्थापना के लिये भी वाध्य हैं कि कोई निषेधक नाम होते ही नही, सभी विधायक होते हैं। वास्तव मे वह कहते हैं[3] कि "समस्त निषेध का केवल निश्चय के क्षेत्र मे ही कोई अर्थ होता

---

[1] यहाँ सिग्वर्ट प्रत्यक्षत जे० एस मिल और लॉक द्वारा आरम्भ विवाद को अपना विषय वनाते हैं।

[2] वही, पृ० १८६।

[3] वही, पृ० १८१।

से हो सकता है कि एक वस्तु अनिवार्यत दूसरी के अभाव के अन्तर्गत सम्मिलित होती है।[1]

८) प्रत्येक वस्तु, सर्वप्रथम, उसी सामान्य के अन्तर्गत निहित प्रकरो को व्यावृत करती है।[2]

९) अन्य सभी वस्तुयें उन सामान्यो के परस्पर परिहार के द्वारा व्यावृत्त होती है जिनके अन्तर्गत वे निहित होती हैं।[3]

१०) यह साक्षात् और परोक्ष विरोध (अथवा अन्यत्व) लाक्षणिक है।[4] यह तादात्म्य को तो वचित करता हैं किन्तु शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व को नही।[5]

११) एक गत्यात्मक विरोध भी होता है जैसे कि शीत और उष्ण के बीच।[6] यह वास्तव मे हेतुत्व[7] होता है और उष्ण तथा अ-उष्ण के लाक्षणिक विरोध मे हस्तक्षेप नही करता। लाक्षणिक विरोध इनके तादात्म्य का निवारण करता है, और गत्यात्मक इसकी सहावस्था का।[8]

---

[1] वही वस्तुनोस् तु अन्योन्य-अभाव-अव्यभिचारितया विरोध,

[2] प्रसमु० अ० ५ २७ ये सभी किसी गृहयुद्ध मे राजा के पुत्रो के समान होती हैं।

[3] वही, अ० ५ २८ "शिंशपा शब्द घट को साक्षात् व्यावृत्त क्यो नही करता ? क्योकि कोई सजातीयता नही है।" किन्तु घट मिट्टी के पात्रो के सामान्य के अन्तर्गत आता है और शिंशपा वृक्ष-सामान्य के अन्तर्गत, और ये दोनो पुन 'पार्थिवत्व' सामान्य के अन्तर्गत आते हैं। अत शिंशपा घट को उसी प्रकार व्यावृत्त करता है "जिस प्रकार किसी मित्र के शत्रु को", साक्षात् नही।

[4] न्याविटी० पृ० ७० ७३ 'लाक्षणिकोऽयम् विरोध'।

[5] वही पृ० ७० २० 'सत्य् अपि च अस्मिन् विरोधे सहावस्थानाम् स्याद्ऽपि।'

[6] वही, पृ० ७०,२२ 'वस्तुन्य एव कतिपये।'

[7] वही, पृ० ६८ ९ 'यो यस्य विरुद्ध स तस्य किंचित्कर एव विरुद्धो जनक एव।

[8] वही, पृ० ७०,२० 'एकेन विरोधेन शीतोष्णयोर एकत्वम् वार्यते, अन्येन सहावस्थानम्।"

१२) एक ही अधिष्ठान के दो गुण केवल व्यावृत्ति की न्यूनता या अधिकता के द्वारा ही भिन्न होते हैं।[1]

१३) विरोध केवल निश्चित विकल्पो के ही बीच हो सकता है। सर्वथा अनिश्चित वस्तु-स्वलक्षण तथा साथ ही साथ विज्ञान मात्र का क्षण दोनो ही विरोध के नियम की पहुँच के बाहर हैं। ये अ-अपोहात्मक होते हैं।[2] ये समस्त विभेद को, अर्थात समस्त विरोध को वर्जित करते हैं।

वास्तव मे, तृतीय प्रकार-अभावी और परस्पर-परिहारी दो विकल्पो के बीच लाक्षणिक विरोध होता है, और दूसरी ओर, अन्यत्व मात्र अथवा गत्यात्मक विरोध होता है जो मध्यवर्ती सदस्यो को स्वीकार करता है और जिसमे विरोधी भाग एक दूसरे के प्रतिषेध को साक्षात् व्यक्त नही करते। जे० एम० मिल और सिग्वर्ट, दोनो यह मानते हैं कि "दु खकर" विधायक है, यह सुखकर का प्रतिषेध मात्र नही है, और "अन्धता" भी ऐसा ही है। किन्तु ये इस बात को भूल जाते हैं कि एक ही तथ्य एक ही समय और एक ही आशय मे सुखकर और दु खकर नही हो सकता। यदि दु खकर अ-सुखकर से कुछ अधिक है तो ऐसा इसी लिये है कि अ-सुखकर आगे भी मात्र अ-सुखकर और दु खकर मे उपविभाजित है जो मात्र अ-सुखकर से अधिक है। विरोध सदैव एक पूर्ण द्वैधत्व होता है। हम किसी युग्म के एक भाग का समर्थन करते हैं अथवा दूसरे का अस्वीकार—दोनो एक ही है। स्थिति उस समय परिवर्तित होती है जब विभाजन पूर्ण द्वैधीकरण नही बल्कि तीन या अधिक भागो मे विभाजन होता है। नील और अ-नील विरुद्ध है, नील अ-नील नही है और अ-नील नील नही है। किन्तु नील और पीत परोक्ष रूप से ही विरुद्ध हैं। नील के प्रतिषेध का अर्थ पीत का विधान नही हैं और न पीत के प्रतिषेध का अर्थ नील का विधान। पीत अ-नील के अन्तर्गत सम्मिलित है और केवल इसी कारण इसका नील के साथ असवादित्व है। इस प्रकार, नील अ-नील नही है, और अन्ध अ-अन्ध नही है, और एक गो अ-गो नही है, और एक वृक्ष अ-वृक्ष नही है, इत्यादि, इत्यादि। सभी शब्द इस आशय मे प्रतिषेधात्मक हैं।

इसलिये नील और पीत असवादक हैं जैसा कि अभी उल्लेख किया गया है, पीत अ-नील मे सम्मिलित है और नील अ-पीत मे। किन्तु वृक्ष और शिशपा असवादक नही है क्योकि शिशपा अ-वृक्ष मे सम्मिलित नही

---

[1] प्रसमु० ५ २८।

[2] न्याविटी० पृ० ७०७ 'न तु अनियत आकारोऽर्थ क्षणिकत्वात् (क्षण=स्वलक्षण = विधि-स्वरूप = प्रत्यक्ष=परमार्थ सत्)।

है। इसलिये इनमे बौद्धो के तादात्म्य-नियम के आशय मे तादात्म्य है। असवादित्व की अनुपलब्धि और विरोध के नियम द्वारा पूरी तरह व्याख्या हो जाती है।[1] सभी निश्चित वस्तुयें हाँ या नही मे निहित होती है। किन्तु क्या इसका यह अर्थ है कि बौद्ध हीगलवादी नास्तिकता मे पतित हो गये हैं ? माध्यमिक तो निश्चित रूप से हुये हैं किन्तु नैयायिक नही। इनके मोक्ष का नीचे वर्णन किया जायगा।

(घ) विधि क्या

अब, यदि सभी नाम और विकल्प प्रतिषेधात्मक है, यदि उनमे निहित प्रतिषेध के बिना उनका कोई भी अर्थ नही है, और यदि दूसरी ओर, प्रत्येक विकल्प किसी अभिप्रेत सविकल्पक निश्चय मे एक विधेय है, तो क्या इसका यह अर्थ नही है कि सभी निश्चय भी इसी प्रकार प्रतिषेधात्मक हैं ? क्या

[1] सिग्वर्ट के अनुसार (वही, पृ० १७९) इस बात के कोई नियम नही दिये जा सकते कि क्यो कुछ गुण असवादक होते हैं। इनको एक साथ एक उद्देश्य का विधेय नही बनाया जा सकता, किन्तु इसकी प्रतिषेध द्वारा व्याख्या नही की जा सकती। यह एक परमार्थ सत् है। बौद्धो के अनुसार यह सदैव ही अनिवार्यत विरोध के नियम के अन्तर्गत आता है। एरिस्टॉटिल के समय से ही तर्कशास्त्र मे प्रतिषेध के दो आधारो का विभेद किया गया है—एक अभावार्थकता तथा दूसरा असंवादित्व। प्रथम, प्रत्यक्षत वास्तविक अनुपलब्धि निश्चय, 'अ-प्रत्यक्ष' का निश्चय जो सविकल्प निश्चय के अनुरूप है, जैसे इस प्रकार का निश्चय कि "यहाँ कोई घट नही है (क्योकि हमे किसी का प्रत्यक्ष नही हो रहा है)", दूसरा प्रतिषेधात्मक व्याप्ति अथवा व्यतिरेक है जो दो विकल्पो (अथवा विधेयो) और एक निषेधक योजक से युक्त होता है। यह बाद वाला विरोध के नियम पर आधारित है और इसलिये इसे, स्वय सिग्वर्ट के वक्तव्य के अनुसार दो निश्चयो के बीच असवादित्व मानना चाहिये। जिस प्रकार विधायक निश्चयो की दशा मे हमने मुख्य निश्चय (एक विकल्प से) और व्याप्ति निश्चय (दो विकल्पो के बीच) के बीच अन्तर की स्थापना की है, और जिस प्रकार 'है' क्रिया का प्रथम दशा मे अर्थ सत्ता है और दूसरी दशा मे 'योजक', ठीक उसी प्रकार हम प्रतिषेधात्मक पक्ष मे भी इसी अन्तर की स्थापना करते हैं। अभावात्मकता का अर्थ अभाव है। असवादित्व का अर्थ विच्छेद है। प्रथम को अभाव-प्रतिषेध और द्वितीय को सम्बन्ध-प्रतिषेध कहते हैं।

एरिस्टॉटिल उस समय सर्वथा गलत थे जब उन्होंने निश्चय की परिभाषा में विधि और निषेध के विभाजन को सम्मिलित किया था? क्या यह सम्भव है कि हीगल ठीक हैं, और संसार में केवल प्रतिषेध ही है, कोई भी विधि नहीं? क्या सिग्वर्ट गलत रास्ते पर थे जब वह प्रतिषेध के अस्तित्व की पुष्टि करने में भ्रमित थे? इन प्रश्नों का भारतीय उत्तर निम्नलिखित है। किसी एक विकल्प तथा तदनुरूप सविकल्पक निश्चय के बीच का सभी अन्तर इस तथ्य में निहित है कि यह बादवाला दो विजातीय धर्मों से युक्त होता है जिनमें से एक अ-अपोहात्मक उद्देश्य तथा दूसरा एक अपोहात्मक विधेय होता है। विधि उद्देश्य में, इदन्ता धर्म में निहित होती है। उदाहरण के लिये "उत्पत्तिमान" विकल्प नित्यत्व के प्रतिषेध से अधिक कुछ नहीं, और 'नित्यत्व' का विकल्प 'उत्पत्ति' के प्रतिषेध से अधिक और कुछ नहीं। स्वयं अपने में ये विकल्प किसी भी यथार्थता से, किसी भी विधि से युक्त नहीं होते। स्वयं अपने से ये एक दूसरे को निराकृत करते हैं। इस निश्चय से कि "घट उत्पत्तिमान है", अथवा अधिक उपयुक्ततः इससे कि "यह कुछ ऐसा है जो उत्पत्तिमान है" अपने इदन्ता धर्म में एक यथार्थ विधि से युक्त है। इस प्रकार, "अर्थ और प्रामाणिकता" से युक्त कोई विकल्प उसी मात्रा में विधायक होता है जिसमें वह किसी 'इदन्ता' धर्म से युक्त होता है। यह परोक्षतः भी विधायक हो सकता है, किन्तु स्वयं अपने में यह अनिवार्यतः प्रतिषेधात्मक अथवा अपोहात्मक होता है। किसी मूर्त विकल्प, जैसे किसी घट अथवा 'घटत्व' के सम्बन्ध में भी ऐसा ही होता है। यदि विकल्प स्वयं अपने में विधायक होता तो यह निश्चय कि 'घट है' एक व्यर्थ की पुनरुक्ति से युक्त होता और यह निश्चय कि "घट नहीं है" व्यर्थ के विरोध से।[1] कोई विकल्प अथवा नाम केवल किसी निश्चय में ही विधायक बनता है। सिग्वर्ट का विचार था कि प्रतिषेध का केवल किसी निश्चय में ही कोई अर्थ होता है,[2] और यह कि सभी नाम स्वयं अपने में विधायक होते हैं। विपरीत सत्य है। विधि केवल किसी प्रत्यक्षात्मक निश्चय में ही (अथवा किसी न्यायवाक्य के पक्ष आधार-वाक्य में ही) अपने को प्रगट करती है। स्वयं अपने में सभी विधेय, अर्थात् सभी विकल्प और नाम प्रतिषेधात्मक हैं। विकल्प में स्वयं अपने से कोई विधायकता नहीं होती। यह कि अपने में यह सत्ता के किसी भी धर्म से युक्त नहीं होता, काण्ट भी सत्त्वमीमांसात्मक तर्क की समीक्षा के समय सिद्ध कर चुके हैं।

---

[1] तुकी० भाग दो, पृ० ३०५ और ४१५।
[2] लॉजिक १ १८१-२।

निष्कर्ष यह है कि एरिस्टॉटिल परोक्ष रूप से ठीक था। उसकी परिभाषा को इस आशय मे अवश्य परिवर्तित करना चाहिये कि प्रत्येक सविकल्पक निश्चय मे विधि का धर्म और प्रतिषेध का धर्म होता है।[1] निश्चय दो सर्वथा विजातीय वस्तुओ के बीच एकत्व होता है। यह किसी सत् के क्षण के प्रति विज्ञानात्मक विषय के सन्दर्भ से युक्त होता है। हीगल ने उस समय गलती की थी जब उन्होंने ज्ञान के दो स्रोतो के अन्तर का त्याग किया, और सिग्वर्ट भी इसलिये गलत थे कि उन्होने प्रतिषेध की शक्ति के महत्त्व को पर्याप्त स्वीकार नही किया। किन्तु सिग्वर्ट यह मानने मे ठीक थे कि यथार्थता को जब बाहर से लाया जाता है तभी वह प्रतिषेध से युक्त होती है। उनको इतना और जोडना चाहिये था एक विकल्प या नाम भी जब बाहर से लाया जाता है तभी वह विधि से युक्त होता है। यही वह उत्तर है जो दिङ्नाग ने सम्भवत योरोपीय तर्कशास्त्र के इन तीन प्रतिनिधियो को दिया होता।

शुद्ध अथवा यथार्थ विधि प्रत्येक इन्द्रियज्ञान के प्रथम क्षण मात्र मे ही निहित होती है। मान लीजिये कि हमे एक तात्कालिक प्रतिभास हुआ। हम पर प्रहार किया गया। यह प्रतिभास स्पष्ट और प्रखर है। हम हतप्रभ हो जाते हैं। इसके प्रथम क्षण मे हमे कोई विकल्प नही होता। किन्तु सर्वथा अनिश्चितता की यह स्थिति केवल एक क्षण तक ही रहती है। दूसरे ही क्षण मे यह स्पष्ट होना आरम्भ हो जाती है और स्थिति क्रमश निश्चित हो जाती है। प्रज्ञा की प्रक्रिया क्रमिक विकास की शक्ति रखती है। हम उसी मात्रा मे प्रज्ञा द्वारा ग्रहण करते हैं जिस मात्रा मे हम प्रतिषेध करते हैं। सिग्वर्ट पूछते हैं कि यथार्थता के ज्ञान के लिये हमे आखिर प्रतिषेध की आत्मनिष्ठ परिधि की क्यो आवश्यकता पडती है, जब हम प्रत्यक्षत उसका उतनी भली प्रकार साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ? इस प्रश्न का एक मात्र सम्भव उत्तर यह है कि हमारे पास ज्ञान के दो सम्मिलित स्रोत हैं और इनमे से केवल एक ही साक्षात् है। इन्द्रियो को विषय 'प्रदत्त'[2] होते हैं किन्तु उनका विकल्प नही होता। उनका विकल्प एक

---

[1] यह निश्चय कि "यह घट है" और 'यह घट नही है," दोनो ही इस दृष्टिकोण, इदन्ता धर्म मे विधायक है, और "घट" तथा अ-घट" के धर्म मे प्रतिषेधात्मक क्योकि घट अ-घट का प्रतिषेध है। दोनो परस्पर प्रतिषेध्य हैं और 'इदन्ता' धर्म के द्वारा ही विधायक होते हैं। यह ऐसी स्थितियो मे और स्पष्ट हो जाता है, जैसे "यह अनित्य है" और "यह नित्य नहीं है"।

[2] इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) विषय 'स्व-सत्तया प्रमाणम्' होता है, प्रज्ञा या अनुमान के लिये वह 'ज्ञातत्वेन (=अपोहेन) प्रमाणम्' होता है, तुकी० ताटी० पृ० ९८।

सतत प्रगतिमान प्रतिषेध की प्रक्रिया द्वारा क्रमश होता है। 'अ-क' विधेय से युक्त निश्चय इस आशय में अनन्त है, किन्तु यह विज्ञान के प्रथम क्षण के बाद तत्काल आरम्भ हो जाता है। हमे तब तक नील का ज्ञान नही हो सकता जब तक हम उसका अ-नील से विभेद नही करते। जो यह मानते है कि वे, उदाहरण के लिये, एकमात्र अपनी इन्द्रियो से साक्षात् प्रत्यक्ष करते हैं उन्हे जैसा कि जिनेन्द्रबुद्धि[1] कहते हैं, एक ही विषय मे तत्काल ही वृक्ष और अ-वृक्ष दोनो को एक साथ देखना चाहिये। किन्तु प्रतिषेध प्रज्ञा का कार्य है इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का नही। ज्ञान के दो स्रोतो मे से एक विधि है और दूसरा प्रतिषेध।

सभी योरोपीय दार्शनिको मे से हर्बर्ट ही एक ऐसे प्रतीत होते हैं जिन्होंने[2] बौद्धो की ही भाँति, विज्ञानमात्र को विधि के साथ समीकृत किया है।[3] वह[4] कहते हैं कि "विज्ञान मे, बिना हमारे ध्यान मे आये ही, सत्ता मात्र निहित होती है। विकल्प मे हमे उसके विरुद्ध के प्रतिषेध द्वारा उसका नये सिरे से निर्माण आरम्भ करना चाहिये।"

यह उन आलोचको को भी उत्तर है जिन्होने स्वलक्षण की धारणा को अपोहात्मक रूप से नष्ट कर देना सम्भव माना है। नि सन्देह सत्तामात्र, हेतुत्व मात्र, विषयमात्र, और स्वलक्षण का प्रज्ञा विरुद्ध के प्रतिषेध द्वारा "नये सिरे से निर्माण" करती है। किन्तु इस अथवा उस विज्ञान का विशेष तथ्य, इस अथवा उस क्षण का विशेष अर्थक्रियाकारित्व, वस्तुस्वलक्षण, "जो अन्यत्व के लेश से भी युक्त नही होता," परमार्थ-सत् होता है और इसी के अनुरूप विज्ञान विधि-स्वरूप होता है।

हीगलवादी प्रतिषेधात्मकता के परिहार के प्रयास में काण्टोत्तर जर्मनी के इस प्रमुख दार्शनिक का अनुसरण करना अत्यन्त उपयोगी है। इसके प्रयास

---

[1] तुकी० ऊपर।

[2] तुकी० फिर भी, काण्ट की यह टिप्पणी (क्रिरी० पृ० १४१) "किसी ऐन्द्रिक अन्त-प्रज्ञा मे यथार्थता की सर्वथा अनुपस्थिति का स्वय कभी भी प्रत्यक्ष नही हो सकता।" और वही, पृ० ११७ "जो प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे इन्द्रियप्रत्यक्ष के अनुरूप होता है यथार्थता या स्वलक्षण का निर्माण करता है।" फलस्वरूव विशुद्ध विज्ञान (कल्पनापोढप्रत्यक्ष) स्वलक्ष के अनुरूप, और विधिस्वरूप अथवा सत्तामात्र होता है।

[3] स्वलक्षणम्=परमार्थ-सत्=विधिस्वरूपम्=निर्विकल्पक-प्रत्यक्षम्।

[4] मेटाफिजिक २. § २०२, तुकी ऊपर पृ० २२७।

कदाचित ही सफल पाये जायेंगे, और यह अधिक उल्लेखनीय है, क्योंकि समाधान अत्यन्त निकट है और इसके अपने शब्दो मे प्राय अर्धव्यक्त हुआ है। इस तथ्य से भ्रमित होकर कि यथार्थता ज्ञान के लिये सर्वथा व्यर्थ होते हुये भी अपरिहार्य है, यह दार्शनिक[1] कहता है कि "इन मतो (स्पाइनोजा, हीगल तथा अन्य के) मे स्वय प्रतिषेध तथा इसके कल्पित विषयात्मक आधार के बीच, स्वय अपने मे निहित वैयक्तिकता और वस्तुओ के नानात्व मे प्रत्येक की अद्वितीयता के बीच, सदैव एक अस्तव्यस्तता निहित है। जो वह नही है वह उनकी सत्ता या स्वभाव के कभी भी आधीन नही हो सकता। यह तो तुलनात्मक विचार द्वारा उनमे बाहर से आयातित किया जाता है।" प्रतिषेध तुलनात्मक अथवा विभेदात्मक विचार होता है। प्रतिषेध और विभेदात्मक विचार परस्पर विकार्य शब्द है। हीगल उस समय बिल्कुल ठीक थे जब उन्होने कहा था कि प्रतिषेधात्मकता ससार की आत्मा है। किन्तु ससार का शरीर प्रतिषेध नही है। यह विधि और यहाँ तक कि विधि-स्वरूप है। सिग्वर्ट के शब्दो मे "यह प्रत्येक वस्तुमात्र की स्वय अपने मे निहित वैयक्तिकता और अद्वितीयता है।" यह एक ऐसी वस्तु है जिसमे अभी "बाहर से कुछ भी लाया नही गया है।" जैसा कि शान्तिरक्षित कहते हैं, यह ऐसी वस्तु है जो अन्यत्व के किसी भी अश के मिश्रण से अन्य के साथ समीकृत नही हुई है।"[2]

अब हम यह देखते हैं कि यदि प्रत्येक विकल्प अपने मे एक 'हाँ' और एक 'नही' से युक्त होता है और ये दोनो भाग एक दूसरे को निराकृत करते हैं, यह कि यदि इस आशय मे विकल्प सत्ता और अभाव से युक्त होता है, यह कि 'गो' 'अ-गो' के प्रतिषेध से अधिक कुछ नही और अ-गो गो के प्रतिषेध से अधिक कुछ नही तो अभी इसका यह अर्थ नही है कि ऐसे अपोहात्मक विकल्पो के तल मे कुछ भी विधायक नहीं होता। इसका, जैसा कि काण्ट कहते हैं, यह अर्थ नही है कि इस प्रकार के परस्पर प्रतिषेध का परिणाम शून्य है। दिङ्नाग तथा साथ ही साथ हीगल, दोनो ही इस आक्षेप का जोरदार प्रतिवाद करेंगे कि इनका दर्शन एक सर्वथा शून्य की ओर ले जाता है। जिनेन्द्रबुद्धि[3] कहते हैं

---

[1] लॉजिक, १,१७१।

[2] तस० पृ० १६ "अणीयसापि नाशेन मिश्रीभूतापरात्मकम् (अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पन्नम् अर्थम् स्वलक्षणम् जगाद)।"

[3] तुकी० ऊपर

कि "हमारे विपक्षी शब्दों के प्रतिषेधात्मक अर्थ (अपोह) के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ है। वे हमारे ऊपर एक ऐसा सिद्धान्त आरोपित करते हैं जो कभी भी हमारा नही था। वे यह मानते है कि इस सिद्धान्त का अर्थ प्रत्येक यथार्थता की सीधी अस्वीकृति है, और इस बात को लेकर वे सदैव ही हम लोगो को अपमानित करने के लिये उद्यत रहते है।" हीगल[1] यह कहते हैं "विरुद्ध का परिणाम सर्वथा शून्य नही बल्कि स्वयं अपने विषयवस्तु का प्रतिषेध है।" काण्ट ने सम्भवत यह उत्तर दिया होता कि "स्वय अपने विषयवस्तु का प्रतिषेध" शून्य ही है। फिर भी, बौद्ध नैयायिको के लिये उसी प्रकार सत् मात्र है जिस प्रकार वस्तु मात्र, और यह वस्तु जैसी की वह है अथवा 'स्वय अपने मे निहित' वस्तु, या विज्ञान मात्र मे ज्ञेय वस्तु है। यह उस प्रखर स्फुटाभत्व का प्रथम क्षण है जो नूतन प्रतिभास की दृष्टि से विशिष्ट होता है। तब वस्तु का उसकी पूर्ण मूर्तावस्था मे ज्ञान होता है, किन्तु जैसा कि सिग्वर्ट कहते हैं, यह सर्वथा अनिश्चित रूप से "बन्दी" होती है। किन्तु वह ज्योंही "मुक्त" होकर बुद्धि द्वारा नियन्त्रित क्षेत्र मे प्रवेश करती है, त्योंही उसका स्फुटाभत्व विलीन हो जाता है और वह निश्चित हो जाती है। वह स्फुटाभत्व मे जो खोती है वह निश्चिततता मे प्राप्त कर लेती है। स्फुटाभत्व और निश्चिततता एक दूसरे के विरुद्ध अनुपात मे स्थित हैं। अत्यन्त अमूर्त धारणाओ, जैसे, सत्ता, प्रमेयत्व, हेतुत्व, सर्वथा मूर्त, मूर्त यथार्थता से सर्वथा रहित प्रतीत होती हैं। इस प्रकार के निश्चय, जैसे घट अथवा गो (अर्थात् घटत्व, गोत्व) इत्यादि, एक ऐन्द्रिक प्रतिभास की मूर्तता के अत्यन्त निकट प्रतीत होते है। फिर भी, ये भी उसी प्रकार द्वैधीकरण के सिद्धान्त पर आधारित विकल्पात्मक विचार होते हैं, जैसे अमूर्त निश्चय। ज्योंही बुद्धि जागृत हो जाती है, ज्योंही वह विकल्प आरम्भ कर देती है, त्योंही वह तुलना करती है और अपोहात्मक हो जाती है। स्वय अपने स्वभाव से यह साक्षात् ज्ञान की क्षमता नही है। धर्मोत्तर कहते हैं कि यह अत्यधिक मात्रा मे आश्चर्यजनक नही है। वह[2] कहते हैं कि "क्या यह कोई महान आश्चर्य नही है कि हमारे विकल्प, यद्यपि सत् के निश्चित स्वभाव का भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करते हुये भी, स्वयं निश्चित सत् का निर्माण करने की क्षमता नही रखते ?" (ये केवल सामान्य का ही ज्ञान प्राप्त करते हैं और विशेष के

---

[1] वीस० ड० लॉजिक, १ ४६; तुकी० एनसाइ० § ८२।

[2] अपने अपोह-नाम-प्रकरण मे, तञ्जूर, म्दो, ११२, फो० २५३, ब०८ २५४, अ० २।

निश्चित ज्ञान के लिये सर्वथा अक्षम होते हैं)। वह आगे कहते हैं कि "नही, यहाँ आश्चर्य का लेशमात्र भी नही है। विकल्प स्वय अपने स्वभाव से कल्पना होते हैं। ये हमारे ज्ञान को सवादित्व से तो युक्त करते हैं किन्तु सत् से नही[१]। इसलिये जो भी निश्चित है वह अनिवार्यत हमारे विकल्पात्मक विचार का विषय है। किसी विषय का तत्काल प्रतिभासित रूप किसी भी निश्चितता से युक्त नही होता।"

यह आपत्ति[२] की गई है कि किसी वस्तु की धारणा सामान्य भी होती है; वह प्रत्येक वैयक्तिक वस्तु मे दोहरायी जाती है और अपने व्यापकार्थ मे भी सभी वस्तुओ की समग्रता को आवृत्त करती है। वास्तव मे सत्ता यथार्थता, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, सभी सामान्य धारणायें हैं, और इससे बौद्ध अस्वीकार नही करते। यदि ये सामान्य धारणायें विद्यमान न हो तो हम इनका नामकरण नही कर सकते। प्रत्येक नाम एक सामान्य का द्योतक है। किन्तु मूर्त स्वलक्षण, 'हॉक एलिक्विड एक सामान्य धारणा नही है, यह तो सामान्य धारणा का विरोधी भाग है। सामान्य धारणा को, विज्ञानात्मक होने के कारण, अपने प्रतिरूप मे वास्तविक यथार्थता की आवश्यकता होती है। वस्तु जैसी कि वह स्वय अपने मे दिखाई पडती है वही सत् है, यह एक विशेष, एक एकत्व, और मात्र सत् है। विधिस्वरूप पूर्व-तार्किक है, तर्क सदैव ही प्रतिषेधात्मक और अपोहात्मक होता है।[३]

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि दिङ्नाग की स्थिति ऐसी है जैसे मानो इन्होने अपोह को हीगल से और स्वलक्षण को काण्ट से लिया हो। किन्तु साथ ही साथ ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने काण्ट के स्वलक्षण को और हीगल के अपोह को उनकी अत्यधिक रहस्यवादिता से रहित, और इस प्रकार इन दोनो ही सिद्धान्तो के विरोधियो को निरस्त्र कर दिया है। वास्तव में ज्ञान निश्चय है और किसी

---

[१] वही।

[२] जैनो द्वारा। तुकी० तसप० पृ० ४ ८७ २२ (कारि० १७१३)।

[३] हमारे ज्ञान मे यह पूर्वतार्किक तत्त्व सम्भवत वही है जिसका कि 'पूर्वंग मानवता के ज्ञानो मे विद्यमान होने के रूप मे वर्णन किया गया है। यहाँ प्रज्ञा अपनी न्यूनतम क्षमता मे है। यह सर्वथा अनुपस्थित नही है, किन्तु उस सर्वथा अविभेदित 'जटिल-गुण' के अत्यन्त निकट है जो स्वय वोधगम्य न होने के कारण अ-ज्ञेय है। फिर भी, यह बुद्धि " सभी भावी क्रियाओ का स्रोत है। तुकी० लेब्रु० और एस० रेनल्फ, उ पृ० २०६ और वाद।

निश्चय का ज्ञानमीमासात्मक प्रकार इस रूप मे आकृत्यन्तग्ति हो जाता है कि "यह एक घट है" अथवा अधिक उपयुक्त इस रूप मे कि "घटत्व का आकार इस क्षणिक घटना से सम्बद्ध है"। यह एक प्रत्यक्षात्मक निश्चय अथवा यथार्थ निश्चय है। यह "इदन्ता' धर्म में प्रत्यक्ष है, यह 'घटत्व' धर्म मे एक निश्चय है। प्रथम वस्तु के स्वलक्षण का द्योतक है और द्वितीय वस्तु का "उसके अन्यत्व मे" अथवा 'अ-घट' मे द्योतक है। प्रथम ग्राह्यता है और द्वितीय वोधगम्यता। प्रथम विशुद्ध सत्ता है और द्वितीय अपोहात्मक। प्रथम विधि है द्वितीय अनुपलब्धि या प्रतिषेध। प्रथम साक्षात ज्ञान है और द्वितीय परोक्ष ज्ञान। यत दोनो ही धर्म एक ही परमार्थ सत् के द्योतक हैं—एक साक्षात् तथा दूसरा परोक्षतः—अत शान्तिरक्षित[1] कहते हैं कि स्वलक्षण ही प्रज्ञा के ज्ञानात्मक अपोह का अर्थात्मक आधार है। काण्ट[2] कहते हैं कि "निश्चय मे जो सवेदना (इदन्ता धर्म) के अनुरूप होता है वही स्वलक्षण है।" हीगल[3] कहते हैं कि "सभी वस्तुयें स्वय अपने मे विरोधी होती हैं, यह विरोध विकसित शून्यत्व है।" इसकी इस अर्थ मे व्याख्या की जा सकती है कि सत्तामात्र का तार्किक विधेय अपोहात्मक होता है।

इस प्रकार काण्ट की हीगल से और हीगल की काण्ट से पूर्ति करने पर हमे दिङ्नाग[4] मिलते हैं।

इस बात पर जोर देना कदाचित ही आवश्यक है कि ये समानतायें केवल आनुमानिक हैं, ये वही हैं जो समानतायें होती हैं, अर्थात भेद-अग्रह हैं।

(ङ) उलरिचि और लात्स

सामान्यो की समस्या की भाँति, अनुपलब्धि, अपोह, अनिश्चित विकल्प, और स्वलक्षण की समस्या का भी आधुनिक तर्कशास्त्र ने किसी अन्तिम समाधान के विना ही परित्याग कर दिया है। ये समस्यायें सम्बद्ध हैं। एक के समाधान का अर्थ सब का समाधान है। हीगलोत्तर जर्मनी ने रहस्यवादी अपोह से ऊब कर न केवल इसका परित्याग ही कर दिया है वरन् इससे त्रस्त है। सिग्वर्ट ही एक मात्र ऐसे लेखक नही है जो प्रतिषेध (अनुपलब्धि)

---

[1] तसप० पृ० ३१६.२८ और तसप० पृ० ३१७ २।

[2] क्रिरी० पृ० ११७।

[3] वी० ड० लॉजिक, २५८।

[4] यहाँ इस वात को दोहराना आवश्यक नही है कि यहाँ "विरुद्ध के अपोह" से तात्पर्य है "विपरीत के अपोह" से नही।

और अपोह की समस्याओ के उपस्थित होने पर शकित न हो उठते हो।[१]

इस दृष्टि से प्रोफेसर उलरिचि की तर्कशास्त्र की व्याख्या उल्लेखनीय है। आप प्रज्ञा की "आत्मा की विभेदात्मक क्रिया" के रूप मे परिभाषा करते हैं।[२] ये "विभेदात्मक क्रिया" का "प्रतिषेध" से विभेद करने के लिये बाध्य हैं क्योकि अन्यथा आत्मा स्वय प्रतिषेध हो जायगी, और यह हीगलवाद है। आप[३] कहते है कि "प्रत्येक भेद न केवल विषयो के परस्पर प्रतिषेध से वरन् उनके परस्पर एकत्व से भी युक्त होता है।" यह पुन भयकर रूप से हीगलवाद है; यह एक ऐसी सत्ता है जो साथ ही साथ अभाव भी है। किन्तु उलरिचि इस बात के प्रति पूर्ण आश्वस्त प्रतीत होते हैं कि वह हीगल के 'सत्ता मात्र' से सर्वथा मुक्त हैं, क्योकि आप कहते हैं[४] कि यह सत्ता साथ ही साथ अभाव भी है और "हीगल ने अपने सोफिस्टिक द्वन्द्वन्याय से इसकी स्थापना का निष्फल प्रयास किया है"। किन्तु आप जब स्वय अपनी स्थिति की व्याख्या करते हैं तब आप दूसरे शब्दो मे स्वयं हीगल के तर्को को ही दोहराते है। वास्तव मे हीगल[५] कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु, सर्वप्रथम, इसलिये विद्यमान है क्योकि अन्य की भी सत्ता है। वह वही होती है जो वह अन्य के द्वारा, स्वयं अपने अभाव के द्वारा होती है। द्वितीयत उसकी इसलिये सत्ता होती है क्योकि अन्य की सत्ता नही हैं। वह वही है जो वह अन्य के अभाव द्वारा होती है। वह स्वयं अपने स्वत्व मे प्रतिभास होती है।" आप यह निष्कर्ष निकालते हैं दोनो पक्षो मे से प्रत्येक दूसरे के साथ अपने स्थान को परिवर्तित कर सकता है। "उसे विधायक तथा प्रतिषेधात्मक रूप से भी ग्रहण किया जा सकता है।"[६] उलरिचि इस बात से अवगत हैं कि इस सिद्धान्त का अर्थ वास्तविक विधि की अस्वीकृति तथा प्रतिषेधात्मकता के खड्ड मे पतित होना है। इसलिये आप[७] इस बात पर जोर देते हैं कि "जब हम किसी वस्तु का विभेद करते हैं तो हम उसकी उतनी ही विधायक कल्पना करते हैं जितनी कि सत्ता की।" फिर भी, यह सत्ता अपने को एक अ-सत्ता (अभाव)

---

[१] तुकी० लॉत्स लॉजिक[२], § ४०। ट्रेण्डेलेनबर्ग लॉजिक, १,अ० ३।

[२] उलरिचि काम्पेण्डियम डर लॉजिक[२], पृ० ३३।

[३] वही, पृ० ५९।

[४] वही, पृ० ५७।

[५] वी० ड० लॉजिक, २४२

[६] वही, पृ० ४३।

[७] उपु० पृ० ६०।

के रूप मे भी व्यक्त करती है। वास्तव मे आप यह व्याख्या करते हैं[1]—"जब हम लाल का नीले से विभेद करते हैं तो हम उसकी नीले के प्रतिषेध के रूप मे कल्पना करते हैं। किन्तु साथ ही साथ हम नीले की लाल के साथ विपरीत सम्बन्ध की भी स्थापना करते हैं और नीले की 'लाल-नही' के रूप मे कल्पना करते हैं। इस प्रकार लाल एक घुमावदार मार्ग से नीले की परिधि द्वारा स्वय अपने से निहित रूप से सम्बद्ध होता है।" क्या यह एक बहुत कौतूहलवर्धक सत्ता नही है जो स्वय अपने स्वत्व से "अपनी अ-सत्ता की एक परिधि द्वारा" सम्बद्ध है। और क्या उल्रिचि केवल हीगल के तर्कों को ही दोहराते हैं, यद्यपि यह कल्पना करते हुये कि हीगल का प्रतिवाद कर रहे हैं[1] और जब आप यह कहते हैं कि "प्रत्येक शब्द स्वय अपने (अर्थात् विधायक) अर्थ को विरुद्ध के प्रतिषेध (अर्थात् अनुपलब्धि) के द्वारा व्यक्त करता है", तो क्या यह दिङ्नाग का ही तर्क नही है।

इसके अनुकूल, तब उलरिचि "निश्चत लाल रग" का उदाहरण देते हैं और कहते[2] हैं कि—"क्योकि लाल, जैसा कि लाल है, साथ ही साथ अ-नील अ-पीत इत्यादि है, अत केवल (इन्ही प्रतिषेधो के द्वारा) यह वह निश्चित रग है जिसे हम लाल कहते है।" लाल की विधायकता क्षीण हो गई है। यह निश्चित है किन्तु निश्चित का अर्थ बोधगम्य, और अनिवार्यत प्रतिषेधात्मक अथवा अपोहात्मक है। हीगल की "विशुद्ध सत्ता"[3] से बचने की इच्छा के विपरीत भी आप उसी खड्ड मे गिर पडते हैं।

सिग्वर्ट[4] ने उलरिचि की खतरनाक स्थिति का अनुमान कर लिया है, और इसलिये उनकी सहायता के लिये दौड पडते है। आप कहते है कि "वह सिद्धान्त जो यह मानता है कि कोई ज्ञान केवल विभेद के द्वारा ही निश्चित होता है,[5] यह भूल जाता है कि स्वय विभेद भी केवल पहले से विद्यमान विभेदीकृत ज्ञानो के बीच ही सम्भव है।" लाल का विज्ञान, अथवा अधिक

---

[1] वही।

[2] वही पृ० ६०।

[3] वही पृ० ५९।

[4] लॉजिक, १,३३३ नोट।

[5] इसका नि सन्देह यह अर्थ है कि यह "निश्चितता के द्वारा निश्चित होती है" अथवा यह "विभेदीकरण के द्वारा भिन्न होती है"। भिन्न और निश्चित का यहाँ प्राय एक ही आशय है।

उपर्युक्त एक निश्चित लाल का विज्ञान, आप आगे कहते हैं, सर्वथा विधायक और एक विशिष्ट विषय से युक्त होता है।" इसका यह अर्थ है कि यह कुछ सर्वथा निश्चित, सर्वथा विधायक, अत्यन्त निश्चित लाल रग, प्रज्ञा की ओर से किसी सहायता के बिना ही, अथवा जैसा कि उलरिचि कहते हैं, आत्मा की विभेदीकरण की क्रिया की सहायता के बिना ही, उच्चतम मात्रा मे विभेदीकृत है। तब प्रज्ञा या तो अव्यवहृत रह जाती है अथवा इससे उसी कार्य को पुन करना होता है जो अन्यो ने पहले ही कर दिया है।

प्रत्यक्षत इस द्विविध कार्य पर जोर देने के लिये ही लात्स[1] इसे "विधायक विधि" कहते हैं। किन्तु जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, आप यह कहते हैं कि यह स्थिति "प्रत्येक अन्य के परिहार" से इतनी स्पष्टरूप से एकीकृत है कि जब हम "विधि के मात्र अर्थ" का निर्धारण करना चाहते हैं तो हम केवल ऐसी ही अभिव्यक्तियो द्वारा यह कार्य कर सकते हैं, जिनका अर्थ "अन्य का परिहार" अर्थात् प्रतिषेध है। यह एक अत्यन्त कौतूहलवर्धक विधि ही है जिसे केवल प्रतिषेध के रूप मे ही व्यक्त किया जा सकता है। क्या यह पुन दिङ्नाग की इसी प्रतिज्ञा के सर्वथा समान नही है कि शब्द विरुद्ध के प्रतिषेध द्वारा ही अपने अर्थ को व्यक्त करते हैं? लात्स कहते हैं कि "यह विधि और यह निषेध एक अपृथक्करणीय विचार है।"[2] यह हीगल के यह कहने के समान नही है कि विधि और निषेध दोनो एक ही हैं[3] क्योंकि इनका विचार "एक" "और अपृथक्करणीय" है।

जिनेन्द्रबुद्धि[4] के साराश से हम यह जान सकते हैं कि भारतीय भी इस समस्या से भ्रमित थे कि विधि और निषेध, इस दृष्टि से "एक पृथक्करणीय विचार" थे, जैसा कि लात्स का विचार है, अथवा दो अन्योन्याश्रित विचार जिनमे से एक दूसरे का परिणाम है। दिङ्नाग का निर्णय यह है कि ये एक ही और वही विचार हैं। हीगल का भी यही सिद्धान्त है और लात्स भी हीगलवादी खड्ड से बचे रहने की समस्त इच्छा के विपरीत यही मत अपनाते हैं। लात्स और हीगल दोनो के सम्बन्ध मे बौद्धो की स्थिति का

---

[1] लॉजिक[2], § ११, पृ० २६।

[2] वही पृ० २६।

[3] वी० ड० लॉजिक, २५४।

[4] तुकी० ऊपर पृ० ५५५।

इनके ज्ञान के दो प्रमाण मानने के सिद्धान्त के आधाप पर विभेद किया जा सकता है। मान लीजिये कि लाल के अतिरिक्त अन्य कोई रग अस्तित्व-हीन होता तव हम लाल का प्रत्यक्ष तो अवश्य करते किन्तु यह कभी नही जान सकते कि वह लाल है।'

लॉक उस समय दिङ्नाग के दृष्टिकोण के अत्यन्त निकट आ जाते हैं जव वह "स्पष्ट विचार" और "व्यवच्छिन्न विचार"[2] के वीच विभेद की ओर सकेत करते हैं। एक स्पष्ट विचार वह है जिसमे वुद्धि को इतना पूर्ण और स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है जितना कि वह किसी स्वस्थ और प्रवृत्त इन्द्रियो पर क्रियाशील वाह्य विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकती है।" व्यवच्छिन्न विचार वह है "जिसमे वुद्धि अन्य सवमे विभेद का प्रत्यक्ष करती है।" इन शब्दो मे लॉक ने दिङ्नाग के सिद्धान्त के मर्मस्थान का स्पर्श किया है। वह निश्चय ही यह नही कहना चाहते कि स्पष्ट व्यवच्छिन्न नही है, और यह कि व्यवच्छिन्न स्पष्ट नही है। फिर भी, वह कहते हैं कि स्पष्टता तो इन्द्रियो से उत्पन्न होती है और निश्चितता प्रज्ञा मे। यदि एक पग और वढकर उन्होने यह कहा होता कि स्पष्टता केवल विज्ञान मात्र मे मिलती है और निश्चितता (अपोह) प्रज्ञा का ही अपना कार्य है, तव दिङ्नाग के साथ साम्य पूर्ण हो गया होता। फिर भी, इस प्रकार के पग का अर्थ स्वलक्षण तथा अन्य विशिष्टताओ सहित अनुभवातीत दर्शन मे गोता लगाना अथवा हीगल के अपोह मे आशिक रूप से कूद पडना होता।

डव्लू० ई० जॉनसन अपने तर्कशास्त्र[3] मे प्रत्यक्षत इसी अन्तर का उल्लेख करते हैं जव वह कहते हैं कि 'न तो आकार और न प्रत्यक्ष ही उस वैयक्तिक वस्तु की मूर्तता तथा विशेषता को प्रदर्शित करते हैं जिसका मानसिक प्रक्रियाओ की अपरिच्छिन्नता के विपरीत परिच्छिन्नता के रूप मे वर्णन किया जाना चाहिये।" अन्तर वास्तव मे वस्तु और प्रक्रियाओ के वीच नही वल्कि किसी विज्ञान की नवीनता और एक विकल्प की सामान्यता के वीच है। जिसे लॉक "स्पष्ट विचार" कहते हैं उसे यहाँ निश्चित वस्तु कहा गया है। लॉक जिसे "व्यवच्छिन्न" कहते हैं उसे यहाँ "अपरिच्छिन्न" कहा गया है "परिच्छिन्न" की अभिव्यक्ति के समान ही अस्तव्यस्तता सस्कृत शब्द "नियत"

---

[1] 'नीलम् विजानाति, न तु नीलम् इति विजानाति।' तुकी प्रत्तमु० वृत्ति, १४।

[2] एसे, वुक ३, अध्या० २९, §४।

[3] लॉजिक १, पृ० XXIX।

और "अनियत-प्रतिभास"[1] के बीच भी मिलती है। विज्ञान अपनी अद्वितीयता मे परिच्छिन्न होता है और आकार अपनी सामान्यता मे परिच्छिन्न होता है। विभेद को अधिक सुविधापूर्वक स्पष्ट (विज्ञान) और अस्पष्ट (आकार) द्वारा, अथवा "सत्" विशेष और "शुद्ध" सामान्य द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इस सन्दर्भ मे "सत्" और "शुद्ध" शब्दो का अर्थ "परमार्थ", अथवा जैसा कि काण्ट कहते हैं, अनुभवातीत है। अपने तल में यह इन्द्रियो और प्रज्ञा के बीच एक तुच्छ विभेद है, एक विभेद मात्र जिसके पूर्ण महत्त्व का सर्वप्रथम रीड ने अनुभव किया था किन्तु उनके उत्तराधिकारियो ने इसकी उपेक्षा कर दी। इसका इसके अनुभवातीत स्रोत तक काण्ट ने अनुगमन किया किन्तु पुन इनके भी उत्तराधिकारियो ने इसकी उपेक्षा कर दी।

सिग्वर्ट कहते हैं कि ऐसी विधि, जो प्रतिषेध की आधार है, वह "वस्तु की स्वय अपने मे आवृत्त विशेषता और अद्वितीयता है।" लात्स कहते हैं कि प्रत्येक नाम मे एक "विधायक स्थिति" होती है। जोन्स कहते हैं कि प्रत्येक प्रत्यक्ष मे "वैयक्तिक वस्तु की मूर्तता और विशेषता होती है।" "वैयक्तिक वस्तु की मूर्तता और विशेषता" का प्रत्यक्षत "विशेष की विशेषता विशेष" से अधिक और कोई अर्थ नही है। ये द्विविध तथा त्रिविध अभिव्यक्तियाँ उस भावना का सकेत करती हैं जो असाधारण रूप से विशेष और "अन्यत्व के किसी भी लेश" से रहित किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये इनके लेखको के मन मे विद्यमान होती है।

---

[1] तुकी० भाग २ का इण्डेक्स और 'नियत" शब्द पर टिप्पणी।

खण्ड ५

वाह्य संसार की सत्ता

§ १. सत् क्या है

वौद्ध नैयायिको के अनुसार सत् क्या है इसका ऊपर[1] उल्लेख किया जा चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि सत् द्विविध[2]—साक्षात् और परोक्ष होता है। साक्षात् सत् निर्विकल्पक और परोक्ष सत् सविकल्पक होता है।

एक सत्ता मात्र, अर्थात् विशुद्ध ऐन्द्रिक विज्ञान की सत्ता है और एक विशुद्ध विज्ञप्ति अर्थात् विशुद्ध हेतु की। विशुद्ध विज्ञप्ति किसी ऐसे विकल्प का अभाव है जो किसी ऐन्द्रिक विज्ञान के साथ सम्बद्ध नही है। सत् को, साथ ही साथ, विशेष, तथा विज्ञप्ति को सामान्य कहा गया है। सत् वस्तु भी है और विज्ञप्ति विचार या अ-वस्तु। परमार्थ सत् स्वलक्षण है जो विधि-स्वरूप होता है। स्वभावशून्य वह वस्तु है जैसी कि "वह अन्य मे" होती है, अथवा वह जो अन्य से अविभेदित है, इसीलिये इसे निषेध (या अपोह) भी कहते हैं। इस प्रकार हमे एक सामान्य द्वैधीकरण मिलता है जिसके एक पक्ष को १) सत्ता, २) विज्ञान, ३) विशेष, ४) स्वलक्षण, अथवा ५) विधि कहते हैं, और दूसरे पक्ष को क्रमश १) विज्ञप्ति, २) विकल्प, ३) सामान्य ४) 'अन्य मे" वस्तु, तथा ५) अपोह।

अब इस द्वैधस्व का द्वितीय पक्ष अखण्डात्मक है, यह सर्वथा आन्तरिक है, इसमे न तो कोई सामान्य है और न वाह्य ससार का कोई प्रतिषेध। किन्तु प्रथम पक्ष इतना अखण्डात्मक नही प्रतीत होता, यह दो भागो मे, एक आन्तरिक और एक वाह्य मे विभक्त है। आन्तरिक विज्ञान है और वाह्य वस्तु है, वह वस्तु जो स्वलक्षण है।

सत्ता की परिभाषा हीनयान और महायान के वीच विवाद का एक मौलिक विषय है। आरम्भिक सम्प्रदाय इस सिद्धान्त के प्रवर्तक थे कि 'सर्वम् अस्ति"। इस उक्ति की इस अर्थ मे व्याख्या की गई है कि धर्मों की सत्ता है। इन्हे ७५ प्रकारो अथवा बारह आयतनो मे व्यवस्थित किया गया

---

[1] ऊपर पृ० ७३।

[2] वही पृ० ८१।

है ।[१] इनके अन्तर्गत उद्देश्य और विधेय, आन्तरिक और बाह्य को सम्मिलित किया गया है। किसी वेदना, किसी विज्ञप्ति, किसी सकल्प की एक इकाई उतनी ही सत्ता की एक धर्म है जितनी किसी रग, किसी ध्वनि, अथवा किसी स्पर्शेन्द्रिय के प्रदत्त की, अर्थात् पदार्थ के इकाई की। सत्ता की दृष्टि से पदार्थत्व और विज्ञानमात्रता के बीच कोई अन्तर नही है। सभी वस्तुयें समान रूप से सत् हैं। इसलिये किसी वस्तु और उनके गुणो की सत्ता मे कोई मात्राभेद नही है। जो कुछ भी विद्यमान है वह द्रव्य है।[२] किसी घट की सत्ता, किसी रग के पट (एक वस्तु) की, किसी आकार (दूसरी वस्तु) की, किसी स्थूल वस्तु (तीसरी वस्तु) की, किसी रूप (चौथी वस्तु), इत्यादि की सत्ता है, किन्तु घट मे इनके एकत्व जैसी कोई सत् वस्तु नहीं है। घट केवल कल्पना है। जिस प्रकार आत्मा कल्पना है, यद्यपि इसके सभी धर्म, पाँच स्कन्ध "वस्तुयें" अर्थात् धर्म हैं। नित्य वस्तुयें, जैसे निर्वाण और शून्य आकाश, भी धर्म हैं। धर्म, वस्तु, भाव, द्रव्य, सभी विकार्य शब्द हैं।[३]

महायान मे यह मौलिक रूप से परिवर्तित हो गया है। महायान के प्रथम काल मे केवल कर्महीन समग्र को ही परमार्थ सत् कहा गया है। तार्किको के लिये सत्ता का विज्ञान से विरोध है। न केवल प्रत्येक विज्ञप्ति वेदना और सकल्प, वरन बुद्धि द्वारा कल्पित सब कुछ, प्रत्येक सामान्य, प्रत्येक गुण, प्र येक अवधि और प्रत्येक स्थूलत्व विकल्पात्मक है सत् नही। सत् केवल स्वलक्षण है जो बौद्धिक कल्पना के लेश मात्र से भी युक्त नही होता। इस प्रकार की वस्तु स्वय सत्ता है, वस्तु स्वलक्षण है। यह काण्ट का Realitat, Sachhet है, यह वस्तु के विशुद्ध विज्ञान के अनुरूप है।[४]

सत्ता से सम्बद्ध इस मौलिक विभेद ने निर्वाण अथवा नित्यत्व की भिन्न-भिन्न धारणाओ को उत्पन्न कर दिया। हीनयान मे यह एक धर्म, एक द्रव्य है, ठीक वैसे ही जैसे शून्य आकाश भी एक द्रव्य है। महायान मे यह एक पृथक धर्म, एक पृथक द्रव्य नही है।[५]

---

१ सर्वे धर्मा = द्वादश–आयतनानि ।

२ 'विद्यमानम् द्रव्यम्', तुकी० सेक० पृ० २६ नोट ।

३ धर्म = वस्तु = भाव = द्रव्य ।

४ क्रिरी० पृ० ११७ ।

५ तुकी० मेरा निर्वाण, पृ० ४५ और बाद ।

इस प्रकार स्थिति यह है कि तार्किक सम्प्रदाय मे सत्ता को उसी स्तर पर नहीं रक्खा गया है जिस पर विज्ञप्ति को। सत् केवल ऐन्द्रिक ग्राह्यता है। विकल्पो मे केवल एक क्रियात्मक यथार्थता होती है। अपने विषयवस्तु की इस द्विविधता के अनुसार तर्क भी द्विविध है। एक सवादित्व का तर्क है और एक सत् का। प्रथम दो विकल्पो के बीच अन्योन्याश्रयत्व का तर्क है और द्वितीय इन विकल्पो को सत् के साथ सम्वद्ध करनेवाला तर्क। प्रथम परार्थानुमान के साध्य-आधारवाक्य मे निहित तर्क है, द्वितीय पक्ष-आधार-वाक्य अथवा प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे निहित तर्क। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, निश्चय, अनुमान, परार्थानुमान, और हेत्वाभासो के हमारे विश्लेषण ने तर्क की इस द्विविध प्रकृति को अवश्य स्पष्ट कर दिया होगा। हेत्वाभासो अथवा तार्किक दोषो का जिस प्रकार सवादित्व के विरुद्ध दोषो (अथवा साध्य-आधारवाक्य के दोषो) तथा यथार्थता के विरुद्ध दोषो (अथवा पक्ष-आधारवाक्य के दोषो) मे विभेद किया गया है, उसी प्रकार सत्य भी सवादित्व के सत्य (अथवा साध्य-आधारवाक्य के सत्य) और यथार्थता के सत्य (अथवा पक्ष-आधारवाक्य और प्रत्यक्षात्मक निश्चय के सत्य)[1] मे विभक्त है।

§ २. वाह्य क्या है

वाह्य होने का अर्थ वाहर होना है। ज्ञान से वाह्य होने का अर्थ ज्ञान के वाहर, ज्ञान से अतीत होना, ऐसा विषय होना है जो ज्ञान से वाहर स्थित है। यदि सत् वाह्य है तो सत् और वाह्य परस्पर विकार्य शब्द होगे। किन्तु विषय ज्ञान से सर्वथा वाहर स्थित नही होता। हीगल ने काण्ट के स्वलक्षण पर ज्ञान से सर्वथा वाहर स्थित होने और सर्वथा अ-ज्ञेय होने का आक्षेप किया था। किन्तु सत् को दो भागो मे, विज्ञान मे और विशेष वस्तु मे विभक्त करने की अनिवार्य आवश्यकता नही है। वस्तु को विज्ञान मे परिणत किया जा सकता है।

उद्देश्य-विधेय, आन्तरिक-वाह्य आदि सापेक्षिक शब्दो के यदि विभिन्न अर्थो पर ध्यान न दिया जाय तो ये मिथ्याधारणायें उत्पन्न कर सकते हैं। हमारे विचारो, वेदनाओ, सकल्पो का स्वसवेदन द्वारा वोध होता है।

---

[1] यत प्रत्यक्षात्मक निश्चय (सविकल्पक प्रत्यक्ष) हमे विज्ञान से सम्वद्ध करता है, अत. यथार्थता की यह धारणा हमे काण्ट की इस उक्ति का स्मरण दिलाती है कि "जो अनुभव (विज्ञान) विषयात्मक स्थिति से सम्वद्ध होता है वह यथार्थ या सत् है"। (क्रिरी० पृ० १७८)।

ये स्वसवेदन के विषय हैं किन्तु ये बाह्य नही हैं। विचार स्वय स्व-सवेद
त्मक, अथवा स्वचेतन होते हैं। इस दशा मे उद्देश्य और विधेय मे
तदात्म्य होता है जिसको हीगल ने सामान्य रूप से उद्देश्य-विधेय सम
तक विस्तृत कर दिया है। इससे सर्वथा भिन्न उद्देश्य-विधेय सम्बन्ध व
वास्तविक ससार और आन्तरिक मानसिक क्षेत्र के बीच होता है। व
सत् अर्थक्रियाकारी होता है, आन्तरिक बुद्धयारूढ। वह अग्नि जि
हम अपने मन मे कल्पना करते हैं विज्ञानात्मक होती हैं। किन्तु विज्ञानात
का अर्थ सर्वथा अ-सत् नही है। वास्तविक और विज्ञानात्मक दो
विजातीय यथार्थतायें हैं जो हेतुक रूप से सम्बद्ध हैं—बाह्य वि
आन्तरिक आकार का हेतु होता है। ये हेतुत्व द्वारा सम्बद्ध हैं, सन्दर्भ
तादात्म्य द्वारा नही। इनमे केवल उस विज्ञानवादी के दृष्टिकोण से तादा
है जो विज्ञानत्व को वास्तविकता के साथ मिश्रित कर देता है। बाह्य
विशेष है, यह क्रियाशील, क्षणिक और विधायक है। आन्तरिक आ
सामान्य, अविकार्य और प्रतिषेधात्मक है।

विज्ञान के अनुरूप एक बाह्य विषय की मान्यता की आवश्य
मनोवैज्ञानिक है, तार्किक या निरपेक्ष नही।

§ ३. तीन संसार

उस तार्किक पथ से जो वस्तु जगत मे अथवा विचार जगत मे ले ज
है, स्वतन्त्र एक रहस्यवाद का भी मार्ग है जो समग्र के रूप मे विश्व
अधितार्किक अन्त प्रज्ञा की ओर ले जाता है। इस प्रकार, सत्ता के
भिन्न स्तरो के तीन भिन्न ससार हैं जिनमे से प्रत्येक की स्वय अपनी स
है। एक परमार्थ तत्त्वमीमासात्मक स्तर है जहाँ विश्व एक और अद्वितीय
कर्मतारहित एकत्व को व्यक्त करता है। एक तार्किक स्तर है जो विज्ञान
विकल्पो मे ज्ञेय द्रव्य और विचारो की द्विविध सत्ता को व्यक्त करता
और एक तीसरा मध्यवर्ती स्तर है जहाँ कोई द्रव्य नही होता, केवल वि
ही होते हैं। द्रव्य स्वय एक विचार है। पर्मेनाइडिस के ससार के अति
एक एरिस्टॉटिल का भी ससार और इन दोनो के बीच विचारो का
प्लेटोनिक ससार भी है। एक दूसरे को वर्जित करने से दूर, इन ससारो
अपनी ही और अपने स्तर की सत्ता है। ये परस्पर एक दूसरे के पूरक
और यह हमारे ऊपर निर्भर करता है कि इनमे से किसी से किसी
पहुँचने के लिये हम कहाँ से आरम्भ करते हैं। यदि हम तर्क से तथा इसके नि
के नियम, विरोध के नियम से आरम्भ करते हैं तो हम एक अनेकात

संसार मे पहुँचेंगे चाहे यह सरल यथार्थवादी का संसार हो या तार्किक का। यदि हम अविनार्किक से आरम्भ करें और विरोध के नियम की उपेक्षा करें तो हम सीधे एकतत्त्ववाद मे कूद पड़ेंगे। यदि हम उस स्वसवेदन से, जो वस्तु और विचारो के एक द्विविध ससार का बोध करता है, आरम्भ करें और वस्तुओं की तार्किक दृष्टि से निरर्थक द्वैधता का त्याग करके केवल विचारो की विपयात्मकता को ही स्वीकार करें तो हम पूर्व-विज्ञानवाद मे होगे। दिङ्नाग ने अपने प्रज्ञापारमिता-पिण्डार्थ की एकतत्त्ववादी के दृष्टिकोण से, अपनी आलम्बन-परीक्षा की विज्ञानवाद के समर्थन के उद्देश्य से रचना की है, तथा अपने तर्क के शक्तिशाली प्रासाद को, जो इनका प्रमुख विपय है, समीक्षात्मक यथार्थवाद के आधार पर खड़ा किया है। इन्होने सरल यथार्थवाद को, उस यथार्थवाद को निरस्त किया है जो स्वसवेदन और आकारो, दोनो का परित्याग करके मात्र वाह्य वस्तुओ के साक्षात् प्रत्यक्ष मे ही आस्था रखता है (जैसा कि मीमासको और वैशेपिको ने किया है)।

§ ४. समीक्षात्मक यथार्थवाद

इस बात को दोहराना कदाचित ही आवश्यक है कि वाह्य संसार की सत्ता के सम्बन्ध मे बौद्ध तार्किको का क्या सिद्धान्त था। हम लोगो की यह सम्पूर्ण कृति ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसी अद्वितीय केन्द्रीय समस्या मे सम्बद्ध है। प्रथम खण्ड मे हमने अपने विज्ञान मे वाह्य जगत के साक्षात् प्रतिभास का अध्ययन किया है। दूसरे और तीसरे भाग मे हमने अपनी प्रज्ञा मे इसके परोक्ष प्रतिभास का परीक्षण किया है। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान मे पक्ष-आधारवाक्य का प्रयोजन बौद्धिक विकल्पो को सत् के सदैव सम्पर्क मे रखना ही है। हमारे विकल्पो की अपोहात्मक प्रकृति यदि वाह्य वस्तु की मूर्त सत्ता से भी सम्बद्ध न होती तो वह शून्य मे परिणत हो जाती। वाह्यसत् है, वह सत्ता है। वाह्य और सत् विकार्य शब्द हैं। विज्ञप्ति कल्पना है। किन्तु वाह्य सत्ता का साक्षात् बोध होता है अथवा अधिक उपयुक्तत वाह्य सत्ता का बोध नही होता वल्कि वह विज्ञान मात्र में ही प्रतिभासित होती है। विज्ञान विशेप वैयक्तिक वस्तु को ग्रहण करता है। प्रज्ञा वस्तु का केवल "सामान्य रूप से बोध करती है, यह विशेप का बोध नही कर सकती। विना सामान्यता के निश्चित ज्ञान नही हो सकता और सामान्यता विकल्प है। इस प्रकार सत्ता और विज्ञप्ति एक दूसरे के विरोधी हैं, सत् विज्ञप्ति नही है और विज्ञप्ति सत् नहीं है।

साथ ही साथ, बाह्य सत्ता अर्थ-क्रियाकारी होती है; यह हेतु होती है। विकल्प एक आकार है जो हेतुक दृष्टि से अथक्रियाकारी नही होता। कोई आकार केवल लाक्षणिक दृष्टि से ही प्रापक हो सकता है जो किसी अर्थक्रिया के लिये सन्नद्ध करने की एक मध्यवर्ती कडी है।

सत्ता गत्यात्मक भी है। बाह्य वस्तु पदार्थ नही बल्कि शक्ति है। सत्ता उन केन्द्रो से युक्त होती है जिनसे क्रिया उत्पन्न होती और उनका सकेत करती है जिन पर अर्थक्रिया अभिसरित होती है। "सत्ता क्रिया है", सत्ता क्षणिक है, यह ऐसे क्षणो से युक्त होती है जो शक्ति के केन्द्र, Kraftpuncte[1] होते हैं।

इस नानात्मक सत्ता और इस विज्ञानत्व मे क्या सम्बन्ध है? यह हेतुक और परोक्ष होती है।[2] मानव बुद्धि सत्ता का परोक्ष रूप से, प्रतिध्वनि के रूप मे,[3] किसी "द्वार के रन्ध्र से प्रकाशित मणि" के रूप मे बोध करती है। सत्ता अपोहात्मक विकल्पो की अधिरचना द्वारा बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होती है। न केवल ग्राह्य गुण ही बाह्य उद्दीपन के प्रति प्रतिक्रिया के आत्मनिष्ठ प्रकार होते हैं, बल्कि तथाकथित प्राथमिक गुण, स्थौल्य, अवधि, काल, दिक्, सत्ता, अभाव, यथाथता, सामान्यता और हेतुत्व इत्यादि की धारणाये भी प्रज्ञा की आत्मनिष्ठ कल्पनाओ के अतिरिक्त और कुछ नही।

यहाँ कोई भी स्वभावत यह पूछ सकता है कि वह सत्ता किस प्रकार की है, उसका मूल्य क्या है, यदि दिक्, काल तथा समस्त बाह्य घटनायें प्रज्ञा की कल्पनायें मात्र हैं? इतना ही नही बल्कि जब यथार्थता, हेतुत्व, ग्राह्यता आदि की आधरभूत धारणायें तक एक अज्ञात परमार्थ सत् की आत्मनिष्ठ व्याख्यायें मात्र हैं।

उत्तर अत्यन्त सरल है। सत् विज्ञान है, विज्ञान मात्र के अतिरिक्त और कुछ नही। शेष सब कुछ प्रज्ञा का विकल्प है। कोई इस बात को अस्वीकार नही करेगा कि जो विज्ञान के रूप मे "प्रदत्त" है वह सत् है, कल्पना नही!

बाह्य और आन्तरिक के बीच सम्बन्ध की समस्या इस प्रकार अपना आधार बदल कर विज्ञान और आकार, ग्राह्यता और प्रज्ञा, प्रत्यक्ष और विकल्प, विशेष और सामान्य के बीच की समस्या बन गई है। सत्त्व-

---

[1] या भूति सैव क्रिया।

[2] तुकी ऊपर पृ० ५६८।

[3] तुकी० पार्थसारथिमिश्र और श्लोकवा० पृ० ५५९।

मीमांसात्मक दृष्टि मे विशेष और सामान्य के सम्बन्ध की समस्या तार्किक अथवा ज्ञानमीमांसात्मक दृष्टि मे इन्द्रियो और प्रज्ञा के सम्बन्ध की समस्या है। अब इन दो सर्वथा विजातीय क्षेत्रो को "किसी न किसी प्रकार" सम्बद्ध होना चाहिये; इनके बीच के अन्तर को मिलना चाहिये, और इनको केवल निम्नलिखित रूप से ही मिलाया जा सकता है। सम्बन्ध सर्वप्रथम हेतुक है। आकार विज्ञान द्वारा उत्पन्न होना है, अर्थात दूसरे शब्दो मे, इसकी किसी विज्ञान पर क्रियात्मक आश्रयत्व के रूप मे उत्पत्ति होती है। किन्तु इतना ही पर्याप्त नही है। किसी आकार की उत्पत्ति मे अन्य हेतु भी सहयोग देते है। विज्ञान मात्र का आकार के साथ 'सारूप्य' के आधार पर विभेद है।[1]

किसी अबोधगम्य सम्बन्ध को उस 'सारूप्य' शब्द से प्रगट करना कोई समाधान नही है जिसकी कि साथ ही साथ "सर्वथा असमानो के बीच समानता के रूप मे परिभाषा की गई है। हमे इस रहस्यात्मक "सारूप्य" के उल्लेख के अनेक अवसर मिल चुके हैं तथा द्वितीय भाग मे मैंने ऐसे मूल संस्कृत उद्धरणो का अनुवाद किया है जो इसका विभिन्न पक्षो मे निर्धारण करते हैं। किन्तु केवल अब, जब हम बौद्धो की अपोहात्मक विधि का विश्लेषण कर चुके हैं, तभी इस सिद्धान्त के व्यापकार्थ का श्रेष्ठतर बोध सम्भव है। जैसा कि सभी विकल्पो मे होता है, समानता यहाँ, प्रतिषेधात्मक है, यह प्रतिषेधात्मक पक्ष की ओर से समानता है। सर्वथा विशेष और विशुद्ध सामान्य के बीच समानता का लेश भी नही है, किन्तु ये समान प्रतिषेध्यता द्वारा एकीकृत हैं। एक ही विरुद्ध के प्रतिषेध के कारण ये समान बन जाते हैं। इसी को "सारूप्य" कहते हैं। यह प्रतिषेधात्मक समानता है।

इस प्रकार, अर्थक्रियाकारी क्षण जो जल गिराने के तथ्य के रूप मे प्रगट होता है एक सर्वथा विशेष विज्ञान मात्र है, किन्तु अन्य वस्तुओ से इसका विभेद करने पर यह प्रतिषेधात्मक रूप से घट की सामान्य प्रकृति प्राप्त करता है। इसी प्रकार, अग्नि विशुद्ध रूप से उष्णता का वैयक्तिक विज्ञान है इससे अधिक और कुछ नहीं। किन्तु अन्य वस्तुओ के साथ इसके विरुद्धत्व के द्वारा, विरुद्ध के प्रतिषेध द्वारा हम एक ऐसी अग्नि के विचार का विकल्प करते है जो संसार की समस्त भूत, वर्तमान, और भावी अग्नियो को, केवल प्रतिषेधात्मक रूप से ही आवृत्त् करती है। वही 'अ-क' जिसे लास्स ने तर्कशास्त्र से बहिष्कृत कर देना चाहा था, इसका वास्तविक स्वभाव 'संसार

[1] तदुत्पत्ति-तत्सारूप्याभ्याम् विषयता।

का स्वभाव' है। वाह्य जो विशेश है, और आन्तरिक जो सामान्य है, के बीच ऐसा ही सम्बन्ध है। यह भी वैसा ही सम्बन्ध है जैसा ग्राह्य और बोधगम्य के बीच होता है।

§ ५. परम एकतत्ववाद

ज्ञान के तार्किक विश्लेषण का परिणाम ऐसा ही रहा है। अपने परमार्थ धर्मों मे परिणत हो जाने पर यह एक वाह्य वस्तुस्वलक्षण, एक तदनुरूप विज्ञान मात्र, और इसका अनुगमन करने वाले एक आकार से युक्त होता है। ज्ञान के दो पक्ष होते हैं—एक उद्देश्य और एक विधेय। अपने सरलतम धर्मों तक मे परिणत होने पर भी इसमे दो पक्ष अवश्य ही रहते हैं। तर्क इससे और आगे नही बढ़ सकता। एक अविभेदित एकतत्त्वात्मक समग्र मे उद्देश्य और विधेय दोनो के और अधिक उच्चतर एकीकरण की यह कल्पना नही कर सकता। यह पग तर्कातीत है, इसका अर्थ तत्त्वमीमासा के क्षेत्र मे कूद पडना, विरोध के नियम की अस्वीकृति, और तर्क के लिये एक चुनौती है। फिर भी, बौद्ध नैयायिको के लिये सत्य की दो भिन्न स्तरो—एक तार्किक तथा दूसरे तर्कातीत, पर सत्ता होती है। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति अपने को विज्ञानवादी कहते हैं, किन्तु ये तर्क मे यथार्थवादी और तत्त्वमीमासा मे विज्ञानवादी अथवा यहाँ तक कि एकतत्त्ववादी हैं। तर्क मे यथार्थता तथा विज्ञप्ति का परित्याग कर दिया गया है, किन्तु दिङ्नाग कहते है कि 'परम ज्ञान एकतत्त्ववाद" है। परम निरपेक्ष मे उद्देश्य तथा विधेय एकीभूत हो जाते हैं। दिङ्नाग कहते हैं कि "हम इस आध्यात्मिक अद्वयता, अर्थात् विश्व के एकतत्त्ववादी द्रव्य को बुद्ध के साथ, अर्थात् बुद्धकाय[1] के साथ समीकृत करते हैं।" दर्शन यहाँ धर्म मे प्रवेश कर जाता है।

जिनेन्द्रबुद्धि[2] यह कहते हैं "ऐसे दार्शनिक के दृष्टिकोण से जो वाह्य ससार की सत्ता को अस्वीकार करता है, उस ज्ञान मे ग्राहक और ग्राह्य पक्षो मे विभेद कैसे हो सकता है जो स्वय अपने किसी प्रमाण और ज्ञान के परिणाम के विभेद से युक्त नही होता ?" (इसका उत्तर इस प्रकार है)· "तथता (अर्थात् परमार्थ-सत्) की दृष्टि से कोई भी भेद नही है।" किन्तु एक अनुभवातीत भ्रान्ति से अवरुद्ध होने के कारण हमे सत् के केवल एक अपवर्तन मात्र का प्रत्यक्ष होता है। हम केवल उद्देश्य तथा विधेय के बीच

---

[1] तुकी० विव० वुद्धि० मे मेरा अभिसमयालङ्कार का सस्करण।

[2] तुकी० भाग २, पृ० ३९६।

के एक कल्पित अन्तर के द्वारा विभेदित होने के रूप मे उसके परोक्ष प्राकट्य मात्र को ही जान पाते हैं। इसलिये ज्ञान तथा उसके विधेय के बीच केवल आनुभविक दृष्टि से ही विभेद किया जाता है परमार्थ-सत् की दृष्टि से नहीं।" किन्तु एक वस्तु जो स्वय अविभेदित है, किस प्रकार विभेदित प्रगट होती है? भ्रान्ति के द्वारा। यह भ्रान्ति, नि सन्देह एक अनुभवातीत भ्रान्ति, मानव बुद्धि की स्वाभाविक भ्रान्ति, उसका अन्तर-उपप्लव होती है।[1]

हमने अपने सेक० मे एकतत्त्ववादियो के तर्कों की पूरी तरह व्याख्या की है। अबौद्धों की ओर से महायानियो के विरुद्ध किया गया सर्वाधिक प्रचलित आपेक्ष यह है कि ये बाह्य ससार को स्वप्नवत्[2] मानते है। किन्तु विभिन्न सम्प्रदायो मे 'दिवास्वप्न' के बोधक इस शब्द का अर्थ अत्यन्त भिन्न है। धर्मकीर्ति के अनुसार, किसी दिवास्वप्न के सूत्र का अर्थ इतना ही है कि आकार आकार हैं, ये जागृतावस्था तथा सुप्तवस्था दोनो मे अनिवार्यत एक जैसे ही होते हैं। ये स्वप्न तक मे सत् से सर्वथा असम्बद्ध नही होते। ठीक इसी प्रकार जागृतावस्था मे भी, परोक्ष प्रतिभासो के रूप मे आकार एक सीमा तक स्वप्न होते हैं।

§ ६. विज्ञानवाद

आइये हम विज्ञानवाद के पक्ष मे दिये गये प्रमुख तर्कों की समीक्षा करें। एक ओर निरश पूर्ण को माननेवाले एकतत्त्ववादी[3] को यह चुनौती दी गई है कि सत् पूर्ण नही बल्कि विज्ञान[4] है। यह अनन्त,[5] प्रतिक्षण परिवर्तनशील,[6] और समस्त प्राणियो मे अपने को ओजस्वी रूप से प्रगट करता है।[7] केवल इसी की सत्ता है क्योंकि अमानसिक वस्तु, यदि इसे स्वयं अपने मे ही एक वस्तु मान लिया जाय, तो असम्भव हैं। यह दो कारणो से

---

[1] अन्तर-उपप्लव = मुख्याभ्रान्ति।

[2] तुकी० न्यासू० ४ २,३१।

[3] तसप० पृ० ५५०.१० 'यथोपनिषत्-वादिनाम्'।

[4] 'विज्ञानम्', वही, पृ० ५४० ८।

[5] 'अनन्तम्', वही।

[6] 'प्रतिक्षण-विशरारु,' वही।

[7] 'ओजायते सर्व-प्राणभृताम्' 'वही।

असम्भव है, यथा १) यह विरोध मे लिप्त है[1], और २) किसी बाह्य वस्तु का ग्रहण अग्राह्य है।[2] यह इसलिये अग्राह्य है कि ज्ञान को अपने स्थान को छोडकर बाह्य वस्तुभूत द्रव्य तक जाना चाहिये और उसके आकार को ग्रहण कर उसके साथ अपने स्थान पर लौट आना चाहिये—जैसा कि यथार्थ-वादी मानते हैं।

यह कि किसी वाह्य वस्तु की परिकल्पना विरोध मे लिप्त है, उस समय स्पष्ट हो जाती है जब हम इस विप्रतिषेध पर विचार करते हैं। वाह्य वस्तु को अनिवार्यत. या तो स्वभावी अथवा अवयवी होना चाहिये[3], कोई तृतीय सम्भावना[4] नही है। यदि यह सिद्ध हो जाता है कि यह न तो स्वभावी है और न अवयवी है, तो यह स्वत सिद्ध हो जायगा कि यह कुछ नही है, यह केवल 'व्योमोत्पल' है,[5] क्योकि आकाश मे उत्पन्न पुष्प न तो स्वभावी होता है और न अवयवी। अवयवी का स्वभावी अशो से युक्त होना इस आधार पर सिद्ध है। मान लीजिये हम किसी अवयवी मे से एक-एक करके सब भागो को तब तक निकालते रहे जब तक कि केवल अ-अवयवी ही नही बच जाता। यह अ-अवयवी अवशेष विभागहीन और निरश होगा। फिर भी, यह अमूर्त भी होगा, एक क्षणिक मानसिक धर्म की भाँति, या एक क्षणिक भावना की भाँति यह एक क्षण भी होगा, और इसलिये यह एक विज्ञान मात्र होगा[6]।

एक अन्य तर्क इस विचार पर आधारित है। मान लीजिये एक भाग मात्र, एक अमूर्त परमाणु अन्य ऐसे ही परमाणुओ से घिरा हुआ है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह अपने पास के, सामने और पीछे के परमाणुओ

[1] 'अर्थ-अयोगात्,' तुकी० वही० और पृ० ५५९ ८।

[2] 'ग्राह्य-ग्राहक-लक्षण-वैधुर्यात्,' वही।

[3] 'एकानेक-स्वभावत्रम्,' वही, पृ० ५५० २६, इसका अर्थ 'परमाणु' और 'अवयविन्' है, तुकी० वही, पृ० ५५१ ६।

[4] 'तृतीय-राश्य-अभावेन,' वही, पृ० ५५० १८।

[5] वही, पृ० ५५० १७।

[6] तुकी० क्रिरी० पृ० ३५२. और तसप० पृ० ५५२ २ और बाद. 'अपचीयमान-अवयवविभागेन यदि निरशा (स्यु), तदा न मूर्ता वेदनादिवत् सिद्धयन्ति', और काण्ट, उस्था०।

की ओर एक ही मुख से अभिमुख होना है या नहीं ।[1] यदि यह उनकी ओर एक ही मुख से अभिमुख है तो परमाणु एकीभूत हो जायेंगे और कोई प्रचय नहीं होगा ।[2] यदि यह दो भिन्न मुखों से उनकी ओर अभिमुख है तब इनके कम से कम दो मुख और तब दो भाग भी होंगे । तब यह एक प्रचय होगा ।[3]

कुछ परमाणुवादी (अथवा चिदणुवादी) यह समर्थन प्रस्तुत करते हैं मान लें कि परमाणु किसी प्रदेश में स्थित सूक्ष्मतम द्रव्य नहीं है, किन्तु मान लीजिये कि ये स्वयं प्रदेश ही हैं ।[4] प्रदेश या स्थान भागों में नहीं बल्कि प्रदेशों से युक्त होता है । अतः इसका सूक्ष्मतम भाग भी प्रदेश और इसलिये अविभाज्य होगा । यह गणितीय प्रदेश और अनन्त-विभाज्य होगा, किन्तु फिर भी यह विचार नहीं होगा, यह प्रदेश ही रहेगा ।[5] इनका उत्तर इस

---

[1] 'यन एकरूपेण एकाण्व्-अभिमुखो 'तेनैव अपर-परमाण्व्-अभिमुखो यदि स्यात्,' वही, पृ० ५५६.११.३१ । वसुबन्धु और दिङ्नाग ने भी इसी तर्क को दोहराया है ।

[2] 'प्रचयो न स्यात्,' वही पृ० ५५६ ३२ ।

[3] 'दिग्-भाग-भेदो यस्य अस्ति, तस्य एकत्वम् न युज्यते,' वही, पृ० ५५७ १९ ।

[4] प्रदेश । प्रो० एच० याकोबी (एन्इ० भाग २, पृ० १९९) यह मानते हैं कि जैनों के लिये 'प्रदेश' का अर्थ बिन्दु है । किन्तु तसप० पृ० ५५७ २१, स्पष्टरूप से कहता है कि 'प्रदेश' विभाज्य हैं (तत्राप्य अवयव-कल्पनायाम्) । निरंश, अमूर्त परमाणुओं का प्रदेशस्थ कणों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है, पृ० ५५२ और बाद । साथ ही यह कहा गया है कि "यद्यपि (प्रदेश को मानने में) तुम दिग्-भाग-भेद नहीं मानते, तुम्हारे शब्द इसे अस्वीकार करते हैं, तथापि यह तुम्हारी सयुक्तत्व की कल्पना में अभिप्रेत है (सम्युक्तत्वादि-कल्पना-बलात् आपतति) ।" यह एक गणितीय, अनन्त विभाज्य प्रदेश है जो भौतिक परमाणु को धारण करता है । तब गणितीय प्रदेश से हमें अनन्त विभाज्यता और भौतिक परमाणु से सयुक्तत्व की सम्भावना उपलब्ध होगी । काण्ट चिदणुवादियों पर भी इसी प्रकार की निरर्थकता का आक्षेप करते हैं । तुकी० क्रिरी० पृ० ३५७ ।

[5] 'यदि परम् अनवस्थैव (स्यात्), न तु प्रज्ञप्ति-मात्रत्वम्,' वही पृ० ५५७ २२ ।

प्रकार है यद्यपि तुम्हें विश्वास है कि तुम्हारे शब्द मूर्त परमाणु को अस्वीकार करते हैं,[1] तथापि वास्तव मे उनसे इसकी सत्ता अभिप्रेत है। वास्तव मे तुम यदि अवयवी की व्याख्या करने के लिये ही स्वभाव मानते हो तो तुम्हारा आशय[2] यह है कि ये परमाणु ऐसे द्रव्य हैं जो प्रदेशस्थ हैं। हमे उस गणितीय विन्दु के, जो स्वभावी तो है किन्तु कोई कण नही, अतिरिक्त अन्य ऐसे भौतिक विन्दुओ को भी मानना होगा जो इसी प्रकार स्वभावी तो हैं किन्तु प्रदेश के अशी होने के रूप मे ये सघातमात्र के द्वारा प्रदेश को पूर्ण कर सकते हैं। यह असम्भव है। इस प्रकार स्थिति यह है कि वह परमाणु, जिसे स्वभावी होना चाहिये किन्तु जो साथ ही साथ स्वभावी नही हो सकता, कुछ भी नही है। वह केवल 'आकाश मे पुष्प' मात्र है।[3] सघात की स्थिति भी इससे अच्छी नही, क्योकि इसे परमाणुओं से युक्त माना गया है।

आपत्तिकर्ता तब यह पूछता हैं कि यदि परमाणु एक विज्ञान है, और यदि यह विज्ञान सर्वथा शून्य नही है, तो इसका कोई उपादान अवश्य होना चाहिये। वही उपादान, वह चाहे जो कुछ भी हो, वास्तविक परमाणु होगा।[4] बौद्ध यह उत्तर देता है हाँ, वास्तव मे वैशेषिक-त्रसरेणु,[5] किसी सूर्यरश्मि मे गतिशील देखा जानेवाला रेणु ही ऐसा उपादान है, किन्तु तब आत्मा भी एक सत्ता होगी। यदि किसी परमाणु का आकार ही परमाणु है तब कल्पित आत्मा वास्तविक आत्मा होगी। वास्तविक आत्मा अपने वास्तविक धर्मों से युक्त नही होगी।[6] वास्तव मे स्वभाव का किसी भी प्रत्यक्ष द्वारा अनुमान नही किया जा सकता।[7]

त्रसरेणु की अन्त प्रज्ञा से परमाणु के निगमन का विचार "एक ऐसी परम्परा का परिपक्व फल है जो (सरल यथार्थवाद के) निरर्थक दृष्टिकोण के अध्ययन तथा प्रतिपादन पर आधारित है।"[8] विज्ञानवादियो का प्रथम तथा मुख्य तर्क ऐसा ही है।

---

[1] 'दिग-भाग-भेद (विभिन्न मुख) वाचा नाभ्युपगतम्', वही ५५८.१८।

[2] 'सयुक्तादि-धर्म-अभ्युपगम-बलाद् एव आपतति', वही।

[3] 'एकानेन-स्वभावेन शून्यत्वाद् वियद-अब्जवत्', वही पृ० ५५८ १०

[4] 'यत् तद् उपादानम् स एव परमाणुर् इति', वही पृ० ५५८ २१।

[5] वही पृ० ५५८ २२।

[6] 'आत्मा-प्रज्ञाप्तेर् आत्मैव कारणम् स्यात् न स्कन्धा', वही पृ० ५५८ २३।

[7] तुकी० प्रतिपक्ष के प्रमाण के रूप मे काण्ट के शब्द। तुकी० 'न तावद् परमाणुनाम् आकार प्रतिवेद्यते', वही पृ० ५५१ ७।

[8] वही, पृ० ५५८ २१।

इन लोगो का दूसरा तर्क इस बात पर जोर देने मे निहित है कि उद्देश्य-विधेय द्वैधत्व प्रज्ञा का विकल्प है ।[1] इस प्रकार के सभी विकल्पो की ही भाँति यह अपोहात्मक है । विरोधी भाग एक मात्र ऐसी उच्चतर सत्ता मे एकात्मक हो जाते हैं जो दोनो का समान अधिष्ठान है । यह सत्ता क्या है जिसमे ये विरोधी एक साथ प्रवाहित होते हैं ? यह एक विज्ञान मात्र का क्षण है । किसी ज्ञान मे परम असन्दिग्ध तथ्य किसी ऐसे व्यक्ति मे वह विज्ञान मात्र है जिसकी इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं ।[2] शेष सब कुछ न्यूनाधिक मात्रा में कल्पना ही है । यह विज्ञान मात्र क्षणिक, स्वयं अपने मे सर्वथा अद्वितीय, तथा स्वय अपने मे सर्वथा अविज्ञातार्थ है । इसका प्रज्ञा द्वारा मूर्तीकरण, समन्वय और विश्लेषण हो सकता है । तात्पर्य यह कि ये सब कार्य पुन कल्पना हैं । प्रज्ञा इस बात का उद्घाटन करती है कि किसी विज्ञान विशेष की, जो स्वय सत्ता है और जिस पर सन्देह नही किया जा सकता, त्रिपुटी मे[3] निहित होने के रूप मे व्याख्या करनी चाहिये । प्रथम आत्मा है, द्वितीय विषय, जैसे घट, है, और तृतीय आत्मा को घट के साथ एकीकृत करने की प्रक्रिया । इस प्रकार प्रज्ञा किसी सत् और मात्र विज्ञान को एक उद्देश्य, एक विषय तथा एक क्रिया की त्रिविध रचना से स्थानान्तरित कर देती है । विषय, और क्रिया से पृथक आत्मा मे अन्य किसी भी सत्ता मात्र का कोई लेश नही होता । यह सर्वथा कल्पना है । और न तो विषय, घट, मे ही कोई विशुद्ध सत् होता है । यह तो बुद्धि द्वारा एक विज्ञान मात्र की व्याख्या है । क्रिया मे तो सत् और भी कम है । उद्देश्य और विधेय से पृथक् ज्ञान की, यदि वह क्षणिक विज्ञान नहीं है तो, कोई सत्ता नहीं है । ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रयी के अनुरूप केवल सत्ता की एक इकाई है जो विज्ञान है—एक एकत्व, एक सत्ता । किन्तु प्रज्ञा इसे त्रिपुटी में प्रच्छन्न केन्द्र बना लेती है । कल्पित घटत्व का विज्ञान मात्र के साथ एक सारूप्य है । यह सारूप्य किसी विज्ञान की तद्रूपता[4] है, अर्थात् यह कि विज्ञान एक रूप प्राप्त कर लेता है । ये तार्किक दृष्टि से एकात्मक हो जाते हैं । विज्ञान तथा विकल्प मनोवैज्ञानिक[5] दृष्टि से एकात्मक नही होते । ये दो भिन्न क्षण

---

[1] वही, पृ० ५५९ ८ और बाद ।

[2] 'स्वस्थ-नेत्रादि-ज्ञानम्', वही, पृ० ५५०.१४ ।

[3] 'वेद्य-वेदक-वित्ति-भेदेन', वही पृ० ५६०.१ ।

[4] 'ताद्रूप्याद् इति सारूप्याद्', वही, पृ० ५६०.१८ ।

[5] तुकी० इस समस्या पर धर्मोत्तर के विचार कि विकल्प और वस्तु कल्पित रूप से एकात्मक होते हैं, किन्तु विकल्प वस्तु का कार्य होता है (वाह्यार्थ-कार्यम्); न्याबिटी० पृ० ५९ और ६० ४ और बाद ।

होते हैं जिनमे से एक दूसरे का हेतु होना है। किन्तु तार्किक दृष्टि से इनमे बौद्धो के तादात्म्य के नियम के आशय मे तादात्म्य है। ये दोनो ही हमे सत्ता के एक ही विन्दु से सम्बद्ध करते हैं। इनमे विषयात्मक सन्दर्भ के तादात्म्य द्वारा तादात्म्य होता है। विकल्प यद्यपि एक भिन्न क्षण मे उत्पन्न होता है, तथापि यह भी बिल्कुल उसी वस्तु से सम्बद्ध होता है जिसने विज्ञान उत्पन्न किया था। धर्मकीर्ति[१] पूछते हैं कि "यह कैसे हो सकता है कि स्रोत और फल, प्रक्रिया और विषय एक ही हो ?" इसका आप यह उत्तर देते हैं "सारूप्य के द्वारा"[२] अर्थात विज्ञान की तद्रूपता के द्वारा, विज्ञान को एक कल्पित सामान्य आकार प्रदान करने के द्वारा।[३] और यह कैसे हुआ कि इनमे तादात्म्य है ? क्योकि विज्ञान वस्तु के स्वलक्षण को व्यक्त करता है और सारूप्य वही वस्तु है जो अन्य मे होती है। अब हम यह जानते हैं कि अपोहात्मक[४] रूप से "अन्य मे" का अर्थ "अन्य-व्यावृत्त्या" है। विज्ञान और विकल्थ का तादात्म्य प्रतिषेधात्मक है। वही विज्ञान जो स्वय अपने मे विशुद्ध होता है, अ-घटो के साथ अपने विरोध के कारण घट का आकार हो जाता है। और अधिक विभेदीकरण के द्वारा घट के विज्ञान मात्र पर किसी भी सख्या मे अपोहात्मक विकल्पो की अधिरचना की जा सकती है। यह विज्ञान मात्र, वास्तव मे अपने प्रच्छन्न विषय मे "सम्पन्नतम वस्तु" और निश्चित विचार मे "विपन्नतम वस्तु" है।

यथार्थवादी तब पूछता है कि क्या सत्य के परीक्षण के लिये ज्ञान की प्रापकता की कल्पना नही की गई है ? क्या अर्थक्रिया द्वारा अधिगत वस्तु को परमार्थ सत् नही घोषित किया गया है ? किन्तु क्या अर्थक्रिया द्वारा अधिगत विषय बाह्य है ? विज्ञानवादी उत्तर देता है कि, हाँ, अर्थक्रिया ही सत् का प्रमाण है।[५] किन्तु बाह्य वस्तु की आवश्यकता नही है। अर्थक्रिया केवल एक ज्ञान है[६], एक ऐसी वस्तु का अवभास जो अर्थक्रिया के रूप में प्रगट होती

---

१ न्याविटी० पृ० १४ १५।

२ अर्थ-सारूप्यम् अस्य प्रमाणम्, वही।

३ आकार = आभास = सारूप्य = अन्य-व्यावृत्ति = अपोह।

४ तुकी० न्याविटी० पृ० १६ ३ = "असारूप्य-व्यावृत्या (अपोहेन) सारूप्यम् ज्ञानस्य व्यवस्थापन-हेतु।"

५ 'अर्थ-क्रिया-सवादस्', वही ५५३ २१।

६ 'ज्ञानम् एव अर्थक्रिया-सवादस्,' वही, पृ० ५५३ २२।

है।[1] ऐसी द्विविध अर्थक्रिया की कोई आवश्यकता नही है जिनमे से एक के हमारी बुद्धि मे होने और दूसरी के बुद्धि के वाहर होने की कल्पना की जाय। एक ही अर्थक्रिया पर्याप्त है। यह सत्य है कि एक "गोपाल तक" सम्पूर्ण मानव मात्र विना वहुत विचार किये ही इस विचार मे रमण करते हैं कि वाह्य ससार वास्तविक रूप से मूर्त वस्तुयें होता है।[2] किन्तु दार्शनिक जानता है कि प्रत्यक्षीकृत विषय के इस दूसरे प्रतिरूप की कल्पना करने की कोई तार्किक आवश्यकता नही है। जिस प्रकार तुम उस हेतु के रूप मे वाह्य सत्ता को मानते हो जिसके साथ हमारे विकल्पो का सारूप्य होता है, उसी प्रकार हम एक ऐसे विषय और हेतु को मानते हैं जो अन्तर्वर्ती है। ज्ञान एक प्रवाहमान सत्ता है जिसका प्रत्येक क्षण उसके पूर्वगत क्षण द्वारा अनुवन्धित होता है। एक वाह्य हेतु की परिकल्पना सर्वथा निरर्थक है। हमारा समनन्तर-प्रत्यय[3] सर्वथा वही कार्य करता है जिसके लिये तुम एक वाह्य हेतु की सत्ता की परिकल्पना करते हो।

§ ७. वाह्य संसार की अयथार्थता पर दिङ्नाग का प्रबन्ध

यह कृति ८ सूक्तो की एक लघुरचना है जो स्वय ग्रन्थकार की है "आलम्वन-परीक्षा"[4] नामक टीका के साथ उपलव्ध है। इस प्रवन्ध के तर्क, सक्षेप मे, इस प्रकार हैं। यह इस घोषणा से आरम्भ होता है कि वाह्य वस्तु (आलम्वन) को या तो परमाणु अथवा परमाणुओ का सघात होना चाहिये। यदि यह सिद्ध किया जा सके कि यह न तो परमाणु है और न परमाणुओ का सघात तो यह किसी तदनुरूप वाह्य सत्ता के विना एक विचार मात्र के अतिरिक्त और कुछ नही होगा।

---

[1] 'अर्थक्रिया-अवभासि ज्ञानम्', वही।

[2] 'यद् एतद् देश-वितानेन प्रतिभासमानम् अविचार-रमणीयम् आगोपाल-सिद्धम् रूपम्', वही।

[3] समनन्तर-प्रत्यय=आलयविज्ञान = वासना, तुकी० तसप० पृ० ५८२ १९।

[4] आलम्वनपरीक्षा के तिव्वती और चीनी अनुवाद तथा एक फ्रेंच अनुवाद भी सुसुमु यामागुची और हेनरीटे मेयर (पेरिस १९२९) द्वारा प्रकाशित हुये हैं। आलम्वन' (वाह्यवस्तु) और 'विषय (सामान्य रूप से वस्तु) के वीच के अन्तर के विषय पर देखिये मेरा सेक० पृ० ५९ और ९७।

इस प्रकार अनन्त विभाज्यता का विप्रतिषेध, विभाज्य विषयो के आनुभविक दृष्टिकोण की विरोधी प्रकृति ही आलम्बन के विज्ञानत्व की स्थापना और बाह्यससार की सत्ता की अस्वीकृति के लिये दिङ्नाग का मुख्य तर्क है। अपने तर्क मे दिङ्नाग यह मानते हैं कि बाह्य विषय एक ऐसी क्षणिक शक्ति है जो विज्ञान को उद्दीप्त करती है और जिसका एक आकार का विकल्प अनुगमन करता है। अपने प्रबन्ध मे दिङ्नाग उस वैशेषिक मत को लेकर अस्वीकार करते हैं जिसके अनुसार बाह्य विषय द्विविध होता है—अर्थात् परमाणुओ और परमाणुओ के सघात से युक्त होता है। सघातो की स्वय अपने मे ही वस्तु के रूप मे कल्पना की गई है जिनकी उन अशो से भिन्न तथा ऊपर सत्ता होती है जिनसे वे निर्मित होते है। तदनन्तर आप यह स्थापना करते हैं कि परमाणु सदृश आकर उत्पन्न नही करते। अगर यही मान लें कि ये आकारो के प्रच्छन्न हेतु होते हैं तो भी यह सिद्ध नही होगा कि ये विषय हैं, क्योकि इन्द्रिय-शक्तियाँ भी हेतु हैं किन्तु ये विषय नही।[१] कोई हेतु सदैव एक विषय ही नही होता। स्वय अपने मे वस्तु के रूप मे सघात एक माया है जिसकी वैशेषिको ने रचना की है। यह केवल एक द्विविध चन्द्रमा मात्र है[२]। हम एक ऐसे विषय को चाहते हैं जो विज्ञान और आकार की व्याख्या करे किन्तु परमाणु कोई आकार नही उत्पन्न करता, तथा संघात कोई विज्ञान नही उत्पन्न करता, प्रत्येक अश आधे कार्य को ही उत्पन्न करता है।[३] दिङ्नाग के दृष्टिकोण से परमाणु "आकाश मे पुष्प"[४] है क्योकि वस्तुयें अविभाज्य कभी नही होती, और एक द्वितीय सत्ता के रूप मे सघात एक द्वितीय चन्द्रमा ही है।

और न परमाणुओ की राशि ही रूप के अन्तर की व्याख्या कर सकती है। घट और तश्तरी एक ही परमाणुओ से निर्मित होते हैं।[५] इनकी भिन्न

---

[१] आलम्बनपरीक्षा कारिका १, तसप० पृ० ५८२ १७ मे उद्धृत है। पाठ "यदीन्द्रिय विज्ञप्ते परमाणु कारणम् भवेत्"। प्रत्यक्षत कमलशील ने इसे स्मृति से ही उद्धृत किया है।

[२] वही, कारिका २, विज्ञानवादियो के अनुसार अमूर्त परमाणु कभी भी किसी मूर्त वस्तु को उत्पन्न नही करेंगे, तुकी तसप० पृ० ५५२ २०, तुकी० आलम्बन परीक्षा, कारिका ५ (यामागुची), पृ० ३५।

[३] वही, कारिका २, तुकी० यामागुची, पृ ३०।

[४] तुकी० तस० पृ० ५५८ १०।

[५] वही, कारिका ६, अनुवाद पृ० ३३।

संस्थिति और संख्या भिन्न आकार की व्याख्या नहीं कर सकती क्योंकि संस्थिति और संख्या वस्तु-स्वलक्षण नहीं हैं। ये रूप या आकार संवृत्त, आत्मनिष्ठ रूप अथवा विचार हैं।[1]

इस प्रकार कल्पित अविभाज्य परमाणु, विषयों के कल्पित संघात तथा आकार—ये सभी संवृत्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।[2]

वैशेषिकों के यथार्थवाद के इस प्रतिवाद के बाद दिङ्नाग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'इन्द्रियों द्वारा प्रत्येक विषय बाह्य नहीं होता।'[3]

तदनन्तर आप विज्ञानवाद के प्रमुख सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं।[4] आलम्बन स्वसंवेदन द्वारा आन्तरिक रूप से बोधगम्य विषय है और इस प्रकार प्रगट होता है मानो बाह्य हो[5]। इस प्रकार परमार्थ-सत् विज्ञानमात्रता है।[6] तर्क में जो बाह्य क्षण स्वलक्षण था वही यहाँ आन्तरिक विज्ञान-मात्रता बन गया है। विषयी और विषय दोनों ही आन्तरिक हैं; आन्तरिक संसार द्विविध है। नील पट और नील के विज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। एक ही विज्ञानमात्रता को ज्ञेय विषय और ज्ञान की क्रिया माना जा सकता है[7]

प्रत्यक्षीकृत घटनाओं की नियमित गति की व्याख्या अभी शेष है। यथार्थवादियों के अनुसार यह कर्मवासना द्वारा नियन्त्रित बाह्य संसार में नियमित गति के कारण ही उत्पन्न है। इसकी एक ऐसे समनन्तर

[1] 'बुद्धि-विशेष', तुकी० वही पृ० ३३।

[2] सात्रुन, वही, कारिका ५; अनुवाद पृ० ३५।

[3] वही पृ० ३७।

[4] वही, कारिका ६-८।

[5] वही, कारिका ६ (तसप० पृ ५८२,११ में पूर्ण रूप से उद्धृत)। इसका अर्थ यह है "विषय का स्वभाव आन्तरिक रूप से ज्ञेय है, यद्यपि विषय बाह्य प्रतीत होता है, और ऐसा इसलिये होता है क्योंकि यह विज्ञान है (पदार्थ नहीं), और चूँकि यह स्वयं अपना हेतु है अतः यह पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता।"

[6] विज्ञप्ति—अथवा विज्ञान मात्रता, तुकी तसप० पृ० ५८२ ७ और त्रिंशिका, कारिका १७।

[7] विषयी और विषय के एकत्व का यहाँ इनकी अपृथक्करणीयता द्वारा निगमन किया गया है। वही, कारिका ७ (यामागुची, पृ ४०)। यह कुछ कुछ हीगल की विधि के समान है, वी० ह० लॉजिक, २, पृ० ४४०।

प्रत्यय[1] की जो वस्तुजगत को स्थानान्तरित करता है, तथा एक ऐसी बोधगम्य वासना की जो यथार्थवादी कर्म को स्थानान्तरित करती है, की परिकल्पनाओं द्वारा व्याख्या की गई है।[2]

तदनन्तर यथार्थवादी (सर्वास्तिवादी) उस शास्त्रीय स्थल का सकेत[3] करता है जो कहता है कि कोई चक्षु-विज्ञान किसी विषय और एक इन्द्रिय के क्रियात्मक आश्रयत्व द्वारा उत्पन्न होता है।"[4] इस अवतरण को किस अर्थ मे ग्रहण करना चाहिये ? दिङ्नाग उत्तर देते हैं कि विषय आन्तरिक (अन्तर्मात्रा = आरूढ) है और इन्द्रिय शक्ति है।[5] वास्तव मे नेत्रगोलक नही वलिक तदनुरूप ऐन्द्रिक शक्ति ही इन्द्रिय को व्यक्त करती है। एक बाह्य ससार के स्थान पर आलयविज्ञान की, और मौलिक इन्द्रिय के स्थान पर एक वासना या शक्ति की परिकल्पना ज्ञान की क्रिया की व्याख्या करने में समर्थ होगी। इसमे कोई विरोध नही होगा।[6]

---

[1] आलयविज्ञान, तुकी० पृ ४०। इसे तसप० पृ० ५८२ १९मे समनन्तर-प्रत्यय के साथ समीकृत किया गया है।

[2] वासना द्विविध है। यह गत क्षण को सजातीय वासना से सम्बद्ध करती है तथा विविक्त विज्ञानो को एक विकल्प-वासना (अभिलाप-वासना) के अन्तर्गत ला देती है, तुकी० खाइ-डब को उनकी कृतियो के भाग २ मे। तसप० पृ० ५८३ १३-१५ कारिका ७ के अग (शक्त्य-अर्पणात् ··) और ८ (अविरोध) एक साथ सम्बद्ध हैं। दिङ्नाग कहते है कि यत प्रत्येक चेतन क्षण इसकी सजातीय वासना द्वारा अनुगमित होने की शक्ति-वासना से युक्त होता है अत प्रत्येक क्षण को एक क्रिया तथा एक विषय मानने मे कोई विरोध नही है। फिर भी दिङ्नाग कहते हैं कि इन्हे क्रमेण (क्रमेणापि) मानने मे भी कोई विरोध नही है। हमे सम्भवत यह कहना चाहिये कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काल और मात्रा का एक भेद है, किन्तु तार्किक दृष्टि से यह बिल्कुल वही है। जैसा कि जिनेन्द्रबुद्धि की व्याख्या (अनुवाद भाग दो मे पृ० ३८६ और बाद) से प्रतीत होता है यह उसी प्रकार की ही समस्या है जिसकी धर्मकीर्ति ने न्यावि० पृ० १४१६ और बाद, तथा १८८ मे प्रमाण और प्रमाण-फल के रूप मे चर्चा की है।

[3] तुकी० कारिका ७ ग-घ का 'अवतरण अनुवाद पृ० ४२।

[4] 'रूपम प्रतीत्य चक्षुश् च चक्षुर् विज्ञानम् उत्पद्यते।'

[5] वही, कारिका ७ ग-घ 'शक्ति = इन्द्रियम्।

[6] वही, कारिका ८, अनुवाद पृ० ४३।

इस विज्ञानवाद का प्रमुख विचार यह है कि वाह्य ससार की परिकल्पना सर्वथा निरर्थक है, यथार्थवाद का सरलता पूर्वक तदनुसार विज्ञानवाद के साथ अन्तर्विनिमय किया जा सकता है। सब कुछ वही रहता है, किन्तु एक अन्य नाम के अन्तर्गत और एक अन्य व्याख्या के साथ।

कृति का द्वितीय भाग असग के विज्ञानवाद का एक सिंहावलोकन है। दिङ्नाग की मौलिकता अनन्तता के तथ्य को दी गई प्रमुखता है। अनन्त और अनन्तरूप से अविभाज्य होने के कारण वाह्य ससार अयथार्थ है, केवल विज्ञप्ति मात्र है। यूनान की ही भाँति विज्ञानवाद सशयालुता के आधार पर स्थापित है।

§ ८. अहमात्रवाद के प्रतिवाद पर धर्मकीर्ति का प्रबन्ध

एक साक्षात् परिणाम—अहमात्रवाद, के रूप मे विज्ञानवाद की स्थिति को सकटापन्न बनानेवाले खतरो से धर्मकीर्ति परिचित थे। इसलिये उन्होने इस समस्या को अपनी महान और सामान्य कृति से पृथक् करके 'सन्तानान्तर सिद्धि'[1] के नाम से इस पर एक विशेष कृति की रचना की। यह प्रबन्ध अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि यह एक विशेष जटिल स्थिति के प्रति प्रयोग के रूप मे धर्मकीर्ति की सम्पूर्ण ज्ञानमीमासा के पुनर्मूल्याकन से युक्त है। स्थानाभाव के कारण हम इसके सम्पूर्ण तर्क को उद्धृत नही कर सकते, किन्तु एक सक्षिप्त साराश प्रस्तुत किया जायगा।

धर्मकीर्ति[2] इस बात की व्याख्या से आरम्भ करते हैं कि यथार्थवादियो का, जो विज्ञानवाद को अहमात्रवाद में परिणत कर देते हैं, सामान्य तर्क कोई सहायता नही करता। यथार्थवादी सोचता है कि वह सन्तानान्तर का साम्यानुमान द्वारा निगमन कर सकता है। वह तत्काल यह अनुभव करता है कि स्वय उसकी वाणी और स्वय उसकी गतियाँ उसकी सकल्पशक्ति द्वारा सकटापन्न हैं। इसी प्रकार विदेशी वाणी और विदेशी गतियो को देखकर

---

[1] इसका एक तिब्बती अनुवाद तन्जूर मे सुरक्षित है। इसके मूल का दो टीकाओं—एक विनीतदेव की और दूसरी एक मगोलियन पण्डित दोदर (तो-दर) तह रम्य की—के साथ मैंने विब० बुद्धिका मे सम्पादन किया है। रूसी मे द्विविध अनुवाद—एक अविकल और दूसरा मुक्त—भी मैंने सेण्ट पीटर्सवर्ग से १९२२ मे प्रकाशित कराया है।

[2] सूत्र १।

साम्यानुमान के आधार पर वह यह निष्कर्ष निकलता है कि इनके भी हेतुओ को विद्यमान होना चाहिये, और यह एक विदेशी सकल्प का सकेत करता है। फिर भी, विज्ञानवादी, वाक्यविन्यास के थोडा परिवर्तन के साथ यही निष्कर्ष निकलाने से निषेधित नही है। उसे जब विदेशी वाणियो और विदेशी गतियो के आकार का ज्ञान होगा तब वह यह निष्कर्ष निकालेगा कि इन आकारो का एक हेतु अवश्य होना चाहिये और यह हेतु विदेशी सकल्प हैं। विज्ञानवादी[1] का यह कथन है - "वह आकार जिनमे स्वय हमारी अपनी गतियाँ और हमारी अपनी वाणी हमे अपने सकल्प मे उत्पन्न होती प्रतीत होती हैं, उनसे भिन्न होते है जो हमारे अपने संकल्प मे उत्पन्न नही होते। प्रथम 'मैं जाता हू', 'मैं बोलता हू' के रूप मे प्रगट होते हैं। द्वितीय 'वह जाता है', 'वह बोलता है' आदि रूपो मे प्रगट होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि द्वितीय वर्ग का प्रथम से भिन्न हेतु होता है। यह हेतु एक विदेशी सकल्प है।"

यथार्थवादी पूछता है[2] "तुम यह क्यो नही मानते कि द्वितीय वर्ग के आकार एक विदेशी सकल्प जैसे किसी हेतु के बिना ही प्रगट होते हैं?" विज्ञानवादी उत्तर देता है "इसलिये कि यदि अर्थक्रिया के ये आकार इनको उत्पन्न करने वाले सकल्प के बिना ही प्रगट हो तो हमारे भी समस्त कार्य और वाणी के आकार सामान्य रूप से सकल्प द्वारा उत्पन्न नहीं होगे। इस तथ्य मे निहित अन्तर का कि एक प्रकार के आकारो की श्रृङ्खला हमारे शरीर से सम्बद्ध है और दूसरी श्रृखला इस प्रकार सम्बद्ध नही है, यह अर्थ नही है कि एक श्रृङ्खला सकल्प द्वारा उत्पन्न है और दूसरी इस प्रकार उत्पन्न नही है। दोनो ही चेतन सकल्प द्वारा उत्पन्न होते हैं। तुम यह नही मान सकते कि अर्थक्रिया और वाणी सम्बन्धी हमारे आधे ही आकार इन्हे उत्पन्न करनेवाले सकल्प से सम्बद्ध होते हैं। सभी इसी प्रकार सम्बद्ध होते है।"

विज्ञानवादी यह मानता है कि "हम अपने प्रति जो कुछ भी अर्थक्रिया और वाणी के रूप मे प्रस्तुत करते हैं, वह चाहे हमारे स्वय अपने शरीर से सम्बद्ध हो या नही, सदैव हमारे चेतन सकल्प मे ही अनिवार्यत उत्पन्न होता है। हम जिसे अर्थक्रिया कहते हैं उसका सामान्य स्वभाव उसके सामान्य स्वभाव से सम्बद्ध है जिसे हम चेतन सकल्प कहते हैं।"[3]

---

[1] सूत्र ११। [2] सूत्र १२। [3] सूत्र २२।

यथार्थवादी का यह विचार है कि वह विदेशी अर्थक्रियाओ का साक्षात् प्रत्यक्ष करता है। विज्ञानवादी का यह विचार है कि वह बाह्यार्थ गतियो का नही बल्कि उनके आकारो का ही बोध करता है। ये आकार उसे तब तक उपलब्ध नही हो सकते थे जब तक इनके हेतु, चेतन सकल्प, की भी सत्ता न हो। आकारो के किसी वर्ग के आधार पर सकल्प का निगमन करते समय यथार्थवादियो और विज्ञानवादियो मे कोई वास्तविक अन्तर नहीं है।

यथार्थवादी तब इस तथ्य का सकेत करता है कि विज्ञानवादी के लिये बाह्य सत्ता स्वप्नवत् है, यह बिना किसी तदनुरूप यथार्थ के आकारो मे निहित होती है। इस प्रकार स्वयं उसकी अपनी गतियाँ और वाणी तत्काल स्वसवेदन द्वारा प्रत्यक्ष होगी किन्तु विदेशी क्रियायें स्वप्नवत् होगी। इसका विज्ञानवादी यह उत्तर देता है [1] "यदि अर्थक्रियायें एक चेतन संकल्प के अस्तित्व का सकेत करती हैं तो वे यह सकेत या तो सदैव और अनिवार्यत: स्वप्न मे और साथ ही साथ वास्तव मे भी करेंगी, अथवा कभी नही करेंगी।" यदि हम केवल यही माने कि हमे चेतन सकल्प से स्वतन्त्र रूप से ही अर्थ-क्रियाओ के आकार उपलब्ध हो सकते हैं तब हम अर्थक्रिया के आधार पर किसी सकल्प का कभी भी निगमन नही कर सकेंगे क्योकि यह क्रिया तब किसी सकल्प की उपस्थिति के बिना भी सम्भव होगी। किन्तु यथार्थवादी कहता है [2] "किन्तु स्वप्न तो भ्रतियाँ है। स्वप्न मे हमे जो आकार दिखाई पडते हैं वह वास्तविकता से सम्बद्ध नही होते, वे ऐसे आकार होते हैं जिनके अनुरूप किसी भी यथार्थता का अस्तित्व नही होता।" इसका विज्ञानवादी यह उत्तर देता है "तुम्हे किसने यह अधिकार दिया है कि तुम्हारे निर्णय से आकारो की एक शृखला तदनुरूप यथार्थता से रहित होगी और दूसरी शृङ्खला उससे युक्त होगी ?" आकार तो आकार ही हैं। यदि एक दशा मे ये यथार्थता के आकार हो तो ये प्रत्येक दशा मे यथार्थता के आकार होगे। स्वप्न और अन्य आकारो के बीच अन्तर[3] केवल यह है कि अर्थक्रियाओ के जाग्रतावस्था के आकारो मे उनका यथार्थता के साथ सम्बन्ध साक्षात् होता है, जब कि स्वप्न तथा अन्य रुग्ण अवस्थाओ मे यह सम्बन्ध परोक्ष होता है। यथार्थ तथ्यो और उनके आकार के बीच काल का व्यवधान होता है, किन्तु कोई भी यह नही मान सकता कि यथार्थ तथ्यो के साथ सम्बन्ध सर्वथा

---

[1] सूत्र ५३। [2] सूत्र ५५। [3] सूत्र ८४।

अनुपस्थित है। स्वप्न मे हम किसी शिष्य को अपने गुरुगृह मे प्रवेश करते, अभिवादन करते, अशीर्वाद प्राप्त करते, शय्या आदि बिछाते, किसी ग्रन्थ को पढते और उसे पूर्णतया स्मरण इत्यादि करते देख सकते हैं। ये सभी आकार यद्यपि एक स्वप्न मे प्रगट होते हैं, तथापि ये किसी भी प्रकार यथार्थता से असम्बद्ध नही हैं। यह सत्य है कि इन आकारो और यथार्थता के बीच काल का एक व्यवधान अवश्य है, किन्तु यदि इनका यथार्थता से सर्वथा कोई सम्बन्ध न होता तो इनकी सत्ता ही न होती। विज्ञानवादी यह कहता है [1] "यदि तुम यह मानते हो कि ऐसे आकार भी होते हैं जिनके अनुरूप कोई यथार्थता नही होती, तो यह एक सर्वथा भिन्न समस्या है। तब हमारे सभी आकार निरपवाद रूप से बिना सम्बद्ध यथार्थता वाले आकार होगे, क्योकि ये सभी उस अनुभवातीत भ्रान्ति के उत्पाद हैं जो भ्रान्तिमय लौकिक अस्तित्व का सार्वभौम सम्राट है।"

इसके बाद धर्मकीर्ति सन्तानान्तर विषयक अपने मत को अपने ज्ञानमीमासा के अनुकूल बनाते है। ऐसे दो व्यक्तियो के विचारो मे सगति की, जो एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र किन्तु फिर भी एक बाह्य ससार की समान भ्रान्ति से ग्रस्त हैं, उसी सामान्य विधि से व्याख्या की गई है जिसका एक ही चक्षु-व्याधि से ग्रस्त दो व्यक्तियो द्वारा दो चन्द्रमा देखने के विश्वास द्वारा उदाहरण मिलता है।[2] हमारे ज्ञान के दो प्रमाण है—प्रत्यक्ष और अनुमान। ये यथार्थ प्रमाण हैं क्योकि ये हमे अपनी अर्थक्रियाओ मे निर्देशित करते हैं।[3] सन्तानान्तर विषयक हमारे ज्ञान के प्रति व्यवहृत होने पर साक्षात् इन्द्रिय प्रत्यक्ष का प्रश्न ही नही उठता। अनुमान ही यथार्थवादियो और विज्ञानवादियो के लिये एक मात्र प्रमाण है। किन्तु यह अनुमान अन्य चेतन प्राणियो के प्रति हमारी अर्थक्रियाओ मे हमारा निर्देशन करने की क्षमता रखता है। अत यह सन्तानान्तर सिद्धि का एक परोक्ष प्रमाण है। किन्तु तब यह यथार्थवादियो तथा साथ ही साथ विज्ञानवादियो दोनो के लिये समान रूप से सम्यक् ज्ञान का प्रमाण है। इस दृष्टि से कोई अन्तर नही है। अहंमात्रवाद तार्किक स्तर पर कोई वास्तविक सकट नही उत्पन्न करता।

§ ९. बाह्य संसार की सत्ता की समस्या का इतिहास

आरम्भिक बौद्ध प्रणाली मे विशुद्ध अर्थों मे एकीकृत आन्तरिक आत्मा के प्रति अभिमुख कोई भी एकीकृत बाह्य ससार नही है। आत्मा की सत्ता को

---

[1] सूत्र ५८। [2] सूत्र ६५। [3] सूत्र ७२ और बाद।

अस्वीकार किया गया है। यह बौद्धो का आरम्भविन्दु है। इसे उस विज्ञान के धर्म से स्थानान्तरित कर दिया गया है जिनके लिये सभी अन्य धर्म वाह्य हैं। वेदना, विचार, सकल्प, इन्हे स्वय अपने मे आत्मचेतन नही माना गया है। ये इस विज्ञान के पृथक् धर्म के लिये वाह्य धर्म या विषय हैं। कोई वेदना या विचार विज्ञान के लिये उतना ही वाह्य है जितना कि कोई स्पर्श-धर्म या रग-पट। वह इकाई जिसको अपने धर्मों मे विश्लेषित किया गया है पुद्गल है, किन्तु यह पुद्गल भी परस्पर हेतुत्व के द्वारा ऐक्यबद्ध विविक्त धर्मों का केवल एक धर्मकाय मात्र है। इस पुद्गल मे वे दोनो धर्म सम्मिलित हैं जिन्हें वाह्य ससार मे स्थित और इनके अनुरूप वे धर्म जिन्हें आन्तरिक ससार मे स्थित माना गया है। इस प्रकार के पुद्गल के लिये सभी धर्म आन्तरिक हैं। एक दूसरे के लिये प्रत्येक धर्म अन्य सभी की दृष्टि से वाह्य है। जब हमारे वाह्य ससार के किसी विषय की दो पुद्गलो द्वारा कल्पना की जाती है तो यह दोनो जटिलताओ की रचना मे एक पृथक् इकाई के रूप मे प्रवेश करता है। स्वर्गीय प्रोफेसर ओ० रोजेनवर्ग का यह विचार था कि इन दशाओ मे हमे न केवल एक समान विषय के ही वरन् दो भिन्न के—प्रत्येक पुद्गल मे एक-एक के अस्तित्व को मानना चाहिये।

वसुवन्धु[1] इस वाह्य और आन्तरिक धर्म की समस्या पर इस प्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं

"सत्ता के धर्मों के लिये वाह्य या आन्तरिक होना कैसे सम्भव है जब इस आत्मा या पुद्गल की ही कोई सत्ता नही है जिसके लिये इन्हें वाह्य या आन्तरिक होना चाहिये ?" उत्तर यह है कि विज्ञान को लाक्षणिक रूप मे ही आत्मा कहते हैं क्योकि यह एक आत्मा के (भ्रामक) विचार की कुछ पुष्टि करता है। "स्वय बुद्ध भी इस प्रकार की अभिव्यक्तियो का प्रयोग करते हैं। .. चक्षु और अन्य ऐन्द्रिक शक्तियाँ ही तदनुरूप सवेदना की आधारभूत धर्म हैं। दूसरी ओर, विज्ञान एक आत्मा के (भ्रामक) प्रत्यक्ष के लिये आधारभूत धर्म है। इसलिये विज्ञान के साथ इस घनिष्ठ साम्य के परिणामस्वरूप इन्द्रियो को आन्तरिक धर्मो के अन्तर्गत रक्खा गया है।"

वाह्य और आन्तरिक विषयो के बीच की इस अस्पष्टता ने वैभाषिको को यह मानने के लिये प्रेरित किया है कि स्वप्न तक मे हम जो देखते हैं वह वास्तविक वाह्य विषय है। धर्मकीर्ति इस मत का उपहास करते हैं। ये वैभाषिको से कहते हैं कि "केवल हठवादिता के कारण ही तुम इस मूर्खता को

[1] अभिभा० अध्याय १ ३९, तुल्की मेरा सेक० पृ० ५८ और वाद।

मानने के लिये प्रेरित हुये हो जो प्रत्यक्षत् शास्त्रो और तर्क दोनो के विरुद्ध है। तुम यह अवश्य जान चुके होगे कि मैं ऐसे प्राणियो की सत्ता मे विश्वास करने के लिये कभी भी प्रेरित नही हो सकता जो स्वप्न मे देखे जाते हैं।" "इसका यह अर्थ होगा कि जब मैं स्वप्न मे यह देखता हूँ कि वातायन के एक रन्ध्र से एक हाथी मेरे कक्ष मे प्रवेश कर रहा है तो उस हाथी ने वास्तव मे कक्ष मे प्रवेश किया है, और जब मैं स्वप्न मेअपने को ही उस कक्ष से बाहर जाता हुआ देखता हू जिसमें मैं सो रहा हू, तब इसका यह अर्थ होगा कि मेरा शरीर द्विविध हो गया है, इत्यादि,।"

जो कुछ भी हो, हीनयान का दृष्टिकोण सर्वथा यथार्थवादी है। एक व्यक्तिगत जीवन के विषयात्मक धर्म उतने ही यथार्थ है जितने आत्मनिष्ठ धर्म।

मोटे रूप से यदि हम कहे तो एक यथार्थ बाह्य ससार को हीनयान मे माना गया है और महायान मे अस्वीकार किया गया है, जब कि तार्किक सम्प्रदाय मे इसे आशिक रूप से ही पुनर्मान्यता प्रदान की गई है।

वास्तव मे इसे महायान के सभी सम्प्रदायो मे अस्वीकार किया गया है। किन्तु माध्यमिको के अत्यन्त सापेक्षवाद के विरुद्ध मैत्रेय असङ्ग द्वारा स्थापित सम्प्रदाय की विशिष्टता यह है कि इसमे चित्रमात्र[1] (= विज्ञप्ति-मात्र[2]) एक अन्तिम निरपेक्ष के रूप मे विषयी और विषय के रूप मे विभेदित नही है। यह सम्प्रदाय अन्य समस्त विचारो को परिकल्पित मानता है इस प्रकार का विज्ञानवाद प्लेटो के विज्ञानवाद का बिल्कुल उल्टा है। इन दोनो बौद्ध सम्प्रदायो के बीच का अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है। और स्वय असङ्ग तथा साथ ही साथ अन्य आचार्य भी ऐसी बाते लिखने मे संकोच नही करते जो दोनो ही पद्धतियो के अनुकूल हैं।[3]

नवीन सिद्धान्त पहले अभिनियमात्मक सूत्रो की एक शृङ्खला के रूप मे प्रगट होता है जिनमे से सन्धिनिर्मोचन सूत्र को तिब्बती आधारभूत मानते है।[4]

---

[1] त्रिंशिका, कारिका २५।

[2] डी० टी० सुजूकी लङ्कावतार, पृ० २४१ और बाद, इन शब्दो मे भिन्नता देखते हैं किन्तु मैं ऐसा कोई भिन्नत्व नही पाता।

[3] तुकी० ई० ओबरमिलर का लेख जिसे नीचे उद्धृत किया गया है।

[4] अवतसक, लङ्कावतार, घन व्यूह तथा वास्तव मे कन्जूर के म्दो खण्ड के अधिकाश सूत्र इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इस सम्प्रदाय पर तुकी० सिलवन लेवी सूत्रालकार (पेरिस १९०७), विज्ञप्तिमात्रता (पेरिस १९३२),

किन्तु भारत मे धार्मिक कृतियो (सूत्रो) का सदैव ही उन वैज्ञानिक ग्रन्थो (शास्त्रो) मे अनुगमन मिलता है जिनमे विषय को एक पद्धति के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है।[१] उन्ही वसुबन्धु ने, जिन्होने अपने "महाशास्त्र" मे १८ प्रारम्भिक सम्प्रदायो के मतो का संक्षेप दिया है, तीन लघुशास्त्रीय कृतियों[२] मे नवीन विवेचन के सिद्धान्तो का भी निर्धारण किया है। इनके इस कार्य मे इसी विषय पर इनके भ्राता असङ्ग पहले ही एक ग्रन्थ[३] की रचना कर चुके थे। इन कृतियो मे वसुबन्धु इन बातो का विवेचन करते हैं १) विज्ञानवाद के पक्ष मे तार्किक आधार, २) आलयविज्ञान, ३) धर्मो की एक परिवर्तित पद्धति, ४) समस्य धर्मो के त्रिविध स्वभाव का सिद्धान्त।

विज्ञानवाद के पक्ष तथा पदार्थ की सत्ता के विपक्ष मे जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वे इस प्रकार हैं १) ससार का चित्र सर्वथा वही रहता है चाहे हम अपने विज्ञानो और आकारो के लिये वाह्यार्थों को माने अथवा आन्तरिक हेतुओ

ल० डे० ल० वले पूसाँ विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि ह्वेन साङ्ग (१९२८), डी० टी० सुजूकी स्टडीज इन लङ्कावतारसूत्र (लण्डन, १९३०), एस० एन० दासगुप्त : फिलासफी ऑफ वसुबन्धु (१९२८) और फिलॉसफी आफ लङ्कावतारसूत्र (वुद्धिस्टिक स्टडीज, कलकत्ता, १९४१), एस० यामागुची और हेनरिट मेयर दिङ्नाग की आलम्बनपरीक्षा (जे० एशियाटिके, १९२९)। इन सब कार्यो के विपरीत भी बौद्ध विज्ञानवाद की समस्या का अभी तक कोई समाधान नही हुआ है। अनुवाद अत्यन्त अवोधगम्य हैं। नवीन प्रकाश सम्भवत तिब्बती परम्परा से प्राप्त हो सकता है। माध्यमिक-प्रासङ्गिक और विज्ञानवादी पद्धतियो के वीच असङ्ग का दोलन भी एक विशिष्टता है, तुक० ई० ओवर-मिलर के लेख (ऐक्टा ओरियण्टेलिया, १९३२) का अध्याय ४।

[१] इस वर्ग के शास्त्रो पर तुकी० मेरा लेख (म्यूसियोन मे) जिसका पूरा अनुवाद ई० ओवरमिलर कृत वस्टन्स हिस्ट्री, भाग १, पृ० ५३-५७ मे प्रकाशित हुआ है।

[२] ये महायान पञ्चस्कन्ध, विंशतिका और त्रिंशिका हैं। इनमें से अन्तिम दो की खोज, इनका सम्पादन तथा अनुवाद सिलवन लेवी ने किया है।

[३] अभिधर्मसग्रह। तिब्बती लामाओ मे यह उच्चतर के अभिधर्म (स्टोद) के नाम से विख्यात है, जब कि वसुबन्धु की महान कृति निम्नतर (स्मद्) के नाम से प्रचलित है।

को,[1] २) विषयी-विषय का सम्बन्ध अबोधगम्य है। यह मानना एक अत्यन्त विपन्न परिकल्पना है कि हमारी चेतना अपने से बाह्य विषय तक जा कर उसके रूप को ग्रहण कर, उस आकार के साथ पुन· लौट सकती हैं,[2] ३) पदार्थ की अनन्त विभाज्यता यह दिखाती है कि परमाणु केवल विज्ञप्ति मात्र है।[3]

आलयविज्ञान का सिद्धान्त बाह्य ससार को स्थानान्तरित करने के लिये उद्दिष्ट है।[4] हमारे जीवन की सगत घटनाओ के प्रवाह की इसी आलय-विज्ञान से उत्पत्ति होती है जो एक एक करके वासना द्वारा प्रगट होती रहती हैं। प्रत्येक विज्ञप्ति का पूर्ववर्ती एक "सजातीय और तात्कालिक"[5] हेतु होता है जो बाह्य ससार मे नही बल्कि उस आलय मे स्थित होता है जहाँ से वह प्रगट होता है और जिसमे ही लौट आता है।

धर्मों की पद्धति मे परिवर्तन निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है[6]।

६ ग्राहक शक्तियाँ	६ विज्ञप्तियो के विषयात्मक पक्ष	८ विज्ञप्ति के प्रकार
१. दृष्टि	७ वर्ण (रग)	१३ दृश्य
२ श्रवण	८ ध्वनि	१४ श्रव्य
३ गन्ध	९ गन्ध	१५ घ्राण
४ स्वाद	१० स्वाद	१६ रुचिरता
५ स्पर्श	११ स्पर्शता (पदार्थ)	१७ त्वकसवेदना
६ क्लिष्ट-मनस	१२ मानसिक धर्म (धर्मा)	१८ बोधगम्य (अ-ऐन्द्रिक) विज्ञप्तियाँ
		१९ विज्ञप्तियो का उपचेतन आलय
		२० चित्त-मात्र

[1] तुकी० तसप० पृ० ५५३,२७ 'यथा भवताम् बाह्योऽर्थ इति तथा तत एव (समनन्तर प्रत्ययात् एव) नियम· सिद्ध', विंशतिका, कारिका १-९।

[2] तुकी० तसप० पृ० ५५९ ८ और बाद, जहाँ "ग्राह्य-ग्राहक-वैधुर्यम्" की व्याख्या है और वसुबन्धु ने इसी को बार बार दोहराया है। तुकी० एस० लेवी का इण्डेक्स।

[3] विंशतिका, कारिका ११.१४। दिङ्नाग का, उनकी आलम्बनपरीक्षा मे, यह प्रमुख तर्क है, अक्सर उद्धृत; तुकी० एस० लेवी मैट्रिक्स, पृ० ५२ नोट।

[4] त्रिंशिका, कारिका १५, और सर्वत्र, तुकी० एस० लेवी का इण्डेक्स।

[5] तसंप० पृ० ५८२, १९ 'समनन्तर-प्रत्यये = आलयाख्ये'।

[6] तुकी० मेरे सेक० पृ० ९७, मे तालिका।

१९वें और २०वें अगो को हीनयान की मूल तालिका मे जोड दिया गया है। पदार्थ के दस धर्मो (स० १-५ और ७-११) को तदनुरूप विज्ञप्तियो मे परिवर्तित कर दिया गया है। ७ वा धर्म क्लिष्ट मनस[1] बन जाता है क्योकि इसका पहले का अर्थ (चित्र-मात्रम्) अब २० वी सख्या पर स्थानान्तरित कर दिया गया है। प्रत्येक विज्ञप्ति के प्रगट होने के पूर्व का क्षण आलय (स० १९) मे निहित है, और समस्त धर्मों का आनुभविक एकत्व 'तथता' अथवा चित्तमात्र (स० २०) मे निहित है। सृष्टि के एक ऐसे सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, जो चित्तमात्र के परिमाण[2] की सर्वप्रथम आलय मे, तथा उसके द्वैतत्व की विषय और विषयी मे व्याख्या करता है। क्लिष्ट-मनस् के प्राकट्य और उसके द्वारा ज्ञात समस्त विज्ञप्तियो की भी व्याख्या की गई है। तदनन्तर वसुबन्धु उन समस्त मानसिक धर्मों की गणना करते हैं जो वर्गीकरण की सख्या १२ मे—उन तथाकथित 'धर्मा' मे निहित है जिनमे पहले समस्त अ-ऐन्द्रिक धर्म निहित थे।[3]

ससार की सृष्टि की प्रक्रिया का, जिसका वसुबन्धु द्वारा अपनी कृति के आरम्भ मे, चित्तमात्र से कल्पित जगत के नानात्व के रूप मे उत्पन्न हुये होने के रूप मे वर्णन है, इसी कृति के अन्त मे एक बार पुन, विषयी और विषय के द्वैतत्व के शमन द्वारा नानात्व से एकत्व की ओर अग्रसर एक आरोहक क्रम से वर्णन किया गया है।[4]

अभिधर्म का संशोधित रूप ऐसा ही है जो उस सम्प्रदाय मे प्रगट होता है जिसे उसकी कुछ मान्यताओ के अनुसार ही विज्ञानवाद अथवा विज्ञप्ति-मात्रता कहा जाता है।

सिद्धान्त का यह रूप तार्किक सम्प्रदाय के अभ्युदय का समकालीन है। यही इसका अन्तिम परिमार्जन भी है जिसके बाद इसका अस्तित्व

---

[1] त्रिंशिका, का० ६

[2] वही, का० १

[3] वही, का० ९-१४। 'धर्मा' का बहुवचन में 'सर्व-धर्मा' के अर्थ मे अनुवाद बिल्कुल गलत है। यह उतनी ही बडी गलती है जैसे 'रग' अर्थवाले किसी शब्द का 'ध्वनि' अर्थवाले किसी शब्द से अनुवाद करना, क्योकि आयतन स० १२ और आयतन सख्या ७-११ के बीच का अन्तर आयतन स० ७ (रग) और (ध्वनि) के अन्तर से कही अधिक है।

[4] कारिका २६।

समाप्त हो गया। आज भी विभिन्न सम्प्रदायो मे इसका एक ऐतिहासिक अतीत के रूप मे अध्ययन होता है, किन्तु नवीन तार्किक सम्प्रदाय के लिये इसका कोई महत्त्व नही है। तर्कशास्त्र के अध्ययन द्वारा यह सर्वथा अधिक्रमित हो गया। बौद्धमत अब अभिधर्म नही रह गया।[1] धर्म (बौद्ध सिद्धान्त) अब अभिधर्म नही है, अभिधम अतीत की बात हो गया है। यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन एक सीमा तक योरोपीय दर्शन के उस परिवर्तन के समान है जब तत्त्वमीमासा समीक्षात्मक सम्प्रदाय द्वारा अधिक्रमित हुई थी और ज्ञानमीमासा प्रमुख दर्शनशास्त्र बन गया था। विज्ञानवाद से बौद्ध तार्किक सम्प्रदाय किस प्रकार उद्भूत हुआ इसका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

बाह्यससार की सत्ता पर बौद्धो की परिकल्पनाओ ने उन्हे एक गतिरोध की स्थिति मे पहुँचा दिया है। इस प्रश्न को ही अमहत्त्वपूर्ण अनुभव किया गया है। महत्त्व तर्क का है और यह दोनो ही दशाओ मे सर्वथा एक ही रहता है चाहे हम बाह्य सत्ता को माने या अस्वीकार करें। इस कौतूहलवर्धक परिणाम को आरम्भिक अत्यन्त अनेकत्ववाद और बाद के अत्यन्त एकतत्त्ववाद के बीच समाधान के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। एकतत्त्ववादी विज्ञानवाद के एक सम्प्रदाय के रूप में विकमित हुये। माध्यमिको से योगाचार उत्पन्न हुआ। अनेकत्ववादी, सर्वास्तिवादी, सौत्रान्तिको के एक समीक्षात्मक सम्प्रदाय के रूप मे विकसित हुये। सौत्रान्तिक, प्रत्यक्षत वह पहला सम्प्रदाय था जिसने बाह्य घटना के पीछे स्वलक्षण की सत्ता को माना था।

---

[1] सन्धिनिर्मोचन के और असङ्ग के विज्ञानवाद मे सभी धर्मों का परिकल्पित, परतन्त्र, और परिनिष्पन्न के रूप मे त्रिविध विभाजन सर्वप्रमुख विशिष्टता है। वसुबन्धु के विज्ञानवाद मे यह विभाजन तथा अनन्त विभाज्यता पर आधारित तर्क महत्त्वपूर्ण हैं। दिङ्नाग के उद्घाटन मे त्रिविध विभाजन को छोड दिया गया गया है, मनोवैज्ञानिक अश (धर्म) को भी छोड दिया गया है, किन्तु सशयालुता, अनन्त विभाज्यता पर आधारित तर्क आधारभूत तर्क बन जाता है। 'वसुबन्धु की किसी कृति मे 'धर्म' का सर्वत्र एक ही शब्द से अनुवाद करना धीरे धीरे अत्यन्त अदक्ष होता जाता है क्योकि वसुबन्धु स्वय भी अपनी 'व्याख्या-युक्ति' मे इस शब्द के सर्वथा भिन्न अर्थो पर जोर देने मे बहुत अधिक सतर्कता दिखाते है। तुकी० ई० ओवरमिलर का वस्टन्स के इतिहास का अनुवाद, पृ० १८।

तार्किकों ने समझौता कर लिया और सौत्रान्तिक-योगाचारों के एक संकर सम्प्रदाय की स्थापना कर दी।

§ १० कुछ योरोपीय समानान्तरतायें

तुलनात्मक दर्शन का भावी इतिहासकार अनन्त विभाज्यता पर आधारित तर्क के अत्यधिक महत्व को स्वीकार करने में असफल नहीं होगा। भारतीय, तथा साथ ही साथ योरोपीय दर्शन में यह विज्ञानवाद का सर्वशक्तिशाली आयुध है। अन्य विप्रतिषेधों के साथ-साथ इसने काण्ट को उनके क्रिरी० के द्वितीयार्ध में विज्ञानवाद की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त करके उनकी अनिर्णायिकता के सन्तुलन को प्रभावित किया है। अपने विशेष प्रकार के विज्ञानवाद की स्थापना में यह वसुबन्धु[1] और दिङ्नाग[2] दोनों का ही प्रमुख तर्क है। अपने एकतत्त्ववाद की स्थापना में एलियाटिकों के उपकरण के अन्तर्गत भी इसने पर्याप्त भूमिका सम्पन्न की है। जेनो के तर्क, जिनको काण्ट[3] और हीगल[4] दोनों ने मान्यता प्रदान की है, मुख्यतः विभाज्यता के विप्रतिषेध पर ही आधारित है। इतना ही नहीं इसने लॉक और ह्यूम को भी इतना लुभाया है कि दोनों विज्ञानवाद की ओर संकटापन्न झुकाव प्रदर्शित करते हैं। वास्तव में लॉक[5] का यह कथन है "किसी सीमित स्थौल्य की अनन्त विभाज्यता हमें ऐसे परिणामों तक पहुँचाती है जो एक अमूर्त ज्ञानात्मक द्रव्य की धारणा की अपेक्षा कहीं अधिक कठिनाई तथा निरर्थकता से युक्त है।" और इस उक्ति द्वारा ह्यूम भी ऐसे ही विचार प्रगट करते हैं[6] "मानव के विद्रोही तर्क को दमित और अनुकूल करने के लिये आविष्कृत अन्य किसी भी पुरोहनीय मताग्रह ने हमारी सहजबुद्धि को उतना आघात नहीं पहुँचाया है जितना कि अपने परिणामों सहित अनन्त विभाज्यता के सिद्धान्त ने। इस विप्रतिषेध के प्रति हीगल अपना पूर्ण ध्यान केन्द्रित करते हैं।[7] आप काण्ट के समाधान को निराकृत करते हुये एक "अपोहात्मक" सिद्धान्त

---

[1] विंशतिका, का० ११।

[2] आलम्बनपरीक्षा, का० १

[3] क्रिरी० पृ० ४०९।

[4] वी० ड० लॉजिक, १.१९१

[5] एसे,[2], XXIX, ३१

[6] एसे० ऑन ह्यूमन अण्डरस्टैण्डिंग, ख० १२, भाग ३।

[7] उपु० १ १९१।

प्रस्तुत करते हैं। आप कहते हैं कि "सातत्यता और विविक्तता का एक दूसरे के बिना अस्तित्व नही हो सकता, अत इनका एकत्व एक सत्य है।" फिर भी, काण्ट केवल इतना ही मानते थे कि अनन्त विभाज्यता बाह्य सत्ता, वस्तु-स्वलक्षण, के लिये व्यवहृत नही हो सकती। विशुद्ध गति के लिये इसके व्यवहार को कोई रोक नही सकता। यत हीगल ने बाह्य वस्तु को निराकृत कर दिया है अत उन्हें अनन्त विभाज्यता के अनुभवातीत विज्ञान के विरुद्ध आपत्ति नही करनी चाहिये। किन्तु यदि बाह्य वस्तु के लिये अपोहात्मक समाधान व्यवहृत हो तो इसकी एक जैन दृष्टिकोण के साथ समानान्तरता होगी जिसके अनुसार एक ही और वही परमाणु द्विविध, अर्थात् एक साथ मूर्त और अमूर्त दोनो होता है।[१] शान्तिरक्षित कहते हैं कि "ऐसा कुछ मूर्खों का मत है।"[२]

बौद्धो की अपोहात्मक विधि के अनुसार सात्यतता विविक्तता के अतिरिक्त और कुछ नही, तथा परमाणु भी मूर्तता के प्रतिषेध के अतिरिक्त और कुछ नही। यत बाह्य वस्तु न तो स्वभावी हो सकती है न सहत, अत इसका यह अर्थ नही है कि इन विरुद्धो का एकत्व ही इनका "सत्य" है, इसका यह अर्थ नही है कि बाह्य वस्तु एक साथ ही स्वभावी और सहत दोनो है, इसका अर्थ यह है कि समीक्षात्मक दृष्टि से देखने पर बाह्य वस्तु 'आकाश मे पुष्प' सिद्ध होती है।[३] विज्ञानवाद के पक्ष मे स्वय हीगल के अपने प्रमुख तर्क[४] धर्मकीर्ति के प्रमुख तर्कों के अनुकूल है और एक अन्तर्वर्ती विषय को मानते हैं।[५]

अगले निम्नलिखित परिसवाद मे हम बाह्य ससार की सत्ता से सम्बद्ध अत्यन्त प्रमुख योरोपीय मतो को उनकी भारतीय समानान्तरताओ के समक्ष

---

[१] तमप० पृ० ५५४ १ और बाद, तुकी० वही पृ९ ५५७ २१ और बाद (सम्भवत प्रदेश की अनन्त विभाज्यता से सम्बद्ध जैन मत)। तुको० चिदणु वादयो के तर्क, क्रिरी० पृ० ३५७।

[२] तुकी० पृ० ५५४ १०।

[३] तमप० पृ० ५५० १७।

[४] उपु० २ ४४१।

[५] वही, पृ० ५५२ ८। दो प्रमुख तर्को मे से दिङ्नाग प्रथम (अर्थ-अयोगात) पर अविक जोर देते प्रतीत होते हैं, जबकि धर्मकीर्ति द्वितीय (ग्राह्य-ग्राहक-वैधुर्यात्) को अधिक प्रश्रय देते हैं।

प्रस्तुत करेंगे। किन्तु इन समस्या पर काण्ट और दिङ्नाग की अपनी-अपनी स्थितियों का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिये। यह सुज्ञात है कि काण्ट की स्थिति सदैव स्पष्ट नहीं है।[1] इनके स्वलक्षण के विरुद्ध सामान्य आक्षेप, अर्थात् यह कि यह न तो हेतु हो सकता है और न सत्ता क्योंकि हेतुत्व और सत्ता प्रज्ञा की कल्पनायें हैं, मेरे विचार से बहुत अधिक शक्ति नहीं रखता। सत्ता और हेतुत्व हमें स्थौल्य तथा अवधि से युक्त वस्तुओं से सम्बद्ध करते हैं, परमार्थ सत् के क्षण से नहीं।[2] पदार्थों की धर्मकीर्ति की तालिका पर एक दृष्टिपात तत्काल इसे प्रगट करेगा कि हेतुत्व का पदार्थ कहाँ स्थित है।[3] यह सम्बन्धों के तर्क, संवादित्व के तर्क और साध्य-आधारवाक्य के तर्क से सम्बद्ध है। वस्तु स्वलक्षण सत्ता के तर्क, सविकल्पक प्रत्यक्ष, पक्ष-आधारवाक्य से सम्बद्ध है। यह समस्त पाँच पदार्थों (द्रव्य, गुण, क्रिया, नाम और जाति)[4] का समान उद्देश्य है। काण्ट का दोष, सम्भवत सत्ता के तर्क और संवादित्व के तर्क

---

[1] तुकी० विण्डेलवैण्ड उका० पृ० २४४ और बाद।

[2] एरिस्टॉटिल के अनुसार ग्राह्य विशेष 'हॉक एलिक्विड' को ही वह परमार्थ वस्तु घोषित किया गया है जिसके साथ सभी सामान्य निर्धारकों अथवा सहयोगियों की भाँति, अपने को संयुक्त करते हैं। यदि यह स्थिति अनुपस्थिति हो तो असंयुक्त सामान्य को पूर्ण सत्ताओं के बीच नहीं रखा जा सकता (ग्रोट एरिस्टॉटिल, परिशिष्ट १)। यद्यपि इस 'हॉक एलिक्विड,' को प्रमुख स्वभाव के रूप में एरिस्टॉटिल ने कोटियों की अपनी पद्धति में सम्मिलित किया है, तथापि, उपयुक्त आशय में यह अ-पदार्थ, एक अ-विधेय है। यह सदैव एक उद्देश्य, उद्देश्य मात्र, वस्तुमात्र, समस्त विधेयीकरण का समान उद्देश्य है। विधेय सदैव एक सामान्य होता है। सत्ता, हेतुत्व, वस्तुत्व, उसी प्रकार विधेय हैं जैसे घटत्व, किन्तु ये सत्ता के परमार्थ क्षण नहीं हैं ये सभी सामान्यों के तल में स्थित परमार्थ हेतु नहीं है।

[3] तुकी० ऊपर पृ० ३००।

[4] हम यह निश्चय कर सकते हैं कि "यह सत्ता है", यह हेतुत्व है, "यह द्रव्यत्व है"। सत्ता, हेतुत्व, और द्रव्यत्व विधेय और इसलिये पदार्थ होंगे, किन्तु "इदन्ता" धर्म विधेय नहीं है। यह उद्देश्य है, समस्त विधेयीकरण का वास्तविक उद्देश्य। उद्देश्य का अर्थ अ-पदार्थ है, एक ऐसा उद्देश्य जो विधेय कभी नहीं होगा। यहाँ तक कि यदि "इदन्ता" धर्म की कल्पना भी करलें तो वैयक्तिक "इदम्" और सामान्य "इदन्ता" का सम्बन्ध वही रहेगा।

के बीच, एक विकल्प के निश्चय और दो विकल्पो के निश्चय के बीच के अन्तर[1] पर पर्याप्त बल न देने मे निहित है। उनका हेतुत्व का पदार्थ हेत्वाश्रित निश्चय से निगमित है। हम देख चुके है कि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने भी बिलकुल यही किया है। किन्तु स्वलक्षण कोई सम्बन्ध नही है; यह हेत्वाश्रित निश्चय मे निगमित नही होता। यह तो प्रत्येक सविकल्पक प्रत्यक्ष का उद्देश्य है।[2] किसी स्वलक्षण का अर्थ बिलकुल वही है जो क्रिया स्वलक्षण का।[3] हम देख चुके हैं कि सत्ता की धारणा गत्यात्मक है।

अनुभवातीत द्वन्द्वन्याय मे काण्ट की स्थिति अधिक दोलायमान है जहाँ इनके सम्पूर्ण तर्क सर्वथा विज्ञानवाद[4] की ओर प्रवृत्त हैं, यद्यपि ये अपने को बर्कले से मिश्रित न होने देने, और समीक्षा मे वस्तु-स्वलक्षण की स्थापना को सुरक्षित रखने के लिये प्रयत्नशील हैं। अनन्तता का द्वन्द्वन्याय (अनन्त विभाज्यता) बाह्य ससार की सत्ता मे स्वाभाविक मानव विश्वास का न्यूनाङ्कन और विस्फोट कर देता है। यत यह तथ्य उसी की आवृत्ति प्रतीत होता है जो भारत मे एक बार घट चुकी है, अत इस समस्या पर काण्ट तथा दिङ्नाग की परस्पर स्थितियो की परिभाषा करना आवश्यक है। इसे निम्नलिखित पाँच बातो के अन्तर्गत सक्षिप्त किया जा सकता है। काण्ट कहते

---

[1] यह कि इस अन्तर का उन्हे कभी-कभी अनुभव हुआ था, उनके समीक्षात्मक निर्णय के विवेचन से स्पष्ट होता हैं जहाँ वह साध्य-आधारवाक्य (जिसमे दो विकल्पो का सम्बन्ध "किसी भी प्रकार काल द्वारा सीमित नही है") के तर्क और पक्ष-आधारवाक्य (जहाँ घटनाओ को वस्तु-स्वलक्षण मे सम्बद्ध किया गया होता है) के तर्क के बीच विभेद करते है।" (क्रिटी० पृ० ४०७)।

[2] पॉलसेन का ऐसा मत है कि काण्ट की दृष्टि मे दो भिन्न हेतुत्व थे, तुकी० उनका काण्ट[2], पृ० १५७।

[3] "या भूति सैव क्रिया"।

[4] तुकी० ई० केयार्ड उपु० २१३६ 'क्रिटीक के आरम्भ मे स्वलक्षण एक ऐसे विषय के रूप मे आता है जो हमारी ग्राह्यता मे वेदनाओ को उत्पन्न करता है, जब कि अन्त मे उस परमार्थसत् के रूप मे आता है जिसे बुद्धि को आवश्यकता होती है, क्योकि अनुभव मे यह अपने लिये पर्याप्त किसी विषय को नही पाता।' तात्पर्य यह कि आरम्भ मे यह एक वस्तु है और अन्त मे विज्ञप्ति बन गया है।

है कि १) विश्वविज्ञानात्मक द्वन्द्वन्याय की समस्या का समाधान इस तथ्य मे निहित है कि समस्त (वाह्य) "विषय केवल आकार मात्र हैं, स्थूल सत्ताओ और परिवर्तनो की शृङ्खला के रूप मे इनका हमारे विचार के वाहर कोई अस्तित्व नही है।"[1]

२) फिर भी ये स्वप्न नही है। ये मात्र आकार हैं जिनकी अनुरूपता किसी वाह्य सत्ता के साथ नही होती, किन्तु स्वप्न से इनका विभेद करना चाहिये। वर्कले का "आनुभविक विज्ञानवाद" यह मानता है कि ये स्वप्न हैं, किन्तु "अनुभवातीत" विज्ञानवाद यह मानता है कि ये यथार्थ हैं। "अनुभवातीत" शब्द का किसी अन्य सन्दर्भ मे जो भी अर्थ हो, यहाँ[2] इसका "अ-स्वप्न" तथा साथ ही साथ अ-वाह्य अर्थ है। इस कथन के अनुसार हमे आकारो की एक द्विविधता मिलती है—यथार्थता के विना स्वप्न मे आकार और यथार्थ आकार किन्तु जो किसी सम्वद्ध वाह्य सत्ता से रहित होते हैं।

३) "यहाँ तक कि चेतना अर्थात् आत्मा के विषय के रूप मे हमारी वुद्धि की आन्तरिक ऐन्द्रिक अन्त प्रज्ञा भी एक यथार्थता नही है क्योकि यह कालाधीन है।"[3]

४) यदि ग्राह्य विषय और ग्राहक आत्मा दोनो ही स्वय अपने मे यथार्थ नही हैं तो यह निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है कि ज्ञान की प्रक्रिया भी, जो इन दो अयथार्थताओ को सम्बद्ध करती है, यथार्थ नही हो सकती। फिर भी काण्ट ने ऐसा नही कहा है। प्रत्यक्षत "विज्ञानवाद" शब्द से यह अभिप्रेत होता है कि विज्ञप्ति मे ग्राहक, ग्राह्य और ज्ञान की क्रिया, अर्थात् भारतीय त्रिपुटी सम्मिलित है।

५) किन्तु हमारे पास ऐसा कुछ अवश्य होना चाहिये जो "ग्राह्यता के एक प्रकार के रूप मे ऐन्द्रिकता के अनुरूप हो।"[4] यह "अनुभवातीत विषय" अर्थात वस्तु-स्वलक्षण है। "हम इस अनभवातीत विषय पर अपने सम्भाव्य प्रत्यक्षो के सम्पूर्ण विस्तार और सम्बन्ध को आरोपित कर सकते हैं, और हम यह कह सकते हैं कि यह आकस्मिक रूप से हमारे समस्त अनुभवो को स्वय अपने से प्रदत्त होता है।" .. किन्तु मेरे लिये यह कुछ नही है, इसलिये जव तक ऐसे विषयो का आनुभविक समाश्रयणो की शृङ्खला मे वोध नही होता तव तक ये कोई विषय नही है।"[5]

---

[1] क्रिरी० पृ० ४००

[2] वही, पृ० ४०१ (प्रथम सस्करण, पृ० ४९१)।

[3] वही। [4] वही। [5] वही।

इन पाँच बातों के प्रति दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का उत्तर सम्भवत निम्नलिखित होता

१) बाह्य वस्तु एक विज्ञप्ति है। एक बार यह कह दीजिये कि यह अनन्त विभाज्य है, एक बार वही कहिये जो आप का तात्पर्य है, और आप देखेंगे कि यह गणितीय विषय, अर्थात एक विज्ञप्ति के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता।

२) आकारो की एक शृङ्खला क्यो आकार और सत् हो और दूसरी शृङ्खला क्यों आकार भी हो किन्तु असत् हो ? आकार तो आकार हैं। जागृतावस्था मे ये सत्ता से साक्षात् सम्बद्ध होते है, स्वप्न और अन्य रुग्ण अवस्थाओं[1] मे इनका सत्ता से परोक्ष सम्बन्ध होता है।

३-४) यह सत् विज्ञान मात्र का क्षण है।[2] प्रज्ञा द्वारा यह ग्राहक, ग्राह्य और ज्ञान की त्रिपुटी मे आवृत्त हो जाता है। ये तीनो बातें सत्ता के विरुद्ध रूपो को नही बल्कि एक ही और उसी सत्ता के प्रति विरोधी अभिवृत्तियो को व्यक्त करते हैं।[3]

---

[1] काण्ट कहते हैं कि (क्रिरी० पृ० ७८१) "स्वप्न मे और विक्षिप्ति की दशा मे आकार केवल कल्पनाशक्ति के प्रभाव मात्र भी हो सकते हैं। किन्तु ये केवल पूर्ववर्ती बाह्य प्रत्यक्षो के पुनराह्वान द्वारा ही ऐसे प्रभाव हो सकते हैं।" तुकी० धर्मकीर्ति का मत, ऊपर।

[2] समस्त संवृति को एक परोक्ष सत्ता प्रदान करने वाले इस विज्ञान मात्र के बिना यथार्थवादी ठीक होगा जो यह व्यग करता है "तुम्हारा उच्चतम तर्क कहता है कि निरपवाद रूप से किसी भी वस्तु (भूतान्य-एव) का अस्तित्व नही है।" तुकी० तसप० पृ० ५५०, २१।

[3] "समस्त दर्शनो के एक द्वितीय आरम्भ-विन्दु" के सम्बन्ध मे दिङ्नाग का समाधान ऐसा होगा। यह मात्र "वस्तु" है। इसका डेकार्ट के cogito ergo sum के साथ विभेद किया जा सकता है जिससे एक यथार्थ विषयी अभिप्रेत है। हान्स ड्रीशे का यह सुझ की "हमे किसी वस्तु की मात्र चेतना होती है" (अर्थात् हमे विना उसका रूप ग्रहण किये ही उसकी चेतना होती है), जिससे साथ ही साथ एक "क्रम" की यथार्थता अभिप्रेत है" सर्वास्तिवादियो के मत के अनुरूप है। इसका अर्थ यह है कि "हमे सब कुछ की चेतना है।"

५) केवल परमार्थ-सत् (विज्ञान मात्र) ही समस्त अपोहात्मक विकल्पों से युक्त है। यह उस ग्राह्य-ग्राहक द्वैधत्व का आधार है जिस पर सम्पूर्ण तर्क आधारित है। यह तर्क समान रूप से यथार्थवादियो को भी स्वीकार्य है जो तक वाह्य स्वलक्षण को मानते हैं और उन विज्ञानवादियो को भी जो इसे अस्वीकार करते हैं। विज्ञानवादियो के लिये ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध प्रज्ञा द्वारा कल्पित एक द्वैधत्व है। प्रथम, अर्थात यथार्थवादी उस स्तर से आरम्भ करता है जहाँ ग्राहक और ग्राह्य 'प्रदत्त' होते हैं।

काण्ट के विरुद्ध दिङ्नाग का मुख्य आरोप सम्भवत यह होता कि काण्ट विज्ञानवाद और यथार्थवाद की द्विविध सम्भावना[1] का अनुभव करने मे असफल रहे हैं। हम वाह्य स्वलक्षण को स्वीकार कर सकते हैं और ग्राहक तथा ग्राह्य के चरम द्वैधत्व पर ध्यान दिये विना भी इस मानसिक स्तर पर बने रह सकते हैं, किन्तु हम इस पर ध्यान देकर एक अन्य स्तर पर भी रह सकते हैं।[2] ऐसी दशा मे कोई विरोध नही होगा। यदि हम वाह्य विषय की चर्चा करते समय यह वात मन मे रक्खें कि इसका अर्थ केवल घटना है, तो

[1] विण्डेलवैण्ड के अनुसार (उपु०) वस्तु-स्वलक्षण की काण्ट की अस्वीकृति (जिसे वह अपने सिद्धान्त का तृतीय स्तर कहते हैं) महानतम कौशल है। दूसरी ओर, स्वलक्षण की मान्यता (जिसे वह द्वितीय स्तर कहते हैं) सर्वथा व्यर्थ और आशयरहित है। इस प्रकार, काण्ट ने किसी प्रकार मानवता को एक ही कृति मे और एक ही समस्या के विषय मे एक उपहार और एक निरर्थक पीडा दी है। काण्ट पर स्पष्ट विरोधत्व का आक्षेप करने मे विण्डेलवैण्ड स्वय अपने को भी विरोधत्व से सर्वथा पृथक् नही रख सके हैं।

[2] इस दृष्टि से दिङ्नाग की स्थिति एक सीमा तक कुछ उन आधुनिक दार्शनिको के मत के अनुरूप है जिन्होने तत्त्वमीमासा और यथार्थवाद दोनो का एक साथ ही प्रवर्तन किया है। वास्तव मे यह ग्राह्य-ग्राहक विपयक सशयालुता का, जिसकी कि अनन्तता की सशयालुता केवल एक भाग मात्र है, दवाव है जिसने निकोलाई हार्टमैन को काण्टवाद की तत्त्वमीमासा से पूर्ति करने के लिये प्रेरित किया है। ये दो तर्क ('ग्राह्य-ग्राहक-वैधुर्य' और 'अर्थ-अयोग,' तुकी० तसप० पृ० ५५९८) ही वह दो प्रमुख कारण हैं जिनसे प्रेरित होकर दिङ्नाग ने अपने यथार्थवादी तर्क की तत्त्वमीमासात्मक विज्ञानवाद से पूर्ति की है।

हमारी भाषा मे कदाचित ही कोई परिवर्तन होगा ।[1]

सिग्वर्ट का भी ऐसा ही विचार है ।[2] इनके अनुसार साक्षात् 'प्रदत्त' केवल आकार की उपस्थिति ही होती है ।[3] भारतीयो के अनुसार यह केवल विज्ञान मात्र होता है । किसी बाह्य विषय के साथ इसका सम्बन्ध द्वितीय स्तर है । आत्मनिष्ठ विज्ञानवादी इस स्तर की आवश्यकता का प्रतिपादन करता है, किन्तु उसके लिये इसका केवल यही अर्थ है कि प्रत्येक प्रत्यक्ष को किसी ऐसे विषय से अवश्य सम्बद्ध करना चाहिये जिसके हमारे से बाहर स्थित होने की कल्पना की गई हो । कल्पना की इस क्रिया के माध्यम से हम कल्पना के केवल द्वितीय स्तर[4] पर पहुचते हैं, किसी स्वतन्त्र बाह्य ससार मे नही ।[5]

विषयीकरण की आवश्यकता वास्तव मे मनोवैज्ञानिक है[6], किन्तु आकारो के संसार के पीछे किसी यथार्थ विषयात्मक संसार की कल्पना करने की कोई

---

[1] विज्ञानवाद के अपने प्रतिवाद (क्रिरी० पृ० ७७८ और बाद) मे काण्ट यह स्थापना करते हैं कि चेतना वस्तुओ की चेतना है, और इस प्रकार यह हमारे से बाहर के स्थान मे स्थित बाह्य वस्तुओ की सत्ता को सिद्ध करती है । दूसरे शब्दो मे यह सिद्ध है कि बिना ग्राह्य के ग्राहक नहीं होता । ग्राहक और ग्राह्य के तादात्म्य को सिद्ध करने के लिये हीगल ने बिलकुल इसी तर्क का उपयोग किया है, और भारतीय भी यह मानते हुये कि ग्राह्य-ग्राहक-कल्पना अपोहात्मक है, इसी मत को स्वीकार करते हैं । काण्ट कहते हैं (वही, पृ० ७८०) कि 'आकारो के हेतु, जिन्हे हम चाहे गलती से ही बाह्य वस्तुओ पर आरोपित करते हैं, हमारे भीतर ही स्थित हो सकते है ।" भारतीय मत भी यही है । हम देख चुके हैं कि भारतीय विज्ञानवादी "अनुभव-भावना" को "विकल्प-भावना" से स्थानान्तरित कर देता है ।

[2] उपु० १ ४०८ ।

[3] Vorstellung

[4] वही ।

[5] वही ।

[6] वही १ ४०९ । तुकी० न्याविटी० पृ० ६० मे शब्दो और उनके हेतु के सम्बन्ध के अन्तर्गत सम्बन्ध के विभिन्न प्रकारो पर धर्मोत्तर के कौतूहल-वर्धक विचार । किसी शब्द तथा जिस अभिप्राय से उसका उच्चारण किया जाता है उसके बीच हेतुक और यथार्थ अथवा वास्तविक सम्बन्ध होता है । किसी शब्द तथा वह जो बाह्य-वस्तु को व्यक्त करता है उसके बीच सम्बन्ध हेतुक और कल्पित होता है । किसी शब्द और उस प्रतीति के बीच जिसे वह व्यक्त करता है, कल्पित और स्वभाव-हेतुत्व का सम्बन्ध होता है ।

तार्किक आवश्यकता नही है । दिङ्नाग कहते हैं कि कोई विरोध नही होगा।[1]

भारतीय दृष्टिकोण से काण्ट का दोलन ऐसे दो सिद्धान्तो के बीच दोलन प्रतीत होना है जो दोनो सम्भव हैं। अपने विचारो द्वारा काण्ट दो भिन्न समारो मे पहुच गये किन्तु उन्हे इस बात का अनुभव नही हुआ कि तार्किक रूप से दोनो ही मम्भव हैं। इस द्विविध सम्भावना का सिग्वर्ट ने उद्घाटन किया है।

सिग्वट[2] ठीक ही कहते हैं कि किसी विज्ञान के साक्षात् प्रमाण द्वारा किसी बाह्यवस्तु मे उसके हेतु के निगमन की केवल एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता ही है। इसकी कोई तार्किक आवश्यकता नही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विज्ञान एक क्षण है, वह वस्तु जिसने विज्ञान-उद्दीपक उत्पन्न किया है, पूर्वगत क्षण है। बाह्येन्द्रियो द्वारा विज्ञान के बाद का अगला क्षण मानस प्रत्यक्ष का क्षण है।[3] यह एक प्रकार का बोधगम्य विज्ञान है। और अन्तत बोधगम्य आकार का क्षण आता है।[4] विषय और ज्ञान के बीच का सम्बन्ध परोक्ष और हेतुक है।[5] किन्तु तार्किक दृष्टि से यह तादात्म्य-सम्बन्ध है।[6] धर्मोत्तर पूछते हैं कि "ऐसा कैसे होता है कि एक ही ज्ञान ऐसे अश को सम्मिलित करता है जो व्यवस्थाप्य है और ऐसे अश को भी जो उसका व्यवस्थापन है ?[7]" "क्या एक ही इकाई मे एक हेतु तथा स्वय उसके फल की मान्यता मे विरोध नही है ?[8]" और आप यह उत्तर देते है यह सम्भव है—प्रतिषेध के द्वारा। वास्तव मे किसी नील पट द्वारा उत्पन्न विज्ञानमात्र अ-नील[9] के प्रतिषेध द्वारा ही निश्चितता प्राप्त करता है, अर्थात् प्रज्ञा एक अनिश्चित विज्ञान की किसी नील पट के निश्चित आकार के रूप मे उसका

---

[1] आलम्बन परीक्षा, कारिका ८ (अनुवाद, पृ० ४५)।

[2] लॉजिक १ ४०९।

[3] मनोविज्ञान=मानस-प्रत्यक्ष।

[4] तुकी० भाग २, परिशिष्ट ३, पृ० ३०९ और बाद।

[5] तदुत्पत्ति, तुकी० न्यायबिटी० पृ० ४० ७ "प्रमेय-कार्यम् हि प्रमाणम्"

[6] सारूप्य = ताद्रूप्य = तादात्म्य।

[7] न्यायबिटी० पृ० १५ २२ "व्यवस्थाप्य व्यवस्थापन-भावोऽपि कथम् एकस्य ज्ञानस्य ?"

[8] वही, पृ० १५ १९ "येन एकस्मिन् वस्तुनि विरोध स्यात्।"

[9] वही, पृ० १६ ३।

केवल अ-नील से विभेद करके ही व्याख्या करती है। एक भिन्न रूप से देखने पर यही वस्तु ऐसी बन जाती है जैसे यह स्वय भिन्न हो। विषयता हेतुत्व तादात्म्य पर आधारित है।[१] इस प्रकार स्थिति यह है कि साक्षात् असदिग्ध ज्ञान केवल विज्ञानमात्र ही होता है। यह सब कुछ से युक्त होता है। यह विषयवस्तु मे सम्पन्नतम और विचार मे विपन्नतम होता है। किन्तु विचार इसे प्रतिषेध द्वारा निश्चित बनाता है। प्रतिषेध विचार का स्वरूप है। निश्चितता, प्रज्ञा, सारूप्य, रूपत्व, अनुपलब्धि, विरुद्ध का प्रतिषेध, आकार, सकल्प, द्वैधत्व, ये सभी विज्ञानमात्र की एक आधारभूत क्रिया को विकसित करने की विभिन्न पद्धतियाँ हैं। वस्तु का, जैसी कि वह स्वलक्षण होती हैं, उस रूप के प्रस्तुतीकरण द्वारा उद्घाटन किया जाता है जैसी कि वह अ-स्वभावी, अथवा 'अन्य मे' होती है।

बौद्धो के सिद्धान्त का यह अश योरप मे भी उपलब्ध है किन्तु काण्ट मे नही बल्कि हीगल मे।

बाह्य-ससार की सत्ता पर भारोपीय परिसंवाद

(क) प्रथम वार्तालाप, विषय एकतत्त्ववाद

पहला वेदान्ती आरम्भ मे यह जगत (सत्ता) ऐसा नही था।[२]

दूसरा वेदान्ती आरम्भ मे यह जगत (सत्ता) न तो सत् था और न असत्[३]।

तीसरा वेदान्ती यह जगत (सत्ता) आरम्भ मे मात्र सत्, अद्वितीय था।[४] यह ब्रह्म था।

चौथा वेदान्ती हमारी आत्मा ही ब्रह्म है। 'तत् त्वम् असि'।[५]

पर्मेनाइडिस असत् नही है। जगत एक है। यह स्थिर है।

डेमोक्रिटस शून्य ही स्थिर है। यह शून्य आकाश है। यह गतिशील परमाणुओ से परिपूर्ण है।[६]

बौद्ध एक शून्य आकाश है। वह नश्वर धर्मो की अनन्तता से युक्त है। एक निर्वाण की स्थिति है जिसमे समस्त नश्वर धर्म नष्ट हो जाते हैं।

---

[१] 'तदुत्पत्ति-तत्सारूप्याभ्याम् विषयता"।

[२] छन्दोग्य उपनिषद्, ३ १९,१।

[३] ऋग्वेद १० १२९ १।

[४] छान्दोग्य उपु० ६ २,१ २।

[५] 'तत् त्वम असि'।

[६] तुकी० एच० कोहेन लॉजिक; पृ० ७० : μη ου प्रत्यक्षत =तदन्य + तद्विरुद्ध=पर्युदास = परिहार + ου ουχ = अभाव।

नागार्जुन समस्त नश्वर विषय सापेक्ष और शून्य हैं। उनकी शून्यता[1] अथवा महाशून्यता ही एकमात्र सत् है। यही (अपने धर्मकाय में) बुद्ध है।

स्पाइनोज़ा केवल एक ही द्रव्य है। यही (अपने धर्मकाय में) ईश्वर है।

दिङ्नाग प्रज्ञा-पारमिता अद्वय ज्ञान है।[2] यही एकत्व (अपने आध्यात्म-काय में) बुद्ध है।

धर्मकीर्ति बुद्धयात्मा अविभक्त है।[3] विषय और विषयी एक भ्रान्तिपूर्ण विभाग है। इनका एकत्व ही बुद्ध की (अपने आध्यात्म-काय में) सर्वज्ञता है।

योगाचार बौद्ध उस बुद्धज्ञान के अनुवाद के अतिरिक्त जो विषयी और विषय के विभाजन से मुक्त है, अन्य सब ज्ञान भ्रान्तिमय है क्योंकि वह विषयी और विषय के रूप में कल्पित होता है।[4]

(ख) द्वितीय वार्तालाप, विषय द्वैतवाद और बहुतत्त्ववाद

सांख्य नित्य सत्ता एक नहीं बल्कि दो है, और वह है पुरुष और प्रकृति। दोनों ही नित्य हैं, किन्तु प्रथम नित्य कूटस्थ है और द्वितीय नित्य परिवर्तन। इनके बीच किसी भी प्रकार की अन्तर्क्रिया सम्भव नहीं है। फिर भी एक का परिवर्तन किसी प्रकार दूसरे के स्थिर प्रकाश में प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित होता है। स्वयं प्रकृति के भीतर छ ग्राह्येन्द्रियाँ और छ तदनुरूप ग्राह्य विषय होते हैं। इस प्रकार द्विविध बाह्यता है—एक पुरुष के प्रति प्रकृति की बाह्यता, दूसरी एक प्रकार की प्रकृति के प्रति दूसरे प्रकार की प्रकृति की बाह्यता। कोई ईश्वर नहीं है।

डेकार्ट ठीक है। केवल दो ही द्रव्य हैं, एक स्थूल और दूसरा चेतन। किन्तु दोनों ही नित्य परिवर्तनशील हैं। एक ईश्वर है जो इनकी घटित गति का उत्पत्तिकर्ता और नियन्ता है।

बौद्ध (हीनयान) न तो कोई ईश्वर है, न कोई आत्मा है, न कोई नित्य आध्यात्मिक, भौतिक द्रव्य है। केवल धर्म होते हैं जो क्षणिक रूप से कौंधते

---

[1] सर्व-धर्माणाम् परस्पर-अपेक्षता।

[2] प्रज्ञा-पारमिता ज्ञानम् अद्वयम् स तथागत (तुकी० अभिसमयालंकार के मेरे संस्करण में प्रस्तावना)।

[3] "अविभागो हि बुद्धयात्मा"। यह धर्मकीर्ति का एक बहुधा उद्धृत श्लोक है। तुकी० सदस,० पृ० ३२।

[4] "सर्वम् आलम्बने भ्रान्तम् मुक्त्वा तथागत-ज्ञानम्, इति योगाचार-मतेन," तुकी० न्यायिटी०, पृ० १९।

और विसर्जित होते रहते हैं। और प्रतीत्य-समुत्पन्नत्व का एक नियम है जिसके अनुसार ही धर्मों का सघात उत्पन्न होता है। सास्य की ही भांति छ ग्राह्येन्द्रियाँ और तदनुरूप छ ग्राह्यविषय हैं। इस प्रकार यहाँ भी द्विविध बाह्यता है। एक सब धर्मों की परस्पर एक दूसरे के साथ, और दूसरी छ ग्राह्येन्द्रियो की तदनुरूप छ विषय-क्षेत्रो के साथ।

साख्य ये धर्म गुण हैं, ये अचेतन और नित्य परिवर्तनशील हैं।

हेराक्लिटस ये धर्म कौध हैं जो सतत परिवर्तन के एक नियम के अनुसार प्रगट और विसर्जित होते रहते हैं।

डेमोक्रिटस ये धर्म (भौतिक) परमाणु हैं।

हबट ये धर्म सत् (अभौतिक) हैं।

माख ये धर्म विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही। आत्मा और प्रकृति दोनो ही कपोल कल्पना हैं। जब दर्शन की एक आत्मा की सत्ता मे कोई रुचि नही है तब समग्र के सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिये विज्ञानो के क्रियात्मक अन्योन्याश्रयत्व के हेतुक नियमो के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह जाता।

जे० स्टु० मिल तथाकथित द्रव्य विज्ञानो की एक स्थायी सम्भावना के अतिरिक्त और कुछ नही। "द्रव्य के रूप मे विचारित भौतिक द्रव्य और मन की धारणायें हमारे भीतर केवल हमारे विज्ञानो के क्रम मात्र द्वारा सृजित हैं। घटनाये (संवृत्ति) द्रव्य द्वारा नही बल्कि एक नित्य नियम (प्रतीत्य समुत्पन्नत्व के) द्वारा सम्बद्ध होती हैं।

नागार्जुन केवल प्रतीत्य समुत्पन्नत्व ही आदि, अन्त और परिवर्तन से रहित है। यह निरपेक्ष है। यही निर्वाण है,[१] यही धर्मकाय रूप संसार है।

(ग) तृतीय वार्तालाप, विषय सरल यथार्थवाद
और समीक्षात्मक तर्क शास्त्र

दिङ्नाग किन्तु धर्मकाय का केवल योगि-प्रत्यक्ष ही हो सकता है।[२] इसकी तर्क द्वारा स्थापना नही की जा सकती।

चन्द्रकीर्ति इसकी तर्क के निराकरण के द्वारा स्थापना की जा सकती है।[३] यत समस्त तार्किक विकल्प मापेक्ष और स्वभावशून्य होते हैं,

---

[१] तुकी० मेरा निर्वाण, पृ० ४८।

[२] तुकी० वही, पृ० १६ और बाद।

[३] वही, पृ० १३५ और बाद।

अत एक अन्य अनपेक्ष, परमार्थ सत् अवश्य होना चाहिये जो महाशून्यता है। यही बुद्ध का धर्मकाय है।

दिङ्नाग तर्क मे "हम केवल उसका एक शास्त्रीय वर्णन करते है जो हमारे ज्ञान के प्रमाणो तथा उनके अनुरूप विपयो के सम्वन्ध मे साधारण जीवन मे घटित होता है।[1] हम इनकी अनुभवातीत सत्ता पर विचार नही करते।" तर्क मे हम वाह्य संसार की सत्ता को स्वीकार कर सकते हैं।

चन्द्रकीर्ति ऐसे तर्क से क्या लाभ है जो निरपेक्ष का ज्ञान नही करा सकता ?[2]

दिङ्नाग यथार्थवादियो ने तर्क मे अनधिकार चेष्टा की है। उन्होने गलत परिभापायें दी हैं। हम तो केवल उन्हें ही शुद्ध कर रहे हैं।[3]

यथार्थवादी हमे वाह्य ससार का उसके वास्तविक रूप मे ज्ञान होता है। जिस प्रकार दीपक के निकट स्थित वस्तुयें दीपक द्वारा प्रकाशित हो जाती हैं, उसी प्रकार वाह्य जगत् की वस्तुयें भी चेतना के विशुद्ध प्रकाश द्वारा प्रकाशित होती है। कोई आकार नही हैं और कोई स्वसवेदना नही है। आत्म-चेतना अनुमानात्मक है।[4]

योगाचार बौद्ध आकार होते है और स्वसवेदना भी होती है। "यदि हमे किसी नीलपट के प्रत्यक्ष की चेतना न हो तो हम उसका प्रत्यक्ष कभी नही कर सकेंगे। ससार अन्धा ही रहेगा, उसे कुछ भी प्रत्यक्ष नही होगा।" इसलिये कोई वाह्य विषय होते ही नही। हम ज्ञान के विषयात्मक पक्ष को द्विविध क्यो बनायें ?

यथार्थवादी किन्तु हमारे प्रत्यक्षो का कदाचित्कत्व केवल अनुभव-वासना द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है। ये तो वाह्य जगत मे परिवर्तन के अनुसार ही परिवर्तित होते हैं।[5]

बौद्ध परिवर्तन की व्याख्या करने के लिये तुम्हें किसी प्रकार की वासनात्मक शक्ति को मानने की आवश्यकता पडती है। यह या तो अनुभव-वासना, अथवा विकल्प-वासना,[6] अथवा अविद्या-वासना होगी।[7] यदि तुम

---

[1] वही, पृ० १४० और वाद।

[2] वही।
[3] वही।

[4] तुकी० भाग २ पृ० ३५२ और वाद।

[5] तुकी भाग २, पृ० ३६९, और न्याकणि० पृ० २५९ ११।

[6] =विकल्पस्य सामर्थ्यम्।
[7] = माया।

इस अन्तिम को स्वीकार करते हो तो एक बाह्य ससार की छाया मे कोई सत्ता होगी ही नही। यदि तुम पहले को मानो तो एक निरर्थक द्विविध मत्ता होगी। यदि तुम दूसरे को मानो तो तुम्हे एक सवृत्ति-सत् के साथ-साथ एक अनुभवातीत-सत् भी मानना होगा।[1]

यथार्थवादी तुम्हारा सिद्धान्त "अमूल्य-दान-क्रय"[2] के समान प्रतीन होता है। वास्तव मे बाह्य-ससार, यद्यपि क्षणो से युक्त होते हुये भी, कल्पना के द्वारा रगीन प्रत्यक्षत्व प्राप्त करता है, तथापि वह बदले मे कुछ नही दे सकता, क्योकि वह वर्णहीन क्षणो से युक्त है। यदि विज्ञान और प्रज्ञा मर्वथा विजातीय हैं तो किसी विज्ञान मात्र का प्रज्ञा के विशुद्ध विकल्प के अन्तर्गत किस प्रकार बोध हो सकता है, "क्योकि कोई भी यह नही कह सकता कि, उदाहरण के लिये, हेतुत्व को इन्द्रियो से देखा जा सकता है।"[3]

काण्ट एक ऐसी तीसरी वस्तु अवश्य होनी चाहिये जो एक ओर पदार्थ के साथ तथा दूसरी ओर मूर्त विपय के साथ सजातीय हो।

धर्मकीर्ति मध्यवर्ती वस्तु एक प्रकार का बोधगम्य विज्ञान है। हम यह मानते हैं कि विज्ञान मात्र के प्रथम क्षण के बाद आन्तरिक इन्द्रिय द्वारा बोधगम्य विज्ञान का क्षण आता है जो विज्ञान मात्र और मानस-प्रत्यक्ष के बीच की वस्तु है।[4] इनके बीच, साथ ही साथ, एक तत्सारूप्य होता है।[5]

यथार्थवादी यह सारूप्य क्या है ?

वसुबन्धु यह एक ऐसा तथ्य है जिसके कारण यद्यपि इन्द्रियो से उत्पन्न होते हुये भी ज्ञान को इन्द्रियो का नही बल्कि विषय का बोध होता है।[6] ज्ञान के हेतुओ मे विषय मुख्य होता है।

---

[1] तुकी सौत्रान्तिक यथार्थवादी और योगाचार (विज्ञानवादी) बौद्धो के बीच विस्तृत विवाद के लिये भाग २, पृ० ३६० और बाद।

[2] तुकी० ताटी० पृ० २६९९।

[3] क्रिरी० पृ० ११३, इसका प्राय एक अक्षरश साम्य न्याविटी० पृ० ६९११ मे मिलता है 'न निष्पन्ने कार्ये कश्चिज् जन्य-जनक-भावो नाम दृष्टोऽस्ति"।

[4] तुकी० "मानस-प्रत्यक्ष" का सिद्धान्त, भाग २, परिशिष्ट ३।

[5] न्याकणि० पृ० २५८१८ तत्सारूप्य-तदुत्पत्तिभ्याम् विपयत्वम्"।

[6] तुकी० भाग २, पृ० ३४७।

धर्मकीर्ति सारूप्य वास्तव में अत्यन्त विलक्षण वस्तुओं के बीच सालक्षण्य है।[1] वास्तव में एकत्वों के रूप में सभी वस्तुयें स्वलक्षण, अन्य वस्तुओं से अत्यन्त विलक्षण होती हैं। किन्तु जिस मात्रा में हमें उनके भेद का अग्रहण होता है वहीं तक उनमें सपक्षत्व होता है। ये एक समान रूप से प्रतिषेध के कारण समान या सपक्ष हो जाती हैं। इसीलिये सभी आकार सामान्य होते हैं और सभी सामान्य परस्पर प्रतिषेध्य होते हैं। प्रतिषेधत्व हमारी प्रज्ञा का स्वभाव है। केवल इन्द्रियाँ ही विधिस्वरूप होती हैं।[2]

हीगल हमारी द्वन्द्वन्यायात्मक विधि के अनुसार प्रतिषेधत्व भी समान रूप से उस विषयात्मक संसार का स्वरूप है जिसका आत्मनिष्ठ के साथ सारूप्य होता है।

धर्मकीर्ति हमारे पास विकल्पों के प्रतिषेधत्व से विभेद करने वाली "विधि" अवश्य होनी चाहिये।

हर्बर्ट विज्ञान मात्र ही विधिस्वरूप होता है, यही स्वलक्षण है।

दिङ्नाग हमारे तर्क का उद्देश्य उन लोगों के लिये भी समान रूप से स्वीकार्य होना है जो बाह्यार्थ की सत्ता को अस्वीकार करते हैं और जो उसे मानते हैं। इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि बोधगम्य स्वभाव दो प्रकार का होता है—एक विशेष और दूसरा सामान्य। विशेष प्रत्यक्षतः सदैव बाह्य संसार में स्थित प्रतीत होता है, और सामान्य सदैव हमारी बुद्धि में रहता है।

बर्कले कोई वास्तविक सामान्य अथवा अमूर्त विचार नहीं होता।

दिङ्नाग कोई विशेष विचार होता ही नहीं। कोई भी विचार सदैव ही अमूर्त और सामान्य होता है। विशेष आकार एक विरोधत्व है। विशेष का केवल बाह्य संसार में अस्तित्व होता है। विज्ञान मात्र से अलग हमारी बुद्धि में केवल सामान्य ही होते हैं।

बर्कले फिर भी, अस्तित्ववान का अर्थ है प्रत्यक्ष होना। जो कुछ प्रत्यक्ष होता है उसके अतिरिक्त बाह्य संसार का अस्तित्व नहीं है।

दिङ्नाग अस्तित्ववान का अर्थ है प्रापक होना।

काण्ट यह कुछ लज्जास्पद ही है कि आधुनिक दर्शन अभी तक भी निर्विवाद रूप से बाह्य संसार की सत्ता को सिद्ध नहीं कर सका है! यदि स्वलक्षण वस्तुयें न हों तो वे घटनायें ही जैसी कि वे हमारे सम्मुख प्रगट होती

---

[1] "अत्यन्त-विलक्षणानाम् सालक्षण्यम्," तु॰ की॰ ताटी॰ पृ॰ ३३९।

[2] प्रत्यक्षम=विधि-स्वरूपम्।

हैं। ऐसी वस्तुयें बन जायँगी। वस्तुयें हमारी इन्द्रियो को "प्रदत्त" होती हैं, उनका बोध होता है, अर्थात् उनके पदार्थ के अनुसार प्रज्ञा द्वारा उनका विकल्प होता है।

शान्तिरक्षित हाँ! वास्तव मे, विज्ञान मात्र अविकल्पक होता है, किन्तु यह एक ऐसा क्षण होता है जो वस्तु के अपने (सामान्य) आकार को उत्पन्न करने के लिये प्रज्ञा को उद्दीप्त करता है।

धर्मोत्तर यह कोई महान कौतुक नही है! इन्द्रियाँ वस्तु को प्रखरता और स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करती है, किन्तु वे निश्चित रूप से कुछ समझती नही। बुद्धि निश्चित रूप से समझती है, किन्तु स्पष्टता के बिना अस्पष्ट, धुधले और सामान्य रूप से समझती है। यह केवल एक सामान्य की ही रचना या कल्पना कर सकती है। फिर भी, कौतुक की सरलता से व्याख्या हो जाती है। प्रज्ञा ही कल्पना है!

(घ) चौथा वार्तालाप, विषय 'स्वलक्षण'

एफ० एच० याकोबी (तथा अन्य) यदि हम यह मान लें कि वस्तुओ के स्वलक्षणो की सत्ता है, तब भी ये हमारी ग्राह्यता को प्रभावित नही कर सकेंगी, क्योकि आत्मनिष्ठ पदार्थ होने के कारण हेतुत्व केवल घटनाओ के बीच ही सम्भव है,[1] वस्तुओ के बीच नही।

जैन हाँ वास्तव मे! कोई वस्तु जो मात्र स्वलक्षण है, जो समस्त ससार की अन्य सब वस्तुओ से अत्यन्त विलक्षण है, वह आकाश मे पुष्प है! यदि तुम उसका किसी असत्ता से विभेद करना चाहते हो तो तुम्हें हेतुत्व और द्रव्यत्व की ही भाँति एक वास्तविक पदार्थ के रूप मे एक 'वस्तुत्व" भी मानना ही होगा।[2]

धर्मोत्तर वस्तुत्व, हेतुत्व, द्रव्यत्व ये सभी नि सन्देह प्रज्ञा के सामान्य पदार्थ हैं। ये सामान्य और अपोहात्मक हैं। किन्तु एक मात्र विज्ञान न तो सामान्य होता है, न कल्पित होता है, और न अपोहात्मक होता है। सामान्यता की एक सीमा होती है जिससे ही सामान्यता निर्मित होती है। जन्य-जनक भाव स्वयं एक ग्राह्य तथ्य नही होता,[3] वह तो इसकी एक

---

[1] एफ० एच० याकोबी वर्के, २, पृ० ३०१ और बाद।

[2] तस० कारि० १७१३ तस्मात् ख-पुष्प-तुल्यत्वम् इच्छतस् तस्य वस्तुन., वस्तुत्वम् नाम सामान्यम् एष्टव्यम्, तत्-समानता।

[3] "न कश्चिद् जन्य-जनक-भावो नाम दृष्टोऽस्ति", न्याबिटी० पृ० ६९.१२

व्याख्या होता है। किन्तु स्वलक्षण एक हेतु, एक सत्, एक अर्थक्रियाकारी क्षण, एक गत्यात्मक सत्ता, एक स्वलक्षण के रूप में एकत्व होता है। यह वह नहीं होता जैसा अन्य में अथवा विरुद्ध में होता है। परमार्थ विशेष, परमार्थ हेतु, परमार्थ सत्, सत्ता, वास्तविक इकाई, स्वलक्षण, स्थौल्य और अवधि से रहित वस्तु—ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हेतुत्व, यथार्थता, वस्तुत्व, एकत्व, इत्यादि ऐसे सामान्य शब्द या भिन्न पदार्थ नहीं हैं जिनके अन्तर्गत अपने दृष्टिकोण के अनुसार एक ही वस्तु को न लाया जा सके। क्षणिक स्वलक्षण के अतिरिक्त अन्य कोई भी साक्षात् वास्तविक सत्ता नहीं है। केवल इसी का विज्ञान विधिस्वरूप होता है। यह अपोहात्मक या निषेधात्मक नहीं बल्कि साक्षात् और विधायक है। इस प्रकार यह तथ्य कि हेतुत्व और सत्ता विकल्प और प्रज्ञा के पदार्थ हैं, इस तथ्य के साथ लेश मात्र भी हस्तक्षेप नहीं करता कि वस्तु-स्वलक्षण ही वह सत्ता है जिसका विज्ञानमात्र में ज्ञान होता है।

हीगल तुम्हारा स्वलक्षण एक कपोल-कल्पना है।[1] यह एक शून्य है।[2] यह समस्त ज्ञान में एक सर्वथा अतीत है।[3] तब ज्ञान विरोधी बन जाता है, वह एक ऐसी सत्ता का ज्ञान बन जाता है जिसका कभी ज्ञान होता ही नहीं।[4]

डेमोक्रिटस[5] स्वलक्षण कपोल कल्पना बिल्कुल नहीं है। यह एक भौतिक परमाणु है जो समस्त सावृतिक सत्ताओं में अन्तर्निहित है।

एपिक्यूरस वस्तु-स्वलक्षण ($\alpha\rho\chi\eta$) भी शून्यता और गति के साथ साथ एक भौतिक परमाणु है।

लूक्रेटियस हमें एक प्रधान धातु को अवश्य स्वीकार करना चाहिये। यही भौतिक और ठोस परमाणु है।

हीगल प्रधान धातु न तो परमाणु है न "सर्वथा अतीत", बल्कि यह ज्ञान के विचार में सम्मिलित है। यह सत्य है कि ज्ञान के विचार की यह

---

[1] तुर्कां० वी० इ० लॉजिक, २, पृ० ४४१।

[2] वहीं, पृ० ४४०। [3] वहीं। [4] वहीं।

[5] हम डेमोक्रिटस को भौतिकवाद का, विश्व की यान्त्रिक व्याख्या का प्रवर्तक मानते हैं। डब्लू० किंकेल (हिस्ट्री, भाग १, पृ० २१५) का मत जो इन्हें 'एक तर्कवादी विज्ञानवादी'' बना देता है, अत्यन्त विचित्र है।

आवश्यकता है कि विषय का स्वय अपने मे अस्तित्व हो, किन्तु यत ज्ञान की धारणा बिना उसके विषय के पूर्ण नही हो सकती, अत विषय ज्ञानातीत नही होता। "जहाँ तक ज्ञान स्वय अपने सम्बन्ध मे आश्वस्त होता है, वहाँ तक वह विषय के प्रति अपने विरोध की नगण्यता के प्रति भी आश्वस्त होता है।"[१] इस प्रकार स्थिति यह है कि ज्ञान से प्रतीत के रूप मे और उसके विरोधी के रूप मे वस्तुस्वलक्षण विसर्जित हो जाता है, और ग्राह्य तथा ग्राहक इस सामान्य नियम के अनुसार एकीकृत हो जाते हैं कि प्रत्येक निश्चित वस्तु वस्तु-स्वलक्षण नही बल्कि अपने "अन्यत्व" मे अथवा अपने 'विरुद्ध मे वस्तु" होती है।

धर्मोत्तर यह सत्य है कि कोई वस्तु केवल तभी निश्चित होती है जब वह अन्य से सम्बद्ध अथवा उसमे सम्मिलित होती है, किन्तु जब वह निश्चित हो जाती है तब वह सम्पूर्णत सामान्य और अस्फुट बन जाती है। स्फुटाभ और प्रखर केवल मूर्त विशेष, वस्तु-स्वलक्षण, ही होता है।

धर्मकीर्ति सर्वप्रथम, यह सत्य नहीं है कि स्वलक्षण का अर्थ ऐसे का ज्ञान है जिसका कभी ज्ञान होता ही नही। और फिर यह भी गलत है कि किसी विषय का उसके ज्ञान के साथ सम्बन्ध अन्तर्भावित्व या तादात्म्य का होता है। वास्तव मे, यदि स्वलक्षण का अर्थ कोई सर्वथा अज्ञेय वस्तु हो तो हमे उसकी सत्ता का॰ कभी कोई प्रतिभास होगा ही नही। स्वलक्षण का हमारी प्रज्ञा द्वारा विज्ञान नही होता। इसका विकल्प नही बल्कि एक विज्ञान मात्र मे इन्द्रियो द्वारा विज्ञान होता है। इसका प्रखर, स्फुट, तत्काल और साक्षात् विज्ञान होता है। इसका विज्ञान क्षणिक होता है। हम इसे अनभिलाप्य कहते हैं। किन्तु यह सर्वथा अनभिलाप्य नही है। इसे 'वस्तु', 'स्वलक्षण', हेतु, क्षण, अर्थक्रियाकारित्व, विषयमात्र, सत्तामात्र, सत्ता,, परमार्थ-सत्, विधिस्वरूप इत्यादि कहते हैं। दूसरी ओर, प्रज्ञा का अर्थ परोक्ष ज्ञान, निश्चय, अनुमान, कल्पना, विभाग, सामान्यता, अस्फुटता, प्रतिषेधात्मकता, और अपोह है। कल्पना केवल सामान्य और अपोहात्मक की ही कल्पना कर सकती है। किन्तु इन्द्रियाँ सत् का विज्ञान कर सकती हैं, और सत् विशेष है।

धर्मोत्तर तर्क में प्रमेय का ज्ञान के प्रमाण के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नही होता। प्रमेय प्रमाण मे सम्मिलित नही होता। समस्त सम्बन्धो को

---

[१] वही।

"अन्यत्व" मे परिणत करके यह घोपित करना गलत है कि विरुद्ध एकात्मक है। प्रमाण का उसके प्रमेय के साथ हेतुक सम्बन्ध होना है।[1] प्रमेय और प्रमाण दो तथ्य हैं जो कार्य-कारण के रूप मे अन्तर्सम्बद्ध होते हैं।

(ड) पाँचवा वार्तालाप, विषय अपोह

हीगल उद्देश्य और विधेय का आन्तरिक और वाह्य का सम्बन्ध पहले तो वैसे ही हैतुक प्रतीत होता है जैसे दो सत्ताओ के बीच का सम्बन्ध।[2] किन्तु इन्हे एक आगिक सम्पूर्णता मानने पर इनके भीतर कोई भी हेतुक सम्बन्ध नही मिलता।[3] फल मे कुछ भी ऐसा नही होता जिसका हेतु मे पूर्व-अस्तित्व न रहा हो।[4] साथ ही हेतु मे भी उसके फल मे परिवर्तित हो जाने के अतिरिक्त और कुछ भी यथार्थ नही होता।[5] किन्तु अपने तादात्म्य के विपरीत भी हेतु और फल विरोधी होते हैं। कोई परिवर्तन अथवा गति उसी मात्रा मे सम्भव है जिसमे किसी वस्तु मे स्वय विरोध अन्तर्भावित होता है।[6] गति विरोधत्व की सत्यता है।[7]

कमलशील हमे कार्य-कारणभाव तथा विरोध मे अवश्य विभेद करना चाहिये। कार्य-कारणभाव वास्तविक है, विरोध तार्किक है। साधारण मानव, जिसकी ज्ञानशक्ति अज्ञानान्धकार मे अवरुद्ध है, वास्तव मे कार्यकारणभाव और विरोध को समीकृत करता है।[8] किन्तु दार्शनिक को विरोध तथा मात्र 'अन्यत्व' के बीच, अन्यत्व तथा अनिवार्य अन्योन्याश्रयत्व के बीच, हेतुत्व तथा सहसमवायत्व अथवा तादात्म्य के बीच के अन्तर को अवश्य जानना चाहिये। दार्शनिको को हमारे आचार्य धर्मकीर्ति के सम्बन्ध के सिद्धान्त को अवश्य जानना चाहिये।

ई० वी० हार्टमैन (हीगल से) तुम्हारी द्वन्द्वन्यायात्मक विधि केवल पागलपन है।[9]

---

[1] न्यावि़टी० पृ० ४०५-७ "प्रमाण-सत्तया प्रमेय-सत्ता सिध्यति ·· प्रमेय-कार्यम् हि प्रमाणम्"।

[2] फेनॉमेनॉलोजी, पृ० २३८। [3] वही।

[4] एनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसाफिकल साइन्सेज, पृ० १५१।

[5] वही, पृ० १५३।

[6] वी० इ० लॉजिक, २५८।

[7] वही, पृ० ५९। [8] तुकी० ऊपर।

[9] हार्टमैन ऊमे० पृ० १२४।

धर्मकीर्ति (हीगल से) तुम्हारी द्वन्द्वन्यायत्मक विधि (अपोहवाद) सर्वथा उपयुक्त है किन्तु केवल प्रज्ञा के क्षेत्र के लिये ही, अर्थात् विकल्पो के लिये ही। विकल्प अपोहात्मक रूप से अन्तर्सम्बद्ध होते हैं। यथार्थता प्रतीत्य समुत्पन्नत्व के हेतुक नियमो के द्वारा अन्तर्सम्बद्ध होती है। साथ ही, एक परमार्थ सत् भी है जिसमे विषयी और विषय एकीभूत हो जाते हैं। इस प्रकार एक कल्पित, एक परतन्त्र, और एक परिनिष्पन्न सत् होता है।

साराश

अपने विवेचन के अन्तगत हमने अनेक प्रकार की पद्धतियो और विभिन्न समयो के अनेक विचारको के आशिक और पूर्ण साम्यो तथा समानान्तरताओ को उद्धृत किया है। किन्तु यह निष्कर्ष निकलना ठीक नही होगा कि भारतीय पद्धति ऐसे विखण्डित भागो से मिल कर बनी है जिन्हें कुछ सुविज्ञात विचारो को स्मरण करने के लिये यदा-कदा अलग-अलग पाया जा सके। सत्य सम्भवत इसके विपरीत है।

सम्भवत कोई ऐसी पद्धति नही है जिसके भाग इतनी पूर्णता के साथ एक सामान्य प्रणाली के अन्तर्गत व्यवस्थित हो जाते हैं और जिसे एक मात्र और अत्यन्त सरल विचार के रूप मे परिणत किया जा सकता है। यह विचार यह है कि हमारे ज्ञान के दो विजातीय स्रोत या प्रमाण ऐन्द्रिक ग्रह्यता और प्रज्ञा हैं। ऐन्द्रिक ग्राहृयता सत् का एक साक्षात् प्रतिभास है। प्रज्ञा ऐसे विकल्पो की रचना करती है जो सत् के परोक्ष प्रतिभास होते हैं। ऐन्द्रिक ग्राहृयता मात्र केवल किसी नवीन विज्ञान का प्रथम क्षण, 'अ' क्षण होता है। जिस मात्रा मे यह नवीनता विलीन होती है उसी मात्र मे बुद्धि उसका 'विकल्प' आरम्भ करती है। प्रज्ञा निश्चय है। निश्चय 'अ' = 'क' है, जहाँ 'अ' ऐन्द्रिक ग्रहृयता है और 'क' प्रज्ञा है। अनुमान अथवा परार्थानुमान एक विस्तारित निश्चय है जिसमे 'अ' = 'क' + 'क¹'। अब 'अ' पक्ष-आधारवाक्य का उद्देश्य है। यह अब भी ऐन्द्रिक ग्राहृयता का प्रतिनिधित्व करता है। 'क' + 'क¹' का सम्बन्ध हेतु का फल के साथ सम्बन्ध है। यह हेतु प्रमाणविनिश्चय अथवा त्रिरूप हेतु है। यह केवल दो प्रकारो, एक तादात्म्य और एक कार्यकरण-भाव मे विभक्त है। यह प्रज्ञा द्वारा कल्पित विकल्पो के सवादित्व की स्थापना करता है और साध्य-आधारवाक्य मे व्यक्त होता है। ग्राहृय सत्ता के साथ इनका सम्बन्ध पक्ष-आधारवाक्य मे व्यक्त होता है। इस अश मे यह सिद्धान्त, पुन, इस आधारभूत विचार के विकास के अतिरिक्त और कुछ नही कि ज्ञान के केवल दो ही प्रमाण

हैं। प्रज्ञा की अपोहात्मक प्रकृति का सिद्धान्त भी इसी आधारभूत विचार की विशिष्टता है क्योंकि केवल दो ही—एक अ-अपोहात्मक और एक अपोहात्मक प्रमाण हैं जो वही हैं जैसे इन्द्रियाँ और प्रज्ञा।

वाह्य ससार, विशेषो का ससार तथा आन्तरिक ससार, सामान्योका ससार, पुन, इन्द्रियो और प्रज्ञा के क्षेत्रो के अतिरिक्त और कुछ नही। विशेष वस्तु स्वलक्षण है और सामान्य वह वस्तु जैसी कि वह 'अन्य' मे है।

और अन्त मे, प्रत्येक दर्शन के चरम स्तर पर आने पर हम देखते हैं कि ऐन्द्रिक ग्राह्यता तथा प्रज्ञा के बीच का अन्तर, पुन, अपोहात्मक है। ये अनिवार्यत एक दूसरे के प्रतिषेध हैं। ये एक दूसरे को परस्पर निराकृत करते हुये अन्तिम एकतत्त्ववाद मे विलीन हो जाते हैं।

इस प्रकार, स्थिति यह है कि एक ही और उसी प्रज्ञा को एक ऐसी विशेष क्षमता या शक्ति कहना चाहिये जो अपने को १) निश्चय, २) प्रमाण विनिश्चय, ३) समवाय, तादात्म्य और कार्य-कारणभाव के द्विविध सिद्धान्त, ४) सामान्यो के आन्तरिक ससार की कल्पना, और ५) समस्त विकल्पो मे निहित द्वैवत्व तथा परस्पर प्रतिषेध मे अपने को प्रगट करती है। इन सभी पाँचो कार्यों मे प्रज्ञा सदैव एक ही रहती है। यह हमारे विज्ञान का विरुद्ध भाग है। दिङ्नाग अपनी महान कृति के शीर्षक पर इस सूत्र को रखने मे सर्वथा ठीक थे कि "हमारे ज्ञान के केवल दो ही प्रमाण है —प्रत्यक्ष और परोक्ष।"

दिङ्नाग की पद्धति वास्तव मे एकात्मक है।

व्यक्तिवाचक नामों की अनुक्रमणिका

१. संस्कृत (लेखक, सम्प्रदाय और कृतियाँ)

२. योरोपीय (भारत, जापान तथा चीन के आधुनिक विद्वानों के नाम भी सम्मिलित)

प्रमुख तर्कशास्त्रीय विषयों की सूची

होता है। यह यथार्थवादी के लिए मनोवैज्ञानिक हेतुत्व है किन्तु विज्ञानवादी के लिये तार्किक तादात्म्य है। यत निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनो ही हमे एक ही वस्तु से सम्बद्ध करते है अत सारूप्य = ताद्रूप्य = तादात्म्य ६१९। तुकी० भाग २, ३४३–४००।

स्थूल-काल (= स्थिरत्व) कल्पना की रचना है, सत् केवल क्षण (स्वलक्षण) होता है, ९८।

स्वभावानुमान, व्याप्ति-निश्चय को कहते हैं, जिसमे तादात्म्य के द्वारा दो विकल्पो के सम्बन्ध की स्थापना की जाती है। (इसमे स्वय विकल्पो का, जो भिन्न होते हैं, तादात्म्य नही होता बल्कि उनके विषयात्मक सन्दर्भ का तादात्म्य होता है), २९६,५१०, विधेय उद्देश्य मे मनोवैज्ञानिक रूप मे नही बल्कि तार्किक दृष्टि से अभिप्रेत होने के रूप में अन्तर्भावित होता है, ३२५, नोट २, समस्त गणितीय निश्चय इसी आशय मे विभागात्मक होते हैं, ३११, नोट, ३२५, तुकी० तादात्म्य (का नियम), सम्बन्ध, पदार्थ।

स्वलक्षण उसे कहते हैं जिसमे अन्य कुछ का लेश मात्र भी न हो (अणीयसापि न अशेन अपरात्मकम्), २१५, यही परमार्थ सत् हैं २१७, यह अनुभवातीत है, वही। यह परम विशेष है, वही। यह अनभिलाप्य तथा आकार से रहित होता है २१९, यह प्रापक क्षण होता है २२३, चिदणु और परमाणु के साथ इसका सम्बन्ध २२५, यह गत्यात्मक होता है २२३, यही स्फुट प्रतिभास उत्पन्न करता है, २२०, यह विधि स्वरूप होता है २२७, एरिस्टॉटिल के 'होक एलिक्विड' के साथ इसका सम्बन्ध २३४ हर्बर्ट की परमार्थ स्थिति के साथ इसका सम्बन्ध २३९, काण्ट के स्वलक्षण के साथ इसका सम्बन्ध २३६, काण्ट की परिभाषा के साथ इसकी अनुरूपता, २३७।

स्वसवेदन—चेतना सदैव आत्मचेतना है १९३, दिङ्नाग सभी यथार्थ-वादी सम्प्रदायो तथा हीनयान के मत का विरोध करते हैं १९७।

स्वार्थानुमान, किसी विषय का उसके लक्षण से ज्ञान है २७३, यह प्रत्य-क्षात्मक निश्चय का ही विस्तारण है २७३, इसका सूत्र 'अ = ख, क्योकि यह क है", जहाँ 'अ' वही उद्देश्य है जो प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे होता है, और ख' तथा 'क' दो विधेय हैं जो हेतु और फल के रूप मे सम्बद्ध हैं, वही। स्वार्थानुमान मे तीन पद होते हैं २७६, उद्देश्य पक्ष पद होता है, यह सदैव इदन्ता होता है, २७४, अनुमानात्मक विधेय वह वस्तु होती है जिसका स्वार्थानुमान मे ज्ञान होता है, २७७, स्वार्थानुमान की विभिन्न परिभाषायें २७८। तुकी० सम्बन्ध।

———

परिशिष्ट १

चीनी स्रोतों के प्रमाण[1] के विषय पर सेण्डाइ विश्वविद्यालय के एक हाल के प्रकाशन में प्रोफेसर उइ यह सिद्ध करते हैं कि त्रिरूप-लिङ्ग का वसुबन्धु के पहले ही सांख्यों तथा नयसौमों[2] (= पाशुपतों ?) ने समावेश किया था। जैसा कि ऊपर[3] कहा जा चुका है, सांख्यों को जिस बात का श्रेय दिया जा सकता है वह है मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान के विघातक रूप को सिद्ध करने की विशेष शक्ति, अवीत-पञ्चक। यह सत्य है कि इस परार्थानुमान में पक्ष-आधारवाक्य कुछ नहीं है, किन्तु हेतु का प्रथम पक्ष और साध्य आधार वाक्य उस तीसरे पक्ष के अनुरूप है जो दूसरे का व्यतिरेक है। वास्तव में मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान त्रिरूपों की सत्ता की पूर्वकल्पना करता है। दिङ्नाग की स्थिति में जो मौलिकता लाता है वह है दूसरे और तीसरे पक्षों की तुल्यार्थता। इस विषय पर दिङ्नाग उन सांख्यों से असहमत थे जो यह मानते थे कि विघातक रूप (अवीत-हेतु) प्रमाण का एक स्वतन्त्र साधन है, तुकी० न्यायमु०, अनुवाद पृ० २१। इस परिवर्तन का कितना अधिक महत्त्व है यह दिङ्नाग के अपोह से देखा जा सकता है।[4] मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान, अन्वय और व्यतिरेक, तथा त्रिरूप-लिङ्ग के समावेश के कारण सांख्य हो सकते हैं। किन्तु सम्पूर्ण सिद्धान्त के ज्ञानमीमांसात्मक महत्त्व, इसके दिङ्नाग के तर्क में स्थान की स्थापना अन्य किसी ने नहीं बल्कि स्वयं दिङ्नाग ने ही की थी, जैसा कि नैयायिक सदैव से मानते रहे हैं, और मुझे आशा है कि जिसे मेरी इस पुस्तक के पाठक भी देख पाने में असफल नहीं होंगे।

---

[1] मध्यान्तानुसार-शास्त्र तिब्बत में अज्ञात है। ऐसा कहा जाता है कि इसकी रचना बोधिसत्त्व नागार्जुन और असङ्ग (?) ने की थी तथा पूर्वी वेइ वंश के गौतम प्रज्ञारुचि ने ५४३ ई० में इसको अनुवाद किया था (बी० नाजियो, संख्या १२४६)। यह तीन पक्षों का उल्टे क्रम में वर्णन करता है जिसमें सबसे पहले पहला, फिर तीसरा, और उसके बाद दूसरा आता है—यह अवीत-हेतु को दिये गये महत्त्व का ही परिणाम है।

[2] तुकी० टुची प्री-दिङ्नाग टेक्स्ट्स, पृ० XXIX, नोट।

[3] तुकी० ऊपर पृ० ३५१-२।

[4] यह एरिस्टॉटिल की अपेक्षा स्टोइको द्वारा व्यवहृत न्यायवाक्य के अधिक निकट है, किन्तु स्टोइकों ने इससे दिङ्नाग जैसे ही निष्कर्ष नहीं निकाले हैं।

परिशिष्ट २

पृ०	पक्ति	
३५	२२	नागार्जुन की छह प्रामाणिक कृतियो के विषय पर तुकी० मेरे निर्वाण, पृ० ६६, के अतिरिक्त ई० ओबरमिलर, वस्टन अनु० पृ० ५१ भी तथा इसी लेखक की 'दि डॉक्ट्रिन ग्रौर प्रज्ञापारमिता (ऐक्टा ग्रोरियन्ट भाग १० पृ० ५१ से पुनर्मुद्रित)। वैदल्यप्रकरण, प्रत्यक्षत अप्रामाणिक है।
४७	२३	मेरे मित्र एस० ऑल्डेनबर्ग इस तथ्य की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करते हैं कि ए० स्टीन के राजतरङ्गिणी के अनुवाद मे सशोधन को त्सीगे० भाग ६९, पृ० २७९ (१९१५) मे स्वर्गीय प्रो० हुल्श पहले ही प्रस्तावित कर चुके हैं।
३३६	३	एक अधिक शुद्ध सूत्र यह होगा ह या तो वि (के (समान) 'है' अथवा इसके द्वारा उत्पन्न 'है', इसलिए स ह+वि (को धारण करता) 'है'। तुकी पृ० ५३१ पर 'है' के तीन अर्थ।
४२३		हेत्वाभासो की न्याय-प्रणाली के पूर्व-इतिहास पर तुकी० प्रो० टुची प्री दिङ्नाग टेक्स्ट्स, पृ० XX, का अत्यन्त कौतूहलवर्धक साराश।